कहाँ क्या है ?

अभीष्ट की उपलब्धि भीतर से ही होगी

ब्रह्म वर्चस् साधना और उसका ज्ञान-विज्ञान २

पंचकोशों की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि ३

हमारा शरीर–अद्भुत-विलक्षण ६

जीवसत्ता की प्रचण्ड शक्ति सामर्थ्य १३

अन्नमय कोश और चमत्कारी हारमोन ग्रंथियाँ १७

हमारे शरीर के रहस्यमय घटक जीन्स २१

अन्नमय कोश में जीन प्रक्रिया का परिवर्तन २५

अन्नमय कोश का परिष्कार सम्भव भी है आवश्यक भी २८

प्राण संस्थान कितना स्पष्ट, कितना अद्भुत ? ३१

मानवी विद्युत का प्रचण्ड प्रवाह प्राण-शक्ति में ३५

प्राण-शक्ति एक जीवन्त ऊर्जा ४०

प्राणतत्व और श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया ४३

मन:संस्थान का समूची जीवनसत्ता पर प्रभाव ४६

मनोमय कोश–मस्तिष्कीय परिष्कार ५१

मनोमय कोश-प्रतिभा और संकल्प शक्ति का केन्द्र ५७

विज्ञानमय कोश और जीवन साधना ६०

विज्ञानमय कोश की अतीन्द्रिय सामर्थ्य ६३

हमारे उच्च चेतन की अद्भुत क्षमताएँ ६७

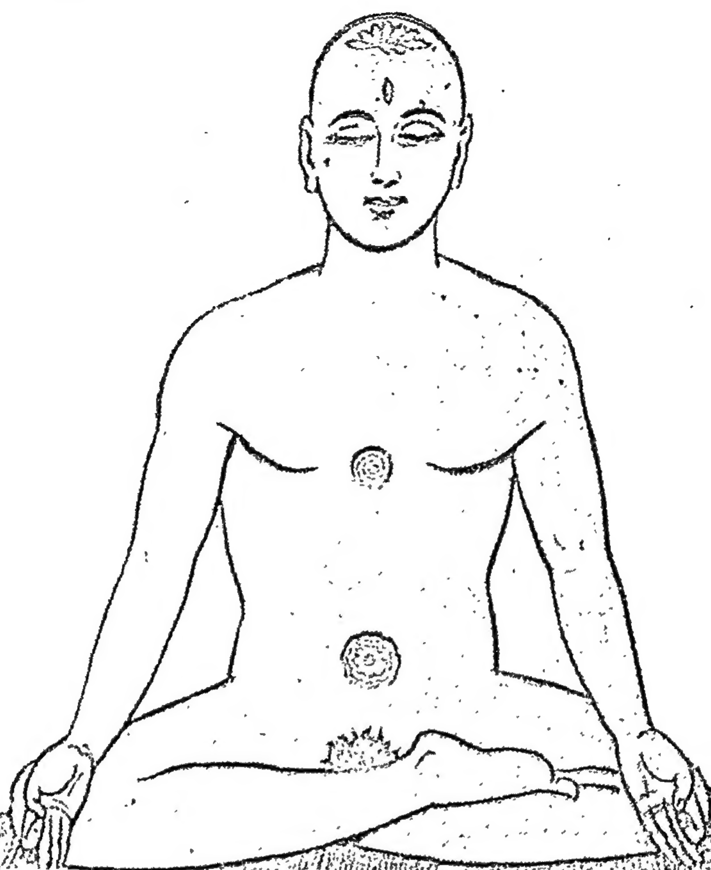
आनन्दमय कोश–शिव-शक्ति का सङ्गम ७१

गायत्री, सावित्री और कुण्डलिनी ७५

कुण्डलिनी काम बीज का परिष्कार ७८

अपनों से अपनी बात ८१

पता – अखण्ड-ज्योति-संस्थान, मथुरा।



शरीर में पाँच कोशों के केन्द्र

१ अन्नमय कोश —— नाभि चक्र
२ प्राणमय कोश —— मूलाधार चक्र
३ मनोमय कोश —— आज्ञा चक्र
४ विज्ञानमय कोश —— हृदय चक्र
५ आनन्दमय कोश —— सहस्रार चक्र

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।



वर्ष ४०
अङ्क ३

मार्च १९७७

* अभीष्ट की उपलब्धि भीतर से ही होगी *

—❀—

केन्द्र भीतर है। बाहर तो उसका कलेवर मात्र लिपटा हुआ है। परमाणुओं और जीवाणुओं के नाभिक मध्य में होते हैं। शक्ति के स्रोत उन्हीं में हैं। बाहर तो उनका सुरक्षा दुर्ग मात्र खड़ा रहता है। सूर्य की ऊर्जा उत्पत्ति उसके अन्तराल से होती है, बाहर तो विकरण के वितरण भर की क्रिया चलती रहती है। अन्तरात्मा काय-कलेवर के अन्तरङ्ग में है। बाहर तो उसके निवास, निर्वाह का भवन मात्र खड़ा है।

जीवन की गरिमा बाहर के साधनों से नहीं और न शरीर के अवयवों पर उसकी निर्भरता है। उत्कर्ष भीतर से उदय होता है। बाहर तो उसकी हलचलें भर दृष्टिगोचर होती हैं। अवनति के गर्त में यदि अन्तःचेतना गिरी हुई हो तो हर क्षेत्र में पतन और पराभव ही उपलब्ध होगा।

हम बाहर देखते और बाहर ही खोजते हैं, जब कि जिसे देखना और पाना है, उसका अस्तित्व भीतर ही विद्यमान रहता है। कस्तूरी के हिरन की तरह बाहर सुगन्ध खोजने के प्रयत्न निष्फल ही नहीं जाते, खीज और निराशा भी गले बाँधते हैं। अभीष्ट की प्राप्ति के लिए नाभि संस्थान का आश्रय लेने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं। मृग-तृष्णा में भटकने की अपेक्षा यदि अपने दृष्टि दोष को सुधार लिया जाय तो प्यास बुझाने के लिए उपयुक्त स्थान ढूँढ़ने और सार्थक प्रयास करने का अवसर मिल सकता है। समृद्धि और प्रगति के मूल तत्व भीतर हैं। सुख और शान्ति के केन्द्र भी वहीं हैं। तुष्टि और तृप्ति खोजनी हो तो अन्तःकरण के रत्न भण्डार को ही खोदना, कुरेदना पड़ेगा।

ब्रह्म वर्चस साधना और उसका ज्ञान विज्ञान

भारतीय तत्व दर्शन और साधना विज्ञान का केन्द्र-बिन्दु गायत्री मन्त्र है। उसके सहारे ज्ञान की आध्यात्मिक विभूतियाँ और विज्ञान की भौतिक सिद्धियाँ उपलब्ध होती हैं। धर्म-शास्त्र का विकास विस्तार गायत्री के बीज मन्त्र से उद्भूत वट-वृक्ष ही माना जाता है। जो कुछ जानने और पाने योग्य है उसे गायत्री के अन्तरङ्ग में प्रवेश करके प्राप्त किया जा सकता है।

गायत्री की उच्चस्तरीय साधना 'पंचकोशी' है। गायत्री के पाँच मुख चित्रित किये जाते हैं। आत्मसत्ता पर चढ़े पाँच कोश-आवरण का इसे अलङ्कारिक चित्रण कह सकते हैं। पंच तत्वों से पदार्थ जगत बना है। पंच-कोशों से चेतना के स्थूल, सूक्ष्म और कारण कलेवरों का निर्माण हुआ है। विकसित स्थिति में यही पाँच प्रमुख देवताओं की तरह अनुग्रह बरसाते और वरदान देते देखे जाते हैं।

जप-ध्यान की प्रथम कक्षा उत्तीर्ण करके साधक को योग और तप की उच्च भूमिका में प्रवेश करना पड़ता है। इसी का रहस्य यम ने नचिकेता को पंचाग्नि विद्या के रूप में समझाया है। उपनिषदकार ने इन्हीं की शक्ति स्रोतों की पाँच प्राणों के रूप में विवेचना की है। वेदान्त की तत्व साधना में इसी को 'पंचीकरण' कहा गया है।

गायत्री महाशक्ति की उच्चस्तरीय साधना पंचकोशों की अनावरण प्रक्रिया कही जाती है। स्थूल जगत में संव्याप्त पंच तत्वों पर और सूक्ष्म जगत में सन्निहित पंच प्राणों की प्रसुप्त क्षमता को इसी आधार पर जागृत किया जाता है। समग्र प्रगति की इस साधना में पुरुषार्थ से असाधारण सहायता मिलती है। 'ब्रह्म वर्चस्' की उच्चस्तरीय साधना में इसी पंचकोशी तपश्चर्या को प्रमुखता दी गई है।

ब्रह्म वर्चस् प्रक्रिया शान्ति-कुन्ज आकर क्रियात्मक शिक्षण प्राप्त करने वालों के लिए भी है और उन दूरवर्ती व्यस्त लोगों के लिए भी जो कारणवश उसमें सम्मिलित हो सकने की स्थिति में नहीं है। अखण्ड-ज्योति के प्रस्तुत अङ्कों में दोनों के लिए आवश्यक जानकारी उपलब्ध कराई जा रही है। यह सभी के लिए उपयोगी है। जो साधना करने की स्थिति में नहीं है उनके लिए भी यह ज्ञान उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि किसी श्रेष्ठतम ज्ञातव्य का संचय करना।

इस अङ्क में पंचकोश के उस पक्ष का वर्णन है जो भौतिक विज्ञान से प्रतिपादित और समर्थित है। इसके अतिरिक्त वह पक्ष अभी बताया जाना शेष है जिसके सम्बन्ध में प्रयोगशालाएँ कुछ कह सकने की स्थिति में नहीं हैं, अनुभूतियों, सम्वेदनाओं और निष्ठाओं के आधार पर ही जिन्हें जा सकता है। अणु शक्ति अभी भी नेत्रों के लिए दृश्यमान नहीं है। गणितीय आधार पर ही उसके स्वरूप का निर्धारण होता है। अध्यात्म की समस्त उपलब्धियाँ भौतिक विज्ञान से समर्थित हो सकती हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। तो भी इस बुद्धिवाद और प्रत्यक्ष-वाद के युग में जितना अधिक सम्भव हो सकेगा उतना प्रयत्न किया जायगा। आगे की प्रगति, श्रद्धा और विश्वास के—प्रयोग एवं अनुभव के—आधार पर ही आगे बढ़ सकेगी।

इस अङ्क में पंचकोशों के स्वरूप एवं विवेचन के विज्ञान समर्थित पक्ष का विवरण है। अगले अङ्क में इस सन्दर्भ में किये जाने वाले साधना उपक्रम का उल्लेख होगा। इन दो अङ्कों को ब्रह्मवर्चस साधना ज्ञान एवम् विज्ञान—सिद्धान्त एवं प्रयोग—समझा जा सकता है। यह चर्चा आवश्यक ऊहापोह के साथ आगे भी चलती रहेगी। पिछले दिनों प्रकाश-मार्ग दर्शन पर, ज्ञातव्य एवं विवेचन पर जोर दिया जाता रहा है। अगले दिनों उसकी प्रेरणा, साधना एवं क्रिया-पद्धति से जिज्ञासुओं को लाभान्वित किया जाता रहेगा। यही है अपनी ब्रह्म वर्चस् प्रशिक्षण की भावी रूप-रेखा।

—❀❀—

पंचकोषों की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि

पाँच कोश मानवी चेतना के ही पाँच स्तर हैं। मनुष्य के सूक्ष्म शरीर के पाँच कलेवर हैं—(१) अन्नमय कोश (२) प्राणमय कोश (३) मनोमय कोश (४) विज्ञानमय कोश (५) आनन्दमय कोश। आत्मा-परमात्मा के मध्य अगणित आदान-प्रदान इन्हीं पाँच कोशों के द्वारा होते हैं। जो व्यक्ति जितने अधिक कोशों पर अधिकार कर लेता है—वह शक्तिहीनता तथा तुच्छता से उतना ही ऊपर उठता जाता है। पाँचों कोशों पर अधिकार कर लेने वाला व्यक्ति देवपुरुषों की श्रेणी में जा विराजता है। इसका यह अर्थ नहीं कि वह जो चाहे, वह करने लगता है। यह सत्य है कि देवसत्ताओं की तरह वह भी उन कामों को सरलता से सम्पन्न कर सकता है, जिन्हें सामान्य व्यक्ति असम्भव ही माने रहता है। पर वह स्वैराचारी नहीं हो जाता। देवसत्ताएँ भी सार्वभौम नियम—व्यवस्था के ही अनुसार कार्य करती हैं। उस श्रेणी तक पहुँचे हुए महापुरुष की भी कोई 'वैयक्तिक इच्छा' नहीं रह जाती। वह शाश्वत सत्ता की नियम-व्यवस्था से एकाकार हो जाता है। इसीलिए वह सामान्यतः असम्भव लगने वाले कार्य कर सकता तथा अदृश्य प्रतीत होने वाले दृश्य देख सकता है। यह चेतना-धरातल को उठाकर समष्टि-चेतना से तादात्म्य स्थापित कर लेने की स्थिति है। इस सम्पूर्ण सृष्टि में तथा उससे परे भी, सर्वत्र चेतना-प्रवाह विद्यमान है। इस चेतना की अनन्त परतें हैं। प्रत्येक चेतना-स्तर अपने ढङ्ग का अनूठा है। सामान्य मनुष्य जिस चेतना—धरातल का स्पन्दन ग्रहण कर पाने में अक्षम हो, वहाँ चेतना है ही नहीं, यह बात तार्किक दृष्टि से तो मान्य नहीं ही है, आधुनिक पदार्थ विज्ञानी भी अब इसी निष्कर्ष पर पहुँच चुके हैं कि चेतना के अनन्त समुद्र में हमारी पैठ अत्यल्प, नगण्य है।

चेतना का विशाल सागर इस ब्रह्माण्ड में विस्तृत है। उसी ने पदार्थ को उत्पन्न किया है। पदार्थ भौतिक विज्ञानी ने पदार्थों में ही सत्य को सन्निहित मान सत्यान्वेषण प्रारम्भ किया और अब वह प्रकृति के सूक्ष्म से सूक्ष्म स्तरों में प्रवेश करता हुआ विस्मित हो उठा है। पदार्थ की ही सत्ता सन्दिग्ध हो उठी है और अपना सम्पूर्ण बोध ही एक भ्रम या आभास मात्र प्रतीत होने लगा है। अभी हम जो जानते हैं, वह सब हमारे बोध की परिधि सिमटे सृष्टि-रूपों की झलक मात्र है। अर्थात् उसे आभास ही कहा जा सकता है, सत्य नहीं। यह आभास हमारे लिए ज्ञात चेतना—धरातलों की परिधि में बद्ध है। यदि किसी प्रकार हमारी चेतना एक सर्वथा नये आयाम को छू ले, तो अभी का हमारा जो भी बोध है, वह तब पूरी तरह बदल ही जाएगा। जिसे आज सर्वथा सत्य मान रहे हैं, कल वही एक भ्रम मात्र लगने लगेगा।

आइन्स्टाइन ने चेतना के इसी आयाम को, "बोध" के नये धरातल को 'चतुर्थ आयाम' की संज्ञा दी थी। आज वैज्ञानिकों को चतुर्थ आयाम सम्बन्धी अनेक साक्ष्य प्राप्त हो रहे हैं।

मृत्यु के समय मानव-शरीर से तथा अन्य प्राणियों के भी शरीर से विद्युत-धाराएँ निकलती देखी गई हैं। ये धाराएँ कहाँ चली जाती हैं, यह वैज्ञानिक अभी तक नहीं जान सके हैं। त्रिआयामीय विश्व की वैज्ञानिकों को जो जानकारी अभी है, उसके अनुसार तो ये विनष्ट-सी ही हो जाती हैं, पर ऊर्जा अविनाशी है। अतः माना यह जा रहा है कि किसी चौथे आयाम में ये विद्युत धाराएँ पहुँच जाती हैं। उसी प्रकार सहसा कुछ विद्युत-धाराएँ अज्ञात सी प्रकट होती देखी—पाई गई हैं, जिनका स्रोत नहीं जाना जा सका है। ऊर्जा का यह अज्ञात क्षेत्र से प्रवाहित होना और अज्ञात क्षेत्र से प्रवाहित होकर यहाँ आना चौथे आयाम का प्रमाण माना जा रहा है। जो विद्युत-धाराएँ सहसा प्रकट होती देखी गई हैं, उनका कारण नहीं जाना जा सका है अर्थात् वे ज्ञात जानकारियों के अनुसार "कारण रहित कार्य" हैं। यह "कारणता के सिद्धान्त" के सर्वथा विपरीत है। प्रत्येक कार्य का कोई कारण

अवश्य होता है। अतः विद्युत प्रवाहों के आकस्मिक प्राकट्य रूपी कार्य का कारण चतुर्थ आयाम से सम्बन्धित माना जा रहा है।

चतुर्थ आयाम की अवधारणा से अवगत होने के लिए उसे यों समझा जा सकता है—हमारा सम्पूर्ण बोध तीन आयामों तक सीमित है। जो कुछ भी हम देखते-जानते, समझते-सोचते हैं, वह त्रिआयामीय वस्तु-जगत से सम्बन्धित होता है। ये तीन आयाम हैं—पहला लम्बाई, दूसरा चौड़ाई तथा तीसरा मोटाई, गहराई अथवा ऊँचाई। यह तो हो सकता है कि किसी वस्तु का कोई आयाम अधिक हो, कोई कम। जैसे किसी सन्दूक की लम्बाई, चौड़ाई तथा ऊँचाई तीनों ही अधिक होती हैं, किन्तु कागज की मात्र लम्बाई-चौड़ाई ही अधिक होती है, केश या बाल की लम्बाई ही अधिक होती है, जबकि किसी धूलि-कण के तीनों आयाम बहुत छोटे होते हैं। ये तीनों आयाम देश या 'स्पेस' में होते हैं। आइन्स्टाइन के अनुसार चौथा आयाम है 'टाइम' या काल।

सामान्यतः तीन आयामों तक ही हमारा बोध-क्षेत्र है। चतुर्थ आयाम का बोध होते ही हमारे सामने ज्ञान का एक अनन्त क्षेत्र खुल सकता है। तब यह संसार एक सर्वथा भिन्न रूप में नजर आने लगेगा। ऐसा बहुत कुछ जिसे हम यथार्थ, वास्तविक और सत्य मानते-जानते हैं, वह अयथार्थ और एक भ्रान्ति मात्र है, यह स्पष्ट हो जायेगा।

इसे क्रमशः इस तरह समझा जा सकता है—एक विन्दु को लें। यद्यपि प्रत्येक विन्दु कुछ न कुछ स्थान घेरता ही है, पर गणित में विन्दु वस्तुतः उसे ही कहते हैं, जिसका कोई स्थान तो हो, पर आकार न हो या कह सकते हैं रूप तो हो पर आकार न हो। अब कोई १० सेन्टीमीटर लम्बी रेखा को लें। इस रेखा में असंख्य विन्दु समाहित हो सकते हैं, क्योंकि विन्दुओं का तो कोई 'साइज' या आकार होता नहीं। यह १० सेन्टीमीटर लम्बी रेखा, 'स्पेस' की एक ही दिशा 'लम्बाई' का प्रतिनिधित्व करती है। यह हुआ एक आयाम। एक वर्ग जिसमें लम्बाई व चौड़ाई दोनों हैं, पर गहराई मोटाई या ऊँचाई नहीं, उसमें लम्बाई और चौड़ाई के दो आयाम हुए। जैसे किसी कागज के पन्ने की ऊपरी सतह। जबकि किसी कमरे में, जिसमें लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई तीनों होती हैं, तीनों आयाम उपस्थित रहते हैं। किसी सतह पर नाली में रहने वाले दो ऐसे कीड़ों की कल्पना कीजिए जो सिर्फ एक ही आयाम लम्बाई जानते हों, चौड़ाई भी कोई वस्तु होती है, यह जानते ही न हों। इसका अर्थ है कि यदि वे संयोगवश आमने-सामने आ पड़ते हैं, तो वे एक दूसरे से बचकर नहीं निकल सकते। क्योंकि अगल-बगल जैसी कोई चीज वे जानते ही न होंगे। वे तो बस उसी रेखा में, उसी सीध में या तो आगे जा सकते हैं या पीछे आ सकते हैं। वही उनका संसार है।

किसी पुस्तक का पृष्ठ यदि चेतन हो उठे, पर उसका बोध-क्षेत्र लम्बाई और चौड़ाई इन दो ही आयामों तक सीमित हो तो वह उसी पुस्तक के दूसरे पृष्ठों के अस्तित्व को कभी भी नहीं जान सकता।

अपने त्रिआयामीय बोध-सामर्थ्य के कारण जब हम किसी छाया-चित्र को देखते हैं, तो उसमें गहराई की स्वयं ही कल्पना कर उस चित्र को समझ लेते हैं। जब कि सामान्यतः यदि किसी कुत्ते को उसका या उसके स्वामी का छाया-चित्र दिखाया जाय, तो यह उसके लिए अर्थ-हीन होगा। उस पर इसकी कोई प्रतिक्रिया न होगी। लेकिन उस चित्र में गति आ जाने पर वही कुत्ता प्रतिक्रिया करेगा। क्योंकि तब जैसे उसकी चेतना में कोई स्मृति कौंध जाती है। गति का नया घटक स्थिति को बदल देता है। चल-चित्र आदि को देखकर इसीलिए कुत्ता भौंकने लगता है।

दो आयामों वाले चित्रों को देखने की अभ्यस्त हमारी जागृत मनश्चेतना त्रिविमितीय स्तर के छाया चित्रों को देखकर किस तरह विभ्रान्त हो उठती है, यह 'होलोग्राफी' के जानकार लोगों को विदित है। लेजर किरणों की कृपा से 'होलोग्राफी' के आधार पर त्रिविमितीय सिनेमाओं का निर्माण कई विकसित देशों में प्रारम्भ भी हो चुका है, जहाँ पर्दे पर मनुष्य, मोटर, घोड़े, रेलगाड़ी, भालू, शेर आदि यथार्थवत् चलते, दौड़ते दिखाई पड़ते हैं

और अनभ्यस्त सिनेमा दर्शक प्रारम्भ में भ्रमित हो जाते हैं।

इस प्रकार तीसरे आयाम का ही नये सन्दर्भ में नवीन बोध जब हमें विस्मित-विमुग्ध कर दे सकता है, तब चतुर्थ आयाम की जानकारी तो पूरे बोध-क्षेत्र को ही उलट-पुलट देगी और हमारी वर्तमान निर्विवाद धारणाएँ भी जड़-मूल से उखड़ जायँगी।

आइन्स्टाइन ने जब सर्व प्रथम सापेक्षता—सिद्धान्त की व्याख्या की तो सम्पूर्ण विश्व में केवल बारह वैज्ञानिक उसे समझ पाये थे, ऐसा कहा जाता है। फिर जब प्रोफेसर स्मिथ ने सर्व सामान्य को समझाने के लिए सापेक्षता सिद्धान्त पर एक पुस्तक लिखी, तो एक विनोद ही चल निकला कि आइन्स्टाइन ने सर्व प्रथम व्याख्या की, तो उसे बारह वैज्ञानिक समझ पाये, किन्तु प्रोफेसर स्मिथ की व्याख्या तो एक भी व्यक्ति नहीं समझ पाया। अँग्रेजी में इस सन्दर्भ में एक हास्य–कविता भी है, जिसका मनोरंजक भावानुवाद यों होगा—

"एक थी लड़की—नाम जोन ब्राइट,
चलती अति तीव्र गति से जैसे हो 'लाइट',
एक दिन उमंग में, प्रकाश से भी प्रखरतर
वेग से चली वह आइन्स्टाइनी ढङ्ग से,
लौटकर आई तो थी पिछली "नाइट"।"

किन्तु आज यह बात विनोद नहीं रह गई है। काल की गति पीछे की दिशा में भी लौट सकने की बात अब वैज्ञानिक जगत में सर्व स्वीकृत होती जा रही है। असीम वेग से चलने वाले कणों की जानकारी बढ़ती जा रही है। १९६७ में गेराल्ड फीनवर्ग ने काल्पनिक मात्रा के इन कणों को 'टेकियान' नाम दिया। टेकियान का 'प्रापर मास' काल्पनिक होता है एवं उनका वेग प्रकाश-वेग से भी ज्यादा होता, प्रकाश-वेग से कम तो नहीं ही हो सकता। यद्यपि अभी ऐसे उपकरणों का अभाव है, जिनके द्वारा टेकियान को प्रदर्शित किया जा सके, किन्तु वैज्ञानिकों द्वारा यह तथ्य मान्य हो चुका है कि 'टेकियान' विद्यमान है।

१९६८ में टेक्सास विश्व विद्यालय, संयुक्त राज्य अमरीका में अनुसन्धान कार्य कर रहे डा० सुदर्शन ने फीनवर्ग की परिकल्पना को सही सिद्ध कर दिया। ये तो हुए प्रकाश-वेग से अधिक तीव्रगामी टेकियान, जिन पर अनुसन्धान जारी है। प्रकाश-वेग से गतिमान कणों को 'लक्सान' कहते हैं, जिनका 'प्रापर मास' शून्य रहता है। फ़ोटोन, न्यूट्रिनो, ग्रेवीटोन आदि ऐसे ही कण हैं।

प्रकाश की गति वाले अनेक कण तो अस्थायी-अस्थिर होते हैं, किन्तु फोटोन, न्यूट्रिनों व एन्ट्रीन्यूट्रिनों स्थायी होते हैं। इन कणों की खोज ने काल सम्बन्धी एक नई अवधारणा को वैज्ञानिकों के बीच प्रतिष्ठित कर दिया है और वे मानने लगे हैं कि समय मात्र आगे ही नहीं जाता, पीछे की तरफ भी लौट सकता है। फोटोन कणों का वेग प्रकाश—वेग के बराबर होता है, अतः उनके लिए तो काल-गति शून्य है। भूत, वर्तमान और भविष्य में कोई अन्तर नहीं है। प्रकाश—वेग से अधिक गति वाले कणों के लिए समय की गति हमारी परिचित भावना के सर्वथा विपरीत हो जाती है। (हम अतीत से वर्तमान और वर्तमान से भविष्य की काल–यात्रा करते हैं, किन्तु उन कणों की यात्रा भविष्य से वर्तमान और वर्तमान से अतीत में होती है। यही है काल के चतुर्थ आयाम की) आइन्स्टाइन की धारणा।

जब अतीत में लौटना भी सम्भव हो, जाएगा, तो हमारा वर्तमान बोध किस प्रकार अस्त-व्यस्त हो जाएगा, यह हम भली-भाँति समझ सकते हैं। उदाहरणार्थ हमारी वर्तमान धारणा है कि राम एवं कृष्ण, महात्मा गाँधी आदि मर गये। लेकिन तब हम स्पष्ट उन्हें उसी रूप में देख सकेंगे, जैसे कि वे उस समय थे। इससे जन्म-मृत्यु की भौतिकवादी धारणा पूरी तरह ध्वस्त हो जाएगी और भारतीयों की जो मान्यता अभी जन सामान्य के लिए मात्र एक विश्वास के रूप में ही है, वह बिल्कुल प्रत्यक्षतः सत्य दिखाई देगी तब। यह स्पष्ट हो जायेगा कि जन्म या मृत्यु चरम अर्थों में एक भ्रान्ति मात्र है। यह हुआ काल के चतुर्थ आयाम की जानकारी का एक प्रभाव परिणाम। हमारे सम्पूर्ण बोध-क्षेत्र में ही ऐसी ही उथल-पुथल मच जायेगी। जिसे नष्ट होना मान बैठते हैं, वह रूप, परिवर्तन मात्र प्रतीत होगा। जिसे आज अपना बेटा, अपनी पत्नी मानते हैं, वह अतीत का अपना भाई, मित्र या शत्रु भी है। यह स्पष्ट दिख जाने पर रिश्तों के प्रति

र्तमान दुराग्रही मोह टूट जायेगा, क्योंकि वह एक मूर्खता पूर्ण भ्रान्ति मात्र है, यह स्पष्ट हो जायेगा।

यह सब अत्यन्त निकट है। रूसी वैज्ञानिक एलेक्जेन्डर वोलेगोव का कहना है कि यह सुनिश्चित सम्भावना है। उनके अनुसार 'आर्कियोविडियोफोन' नामक एक संयन्त्र निर्मित किया जा सकता है, जो टेलीविजन-सेट जैसा होगा! यह संयन्त्र जिस व्यक्ति के पास होगा वह व्यक्ति अपने परिवार सम्बन्धी पत्रों या सम्बन्धियों के छाया-चित्रों आदि के आधार पर अपने दादाओं, परदादाओं की आकृतियाँ इस संयन्त्र के पर्दे पर देख सकेगा और उनसे वार्त्तालाप भी कर सकेगा। यह हुई काल के चतुर्थ आयाम के बोध की एक करामात।

पांचवें आयाम में मस्तिष्क और चेतना के अकल्पित क्रिया, व्यापार सम्भव होंगे। उस आयाम की खोज से आत्माओं की अवधारणा भी विज्ञान के सामने स्पष्ट हो सकती है तथा अनन्त लोकों की नवीन जानकारियों का द्वार खुल सकता है। अभी, हमें विश्व की जानकारी जितनी है, उसमें यान्त्रिक माध्यमों से उच्चतर आयाम के अन्वेषण की विधि ज्ञात नहीं है। किन्तु मानव जाति ऐसी मन:नियन्त्रण की शक्ति अर्जित, विकसित कर सकती है जिससे कि उक्त नवीन आयाम का बोध प्राप्त हो सके, भले ही यान्त्रिक उपकरण वैसे सुलभ या सम्भव न हो सकें।

भारतीय मनीषियों ने मन की ऐसी ही साधना कर चेतना के विविध आयामों का बोध प्राप्त किया था। पंच कोश इन्हीं पांच चेतना आयामों के ही नाम हैं। शरीरस्थ इन पांच आणविक विद्युत भण्डारों को अन्तरिक्ष में संव्याप्त असंख्य शक्तिधाराओं के साथ सम्बन्ध जोड़ने वाले शक्तिशाली इलेक्ट्रानिक संयन्त्र के रूप में प्रयुक्त कर ज्ञान और शक्ति का अनन्त विस्तार किया जा सकता है। मनुष्य में समस्त देवशक्तियों का अंश विद्यमान है, अत: वह अपने भीतर निहित इनमें से किसी भी शक्ति का अथवा सभी या कि अनेक शक्तियों के समन्वित स्वरूप का विकास कर सकता है। पदार्थवाद अभी तक इस मार्ग में बाधा बनने का प्रयास कर रहा था। अब वही इस मार्ग का नया व्याख्याकार बनने जा रहा है।

अन्नमय कोश को 'मैटर' प्राणमय कोश को 'सेल' मनोमय कोश को "माइन्ड" विज्ञानमय कोश को "पर्सनालिटी" तथा आनन्दमय कोश को "इण्ट्यूशन" कहा जा सकता है। "मैटर" के बारे में विज्ञान उल्लेखनीय जानकारियाँ जुटाने में सफल हुआ है और इन्हीं जानकारियों ने उसे चतुर्थ आयाम की सम्भावनाओं के द्वार पर ला खड़ा किया है। "सेल" तथा "माइन्ड" के क्षेत्र में अभी वह कुछ ही कदम बढ़ा पाया है। शीघ्र ही इस दिशा में भी उल्लेखनीय प्रगति की आशा की जा सकती है। आवश्यकता है "पर्सनालिटी" और 'इण्ट्यूशन' के क्षेत्र में अन्वेषण प्रगति की। सामान्य मानसिक क्रियाशीलता की भी सभी सूक्ष्म गतिविधियाँ ऐन्द्रिक अनुभवों द्वारा नहीं जानी जा सकती। फिर चेतना के उच्चतर आयामों के लिए तो ऐन्द्रिक अनुभव-परक उपकरणों की सीमाएँ स्पष्ट हैं।

आइन्स्टीन चतुर्थ आयाम से भी आगे एक पंचम आयाम की सम्भावना देखते हैं। चतुर्थ आयाम के अस्तित्व को अतीन्द्रिय ज्ञान की असंख्य घटनाएँ प्रमाणित करती रहती हैं। प्रेत शरीर के बारे में स्वप्नों को सही संकेतों के रूप में—दूर-दर्शन, दूर श्रवण, विचार संचार आदि के रूप में हम अदृश्य जगत की सत्ता को प्रत्यक्ष वत् देखते हैं। यह चौथे आयाम की पुष्टि है। पांचवा आयाम वह है जिसमें ब्रह्माण्डाय चेतना और आत्म-चेतना को परस्पर सम्बद्ध करके मानवी सत्ता को ईश्वर तुल्य बनाया जा सकना और उतना ही शक्ति सम्पन्न सिद्ध कर सकना सम्भव हो जायगा। प्रति विश्व, प्रति कण, आदि के रूप में ही संसार से बिलकुल सटे एक ऐसे विश्व का अस्तित्व अगले दिनों सिद्ध होने जा रहा है जिसे पौराणिक काल के दैत्य-लोक के समतुल्य कहा जा सके। यह क्षेत्र भी पंचम आयाम की परिधि में ही आ जायगा।

लम्बाई, चौड़ाई, गहराई के तीन आयामों का अस्तित्व हमारी आँखें ही प्रत्यक्ष देखती हैं। 'होलोग्राफी' के आधार पर अब उसका उपयोग आश्चर्यजनक फोटोग्राफी के रूप में आ चुका है। चतुर्थ आयाम अतीन्द्रिय चेतना का है, जिसे परामनोविज्ञान आदि अनेक विज्ञान

धाराएँ अपनी खोज का विषय बना चुकी हैं और उसकी प्रामाणिकता पर पूरी-तरह विश्वास करने लगी हैं। बात इतनी ही जानना शेष है कि उस क्षमता को हस्तगत कर सकना और लाभ उठाया जा सकना कैसे सम्भव हो सकता है। वस्तुतः यह प्रसंग भी भौतिक ही है। सूक्ष्म जगत अपने स्थूल जगत का ही अदृश्य भाग है। थोड़ा प्रयत्न करने पर उसका अस्तित्व आसानी से जाना जा सकता है। प्रकृति के रहस्यों की परतें खुल रही हैं। अदृश्य को खोजते-खोजते ही हैं, अणु शक्ति, लेजर किरण, ईथर, रेडियो विकरण, कास्मिक किरणें आदि का अन्वेषण और उपयोग सम्भव हो सका है। अतीन्द्रिय क्षमताएँ मनुष्य के मस्तिष्क केन्द्र में उत्पन्न होती हैं। वे आती इसी अपने संसार के अदृश्य क्षेत्र से हैं। इसलिए यह सब प्रकृति का अदृश्य-अविज्ञात क्षेत्र कहा जा सकता है। सामान्य प्रचलन में न रहने वाली हर बात अद्भुत लगती है। चतुर्थ आयाम के आश्चर्यजनक लगने का भी यही कारण है।

संक्षेप में आयामों को स्थूल और सूक्ष्म प्रकृति का क्षेत्र कह सकते हैं। स्थूल की अनुभूतियाँ स्थूल शरीर और सूक्ष्म उपकरणों से होती है, सूक्ष्म के लिए मस्तिष्क-प्राण जैसे उच्चस्तरीय चेतना-युक्त औजार प्रयुक्त करने पड़ते हैं।

पांचवा आयाम विशुद्ध चेतनात्मक है। उसे ब्रह्माण्डीय चेतना के साथ जीव-चेतना के साथ जोड़ने की और उस स्थिति का असाधारण लाभ उठाने की प्रक्रिया कहा जा सकता है। आत्मा और परमात्मा का मिलना कितना आनन्ददायक कितना शक्तिशाली कितना प्रभावोत्पादक हो सकता है, इसकी आज की समुचित चर्चा कर सकना भी अपनी भौतिक मनःस्थिति में सम्भव नहीं है। पर तत्वज्ञानी सूक्ष्मदर्शी उसका रसास्वादन कर रहे हैं। इसी आधार पर वे देवात्मा बने हैं और दूसरों को अपनी नाव पर विठा कर पार लगाया है।

पंचम आयाम में भी शिव और शक्ति का, विष्णु और लक्ष्मी का संयोग है। ब्रह्म और प्रकृति का वहाँ भी समन्वय है। अति सूक्ष्म प्रकृति को शक्ति, लक्ष्मी, दुर्गा, सरस्वती आदि कह सकते हैं। अति सूक्ष्म-ब्रह्म को शिव, विष्णु, ब्रह्मा आदि कहा जाता है। इन देवी-देवताओं की उपासना से जीव किस स्थिति तक जा पहुँचता है इसकी चर्चा पौराणिक कथा-गाथाओं में अलंकारिक रूप से विस्तारपूर्वक होती रही है। वह वस्तु स्थिति है। बुद्धिवाद और प्रयोगवाद भले ही अपने स्वल्प साधनों से उस स्थिति का अनुभव न कर सके फिर भी संवेदनाओं और अनुभूतियों के क्षेत्र की विशिष्टता अस्वीकार नहीं की जा सकती। नर-पशुओं और नर-नारायणों के बीच देखा जाने वाला अन्तर भी अकारण नहीं होता। उसमें पंचम आयाम की विशेषताएँ ही काम कर रही होती हैं।

पूर्वरात्रे परे चैव युञ्जानः सततं मनः।
लघ्वाहारो विशुद्धात्मा पश्यन्नात्मानमात्मनि॥
प्रदीप्तेनेव दीपेन मनोदीपेन पश्यति।
दृष्ट्वाऽऽत्मानं निरात्मानं स तदा विप्रमुच्यते॥

मनुष्य को चाहिये कि वह हल्का भोजन करे और अन्तःकारण को शुद्ध रखे। रात के पहले और पिछले पहर में सदा अपना मन परमात्मा के चिन्तन में लगावे। जो इस प्रकार निरन्तर अपने हृदय में परमात्मा के साक्षात्कार का अभ्यास करता है, वह प्रज्वलित दीपक के समान प्रकाशित होने वाले अपने मनोमय प्रदीप के द्वारा निराकार परमेश्वर का साक्षात्कार करके तत्काल मुक्त हो जाता है।

पाँच कोश इन्हीं पाँच आयामों का प्रतिनिधित्व करते हैं। पञ्च कोशी साधना का महत्व इसी दृष्टि से है कि हम जड़ के भीतर हर क्षेत्र में काम कर रहे चेतन के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ सकें। पदार्थ का स्थूल उपयोग कर सकना ही पर्याप्त नहीं, उसकी मूल-सत्ता को हस्तगत किया जा सके तो ही वास्तविक लाभ है। पाँच कोशों में प्रथम विशुद्ध पदार्थ परक है। दूसरे को पदार्थ का ऊर्जा क्षेत्र कह सकते हैं। प्रथम अन्नमय और दूसरा प्राणमय कोश है।

आगे चेतना का क्षेत्र आरम्भ होता है। व्यक्ति का ज्ञान क्षेत्र दो भागों में विभक्त है एक ज्ञात। दूसरा

अविज्ञात। ज्ञात को मनोमयकोश कहते हैं। उसका प्रशिक्षण, सम्वर्धन उपयोग, विचार-विमर्श एवं बौद्धिक आदान-प्रदान से सम्भव हो जाता है। उस क्षमता के विकसित होने पर मनुष्य बुद्धिमान कहा जाता है और बुद्धि शक्ति के सहारे जो लाभ मिल सकते हैं, उन्हें उठाता है। इसे मनोमय कोश समझा जाना चाहिए।

विज्ञानमय कोश मनःचेतना की गहरी परत है। 'चित्त' और 'अहंकार' के रूप में इसी की व्याख्या की जाती है। अतीन्द्रिय क्षमता का क्षेत्र यही है। सूक्ष्म जगत में प्रवेश करके अपने संसार की कारणभूत स्थिति के साथ सम्बन्ध जोड़ सकना इसी आधार पर सम्भव होता है। सिद्ध पुरुष इसी प्रक्रिया में प्रवीण होते हैं। ऋद्धि-सिद्धियाँ यहीं से उपलब्ध होती हैं।

व्यक्ति सत्ता का एक वर्गीकरण स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर के रूप में भी होता रहा है। पञ्च तत्वों से बना और प्रत्यक्ष होने के कारण यही अपना काम-काजी शरीर स्थूल कहलाता है। प्राण-शक्ति की इसी को सामर्थ्य है। इसलिए अन्नमय और प्राणमय कोशों का सम्मिलित स्वरूप स्थूल-शरीर कहा जाता है। मनोमय कोश और सूक्ष्म शरीर पूर्णतया एक ही है। कारण शरीर को विज्ञानमय कोश समझा जाना चाहिए। भाव सम्वेदना का, मस्तिष्क की अतीन्द्रिय चेतना का समावेश यही है। आनन्दमय कोश का उतना अंश इसी क्षेत्र में आता है जिसमें जीव-सत्ता और परम-सत्ता के मिलन की आत्म साक्षात्कार, ब्रह्म साक्षात्कार जैसी दिव्य अनुभूतियाँ होती हैं। स्थिति प्रज्ञ, अवधूत, ब्रह्मज्ञानी, तत्वदर्शी, जीवन मुक्त इसी स्थिति में परिपक्व होते हैं।

यह सारे क्षेत्र शरीर स्थिति से सम्बन्धित हैं। स्थूल, सूक्ष्म, और कारण यह तीनों ही शरीर हैं। जीव चेतना का स्वतन्त्र अस्तित्व रहने तक ही इनकी स्थिति है इसके उपरान्त जब तीनों शरीरों से मुक्ति मिल जाती है तब वह अनिवर्चनीय स्थिति आती है जिसमें जीव और ब्रह्म का अन्तर समाप्त होता है, द्वैत मिट कर अद्वैत बनता है।

गायत्री के पाँच मुख—पाँच कोशों के प्रतीक हैं। इस साधना को पूरी करते हुए हम पूर्णता के लक्ष्य तक पहुँचते हैं। इन्हें परीक्षा के पाँच वर्ग एवं स्तर कह सकते हैं। विज्ञान के क्षेत्र में इन्हीं की पाँच आयामों के रूप में व्याख्या की जाती है। आत्मिक प्रगति के पथ पर हम जितने-जितने आगे बढ़ते हैं, उतने ही उतने दिव्य-विभूतियों से सुसम्पन्न बनते चले जाते हैं। ब्रह्म वर्चस् साधना-प्रक्रिया द्वारा इसी मार्ग पर आज की स्थिति के अनुरूप साधन, विधान बताकर प्रगति पथ पर अग्रसर करने का प्रयत्न किया जा रहा है।



न संस्तरोऽश्मा न तृणं न मेदिनी, विधानतो नो फलको विनिर्मितः।
यतो निरस्ताक्षकपायविद्विषः, सुधीभिरात्मैव सुनिर्मली मतः॥
न संस्तरो भद्र समाधिसाधनं, न लोक पूजा न च सन्धमेलनम्।
यतस्ततोऽध्यात्मरतो भवानिशं, विमुच्य सर्वामपि बाह्यवासनम्॥

—अमितगति

अर्थात् ध्यान करने के लिये पाषाण की शिला, कुशा या पृथ्वी के आसन की आवश्यकता नहीं है, विद्वानों के लिये वह आत्मा ही स्वयं पवित्र आसन है, जिसने क्रोध आदि कषाय (कुवृत्ति) व इन्द्रिय-विषय-वासना रूपी शत्रु का संहार कर दिया है। हे मित्र! आत्मध्यान के लिये न किसी आसन की, न लोक पूजा की और न किसी सभा-सोसायटी की आवश्यकता है। जिस किसी प्रकार अपने हृदय से बाह्य वस्तुओं की वासना को निकाल कर, अपने ही स्वरूप में प्रतिक्षण लवलीन रहे, यही ध्यान एवं समाधि है।

हमारा शरीर अद्भुत विलक्षण

मानवी शरीर यों उपेक्षित परिभाषा में एक 'चलता-फिरता पेड़' है। भौतिक दृष्टि से उसकी और कुछ व्याख्या हो भी नहीं सकती। वनस्पतियों में पाये जाने वाले रसायन ही न्यूनाधिक मात्रा में उसमें भी पाये जाते हैं। जन्म, वृद्धि और मरण के चक्र में घास-पात की तरह मनुष्य भी भ्रमण करता है। आहार और साँस लेने की क्रिया ही पौधों की तरह उसे भी जीवित रखती है।

पिछले दिनों वैज्ञानिक इसी स्तर के प्रतिपादन करते रहे हैं। इससे किस सिद्धान्त की पुष्टि हो सकी—किसकी न हो सकी यह पीछे की बात है, पर मानवी सत्ता का अवमूल्यन निश्चित रूप से हुआ है। उसकी आत्मिक विशेषता को अस्वीकार कर देने पर मनुष्य वनस्पति वर्ग का रह जाता है। अधिक से अधिक उसे कृमि-कीटकों की तरह कुछ अधिक विकसित स्तर का काय-पिण्ड कह सकते हैं। इस स्थिति में उसके विशेष आदर्श, कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व मानने की भी आवश्यकता नहीं रह जाती। नैतिक मर्यादाओं में भी उसे क्यों बाँधा जाय? फिर उसके स्वेच्छाचार पर भी क्यों अंकुश लगे? तब सेवा, उदारता, आत्मीयता, सहकारिता के आदर्शों का विस्तार करने की बात भी क्यों सोची जाय? त्याग, बलिदान की—तप और संयम की आवश्यकता भी क्यों मानी जाय? नास्तिक दर्शन में भस्मी भूत देह का पुनरागमन न होने की मान्यता अपनाने के उपरान्त 'यावज्जीवेत् सुखंजीवेत्' की नीति मान्य ठहराई गई है। उसे ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत् की ही नहीं, शोषण, उत्पीड़न और रक्त-पान की भी पूरी छूट है। विचारणीय है कि यदि मनुष्य चलता-फिरता पौधा ही ठहरा दिया गया तो फिर उस पर कोई नैतिक उत्तरदायित्व न लादे जा सकेंगे और आदर्शों के नाम पर आत्म-संयम बरतने एवं परमार्थ कृत्यों में उत्साह रखने का औचित्य सिद्ध न किया जा सकेगा। इस दिशा में बढ़ते हुए हम संचित मानवी सभ्यता, संस्कृति और आदर्शवादिता की तिलाञ्जलि दे देंगे।

पौधे और मनुष्य के बीच पाये जाने वाले अन्तर पर दृष्टिपात करने से हमें दोनों के बीच हर क्षेत्र में मौलिक अन्तर दृष्टिगोचर होता है। विशिष्टता मानवी काया के रोम-रोम में संव्याप्त है। आत्मिक गरिमा पर विचार करना पीछे के लिए छोड़कर मात्र काय संरचना और उसकी क्षमता पर विचार करें तो इस क्षेत्र में भी सबकुछ अद्भुत दीखता है। वनस्पति तो क्या—पिछड़े स्तर के प्राणि-शरीरों में भी वे विशेषताएँ नहीं मिलती जो मनुष्य के छोटे और बड़े अवयवों में सन्निहित हैं। कलाकार ने अपनी सारी कला को इसके निर्माण में झोंका है।

शरीर रचना से लेकर मनःसंस्थान और अन्तःकरण की भाव सम्वेदनाओं तक सर्वत्र असाधारण ही असाधारण दृष्टिगोचर होता है। यह सोद्देश्य होना चाहिए। अन्यथा एक ही घटक पर कलाकार का इतना श्रम और कौशल नियोजित होने की क्या आवश्यकता थी? यह मात्र संयोग नहीं है और न इसे रचनाकार का कौतुक-कौतूहल कहा जाना चाहिए। मनुष्य को विशेष प्रयोजन के लिए बनाया गया। इस 'विशेष' को सम्पन्न करने के लिए उसका प्रत्येक उपकरण इस योग्य बनाया गया है कि उसके कण-कण में विशेषता देखी जा सके। इन साधन उपकरणों के सहारे ही वह आत्म-कल्याण एवं विश्व-कल्याण जैसे महान् प्रयोजन सम्पन्न कर सकने में समर्थ हो सकता है। सृष्टा ने इसी साज-सज्जा से अलंकृत करके उसे इस संसार में अभीष्ट कर्त्तव्यों का निर्वाह करने के लिए भेजा है।

हृदय की धड़कन में सिकुड़ने की—सिस्टोल और फैलने की—डायेस्टोल क्रिया होती रहती है। इसी क्रिया के कारण रक्त-संचार होता है और जीवन के समस्त क्रिया-कलाप चलते हैं। यह रक्त प्रवाह नदी नाले की तरह नहीं चलता, वरन् पम्पिग स्टेशन जैसी विशेषता उसमें रहती है। पम्प में झटका मारने की क्रिया होती है। उससे गति मिलती है। नीचे की दिशा में तो प्रवाह अपने आप भी होता है, पर ऊपर की ओर ले जाना हो तो उसके पीछे शक्ति का दबाव होना आवश्यक है। आकुंचन-प्रकुंचन से झटका लगता है और उसके दबाव से

रक्त-चक्र नीचे जाने और ऊपर आने की दोनों आवश्यकताएं पूरी कर लेता है। हृदय की धड़कन रक्त के परिभ्रमण में काम आने वाली गति की व्यवस्था करती है।

कोई यन्त्र लगातार काम करने से गरम हो जाता है। श्रम के साथ विश्राम भी आवश्यक है। 'श्रम में शक्ति का व्यय होता है, विश्राम उसको फिर से जुटा देता है। हृदय के आकुंचन-प्रकुंचन से जहाँ झटके द्वारा शक्ति उत्पादन की आवश्यकता पूरी होती है वहाँ इन दोनों क्रियाओं के बीच मध्यान्तर की अवधि में विश्राम का लाभ भी उसे मिलता रहता है। एक धड़कन एक मिनट के ७२ वें भाग में सैकिण्ड के पाँच बटे छै भाग में सम्पन्न होती है। इस अल्प अवधि में ही असंख्य विद्युत तरंगें उस संस्थान से प्रवाहित होती हैं। इन तरङ्गों के विद्युत आवेशों को इलेक्ट्रोकार्डियोग्राम के माध्यम से रिकार्ड करके हृदय की स्वास्थ्य परीक्षा की जाती है। नवजात शिशु की प्रगति आवश्यकता के अनुरूप उन दिनों हृदय एक मिनट में १४० बार धड़कता है किन्तु वह जरूरत कम होते जाने से यह चाल भी घटती है। ३ वर्ष के बच्चे का एक मिनट में १०० बार और युवा मनुष्य का मात्र ७२ बार धड़कता है। समर्थता की न्यूनाधिकता के अनुरूप धड़कन घटी-बढ़ी रहती है। चूहे का हृदय ५०० बार, चिड़ियों का २५० बार, मुर्गी का २०० बार, खरगोश का ६५ बार, घोड़े का ५० बार और हाथी का ४० बार एक मिनट में धड़कता है। मनुष्य के शिशु और प्रौढ़ के बीच समर्थता वृद्धि के अनुपात से हृदय की धड़कन भी घटती जाती है।

पुरुष के हृदय का औसत वजन ३३० ग्राम और स्त्री का २६० ग्राम होता है। यह सम्पूर्ण अवयव 'परिकार्डियम' नामक झिल्ली की थैली में बन्द रहता है। हृदय एक होते हुए भी उसके मध्य भाग में खड़ी सेप्टम नामक मांस-पेशी उसे दो भागों में बाँट देती है। यह दो भाग भी दो-दो हिस्सों में बँटकर चार हो जाते हैं। इनमें से ऊपरी भाग को आरिकिल और नीचे के भाग को वेंक्ट्रिकिल कहते हैं। हृदय से फुफ्फुसीय धमनी में जाने की प्रक्रिया को मध्यवर्ती वाल्व नियन्त्रित करते हैं।

हृदय के समान ही फेंफड़े भी आजीवन कभी विश्राम नहीं करते। २० से ३० घन इन्च हवा को वे बार-बार भरते और शरीर को ताजगी प्रदान करते रहते हैं। बच्चों की श्वास गति २५ से ४० तक होती है। क्योंकि यह उनका विकास काल होता है।

शरीर में उत्पन्न दूषित वायु कार्बन-डाइ-आक्साइड गैस को बाहर निकालना और शुद्ध वायु आक्सिजन को शरीर पोषण के लिए उपलब्ध कराना यह दुहरा उत्तरदायित्व फेंफड़ों को निबाहना पड़ता है। फेंफड़ों में आँख से भी न दीख पड़ने वाली बहुत पतली वायु नलिकाएँ बहती हैं। इन ४० नलिकाओं के मिलने से एक वायुकोष्ठ—एयरसैक बनता है। यही सघन होकर फेंफड़े का रूप लेते हैं। इनकी संख्या प्रायः १६०० होती है। इन्हें श्वास विभाग के सफाई कर्मचारी भी कहा जा सकता है। इन वायुकोष्ठों की लचक अद्भुत है। इन्हें पूरी तरह फूलने का अवसर मिले तो वे समूचे शरीर से ५५ गुने विस्तार में फैल सकते हैं।

साधारणतया उपलब्ध आक्सिजन का ४·५ प्रतिशत अंश ही शरीर ग्रहण कर पाता है। यदि श्वास लम्बी और गहरी लेने का अभ्यास डाल लिया जाय तो तीन गुनी अर्थात् १३·५ तक आक्सिजन ग्रहण की जा सकती है। इस उपार्जन का लाभ भी शरीर पोषण के लिए तीन गुना अधिक प्राप्त हो सकता है। इसी प्रकार सफाई का कार्य तीन गुना अधिक बढ़ सकता है। जिस अनुपात से गहरी साँस द्वारा आक्सिजन अधिक ग्रहण की जा सकती है उसी प्रकार कार्बन-डाइ-आक्साइड को भी ४ ५ प्रतिशत के स्थान पर १३·५ के अनुपात से बाहर निकाला जा सकता है। कहना न होगा कि शक्ति प्राप्त करने और विषाक्तता निकालने के अनुपात बढ़ जायें तो उससे आरोग्य वृद्धि में अत्याधिक लाभ मिलेगा। गहरी और लम्बी साँस लेने की सामान्य प्रणाली, डीप ब्रीदिंग, भौतिक विज्ञान की प्राणायाम प्रक्रिया कहलाती है। इसमें आध्यात्मिक आधारों को भी मिला दिया जाय तो फेंफड़े स्वास्थ्य सम्वर्धन में अद्भुत भूमिका निभाने लगते हैं।

हृदय के समान ही फेंफड़े भी आजीवन बिना विश्राम लिये काम करते रहते हैं। २० से ३० घन इन्च हवा वे बार-बार भरते और शरीर को ताजगी प्रदान करते रहते

हैं। प्रति मिनट वे १७ वार के हिसाब से धोंकनी धोंकते हैं। बच्चों की श्वास गति तो २५ से ४० तक होती है।

हृदय और फेंफड़े ही नहीं अन्य छोटे दीखने वाले अवयव भी अपना काम अद्‌भुत रीति से सम्पन्न करते हैं। गुर्दों की गाँठें देखने में मुट्ठी भर आकार की—भूरे कत्थई रङ्ग की—सेम के बीज जैसे आकृति की—लगभग १५० ग्राम भारी हैं। प्रत्येक गुर्दा प्रायः ४ इन्च लम्बा, २·५ इंच चौड़ा और २ इंच मोटा होता है। जिस प्रकार फेंफड़े साँस को साफ करते हैं, उसी प्रकार जल अंश की सफाई इन गुर्दों के जिम्मे है। गुर्दे रक्त में घुले रहने वाले नमक, पोटेशियम, कैल्शियम, मैंगनीशियम आदि पर कड़ी नजर रखते हैं। इनकी मात्रा जरा भी बढ़ जाय तो शरीर पर घातक प्रभाव डालती है। शरीर में जल की भी एक सीमित मात्रा होनी चाहिए। रक्त में क्षारीय एवं अम्लीय अंश न बढ़ने पाये इसका ध्यान भी गुर्दों को ही रखना पड़ता है। छानते समय इन सब बातों की सावधानी वे पूरी तरह रखते हैं। गुर्दे एक प्रकार की छलनी हैं। उसमें १० लाख से भी अधिक नलिकाएँ होती हैं। इन सबको लम्बी कतार में रखा जाय तो वे ११० किलोमीटर लम्बी डोरी बन जायेंगी। एक घण्टे में गुर्दे इतना रक्त छानते हैं जिसका वजन शरीर के भार से दूना होता है। विटामिन अमीनो अम्ल, हारमोन, शकर जैसे उपयोगी तत्व रक्त को वापिस कर दिये जाते हैं। नमक ही सबसे ज्यादा अनावश्यक मात्रा में होता है। यदि यह रुकना शुरू करदे तो सारे शरीर पर सूजन चढ़ने लगेगी। गुर्दे ही हैं जो इस अनावश्यक को निरन्तर बाहर फेंकने में लगे रहते हैं।

दोनों गुर्दों में परस्पर अति सघन सहयोग है। एक खराब हो जाय तो दूसरा उसका बोझ अपने ऊपर उठा लेता है। गुर्दे प्रतिदिन प्रायः दो लीटर मूत्र निकालते हैं। मनुष्य अनावश्यक और हानिकारक पदार्थ खाने से बाज नहीं आता। इसका प्रायश्चित्य गुर्दों को करना पड़ता है। नमक, फास्फेट, सल्फेट, पोटेशियम, कैल्शियम, मैगनेशियम, लोहा, क्रिएटाइनिन, यूरिया, अमोनिय, यूरिक एसिड, हिप्पूरिक ऐसिड, नाइट्रोजन आदि पदार्थों की प्रचलित आहार पद्धति में भरमार है। गुर्दे इस कचरे को मूत्र मार्ग से बाहर करने और स्वास्थ्य सन्तुलन बनाये रखने का उत्तरदायित्व निवाहते हैं। यदि वे अपने कार्य में तनिक भी ढील करदें तो मनुष्य ढोल की तरह फूल जायगा और देखते-देखते प्राण गँवा देगा।

आमाशय का मोटा काम भोजन हजम करना माना जाता है, पर यह क्रिया कितनी जटिल और विलक्षण है। इस पर दृष्टिपात करने से आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है, इसे छोटी थैली की एक अद्‌भुत रसायनशाला की संज्ञा दी जाती है,जिसमें सम्मिश्रणों के आधार पर कुछ से कुछ बना दिया जाता रहता है। कहाँ अन्न और कहाँ रक्त? एक स्थिति को दूसरी में बदलने के लिए उसके बीच इतने असाधारण परिवर्तन होते हैं—इतने अधिक रसायनिक सम्मिश्रण मिलते हैं कि इस स्तर के प्रयोगों की संसार भर में कहीं भी उपमा नहीं ढूँढ़ी जा सकती। आमाशय में पाये जाने वाले लवणाम्ल, पेप्सीन, रेन्नेट आदि भोजन को आटे की तरह गूँधते हैं। लवणाम्ल खाद्य-पदार्थों में रहने वाले रोग कीटाणुओं का नाश करते हैं। पेप्सीन के साथ मिलकर वे प्रोटीनों से 'पेप्टोन' बनाते हैं। पेन्क्रियाज में पाये जाने वाले इन्सुलीन आदि रसायन शकर को सन्तुलित करते हैं और आँतों के काम को सरल बनाते हैं। इतने अधिक प्रकार के—इतनी अद्‌भुत प्रकृति के—इतनी विलक्षण प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करने वाले रासायनिक प्रयोग मनुष्यकृत प्रयोग प्रक्रिया द्वारा सम्भव हो सकते हैं, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। आमाशय की रासायनिक प्रयोगशाला क्या-क्या कौतुक रचती है और क्या से क्या बना देती है? इसे किसी बाजीगर की विलक्षण जादूगरी से कम नहीं कहा जा सकता।

यों तो कर्त्ता की कारीगरी का परिचय रोम-रोम और कण-कण में दृष्टिगोचर होता है, पर आँख कान जैसे अवयवों पर हुई कारीगरी तो अपनी विलक्षण संरचना से बुद्धि को चकित ही कर देती है। आँख जैसा कैमरा मनुष्य द्वारा कभी बन सकेगा। इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। कैमरों में नाभ्यान्तर—फोकल लेन्थ—को बदला जा सके ऐसे कैमरे कहीं नहीं बने। फोटो लेने के लिए अच्छे कैमरों के लेन्स भी पहले एक निश्चित नाभ्यान्तर पर फिट करने होते हैं। फिल्मों तक में फोटो दृश्य और कैमरे की दूरी का सन्तुलन मिलाकर फोक्स

सही करना पड़ता है। इस व्यवस्था को बनाये विना अभीष्ट फोटो खिंच ही नहीं सकेगा। किन्तु नेत्र संरचना में ऐसा कुछ नहीं करना पड़ता। वे निकट से निकट और दूर से दूर को भी—आँखों को विना आगे-पीछे हटाये—मजे में देखते रह सकते हैं। प्रिज्म या थ्रीडायमेन्शनल कैमरे अद्भुत माने जाते हैं। पर वे भी रङ्गों का वर्गीकरण उस तरह नहीं कर सकते जैसा कि आँखें करती हैं। सुरक्षा सफाई का 'प्रबन्ध' जैसा आँखों में है वैसा किसी कैमरे में नहीं होता। कैमरे पहले उलटा फोटो लेते हैं, फिर दुबारा प्रिंट करके उन्हें सीधा करना पड़ता है किन्तु आँखें सीधा एक ही बार में सही फोटो उतार लेती हैं।

कान जैसा 'साउण्ड फिल्टर' यन्त्र कभी मनुष्य द्वारा बन सकेगा, ऐसी आशा नहीं की जा सकती। रेडियो और वायरलैस की आवाजें एक निश्चित 'फ्रीक्वेन्सी' पर ही सुनी जा सकती हैं। कानों के सामने इस प्रकार की कोई कठिनाई नहीं है। वे किसी भी तरफ की—कोई भी ऊँची हलकी आवाज सुन सकते हैं। कई आवाजें एक साथ सुनने या कोलाहल के बीच अपने ही व्यक्ति की बात सुन लेने की क्षमता हमारे ही कानों में होती है। ध्वनि साफ करने के लिए 'रेक्टीफायर' का प्रयोग किया जाता है। कुछ यन्त्रों में 'वैकुऊम सिस्टिम' एवं 'गस सिस्टम' से ध्वनि साफ की जाती है। उनमें लगे धन प्लेट 'एनोड' और ऋण प्लेट 'कैथोड' के साथ 'ग्रिड' जोड़ना पड़ता है तब कहीं एक सीमा तक आवाज साफ होती है। किन्तु कान की तीन हड्डियाँ स्टेयिम, मेलियस और अंकस में इतनी स्वच्छ प्रणाली विद्यमान है कि वे आवाज को उसके असली रूप में विना किसी कठिनाई के सुन सके। न मात्र सुनने की है उस सन्देश के अनुरूप अपना चिन्तन और कर्म निर्धारित करने के लिए प्रेरणा देनी वाली विद्युत प्रणाली कानों में विद्यमान है। साँप की फुसकार सुनते ही यह प्रणाली खतरे से सावधान करती है और भाग चलने की प्रेरणा देने के लिए रोंगटे खड़े कर देती है। ऐसी बहुद्देशीय संरचना किन्हीं ध्वनि-ग्राहक यन्त्रों में सम्भव नहीं हो सकती।

शरीर पर(चमड़ी)का क्षेत्रफल प्रायः २५० वर्ग फुट और वजन ६ पौण्ड होता है। एक वर्ग इन्च त्वचा में ७२ फुट लम्बाई वाला तन्त्रिका जाल और १२ फुट से अधिक लम्बाई वाली रक्त नलिकाएँ बिछी बिखरी होती हैं। त्वचा के रोमकूपों से प्रायः एक पौंड पसीना बाहर निकलता है। शरीर को 'एयरकण्डीशन' बनाये रखने के लिए त्वचा फैलने और सिकुड़ने की क्रिया द्वारा कूलर और हीटर दोनों का प्रयोजन पूरा करती है। त्वचा के भीतर विखरे ज्ञान तन्तुओं को एक लाइन में रख दिया जाय तो वे ४५ मील लम्बे होंगे। इन तन्तुओं द्वारा प्राप्त अनुभूतियाँ मस्तिष्क तक पहुँचती हैं और टेलीफोन तारों जैसा उद्देश्य पूरा होता है। त्वचा से 'कोरियम' नामक एक विशेष प्रकार का तेल निकलता रहता है यह सुरक्षा और सौन्दर्य वृद्धि के दोनों ही कार्य करता है। उसकी रंजक कोशिकाएँ 'नेलानिक' रसायन उत्पन्न करती हैं। यही चमड़ी को गोरे, काले, पीले आदि रङ्गों से रँगता रहता है।

शरीर पूरा जादू घर है। उसकी कोशिकाएं, तन्तुजाल किस प्रकार जीवन-मरण की गुत्थियाँ स्वयं सुलझाते हैं और समूची काया को समर्थ बनाये रहने में योगदान करते हैं यह देखते ही बनता है। जीवन सामान्य है, पर उसे सुनियोजित एवं सुसंचालित रखने में एक छोटा ब्रह्माण्ड ही जुटा रहता है। पिण्ड मानवी काया का नाम हैं, पर उसके भीतर चल रही विधि-व्यवस्था को ब्रह्माण्डीय क्रिया-प्रक्रिया का छोटा रूप ही कहा जा सकता है।

अन्नमय कोश जिसे स्थूल शरीर भी कहते हैं। परमेश्वर की विचित्र कारीगरी से भरा-पूरा है। उसके किसी भी अवयव पर दृष्टिपात किया जाय उसमें एक से एक बढ़ी-चढ़ी अपने-अपने ढङ्ग की विलक्षणताएँ प्रतीत होंगी। सामान्यतया इसे खाने-सोने में ही खपा दिया जाता है। पर यदि इस सृष्टि के सर्वश्रेष्ठ अनुदान के सदुपयोग की बात सोची जाय, उसकी प्रसुप्त क्षमताओं को जागृत किया जाय तो इतना कुछ कर गुजरना सम्भव हो सकता है जिससे मनुष्य जन्म को सच्चे अर्थों में सार्थक हुआ कहा जा सके।



जीवसत्ता की प्रचण्ड शक्ति-सामर्थ्य

मनुष्य गया-गुजरा उस स्थिति में—जब अपनी सामर्थ्य को पहचानने और उसका उपयोग करने में उपेक्षा बरतें। महान् और असाधारण उस स्थिति में—जब वह अपनी गरिमा को समझे और असीम क्षमता पर विश्वास करे। साधारणतया यह आत्म-विश्वास की कमी ही वह कठिनाई है जिसके कारण हेय स्थिति में रहना पड़ता है।

मनुष्य की क्षमता का एक छोटा उदाहरण उसकी आरम्भिक स्थिति 'भ्रूणावस्था' की गतिविधियों का पर्यवेक्षण करते हुए सहज ही किया जा सकता है। अपनी सत्ता के प्रकटीकरण अवसर पर साधन रहित स्थिति में यदि इतना अधिक पुरुषार्थ किया जा सकता है। तो साधन सम्पन्न और विकसित स्थिति में अपेक्षाकृत और भी अधिक पराक्रम कर सकना सम्भव होना चाहिए। किन्तु देखा यह जाता है कि श्री गणेश का उपक्रम पीछे चल कर शिथिलता की दिशा में बढ़ने लगता है और क्रमशः ठंडा होता चला जाता है। इसे दुर्भाग्य ही कहना चाहिए। अन्यथा कोई कारण नहीं कि आरम्भ में जिस स्तर की सक्रियता अपनाई गई थी, उसमें शिथिलता आने लगे। यह नहीं सोचा जाना चाहिए कि आरम्भ में विशेष क्षमता होती है और वह पीछे स्वयमेव घट जाती है। बीज से अंकुर निकलते समय, अंकुर को पौधा बनते समय जो प्रगति क्रम दृष्टिगोचर होता है वह पीछे समाप्त या शिथिल कहाँ होता है? उस विकास प्रक्रिया में क्रमशः अभिवृद्धि ही होती चलती है, फिर कोई कारण नहीं कि प्रथम चरण में मनुष्य द्वारा किया जाने वाला पुरुषार्थ आगे चलकर अधिकाधिक तीव्र न होता चले। यदि इसी क्रमिक विकास की प्रक्रिया को अपनाये रहा जाय, उसमें शिथिलता न आने दी जाय तो मनुष्य देव या दैत्य स्तर के बढ़े-चढ़े काम करता रह सकता है।

पिता के शरीर से निकला हुआ शुक्राणु इतना छोटा होता है कि आलपिन की नोंक पर उसके हजारों भाई बैठ सकते हैं। उसे बिना शक्तिशाली सूक्ष्म-दर्शक यन्त्र के खुली आँखों से तो देखा तक नहीं जा सकता। रति-क्रिया से जो मंथन क्रिया होती है। उससे यौन संस्थान में तीव्र विद्युत स्पन्दन उठने आरम्भ हो जाते हैं। उन्हीं की उत्तेजना से वह शान्त पड़ा जीव उत्तेजित हो उठता है और अपनी स्वतन्त्र सत्ता का निर्माण करने के लिए सहयोगी की तलाश में द्रुतगति से परिभ्रमण करता है। उस समय उसके हाथ, पैर, आँख आदि कुछ नहीं होते, तो भी अपनी आन्तरिक आकांक्षा से प्रेरित होकर अभीष्ट साथी को खोजने के लिए इसी तेजी से दौड़ता है कि हिरन, चीते की दौड़ से भी उसका अनुपात बढ़ा-चढ़ा रहता है।

शुक्राणु को डिम्बाणु तक पहुँचने में—अपने आकार और स्थान की दूरी के अनुपात से उतनी लम्बी यात्रा करनी पड़ती है जितनी कि उसे मनुष्य की बराबर आकार का होने पर पूरी पृथ्वी की दूरी नापनी पड़ती। इस यात्रा पर स्खलन के समय लाखों शुक्राणु अभीष्ट मनोरथ की पूर्ति के लिए निकलते हैं। इसे डर्बी की घुड़ दौड़ के समतुल्य प्रतिस्पर्धा माना जा सकता है। प्रकृति सबल को सफलता देने की नीति अपनाती है। जो उस लम्बी और कष्ट साध्य यात्रा में अन्त तक प्रबल पुरुषार्थ नहीं कर पाते, बीच में ही थक कर बैठ जाते हैं, वे दम तोड़ देते हैं। जो अणु प्राणपण का साहस करता है वही सफल होता है और भ्रूण बनने का—प्रगति पथ पर अग्रसर होने का—श्रेय प्राप्त करता है।

शुक्र और डिम्ब का मिल कर बना हुआ 'कलल' बिजली की नेगेटिव और पाजेटिव दो-दो धाराओं के सम्मिलन से उत्पन्न शक्ति प्रवाह की तरह सक्रिय हो उठता है। गंगा यमुना का यह मिलना तीर्थराज संगम बनता है। सहयोग और सहकारिता का—मैत्री और साधन आत्मीयता का—जीवन के पहले ही दिन जो पाठ पढ़ा जाता है। उसका सत्परिणाम तत्काल देखने को

मिलता है। यह सहकारिता यदि आगे भी जारी रखी गई होती, उसका महत्व भुला न दिया गया होता तो मनुष्य प्रगति करते-करते न जाने कहाँ से कहाँ जा पहुँचा होता।

भ्रूण कलल आरम्भ में वाल की नोंक की वरावर होता है किन्तु वह एक महीने के भीतर ही इतनी प्रगति करता है कि आकार में ५० गुना और वजन में ८००० गुना वढ़ जाता है। जो पहले दिन चिपचिपे जल विन्दु के अतिरिक्त और कुछ नहीं था, वही एक महीने में चौथाई इंच का बुलबुला वन जाता है। उसे परीक्षण, विश्लेपण की मेज पर रखा जाय तो स्थिति को देखकर आश्चर्य-चकित रह जाना पड़ेगा। उसके शिर और धड़ को देखा जा सकता है। पैर पूँछ की तरह होते हैं। हाथ तो स्पष्ट नहीं होते पर हृदय धड़कता हुआ और नसों में रक्त चक्कर लगाता हुआ देखा जा सकता है। जीव की सृजनात्मक गति का यह अद्भुत परिचय है। निर्माण का संकल्प जव कार्य रूप में परिणत होने के लिए आतुर हो उठे तो सहयोग, साधन और परिस्थितियाँ किस प्रकार अनुकूल होती चली जाती हैं। इसका यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। एक महीने मात्र स्वल्प समय में किया गया काय-निर्माण का कार्य कितनी प्रगति कर लेता है। इसे देखते हुए जीव की अद्भुत सृजनात्मक शक्ति पर सन्देह करने का कोई कारण शेप नहीं रहता।

माता के शरीर में असीम मात्रा में पोपक पदार्थ भरे रहते हैं। उसे इच्छानुसार मात्रा में प्राप्त करने में भ्रूण पर कोई रोकथाम नहीं होती, पर वह सही विकास के सिद्धान्त को समझता है कि निर्वाह मात्र के लिए न्यूनतम लिया जाय अन्यथा अनावश्यक संग्रह उसके लिए अन्ततः भार वनेगा और विपत्ति उत्पन्न करेगा। 'त्येन-त्यक्तेन भुंजीथा' का पाठ प्रत्येक प्रगतिशील को पढ़ना पड़ा है। भ्रूण भी उस सनातन सिद्धान्त से अपरिचित नहीं होता। उसे अपने शरीर के चारों ओर एक परत चढ़ानी पड़ती है। जो गर्भाशय में उपलब्ध सामग्री में से छना हुआ, उपयुक्त पोपक पदार्थ ही भ्रूण तक जाने देती है। इसे संयम और मर्यादा का आवरण कह सकते हैं। शरीरशास्त्र की दृष्टि से इस झिल्ली को 'ट्रोफोव्लास्ट' कहते हैं। सम्पत्ति के समुद्र में से मात्र उपयुक्त निर्वाह स्वीकार करने की व्यवस्था यह झिल्ली ही वनाती है। आक्सिजन और रसायन मिश्रित भ्रूण का उपयोगी आहार उसके शरीर में इसी झिल्ली द्वारा छन कर भीतर पहुँचता है। वात इतने से ही समाप्त नहीं होती। भ्रूण के शरीर से मल भी वनता है। उसे वाहर निकालना आवश्यक है। यह झिल्ली ही उस मल को वाहर लाती है और माता के रक्त में धकेल देती है। उसकी सफाई माता के रक्त को अपनी निज की सफाई के साथ-साथ ही करनी पड़ती है। उपलब्धि की तरह परित्याग का सिद्धान्त अपनाया जाना कितना आवश्यक है। इसे हृदयङ्गम करने पर ही भ्रूण कलल की सुरक्षा और अभिवृद्धि सम्भव होती है। हम तथाकथित 'वुद्धिमान' लोग दोनों हाथों से अनावश्यक संग्रह में जुटते हैं और स्वेच्छा परित्याग के लिए कृपणता वश साहस ही नहीं जुटाते। फलतः उस भार संग्रह की विपाक्तता जीवन की नाव को बीच मझदार में डुबो देने का कारण वनती है।

अनुदानों के लिए लालायित रहने वाले लोग सोचते हैं कि दूसरों के अनुग्रह से मिली सामग्री से ही काम चल सकता है। पर यह कुकल्पना सर्वथा निरर्थक ही सिद्ध होती है। लोग सम्भवतः यही मानते हैं कि माता का रक्त ही भ्रूण की नसों में घूमता है किन्तु वास्तविकता वैसी है नहीं। वच्चे का अपना स्वतन्त्र रक्त होता है। यह वात अलग है कि उसके निर्माण की साधन सामग्री माता के शरीर से उपलब्ध होती है।

दूसरे महीने में भ्रूण के ऊपर एक रक्षा कवच—जलीय जाकिट के रूप में धारण कर लेता है। वह जानता है कि हर समर्थ को सुरक्षा संग्राम में उतरना पड़ता है। जीवन एक खुला संघर्ष है। जो इस रण क्षेत्र में उतरने से डरता है—सुविधाओं की वर्षा होते रहने के सपने देखता है, वह पाता कुछ नहीं खोता वहुत है। संकटों से जूझने में जितने मरते हैं। उसकी तुलना में उनसे डरने के कारण, वेमौत मरने वाले कायरों की संख्या कहीं अधिक होती है। भ्रूण की शरीर सम्पदा वढ़ती है तो साथ ही खतरा भी वढ़ता है। वाल की नोंक या चना, मटर जितने शरीर को पेट में

कुछ विशेष खतरा नहीं था, पर जब आकार बढ़ेगा तो खतरे की आशंका भी रहेगी ही। बच्चे के बढ़े हुए शरीर पर माता के पेट का दबाव बढ़ता है। साथ ही उसके चलने-फिरने, उलटने-पलटने की क्रिया भी भ्रूण को प्रभावित करती है। ऐसी दशा में यह सुरक्षा-कवच आवश्यक है। सुरक्षात्मक जीवन संघर्ष के क्षेत्र में भ्रूण को कवच धारण करके उतरना पड़ता है और उसकी आवश्यकता मृत्यु पर्यन्त बनी ही रहती है। स्वावलम्बन की—सतर्कता पूर्वक आत्म-रक्षा की—प्रगति के लिए अपने पैरों खड़े होने की जो शिक्षा प्रथम मास के कार्य-काल में कार्यान्वित की गई थी, उसे यदि भविष्य में भी अपनाये रहा जा सके तो प्रगति की असीम सम्भावनाएँ मूर्तिमान होती चलती हैं।

एक महीने का भ्रूण एक इंच के दशवे भाग की बराबर लम्बा होता है। तभी से उसके हृदय, मस्तिष्क, फेफड़े और आँतें बनना शुरू हो जाती हैं। गुर्दे बनाने में तो जीव को भारी उखाड़-पछाड़ करनी पड़ती है। आरम्भिक गुर्दा मछली के गुर्दे से मिलता-जुलता होता है। पीछे वह मेंढ़क जैसा बनता है। फिर उसकी आकृति छोटे पशुओं के समतुल्य होती है। सम्भवतः यह विकास परम्परा का क्रम है। शरीर की मूल-सत्ता आदिम स्मृतियों को धारण किये रहती है और अपना काम वहीं से आरम्भ करती है। किन्तु विकसित जीव उससे अपना काम चलता नहीं देखता। फलतः वह अपनी मर्जी के गठन में जुटता है। गुर्दों के परिवर्तन में देखी जाने वाली प्रवृत्ति यदि आगे भी चलती रहे तो पशु-प्रवृत्तियों से लड़-झगडकर उन्हें खदेड़ देना और आत्म-गौरव के अनुरूप उच्चस्तरीय प्रकृति ढाल लेना और प्रवृत्ति अपना लेना कुछ भी कठिन न रह जायगा।

पहले महीने में भ्रूण की जो स्थिति होती है। दूसरे महीने में उसका क्रम बढ़ता ही चला जाता है। पहले महीने की तुलना में उसकी लम्बाई छै गुनी और वजन ५०० गुना बढ़ता है। ज्ञानेन्द्रियों के निशान-रीढ़ की हड्डी—अस्थियों का ढाँचा—तन्त्रिकाओं का जाल—इसी अवधि में विनिर्मित होने आरम्भ हो जाते हैं।

तीसरे महीने में यों शरीर के अन्य अवयव भी स्पन्दन, ऐंठन और हलचल करते देखे जाते हैं, पर सबसे अधिक उथल-पुथल आँतों में होती है। वे होतीं तो अनगढ़ रस्सी की तरह हैं, पर उनकी मन्थन क्रिया देखते ही बनती है। पूर्ण मनुष्य की आँतें जितना जिस गति से काम करती हैं, उसकी तुलना में भ्रूण की आँतें प्रायः हजार गुना अधिक पुरुषार्थ कर रही होती हैं। जीव चेतना की मूलभूत क्षमता का यह प्रारम्भिक परिचय है। इससे उसकी तात्विक सामर्थ्य का पता चलता है। यदि इसे कुंठित न किया जाय तो पेट की पाचन शक्ति अद्भुत स्तर तक अपनी क्रियाशीलता का परिचय देती रह सकती है।

शरीर में अत्यधिक महत्वपूर्ण अवयव दो हैं एक मस्तिष्क दूसरा हृदय। तीसरे महीने इनका विकास आरम्भ हो जाता है। बुद्धि और भावना की दो क्षमताएँ ही ऐसी हैं जो मनुष्य को अभीष्ट गति और उपयुक्त दिशा देती हैं। विकास साधनों के आधार पर नहीं, इन्हीं दो अवयवों, दो विभूतियों के आधार पर होता है। सफलताएँ और उपलब्धियाँ तो इन दो तत्वों की प्रतिक्रिया मात्र हैं। गर्भस्थ शिशु इन्हें विकसित करने की आवश्यकता समझता है और किसी योग्य हो सकने की स्थिति में आने के लिए दो महीने की अवधि पूरी होते ही वह इन दो अति महत्वपूर्ण केन्द्रों के विकसित करने में जुट जाता है। उन दिनों इन पर जितना श्रम होता है उतना ही यदि जन्म-काल के उपरान्त भी किया जा सके तो मनुष्य की ज्ञान-सम्पदा और भावविभूति की चरम उन्नति हो सकती है। ऐसा मनुष्य देवात्मा स्तर का आलोकमय जीवन-यापन कर सकता है।

लिंग भेद की पृथकता तीसरे महीने से प्रारम्भ होती है। उससे पूर्व भ्रूण में उभय-लिंगी लक्षण होते हैं। दोनों में से जीव किसका चुनाव करता है यह उसकी अपनी चेतनात्मक प्रकृति पर निर्भर है। जीव की पसन्दगी के आधार पर ही उसका प्रिय एवं अभ्यस्त लिंग विकसित होने लगता है। प्रकृति ने दोनों ही अनुदान उसके सामने खुले रखे हैं। जिसे भी जीव चुनना चाहे स्वेच्छापूर्वक उनमें से एक को स्वीकार और दूसरे को अस्वीकार कर सकता है।

जन्म लेते ही बालक जीवन संघर्ष के लिए भयंकर

मल्ल-युद्ध आरम्भ करता है। भीतर और बाहर की परिस्थितियों में भारी अन्तर होता है। उदर के सुरक्षित दुर्ग में उसे बाहरी खतरों का सामना नहीं करना पड़ता था। पर बाहर तो ऋतु प्रभाव से लेकर घातक विकरणों से भरा हुआ नया एवं अपरिचित संसार होता है। आहार, विश्राम, मलत्याग आदि का सर्वथा नई परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। इस परिवर्तन को ऐसा ही माना जा सकता है जैसे एक लोक के प्राणी को दूसरे लोक में बसने के समय हो सकता है। स्थिति का सामना करने के लिए बहुमुखी समर्थता चाहिए। यह अनुदान कोई और नहीं दे सकता। जीव को अपने ही बलबूते उपार्जित करना पड़ता है। जन्म लेते ही वह अपने शरीर को नई परिस्थितियों से टक्कर लेने योग्य बनाने के लिए प्रचंड प्रयास करता है। इसको जन्म काल में बालक की विचित्र गतिविधियों के रूप में देखा जा सकता है। नवजात शिशु जन्म लेते ही हांफता है, काँपता है, चिल्लाता है, हाथ-पैर पीटता है, यह सब क्या है? इसे उसका सामर्थ्य सम्पादन प्रयत्न ही कहा जा सकता है। गर्भ रज्जु कटते ही उसे स्वावलम्बन का उत्तरदायित्व सम्भालना पड़ता है। तब माता उसके विकास में सीमित सहयोग ही दे पाती है। इस संसार का यही नियम है कि जीव को अपने बलबूते निर्वाह और प्रगति के साधन जुटाने पड़ते हैं। सहयोग तो आदान-प्रदान के सिद्धान्त पर ही टिकता है। उदर अनुदान तो क्रमशः घटते ही जाते हैं? माता की सहायता गर्भकाल जितनी कहाँ मिलती है। उसका अनुपात क्रमशः घटता ही जाता है। बालक इस कमी को अपने स्वावलम्बी प्रयासों से पूरी करता है।

पेट से बाहर आने में कष्ट तो माता को होता है, पर उसके बाहर आने की प्रक्रिया में प्रबल चेष्टा और अदम्य आकांक्षा शिशु की ही काम कर रही होती है। गर्भस्थ शिशु अतिशय दुर्बल हो तो वह माता की कितनी ही इच्छा होने पर भी बाहर न आ सकेगा। उसे माता का पेट चीर कर ही बाहर निकालना पड़ेगा। इसी प्रकार यदि जन्मने के तुरन्त बाद बालक रोये, चिल्लाये नहीं, हाथ-पैर न पीटे तो उसका जीवित रहना कठिन हो जायगा। ऐसी स्थिति होने पर चतुर दाइयाँ ठंडे पानी के छींटे देकर या दूसरे कृत्रिम उपायों से बच्चे को रोने, चिल्लाने के लिए प्रोत्साहित करती हैं। कहावत है कि बिना रोये माता दूध नहीं पिलाती। प्रकृति भी समर्थता का उपहार बालक को तभी देती है जब वह इसके लिए भारी उत्कंठा प्रकट करे। रोने चिल्लाने में इसी माँग की प्रचंडता का आभास मिलता है।

जीव को जन्म लेने के उपरान्त नये लोक में पहुँच कर नये उत्तरदायित्व सम्भालने, नये लोगों के साथ तालमेल बिठाने, नई परिस्थितियों को समझने, नये साधन उपयोग करने की तरह हर स्तर की नवीनता से परिचित ही नहीं अभ्यस्त भी होना पड़ता है। इसके लिए क्या कुछ सीखना और क्या कुछ करना पड़ता है इसकी कल्पना तक इस समय तो अपने लिए कठिन ही है।

जीव को प्रसुप्ति से जागृति में आने और तज्जनित परिस्थितियों का सामना करने में कितने प्रबल पुरुषार्थ और कितनी अधिक सामर्थ्य की आवश्यकता पड़ती है इसे देखकर उसकी मौलिक गरिमा का अनुमान लगाया जा सकता है।

आत्मा की सामर्थ्य का मूल स्रोत परमात्मा है। परमात्मा अनन्त समर्थता का पुंज है। फिर उससे अविच्छिन्न सम्बन्ध सूत्रों के साथ जुड़ा हुआ आत्मा ही क्यों किसी प्रकार अभावग्रस्त हो सकता है? अन्नमय कोश--काय-कलेवर हाड मांस का पिटारा नहीं है। उसके रोम-रोम में आत्म-सत्ता ओत-प्रोत है। अपने आरम्भिक दिनों में जीव अपने घरोंदे को जिस प्रबल पुरुषार्थ के सहारे विकसित करता है वह समर्थता उसमें सदैव बनी रहती है। उसे विस्मृत और उपेक्षित पड़े रहने देने से ही हमें हेय और दुर्बल स्थिति का सामना करना पड़ता है।

अन्नमय कोश की साधना से वह पथ-प्रशस्त होता है। जिससे मानवी काया में सन्निहित विशेषताओं को उभारना और उपयोग में लाना सम्भव हो सके। कहना न होगा कि यदि निष्ठापूर्वक इसके लिए प्रयास किया जाय तो कोई भी व्यक्ति उतनी प्रगति कर सकता है। जितनी कि भूतकाल में किसी ने की है। इतना ही नहीं भविष्य की सम्भावनाएँ तो भूतकाल की सफलताओं की अपेक्षा और भी अधिक बढ़ी-चढ़ी हो सकती हैं। ❀

अन्नमय-कोश और चमत्कारी हारमोन ग्रन्थियाँ

अवयवों की प्रत्यक्ष हलचलें ही शरीर विज्ञान की शोध का विषय रही हैं। अब तक जो खोजें हुई हैं उनमें यह प्रत्यक्ष ही मूलभूत आधार है। इसलिए समझा जाता है कि पंच तत्वों से बना हुआ यह ढाँचा मात्र ही शरीर है। समझा जाता है कि अन्न, जल, वायु, विश्राम आदि के सहारे ही जीवन की गाड़ी चलती है। इतना होते हुए भी शरीरगत अनेक सन्दर्भ ऐसे हैं जिन पर रहस्य का पर्दा ही पड़ा हुआ है।

स्थूल शरीर पर सूक्ष्म-सत्ता का नियन्त्रण हमें इन्हीं हलचलों के पीछे झाँकता हुआ दीखता है। अन्तःस्रावी ग्रंथियाँ—वंशानुक्रम प्रक्रिया—भ्रूणावस्था में जीव का अत्यन्तिक उग्र विकास क्रम, जीवकोषों की अद्भुत क्षमता, अचेतन मन की रहस्यमय गतिविधियाँ, भाव सम्वेदना से उत्पन्न अदम्य प्रेरणा, अतीन्द्रिय अनुभूतियाँ, जीवाणुओं की स्वसंचालित जीवन-पद्धति, प्रभावशाली तेजोवलय जैसे अनेकानेक सन्दर्भ ऐसे हैं जिनका शरीर की सामान्य संरचना के साथ कोई ताल-मेल नहीं बैठता। रासायनिक पदार्थों के अपने गुण, धर्म होते हैं। सम्मिश्रण से उनमें भिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाएँ भी होती हैं, किन्तु ऐसे रहस्य उत्पन्न नहीं होते जैसे कि अनबूझ पहेलियों के रूप में सामने आते रहते हैं। इनके भौतिक समाधान अभी तक नहीं मिले हैं और न भविष्य में मिलने की सम्भावना है। इनके कारण हमें सूक्ष्म शरीर में ही खोजने होंगे।

अन्नमय कोश का वर्णन अपेक्षाकृत सूक्ष्म संस्थानों के अन्तर्गत आता है। इसमें रासायनिक हलचलों की उत्पन्न क्रिया-प्रक्रिया स्थूल शरीर के क्षेत्र में आती है। शरीर-शास्त्रियों की खोज-बीन यहीं तक सीमित है। स्वास्थ्य सम्वर्धन के लिए चिकित्सा उपचार के लिए जो क्रिया-कलाप चलते हैं उन्हें भौतिक क्षेत्र की मर्यादा माना गया है। ऐसे अद्भुत रहस्य जिनका ताल-मेल रासायनिक हलचलों से नहीं बैठता, उन्हें सूक्ष्म शरीर की शक्ति, सत्ता का प्रभाव कहा जा सकता है। यह क्षेत्र अत्यन्त सुविस्तृत है। उसका थोड़ा-सा परिचय जिन प्रत्यक्ष प्रमाणों के आधार पर प्राप्त हो सकता है, उनमें अन्तःस्रावी हारमोन ग्रन्थियों की भी गणना की जा सकती है। उनसे निकलने वाले राई-रत्ती स्राव शरीर में कितनी अद्भुत गतिविधियाँ सम्पन्न करते हैं उन्हें देखकर चकित रह जाना पड़ता है।

शरीर-विज्ञान की अन्तरङ्ग शोधों से यह स्पष्ट हो गया है कि हृदय, आमाशय, आँख, कान, त्वचा आदि तो यन्त्र हैं। इन यन्त्रों के संचालक सूक्ष्म अवयव अन्य ही होते हैं और उन संचालक तत्वों या अवयवों के स्वरूप पर ही हमारे स्वास्थ्य का बहुत कुछ आधार निर्भर रहता है। इन सूक्ष्म अवयवों में हारमोनों का स्थान अत्यधिक महत्वपूर्ण है। उनकी सक्रियता-निष्क्रियता का हमारी शारीरिक एवं मानसिक स्थितियों पर भारी प्रभाव पड़ता है। शरीर की आकृति कैसी भी हो, उसकी प्रकृति का निर्माण तो मुख्यतः इन हारमोन रसों से ही प्रभावित होता है। यद्यपि आकृति पर भी इन जीवनरस-स्रावों का प्रभाव पड़ता ही है। कई ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि विशेष मनःस्थिति के कारण किन्हीं युवतियों का रूप लावण्य तब तक बना रहा, जिस आयु में सामान्य रूप से शरीर पर वृद्धता के चिन्ह उभर आते हैं। उनके बने रहने का रहस्य-सूत्र भी निश्चय ही इन हारमोन-स्रावों में छिपा हुआ माना जाता है। यद्यपि औषधि विद्या और शल्य-प्रक्रिया की पहुँच अभी वहाँ तक नहीं हो पाई है, पर उनके स्वरूप की कुछ-कुछ जानकारी तो आधुनिक शरीरशास्त्र को हो ही गई है।

हारमोन स्रावों के विशेष अनुसन्धानकर्त्ता डा० क्रकशेक ने इन स्रावों की आधार ग्रंथियों को 'जादुई ग्रंथियाँ' कहा है और बताया है कि व्यक्ति की वास्तविक स्थिति को जानने के लिए इन स्रावों के सन्तुलन और क्रिया-कलाप का परीक्षण करके ही यह जाना जा सकता है कि उसका स्तर एवं व्यक्तित्व सचमुच क्या है?

हारमोन वे रासायनिक तत्व या रहस्यमय जीवन रस हैं, जो अन्तःस्रावी ग्रन्थियों द्वारा स्रवित होते हैं।

ग्रंथियाँ दो प्रकार की होती हैं—(१) वहिर्स्रावी ग्रन्थियाँ या प्रणाली युक्त ग्रन्थियाँ (डक्ट या एक्सटेरो ग्लैण्ड्स) (२) अन्तःस्रावी या प्रणाली विहीन ग्रन्थियाँ (इन्डोक्राइन या डक्टलैस ग्लैण्ड्स)।

(१) वहिर्स्रावी ग्रन्थियाँ—इन ग्रंथियों में प्रत्येक के साथ एक नलिका मिली होती है। नलिका द्वारा ग्रंथियों का रसस्राव शरीर के रक्त-प्रवाह में न मिलकर शरीर की ऊपरी सतह पर चला जाता है। इन रसों के द्वारा शरीर की अनेक जरूरतें पूरी की जाती हैं। प्रमुख वहिर्स्रावी ग्रंथियाँ तीन हैं—(१) अश्रु ग्रन्थियाँ (टियर ग्लैण्ड्स) (२) प्रस्वेद ग्रन्थियाँ (स्वीट ग्लैड्स) (३) लार ग्रन्थियाँ (सेलिह्वरी ग्लैण्ड्स)।

(२) अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ—इन दोनों क्रोमोसोम्स तथा वंशानुक्रम की चर्चाएँ वहुत व्यापक रूप से उठा करती हैं। इन प्रक्रियाओं के मूल में अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के स्राव कुछ विशिष्ट हारमोन्स ही हैं। अब तक की शोधों के आधार पर अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के ८ केन्द्र माने जाते हैं। यह शरीर के विभिन्न अङ्गों में अवस्थित हैं। जैसे—सिर में (१) पीनियलवाड़ी (२) पिट्यूटरी ग्लैण्ड है। गले में (३) पैराथाइराइड और (४) थाइराइड ग्लैण्ड होते हैं। वक्षस्थल के ऊपरी भाग में (५) थाइमस ग्लैण्ड स्थित है। उदर प्रदेश में (६) एड्रीनल ग्लैण्ड्स और (७) पेंक्रियाज ग्रन्थियाँ हैं। पेड़ू क्षेत्र में (८) गोनड्स ग्रन्थियों का स्थान है।

इन ग्रन्थियों की अद्भुत क्षमता के सम्वन्ध में अभी वैज्ञानिकों को पूरी जानकारी नहीं है। उनके वारे में सांकेतिक जानकारी ही प्राप्त हो सकी है। फिर भी यह विश्वास किया जाता है कि यदि इनके प्रभाव को जाना और नियन्त्रित किया जा सके तो मनुष्य अपने अन्दर आश्चर्यजनक परिवर्तन ला सकता है। इन सभी ग्रंथियों की सामान्य जानकारियाँ निम्नानुसार हैं—

(१) पीनियल वॉडी और (२) पिच्यूटरी ग्रन्थि—ये दोनों मिलकर जिस चेतन-पक्ष का निर्माण करते हैं, उसे ही आज्ञा-चक्र कहा जाता है।

मस्तिष्क के मध्य में स्थित, पिन की नोंक के वरावर पीनियल ग्रन्थि मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास से सम्वन्धित है। सुविस्तृत स्थूल तथा सूक्ष्म जगत की विभिन्न हलचलों के साथ सम्पर्क का माध्यम यही केन्द्र वनता है। प्रेतात्माओं और देवदूतों के साथ सम्वन्ध वनाने का केन्द्र यही है। ईथरीय प्रकाश को उत्पन्न करने तथा ग्रहण करने का कार्य यहीं से होता है।

पिच्युटरी ग्रन्थि 'मास्टर' ग्रन्थि है। यह सभी अन्तःस्रावी ग्रन्थियों की नियन्त्रक है। यह खोपड़ी के आधार में—मस्तिष्क के नीचे एक छोटे-से गड्ढे में स्थित है। यह एक छोटी-सी नलिका द्वारा मस्तिष्क से जुड़ती है। यह आकार में छोटी, पर प्रभाव में वहुत प्रखर है। इसमें अधिक स्राव होने लगे तो मनुष्य असाधारण रूप से लम्वे और वेडोल हो जाते हैं, कम हुआ तो वौने रह जाते हैं। बुद्धि की तीव्रता, प्रेम सम्वन्ध, उत्साह आत्म-नियन्त्रण उसका मुख्य कार्य है। पुरुषत्व और नारीत्व का दिशा—परिवर्तन यहीं से होता है। यौवन के उतार-चढ़ाव तथा प्रजनन सम्वन्धी गतिविधियों का सम्पर्क इसी केन्द्र से है। शकर, चर्वी, स्टार्च, पानी आदि की ठीक मात्रा शरीर में वनाये रहना इसी का काम है।

(३) पैराथायराइड—गेहूँ के दाने के वरावर की पैराथइराइड्स का स्नायु-संस्थान से निकट सम्वन्ध है। ये चार के समूह में होती हैं। इनका स्थान थाइराइड ग्रन्थि के पीछे है। ये चारों वस्तुतः लघु ग्रंथियों के दो युग्म हैं। इनसे स्रावित पैराथोरमोन नामक हारमोन तन्त्रिका क्रिया में कैलशियम और फास्फोरस की मात्रा को नियन्त्रित करता है। हड्डियों को मजवूत वनाता है। यदि इनके स्राव वढ़ जाएँ, तो हड्डियाँ वालुई हो जायेंगी और तनिक से आघात से टूटने या मुड़ने का खतरा वना रहेगा। गुर्दे की पथरी भी इसी गड़वड़ी से उत्पन्न होती है। स्त्रियों के प्रजनन केन्द्रों की हड्डियाँ गड़वड़ा जाने से वे विना आपरेशन के वच्चा नहीं जन पाती हैं।

इसमें अवांछनीयता से जूझने का साहस भरा रहता है। टूटी हुई कोशिकाओं का पुनर्निर्माण, स्नायु तन्त्रों का गठन, स्फूर्ति, रोग-निरोधी क्षमता का भण्डार इसी केन्द्र में भरा है।

(४) थायराइड—यह गलग्रन्थि श्वास नली के चतुर्दिक स्थित होती है। इससे थायरोक्सिन नामक हारमोन निकलता है। यह थायरोक्सिन उस सामान्य गति को नियन्त्रित करता है, जिससे शरीर में ऊर्जा उत्पन्न होती है। थायरोक्सिन की मात्रा कम रह गई तो ऊर्जा धीरे-धीरे पैदा होती है, भले ही शरीर में खाद्य-सामग्री पर्याप्त भरी हो। ऐसी स्थिति में व्यक्ति आलसी हो जाता है। यदि थायरोक्सिन अधिक हो जाये, तो क्रियाशीलता बहुत बढ़ जाती है। उस स्थिति में व्यक्ति अधीर, अशान्त, उत्तेजित, बकवादी हो सकता है। इस प्रकार आलस्य और उत्साह के लिए यही केन्द्र जिम्मेदार है। प्रतिभाशाली, विकासोन्मुख व्यक्तियों को वैसा अवसर थायराइड की सुव्यवस्था ने ही प्रदान किया होता है।

(५) थाइमस—ये वक्षस्थल के ऊपरी भाग में होती है। गर्भस्थ स्थिति में विकास करने की क्षमता इसी में भरी है। यदि यह ग्रंथि अविकसित रहे तो भ्रूण, स्वस्थ माता से भी उचित पोषण प्राप्त न कर सकेगा। जन्म से लेकर किशोरावस्था और यौवन के द्वार तक ठीक तरह पहुँचा देने की जिम्मेदारी भी उसी को सम्भालनी पड़ती है। संक्षिप्त में इसे विकास-ग्रन्थि भी कह सकते हैं।

(६) एड्रीनल-ग्रन्थियाँ—गुर्दे के ऊपर दो हिस्सों में बँटी होती हैं। एक को कॉर्टेक्स और दूसरी को मेडुला कहते हैं। कार्टेक्स से दो प्रकार के स्राव निकलते हैं। (१) ग्लूको-कार्टिकाइड (२) इलेक्ट्रो कार्टिकाइड। ग्लूको-कार्टिकाइड का कार्य शरीर में कार्बोहाइड्रेटों तथा वसा का भण्डार जमा करना है और प्रोटीनों का सही विभाजन करना है। वही इस संचय का उपयोग सङ्कट काल में करता है।

दूसरा स्राव—समूह-इलेक्ट्रोकार्टिकाइड भी उतना ही महत्वपूर्ण है। यह शरीर में पानी को तथा सोडियम क्लोराइड आदि रसायनों को नियन्त्रित करता है। यह रोकथाम न हो तो शरीर पाला मारे वृक्ष की तरह सूख जायेगा।

यह भावनात्मक उद्वेगों से एड्रीनल ग्रन्थियाँ असाधारण रूप से उत्तेजित हो जाती हैं और आपत्ति से लोहा ले सकने योग्य शारीरिक एवं मानसिक ऊर्जा उत्पन्न करती हैं। क्रोध, भय, हर्ष, रोमांस जैसे अवसरों पर रोमांच हो जाता है, साँस तेज हो जाती है, रक्त-प्रवाह बढ़ जाता है, पसीना छूटता है, यह सब इसी ग्रन्थि के हारमोन का चमत्कार है।

(७) पेन्क्रियाज—यह ग्रन्थि आमाशय के नीचे स्थित है। इसका मुख्य कार्य भोजन पचाने के लिए पाचक रसों का उत्पादन है। भोजन पचाने के दौरान अनेक तरह के रसों की उन पर प्रतिक्रिया की जाती है। उनका सन्तुलन बिगड़ने पर पाचन संस्थान लड़खड़ा जाता है। उस स्थिति में आहार शरीर में ऊर्जा पैदा करने के लिए कोषों तक नहीं पहुँच पाता। पेंक्रियाज की इस भूमिका के कारण इनकी गणना बहिर्स्रावी ग्रन्थियों में भी की जाती है।

पेन्क्रियाज के अन्दर ही विशेष खंड 'आइलेट्स आफ लैंगरहेन्स' हैं। इसमें से इन्सुलीन नामक एक विशेष हारमोन पैदा होता है। शरीर के अन्दर शर्करा के अनुपात का नियन्त्रण यही रखता है। शरीर में ऊर्जा पैदा करने के लिए जितनी शर्करा खर्च होती है यदि उससे अधिक शर्करा शरीर में हो जाय तो मधुमेह (डायबिटीज) रोग हो जाता है। इन्सुलीन कार्बोहाइड्रेट्स से अधिक शर्करा न बनने देने तथा अतिरिक्त शर्करा को चर्बी आदि में बदल देने का कार्य करता है।

(८) गोनड्स—ये कामवासना सम्बन्धी ग्रन्थियाँ होती हैं। इन्हें हम प्रजनन ग्रन्थियाँ भी कह सकते हैं। पुरुष की प्रजनन ग्रन्थियाँ शुक्र ग्रन्थियाँ या वृषण तथा स्त्रियों की प्रजनन ग्रन्थियाँ, डिम्बग्रन्थियाँ या अण्डाशय कहलाती हैं। पुरुष सेक्स हारमोन्स की उत्पादिका वृषण—ग्रंथि नर में होती है। उसी से उसका पुरुषत्व जगता है। पुरुष आकृति को नारी से भिन्न करने वाले दाढ़ी-मूँछ आदि लक्षण प्रकट होते हैं। नारी में डिम्बग्रन्थियाँ गर्भाशय के दोनों छोरों पर होती हैं। इन स्त्री—गोनड्स से अनेक स्राव निकलते हैं। जिनमें मुख्य हैं दो—(१) एस्ट्रोजेन्स (२) प्रोजेस्ट्रोन।

शारीरिक विकास की दृष्टि से ये स्राव अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। स्त्रियोचित, कोमलता तथा गर्भ धारण की क्षमता इन्हीं स्रावों से सम्बन्धित है। लिंग परिवर्तन की

जो घटनाएं घटित होती रहती हैं वह इसी ग्रन्थि के स्रावों की उल्टी-पुल्टी के परिणाम स्वरूप होती हैं।

गोनड्स (जनन ग्रन्थियाँ) जननेन्द्रिय हलचलों की क्षमता को तथा प्रजनन-शक्ति को नियन्त्रित करती है। पुरुष-यौवन और नारी-यौवन का—विशेषतया प्रजनन सम्बन्धी यौवन का इसी ग्रन्थि से सम्बन्ध रहता है। वृद्धावस्था में आमतौर से शरीर बहुत शिथिल हो जाता है और इन्द्रियाँ जवाब दे जाती हैं। फिर भी कई बार यह आश्चर्य देखा गया है कि शताधिक आयु वाले व्यक्ति भी नवयुवकों की तरह प्रजनन क्रिया सफलतापूर्वक सम्पन्न करते रहते हैं। यह गोनड्स ग्रन्थियों के सशक्त बने रहने और समुचित यौन-हारमोन्स स्रवित होते रहने का ही परिणाम है।

मनःशास्त्री एडलर ने काम-प्रवृत्ति की शोध करते हुए पाया कि बाहर से अतीव सुन्दर आकर्षक और कमनीय दिखाई देने वाली अनेक महिलाएं काम-शक्ति से सर्वथा रहित हैं। उनमें न तो रमणी-प्रवृत्ति थी, न नारी-सुलभ उमंग। खोज करने पर ज्ञात हुआ कि यौन-हारमोन्स के स्रोत ही इन विशेषताओं के आधार हैं।

एडलर ने अपनी खोज के दौरान देखा कि कितने ही युवकों की शारीरिक स्थिति सामान्य थी, ऊपर से उनमें मर्दानगी भरी ही दिखाई देती थी, पर थे वे वस्तुतः नपुंसक। न तो उनके मन में काम उमंग थी, न जननेन्द्रिय में उत्तेजना। कारण तलाश करने पर उनमें सेक्स-हारमोनों का अभाव पाया गया। इसके विपरीत उन्हें ऐसे नर-नारी भी मिले जो अल्पवयस्क अथवा वयोवृद्ध होते हुए भी काम-पीड़ित रहते थे।

अन्तःस्रावी ग्रन्थियों और उनसे उत्पन्न हारमोनों के आश्चर्यजनक प्रभाव के ढेरों प्रमाण अध्ययनकर्त्ताओं को मिले हैं। बीथोवेन जैसे बहरे का प्रखर संगीतज्ञ बनना, डीमास्थनीज जैसे हकलाने वाले धुरन्धर वक्ता हो सकना, डेनियलवोर्न जैसे मन्द-दृष्टि का—सुन्दर दृश्यों का अङ्कन करने वाला कुशल चित्रकार बन पाना इन्हीं हारमोनों के स्राव की मात्रा पर निर्भर रहा है।

'एस्ट्रालॉजिकल कोरिलेशन्स विथ द डक्टलैस ग्लैण्डस' नामक ग्रन्थ में अन्तःस्रावी ग्रन्थियों की चर्चा आन्तरिक ग्रहों के रूप में की गई है। जिस प्रकार सौर-मंडल के विविध ग्रह परस्पर सन्तुलन स्थिति बनाये हैं, वैसे ही ये अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ शारीरिक, मानसिक सन्तुलन साधे रहती हैं।

इस तुलना-क्रम में सूर्य की पीनियलबॉडी से, चन्द्र की पिच्यूटरी से, मंगल की पैराथाइराइड से, बुध की थाइराइड से, बृहस्पति की एड्रीनल से तथा शुक्र की थाइमस से तुलना की गई है। "आकल्ट एनाटामी" के लेखक ने इन ग्रन्थियों का उल्लेख "ईथर-सेन्टर्स" के रूप में किया है तथा उनके उद्दीपन को अन्तर्ग्रही चेतना के साथ जोड़ा है। प्रतीत होता है कि अविज्ञात चेतना-केन्द्रों से इन ग्रन्थियों के माध्यम से मनुष्य को कुछ असाधारण अनुदान मिलता रहता है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानिचात्मनि।
ईक्षते योगमुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

"जो सभी वस्तुओं में आत्मा को और आत्मा में ही सब वस्तुओं को देखता है वह समस्त जगत के मूल में व्याप्त एक ही सत् तत्व को जान लेता है और समदर्शी हो जाता है।"

उपरोक्त कथनानुसार अन्तःस्रावी ग्रन्थियों का सम्बन्ध ब्रह्माण्ड चेतना से—सूक्ष्म जगत से बनता है। वे विश्व शक्तियों के साथ आदान-प्रदान का काम करती हैं। शरीर-शास्त्र के अनुसार उनका प्रभाव काय-कलेवर के अन्तर्गत शरीर और मस्तिष्क को प्रभावित करता है। इसका अर्थ हुआ कि यह ग्रन्थियाँ भीतर और बाहर दोनों ही क्षेत्रों में अपना प्रभाव छोड़ती हैं। उनका प्रभाव व्यक्तित्व की विविध-विधि क्षमताएं उभारने में असाधारण रूप से होता है। यदि इन ग्रन्थियों को नियन्त्रण से बाहर माना जाता है और समझा जाता है कि इनकी प्रकृति एवम् क्रिया-पद्धति बदलना अपने हाथ की बात नहीं है। किन्तु ऐसा है नहीं। सूक्ष्म शरीर को प्रभावित करने वाले साधनात्मक प्रयत्नों से इन ग्रन्थियों की स्थिति बदली जा सकती है और अनावश्यक हारमोनों का उत्पादन घटाकर जो उपयोगी हैं उन्हें बढ़ाया जा सकता है। अन्नमय कोश में इन ग्रन्थियों के नियन्त्रण सूत्र माने गये हैं। ❖

हमारे शरीर के रहस्यमय घटक जीन्स

अन्नमय कोश की—दृश्यमान शरीर की—स्थूल संरचना तो अन्य प्राणियों जैसी ही है. पर उसके अन्तराल में प्रवेश करने पर पता चलता है कि पग-पग पर उसमें विलक्षणताएँ भरी पड़ी हैं। इनके स्वरूप और उपयोग को जाना जा सके तो तिलस्म के वे पर्दे उठ सकते हैं जिनके भीतर रहस्यमय सिद्धियों के अनन्त भाण्डागार भरे पड़े हैं। काय-कलेवर में प्रजनन क्षमता की सूत्रधार अत्यन्त छोटी इकाई है—जीन्स। यह आँख से दृष्टिगोचर न होने वाले शुक्राणुओं और डिम्बाणुओं के अन्तराल में रहने वाले अत्यन्त ही क्षुद्र घटक हैं। इतने पर भी उसकी क्षमता देखकर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। यह नहीं सोचना चाहिए कि हारमोन या जीन्स ही रहस्यमयी क्षमताओं से सुसम्पन्न हैं। सच तो यह है कि पूरी काया ही तिलस्मी रहस्यों से भरी पूरी है। दुर्भाग्य यही है कि हम न तो उसकी सामर्थ्य को समझ पाते हैं और न उसके सदुपयोग का ही साहस जुटाते हैं।

हम जानते हैं कि हमारी काया का स्थूल भाग अन्नमय कोश छोटी-छोटी कोशिकाओं (सैल्स) से बना है। इन कोशिकाओं के अन्दर एक द्रव 'साइटोप्लाज्म' (वसामय पीला सा द्रव) पदार्थ भरा रहता है। इसके बीच में अवस्थित होता है, कोशिका का नाभिक अथवा केन्द्रक (न्यूक्लियस)। पुरुष की शुक्राणु कोशिका अथवा नारी की अंडाणु या डिम्बाणु कोशिका के नाभिक में छोटे-छोटे धागे जैसे गुण सूत्र (क्रोमोसोम) होते हैं। एक नाभिक में इनके २३ या २४ जोड़े होते हैं। इन्हीं से लाखों की संख्या में 'जीन्स' चिपके रहते हैं। नये मनुष्य शरीर के निर्माण तथा उनमें अनुवांशिकीय गुण धर्मों का विकास इन्हीं पर निर्भर करता है।

यह जीन्स क्या हैं? कैसे यह अपनी आश्चर्यजनक भूमिका पूरी करते हैं? इस रहस्य पर से विज्ञान अभी पर्दा उठा नहीं सका है। उनके सम्बन्ध में बड़ी तेजी से शोध कार्य चल रहे हैं, बहुत से रहस्य खुले भी है, फिर भी वह नहीं के बराबर हैं।

अभी तक के अध्ययन के आधार पर 'जीन्स' छोटे-से विद्युन्मय पुटपाक या पुड़ियाँ (पैकेट) हैं। माना जाता है कि इनकी रचना कई तरह के न्यूक्लियल अम्लों के संयोग से हुई है। उनमें से अभी केवल दो के बारे में जाना जा सका है। वे हैं (१) डी० एन० ए० (डी आक्सी राइबो न्यूक्लीक एसिड) (२) आर० एन० ए० (राइबो न्यूक्लीक एसिड)।

जीन्स की संरचना के बारे में अभी तक नहीं जाना जा सका है, किन्तु यह जानकारियाँ निश्चित रूप से हो गयी हैं कि शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग की विशिष्ट रचना से लेकर अनेक परम्परागत स्वभावों, रोगों तथा गुणों के विकास की आश्चर्यजनक क्षमता इनमें है। इनके गुणों और कार्य-कलापों को कैसे नियन्त्रित किया जाय यह पता विज्ञान अभी नहीं लगा सका है, किन्तु यह माना जाने लगा है कि यदि 'जीन्स' के गुणों और कार्य-प्रणाली को प्रभावित किया जा सके, तो आश्चर्यजनक उपलब्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं। यह अन्नमय कोश के छोटे-से घटक एक कोशिका के नाभिक में रहने वाले नगण्य आकार वाले विद्युन्मय पैकेट मनुष्य के आसपास के वातावरण से लेकर उसके विचारों और भावनात्मक विशेषताओं के संस्कार ग्रहण करने में समर्थ हैं।

मनुष्य के विकास के सम्बन्ध में भारतीय मान्यता यह रही है कि उस पर अनुवांशिकता के साथ-साथ वाह्य वातावरण का भी प्रभाव पड़ता है। पहले इस मान्यता के प्रति उपेक्षा बरती जाने लगी थी।

यह स्पष्ट हो गया है कि अपने वातावरण तथा अपनी चेष्टाओं द्वारा व्यक्ति जिन स्वभाव-गुणों को अर्जित करता है, वे वंशानुक्रम से प्राप्त नहीं होते और न ही कोई व्यक्ति उन अर्जित विशेषताओं को वंशानुक्रम द्वारा अपने बच्चों को प्रदान कर सकता है। उदाहरण के लिए यदि एक व्यक्ति ने अनेक भाषाएँ सीखी हैं, तो वह उस भाषा-ज्ञान

को अपने बच्चों को वंशानुक्रम द्वारा नहीं दे सकता। बच्चों को भी भाषा-ज्ञान की प्रचलित विधियों को ही अपनाना होगा तथा मेहनत करनी पड़ेगी। वहीं दूसरी ओर यह भी स्पष्ट हो गया है कि वंशानुक्रम का निश्चित प्रभाव सन्तान पर पड़ता है। आनुवंशिकी (जनेटिक्स) का सारा ढाँचा ही इसी आधार पर खड़ा है। यह सही है कि कोई भी व्यक्ति जङ्गली बेर के बीज बोकर उनसे गुलाब के फूलों की आशा नहीं कर सकता। गौरैया के अण्डों को सेकर उनमें से मोर के बच्चे कौन निकाल सकता है? लेकिन जिन पौधों के बीज बोये जाते हैं, उनसे उन्हीं जैसे पौधे आखिर क्यों उगते हैं? चूहों से चूहा और बिल्ली से बिल्ली ही क्यों पैदा होती है? इसका उत्तर है, आनुवंशिकता अर्थात् नियमित वंश परम्परा, जिसके कारण ही ऐसा होता है। जो वस्तु जिस वंश की होगी, उसका बीज डाले जाने पर वैसा ही फल होगा। आनुवंशिकता में काम करने का ढंग भी शामिल है और चीजों का कद तथा रंग भी। उदाहरण के लिये बया पक्षी को बढ़िया लटकने वाला घोंसला बनाना किसी को सिखाना नहीं पड़ता है।

आनुवंशिकता अपने पूर्वजों से मिलने वाली विशेषताओं का ही दूसरा नाम है। वैज्ञानिक जानते हैं कि जीवों में जो विशेषताएँ होती हैं, वे उन्हें अपने माता-पिता से अत्यन्त सूक्ष्म कणों के रूप में मिलती हैं। इन सूक्ष्म कणों को 'जीन' कहा जाता है। हमारा शरीर बहुत-सी कोशिकाओं से मिलकर बना है। 'जीन' कोशिका का ही एक भाग है। अगर किसी वट-वृक्ष की शाखा को कहीं उसके अनुकूल स्थान में ले जाकर बो दिया जाये तो वह भी मूल पेड़ की तरह ही फलने-फूलने लगेगी। उसकी कोशिकाओं के 'जीन' अपने पहले के पेड़ की ही भाँति होंगे। ठीक उसी तरह जिस तरह किसी स्पंज के टुकड़े में वैसे ही छिद्र होते हैं, जैसे उस स्पंज में थे जिसमें से कि टुकड़े को तोड़ा गया है।

अधिकांश पौधों और जीवों की उत्पत्ति नर और मादा से होती है। कुछ 'जीन' नर से और कुछ मादा से मिलते हैं। झरबेरी झाड़ी के बीज गुलाब तो नहीं, लेकिन ऐसा पौधा अवश्य उगा सकते है, जिसमें एक की बजाय दो तरह के फूल हों। काली बिल्ली का बच्चा एकदम सफेद हो सकता है। यदि कोई पौधा या जानवर दो तरह की विशेषता के "जीन" आनुवंशिकता द्वारा प्राप्त करता है, और दोनों का प्रभाव बराबर रहता है तो दोनों के मिलने से तीसरी विशेषता उत्पन्न होती है। अगर लाल गाय और सफेद रंग का साँड़ हो तो उनका बछड़ा न तो सफेद होगा और न लाल। वह भूरा, यानी दोनों के बीच के रङ्ग का हो सकता है। ऐसा हो जाने के नियम की वैज्ञानिक व्याख्या आनुवंशिकता के सिद्धान्त के आधार पर की जाती है। 'जीन' ही इस आनुवंशिकता के वाहक हैं और आनुवंशिकता की बुनियादी इकाई हैं। अभी तक किये गये परीक्षणों से यही जाना जा सका है कि व्यक्ति की शारीरिक विशेषताएँ जैसे रङ्ग, रूप, नेत्र, त्वचा, खून का प्रकार लम्बाई, ठिगनापन आदि सब ही आनुवंशिक और पितृगत होते हैं। ये शारीरिक गुण भी मात्र माता-पिता से नहीं प्राप्त होते, वरन् वे दादा, परदादा तथा अन्य पूर्वजों से क्रमशः संक्रमित होकर आते हैं। वंशानुगत गुणों में माता-पिता का दाय प्रत्येक गुण में आधा होता हैं। यानी माँ का एक चौथाई और पिता का एक चौथाई। उनके पूर्व के चार पितरों में प्रत्येक का दाय प्रत्येक गुण का सोलहवां भाग होता है अर्थात् चारों पितरों का कुल दाय एक चौथाई भाग होता है। शेष १ चौथाई और पुरानी पीढ़ियों से आते हैं।

व्यक्ति के संस्कार तो उसके जन्म-जन्मान्तरों की संचित सम्पदाएँ और साधन हैं। किन्तु उसके उपयुक्त उपकरण-अन्नमयकोश, के निर्माण के घटक जीन्स-क्रोमोसोम्स का भी स्वरूप-निर्धारण कितनी सूक्ष्मताओं और जटिलताओं के आधार पर होता है, यह आनुवंशिकी की आधुनिक खोजों द्वारा भी स्पष्ट होता है। भारतीय मनीषी इन सूक्ष्मताओं से परिचित थे तभी वे सुसन्तति के लिए माता-पिता का चरित्रगत, तपस्वी-संयमी होना अनिवार्य बतलाते थे। इन्द्रिय-लिप्साओं की खुजली को शान्त करते रहने की कुचेष्टाओं के साथ सुसन्तति की आकांक्षा करते रहना एक असम्भव कल्पना मात्र है। उसके सफल होने की कदापि कोई भी सम्भावना नहीं है। अन्नमय कोश की इन सूक्ष्मताओं से परिचित होकर, अपना जीवनक्रम

इस प्रकार व्यवस्थित कर व्यक्ति न केवल सुयोग्य सन्तति के जनक-जननी बनने की क्षमता से, अपितु उन अनेक विशिष्ट क्षमताओं, विभूतियों से सम्पन्न बनता है, जिनसे मनुष्य शरीर की सार्थकता और गरिमा है। अन्नमय कोश की साधना स्वयं की इन क्षमताओं के विकास का ही नाम है।

आनुवंशिकता का प्रभाव बिल्कुल सीधा और स्थूल नहीं होता। उदाहरण के लिए किसी माता-पिता में से दोनों को या किसी एक को टी० बी० रोग (क्षयरोग) हो तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि बच्चे को जन्म से ही टी० बी० (क्षय रोग) हो, अपितु इसका सिर्फ यह अर्थ है कि बच्चे के शरीर में ऐसी वृत्ति या तत्परता विद्यमान है कि क्षय रोग के कीटाणु शरीर में पहुँचते ही वहाँ जड़ पकड़ लेंगे।

इसी प्रकार मान लीजिए कि कोई बढ़ई है, जो अपने काम में बड़ा दक्ष है। यह कार्यदक्षता बच्चे में जन्मजात रूप से नहीं उत्पन्न होती। अपितु यदि बच्चे को भी कुशल बढ़ई बनाना है, तो उसे बढ़ईगीरी का काम सिखाना ही होगा। हाँ, उस बच्चे के हाथ ऐसे हो सकते हैं, जिनके द्वारा कि उन औजारों का अधिक अच्छा उपयोग सम्भव हो, जो बढ़ईगीरी के काम आते हैं।

इसीलिए आनुवंशिकता और पर्यावरण दोनों को समान महत्व दिया जाता है। आनुवंशिकता द्वारा अर्जित गुण नहीं प्राप्त होते। कुछ जन्मजात गुणों का आधार ही आनुवंशिता को माना जाता है। ये जन्मजात गुण वंशानुक्रम के लक्षण कहे जाते हैं। वंशानुक्रम के लक्षण क्रोमोसोमों के आधार पर प्राप्त होते हैं। क्रोमोसोमों में होते हैं-जीन, जो व्यक्ति के "करेक्टरिस्टिक्स" का निर्माण करते हैं।

'जीन' का व्यवहार या आचरण से सीधा सम्बन्ध नहीं होता। जीन शरीर के उत्तक तथा अङ्गों के विकास को निर्देशित नियन्त्रित करते हैं। इस प्रकार वे शरीर की क्रियाशीलता को भी नियन्त्रित करते हैं। शरीर की ये क्रियाएँ स्पष्टतः व्यवहार को भी प्रभावित करती हैं और उस रूप में जीन्स का सम्बन्ध व्यवहार से भी होता है। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति वंशानुक्रम से छोटी-टाँगें, ठूंठदार अंगुलियाँ या बहरे कान प्राप्त करता है तो निश्चय ही कुछ क्षेत्रों में उसकी योग्यता सीमित हो जायेगी। इसी प्रकार शारीरिक क्रियाओं में भाग लेने वाले हजारों रासायनिक तत्व भी जीन्स द्वारा ही निर्धारित होते हैं। जैसे दृष्टि के लिए प्रकाशसंवेदी तत्व याकि रक्त के जमने में कई रासायनिक तत्व योग देते हैं। इन तत्वों की उपस्थिति सशक्तता या दुर्बलता का सम्बन्ध जीन्स से ही होता है। ऐसे अनेक लक्षण वंशानुक्रम से सम्बन्धित होते हैं।

वंशानुक्रम के आधारभूत घटकों, जीन्स और क्रोमोसोम्स के अध्ययनों के निष्कर्ष इस तथ्य के द्योतक हैं कि अन्नमय कोश में निर्माण का सूक्ष्म आधार कितना व्यापक और जटिल होता है। पौष्टिक भोजन मात्र से अन्नमय कोश सुदृढ नहीं हो जाता। इसके विपरीत अन्नमय कोश की सुदृढ़ता ही भोजन के रस-परिपाक का कारण व आधार बनती है। बढ़िया खाने-पहनने की चिन्ता करते रहने को ही जीवन का पुरुषार्थ मान बैठने वाले अन्नमय कोश के निर्माण के आधारों से अनभिज्ञ रहकर उसे अस्त-व्यस्त और दूषित, विकृत बनाते रहते हैं और भावी सन्ततियों को भी उस विकृति का अभिशाप दे जाते है।

एक जीन, युग्म शरीर के किसी विशेष 'करेक्टरिस्टिक' के विकास का निर्देश करता है। आँखें, भूरी हैं या नीली, बाल घने काले हैं या हल्के स्वर्णाभ हैं अथवा लाल, घुंघराले हैं या सीधे, सामान्य बाल हैं या गंजापन है, दृष्टि सामान्य है, या रतौंधी ज्यादा होने की सम्भावना है, श्रवण-शक्ति सामान्य है या जन्मजात बहरापन है, रक्त सामान्य है या कि "हेमोफीलिया" का दोष है, रङ्ग-बोध स्पष्ट है या वर्णान्धता दोष है, उंगलियों या अंगूठों की संख्या सामान्य है या कम-अधिक है, किसी जोड़ में कोई उंगली छोटी-बड़ी तो नहीं है, सभी अवयव सामान्य हैं या कुछ अवयव विरूप हैं; आदि सभी शारीरिक 'करेक्टरिस्टिक्स' जीन-युग्मों पर ही निर्भर करते है।

फ्रान्सीसी दार्शनिक मान्टेन को ४५ वर्ष की आयु में पथरी की बीमारी हुई। उनके पिता को यह रोग २५ वर्ष की आयु में आरम्भ हुआ। जबकि मान्टेन के

जन्म के समय उनके पिता सिर्फ इक्कीस वर्ष के थे। उस समय उन्हें यह रोग नहीं था। लेकिन उनके जीन्स में इस रोग के आधार विद्यमान थे। मान्टेन की पित्ताशय की पथरी की बीमारी कई पीढ़ियों से चली आ रही थी।

वालकों का 'गैलेक्टो सीमियाँ' रोग जीन्स से ही सम्बन्धित होता है। वह जीन, जब "यूरी डायल ट्रान्सफरे एन्जाइम नहीं बनने देता, तो बच्चे दूध में रहने वाली मिठास—गैलेक्टोस—को पचा नहीं पाते। फलतः वह खून में जमा होती रहती है और जिगर में इकट्ठी होकर बच्चे का पेट खराब कर देती है तथा मृत्यु का भी कारण बन बैठती हैं।

"एक्रोडमे टाइटिस ऐटेरोपैथिका" नामक रोग का कारण भी मुख्यतः जीन्स की विकृतियाँ ही होती हैं। आँख का केन्सर—रेटीनो ब्लास्टीमा-जीन्स-दोष का ही परिणाम है। जीन्स की 'एक्रोड्रोप्लासिया'—विकृति के कारण बच्चे अविकसित रह जाते हैं। वे जल्दी मरते हैं। बच गये तो भी वंश-वृद्धि में असमर्थ होते हैं। ऐसे दोष वाली महिलाएँ गर्भवती होने पर स्वयं की भी प्राण-रक्षा नहीं कर पातीं, बच्चे की जान तो खतरे में होती ही है।

'राइजोबियम' नामक जीवाणु की जीन को यदि धान, गेहूँ, ज्वार, बाजरा आदि फसलों की जड़ों में पलने वाले किसी जीवाणु में प्रत्यारोपित करना सम्भव हो तो इन फसलों के लिए अधिक उर्वरक नहीं खर्च करना पड़ेगा। भारत समेत विश्व भर की आनुवंशिकी प्रयोगशालाओं में इस हेतु प्रयास हो रहा है।

स्थूल दृष्टि से उपेक्षणीय लगने वाले इस अन्नमय कोश के अति सूक्ष्म घटक 'जीन्स' के साथ मनुष्य के उत्कर्ष की कितनी धारायें, कितनी सम्भावनायें जुड़ी हैं, इसे देखकर इसके रचयिता उस महान कलाकार की कलाकारी को शत शत नमन ही करते बनता है। अन्तर में बार-बार यही हूक उठती है कि क्या ही अच्छा होता कि हम इन महत् शक्तियों के जागरण और उपयोग की विधि जान पाते, सीख पाते और अपना पाते?

—※—

यथा चानिमिषाः स्थूला जालं छित्वा पुनर्जलम्। प्राप्नुवन्ति तथा योगास्तत्पदं वीतकल्मषाः॥
तथैव वागुरां छित्वा बलवन्तो यथा मृगाः। प्राप्नुयुर्विमलं मार्गं विमुक्ताः सर्वबन्धनैः॥
लोभ जानि तथा राजन् बन्धनानि बलान्विताः। छित्वा योगाः परं मार्गं गच्छन्ति विमलं शिवम्॥
स एव च यदा राजन् वह्निर्जातबलः पुनः। समीरणगतः क्षिप्रं दहेत कृत्स्नां महीमपि॥
तद्वज्जातबलो योगी दीप्ततेजा महाबलः। अन्तःकाल इवादित्यः कृत्स्नं सशोषमज्जगत्॥
तदेव च महास्रोतो निष्टम्भयति वारणः। तद्वद्योयबलं लब्ध्वा व्युहेत् विषयान् बहन्॥
न यमोनान्तकः क्रुद्धो न मृत्युर्भीम विक्रमः। ईशते नृपते सर्वे योगस्यामिततेजसः॥
(म० शा० प० मो० अ० ३००)

जैसे मगर मच्छ जाल को काट कर फिर जल में चले जाते हैं उसी प्रकार योगी जन पाप बन्धन से छूट कर उस ब्रह्म पद को प्राप्त हो जाते हैं। जैसे बलवान सिंह आदि जांगलिक पशु पिंजरे आदि पाशबन्धनों को तोड़ कर सर्व बन्धनों से छूटकर विशाल मार्ग को प्राप्त हो जाते हैं। वैसे ही हे राजन्! बलवान, आत्मबल वाले योगीजन लोभ वाले बन्धनों को काटकर विमल ऊँचे कल्याण मार्ग को प्राप्त करते हैं। अग्नि जैसे बढ़ी हुई वायु से भड़काई हुई सारी पृथिवी को भी शीघ्र जला देती है। इसी प्रकार आत्मबल वाला योगी दीप्त तेज वाली अग्नि की भांति अन्त करने वाले सूर्य की भाँति जगत सुखा देता है। या जैसे स्रोत को बांध या हाथी रोक देता है उसी प्रकार योगी भी योगबल प्राप्त करके बहुत विषयों को रोक देता है। हे राजन् अतुल बल वाले योगी के ऊपर उसकी भावना पर यम, अन्तक, भयंकर, मृत्यु भी क्रुद्ध हुआ स्वामित्व नहीं कर सकता है।

अन्नमय कोश में 'जीन' प्रक्रिया का परिवर्तन

व्यक्तित्व के विकास निर्माण में आमतौर से वातावरण और प्रयत्न पुरुषार्थ का महत्व माना जाता है। यह मान्यता एक सीमा तक ही ठीक है। क्योंकि एक जैसी परिस्थितियों में जन्मे और पले वालक आगे चलकर भारी भिन्नतायुक्त देखे गये हैं। यह उनकी मौलिक विशेषता का ही प्रमाण है। परिस्थितियों का उस पर यत्किंचित ही प्रभाव पड़ता है।

जीवसत्ता की रहस्यमय परतों का रहस्योद्घाटन करने के लिए हमें काय-कलेवर के गहन अन्तराल में प्रवेश करके यह समझने का प्रयत्न करना चाहिए कि व्यक्तित्व को प्रभावित करने, दिशा देने एवं उठाने-गिराने में सूक्ष्म शक्तियों का कितना वड़ा योगदान रहता है। अन्नमय कोश—स्थूल शरीर की वास्तविक स्थिति मात्र आहार-विहार पर निर्भर नहीं है, वरन् ऐसे तथ्यों पर टिकी है जिन पर मानवी वुद्धि का कोई प्रत्यक्ष नियन्त्रण नहीं है।

वंशानुक्रम विज्ञान पर दृष्टि डालने से प्रतीत होता है कि मनुष्य के शरीर, मन और व्यक्तित्व को वनाने में ऐसे कारणों का भी वहुत वड़ा हाथ होता है जो दुर्भाग्य या सौभाग्य की तरह वहुत पहले से ही पल्ले वँधे होते हैं और उनसे न पीछा छुड़ाना सम्भव होता है और न परिवर्तन का पुरुषार्थ ही सफल होता है। ऐसे प्रसङ्गों पर अध्यात्म साधनाएँ ही एकमात्र वह उपाय हैं जिनके सहारे वंशानुक्रम एवं संग्रहीत संस्कारों में अभीष्ट परिवर्तन सम्भव हो सकता है। इस दृष्टि से शरीर विज्ञान एवं आरोग्य शास्त्र की अपेक्षा अध्यात्म उपचारों की सामर्थ्य वहुत वढ़ी-चढ़ी है। उनके सहारे शारीरिक एवं मानसिक स्थिति का ही नहीं स्वभाव, दृष्टिकोण एवं समूचे व्यक्तित्व का ही काया-कल्प हो सकता है।

भावी पीढ़ियों के निर्माण में आमतौर से पति-पत्नी की शारीरिक स्थिति की देख-भाल की जाती है और समझा जाता है कि निरोग एवं वलिष्ठ पति-पत्नी के संयोग से सुविकसित पीढ़ी वन सकती है। 'रक्त शुद्धि' की मान्यता सम्भवतः इसी आधार पर वनी है। मिश्र के शासक कभी इस सम्वन्ध में वहुत कठोर थे, वे मात्र अपने ही निकटवर्ती कुटुम्ब की मर्यादा में विवाह-शादी करते थे। ताकि अन्य परिवारों के साथ रक्त सम्मिश्रण न हो और उनकी परम्परागत विशेषताओं में अन्तर न आये। योरोप के राज्य परिवारों में भी इस रक्त-शुद्धि के सिद्धांत की मान्यता मिलती रही है। हिटलर ने इस मान्यता को उन्माद की तरह उभारा था वह जर्मनों में आर्य रक्त की श्रेष्ठता वताता था और अन्यों से अपने लोगों को श्रेष्ठ मानता था। भारत में भी रोटी-वेटी व्यवहार में सम्भवतः ऐसी ही मान्यताओं का प्रभाव रहा हो।

उपरोक्त मान्यताएँ अवैज्ञानिक और अन्ध-विश्वासों पर आधारित रही हैं। तथ्य यह है कि भिन्न रक्तों के सम्मिश्रण से नये किस्म के परिवर्तन होते हैं और उनसे नई प्रगति के आधार वनते हैं। सन्तान के व्यक्तित्व का ढाँचा वनाने में जो जीन्स काम करते हैं, वे न जाने कितनी पीढ़ियों से चले आते हैं। मातृ कुल और पितृ कुल के सूक्ष्म उत्तराधिकारों से वे वनते हैं। सम्मिश्रण की प्रक्रिया द्वारा वे परम्परागत स्थिरता भी वनाये नहीं रहते, वरन् विचित्र प्रकार से परिवर्तित होकर कुछ से कुछ वन जाते हैं। यदि पीढ़ियों को दोष-मुक्त प्रखर एवम् सुसंस्कृत वनाना है तो इस जीन प्रक्रिया को प्रभावित तथा परिवर्तित करना होगा, यह अति कठिन कार्य है। उतनी गहराई तक पहुँच सकने वाला कोई उपाय उपचार अभी तक हाथ नहीं लगा है जो इन सूक्ष्म इकाइयों के ढाँचे में सुधार या परिवर्तन प्रस्तुत कर सके।

असमर्थता देखते हुए भी यह कार्य वड़ा आवश्यक है कि जीन्स जैसी व्यक्तित्व निर्माण की कुन्जी को हस्तगत किया जाय। अन्यथा परिस्थिति वातावरण, आहार-विहार, शिक्षा परिष्कार के समस्त साधन जुटाने पर भी व्यक्तित्वों का निर्माण 'विधि-विधान' स्तर का ही वना रहेगा। इस सन्दर्भ में आशा की किरण अध्यात्म उपचार में ही

खोजी जा सकती है। साधना प्रयत्नों से अन्नमय कोश की अन्त:प्रक्रिया में परिवर्तन लाया जा सकता है। उससे जीन्सों की स्थिति बदलने और पीढ़ियों के उज्ज्वल भविष्य की आशा की जाती है। इतना ही नहीं पैतृक प्रभाव के कारण वयस्क व्यक्ति का जो ढाँचा बन गया है उसमें भी सुधार परिष्कार सम्भव हो सकता है। शारीरिक काया-कल्प—मानसिक ब्रेनवाशिंग की चर्चा होती रहती है। व्यक्तित्वों के परिवर्तन में साधनात्मक प्रयोग का परिणाम और भी अधिक उत्साहवर्धक हो सकता है।

आनुवंशिकी की खोजों से स्पष्ट हो गया है कि जीन्स में मात्र भोजन की पौष्टिकता का तो प्रभाव नगण्य ही होता है, शारीरिक सुदृढ़ता, स्फूर्ति, अभ्यास, कर्म-कौशल, व्यवहार, विकास, चरित्र का स्तर, मस्तिष्कीय क्षमताओं के विकास आदि सम्पूर्ण व्यक्तित्व का सारभूत अंश उनमें विद्यमान रहता है। शरीर की विकृतियों का भी वे कारण होते हैं, पर उससे अनेक गुना महत्वपूर्ण तो मन:-स्थिति, बौद्धिक क्षमताएँ और चारित्रिक प्रवृत्तियाँ होती हैं। आलस्य और प्रमाद के कारण व्यक्तित्व की क्षमताएँ, प्रखरताएँ बिखरती, नष्ट होती रहीं, तो शारीरिक सुघड़ता में तो दोष आते ही हैं, व्यक्तित्व का मूलभूत स्तर घटिया होता जाता है। जिससे स्वयं का जीवन भी देवोपम विभूतियों से वंचित रहा आता है और अपनी सन्तान पर भी उसका विपाक्त प्रभाव छोड़ने का अपराधी बनना पड़ता है।

आनुवंशिकी शोधें इतना भर विश्वास दिलाती हैं कि उपयुक्त रक्त मिश्रण से नई पीढ़ी का विकास हो सकता है। आरोपण प्रत्यारोपण की सम्भावना भी स्वीकार की गई है। वर्तमान स्थिति को बदलने के लिए नहीं भावी में सुधार होने के सम्बन्ध में ही यह आश्वासन लागू होता है। वैज्ञानिक कहते हैं—'जीन' सामान्यतया निष्क्रिय स्थिति में पड़े रहते हैं। उनकी सक्रियता नर-नारी का संगम होने के उपरान्त उभरती है। जीन का कार्य युग्म रूप में आरम्भ होता है। जिनका एक सदस्य पिता से आता है और दूसरा माता से। यह जोड़ा मिलकर नई संरचना की विधि-व्यवस्था में जुटता है। यदि दोनों पक्ष एक प्रकृति के हुए तो उनका सृजन ठीक उसी रूप में होगा; किन्तु यदि भिन्नता रही तो दोनों के सम्मिश्रण का जो परिणाम होगा वह सामने आवेगा। (जो पक्ष प्रबल ('डामिनेन्ट) होगा वह दुर्बल पक्ष—(रिसेसिव) की विशेषताओं को दबाकर अपना वर्चस्व प्रकट करेगा। फिर भी दुर्बल पक्ष की कुछ विशेषताएँ तो उस नये सम्मिश्रित सृजन में दृष्टिगोचर होती ही रहेंगी। एकरूपता मिलते चलने पर आकार भार बढ़ेगा। पानी में पानी मिलाते चलने पर रहेगा पानी ही, उसका परिमाण भर बढ़ेगा। किन्तु दो भिन्नताएँ मिलकर आकार ही नहीं स्थिति और प्रकृति का परिवर्तन भी प्रस्तुत करेंगी। पीला और नीला रङ्ग मिला देने पर वे दोनों ही अपना मूल स्वरूप खो बैठेंगे और तीसरा नया हरा रङ्ग बन जाएगा। जीनों की परम्परा में पाई जाने वाली विशेषतायों तथ्य रूप तो बनी रहेगी, पर उसका प्रत्यक्ष रूप परिवर्तित दृष्टिगोचर होगा। घोड़ी और गधे के सम्मिश्रण से नई किस्म के खच्चर पैदा होते हैं। कलमी पौधों के फल-फूलों में नये किस्म की विशेषताएँ उभरती हैं।

आनुवंशिकी के आधार पर अब तक इतना ही सम्भव हो सका है कि उपयुक्त जोड़े मिलाकर भावी पीढ़ी के विकास की बात सोची जाय। उस क्षेत्र में भी यह प्रश्न बना ही हुआ है कि निर्धारित जोड़े में जो विकृतियाँ चली आ रही होंगी उनका निवारण, निष्कासन कैसे होगा? अच्छाई अच्छाई से मिलकर अच्छा परिणाम उत्पन्न कर सकती है तो बुराई बुराई से मिलकर अधिक बुराई क्यों उत्पन्न न करेगी? यदि अच्छाई-बुराई के बीच संघर्ष आरम्भ हो गया तो नई मध्यवर्ती स्थिति बन सकती है, पर प्रगति का अभीष्ट परिणाम किस प्रकार उपलब्ध हो सकेगा?

आनुवंशिकी शोधें तथ्यों पर पड़े पर्दे का तो उद्घाटन करती हैं, पर अभीष्ट सुधार के लिए उपयुक्त एवं सुनिश्चित मार्ग-दर्शन करना उनके लिए भी सम्भव नहीं हो सका है। वनस्पति में प्रत्यारोपण क्रिया के उत्साहवर्धक परिणाम सामने आये हैं। कृत्रिम गर्भाधान तथा दूसरे प्रत्यारोपणों का परिणाम भी किसी कदर अच्छा निकला है। मनुष्य की शरीर रचना में भी थोड़े हेर-फेर हुए हैं। गोरे और काले पति-पत्नी के संयोग से तीसरी आकृति

बनी है। एँग्लोइण्डियन रेस अपने ढङ्ग की अलग ही है। इतने पर भी मूल समस्या जहाँ की तहाँ है। जीन के साथ जुड़ी हुई पैतृत्व परम्परा में जो रोग अथवा दुःस्वभाव जुड़े रहेंगे उनको हटाना या मिटाना कैसे बन पड़ेगा? यह तो भावी पीढ़ी के परिवर्तन में प्रस्तुत कठिनाई हुई। प्रधान बात यह है कि वर्तमान पीढ़ी को अवांछनीय उत्तराधिकार से किस प्रकार छुटकारा दिलाया जाय? उसे असहाय स्थिति में पड़े रहने की विवशता से त्राण पाने का अवसर कैसे मिले? इस क्षेत्र में परिवर्तन हो सकने की बात बहुत ही कठिन मालूम देती है।

मनुष्य के एक जीन में करोड़ों इकाइयाँ होती हैं। इन पर विषाणुओं, वायरसों की क्या प्रतिक्रिया होती है, प्रस्तुत शोधें इसी उपक्रम के इर्द-गिर्द घूम रही हैं। डा० हरगोविन्द सिंह खुराना ने जिस जीन के कृत्रिम संश्लेषण में सफलता प्राप्त करके नोबुल पुरस्कार जीता था, वह मात्र १९९ इकाइयों वाला था। जिस नये जीवाणु की जीन बनाई जा सकी है उसकी १९९ इकाइयों को सही क्रम से जोड़ने में ९ वर्ष लगे हैं। यह तो एक प्रयोग भर हुआ। मनुष्य के एक जीन में पाई जाने वाली करोड़ों इकाइयों को सही क्रम से जोड़ना अतीव दुष्कर है। यहाँ एक बात और भी ध्यान रखने की है कि प्रत्येक जीवाणु कोशिका में ऐसे कई लाख जीन होते हैं। जो मानव शरीर के भिन्न-भिन्न अवयवों के निर्माण एवं संचालन का कार्य सम्पन्न करते हैं।

शरीर के विभिन्न अङ्ग-प्रत्यङ्गों के जीन्स द्वारा निर्माण की प्रक्रिया को अनुशासित रखने का दायित्व 'एन्जाइमों' का है। ये 'एन्जाइम' 'न्यूक्लिक अम्लों' के माध्यम से—जीन्स से सम्बद्ध रहते हैं। चुम्बकत्व-शक्ति के प्रयोगों—उपचारों द्वारा इन एन्जाइमों को प्रभावित कर जीन्स के विकास-क्रम पर प्रभाव डाला जा सकता है। अभी वैज्ञानिक इस दिशा में अध्ययन कर रहे हैं।

भारत में अतीतकाल में सुसन्तति के लिए तप-साधना का विधान था, जो कि मनुष्य में अन्तर्निहित चुम्बकत्व-शक्ति का विकास-अभिवर्धन करता था। कृष्ण और रुक्मिणी ने बद्रीनाथ धाम में बारह वर्ष तक तप कर अपनी चुम्बकत्व-शक्ति को अत्यधिक उत्कृष्ट बना लिया था। तभी उन्हें प्रद्युम्न के रूप में मनोवांछित सन्तान प्राप्त हो सकी थी।

वैज्ञानिकों का मत है कि जीन्स की विशेषताएँ विकिरणों द्वारा प्रभावित की जा सकती हैं। शरीर के भीतर रश्मियों के केन्द्रीकरण द्वारा ऐसी विकिरण—चिकित्सा व्यवस्था की जा सकती है। विद्युत-क्षेत्र (इलेक्ट्रिक-फील्ड्स) द्वारा जीन्स की रासायनिक और विद्युतीय दोनों विशेषताओं में परिमार्जन संशोधन किये जा सकते हैं। ध्वनियों तथा अतिध्वनियों के क्षेत्र में भी खोजें चल रही हैं। वैज्ञानिकों का विश्वास है कि उनके द्वारा भी जीन्स में परिवर्तन की विधि खोजी जा सकती है।

भौतिक विज्ञान से यह सम्भव हो या न हो, पर अध्यात्म विज्ञान से तो यह साध्य है ही। भारतवर्ष में साधना द्वारा शरीरस्थ जैवीय विद्युत को प्रखर बनाकर मन्त्रों के माध्यम से उत्पन्न अतिध्वनियों तथा यज्ञादि के विकिरण का उपयोग इस दिशा में सफलतापूर्वक किया जाता रहा है। इन्द्र को जीतने में समर्थ वृत्रासुर की उत्पत्ति तथा राजा दशरथ के यहाँ राम भरत जैसी सुसन्तति की प्राप्ति ऐसे ही प्रयोगों द्वारा सम्भव हुई थी।

अध्यात्म विज्ञान वहाँ से आरम्भ होता है जहाँ भौतिक विज्ञान की सीमाएँ प्रायः समाप्त हो जाती हैं। स्थूल की अगली सीढ़ी सूक्ष्म है। अन्तःस्रावी ग्रन्थियों से निकलने वाले विचित्र हारमोन स्रावों की तरह आनुवंशिकी क्षेत्र के रहस्यमय घटक 'जीन' भी उतने ही विलक्षण हैं। इन्हें प्रभावित करने में, भौतिकी सफल न हो सके तो इसमें निराश होने की कोई बात नहीं है। सुनियोजित अध्यात्म विज्ञान के पीछे वे सम्भावनाएँ झाँकती हैं जिनसे न केवल हारमोन और जीन वरन् ऐसे-ऐसे अनेकों रहस्यमय केन्द्र प्रभावित परिष्कृत किये जा सकते हैं जो सामान्य मनुष्य जीवन को असामान्य—देवोपम बना सकने में समर्थ हैं। अध्यात्म विज्ञान की 'अन्नमय कोश' की कक्षा—प्रयोग प्रक्रिया इसी उद्देश्य को पूरा करती है। उस सन्दर्भ में यदि शोध और प्रयोग के लिए आवश्यक उत्साह जुटाया जाय, तो व्यक्ति को निकृष्ट से उच्च, उच्च से उच्चतर और उच्चतर से उच्चतम बनाया जा सकना सम्भव हो सकता है।

अन्नमय कोश का परिष्कार सम्भव भी है-आवश्यक भी

भारतीय दर्शन के अन्तर्गत जीवन के सर्वाङ्गीण विकास के लिए अन्नमय कोश की शुद्धि-पुष्टि और विकास को भी पर्याप्त महत्व दिया गया है। भौतिक प्रगति हो या आध्यात्मिक लक्ष्यों की प्राप्ति—दोनों के लिए ही उसे आवश्यक और उपयोगी ठहराया गया है। योग साधनाओं में अन्नमय कोश की साधना को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है और उसके अनेक लाभों एवं सिद्धियों का भी उल्लेख मिलता है। इसके द्वारा ही योगी आरोग्य तथा शरीर संस्थान पर अद्भुत अधिकार प्राप्त कर लेते हैं। इच्छानुसार शरीर को गर्म या ठण्डा रखना, ऋतुओं के प्रभाव से अप्रभावित रहना, शरीर की ऊर्जा पूर्ति के लिए आहार पर आश्रित न रहकर उसे सीधे प्राकृतिक स्रोतों से प्राप्त कर लेना, दीर्घ-जीवन, शरीर में वृद्धावस्था के चिन्ह न उभरना आदि सभी उपलब्धियाँ अन्नमय कोश की साधना पर निर्भर करती हैं।

यह सब उपलब्धियाँ आध्यात्मिक साधना मार्ग पर बढ़ने के लिए भी उपयोगी सिद्ध होती हैं और सांसारिक जीवनक्रम में भी इनका प्रत्यक्ष लाभ मिलता है। यह उपलब्धियाँ बड़ी आकर्षक भी लगती हैं। किन्तु योग मार्ग की यह बहुत प्रारम्भिक सीढ़ियाँ मात्र हैं। यह इसलिए आवश्यक है कि योग साधना के लिए आवश्यक साधनाक्रम में यह शरीर अपनी असमर्थता प्रकट करके साथ देने से कतराने न लगे। अन्नमय कोश शुद्ध और पुष्ट होने पर ही व्यक्ति सांसारिक उतार-चढ़ावों के बीच अपनी शरीर यात्रा को सन्तुलित क्रम से चलाता हुआ, अपने आत्मिक लक्ष्य की ओर अनवरत क्रम से बढ़ सकता है।

एक और सूक्ष्म पक्ष है जिसके लिए अन्नमय कोश को तैयार करना पड़ता है। आत्मिक प्रगति के क्रम में शरीर में अनेक दिव्य संवेदनाओं का संचार होता है। असंस्कारित अन्नमय कोश उसमें बाधक बन जाता है। अथवा वाँछित सहयोग नहीं देने पाता। इस क्रम में अनेक दिव्य क्षमताएँ उभरती हैं; उन्हें धारण करना उनके स्पन्दनों को सहन करके अपना सन्तुलन बनाये रखना भी बहुत आवश्यक है। यही सभी बातें परिष्कृत एवं विकसित क्षमता सम्पन्न अन्नमय कोश से ही सम्भव हैं।

इन सब उपलब्धियों एवं क्षमताओं का लाभ पाने के लिए अन्नमय कोश, उसके स्वरूप तथा सामान्य गुण धर्मों के बारे में भी साधक के मस्तिष्क में स्पष्ट रूप रेखा होनी चाहिए। पांचों कोशों की संगति में अन्नमय कोश की भूमिका तथा उसके महत्व को उचित अनुपात में समझना आवश्यक है।

हमारी सत्ता, स्थूल-सूक्ष्म अनेक स्तर के तत्वों के संयोग से बनी है। उनमें से हर एक घटक का अपना-अपना महत्व है। किसी एक घटक का महत्व बतलाने से किसी दूसरे घटक का महत्व कम नहीं होता, क्योंकि एक घटक दूसरे का सहयोगी पूरक तो है, किन्तु उसका स्थान वह स्वयं नहीं ले सकता। उदाहरण के लिए भवन निर्माण में प्रयुक्त सीमेन्ट का गारा (मॉर्टर) लें। उसमें सीमेन्ट, बालू, पानी, रंग आदि सभी मिलाये जाते हैं। किसी एक का भी स्तर घटिया हो तो गारा घटिया हो जायगा। उसकी लोच, मजबूती, सुन्दरता आदि इन सभी के सन्तुलित संयोग से हैं। हमारे अस्तित्व के बारे में भी यही तथ्य लागू होता है। हमारे अस्तित्व के हर घटक का, हर कोश का अपना-अपना महत्व है, इसीलिए उन सबकी उत्कृष्टता एवं सन्तुलन का ध्यान रखना आवश्यक है।

हमारी संरचना में एक बड़ा भाग वह है जिसका सीधा सम्बन्ध स्थूल पदार्थों—पञ्च भूतों से है। उसके अस्तित्व, पोषण एवं विकास के लिए स्थूल पदार्थों की आवश्यकता पड़ती है। शरीर संस्थान के इसी भाग को अन्नमय कोश कहते हैं। यह अगणित छोटी-छोटी स्थूल इकाइयों से बना हुआ है। इन्हें कोशिका (सैल) कहते हैं। स्पष्ट है कि यह इकाइयाँ जिस प्रकार की, जिन गुण धर्मों से युक्त होंगी, संयुक्त शरीर संस्थान में भी वही गुण धर्म प्रकट होंगे। उन मूल इकाइयों को बदले बिना बाह्य दृश्य

संस्थान में इच्छित विशेषताएँ पैदा नहीं की जा सकतीं। अन्नमय कोश को आवश्यकता के अनुरूप बनाने-ढालने के लिए भी उसकी मूल इकाइयों को ध्यान में रखना होगा।

उदाहरण के लिए कोई वस्त्र लें। वस्त्र किस कोटि का है, यह इस आधार पर निर्भर करता है कि उसकी रचना में किस प्रकार के धागों का उपयोग हुआ है। उन धागों के लिए किस प्रकार के तन्तुओं (फाइवर्स) का प्रयोग किया गया है। वस्त्र कैनवास जैसा मजबूत है, रेशम जैसा भड़कीला है, टेरेलीन जैसा लुभावना है, ऊन जैसा गर्म है, मखमल जैसा आराम देह है या मलमल जैसा हलका एवं मुलायम है, यह सब विशेषताएँ उसके लिए प्रयुक्त धागों एवं उसके तन्तुओं के आधार पर टिकी रहती हैं।

इसी तरह शरीर भी अनेक प्रकार की विशेषताओं से युक्त होते हैं। बन्दर एवं हिरन जैसा फुर्तीला, सिंह एवं हाथी जैसा बलशाली, बैल एवं घोड़े जैसा परिश्रमी, गैंडे जैसा कठोर, हंस जैसा सौम्य, सर्प जैसा लचकदार आदि अनेक प्रकार की विशेषतायें शरीरों में पायी जाती हैं, अथवा पैदा की जा सकती हैं। यह बहुत स्थूल वर्गीकरण है। इससे थोड़े सूक्ष्म स्तर पर देखें तो, ध्रुव प्रदेश एवं हिमालय की ठंड को स्वाभाविक रूप से सहन कर सकने वाले शरीर, भूमध्य रेखा के निकट प्रदेशों की भीषण गर्मी में सुखी रहने वाले शरीर, जल जीवों की तरह पानी के संसर्ग में रहने वालों से लेकर मरुभूमि के शुष्कतम वातावरण में निवास करने वाले शरीरों की अपनी-अपनी विशेषताएँ, उनकी सैल इकाइयों के अनुरूप ही विकसित होती हैं।

इससे एक चरण और आगे चलें तो अन्नमय कोश की सूक्ष्म क्षमताओं का स्वरूप भी उभर कर सामने आयेगा। किसी भी क्षेत्र में उच्च स्तरीय साधक का सारा शरीर उसकी मुख्य साधना में सहयोगी बन जाता है। श्रेष्ठ चित्रकार जब किसी चित्र की कल्पना करता है तो उसके शरीर की हर इकाई उसके स्पन्दनों से प्रभावित होती है। शरीर की हलचल में उस कल्पना के स्पन्दन समाविष्ट हो जाते हैं तथा निर्जीव तूलिका सामान्य रङ्गों से जीवन्त चित्र का निर्माण कर देती है। वाणी के साधक गायक के मन में जो भाव उभरते हैं वह उसके हाव-भाव तथा स्वर लहरी में न जाने कहाँ से—कैसे गुथ जाते हैं और उसमें अद्भुत प्रभाव पैदा कर देते हैं। अपने कार्य के प्रति निष्ठावान चिकित्सक के चर्मचक्षुओं और माँसपेशियों में न जाने क्या विशेषता आ जाती है कि वह रोग के सूक्ष्म से सूक्ष्म चिन्ह तथा गम्भीर से गम्भीर स्तर को पकड़ लेता है। इन साधकों के चमत्कारों के पीछे यही तथ्य छिपा है कि उनके अन्नमय कोश की हर इकाई उनके अन्दर की सूक्ष्म सम्वेदनाओं को अनुभव करने, स्वीकार करने तथा उसके अनुरूप प्रभाव पैदा करने में सक्षम हो जाती है। उसके संस्कार उसके अनुरूप हो जाते हैं। किसी भी उच्चस्तरीय साधना के लिए विज्ञान से लेकर उपासना तक के किसी भी क्षेत्र में उल्लेखनीय स्तर पाने के लिए अपने अन्नमय कोश को ऐसी ही सुसंस्कृत, सुयोग्य, सक्षम स्थिति में लाना आवश्यक होता है। उसके लिए उसकी मूल इकाइयों को विशेष रूप से गढ़ना-ढालना पड़ता है। इसे ही अन्नमय कोश का परिष्कार विकास की साधना कहा जाता है।

प्रश्न उठता है कि क्या अन्नमय कोश की मूल इकाइयों को वांछित ढंग का बनाया जा सकता है? हाँ, यह सम्भव है। इसकी पुष्टि भारतीय दर्शन की सनातन मान्यता तथा वर्तमान वैज्ञानिक शोधों, दोनों ही आधारों पर होती है। वस्त्र आदि तो जैसे बन गये वैसे बन गये कैनवास को मखमल में नहीं बदला जा सकता। क्योंकि वह जड़ संस्थान है। किन्तु शरीर तो चेतन संस्थान है। उसमें नये कोशों का निर्माण तथा पुरानों का विघटन सम्भव ही नहीं है, वह तो उसकी एक स्वाभाविक एवं अनिवार्य प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया धीमी पड़ने से ही मनुष्य शरीर जराजीर्ण होने लगता है। जरा बुढ़ापा कुछ और नहीं अन्नमय कोश में नवीन स्वस्थ कोशिकाओं की संरचना तथा पुरानों के निष्कासन की गति शिथिल हो जाना मात्र है। इस प्रक्रिया को व्यवस्थित, नियमित बनाकर शरीर संस्थान में क्रमशः इच्छित परिवर्तन लाये जा सकते हैं।

सामान्य व्यक्तियों में भी अन्नमय कोश की इकाइयों

में परिवर्तन होता ही रहता है। किन्तु उसकी कोई व्यवस्था, योजना न होने के कारण एक ढर्रा भर चलता रहता है। सामान्य रूप से किसी भी फैक्ट्री में पुराने पुर्जों तथा पुरानी मशीनों के स्थान पर नये पुर्जे एवं नई मशीनों को स्थापित करने का क्रम चलता ही रहता है। उससे एक ढर्रे का उत्पादन निकलता भी रहता है। किन्तु कोई कुशल शिल्पी-उद्योगी जब अपने उत्पादन का स्तर बढ़ाने, नयी वस्तुएँ उत्पादित करने की योजना बनाता है तो फिर ढर्रे का क्रम पर्याप्त नहीं। उस स्थिति में लक्ष्य को ध्यान में रखकर सूझबूझ के साथ हर परिवर्तन व्यवस्थित ढङ्ग से करना होता है। पुर्जों और मशीनों से लेकर औजार [टूल] तथा कच्चे माल की व्यवस्था भी उसी योजना के अनुरूप करनी होती है। अपने शरीर की हर कोशिका को एक सजीव पुर्जा, औजार, मशीन मानकर उन्हें लक्ष्य के अनुरूप बनाना, उसके लिए उपयुक्त आहार विहार अपनाना, योग साधक के लिए आवश्यक हो जाता है।

सामान्य व्यक्ति के अन्नमय कोश तथा योगी के अन्नमय कोश में अन्तर क्यों? किस आधार पर आवश्यक है? इसे एक सामान्य उदाहरण से समझा जा सकता है। एक बिजली की लाइन को लें। विद्युत तारों में बहती है। उन्हें सहारा देने के लिए खम्भे रहते हैं। तार और खम्भों के बीच में ऐसे उपकरण लगे रहते हैं जो बिजली को खम्भों में होकर पृथ्वी में प्रविष्ट होने से रोके रहें। उन्हें 'कुचालक इन्सुलेटर' कहते हैं। सामान्य दबाव [वोल्टेज] की विद्युत के लिए तार खम्भे तथा इन्सुलेटर सामान्य ही चल जाते हैं। किन्तु यदि ऊँचे दबाव [हाईवोल्टेज] की बिजली अधिक मात्रा में प्रवाहित करनी हो तो उसके लिए यह सभी उपकरण विशिष्ट स्तर के लगाने पड़ते हैं। यही बात सामान्य व्यक्ति तथा विशिष्ट साधक के साथ लागू होती है। सामान्य जीवनक्रम में सामान्य शारीरिक जैवीय विद्युत [बायो इलैक्ट्रिसिटी] की ही आवश्यकता पड़ती है, किन्तु उच्च लक्ष्यों के लिए अधिक प्रखर शक्ति तरंगें पैदा करनी होती हैं। उनका सम्वेदन, संचार करने के लिए अधिक सशक्त संस्थान की आवश्यकता स्वाभाविक रूप से पड़नी ही चाहिए। इसीलिए साधक को अपने अन्नमय कोश के परिष्कार, उसकी पुष्टि और विकास के लिए विशेष ध्यान देना, विशेष प्रयास करना होता है। तभी वह प्राणमय मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोशों के विकास में सहायक बनने तथा उनकी विकसित स्थिति के साथ तालमेल बिठाने में समर्थ हो पाता है।

ताल-मेल बिठाने की बात यों ही नहीं कही गयी है, उसका अपना विशिष्ट अर्थ है। निर्जीव घटक तालमेल नहीं बिठा सकते, वह तो चेतना सम्पन्न के लिए ही सम्भव है। अन्नमय कोश की हर इकाई, हर कोशिका [सैल] को आज के वैज्ञानिक भी स्वतन्त्र जैविक इकाई मानने लगे हैं। हर सैल में उसका हृदय न्यूक्लियस होता है। उसके स्वांस संस्थान को वैज्ञानिक भाषा में 'माइटो कोण्ड्रिया' कहते हैं। हर सैल में एक 'गाल्गी एप्रेटस' होता है, जो उसके पाचन संस्थान का काम करता है। हर कोश अपने जैसे नये कोश का उत्पादन कर सकता है। इस व्यवस्था को वैज्ञानिक 'न्यूक्लियोलस एण्ड क्रोमेटिन नैटवर्क' कहते हैं। हर सैल में अपनी एक विशिष्ट जैवीय विद्युत का प्रभार [चार्ज] होती है जिसे उसका प्राण कह सकते हैं। इस प्रकार हर कोशिका एक स्वतन्त्र जैविक इकाई के रूप में अपने अस्तित्व को बनाये रखते हुए, शरीर संस्थान से अपना तालमेल बिठाये रखता है।

अन्नमय कोश के कोटि-कोटि सदस्य यह कोशिकाएँ [सैल] इष्ट उद्देश्य-लक्ष्य के अनुरूप स्वयं में स्वाभाविक क्षमता उत्पन्न कर सकें, उसके लिए विशिष्ट संस्कारवान नयी कोशिकाओं का उत्पादन कर सकें, तो उच्चतम लक्ष्य प्राप्ति की सुनिश्चित पृष्ठभूमि बन जाती है। इसके लिए उन्हें विशेष रूप से—योजनाबद्ध प्रक्रिया द्वारा तैयार किया जाता है। उनके लिए आहार, विहार, चिन्तन आदि की विशिष्ट एवं व्यवस्थित पद्धति का अनुसरण करना होता है। जैसे बच्चों को सुयोग्य बनाने के लिए उन्हें साधन ही नहीं श्रेष्ठ संस्कार भी देने पड़ते हैं, इसी प्रकार इन कोशिकाओं के लिए भी आहार व्यवहार से लेकर ध्यान उपासना तक के अनेक माध्यम अपनाने होते हैं। उन सबके संयोग से ही अन्नमय कोश की प्रभावशाली साधना का स्वरूप बनता है।

—※—

प्राण संस्थान कितना स्पष्ट, कितना अद्भुत?

भारतीय मान्यता है कि मनुष्य की स्थूल काया में व्याप्त उसी के अनुरूप एक प्राण शरीर भी होता है। प्राण शरीर—शरीरस्थ प्राण संस्थान के न केवल अस्तित्व का वल्कि उसके गुण, धर्मों तथा क्रिया-कलापों, प्रभावों आदि का भी वर्णन विस्तारपूर्वक भारतीय ग्रन्थों में मिलता है। इस मान्यता को स्थूल विज्ञान बहुत दिनों तक झुठलाता रहा, किन्तु शरीर विज्ञान के सन्दर्भ में जैसे-जैसे उसकी जानकारियाँ वढ़ रही हैं, प्राण संस्थान के अस्तित्व को एक सुनिश्चित तथ्य के रूप में स्वीकार किया जाने लगा है। भौतिक विज्ञान के स्थूल उपकरणों की पकड़ में भी इस सूक्ष्म सत्ता के अनेक प्रमाण आने लगे हैं।

रूस के इलेक्ट्रानिक विज्ञानवेत्ता ऐमयोन किलियान ने एक ऐसी फोटोग्राफी का आविष्कार किया है जो मनुष्य के इर्द-गिर्द होने वाली विद्युतीय हलचलों का भी छायांकन करती है। इससे प्रतीत होता है कि स्थूल शरीर के साथ-साथ सूक्ष्म शरीर की भी सत्ता विद्यमान है और वह ऐसे पदार्थों से वनी है जो इलेक्ट्रानो से वने ठोस पदार्थ की अपेक्षा भिन्न स्तर की है और अधिक गतिशील भी।

इङ्गलैण्ड के डा० किलनर एक वार अस्पताल में रोगियों का परीक्षण कर रहे थे। एक मरणासन्न रोगी की जाँच करते समय उन्होंने देखा कि उनकी दुर्बीन (माइक्रास्कोप) के शीशे पर एक विचित्र प्रकार के रङ्गीन प्रकाश कण जम गये हैं जो आज तक कभी भा देखे नहीं गये थे। दूसरे दिन उसी रोगी के कपड़े उतरवा कर जाँच करते समय डा० किलनर फिर चौंके उन्होंने देखा जो प्रकाश कल दिखाई दिया था आज वह लहरों के रूप में माइक्रास्कोप के शीशे के सामने उड़ रहा है। रोगी के शरीर के चारों ओर छः-सात इन्च परिधि में यह प्रकाश फैला है, उसमें कई दुर्लभ रासायनिक तत्वों के प्रकाश कण भी थे। उन्होंने देखा जब प्रकाश मन्द पड़ता है तब तक उसके शरीर और नाड़ी की गति में शिथिलता आ जाती है। थोड़ी देर वाद एकाएक प्रकाश पुंज विलुप्त हो गया। अब की वार जब उन्होंने नाड़ी पर हाथ रखा तो पाया कि उसकी मृत्यु हो गई। इस घटना को कई पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कराने के साथ-साथ डा० किलनर ने विश्वास व्यक्त किया कि जिस द्रव्य में जीवन के मौलिक गुण विद्यमान होते हैं वह पदार्थ से प्रथम अति सूक्ष्म सत्ता है। उसका विनाश होता हो ऐसा सम्भव नहीं है।

प्राण तत्व को एक चेतन ऊर्जा (लाइव एनर्जी) कहा गया है। भौतिक विज्ञान के अनुसार एनर्जी के छः प्रकार माने जाते हैं—१. ताप (हीट) २. प्रकाश (लाइट) ३. चुम्बकीय (मैगनैटिक) ४. विद्युत (इलैक्ट्रिसिटी) ५. ध्वनि (साउण्ड) ६. घर्षण (फ्रिक्शन) अथवा यान्त्रिक (मैकेनिकल)। एक प्रकार की एनर्जी को किसी भी दूसरे प्रकार की एनर्जी में वदला भी जा सकता है। शरीरस्थ चेतन क्षमता—लाइव एनर्जी इन विज्ञान सम्मत प्रकारों से भिन्न होते हुए भी उनके माध्यम से जानी समझी जा सकती है।

एनर्जी के वारे में वैज्ञानिक मान्यता है कि वह नष्ट नहीं होती वल्कि उसका केवल रूपान्तरण होता है। यह भी माना जाता है कि एनर्जी किसी भी स्थूल पदार्थ से सम्बद्ध रह सकती है, फिर भी उसका अस्तित्व उससे भिन्न है और वह एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ में स्थानान्तरित (ट्रांस्फर) की जा सकती है। प्राण के सन्दर्भ में भी भारतीय द्रष्टाओं का यही कथन है। अव तो पाश्चात्य वैज्ञानिक भी इसे स्वीकार करने लगे हैं।

इस सन्दर्भ में फ़ोनोग्राफ, प्रकाश के वल्व के आविष्कर्त्ता टामस एडिसन ने अत्यन्त वोधगम्य प्रकाश डालते हुए लिखा है—"प्राणी की सत्ता उच्चस्तरीय विद्युत-कण गुच्छकों के रूप में तव भी वनी रहती है जव वह शरीर से पृथक् हो जाती है। मृत्यु के उपरान्त यह गुच्छक विधिवत् तो नहीं होते, पर वे परस्पर सम्वद्ध वने रहते हैं। यह विखरते नहीं, वरन् आकाश में भ्रमण करते रहने

के उपरान्त पुनः जीवन चक्र में प्रवेश करते और नया जन्म धारण करते हैं। इनकी बनावट बहुत कुछ मधुमक्खी के छत्ते की तरह होती है। पुराना छत्ता वे एक साथ छोड़ती हैं और नया एक साथ बनाती हैं। इसी प्रकार उच्चस्तरीय विद्युत कणों के गुच्छक अपने साथ स्थूल शरीर की सामग्री अपनी आस्थाओं और सम्वेदनाओं के साथ लेकर जन्मने-मरने पर भी अमर बने रहते हैं।

इन प्रमाणों से शरीर में अन्नमय कोश से सम्बद्ध किन्तु एक स्वतन्त्र अस्तित्व सम्पन्न प्राणमय कोश का होना स्वीकार करना ही पड़ता है। यों भी शरीर में विज्ञान सम्मत ताप आदि छहों प्रकार की एनर्जी ऊर्जा के प्रमाण पाये जाते हैं, किन्तु सारे शरीर में संव्यास प्राणमय कोश का स्वरूप सबसे अधिक स्पष्टता से जैवीय विद्युत (बायो इलैक्ट्रिसिटी) के रूप में समझा जा सकता है।

शरीर विज्ञान में अब कामिक विद्युत पर पर्याप्त शोधें हो रही हैं। शरीर में कुछ केन्द्र तो निर्विवाद रूप से विद्युत उत्पादक केन्द्रों के रूप में स्वीकार कर लिए गये हैं। उनमें प्रधान हैं—मस्तिष्क, हृदय तथा नेत्र। मस्तिष्क में विद्युत उत्पादन केन्द्र को वैज्ञानिक 'रेटिकुलर एक्टिवेटिंग सिस्टम' कहते हैं। मस्तिष्क के मध्य भाग की गहराइयों में स्थित कुछ मस्तिष्कीय अवयवों में से विद्युत स्पंदन [इलैक्ट्रिक इम्पल्स] पैदा होते रहते हैं तथा सारे मस्तिष्क में फैलते जाते हैं। यह विद्युतीय आवेश ही मस्तिष्क के विभिन्न केन्द्रों को संचालित तथा परस्पर सम्बन्धित रखते हैं। चिकित्सा विज्ञान में प्रयुक्त मस्तिष्कीय विद्युत मापक यन्त्र [इलैक्ट्रो एन्कैफलोग्राफ] ई० ई० जी० द्वारा मस्तिष्कीय विद्युत धाराओं को नापा जाता है। उन्हीं के आधार पर मस्तिष्क एवं सिर से सम्बन्धित रोगों के बारे में निर्धारण किया जाता है। सिर में विभिन्न स्थानों पर यन्त्र के रज्जु [कार्ड] लगाये जाते हैं। उनसे नापे गये विद्युत विभव [पोटेंशल] का योग लगभग १ मिली वोल्ट आता है।

हृदय के संचालन में लगभग २० तार शक्ति विद्युत की आवश्यकता पड़ती है। यह विद्युत हृदय में ही पैदा होती है। हृदय में जिस क्षेत्र से विद्युत स्पंदन पैदा होते हैं उसे 'पेस मेकर' कहते हैं। यह विद्युत स्पंदन पैदा होते ही लगभग ०·८ सैकिण्ड में एक विकसित मनुष्य के सारे हृदय में फैल जाते हैं। इतने ही समय में हृदय अपनी एक धड़कन पूरी करता है। हृदय की धड़कन के कारण तथा नियन्त्रक यही विद्युत स्पंदन होते हैं। इन विद्युत स्पंदनों का प्रभाव ई० सी० जी० [इलैक्ट्रो कार्डियोग्राफ] नामक यन्त्र पर अंकित होते हैं। हृदय रोगों के निर्धारण के लिए इन विद्युत स्पंदनों को ही आधार मानकर चला जाता है।

नेत्रों में भी वैज्ञानिकों के मतानुसार फोटो इलैक्ट्रिक सैल जैसी व्यवस्था है। फोटो इलैक्ट्रिक सैल की विशेषता यह होती है कि वह प्रकाश को विद्युत तरङ्गों में बदल देता है। नेत्रों में भी इसी पद्धति से विद्युत उत्पादन की क्षमता वैज्ञानिक स्वीकार करते हैं। नेत्र रोगों के निर्धारण वर्गीकरण के लिए नेत्रों में उत्पन्न विद्युत स्पंदनों को ई० आर० जी० [इलैक्ट्रो रैटिनोग्राफ] यन्त्र पर अंकित किया जाता है।

इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि शरीरस्थ कुछ केन्द्रों में विद्युतीय स्पंदनों के उत्पादन के साथ-साथ सारे शरीर में उनका संचार भी होता है। ई० ई० जी० द्वारा सिर के हर हिस्से में मस्तिष्कीय विद्युत के स्पंदन रिकार्ड किये जाते हैं। यही नहीं बहुत बार तो उनका प्रभाव गर्दन से नीचे वाले अवयवों में भी स्पष्टता से मिलता है। हृदय की विद्युत का प्रभाव तो ई० सी० जी० यन्त्र द्वारा पैर के टखनों तक पर रिकार्ड किया जाता है। हृदय के निकटतम तथा दूरतम सभी अङ्गों में यह स्पंदन समान रूप से शक्तिशाली पाये जाते हैं।

शरीरस्थ प्राण प्रवाह के माध्यम से रोगों के निदान पर चिकित्सा शास्त्रियों का विश्वास दृढ़ हो गया है। मांस-पेशियों की निष्क्रियता तथा स्नायु संस्थान के रोगों में भी प्राणांकन पद्धति प्रयुक्त की जाती है। इसके लिए ई० एम० जी० [इलैक्ट्रो मायो ग्राफ] का प्रयोग होता है। शरीर के हर क्षेत्र के स्नायुओं अथवा मांस-पेशियों में विद्युतीय ऊर्जा की उपस्थिति तथा सक्रियता का यह स्पष्ट प्रमाण है। यहाँ तक कि शरीर की त्वचा जैसी पतली पर्त में भी उसकी अपने ढङ्ग की विद्युत विद्यमान है। चिकित्सा शास्त्री त्वचा के परीक्षण में भी त्वक

विद्युतीय प्रतिक्रिया (गैल्वॉनिक स्किनरिस्पॉन्स) पद्धति का प्रयोग करते हैं ।

इन वैज्ञानिक प्रमाणों के अतिरिक्त सामान्य व्यावहारिक जीवन में भी मस्तिष्क से लेकर त्वचा तक में विद्युत संवेगों की क्षमता के प्रमाण मिलते रहते हैं । किसी व्यक्ति विशेष के प्रति आकर्षण तथा किसी के प्रति विकर्षण, यह शरीरस्थ विद्युत की समानता, भिन्नता की ही प्रतिक्रियाएँ हैं । दो मित्रों के परस्पर एक दूसरे को देखने, स्पर्श करने में विद्युतीय आदान-प्रदान होता है । योगी तो स्पर्श से अपनी विद्युत का दूसरे व्यक्ति के शरीर में प्रवेश-प्रयोग संकल्प शक्ति के सहारे विशेष रूप से कर सकते हैं, किन्तु सामान्य स्पर्श से भी शरीरस्थ विद्युत का आंशिक आदान प्रदान होता है । स्पर्श, सहलाने, हाँथ मिलाने, गले मिलने आदि से जो स्पंदन अनुभव किए जाते हैं वे विद्युतीय आवेगों के ही आदान प्रदान के फलस्वरूप होते हैं । यह तथ्य भी अब वैज्ञानिक स्वीकार करने लगे हैं ।

भारतीय मत रहा है कि शरीर का अस्तित्व बनाये रखने, उसके पोषण पुनर्निमाण, विकास एवं संशोधन जैसी हर क्रिया प्राण द्वारा ही संचालित है । अन्नमय कोश में व्याप्त प्राणमय कोश ही उनका संचालन, नियंत्रण करता है । शरीर संस्थान की छोटी से छोटी इकाई में भी प्राण-विद्युत का अस्तित्व अब विज्ञान ने स्वीकार कर लिया है । शरीर की हर कोशिका विद्युत विभव (इलैक्ट्रिक चार्ज) है । यही नहीं किसी कोशिका के नाभिक (न्यूक्लियस) में लाखों की संख्या में रहने वाले प्रजनन क्रिया के लिए उत्तरदायी जीन्स जैसे अति सूक्ष्म घटक भी विद्युत आवेश युक्त पुटिकाओं (पैक्टिस) के रूप में जाने और माने जाते हैं । तात्पर्य यह है कि विज्ञान द्वारा जानी जा सकी शरीर की सूक्ष्मतम इकाई में भी विद्युत आवेश रूप में प्राणतत्व की उपस्थिति स्वीकार की जाती है ।

शरीर की हर क्रिया का संचालन प्राण द्वारा होने की बात भी सदैव से कही जाती रही है । योग ग्रंथों में शरीर की विभिन्न क्रियाओं को संचालित करने वाले प्राण-तत्व को विभिन्न नामों से संबोधित किया गया है । उन्हें पंच-प्राण कहा गया है । इसी प्रकार शरीर के विभिन्न क्षेत्रों में सक्रिय प्राण को पंच उपप्राण कहा गया है ।

वर्तमान शरीर विज्ञान ने भी शारीरिक अंतरंग क्रियाओं की व्याख्याएँ विद्युत संचार क्रम के ही आधार पर की हैं । शरीर के एक सिरे से दूसरे सिरे तक जो संचार क्रम चलता है वह विद्युतीय संवहन प्रक्रिया के माध्यम से ही है । संचार कोशिकाओं में ऋण और धन प्रभार (निगेटिव तथा पौजिटिव चार्ज) अंदर बाहर होते रहते हैं और इसी से विभिन्न संचार क्रम चलते रहते हैं । इसे वैज्ञानिक भाषा में सैल का डिपोलराइजेशन तथा 'रीपोलराइजेशन' कहते हैं । यह प्रक्रिया भारतीय मान्यतानुसार पंच-प्राणों में वर्णित 'व्यान' के अनुरूप है ।

आमाशय तथा आँतों में भोजन का पाचन होकर उसे शरीर के अनुकूल रासायनिक रसों में बदल दिया जाता है । वह रस आँत की झिल्ली में से पार होकर रस में मिलते हैं तब सारे शरीर में फैल पाते हैं । कुछ रसायन तो सामान्य संचरण क्रम से ही रक्त में मिल जाते हैं, किन्तु कुछ के लिए शरीर को शक्ति खर्च करनी पड़ती है । इस विधि को 'एक्टिव ट्रांस्पोर्ट' (सक्रिय परिवहन) कहते हैं । यह परिवहन आँतों में जो विद्युतीय प्रक्रिया होती है उसे वैज्ञानिक 'सोडियम पंप' के नाम ले संबोधित करते हैं । सोडियम कणों में ऋण और धन प्रभार बदलने से वह सैलों की दीवार के इस पार से उस पार जाते आते हैं । उनके संसर्ग से शरीर के पोषक रसों (ग्लूकोज, वसा आदि) की भेदकता बढ़ जाती है तथा वह भी उसके साथ संचरित हो जाते है । यह प्रक्रिया पंच-प्राणों में 'प्राण' वर्ग के अनुरूप कही जा सकती है ।

ऐसी प्रक्रिया हर सैल में चलती है । हर सैल अपने उपयुक्त आहार खींचता है तथा उसे ताप ऊर्जा में बदलता है । ताप ऊर्जा भी हर समय सारे शरीर मे लगातार पैदा होती और संचरित होती रहती है । पाचन केवल आँतों में नहीं शरीर के हर सैल में होता है । उसके लिए रसों को हर सैल तक पहुँचाया जाता है । यह प्रक्रिया जिस प्राण ऊर्जा के सहारे चलती है उसे भारतीय प्राणवेत्ताओं ने 'समान' कहा है । इसी प्रकार हर कोशिका में रस परिपाक के दौरान तथा पुरानी कोशिकाओं के विखंडन से जो मल बहता है उसके निष्कासन के लिए भी विद्युत रासायनिक (इलेक्ट्रो कैमिकल) क्रियाएँ उत्तरदायी है ।

प्राण विज्ञान में इसे 'अपान' की प्रक्रिया कहा गया है।

पंच-प्राणों में एक वर्ग 'उदान' भी है। इसका कार्य शरीर के अवयवों को कड़ा रखना है। वैज्ञानिक भाषा में इसे इलैक्ट्रिकल स्टिमुलाइजेशन कहा जाता है। शरीरस्थ विद्युत संवेगों से अन्नमय कोश के सैल किसी भी कार्य के लिए कड़े अथवा ढीले होते रहते हैं।

शरीर में इस प्रकार की अनेक अंतरंग प्रक्रियाएँ कैसे चलती हैं इसकी व्याख्या वैज्ञानिक पूरी तरह नहीं कर सके हैं। उसके लिए उन्होंने कई तरह के स्थूल सिद्धान्त बनाये हैं। इनमें सोडियम पोटेशियम साइकिल, पोटेशियम पंप, ए. टी. पी.,—ए. डी. पी. सिस्टम, तथा साइक्लिक ए.एम.पी. आदि के हैं। इनकी क्रिया पद्धति तो कोई रसायन विज्ञान का विद्यार्थी ही ठीक से समझ सकता है, किन्तु है यह सब 'विद्युत रासायनिक' सिद्धान्त ही। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी घोल में रासायनिक पदार्थों के अणु ऋण और धन प्रभार युक्त भिन्न-भिन्न कणों में विभक्त हो जाते हैं। इन्हें अयन कहा जाता है। इन अयनों की संचार क्षमता बहुत अधिक होती है। इच्छित संचार के बाद ऋण और धन प्रभार युक्त अयन मिलकर पुनः विद्युतीय दृष्टि से उदासीन (न्यूट्रल) अणु बना लेते हैं। शरीर में पाचन, शोधन, विकास एवं निर्माण की अगणित प्रक्रियाएँ इसी आधार पर चल रही हैं। तत्व दृष्टि से देखा जाय तो सारे शरीर संस्थान में प्राणतत्व की सत्ता और सक्रियता स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ेगी।

इन मोटी गतिविधियों से आगे बढ़कर शरीर की सूक्ष्म, गहन गतिविधियों का विश्लेषण करने पर उनमें भी प्राण शरीरस्थ प्राणतत्व का नियन्त्रण तथा प्रभाव दिखाई देता है। शरीर में हारमोनों और एन्ज़ाइमों की अद्भुत प्रक्रिया सर्वविदित है। इन दोनों की सक्रियता शरीर में आश्चर्यजनक परिवर्तन लाने एवं शक्ति संचार करने में समर्थ है। प्रजनन विज्ञान के अन्तर्गत जीन्स की विलक्षण भूमिका की चर्चा आजकल वैज्ञानिक क्षेत्र में सर्वत्र की जाती है। इन सभी को विद्युत चुम्बकीय संवेगों द्वारा प्रभावित किए जाने की संभावना वैज्ञानिक स्वीकार करते हैं। वह अभी ऐसा कर नहीं सके हैं। किन्तु उस पर विश्वास करते हैं तथा उसके लिए तीव्र शोध कार्य किए जा रहे हैं। विश्वास किया जाता है कि ऐसी विधि हाथ लग जाये तो शरीर क्षेत्र में हर चमत्कार संभव हो जायगा।

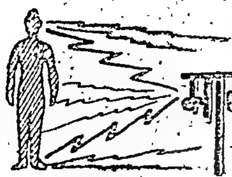
भारतीय ऋषियों ने प्राण-प्रक्रिया द्वारा शरीरस्थ संस्थान में चमत्कारी परिवर्तन लाने के लिए प्राणमय कोश की शुद्धि, शरीरस्थ प्राण ऊर्जा के प्रयोग की बात बलपूर्वक कही है। वह कोई अतिशयोक्ति नहीं। स्थूल विज्ञान की दृष्टि से ही मस्तिष्क एवं हृदय जैसे विलक्षण केन्द्रों से लेकर त्वचा तक में व्याप्त प्राण संस्थान तथा उसके प्रभाव को स्वीकार किया जा रहा है। योगदृष्टि तो इससे भी सूक्ष्म रही है। उसके द्वारा जो निष्कर्ष निकाले गये हैं वे और भी अधिक गहन तथा व्यापक स्तर के रहस्यों तथा तथ्यों को प्रकट करने वाले होने ही चाहिए। अस्तु, 'प्राणमय कोश को परिष्कृत एवं सबल बनाकर' न केवल अपने शरीर बल्कि दूसरे शरीरों को भी प्रभावित एवं विकसित करने की बात कोई अतिशयोक्ति नहीं है। प्राणतत्व संबन्धी विज्ञान जैसे जैसे प्रगति करेगा—भारतीय तत्वद्रष्टाओं की विलक्षण किन्तु तथ्यपूर्ण घोषणाओं को नतमस्तक होकर स्वीकार करता चलेगा।

अलौल्यमारोग्यमनिष्ठुरत्वगन्धश्शुभोमूत्रपुरीषमल्पम्। कान्तिःप्रसादःस्वरसौम्यताचयोगप्रवृत्तःप्रथमहिचिह्नम् ।६३
अनुरागंजनोयतिपरोक्षगुणकीर्त्तनम् । नबिभ्यतिचसत्त्वानिसिद्धेर्लक्षणमुत्तमम् ॥६४

—मार्कण्डेय पुराण

चंचलता का दूर होजाना, आरोग्य, सहृदयता, देह से सुगंध उठना, मल मूत्र में न्यूनता, चेहरे पर कान्ति, प्रसन्नता, वाणी में मधुरता, यह सब योग की प्रगति के चिन्ह हैं।

जिस अवस्था में मनुष्य के पीठ पीछे प्रशंसा होने लगे। सब कोई उससे निर्भय रहे। यही योग सिद्ध के लक्षण हैं।



मानवी विद्युत का प्रचण्ड प्रवाह—प्राणशक्ति में

संस्कृत में प्राण शब्द की व्युत्पत्ति 'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'अन्' धातु से होती है। 'अन्' धातु (प्राण ने) जीवनी शक्ति-चेतना बोधक है। इस प्रकार प्राण शब्द का अर्थ चेतना शक्ति होता है। जीवधारियों को प्राणी इसीलिए कहते हैं। प्राण और जीवन दोनों एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। प्राण आत्मा का गुण है। वह परम आत्मा से—पर ब्रह्म से-निसृत होता है। आत्मा, परमात्मा का ही एक अविछिन्न घटक है। वह अंश रूप है तो भी उसमें मूल सत्ताधीश के सारे गुण विद्यमान हैं। व्यक्तिगत प्राण धारण करने वाला प्राणी जब सुविकसित होता है तो वह भी बूँद के समुद्र में पड़ने पर सुविस्तृत होने की तरह ही व्यापक बन जाता है।

जड़ जगत में शक्ति तरंगों के रूप में संव्याप्त सक्रियता के रूप में प्राण शक्ति का परिचय दिया जा सकता है और चेतन जगत में उसे विचारणा एवं संवेदना कहा जा सकता है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया के रूप में यह जीवधारियों में काम करती है। जीवन्त प्राणी इसी के सहारे जीवित रहते हैं। इस जीवनी शक्ति की जितनी मात्रा जिसे मिल जाती है वह उतना ही अधिक प्राणवान कहा जाता है। चेतना की विभु सत्ता, समस्त विश्व ब्रह्माण्ड में संव्याप्त है। चेतना प्राण कहलाती है। उसी का अमुक अंश प्रयत्न पूर्वक अपने में धारण करने वाला प्राणी—प्राणवान एवं महाप्राण बनता है। यह प्राण जड़ पदार्थों में सक्रियता के और चेतन प्राणियों में सजगता के रूप में दृष्टिगोचर होता है। जड़ चेतन जगत की सर्वोपरि शक्ति होने के कारण उसे जेष्ठ एवं श्रेष्ठ कहा गया है।

प्राणो व व ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च।

—छांदोग्य ५।१।१

यह तत्व अनादि और अनन्त है। इसी में सृष्टि बार बार विलीन और उत्पन्न होती रहती है। सृष्टि से पूर्व यहाँ क्या था। इसका उत्तर देते हुए शास्त्र कहता है—

असद् वा इद मग्न आसात् तदाहुः किं तदसदासी दित्यृषयो वा व। तेऽग्नेऽसदा सीत्, तदाहुः के ते ऋषय इति प्राणा वा ऋषय।

—शतपथ

पूछा गया—सृष्टि से पहले क्या था? उत्तर दिया—ऋषि थे। पूछा—यह ऋषि क्या थे। उत्तर दिया—वे प्राण थे। यह प्राण ही ऋषि है।

सृष्टि के आरंभ में सर्व प्रथम प्राण तत्व के उत्पन्न होने का वर्णन है। जड़ जगत में पंच तत्वों का और चेतन प्राणियों में विचार शक्ति का आविर्भाव उसी से हुआ है।

'स प्राणमसृजत, प्राणच्छ्रद्धां, खं वायुर्ज्योति रुपः पृथिविन्द्रियं मनोऽन्नम्।

—प्रश्नोपनिषद ६।४

अर्थात् उस ब्रह्म ने प्राण उत्पन्न किया। प्राण से श्रद्धा, बुद्धि, मन एवं आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी पंच तत्वों की उत्पत्ति हुई। तब अन्न उत्पन्न हुआ।

अथर्व वेद के प्राण सूक्त में आता है—

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे, यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्।

अर्थात् उस प्राण को नमस्कार, जिसके वश में सब कुछ है। जो सब प्राणियों का अधिष्ठाता है जो सब में समाया है, जिसमें सब समाये हैं।

वैदिक विवेचना में प्राण के साथ 'वायु' का विशेषण भी लगा है। उसे कितने ही स्थानों पर प्राण वायु कहा गया है। इसका तात्पर्य आक्सीजन, नाइट्रोजन आदि वायु विकारों से नहीं वरन् उस प्रवाह से है, जिसकी 'गतिशील विद्युत तरंगों' के रूप में भौतिक विज्ञानी चर्चा करते रहते हैं। अणु विकरण-ताप-ध्वनि आदि की शक्ति धाराओं के मूल में संव्याप्त सत्ता भी उसे कहा जा सकता है। यदि उसके अध्यात्म स्वरूप का विवेचन किया जाय तो अँग्रेजी के लेटेन्ट लाइट-डिवायन लाइन्ट आदि शब्दों से संगति बैठती है जिसमें उसके दिव्य प्रकाश के समतुल्य होने का

संकेत मिलता है। प्रश्नोपनिषद् में प्राण का उद्गम केन्द्र सूर्य को माना गया है—"स एष वैश्वानरो विश्व रूपः प्राणोऽग्निरुदयते।" अर्थात् प्राणाग्नि विश्वव्यापी है। उसका केन्द्र उदीयमान सूर्य है।

प्राण विद्युत के संबन्ध में शरीर विज्ञानी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि पेशियों में काम करने वाली स्थिति तक ऊर्जा—पोटोन्शियल का तथा उसके साथ जुड़े रहने वाले आवेश—इन्टेन्सिटी का जीवन संचार में बहुत बड़ा हाथ है। इन विद्युत धाराओं का वर्गीकरण तथा नामकरण—सीफेली ट्राइजमिल न्यूनैलाजिया की व्याख्या चर्चा के साथ प्रस्तुत किया जाता है। ताप विद्युत संयोजन—थर्मोलैरिक कपलिंग—के शोधकर्ता अब इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि मानव शरीर का सारा क्रिया कलाप इसी विद्युतीय संचार के माध्यम से गतिशील रहता है।

पृथ्वी के इर्द गिर्द एक चुम्बकीय वातावरण दूर दूर तक फैला हुआ है। धरती का गुरुत्वाकर्षण ही सब कुछ नहीं है यह चुम्बकीय वातावरण उसके साथ मिलकर अपने लोक में संव्याप्त कितनी ही क्षमताओं को जन्म देता है। उनके आधार पर संसार की अनेक गति विधियों तथा प्राणियों को कितनी ही आवश्यकता पूरी करने वाले सुयोग बनते हैं। यह चुम्बकत्व आखिर आता कहाँ से है? उसका उद्गम स्रोत कहाँ है? इसकी खोज अन्तर्ग्रही अनुदानों के रूप में की जा रही थी पर अब यह पता चला है कि यह पृथ्वी के अपने ही गहन अन्तराल से निकलने वाला शक्ति प्रवाह ही है। लोहे की सुई यदि धागे से बाँधकर अधर लटकाई जाय तो उसका एक सिरा उत्तर की ओर दूसरा दक्षिण की ओर रहेगा दिशानिर्देशक यंत्र—कम्पास—इसी आधार पर बनते हैं। प्राणियों के कितने ही क्रिया कलाप इसी चुम्बकीय निर्देशन के आधार पर विनिर्मित होते हैं।

मनुष्य शरीर में बिजली काम करती है, यह तथ्य सर्व विदित है। इलैक्ट्रो कार्डियो ग्राफी तथा इलेक्ट्रो इनसिफैलो ग्राफी द्वारा इस तथ्य को प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। हमारी रक्त नलिकाओं में लौह युक्त हैमोग्लोबिन भरा पड़ा है। लौह चूर्ण और चुम्बक जिस प्रकार परस्पर चिपके रहते हैं उसी प्रकार हमारी जीवन सत्ता भी जीव कोशों को परस्पर सम्बद्ध किये रहती है। उनकी सम्मिश्रित चेतना से वे समस्त क्रिया कलाप चलते हैं जिन्हें हम जीवन संचार व्यवस्था कहते हैं।

शरीर में जो चमक, स्फूर्ति, ताजगी, उमंग, साहस, उत्साह, निष्ठा, तत्परता जैसी विशेषताऐं दिखाई पड़ती हैं—वे प्राण ऊर्जा की ही प्रतिक्रियाएँ हैं। मनस्वी, ओजस्वी, तेजस्वी, तपस्वी आदि शब्द इसी क्षमता का बाहुल्य व्यक्त करते हैं। ऐतिहासिक महामानवों में यही विशेषता प्रधान रूप से रही है।

ऊर्जा के सहारे ही यंत्रों का संचालन होता है। मनुष्य शरीर भी एक यंत्र है। उसके संचालन में जिस विद्युत की आवश्यकता पड़ती है उसे प्राण कहते हैं। प्राण एक अग्नि है जिसे ज्वलंत रखने के लिए आहार की आवश्यकता पड़ती है। आधुनिक वैज्ञानिक ने इसे 'जीव विद्युत' नाम दिया है।

निद्रा मात्र थकान मिटाने की, विश्राम प्रक्रिया मात्र नहीं है। वैज्ञानिक अनुसंधानों के अनुसार निद्रा में मस्तिष्क का सचेतन भाग अचेतन की स्थिति में इसलिए जाता है कि उस स्थिति में अन्तरिक्ष में प्रवाहित रहने वाली विद्युत धाराओं में से अपने उपयोग का अंश संग्रह सम्पादित कर सकने का अवसर मिल जाय। 'एरियल' रेडियो तरंगों को पकड़ता है! निद्रावस्था में हमारा अचेतन मस्तिष्क उसी स्थिति का बन जाता है और आकाश से इतनी विद्युतीय खुराक प्राप्त कर लेता है जिससे शारीरिक और मानसिक क्रिया कलापों का संचालन ठीक प्रकार संभव हो सके। निद्रा की पूर्ति न होने पर शारीरिक और मानसिक स्थिति में जो गड़बड़ी उत्पन्न होती है उसे अभीष्ट मात्रा' में विद्युतीय खुराक न मिलने को चेतनात्मक 'बुभुक्षा' कहते हैं। इसके बने रहने पर मनुष्य विक्षिप्त या अर्ध विक्षिप्त बन जाता है। पागलपन छाजाने से पूर्व प्रायः कुछ दिन पहले से अनिद्रा रोग उत्पन्न होता है। अनिद्रा में इस विद्युतीय आहार की ही कमी पड़ती है।

भौतिक लौह चुम्बक से सभी परिचित हैं; पर यह तथ्य कम ही लोगों को मालूम है कि उससे भी कहीं अधिक उच्च स्तर का एक जैव चुम्बक भी होता है जिसे वैज्ञानिकों की भाषा में ऐनिमल मैगनेट कहा जाता है। अध्यात्म

विज्ञान के अनुसार इसका उपयोग, वरदान आशीर्वाद स्तर के आदान प्रदान में होता रहा है। छोटे अपने बड़ों के चरण स्पर्श करके अभिवादन करते हैं इस स्पर्श में बड़ों की शुभेच्छा सम्पन्न विद्युत शक्ति का अनुदान दोनों को मिलता है। गुरु शिष्य परम्परा में भी यह परिपाटी चलती है। इसका एक प्रकार शिर पर हाथ रख कर आशीर्वाद देना भी है। छोटों के द्वारा बड़ों के पैर दबाने और बड़ों के द्वारा छोटों का आलिंगन, चुम्बन, गोदी में लेना, पीठ आदि पर हाथ फिराना भी इसी विद्युतीय अनुदान प्रक्रिया के अन्तर्गत आता है। वड़ों की विद्युत छोटों की ओर—समर्थों की असमर्थों की ओर दौड़ती है इस प्रकार इस स्पर्श में छोटे ही प्रमुखतया लाभ लेते हैं। देने का संतोष बड़ों के हिस्से में भी आता है।

शरीर संचार की समस्त गतिविधियाँ तथा मस्तिष्कीय उड़ानें रक्त, मास जैसे साधनों से नहीं उस विद्युत प्रवाह के द्वारा संभव होती हैं जो जीवन तत्व बनकर रोम रोम में संव्याप्त हैं। इसी को मानवीय विद्युत कहते हैं। ओजस्वी, मनस्वी और तेजस्वी उसी विशेषता से सुसम्पन्न लोगों को कहते हैं। प्रतिभाशाली प्रगतिशील लोगों और शूरवीर साहसी लोगों में इसी क्षमता की बहुलता पाई जाती है।

यह जैव विद्युत उस भौतिक बिजली से भिन्न है जो विद्युत यंत्रों में प्रयुक्त होती है। बैटरी, मैग्नेट, जनरेटर आदि का स्पर्श करने पर बिजली का झटका लगता है। उसके सम्पर्क से बल्व, पंखे, रेडियो, हीटर आदि काम करने लगते हैं। जीव विद्युत का स्तर भिन्न है इसलिए वह यह कार्य तो नहीं करती पर अन्य प्रकार के प्राणी की अति महत्वपूर्ण आवश्यकता पूरी करने वाले कार्य सम्पन्न करती देखी जा सकती है।

कभी कभी इस प्रक्रिया में व्यतिरेक भी होते देखा जा सकता है। भौतिक बिजली जीव विद्युत तो नहीं बन सकती पर जीव विद्युत के साथ भौतिक बिजली का सम्मिश्रण बन सकता है। ऐसी विचित्र घटनाएं कई बार देखने में आई हैं जिनसे मानवी शरीरों को एक छोटे जनरेटर या डायनमों की तरह काम करते देखा गया है।

सोसाइटी आफ फ़िज़ीकल रिसर्च की रिपोर्ट के अनुसार केवल अमेरिका में ही २० से अधिक बिजली के आदमी पाये गये हैं। तलाश करने पर वे संसार के अन्य देशों में भी मिल सकते हैं। कोलराडो निवासी डब्ल्यू० पी० जोन्स और उनके सहयोगी नार्मन् लोग ने इस संदर्भ में लम्बी शोधें की हैं और इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि इसमें कोई बड़े आश्चर्य की बात नहीं है। सामान्य सा शारीरिक व्यतिक्रम है। शरीर की कोशाओं के नाभिकों की बिजली—आवरण ढीले पड़ने पर 'लीक' करने लगती है। तब शरीर की बाहरी परतों पर उसका प्रवाह दौड़ने लगता है। वस्तुतः नाभिकों में अनन्त विद्युत शक्ति का भण्डार तो पहले से ही विद्यमान है। इन शोधकर्ताओं का कथन है कि स्थान और उपयोग की भिन्नता से प्राणि विद्युत और पदार्थ विद्युत के दो भेद हो जरूर गये हैं, पर तात्विक दृष्टि से उनमें मूलभूत एकता ही पाई जाती है।

शोधकर्ता जोन्स स्वयं भी एक विद्युत मानव थे। उन्होंने नंगे पैरों धरती पर चलकर भू-गर्भ की अनेकों धातु खदानों का पता लगाने में भारी ख्याति प्राप्त की थी। उनके स्पर्श से धातुओं से बनी वस्तुएँ जादूगरों के खिलौनों की तरह उछलने खिसकने की विचित्र हलचलें करने लगती थीं। छूते ही बच्चे झटका खाकर चिल्लाने लगते थे।

अमेरिका के मोन्टाना राज्य के मेडालिया कस्बे की जेनी मोरन नामक लड़की एक चलती फिरती बैटरी थी। जो उसे छूता वही झटका खाता। अँधेरे में उसका शरीर चमकता था। अपने प्रकाश से वह घोर अँधेरे में भी मजे के साथ यात्रा कर लेती थी। साथ उसके चलने वाले किसी जीवित लालटेन के साथ चलने का अनुभव करते थे। उसके शरीर के स्पर्श से १०० वाट तक का बल्व जल उठता था। यह लड़की ३० वर्ष की आयु तक जीवित रही और अस्पर्श बनी एकान्त कोठरी में दिन गुजारती रही।

कनाडा के ओन्टोरियो क्षेत्र वोण्डन गाँव में जन्मी एक लड़की १७ वर्ष तक जीवित रही। धातु का सामान उसके शरीर से चिपक जाता था। इसलिए उसके भोजन पात्र तक लकड़ी या काँच के रखे जाते थे।

मास्को निवासी कुमारी माइखेलोवा रूसी वैज्ञानिकों के लिए एक दिलचस्प शोध का विषय रही है। वह अपने दृष्टिपात से चलती घड़ियाँ बन्द कर देती थी अथवा सुइयाँ आगे पीछे घुमा देती थी। इसके करतबों की फिल्म बना कर कितनी ही प्रयोगशालाओं में भेजी गई ताकि अन्यत्र भी उस विशेषता के संबन्ध में अन्वेषण, कार्य चलता रह

सके। वैज्ञानिकों ने इसे मस्तिष्कीय विद्युत की चुम्बकीय शक्ति-इलेक्ट्रो मैगनेटिक-फोर्स की विद्यमानता निरूपित किया है। वे कहते हैं यह शक्ति हर मनुष्य में मौजूद है। परिस्थिति वश वह किसी में भी अनायास ही प्रकट हो सकती है और प्रयत्नपूर्वक उसे बढ़ाया भी जा सकता है। रूसी वैज्ञानिक लाब्सनोव ने हर मनुष्य के शरीर से निकलने वाले विद्युत विकरणों को अंकित कर सकने वाला एक यंत्र भी बना डाला है।

विश्व के अनेक भागों में पाई जाने वाली ईल मछली के शरीर में प्रायः १५ अश्व शक्ति तक की बिजली आँकी गई है। इससे वह एक घातक अस्त्र की तरह अपने शिकार पर प्रहार करती है। यदि ईल की बिजली का उपयोग हो सके तो उससे एक अच्छा खासा कारखाना चल सकता है।

विश्वव्यापी विद्युत चुम्बक से कौन कितना लाभ उठाले वह उस प्राणी की शरीर रचना एवं चुम्बकीय क्षमता पर निर्भर है। कितने ही पक्षी ऋतु परिवर्तन के लिए झुण्ड बनाकर सहस्रों मील की लम्बी उड़ानें भरते हैं वे धरती के एक सिरे से दूसरे सिरे तक जा पहुँचते हैं। इनकी उड़ानें प्रायः रात को होती हैं। उस समय प्रकाश जैसी कोई सुविधा भी उन्हें नहीं मिलती, यह कार्य उनकी अन्तः चेतना पृथ्वी के इर्द गिर्द फैले हुए चुम्बकीय घेरे में चल रही हलचलों के आधार पर ही पूरा करती है। इस धारा के सहारे वे इस तरह उड़ते हैं मानो किसी सुनिश्चित सड़क पर चल रहे हों।

टरमाइन कीड़े अपने घरों का प्रवेश द्वार सदा निर्धारित दिशा में ही बनाते हैं। समुद्री तूफान आने से बहुत पहले ही समुद्री बतखें आकाश में उड़कर तूफानी क्षेत्र से पहले ही बहुत दूर निकल जाती हैं। चमगादड़ अँधेरी रात में आँख के सहारे नहीं अपनी शरीर विद्युत के सहारे ही वस्तुओं की जानकारी प्राप्त करते हैं और पतले धागों से बचकर उपयोगी रास्ते पर उड़ते हैं। मेंढ़क मरे और जिन्दे प्रकार का भेद अपनी शारीरिक विद्युत के सहारे ही जान पाता है। मरी और जीवित मक्खियों का ढेर सामने लगा देने पर वह मरी छोड़ता और जीवित खाता चला जायगा। उल्लू की शिकार दबोचने की क्षमता उसकी आँखों पर नहीं विद्युत संस्थान पर निर्भर रहती है। साँप समीपवर्ती प्राणियों के शरीरों के तापमान का अन्तर समझता है और अपने रुचिकर प्राणी को ही पकड़ता है। भुनगों की आँखें नहीं होतीं वह अपना काम विशेष फोटो सेलों से बनाते हैं। अपने युग में अनेकों वैज्ञानिक यंत्र प्राणियों की अद्भुत विशेषताओं की छानबीन करने के उपरान्त उन्हीं सिद्धान्तों के सहारे बनाये गये हैं। प्राणियों में पाई जाने वाली विद्युत शक्ति ही उनके जीवन निर्वाह का आधार बनाती है। इन्द्रिय शक्ति कम होने पर भी वे उसी के सहारे सुविधापूर्वक समय गुजारते हैं।

यूनान के चिकित्सा विज्ञानी 'पैपिरस' ने रोगों की उपचार प्रक्रिया में चिकित्सक द्वारा रोगी के सिर पर हाथ फिराकर अच्छा करने की प्रक्रिया को शास्त्रीय रूप दिया था। सम्राट पाइरस और वैस पैसियन को ऐसे ही उपचारों से कष्टसाध्य रोगों से मुक्ति मिली थी। फ्रांस के शाही परिवार में फ्रांसिस प्रथम से लेकर चार्ल्स दशम तक की चिकित्सा में जीव चुम्बक का प्रयोग शक्तिशाली प्रक्रियाओं द्वारा होता रहा है। हाथ का स्पर्श और विशिष्ट दृष्टिपात इस प्रक्रिया में विशेष रूप से प्रयुक्त हुआ है।

विद्वान स्काचमेन मैक्सवेल ने सन् १६०० से यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया था कि ब्रह्माण्ड व्यापी एक 'जीवनी शक्ति' का अस्तित्व मौजूद है। प्रयत्न करके उसकी न्यूनाधिक मात्रा अपने में भरी जा सकती है और उसे स्व पर उत्कर्ष के अनेक प्रयोजनों में प्रयुक्त किया जा सकता है।

मैक्सवेल से पहले महामनीषी गोक्लेनियस अनेक तर्कों और प्रमाणों से यह सिद्ध कर चुके थे कि मनुष्य के आत्मबल का प्रमुख आधार यह जीवनी शक्ति ही है जिसे 'जैव चुम्बकत्व' के स्तर का समझा जा सकता है। वान हेलमान्ट इस शक्ति का उपयोग करके शारीरिक और मानसिक रोगियों को कष्टमुक्त करने में ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। महाप्रभु अपनी इसी क्षमता के कारण अपने जीवन काल में ही सिद्ध पुरुष गिने जाने लगे थे।

इटली के वैज्ञानिक सेटानेर्ली ने अठाहरवीं सदी के आरंभ में अनेक प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध किया था कि मनुष्य शरीर में प्रचंड विद्युतीय विकरण का अस्तित्व विद्यमान है।

सन् १७३४ से सन् १८१५ तक लगभग पूरे जीवन में डाक्टर फैडरिक मैस्मर ने प्राणशक्ति के अस्तित्व एवं उपयोग के सम्बन्ध में शोध कार्य किया। उन्होंने अपने अनुसंधानों के निष्कर्षों को क्रमबद्ध बनाया और मैस्मरिज्म नाम दिया। आगे चलकर उनके शिष्य कांस्टेट युसिगर ने उसमें सम्मोहन विज्ञान की नई कड़ी जोड़ी और कृत्रिम निद्रा लाने की विधि को 'हिप्नोटिज्म' नाम दिया। फ्रांस के अन्य विद्वान भी इन दिशा में नई खोजें करते रहे। डा० फान्टेन एवं डा० ब्रेड ने इन अन्वेषणों को और आगे बढ़ाकर इस योग्य बनाया कि चिकित्सा उपचार में उसका प्रामाणिक उपयोग संभव हो सके।

पिछले दिनों अमेरिका में न्यू आरलीन्स तो ऐसे प्रयोगों का केन्द्र ही बना रहा है इस विज्ञान को अमेरिकी वैज्ञानिक डार्लिंग और फ्रांसीसी डा० ड्रुराण्ड डे ग्रास की खोजों ने विज्ञान जगत को यह विश्वास दिलाया कि प्राणशक्ति का उपयोग अन्य महत्वपूर्ण उपचारों से किसी भी प्रकार कम लाभदायक नहीं है। इस प्रक्रिया को 'इले-क्ट्रोवायो-लाजिकल्स' नाम दिया गया है। ली वाल्ट की जीव विद्युत के आधार पर चिकित्सा उपचार पुस्तक को प्रामाणिकता भी मिली और सराहना भी हुई। इस संदर्भ में जिन तीन प्रमुख संस्थानों ने विशेष रूप में शोध कार्य किये हैं उनके नाम (१) दि स्कूल आफ नेन्सी (२) दि स्कूल आफ चारकोट (३) दि स्कूल आफ मेस्मेरिस्ट। इनके अतिरिक्त भी छोटे बड़े अन्य शोध संस्थान व्यक्तिगत एवं सामूहिक अन्वेषणों को प्रोत्साहन देते रहे हैं।

विज्ञानी मोडाल्यूज तथा काउण्ट पुलीगर के शोधों ने यह सिद्ध किया है कि प्राण शक्ति द्वारा रोग उपचार तो एक हल्की सी खिलवाड़ मात्र है। वस्तुतः उसके उपयोग बहुत ही उच्च स्तर के हो सकते हैं। उसके आधार पर मनुष्य अपने निज के व्यक्तित्व में बहुमुखी प्रखरता उत्पन्न कर सकता है। प्रतिभाशाली बन सकता है। आत्म विकास की अनेकों मंजिलें पार कर सकता है। पदार्थों को प्रभा-वित करके अधिक उपयोगी बनाने तथा इस प्रभाव से जीवित प्राणियों की प्रकृति बदलने के लिए भी प्रयोग हो सकता है। जर्मन विद्युत विज्ञानी रीकन बेक इसे एक विशेष प्रकार की 'अग्नि' मानते हैं। उसका बाहुल्य वे चेहरे के इर्द गिर्द मानते हैं और 'ओरा' नाम देते हैं। प्रजनन अंगों में उन्होंने इस अग्नि की मात्रा चेहरे से भी अधिक परिमाण में पाई है। दूसरे शोधकर्ताओं ने नेत्रों में तथा उँगलियों के पोरवों में उसका अधिक प्रवाह माना है।

हांगकांग को अमेरिकी डाक्टर आर्नोल्ड फास्ट ने सम्मोहन विधि से निद्रित करके कई रोगियों के छोटे आपरेशन किये थे। पीछे डैन्टल सर्जनों ने यह विधि अपनाई और उन्होंने दाँत उखाड़ने में सुन्न करने के प्रयोग बंद करके सम्मोहन विधि प्रयोग को सुविधा जनक पाया। दक्षिण अफ्रीका जोहन्सवर्ग के टारा अस्पताल में डा० बर्नार्ड लेविन्सन ने बिना क्लोरोफार्म सुंघाये इसी विधि से कितने ही कष्ट रहित आपरेशन करके यह सिद्ध किया कि यह विधि कोई जादू मंतर नहीं वरन् विशुद्ध वैज्ञानिक है। अंग्रेज विज्ञानी जेम्स ब्राइड ने भी नाड़ी संस्थान में पाई जाने वाली विद्युत शक्ति की क्षमता को मात्र शरीर निर्वाह तक सीमित न रहने देकर उसमें अन्य उपयोगी कार्य संभव हो सकने का प्रतिपादन किया है।

द्वितीय महायुद्ध के समय लोगों के मनों में से छिपे हुए रहस्य उगलवा लेने के लिए प्राण विद्युत के प्रयोग की रहस्यमयी विधियाँ खोजी गई थीं। मनोविज्ञानी जे० एच० एट्स ब्रुक ने इस संदर्भ में कई नये सिद्धान्त खोज निकाले थे और उनका प्रयोग जासूसी विभाग के अफसरों को सिखाया था। इसके लिए तब जर्मनी में एक 'हिप्नोटाइज्ड इन्टेलीजेन्स' विभाग ही अलग से बनाया गया था। उसके माध्यम से कितनी ही अद्भुत सफलताएँ भी मिली थीं।

प्राणशक्ति के वैज्ञानिक अनुसंधान के क्षेत्र में अभी प्राथमिक जानकारियाँ ही उपलब्ध हो सकी हैं। उसके थोड़े से सूत्र निर्धारित किये गये हैं और यत्किंचित उपयोग उपचार जाने गये हैं। आत्म विज्ञानी मानवी चेतना में सन्निहित इस अद्भुत सामर्थ्य की गरिमा आरंभ से ही गाते रहे हैं और कहते रहे हैं कि जो प्राण विद्या को जान लेता है, उसके लिए इस संसार में ऐसा कुछ भी अनुपलब्ध नहीं रह जाता जो समृद्धि प्रगति और सुख शान्ति के लिए आवश्यक है।

प्राण शक्ति
एक जीवन्त ऊर्जा

मनुष्य शरीर में विद्युत शक्ति का, विपुल भण्डार भरा पड़ा है। मस्तिष्क से विचारों के कम्पन विद्युत प्रवाह के रूप में ही निकलते हैं। शरीर की आन्तरिक क्रिया प्रक्रिया नाड़ी समूह के साथ-साथ प्रवाहित होते रहने वाले विद्युत प्रवाह के द्वारा ही संभव होती है। मस्तिष्कीय विद्युत में मन और बुद्धि के द्वारा देखे जाने वाले अनेकानेक चमत्कार आये दिन सामने आते हैं। साहस और उत्साह के रूप में—स्फूर्ति और उमंगों के रूप में इसी क्षमता के उभार उफनते दीख पड़ते हैं। विज्ञानवेत्ता 'प्राण' की व्याख्या इसी मानवी विद्युत के रूप में करते हैं।

मनुष्य में काम करने वाला यह विद्युत प्रवाह भौतिक बिजली के समतुल्य नहीं है। बादलों में कड़कने वाली बिजली और धूप से अनुभव होने वाली गर्मी के समकक्ष उसे नहीं माना जा सकता। यह बिजलीघरों में उत्पन्न की जाने वाली 'शक्ति' के समान भी नहीं है। भौतिक बिजली में धक्का मारने, आगे बढ़ाने एवं फैलाने की क्षमता है। उसकी गणना 'अश्व शक्ति' के रूप में की जाती है। किन्तु मानवी विद्युत की क्रिया पद्धति इससे भिन्न है। उसमें व्यक्तित्व के बहुमुखी विकास की अनेकानेक संभावनाएँ जुड़ी हुई हैं। इतना ही नहीं वह अन्य प्राणियों को—पदार्थों को प्रभावित करती है और वातावरण पर अपना असाधारण प्रभाव छोड़ती है।

अध्यात्म विवेचना में उसका वर्णन 'प्राण' के रूप में किया जाता है। ह्यूमन मैगनेटिज्म एवं मैटाबोलिज्म उसे कहा जाता है। इसी को जीवनी शक्ति एवं मानवीय विद्युत कहा जाता है।

"प्रोजेक्टिज्म आफ एस्ट्रल बॉडी" ग्रन्थ में मानवी काया की अद्भुत संरचना और विचित्र कार्य पद्धति पर विस्तृत प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि इतना अद्भुत होते हुए भी यह यंत्र अपना काम कर सकने में इस क्षमता के आधार पर ही समर्थ होता है जिसे मानवीय विद्युत कहा जाना चाहिए। इसकी मात्रा एवं स्थिति यदि दुर्बल होगी, तो उसका प्रभाव शरीर संरचना सब प्रकार उपयुक्त होते हुए भी निराशाजनक ही देखा जा सकेगा। लेखक का कथन है कि सौर-मण्डलीय परिवार की तथा अन्यान्य ग्रह नक्षत्रों की ज्ञात और अज्ञात किरणें धरती पर आती हैं। उनका प्रभाव पदार्थों पर तो पड़ता ही है। मानवी काया भी उस अनुदान में से अपना भाग ग्रहण करती है। सामान्यतया पदार्थों की तरह जीव धारियों को भी उस अभिवर्षण का लाभ अनायास ही मिलता रहता है किन्तु यदि संकल्प शक्ति की प्रखरता हो तो व्यक्तिगत चुम्बकत्व प्रचंड होता चला जायगा और उस आकर्षण से वह अन्तर्ग्रही सामर्थ्य प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होती चली जायगी।

गामा, बीटा, एक्स, लेसर, अल्ट्रा वायलेट, अल्फा वायलेट आदि कितने ही स्तर की शक्ति किरणें भू-मण्डल के भीतर और बाहर काम करती हैं। उन सब का समुचित समावेश मनुष्य के सूक्ष्म शरीर में हुआ है। स्थूल शरीर जड़ पदार्थों की बन्धन रज्जुओं से जकड़ा होने के कारण ससीम है। पर सूक्ष्म शरीर में सम्मिलित शक्तियों का कोई अन्त नहीं। उसका निर्माण ऐसी इकाइयों से हुआ है जिनकी हलचल ही इस वातावरण में विविध-विधि क्रिया कलाप उत्पन्न करती है। इस दृष्टि से मनुष्य बाहर से एक जीवधारी मात्र दीखते हुए भी वस्तुतः असीम सामर्थ्यों का पुञ्ज है। कठिनाई एक ही है कि वे सामान्यतया प्रसुप्त स्थिति में पड़ी रहती हैं जिन्हें अधिक मात्रा में आकर्षित करने और व्यावहारिक भूमिका का निर्वाह कर सकने योग्य बनाने में व्यक्तिगत रूपसे प्रबल प्रयत्न करने पड़ते हैं।

ब्रह्माण्ड-व्यापी महाशक्तियों में ग्रहों की गुरुत्वाकर्षण क्षमता सर्वविदित है। आकाश में अवस्थित सभी ग्रह नक्षत्र इसी के आधार पर टिके हुए हैं और गतिशील हैं। यह गुरुत्वाकर्षण आखिर है क्या? इसका सूक्ष्म अन्वेषण करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि यह मूलतया—इलेक्ट्रोमेगनेटर विद्युत चुम्बकीय सत्ता है। जो ग्रह नक्षत्रों

निकलता है कि यह मूलतया—इलैक्ट्रो मैगनेटिक विद्युत चुम्बकीय क्षमता है। जो ग्रह-नक्षत्रों की भ्रमणशीलता और आकर्षण शक्ति के उभय-पक्षीय प्रयोजन पूरे करती है। प्रकाश, ताप, ध्वनि, विद्युत इसी के स्वरूप हैं। अणुओं की हलचलों से लेकर रासायनिक परिवर्तनों का सरंजाम वही जुटाती है। ईथर के ब्रह्माण्ड-व्यापी महासागर पर इसी विद्युत चुम्बक का आधिपत्य छाया हुआ है। यह शक्ति जड़ नहीं है। यदि वह जड़ रही होती, तो अणु-परमाणुओं की संरचना और हलचलों में अद्भुत व्यवस्था दिखाई पड़ती और उसके दर्शन न होते।

यही विद्युत चुम्बक 'प्राण' है। मनुष्य में वह तेजोवलय के रूप में काया के इर्द-गिर्द फैला हुआ देखा जा सकता है। शरीर में ऊर्जा के रूप में उसका अस्तित्व है। जीवाणुओं की—अवयवों की विभिन्न हलचलें इसी के सहारे संचारित होती हैं। मस्तिष्क की मशीन अपने आप में अद्भुत है, पर वह स्वसंचालित नहीं है। यदि उसकी अपनी सामर्थ्य रही होती तो फिर मृत शरीर का मस्तिष्क भी अपना काम करते रह सका होता। यह 'प्राण' ही है जो मस्तिष्क की चेतन और अचेतन परतों पर छाया हुआ है और उन्हें अपने निर्धारित क्रिया-कलाप करते रहने के लिए आवश्यक सामर्थ्य प्रदान करता है।

ग्रहों में अपना-अपना गुरुत्वाकर्षण है। फिर भी वह उनका निजी उत्पादन नहीं है। ब्रह्माण्ड-व्यापी विद्युत चुम्बकीय क्षमता में से ही यह ग्रह-नक्षत्र अपना हिस्सा बँटाते हैं और गुरुत्वाकर्षण दूसरे शक्ति संचारों से भरे रहते हैं। यह सम्मिलित पूँजी है जिसमें से विश्व परिवार के सभी घटक अपना-अपना भाग पाते और गुजारा करते हैं। यही बात प्राण-शक्ति के सम्बन्ध में भी है। विश्व-व्यापी 'महाप्राण' एक तथ्य है। उसी विशाल वैभव में से पृथ्वी के जीवधारी अपनी-अपनी पात्रता और आवश्यकता के अनुरूप भाग बँटाते हैं। मनुष्य की यह विशेषता है कि वह इस सामान्य वितरण में से उपेक्षापूर्वक उसे गँवाता रह सकता है, जो उसके लिए सहज सुलभ है। इसी प्रकार उसके लिए यह भी सम्भव है कि प्रयत्न करे, उत्साह सँजोये और संकल्पबल के सहारे व्यापक प्राण-शक्ति में से बड़े से बड़ा भाग अपने लिए उपलब्ध कर सके। प्राणयोग की साधना—प्राणायाम प्रक्रिया इसी प्रयोजन की पूर्ति का एक सुनिश्चित—विज्ञान सम्मत आधार है।

प्राण एक चेतन विद्युत ऊर्जा है जिसकी मात्रा बढ़ी-चढ़ी होने पर वहिरङ्ग और अन्तरङ्ग जीवन के दोनों पक्षों में उसका चमत्कारी प्रभाव देखा जा सकता है। यह प्राण शक्ति ही व्यक्तिगत जीवन में साहस और उत्साह के रूप में चमकती है। उसे दृढ़ता और तत्परता के रूप में देखा जा सकता है। संकल्प शक्ति के रूप में उसी का परिचय प्राप्त किया जाता है। निश्चय को पूर्ण करने के लिए मनुष्य इसी क्षमता के सहारे अनेकानेक कठिनाइयों को चीरता—अवरोधों से जूझता श्रम-साध्य और समय-साध्य मंजिल को पार करता है, प्रतिकूलताओं के बीच भी जो अनुकूलता उत्पन्न करने का प्रबल प्रयास कर रहा है—निराशाजनक परिस्थितियों में जिस आशा की क्षीण किन्तु सुनिश्चित किरणें दीख पड़ती हों उसे प्राणवान कहा जा सकता है। लोक-प्रवाह के विपरीत जो अपनी राह एकाकी बना सके—अपने बलबूते अपनी योजनाओं को कार्यान्वित करने का शौर्य दिखा सके—उसमें आत्म-विश्वासी प्राण-शक्ति की उपयुक्त मात्रा काम करते हुए देखी जा सकती है।

ऐतिहासिक महामानवों में इसी प्राणतत्व की समुचित मात्रा रही है इसी के सहारे उन्होंने महत्वपूर्ण निर्णय लिए और दुस्साहसपूर्ण कदम उठाये। लोक-प्रवाह के विपरीत जब उनने अपने स्वतन्त्र भाव निश्चय घोषित किये तो कुटुम्बी, सम्बन्धी और तथाकथित हितैषी एक जुट होकर उनका उपहास, असहयोग और विरोध करने पर उतारू हो गये। उनने प्रवाह के विपरीत चलने में खतरे की आशंका देखी और शुभ-चिन्तक के नाते उस खतरे से बचने का परामर्श दिया, किन्तु प्राणवानों को तो आदर्शवादी मार्ग अपनाने में—संकटों के साथ आँख-मिचौनी खेलने में—ही मजा आता रहा है। खतरों के बीच ही प्रगतिशीलता पनपती है।

महामानवों की सफलताएँ उतनी महत्वपूर्ण नहीं जितनी कि उसके साहस प्रदर्शन की स्मृतियाँ। सफलताएँ तो कइयों को संयोगवश भी मिल जाती हैं। उन्हें छल-बल से भी उपार्जित किया जा सकता है। महत्व उन

घटनाओं का है जिनमें साहस के आधार पर घनघोर अँधेरे में प्रकाश जलाया गया और आँधी-तूफान के बीच उस आलोक को बुझने से बचाया गया।

लिंकोलन के राजा रिचार्ड ने तत्कालीन विशपह्यूगो को आदेश भेजा कि वे अपनी सेनाएँ नारमन्डी युद्ध के लिए भेजें। विशप ने इस आज्ञा को मानने से इनकार कर दिया। स्पष्ट था कि ऐसी अवज्ञा क्रोधी रिचर्ड सहन न करेगा और विशप को पदच्युत करने से लेकर मौत तक का कोई दण्ड देगा। किन्तु विशप ह्यूगो इससे तनिक भी विचलित नहीं हुए, वरन् वे सीधे दनदनाते हुए राजमहल में चले गये। राजा उस समय भोजन कर रहे थे, विशप को देखते ही वे आग-बबूला हो गये और उनकी ओर से मुँह फेर लिया।

विशप ने कड़क कर कहा—"उठो, विशप का अभिवादन करो।" राजा चुप रहा। इस पर ह्यूगो ने राजा का कन्धा पकड़ कर बुरी तरह झकझोर डाला और आज्ञा पालन का आदेश दिया।

रिचार्ड सन्न रह गये। वे उठे और अभिवादन किया। भोजन के बाद परामर्श का क्रम चला और जैसा विशप चाहते थे, वैसा ही समाधान बन गया। रिचार्ड ने अपने एक संस्मरण में स्वयं लिखा है—'विशप में कुछ विलक्षण शक्ति है। उनसे आँख मिलाते ही मनुष्य स्वयमेव पराभूत हो जाता है।

क्या भौतिक सफलताएँ पाने वाले, क्या आत्मिक प्रगति करने वाले सभी के व्यक्तित्व का तात्विक विश्लेषण करने पर उनकी विलक्षणता के पीछे प्राण-प्रतिभा ही झाँकती पाई जायगी। नैपोलियन, सिकन्दर सरीखे पराक्रमी और लिंकन, वाशिंगटन जैसे प्रगतिशील अपने सङ्कल्पों को पूरा करने में प्राणपण से जुटे रहने के कारण ही कुछ कहने लायक प्रगति कर सके थे।

आत्मिक क्षेत्र की समस्त सिद्धियों का स्रोत यही सत्साहस और प्रबल पुरुषार्थ है जिसे वैज्ञानिक शब्दों में प्राण-शक्ति का चमत्कार कह सकते हैं। आत्म संयम नदी के प्रवाह को रोकने की तरह है, उसमें इन्द्रियों के उद्दण्ड घोड़ों की लगाम कसकर पकड़नी होती है। मन एक दुर्दान्त दैत्य है उसे वशवर्ती बना लेना, सरकस के हिंस्र पशुओं से विलक्षण खेल कराने वाले प्रशिक्षक द्वारा दिखाये जाने वाले दुस्साहस की तरह है। जबकि हर जगह सुविधाओं की पुकार है, तब तप-तितीक्षा का स्वेच्छा सङ्कल्प कितना कठिन और कितना जटिल समझा जा सकता है। संग्रह और उपभोग के लिए सर्वत्र बिखरी आकुलता के बीच जो त्याग और बलिदान की बात सोचते ही नहीं, उसे कर दिखाने के लिए भी कटिबद्ध हो जाते हैं, उन्हें प्राणवान ही कहा जा सकता है। उन्हें जो उपहार मिलते हैं, उन्हें उस साहसिकता का ही पुरस्कर कह सकते हैं, जिसकी व्याख्या प्राण-शक्ति के नाम से भी की जा सकती है।

पनडुब्बे गहरे समुद्र में डुबकी लगाकर मोती बीनते हैं। बहुमूल्य खनिज प्राप्त करने के लिए धरती को गहराई तक खोदते जाने और उस विभीषिका के मुख में प्रवेश करने का साहस जुटाना पड़ता है। अपनी प्रसुप्त शक्तियों के जागृत करने के लिए—अन्तःचेतना की गहरी परतों में उतरने के लिए—अद्भुत धैर्य और अविचल प्रयत्न करने होते हैं। यह सब अनायास ही नहीं हो जाता, वरन् अग्नि परीक्षा में गुजरने पर ही सफलता का श्रेय प्राप्त होता है। सोते सर्प और सोते सिंह को जगाने में जितना पराक्रम चाहिए उतना ही अन्तःचेतना के सूक्ष्म संस्थानों को जगाते समय भी चाहिए। वन्य पशुओं को पालतू और प्रशिक्षित करना धैर्यवान लोगों का काम है। मरुस्थल को उर्वर बना लेने के लिए दूर-दर्शिता, अथक श्रम-शीलता और साधन सामग्री जुटानी पड़ती है। अनगढ़ व्यक्तित्व सुगढ़ और सुसंस्कृत बनाने के लिए कलाकारों जैसी कौशल विकसित करना पड़ता है। शत्रु को मित्र बना लेने की प्रशंसा है। अनर्थ में संलग्न विकृत कुसंस्कारों को आमूल-चूल परिवर्तित करके श्रेय साधक बना देना विष से अमृत निकालने के समतुल्य है। ऐसे मार्ग पर चलने के लिए अजस्र प्राण-शक्ति चाहिए। अध्यात्म साधनाओं में प्राणमय कोश को जागृत करके प्रचण्ड आत्मबल सञ्चय करने की अवश्यकता इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखते हुए बताई गई है।

—❀❀—

प्राण तत्व और श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया

कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् के दूसरे अध्याय में इन्द्र ने प्राण-विद्या का रहस्योद्घाटन करते हुए कहा है—

अथ खलु तस्मा देतमेवोक्थ मुपासीत। यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राणः.......स यदा प्रतिबुध्यते यथाऽग्नेर्विस्फुलिंग। विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोका......।

अर्थात्—जब मन विचार करता है, तब अन्य सभी प्राण उसके सहयोगी होकर विचारमान् हो जाते हैं, नेत्र किसी वस्तु को देखने लगते हैं तो अन्य प्राण उनका अनुसरण करते हैं। वाणी जब कुछ कहती है, तब अन्य प्राण उसके सहायक होते हैं। मुख्य प्राण के कार्य में अन्य प्राणों का पूर्ण सहयोग होता।

अन्य श्लोकों में बताया गया है कि मन और इन्द्रियों के साथ प्राण-शक्ति को मिला देने से वे अत्यन्त प्रभावशाली हो उठती हैं और अपनी सामर्थ्य से किसी को भी प्रभावित कर सकती हैं। ऐसे प्राणवान के सन्देश कहीं भी सुने और हृदयंगम किये जा सकते हैं। वह अपने प्राणों को किसी के प्राण में घुलाकर उसके प्राणों को जागृत कर सकता है। ऐसे व्यक्ति की आज्ञा को पर्वत भी अमान्य नहीं करते। जो ऐसे प्राणवान से द्वेष करता है, वह नष्ट हो जाता है।

इसी उपनिषद् में यह भी वर्णन है कि सामर्थ्यवान् गुरु अपने शिष्यों को इसी प्राण-सम्पदा से सुसम्पन्न बना कर उन्हें उत्तराधिकार का श्रेय वैभव प्रदान करते हैं। यही अनुदान प्राप्त करने के लिए श्रद्धालु-शिष्य ऋषि आश्रमों में निवास और तप-साधन करते हुए अपनी पात्रता का विकास करते थे।

महर्षि धौम्य ने आरुणि को, गौतम ने जावालि को, इन्द्र ने अर्जुन को, यम ने नचिकेता को, शुक्राचार्य ने कच को—इसी प्रकार उच्च स्थिति में पहुँचाया था। रामकृष्ण परमहंस ने विवेकानन्द को और विवेकानन्द ने सिस्टर निवेदिता को इसी प्रकार प्राण प्रत्यावर्तित किये थे।

प्राण-शक्ति जीवात्मा को—'सत्' सत्ता को—'चित्' समता से परिपूर्ण बनाती है। इन दोनों का समन्वय हो जाने से वह स्थिति उत्पन्न होती है जिसके कारण पदार्थों के उपभोग और प्राणियों के सहयोग का 'आनन्द' उठाया जा सकता है। सत् चित् आनन्द की सम्भावनाएँ हमारे चारों ओर भरी पड़ी हैं। उपभोक्ता में 'आत्मा' की सत्ता मौजूद है। आनन्ददायक सामग्री की भी कमी नहीं। परिस्थितियों की अनुकूलता भी विद्यमान है। फिर भी अशक्तिजन्य दरिद्रता से प्राणी घिरा ही रहता है। प्राण शक्ति की न्यूनता के अतिरिक्त इस विपन्नता का और कोई कारण नहीं है। जीवधारी को 'प्राणी' कहा ही इसलिए जाता है कि उसकी जीवन प्रक्रिया प्राण शक्ति के सहारे ही संचालित होती है। शरीर में प्राण की कमी होते चलने पर 'प्राणान्त' की स्थिति ही सामने आ खड़ी होती है।

मनुष्य में जो चमक, चेतना, स्फूर्ति, तत्परता, तन्मयता, दृष्टिगोचर होती है, वह उसमें विद्यमान प्राण-शक्ति की ही प्रतिक्रिया है। यह तत्व जिसमें जितना कम होगा वह उतना ही निस्तेज, निर्जीव, निर्बल दिखाई देगा। उत्साह, साहस और सन्तुलन की उपलब्धियाँ प्राण-शक्ति की मात्रा पर ही निर्भर रहती हैं। ओजस्वी, तेजस्वी, मनस्वी और तपस्वी व्यक्तियों की प्रखरता उनमें विद्यमान प्राण का परिमाण प्रकट करती है। पराक्रमी मनुष्यों की शरीर रचना में—मस्तिष्कीय सङ्गठन में—कोई विशेषता नहीं होती। इस दृष्टि से वे भी सामान्य लोगों की तरह ही होते हैं। उनकी विशेषता प्राण ऊर्जा के रूप में बढ़ी-चढ़ी होती है। सङ्कल्प शक्ति में—इच्छा शक्ति में—दृढ़ता सुनिश्चितता का अंश ही व्यक्तित्व को प्रखर बनाता है, इसी के आधार पर प्रगति के साधनों को जुटाना और अवरोधों को हटाना सम्भव होता है। आँखों में चमक, वाणी में प्रभावोत्पादन, चेहरे पर ओजस्, व्यवहार में प्रखरता का परिचय प्राण-शक्ति ही देती है। प्रभावशाली

व्यक्तियों में इसी तत्व का बाहुल्य रहता है।

वायु, ईथर, विद्युत, ताप, प्रकाश जैसी भौतिक शक्ति धाराएँ अनन्त आकाश में भरी पड़ी हैं। चेतन शक्तियों में प्रमुखता-प्राण शक्ति की है। इसी को ब्रह्माण्डीय चेतना कहते हैं। यह तत्व निखिल ब्रह्माण्ड में संव्याप्त है। विचार-शक्ति का प्रवाह इसी धारा में गतिशील रहता है। जीवधारी इसी महासमुद्र में जलचरों की तरह अपनी सत्ता बनाये रहते हैं। कल्पनाएँ और सम्वेदनाएँ इसी चेतना सागर की उपलब्धियाँ हैं।

मछली जल में रहती है। उसी के उपादानों पर उसका निर्वाह चलता है। शरीर में जल में पाये जाने वाले पदार्थों की ही भरमार रहती है। व्यापक प्राण समुद्र में निवास करने वाले प्राणी के स्थूल और सूक्ष्म उपकरणों को गति और प्रगति देने वाला भी प्राणतत्व ही होता है। जीवधारियों की गरिमा का मूल्याङ्कन इसी की न्यूनाधिक मात्रा के आधार पर आँका जाता है।

यों प्राणतत्व एक है, पर प्राणी के शरीर में उसकी क्रियाशीलता के आधार पर कई भागों में विभक्त की गई है। शरीर के प्रमुख अवयव मांस-पेशियों से बने हैं, पर संगठन की भिन्नता के कारण उनके आकार-प्रकार में भिन्नता पाई जाती है। इसी आधार पर उनका नामकरण एवं विवेचन भी पृथक्-पृथक् होता है। मानवी-काया में प्राण-शक्ति को जो विभिन्न उत्तरदायित्व निवाहने पड़ते हैं उन्हीं के आधार पर उनके नामकरण भी अलग हैं और गुण, धर्म की भिन्नता भी बताई जाती है। इस पृथकता के मूल में एकता विद्यमान है। प्राण अनेक नहीं हैं। उसके विभिन्न प्रयोजनों में व्यवहार पद्धति ही पृथक है। बिजली एक है, पर उनके व्यवहार विभिन्न यन्त्रों में भिन्न प्रकार के होते हैं। हीटर, कूलर, पंखा, प्रकाश, पिसाई आदि करते समय उसकी शक्ति एवं प्रकृति भिन्न लगती है। उपयोग और प्रयोजन को देखते हुए भिन्नता अनुभव की जा सकती है तो भी जानने वाले जानते हैं कि यह सब एक ही विद्युत शक्ति के बहुमुखी क्रिया-कलाप हैं। प्राण-शक्ति के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। शास्त्रकारों ने उसे कई भागों में विभाजित किया है, कई नाम दिये हैं और कई तरह से व्याख्या की है। उसका औचित्य होते हुए भी इस भ्रम में पड़ने की आवश्यकता नहीं कि प्राणतत्व कितने ही प्रकार का है और उन प्रकारों में भिन्नता एवं विसंगति है। इस प्राण विस्तार को भी 'एकोऽहं बहुस्याम' का एक स्फुरण कहा जा सकता है।

मानव शरीर में प्राण को दस भागों में विभक्त माना गया है। इनमें ५ प्राण और ५ उप प्राण हैं। प्राणमय कोश इन्हीं १० के सम्मिश्रण से बनता है। ५ मुख्य प्राण हैं—(१) अपान (२) समान (३) प्राण (४) उदान (५) व्यान। उपप्राणों को [१] देवदत्त [२] वृकल [३] कूर्म [४] नाग [५] धनंजय नाम दिया गया है।

शरीर क्षेत्र में इन प्राणों के क्या-क्या कार्य हैं? इसका वर्णन *आयुर्वेद शास्त्र में इस प्रकार किया गया है*—

[१] अपान—अपनयति प्रकर्षेण मलं निस्सारयति अपकर्षाति च शक्तिम् इति अपानः।

अर्थात्—जो मलों को बाहर फेंकने की शक्ति में सम्पन्न है वह अपान है। मल-मूत्र, स्वेद, कफ, रज, वीर्य आदि का विसर्जन, भ्रूण का प्रसव आदि बाहर फेंकने वाली क्रियाएँ इसी अपान प्राण के बल से सम्पन्न होती हैं।

[२] समान—रसं समं नयति सम्यक् प्रकारेण नयति इति समानः।

अर्थात्—जो रसों को ठीक तरह यथास्थान ले जाता और वितरित करता है वह समान है। पाचक रसों का उत्पादन और उनका स्तर उपयुक्त बनाये रहना इसी का काम है।

पातञ्जलि योग सूत्र के पाद ३ सूत्र ४० में कहा गया है—"समान जयात् प्रज्वलनम्" अर्थात् समान द्वारा शरीर की ऊर्जा एवं सक्रियता ज्वलन्त रखी जाती है।

[३] प्राण—प्रकर्षेण अनियति प्रकर्षेण वा बलं ददाति, आकर्षति च शक्ति स प्राणः।

अर्थात्—जो श्वास, आहार आदि को खींचता है और शरीर में बल संचार करता है वह प्राण है। शब्दोच्चार में प्रायः इसी की प्रमुखता रहती है।

[४] उदान—उन्नयति यः उद्आनयति वा उदानः।

अर्थात्—जो शरीर को उठाये रहे, कड़क रखे, गिरने

न दे—वह उदान है। ऊर्ध्वगमन की अनेकों प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष क्रियाएँ इसी के द्वारा सम्पन्न होती हैं।

[५] व्यान—व्याप्नोति शरीरं यः स व्यानः।

अर्थात्—जो सम्पूर्ण शरीर में संव्याप्त है—वह व्यान है। रक्त-संचार, श्वास-प्रश्वास, ज्ञान-तन्तु आदि माध्यमों से यह सारे शरीर पर नियन्त्रण रखता है। अन्तर्मन की स्वसंचालित शारीरिक गतिविधियाँ इसी के द्वारा सम्पन्न होती हैं।

उपप्राणों को शरीर क्षेत्र के पाँच भागों में बाँटकर अपने-अपने क्षेत्र पर अधिकार रखने एवं उत्तरदायित्व सँभालने वाला कहा गया है। (१) देवदत्त को मुख मंडल तथा उसके साथ जुड़े हुए नेत्र, कर्ण, जिह्वा, नासिका आदि का प्रहरी कहा गया है (२) वृकल को कण्ठ का अधिकार कहा गया है। गायन, संभाषण आदि क्रियाएँ उसी से होती हैं (३) कूर्म—उदर क्षेत्र के अवयवों की साज-सँभाल रखता है (४) नाग-जननेन्द्रियों का अधिकारी माना गया है। कुण्डलिनी शक्ति, कामवासना, प्रजनन आदि पर इसी का नियंत्रण है (५) धनंजय का कार्य-क्षेत्र जंघाओं से लेकर ऐड़ी तक है। गतिशीलता, स्फूर्ति, अग्रगमन का उत्साह इसी की समुन्नत स्थिति का परिणाम होता है।

प्राण-शक्ति का यथास्थान सन्तुलन बना रहे तो जीवन सत्ता के सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग ठीक काम करेंगे। शरीर स्वस्थ रहेगा, मन प्रसन्न रहेगा और अन्तःकरण में सद्भाव सन्तोष झलकेगा। किन्तु यदि इस क्षेत्र में विसंगति विकृति उत्पन्न होने लगे तो उसकी प्रतिक्रिया आधि-व्याधियों के रूप में—विपत्तियों, विभीषिकाओं के रूप में सामने खड़ी दिखाई देंगी। रक्त दूषित हो जाने पर अनेकों आकार-प्रकार के चर्म रोग, फोड़े-फुन्सी, दर्द, सूजन आदि के विग्रह उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार प्राणतत्व में असन्तुलन उत्पन्न होने पर शारीरिक अवयवों की क्रियाशीलता लड़खड़ाती है। कई प्रकार की व्यथा, बीमारियाँ उपजती हैं। मनः-क्षेत्र में उत्पन्न हुआ प्राण विग्रह—असन्तुलनों, आवेगों, और उन्मादों के रूप में दृष्टिगोचर होता है। भावना क्षेत्र में विकृत हुई प्राणसत्ता मनुष्य को नर-कीटकों के—नर-पिशाचों के घिनौने गर्त में गिरा देती है। पतन के अनेकों आधार प्राणतत्व की विकृति से सम्बन्धित होते हैं। उनके सुधार के लिए सामान्य उपचार कारगर नहीं होते। क्योंकि उनका प्रभाव उथला होता है जब कि समस्या की जड़ें बहुत गहरी—प्राण चेतना में घुसी होती हैं। अनुभूत और परीक्षित उपचार भी जब निष्फल सिद्ध हो रहे हों तो समझना चाहिए कि चेतना की गहरी परतों में विक्षेप घुस गया है। चमड़ी में काँटा चुभा हो तो उसे नाखूनों की पकड़ से दबाकर बाहर निकाला जा सकता है, किन्तु यदि बन्दूक की गोली आँतों में गहरी घुस गई हो तो उसके लिए शल्य-क्रिया का आश्रय लिए बिना और कोई चारा नहीं।

प्राणायाम साधारणतया श्वास-प्रश्वास का एक व्यायाम प्रतीत होता है। स्वास्थ्य सम्वर्धन के क्षेत्र में उसे 'फेंफड़ों की कसरत' के रूप में लिया जाता है। आरोग्य शास्त्री उसका लाभ उसी सीमा में बताते हैं। श्वास प्रणाली की गड़बड़ी अथवा फेंफड़ों की दुर्बलता, रुग्णता का उपचार करने के लिए कई प्रकार की श्वास-प्रश्वास कसरतें प्रचलित हैं। यह सभी प्रयोग अपनाये जाने योग्य और सराहनीय हैं किन्तु उसे बाल कक्षा मात्र ही माना जाना चाहिए। प्राणायाम का प्रयोजन तो निखिल ब्रह्माण्ड में से प्राणतत्व की अभीष्ट मात्रा को आकर्षित करने की तथा उस उपलब्धि को अभीष्ट संस्थानों में पहुँचाने की विशिष्ट कला के रूप में ही समझा जाना चाहिए। साँस को प्राण नहीं कह सकते हैं। साँस के साथ प्राण घुला होना—साँस के सहारे प्राणतत्व को आकर्षित कर सकना एक बात है और मात्र श्वास-प्रश्वास क्रिया करना सर्वथा दूसरी। प्राणायाम में प्रबल सङ्कल्प-शक्ति का समावेश करना पड़ता है। उसी के चुम्बकत्व से व्यापक प्राणतत्व को आकाश से खींच सकने में सफलता मिलती है। फिर उस उपलब्धि को अभीष्ट स्थान पर भेज सकना और मनोवांछित परिणाम प्राप्त करना भी तो प्रबल सङ्कल्प-बल से ही सम्भव है। श्वसन क्रिया के साथ-साथ प्रचण्ड मनोबल का समावेश करने से ही प्राणायाम क्रिया होती है। उसी समन्वय से वे परिणाम मिलते हैं जिनका प्राण-विद्या के अन्तर्गत वर्णन किया गया है।



मनःसंस्थान का समूची जीवन सत्ता पर प्रभाव

मनोमय कोश की साधना मस्तिष्कीय क्षेत्र में घुसे मनोविकारों को—दुष्प्रवृत्तियों को—निरस्त करने के लिए लड़ा जाने वाला महाभारत हो, साथ ही इसमें धर्म राज्य की—राम राज्य की—स्थापना का लक्ष्य संकल्प भी जुड़ा हुआ हो।

इस सन्दर्भ में वैज्ञानिक-अनुशीलन ध्यान देने योग्य हैं। बहुत समय पहले शारीरिक रोगों का कारण, वात-पित्त, कफ, अपच, मलावरोध, ऋतु प्रभाव, विषाणुओं का आक्रमण आदि माना जाता है। नवीनतम शोधें शरीर पर पूरी तरह मनःसत्ता का अधिकार मानती हैं और बताती हैं कि वाह्य कारणों से उत्पन्न हुए रोग तो शरीर की जीवनी शक्ति स्वयं ही अच्छे कर लेती है अथवा मामूली से उपचार से वे अच्छे हो सकते हैं। (जटिल रोग तो आमतौर से मनोविकारों के ही परिणाम होते हैं। उनका निराकरण दवा दारू से नहीं मानसिक परिशोधन से ही सम्भव हो सकता है।

शारीरिक ही नहीं मानसिक रोगों का भी यही प्रधान कारण है। (दुष्कर्म अथवा दुर्बुद्धिग्रस्त—व्यक्ति शारीरिक ही नहीं मानसिक रोगों से भी ग्रसित रहते हैं। उन्माद विस्फोट की स्थिति न आये तो भी असन्तुलन से ग्रस्त व्यक्ति अर्ध विक्षिप्त स्थिति में पड़े रहते हैं। अकारण दुःख पाते और अकारण दुःख देते हैं। इनकी मनःस्थिति कितनी दयनीय होती है यह देखने भर से बड़ा कष्ट होता है। शारीरिक व्यथाओं से पीड़ितों की अपेक्षा मनोरोगों से ग्रस्त लोगों की संख्या ही नहीं पीड़ा भी अधिक है। इन व्याथाओं से छुटकारे का उपाय अस्पतालों में नहीं, मानसिक संशोधन की साधनाओं पर ही अवलम्वित है। वे उपाय, उपचार अन्य प्रकार भी हो सकते हैं, पर अध्यात्म विज्ञान के आधार पर उसे मनोमय कोश से, साधना से अधिक सुविधापूर्वक सम्पन्न किया जा सकता है।

काय-विज्ञान के विद्यार्थी जानते हैं कि मस्तिष्क के साथ जुड़े हुए ज्ञान तन्तु सारे शरीर में फैले हैं। उन्हीं के माध्यम से इस जटिल यन्त्र का संचालन होता है। इन्द्रियों की क्रियाशक्ति, अनुभूतियाँ, सरसताऐं मस्तिष्क में ही आकर खुलती हैं। इन्द्रिय गोलक तो मात्र सूचनाएँ संग्रह करने और उन्हें मस्तिष्कीय केन्द्रों तक पहुँचाने भर का काम करते हैं। कोई मानसिक कष्ट होने पर सारा शरीर शिथिल हो जाता है और क्रियाशक्ति में स्पष्टतः अस्त-व्यस्तता दीखने लगती है। भय, चिन्ता, शोक, निराशा जैसे प्रसंगों पर किसी भी मनुष्य का चेहरा उदास और सारा शरीर शिथिल देखा जा सकता है। क्रोध, अपमान, द्वेष, प्रतिशोध की स्थिति में किस प्रकार अङ्ग-प्रत्यङ्गों में उत्तेजना दीख जाती है, इसे किसी आवेशग्रस्त पर छाये हुए भावोन्माद को देखकर सहज ही देखा, समझा जा सकता है। प्रसन्न और निश्चिन्त रहने वाले स्वस्थ रहते और दीर्घजीवी बनते हैं। इसके विपरीत क्षुब्ध रहने वाले अकारण दुर्बल होते जाते हैं और अकाल मृत्यु से असमय मरते हैं। यह तथ्य स्पष्ट करते हैं कि शरीर संस्थान पर आहार-विहार का, जलवायु का जितना प्रभाव पड़ता है उससे कहीं अधिक भाव-संस्थान का होता है।

शरीर में स्नायुमंडल द्वारा तथा नलिका विहीन ग्रन्थियों द्वारा भावनाएँ क्रियाशील होती हैं। हमारे सम्पूर्ण शरीर में स्नायुओं का जाल बिछा हुआ है। सामान्यतः स्नायु उज्ज्वलवर्णी होते हैं और तार की तरह ठोस होते हैं। हमारी सभी पेशियाँ स्नायुओं के ही आधार पर चलती हैं। प्रत्येक पेशी में पहुँचने वाला मुख्य स्नायु सुतली की तरह मोटा होता है। फिर उसकी शाखा-प्रशाखाएँ अधिकाधिक पतली होती चली जाती हैं। कई प्रशाखाएं तो बारीक सूत जैसी पतली होती हैं।

सम्पूर्ण स्नायुमण्डल के दो भाग हैं—(१) ऐच्छिक (२) अनैच्छिक। चलने-फिरने, झुकने-मुड़ने, वस्तुएँ उठाने, रखने आदि की क्रियाओं में हम अपने हाथ-पैर आदि को इच्छानुसार हिलाते हैं। यह ऐच्छिक स्नायुओं के ही कारण हैं। अनैच्छिक स्नायुओं पर हमारा ऐसा अधिकार नहीं होता। वे शरीर की आन्तरिक क्रियाएँ

सम्पादित करते हैं। जैसे हृदय की धड़कनें, साँसों का आना-जाना आदि।

अनैच्छिक स्नायुमंडल का केन्द्र मस्तिष्क का एक लघु अंश हाइपोथेलामस होता है। यही 'हाइपोथेलामस' नारी व पौरुष ग्रन्थियों को भी नियन्त्रित करता है। साथ ही 'मोनोएमीन आक्सीडेज' नामक किण्वज (एन्जाइम) भी सम्पूर्ण-शरीर में विकीर्ण होते हुए भी केन्द्रीय स्नायविक प्रणाली में विशेष रूप से जमा रहता है। 'हाइपोथेलामस' द्वारा पिट्यूटरी ग्रन्थि भी उत्तेजित होती है और उससे विभिन्न हार्मोन्स निकलते हैं जो भावनाओं का परिणाम भी होते हैं और नई भावनाओं का कारण भी। किसी नई परिस्थिति के उपस्थित होने पर नलिकाविहीन ग्रन्थियों पर दबाव पड़ता है और वे विभिन्न हारमोनों को स्रवित करती हैं। इन हारमोनों की शरीर में प्रतिक्रिया होती है और यह प्रतिक्रिया उसी के अनुरूप भावना-समूहों को जन्म देती है। जैसे किसी रोग के कीटाणुओं के संक्रमण-दबाव से पिट्यूटरी ग्रन्थि ने कोई हारमोन छोड़ा, इससे शरीर में तेज हलचल मच गई, व्यक्ति को अस्वस्थता महसूस होने लगी और वह खाट पर पड़ गया। अब बीमारी की दशा में तरह-तरह की भावनाएँ जो अचेतन मन में दबी थीं, उभरने लगीं। उनके परिणाम-स्वरूप अनेक प्रकार की शारीरिक प्रतिक्रियाएँ भी पैदा होने लगती हैं।

मनोमय कोश का निवास मस्तिष्क में बताये जाने का अर्थ केवल इतना ही है कि उसका केन्द्रीय कार्यालय वहीं है। उसके सूक्ष्म अवयव उसकी शाखा—प्रशाखाएँ तो सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त-विस्तृत हैं। मस्तिष्क के जीवाणु अन्य जीवाणुओं से अधिक समझदार और अधिक अनुभवी होते हैं, इसीलिए वे शेष जीवाणुओं के अगुआ-नेता कहे जाते हैं। वे जिस दिशा में चलते हैं, शेष जीवाणु भी उसी दिशा धारा में बहने लगते हैं। सम्पूर्ण सूक्ष्म शरीर को स्वस्थ, प्रसन्न, उल्लसित, प्रगतिशील बनाये रखने के लिए मस्तिष्कीय-स्थिति वैसी होनी जरूरी है। नेता ही निराश-हताश, कुण्ठित-त्रस्त हुआ, तो प्रगति की क्या आशा की जा सकती है। नेता का संवेग समस्त अनुयायियों को प्रभावित करता है।

वियना के मनोचिकित्सक डा० फैंकल का मत है कि मानसिक-धरातल ही शारीरिक स्वास्थ्य का आधार है। मानसिक असन्तुलन का कारण जीवन की सार्थकता को न समझना है। इसीलिए उन्होंने 'लौगोथेरेपी' या 'अर्थ-बोधचिकित्सा' नामकी चिकित्सा पद्धति विकसित की है। डा० फैंकल की मान्यता है कि जिस व्यक्ति को अपने जीवन और कार्य की सार्थकता का बोध नहीं हो, वह स्वस्थ नहीं रह सकता। मनुष्य जीवन के लक्ष्य और उनकी सिद्धि ही आनन्द का आधार है। डा० फैंकल की चिकित्सा पद्धति में रोगी से प्रिय-अप्रिय सभी विषयों पर चर्चा कर, उसे जीवन की सार्थकता की तलाश की प्रेरणा दी जाती है। व्यक्ति को जैसे ही जीवन में सार्थकता की अनुभूति हो उठती है, वह अपने भीतर निहित शक्तियों का स्मरण कर आत्मविश्वास से भर उठता है और धीरे-धीरे स्वस्थ होने लगता है। मनःक्षेत्र की स्वस्थता उसके स्थूल शरीर को भी स्वस्थ बना देती है।

सूक्ष्म शरीर की हलचलों का स्थूल शरीर पर स्पष्ट एवं निश्चित परिणाम होता है। तन्त्रकीय रोगों का कारण दबे हुए गन्दे विचार ही होते । शरीर-शास्त्रियों का भी मत है कि मात्र मानसिक- चित्रों के आधार पर ही अनेक शारीरिक बीमारियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। "इन्फ्लुएन्स आफ द माइन्ड अपान द बॉडी" नामक पुस्तक के लेखक डा० टुके ने लिखा है—"विक्षिप्तता, मूढ़ता, अङ्गों का निकम्मा हो जाना, पित्त, पाण्डुरोग, केश-पतन, रक्ताल्पता, घबराहट, मूत्राशय के रोग, गर्भाशय में पड़े बच्चे का अङ्गभङ्ग हो जाना, चर्मरोग, फुन्सियाँ, फोड़े, एग्जिमा आदि अनेक स्वास्थ्यनाशक रोग मात्र मानसिक क्षोभ तथा भावनात्मक उद्देलन के परिणाम होते हैं।" मानसिक क्षोभ, भावनात्मक उद्देलन, निषेधात्मक चिन्तन, सूक्ष्म शरीर की विकृतियाँ हैं, जिनका स्थूल शरीर पर स्पष्ट प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार परिष्कृत दृष्टिकोण स्वस्थ-उदात्त चिन्तन, आदर्शवादी विचार-धारा सूक्ष्म-शरीर को तेजस्वी प्रखर बनाती है और उसका श्रेष्ठ प्रभाव स्थूल शरीर पर भी स्पष्ट देखा जा सकता है।

विवेयात्मक विचारों की, ऊर्ध्वमुखी चिन्तन की आश्चर्यजनक महत्ता के प्रतिपादन में डा० वैनेट ने स्वयं को ही प्रस्तुत किया है। ५० वर्ष की आयु तक डा० वैनेट निराशा और अवांछनीय चिन्तन के कारण अपना स्वास्थ्य पूरी तरह गँवा बैठे। उन्हें जब ऊर्ध्वगामी चिन्तन की इस असीम उपादेयता का पता चला तो उन्होंने अपना जीवन क्रम ही बदल डाला। मन की जड़ता और विषय-विकारों का जुआ उनने उतार फेंका, हृदय को श्रद्धा आस्था से भरा, सदैव प्रसन्न प्रफुल्ल रहने की आदत बनाली। २० वर्षों के अपने इस जीवन को स्वर्गीय सुख से ओत-प्रोत बनाते हुए डा० वैनेट ने अपनी ५० वर्षीय फोटो तथा ७० वर्षीय फोटो भी इस पुस्तक में छापी है। पहली में उनका चेहरा झुर्रियों से पिचके गाल, धँसी आँखों के कारण मनहूस दिखाई देता है जबकि ७० वर्ष की आयु में वे स्वस्थ सशक्त दिखाई देते हैं, झुर्रियाँ न जाने कहाँ चली गईं, चेहरे में उद्दीप्ति है और युवकों जैसी सक्रियता।

अब तक किये गये ऐसे ही विविध आधुनिक प्रयोगों से यह स्पष्ट हो गया है कि मन का, मस्तिष्क का कष्ट प्रत्येक जीवाणु को कष्ट में डाल देता है। घृणा, ईर्ष्या,क्रोध, का अनिष्ट प्रभाव समस्त जीवाणुओं में तुरन्त दौड़ जाता है, झलक उठता है। मस्तिष्क में प्रसन्नता का भाव आते ही प्रत्येक जीवाणु प्रसन्न-पुलकित हो उठता है। ये सभी जीवाणु परस्पर गहन आत्मीयता और अभिन्नता का भाव रखते हैं। प्रत्येक जीवाणु की दशा से सभी प्रभावित होते हैं—इनका सुख-दुःख मिला-जुला ही होता है। इनका पारस्परिक सौहार्द्र-सद्भाव अनूठा है। सच्ची मैत्री, प्रगाढ़ आत्मीयता समानुभूति के ये अनूठे उदाहरण हैं। कल्पना करें कि एक व्यक्ति को तेज भूख लगी है। सुस्वादु भोजन का थाल सामने है। उसी समय किसी प्रियजन की मृत्यु का तार मिलता है। उसे पढ़ते ही मस्तिष्क में उस प्रियजन की संचित स्मृति सहसा जागृत हो उठती है। मन में आत्मीय सम्वेदना उमड़ पड़ती है। मस्तिष्क के जीवाणुओं में हलचल, उथल-पुथल मच जाती है। मस्तिष्क के जीवाणुओं की इस प्रतिक्रिया का तत्काल सम्पूर्ण शरीर के जीवाणुओं पर प्रभाव पड़ता है। जीभ सूखने लगती है। भूख बढ़ाने वाले जीवाणु जो उछल-कूद मचा रहे थे, चीख-चीखकर भोजन की माँग कर रहे थे, सहमकर शान्त, निष्क्रिय, दुबके-से बैठ जाते हैं। हृदय और दूसरे अङ्ग भी निष्प्राण से हो चलते हैं। दिल-डूबने लगता है, आँखों के सामने अन्धेरा छा जाता है, शरीर निढाल हो जाता है। समस्त अङ्गों पर यह प्रभाव पड़ता है। स्पष्ट है कि मस्तिष्कीय जीवाणुओं की भावदशा का तत्काल प्रभाव सम्पूर्ण शरीरस्थ जीवाणु-समूहों पर पड़ता है।

'ओल्ड एज: इट्स काज एन्ड प्रिवेन्शन' नामक पुस्तक में उसके रचियता सुप्रसिद्ध अमरीकी वैज्ञानिक तथा लेखक डा० वैनेट ने एक बहुत ही मनोरंजक किन्तु शिक्षाप्रद घटना दी है। एक १६ वर्षीय फ्रान्सीसी युवती ने एक अमेरिकन नव-युवक से विवाह का निश्चय किया। युवक निर्धन था सो तय यह हुआ कि पहले वह अमेरिका जाकर धन कमायेगा और लौटकर शादी करेगा। युवक ने ३ वर्ष में पर्याप्त धन कमा लिया, पर दुर्भाग्य से कोई मुकदमा लग जाने के कारण वह १५ वर्ष तक फ्रान्स नहीं लौट सका। १५ वर्ष बाद जब वह वापस लौटा तो यह देखकर आश्चर्यचकित रह गया कि उसकी मंगेतर का स्वास्थ्य, सौन्दर्य बिलकुल वैसा ही है जैसा वह १६ वर्ष पूर्व था। ३४ वर्ष की अधेड़ हो जाने पर भी उसमें १६ वर्षीय नव-युवती के गुण विद्यमान थे।

घटना का विवेचन करते हुये वैनेट महोदय लिखते हैं—प्रकृति ने मनुष्य शरीर की संचालन प्रक्रिया इस प्रकार रखी है कि शरीर का प्रत्येक कोश (सैल) ८० दिन पीछे पुराना होकर मैल के रूप में उसी प्रकार बाहर निकल जाता है, जिस प्रकार समुद्री लहरों में निरन्तर ज्वार-भाटे से समुद्र की गन्दगी तटों पर जमा होती रहती है। कोश-परिवर्तन की यह प्रक्रिया आयु बढ़ने के साथ क्षीण होती रहती है, उसी का नाम वृद्धावस्था है—किन्तु इस घटना ने इस प्राकृतिक व्यवस्था को ही उलट दिया, ऐसा क्यों ?

इसका उत्तर युवती के मुँह से दिलवाते हुये श्री वैनेट लिखते हैं कि—"मैं प्रतिदिन प्रातःकाल एक आदमकद शीशे के सम्मुख खड़ी होकर अपना चेहरा देखती और

मन ही मन अनुभव करती कि मैं ठीक वैसी ही हूँ जैसी कल थी। दिन के परिवर्तन ने मेरे शरीर में कोई प्रभाव नहीं डाला इच्छा शक्ति की यह दृढ़ता मुझे दिन भर पुलकित और प्रसन्न बनाये रखती। उसी का फल है जो मैं जैसी १५ वर्ष पूर्व थी वैसी ही आज भी हूँ।" सूक्ष्म शरीर के शोधन की—विचारों को ऊँचा उठाने की—सङ्कल्प की महत्ता उन्होंने अमरीका के अध्यात्म परायण व्यक्ति डा० मारडन की पुस्तक "लौहे इच्छा शक्ति" (ऐन आइरन विल) से समझी। जिसमें बताया गया है—"मनुष्य अपने विचार नये करले, चरित्र को ऊँचा उठाले तो अपना शरीर ही बदल सकता है।" यह स्वाध्याय उनके लिये तो औषधि बना ही, सैकड़ों को नया जीवन देने वाला है। प्रेम, मैत्री, दया, करुणा और परोपकारी विचारों को धारण कर कोई भी इसका प्रत्यक्ष लाभ ले सकता है।

खोपड़ी के ऊपर या नीचे की रक्तवाहिनियों की पेशियाँ भावनाओं के अनुसार फैलती-सिकुड़ती व तीव्र सम्वेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ करती हैं।

अस्वस्थ भावनाएँ विभिन्न शारीरिक रोगों का कारण बनती हैं। सामान्य सिर दर्द से लेकर "माईग्रेन" नामक कठिन सिर दर्द भावनात्मक तनाव से होता है। इस तनाव से खोपड़ी की रक्तवाहिनियाँ सिकुड़ती हैं और इससे सिर दर्द शुरू हो जाता है। आज तो यह पाया जाता है कि सिर दर्द की सौ घटनाओं में से पचासी का कारण भावनात्मक तनाव होता है।

भावना-क्षोभ के कारण पेशियों में उत्पन्न तनाव के कारण कई बार लोग भोजन के बाद ऐसा अनुभव करते हैं कि कलेजे पर बोझ आ पड़ा है और भोजन नीचे सरक ही नहीं रहा है। अधिक तनाव होने पर उबकाई आने लगती हैं, जी मिचलाने लगता है।

भावनात्मक तनाव से उत्पन्न स्नायु—रोगों में डकारें आना, पेट में ऐंठन होना, विभिन्न वायु-विकार अनेक त्वचा-विकार, एग्जिमा, खुजली आदि होते हैं।

कमर-दर्द के बारे में अब ऐसा ज्ञात हुआ है कि अधिकांश मामलों में इसका कारण भावनात्मक तनाव ही होता है।

यह जान लेने पर कि भावनात्मक तनावों एवं विकृतियों से ही अधिकांश रोग पैदा होते हैं, यह प्रश्न अनेकों को कचोटता है कि भावनाओं पर नियन्त्रण कैसे हो ? इसका एक ही सरल मार्ग है—समझदारी भरे दृष्टिकोण का नित्य-प्रति के जीवन में अभ्यास। बिना अभ्यास के यह दृष्टिकोण व्यावहारिक जीवन में नहीं उतरता। जिन्दगी को बोझ न मानते हुए, खेल-भावना से जीना, अभ्यास द्वारा ही सम्भव है। अपनी सीमाओं को पहचानना, शक्ति के सर्वोत्तम उपयोग की व्यवस्था करना, 'मैं—मैं' की चीख—पुकार से मुक्त होकर अपने दायित्वों को समझना और निभाना, तथा सृजनात्मक वृत्तियों का जीवन में निरन्तर विकास करना ही एकमेव राजमार्ग है।

सामान्यतः कठोरता, क्रोध, बात-बात में लड़ बैठने आदि को हम भ्रान्तिवश शक्ति का पर्याय मान बैठते हैं, जबकि मनोवैज्ञानिक इस सबको 'बचकानी हरकतें' मानते हैं। ये दुर्बलता के प्रतीक हैं। शक्तिशाली व्यक्ति विनम्र एवं दृढ़ होता है। क्रोध और झगड़ालूपन तो शक्तिहीनता की उपज है। सादगी-संयम का अभ्यास ही शक्ति का स्रोत है। किन्तु अपनी दुर्बलताओं पर व्यर्थ की खीझ भी लाभकर न होगी। धीरे-धीरे ही कुसंस्कार चित्त तल पर जमते हैं और धीरे-धीरे ही उनका उन्मूलन सम्भव है। सतत् अभ्यास ही सर्वोत्तम उपचार है। इस बात को सदा ध्यान में रखा जाय कि मन की कुटिलता और अनैतिक कर्म ही रोग का आधार हैं, तथा मन की शुचिता, स्नेह, करुणा और व्यापक मानवीय प्रेम द्वारा इन रोगों को मिटा सकना सरलता से सम्भव है।

मस्तिष्क की धुलाई-सफाई वैज्ञानिक उपकरणों से भी सम्भव हो सकती है। फिर अध्यात्म साधना के उपचार तो उससे अधिक ही सशक्त समर्थ होते हैं। उनका प्रभाव तो और भी अधिक होना चाहिए।

ऐलेक्ट्रिकल स्टीम्यूलेशन आफब्रेन (ई० एस० बी०) पद्धति के अनुसार कई एशियन विश्वविद्यालयों ने आंशिक रूप से मस्तिष्क की धुलाई (ब्रेन वासिंग) में सफलता प्राप्त करली है। अभी यह बन्दर, कुत्ते, बिल्ली, खरगोश, चूहे जैसे छोटे स्तर के जीवों पर ही प्रयोग किये गये हैं। आहार की रुचि, शत्रुता, मित्रता, भय, आक्रमण आदि

के सामान्य स्वभाव को जिस प्रकार चरितार्थ किया जाना चाहिए उसे वे बिलकुल भूल जाते हैं और विचित्र प्रकार का आचरण करते हैं। बिल्ली के सामने चूहा छोड़ा गया तो वह आक्रमण करना तो दूर उससे डरकर एक कोने में जा छिपी। क्षणभर में एक-दूसरे पर खूनी आक्रमण करना, एक आध मिनट बाद परस्पर लिपट कर प्यार करना यह परिवर्तन उस विद्युत क्रिया से होता है जो उनके मस्तिष्कीय कोषों के साथ सम्बद्ध रहती है। यही बात मनुष्यों पर भी लागू हो सकती है। मानव मस्तिष्क अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत होता है उसमें प्रतिरोधक शक्ति भी अधिक होती है इसलिए उसमें हेर-फेर करने के लिए प्रयास भी कुछ अधिक करने पड़ेंगे और पूर्ण सफलता प्राप्त करने में देरी भी लगेगी, पर जो सिद्धान्त स्पष्ट हो गये हैं, उनके आधार पर यह निश्चित हो गया है कि मनुष्य को भी जैसा चाहे सोचने, मान्यता बनाने और गतिविधियाँ अपनाने के लिए विवश किया जा सकता है।

मनोमय कोश की साधना मस्तिष्कीय क्षेत्र की धुलाई-सफाई ही नहीं करती, वरन् उसे समुन्नत सुसज्जित एवं सुसंस्कृत बनाने का काम भी बहुत हद तक पूरा कर सकती है।

मनोमय कोश शरीर और मस्तिष्क के समूचे क्षेत्र को अपने अंचल में समेटे हुए हैं। वह इन दोनों क्षेत्रों को प्रभावित करता है। अन्तःकरण के अस्त-व्यस्त और विकृत स्थिति में बने रहने पर उसकी प्रतिक्रिया शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य पर विनाशकारी प्रभाव डालती है। व्यक्तित्व लड़खड़ा जाने पर दृष्टिकोण और व्यवहार दोनों ही गड़बड़ाते हैं। फलतः गतिविधियाँ अवांछनीयता से भर जाती हैं। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में विपत्तियाँ ही उत्पन्न होंगी। अवरोध ही खड़े होंगे। कलह और सङ्कट आक्रमण करेंगे। समूचा जीवन ही नरक बन जायगा। इस नारकीय यन्त्रणा से छुटकारा कोई और नहीं दिला सकता। क्योंकि इस विपत्ति का दोष भले ही किसी पर थोपा जा सके उसका कारण अपना आपा ही होता है। मनःस्थिति के अनुरूप परिस्थिति बनने का तथ्य इतना स्पष्ट है कि उसे झुठलाये जाने की कहीं कोई गुंजायश नहीं है। अपने आप में परिवर्तन किये बिना हम इस नरक से अन्य किसी तरह उबर नहीं सकते। जीवन-क्रम उत्पन्न विविध-विधि अवरोधों से छुटकारा पाये बिना हमारा उद्धार हो नहीं सकता। समस्याओं और विपन्नताओं से त्राण मिल नहीं सकता।

समृद्धि, प्रगति और सुख-शान्ति की समस्त सम्भावनाएँ बीज रूप में अपने ही भीतर भरी पड़ी हैं। सत्प्रवृत्तियों की देवी और सद्भावनाओं के देवता ही हमें दिव्य वरदानों से सुसम्पन्न बनाते हैं। अन्तरङ्ग की विभूतियाँ ही बहिरंग की सिद्धियाँ बन कर सामने आती हैं। आत्म-शोधन और आत्म परिष्कार जीवन का सबसे बड़ा पुरुषार्थ माना गया है। इसे प्रत्यक्ष कल्प-वृक्ष की उपमा दी जा सकती है।

मनोमय कोश का विज्ञान और साधन हमारी मानसिक स्थिति के परिष्कार का ऋषि प्रणीत उपाय है। इस दिशा में कदम बढ़ाने पर हम हर दृष्टि से लाभान्वित ही होते हैं।

—:ॐ:—

गुरौ मनुष्यबुद्धिं च मन्त्रे चाक्षरवाचितम्। प्रतिमासु शिलाबुद्धिं कुर्वाणो नरकं व्रजेत्॥

गुरू में मनुष्य, मंत्र में अक्षर और प्रतिमा में प्रसार-बुद्धि रखने वाला नरक गामी होता है।

अशुचिर्वा शुचिर्वापि गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन्नपि। मन्त्रैकशरणो विद्वान् मनसैवं समभ्यसेत्॥
न दोषो मानसे जापे सर्वदेशेऽपि सर्वदा। जपनिष्ठो द्विजश्रेष्ठोऽखिलं यज्ञफलं लभेत्॥

जो विद्वान् निरन्तर मन्त्रों के जप करने का व्रत ग्रहण कर चुके हैं, उनके लिए सोते-जागते चलते-फिरते पवित्र तथा अपवित्र किसी अवस्था में, किसी देश या काल में मानसिक जप करने में दोष नहीं है, वे अपने मानसिक जप का अभ्यास चालू रख सकते हैं। इस प्रकार निरन्तर जप परायण श्रेष्ठ द्विज समस्त यज्ञों के फल के भागी होते हैं।

मनोमय कोश- मस्तिष्कीय परिष्कार

मनोमय कोश का साधना में एकाग्रता की शक्ति का सम्पादन एवं अभिवर्धन प्रमुख है। सर्वविदित है कि बिखराव से समर्थता भी छिन्न-भिन्न हो जाती है। असङ्गठित होने पर समर्थ लोग भी कुछ कर नहीं पाते, जब कि थोड़े से छोटे लोग मिलकर भी बड़े-बड़े कार्य पूरे कर लेते हैं। यही बात मनःशक्ति के सम्बन्ध में भी है वह बिखरी रहे तो मस्तिष्क यन्त्र के पूर्ण समर्थ होते हुए भी उसकी क्षमता गये-गुजरे स्तर पर पड़ी रहेगी और वह बौद्धिक दुर्बलता के साथ-साथ प्रगति के हर क्षेत्र में पिछड़ा हुआ ही बना रहेगा।

ध्यान-योग में एकाग्रता की शक्ति को ही विकसित किया जाता है। इसके कई लाभ हैं। बिखराव दूर करके यदि चिन्तन एवं संकल्प को एकत्रित करने की कला सीख ली जाय और उसे मनःसंस्थान में अवस्थित विभिन्न क्षमता केन्द्रों पर इकट्ठा कर लिया जाय, तो वे संस्थान जागृत होंगे और जो विशेषताएँ अपने भीतर पहले नहीं थी वे समुन्नत होने लगेंगी। इस आधार पर स्मरण शक्ति जैसी कितनी ही क्षमताएँ विकसित की जा सकती हैं।

आतिशी शीशे के माध्यम से कुछ इन्च के घेरे में फैली हुई सूर्य किरणों को यदि एक बिन्दु पर केन्द्रित किया जा सके तो उतने भर से तत्काल अग्नि प्रज्वलित हो जायगी। उसका उपयोग करके विकराल दावानल उत्पन्न किया जा सकता है। मनुष्य की शारीरिक श्रम शक्ति और मानसिक चिन्तन शक्ति की अस्त-व्यस्तता ही उसे गई-गुजरी स्थिति में डाले रखने के लिए जिम्मेदार है। यदि इन क्षमताओं का सदुपयोग सम्भव हो सके तो उसका सत्परिणाम देखते ही बनेगा। सांसारिक जीवन में अनायास ही आकस्मिक सफलताएँ तो कदाचित ही किसी को मिलती होंगी। सामान्यतया हर प्रगतिशील व्यक्ति को अपनी क्षमताओं को बिखराव से रोककर अभीष्ट लक्ष्य के लिए नियोजित करना पड़ता है, प्रगति की सम्भावना का मार्ग इसी उपाय से प्रशस्त होता है। जो अपने श्रम, समय को—चिन्तन, मनोयोग को—दिशा धारा को किसी लक्ष्य विशेष पर नियोजित न कर सके, तो वे सुयोग्य एवं साधन सम्पन्न होने पर भी कुछ कहने लायक सफलता प्राप्त न कर सकेंगे। इसके विपरीत स्वल्प बुद्धि और स्वल्प साधन होते हुए भी कितने ही व्यक्ति उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँचते देखे गये हैं। सफलताओं में से अधिकांश का श्रेय कर्ता की तत्परता एवं तन्मयता पर ही निर्भर रहता है। इसी को एकाग्रता भी कहते हैं।

चूल्हे पर पानी गरम करते समय ढेरों भाप ऐसे ही उड़ती रहती है। पर यदि दो छटाँक पानी की भाप प्रेशर कुकर में ठीक ढङ्ग से प्रयुक्त की जाय तो उतने भर से कई आदमियों का भोजन तुर्त-फुर्त पक सकता है। यदि उतने पानी में गर्मी बढ़ती रहे और भाप को निकलने का अवसर न मिले तो कुकर फट सकता है और एक छोटा बम फटने जैसा उपद्रव खड़ा हो अकता है। भाप का बिखराव निरन्तर होता रहता है, पर उसका संग्रह निरोध चमत्कारी परिणाम उत्पन्न करता है। रेलगाड़ी के इन्जन में बनने वाली थोड़ी-सी भाप कितना बड़ा काम करती है जब कि जहाँ-तहाँ फैले पानी की ढेरों भाप ऐसे ही हवा में उड़ती और निरर्थक नष्ट होती रहती है।

सेरों बारूद जमीन पर फैलाकर आग लगादी जाय तो उससे थोड़ी-सी लपट भर उठेगी—जरा-सी रोशनी भर चमकेगी किन्तु यदि उसमें से तनिक सी मात्रा बन्दूक की नली में बन्द करके चलाई जाय तो वह किसी मोटे आवरण को चीरती हुई पार जा सकती है। बाँध में पानी भरा रहता है, पर उसमें एक छोटा छेद करके उसे नीचे गिराया जाय तो उतने से दबाव के कारण बिजली घर बनने—जैसे बड़े काम हो सकते हैं। ऊपर से गिरने वाले झरनों से पनचक्कियाँ तथा दूसरी मशीनें चल सकती हैं। बिखराव को रोकने और उसे केन्द्रीकरण की दिशा में मोड़ने से कितने चमत्कारी परिणाम उत्पन्न हो सकते हैं इसे सहज ही कभी भी देखा जा सकता है। मोटी छड़

ठूँसने से उतनी आसानी से गहरा छेद नहीं हो सकता जितना कि उसमें पैनी नोंक निकाल लेने पर हो सकता है। नोंक में यही विशेषता है कि एक छोटे से आधार पर दवाव की अधिक शक्ति केन्द्रीभूत होती है। सुई से लेकर छेद करने के वरमे तक इसी सिद्धान्त पर वने हैं कि दवाव को पतली नोंक पर केन्द्रित करने से उसकी शक्ति विखराव की तुलना में अनेक गुनी वढ़ जाती है।

आमतौर से जीवन की असंख्य घटनाएँ विस्मृति के गर्त में चली जाती हैं, पर कभी-कभी कोई मन में चुभने वाले प्रसङ्ग ऐसे होते हैं जो आजीवन स्मरण बने रहते हैं। कारण एक ही कि उस घटना को गम्भीरतापूर्वक लिया गया। उस पर मस्तिष्क का सारा ध्यान केन्द्रित हो गया। भुलक्कड़पन में मस्तिष्क की कमजोरी प्रधान कारण नहीं होती, वरन् उपेक्षापूर्वक पढ़ने की अन्य-मनस्कता ही निमित्त होती है। यदि किसी विषय को वारीकी से—दिलचस्पी से—सावधानी के साथ पढ़ा जाय तो वह सहज ही विस्मरण न होगा। स्मरण शक्ति की कमी की शिकायतों पर यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो उसके पीछे उदासीनता—उपेक्षा एवं अन्यमनस्कता का दोष ही उभरा हुआ दिखाई देगा।

कछुए और खरगोश की प्रतिस्पर्धा में कछुए का वाजी जीत लेना इसी कारण सम्भव हुआ कि वह एक निष्ठ-भाव से अपनी राह चलता रहा जब कि खरगोश अधिक समर्थ होते हुए भी अस्त-व्यस्त, उछल-कूद करते रहने के कारण लक्ष्य स्थान तक पीछे पहुँचा और वाजी हार गया। नित्य एक घण्टा विदेशी भाषाएँ सीखने में लगाते रहने के कारण विनोवाभावे तेईस भाषाओं के विद्वान वन सके। जब कि हमारा घण्टों का समय अस्त-व्यस्तता में ऐसे ही नष्ट होता रहता है और उसका कुछ भी लाभ मिल सकना सम्भव नहीं होता।

प्रवीणता, पारंगतता, सफलता जैसी अनेकों उत्साह-वर्धक विभूतियाँ वस्तुतः एकाग्रता की ही उपलब्धियाँ होती हैं। रुचिपूर्वक, उत्साहपूर्वक, मनोयोगपूर्वक, निष्ठा-पूर्वक जो भी काम करते रहा जायगा उसमें स्वभावतः प्रवीणता उत्पन्न होती चली जायगी। योग्यता और क्षमता सभी में लगभग एक जैसे स्तर की होती है। अन्तर थोड़ा-सा ही रहता है, उसे प्रयत्नपूर्वक दूर किया जा सकता है। असफलताओं का और कोई कारण उतना नहीं होता जितना कि अनुत्साह। उपेक्षापूर्वक आधे-अधूरे मन से किये गये कामों का परिणाम असफलता के रूप में ही सामने आवेगा।

कभी-कभी किन्हीं विशेष व्यक्तियों में विलक्षण मान-सिक विशेषताएँ पाई जाती हैं। किन्हीं की स्मरण शक्ति इतनी विकसित होती है कि सामान्य लोगों के साथ उसकी तुलना करने पर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। किन्हीं में कला-कौशल की इतनी पारंगतता आरम्भिक जीवन में ही पाई जाती है जिनके कारण वे एक आश्चर्य की तरह दर्शनीय और ख्याति प्राप्त वनते हैं।

इन अद्भुत घटनाओं के मूल में रहस्य इतना ही होता है कि उनका मानसिक विखराव संयोगवश एकाग्र वन गया होता है। संयोग भी एक नियम विशेष के आधार पर वनते हैं। पूर्व जन्मों की उपलब्धियाँ ही ऐसे कारणों में प्रधान भूमिका निभा रही होती हैं। मनुष्य पिछले जन्म के असंख्य संस्कार अपने साथ लेकर आता है। उन्हीं में एक मस्तिष्कीय विकास का होना भी एक हो सकता है।

मस्तिष्कीय विकास, मात्र उस शिक्षण पर निर्भर नहीं, जो स्कूलों में या समीपवर्ती लोगों से मिलता है। वह जानकारी बढ़ाना मात्र है। वलिष्ठ मस्तिष्कों की विद्युत शक्ति का प्रवाह यदि दुर्वल मस्तिष्कों की ओर मुड़ जाय तो उनकी तीक्ष्णता में भारी परिवर्तन हो सकता है और उसका परिचय विशेष प्रोटीनों की मात्रा की वृद्धि के रूप में सहज ही देखा जा सकता है। मस्तिष्कीय पोषण के लिए सुविकसित चेतना सम्पन्न मनस्वी लोगों का सान्निध्य अत्यन्त उपयोगी है उनकी वढ़ी-चढ़ी प्राण शक्ति दुर्वल मनःचेतना की अभाव पूर्ति कर सकती है। प्रयोग-शालाओं में मामूली विजली को कुछ विशेष कोष्ठकों में पहुँचा कर प्राणियों की प्रकृति कुछ समय के लिए वदलना सम्भव हो सकता है। प्रतिभाशाली लोगों का प्राण—दुर्वल मनःस्थिति को वदलने में स्थायी उपचार का प्रयोजन पूरा कर सकता है।

येल निवासी मस्तिष्क विज्ञानी डा० जोजे डेलगाडो ने अपने प्रयोगों से यह सिद्ध कर दिया है कि मस्तिष्क में

बाहर से बिजली पहुँचा कर उसका कार्य केन्द्रों को उद्दीप्त एवं प्रसुप्त किया जा सकता है। तदनुसार उस प्राणी को इच्छित कार्य कराने और आज्ञा पालन के लिए विवश किया जा सकता है।

डा० जोजे ने अपने प्रयोगों की सार्वजनिक प्रदर्शनी करके दर्शकों को आश्चर्यचकित कर दिया। उनके हाथ में एक विद्युत संचालक था और कुछ प्राणियों की खोपड़ी पर अमुक स्थान एवं अमुक संख्या में इलैक्ट्रोड लगा रखे गये थे। इस प्रकार यन्त्र और प्राणी के बीच रेडियो सम्पर्क स्थापित हुआ। प्रेरित सूचनाओं के अनुसार प्राणी ऐसे काम करने लगे जो उनकी सामान्य प्रवृत्ति के विपरीत थे। नम्र प्राणी उद्धत हो उठे और उद्धत प्रकृति वाले पूर्ण शान्त होकर एक कोने में जा बैठे। साँड़, बन्दर, कुत्ते, चूहे, बिल्ली आदि प्राणियों ने इस विद्युत संचार प्रणाली से प्रभावित होकर वे काम किये जिसकी आशा प्रदर्शन में उपस्थित जनता ने कभी भी नहीं की थी।

मनुष्यों पर भी यह प्रयोग किये गये हैं और उनकी इच्छा शक्ति, ज्ञान शक्ति एवं क्रिया शक्ति पर नियन्त्रण करके अमुक प्रकार से सोचने और अमुक प्रकार के काम करने को उन्हें विवश कर दिया गया है।

स्मरण शक्ति की विलक्षणता कई व्यक्तियों में इतनी अधिक मात्रा में विकसित पाई जाती है कि आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। लिथुयानिया का रैबी एलिजा दो हजार पुस्तकें कण्ठाग्र रखने के लिए प्रसिद्ध था। कितनी ही बार उलट-पुलट कर उसकी परीक्षा की गई और वह सदा खरा उतरा। फ्रांस का राजनेता लिआन गैम्वाटा को विक्टर ह्यूगो की रचनाएँ बहुत पसन्द थीं। उनमें से उसने हजारों सन्दर्भ के पृष्ठ याद कर रक्खे थे और उन्हें आवश्यकतानुसार धड़ल्ले के साथ घण्टों दुहराता रहता था। इसमें एक भी शब्द आगे-पीछे नहीं होता था। पृष्ठ संख्या तक वह सही-सही बताता चलता था।

ग्रीक विद्वान् रिचार्ड पोरसन को भी पढ़ी हुई पुस्तकें महीनों याद रहती थीं। जो उनने आज पढ़ा है उसे एक महीने तक कभी भी पूछा जा सकता था और वे उसे ऐसे सुनाते थे मानो अभी-अभी रट कर आये हों। शतरंज का जादूगर नाम से प्रख्यात अमेरिकी नागरिक हैरी नेलसन पिल्सबरी एक साथ बीस शतरंज खिलाड़ियों की चाल को स्मरण रखकर उनका मार्ग-दर्शन करता था। यह सब काम पूरी मुस्तैदी और फुर्ती से चलता था, बीसों खिलाड़ी उसका मार्ग-दर्शन पाते और खेल की तेजी बनाये रखते थे। प्रसा जर्मनी का लायब्रेरियन मैथुरिन वेसिरे दूसरों के कहे शब्दों की हू-बहू पुनरावृत्ति कर देता था। जिन भाषाओं का उसे ज्ञान नहीं था उनमें वार्तालाप करने वालों की बिना चूक नकल उतार देने की उसे अद्भुत शक्ति थी। एक बार बारह भाषा-भाषी लोगों ने अपनी बोली में साथियों से वार्तालाप किये। मथुरिन ने क्रमशः बारहों के वार्तालाप को यथावत् दुहरा कर सुना दिया। बरमान्ष का आठ वर्षीय बालक जेरा कोलबर्न गणित के अति कठिन प्रश्न को बिना कागज-कलम का सहारा लिए मौखिक रूप से हल कर देता था। लन्दन के गणितज्ञों के सम्मुख उसने अपनी अद्भुत प्रतिभा का प्रदर्शन करके सबको चकित कर दिया था। हम्बर्ग निवासी जान मार्टिन डेस भी अति कठिन गणित प्रश्नों को मौखिक रूप से हल करने में प्रसिद्ध था। उन दिनों उसके दिमाग की गणित क्षमता इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि आज के गणित कम्प्यूटर भी उससे प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकते थे।

मस्तिष्क की अनोखी हलचलों का विश्लेषण अणु जैविकी—मोली क्यूलर बायोलाजी के आधार पर करते हुए स्वीडन की गोटन बर्ग युनिवर्सिटी के जीव विज्ञानी होलगर हाइडेन इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि मस्तिष्क को दक्ष बनाने वाले शिक्षण एवं चिन्तन कार्य कोशिकाओं में महत्वपूर्ण रासायनिक पदार्थों की मात्रा बढ़ा देते हैं और वे अधिक सम्वेदनशील बनकर बुद्धिमत्ता का क्षेत्र विस्तार करती हैं।

इससे सिद्ध होता है कि मस्तिष्कीय क्षमताओं को विकसित करने की प्रक्रिया न केवल अपने ही बौद्धिक संस्थान को परिष्कृत करती है, वरन् उससे दूसरों को भी प्रभावित किया जा सकता है। प्रतिभा इसी का नाम है। बुद्धिमत्ता और प्रतिभा दोनों को मानसिक दक्षता का ही एक अङ्ग कह सकते हैं। यह दक्षता जन्म-जात रूप में—पूर्व संचित सम्पदा के रूप में—अनायास उपलब्ध भी दीख सकती है और उसे साधनात्मक प्रयत्नों द्वारा

योजनाबद्ध रूप से बढ़ाया भी जा सकता है। मनोमय कोश के परिष्कार की साधना अपनाकर क्रमशः इसी क्षेत्र में पदार्पण करना सम्भव होता है।

संयुक्त-राष्ट्र संघ में एक ऐसे भाषा-अनुवादक थे, जो एक ही समय में चार भाषाओं का अनुवाद अपने मस्तिष्क में जमा लेते थे और चार स्टेनोग्राफर बिठाकर उन्हें नोट कराते चले जाते थे।

दार्शनिक जेरमी बेन्थम जब चार वर्ष के थे, तभी लैटिन और ग्रीक भाषाएँ ठीक तरह बोलने लगे थे। जर्मनी के गणितज्ञ जाचारियस ने एक बार २०० अङ्कों वाली लम्बी संख्या का गुणा मन ही मन करके लोगों को अचम्भे में डाल दिया था। अमेरिका के एक गैरिज-कर्मचारी को सैकड़ों मोटरों के नम्बर जवानी याद थे और वह उनकी शक्ल देखते ही पुरानी मरम्मत की बात भली प्रकार याद कर लेता था।

डान फ्रांसिस कोलम्बियाँ विश्व-विद्यालय में जब प्राकृतिक इतिहास का प्रोफेसर नियुक्त हुआ, तब उसकी आयु, मात्र १६ वर्ष की थी।

आक्सफोर्ड विश्व-विद्यालय ने एक चार वर्षीया बालिका बेवेल थाम्पसन के गणित अध्ययन के लिए अतिरिक्त प्रबन्ध किया है। यह बालिका इतनी छोटी आयु में ही अङ्क गणित, त्रिकोण-मिति और प्रारम्भिक भौतिक-शास्त्र में असाधारण गति रखती है। इस उम्र के बालक को जिसने प्रारम्भिक पढ़ाई क्रमबद्ध रीति से नहीं पढ़ी, आगे कैसे पढ़ाया जाय? इसका निर्धारण करने के लिए शिक्षा-शास्त्रियों का एक विशेष पैनल काम कर रहा है।

मद्रास सङ्गीत अकादमी न्यास की ओर से रविकिरण ढाई वर्ष के बालक को उसकी अद्भुत सङ्गीत प्रतिभा के उपलक्ष में विशेष छात्र-वृत्ति देने की घोषणा की गई है। यह बालक न केवल कई वाद्य-यन्त्रों का ठीक तरह बजाना जानता है, वरन् दूसरों द्वारा गलत बजाये जाने पर उस गलती को बताता भी है।

जापान निवासी हनावा होकाइशी सन् १७२२ में जन्मा और पूरे १०१ वर्ष जीकर १८२३ में मरा। वह सात वर्ष की आयु में अन्धा हो गया था। पर इससे क्या उसने बिना नेत्रों के ही दूसरों से सुनकर अपनी ज्ञान-वृद्धि आरम्भ कर दी। जो सुना—उसे पूरे मनोयोग के साथ सुना और ध्यान में रखा फलस्वरूप उसके ज्ञान का कोश इतना बढ़ गया कि उसे एक अद्भुत आश्चर्य माना जाता था। उसके द्वारा नोट कराये गये ज्ञान-भण्डार को जापान में ३८२० खण्डों के एक अनुपम विशाल ग्रंथ के रूप में छापा गया है। यह अब तक का संसार का सबसे बड़ा ग्रंथ है।

वरमान्ट निवासी आठ वर्षीय बालक जेरा कोलबर्न ने बिना गणित का क्रमबद्ध अध्ययन किये और बिना कागज कलम की सहायता के—दिमागी आधार पर, कठिन प्रश्नों के उत्तर देने की जो क्षमता दिखाई, उससे बड़े-बड़े गणितज्ञ चकित रह गये। जिन कठिन सवालों को केवल अच्छे गणितज्ञ ही काफी समय लगाकर हल कर सकते थे, उसने उन्हें बिना हिचके आनन-फानन में कैसे हल कर दिया। इसे देखकर सब लोग दंग रह जाते थे। आश्चर्य यह था कि पुस्तकीय आधार पर उसे गणित के सामान्य नियम भी ज्ञात न थे।

गणित-शास्त्री जेडिया बाक्सटन बहुत समय से एक गणित समस्या में उलझे हुए थे, हल निकल नहीं रहा था। एक दिन उनकी भेंट स्मरण-शक्ति के धनी व्यक्ति जानमार्टिन डेस से हुई। उसने उनका हल मिनटों में बता दिया। गणित सम्बन्धी उलझनों को सुलझाने के लिए डेस अपने समय में दूर-दूर तक प्रख्यात था।

सर जान फील्डिंग इङ्गलैण्ड के जज थे। वे अन्धे थे, पर उनके कान इतने सक्षम थे कि अपने जीवन काल में जिन ३००० अपराधियों से उन्हें वास्ता पड़ा था, उन सब की आवाज वे ठीक तरह पहचान सकते थे और उनका नाम बता सकते थे। मुकदमों के मुद्दतों बाद वे लोग कभी उनसे मिलने आते, तो नेत्र न रहने पर भी केवल स्मरण-शक्ति के आधार पर उसका नाम और मुकदमों का सन्दर्भ बता देते थे। उनकी यह अद्भुत स्मरण-शक्ति चिरकाल तक चर्चा का विषय बनी रही।

फान्सिस्को मैरिया गेरिबाल्डी नामक एक प्रसिद्ध कवि चौदहवीं शताब्दी के अन्त में हुआ है। वह इटली का निवासी था। उसकी विलक्षण प्रतिभा यह थी कि दोनों हाथों से दो कविताएँ एक साथ लिखता जाता था।

इनमें एक लैटिन भाषा में होती और दूसरी पुरातन ग्रीक भाषा में।

कैन्टरवरी के प्रधान पादरी टामस फ्रेकर ने तीन महीने में पूरी बाइबिल जबानी याद कर डालने का एक अनोखा उदाहरण प्रस्तुत किया। सन् १७२४ में जन्मा और १८१२ में मरा स्काटलैंड का प्रख्यात कवि डंकन मेक इन्टायर उन दिनों अपनी कविताओं के लिए अपने देश ही नहीं सारे योरोप में प्रसिद्ध था। पर वह न पढ़ना जानता न लिखना। अपनी सारी प्रतिभा उसने सुन समझ कर ही विकसित की थी।

ग्रीक पोरसन नामक व्यक्ति को मिल्टन की प्रायः सभी रचनाएँ याद थीं और वह उन्हें सीधी ही नहीं उल्टी करके भी सुना सकता था।

लाक्रोज ने अपनी स्मरण-शक्ति का एक अनोखा प्रदर्शन करके दर्शकों को चकित कर दिया। उसने अपरिचित १२ भाषाओं की १२ कविताएँ सुनीं और दूसरे ही क्षण उसने उन्हें ज्यों का त्यों दुहरा दिया।

म्यूनिख की राष्ट्रीय लायब्रेरी के संचालक जोसेफ वर्न हार्ड डंकन अद्भुत प्रतिभा सम्पन्न थे। उन्होंने ९ भाषाएँ सीखी ही नहीं थीं उनमें पारंगत भी बने थे। इसके अतिरिक्त उनकी उस विशेषता को देखकर दंग रह जाना पड़ता था। जब कि वे ९ भाषाओं के अपने स्टेनोग्राफरों को एक साथ बिठाकर उन सभी को उन्हीं की भाषा में लेख नोट कराते थे। इतना मस्तिष्कीय सन्तुलन अथाह ज्ञान और विकसित स्मरण-शक्ति का प्रमाण कदाचित ही कहीं कभी देखने को मिलता है।

५ अक्टूबर १९५० को लन्दन में एक भारतीय महिला शकुन्तला देवी जिन्हें गणित की जादूगरनी (विजार्ड आफ मैथेमेटिक) कहा जाता है, टेलीविजन पर अपना कार्यक्रम प्रस्तुत कर रही थीं। तभी एक सज्जन ने उन्हें एक गणित का प्रश्न हल करने को कहा। बिना एक क्षण का विलम्ब किये हुए उन्होंने कहा यह प्रश्न गलत है। यह प्रश्न ब्रिटेन के बड़े-बड़े गणिताचार्यों ने तैयार किया था, इसीलिए सब लोग एकदम आश्चर्य में डूब गये प्रश्न गलत कैसे हो सकता है? बी० बी० सी० कार्यक्रम के आयोजनकर्त्ता ने प्रश्न की जाँच कराई तो वह विस्मित रह गया कि प्रश्न सचमुच गलत है। उसने भी यह माना कि—'हम जितना समझ पाये हैं, मन की शक्ति और सामर्थ्य उससे बहुत अधिक है।"

सिडनी (आस्ट्रेलिया) स्थित न्यू साउथ वेल्स विश्वविद्यालय में उनकी प्रतिद्वन्द्विता २० हजार पौंड मूल्य के संगणक (कम्प्यूटर) से हुई। यह कम्प्यूटर विद्युत् चालित था और उसका आपरेशन प्रसिद्ध गणितज्ञ श्री आर० जी० स्मार्ट और वेरी थार्नटन कर रहे थे, किन्तु जब भी कोई प्रश्न पूछा जाता था शकुन्तला उसका तुरन्त उत्तर दे देती थीं, जब कि मशीन के उत्तर की प्रतिक्षा करनी पड़ती थी। शकुन्तला के उत्तर शत-प्रतिशत सही पाकर वे सब चौंक पड़े।

मन की अद्भुत शक्ति के सन्दर्भ में वैज्ञानिकों ने अनेक तरह के शोध किये हैं और उन्हें मनोविज्ञान अनुसन्धान समिति द्वारा "दि ह्यूमन परसनैलिटी एण्ड इट्स सरवाइवल आफ बाडिली डेथ" नामक शोध ग्रंथ में विधिवत् प्रकाशित भी किया गया है। उपरोक्त पुस्तक में ऐसे छोटे बच्चों के अनेक उद्धरण भी दिये हैं जो गणित संगीत, ज्यामिति, चित्रकला आदि में इतने पारंगत थे कि उस विषय के प्राध्यापक भी उतने निष्णात नहीं होते। जगद्गुरू शंकराचार्य ने अपनी ऐसी ही विलक्षण प्रतिभा से अपने गुरू को स्तम्भित कर दिया था। बिना शिक्षा व्यवस्था के पाँच-छै वर्ष जितनी छोटी आयु में ही इस प्रकार का असाधारण ज्ञान होना इसी एक आधार पर सम्भव होता है कि किसी आत्मा को अपने पूर्व जन्म की संचित ज्ञान सामग्री उपलब्ध हो। पूर्व जन्म की सिद्धि आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

२०० वर्ष पूर्व जर्मनी में हानरिस हानेन्केन नामक बच्चे का जन्म हुआ। बालक तीन वर्ष का था तभी उसे हजारों लैटिन मुहावरे कण्ठस्थ थे। जोड़, बाकी, गुणा, भाग वह बड़ी आसानी से कर लेता। इसी आयु में उसने फ्रेंच भाषा और भूगोल पढ़ने की भी इच्छा की। 'साइबरनेटिम' के रचयिता 'वीनर' ५ वर्ष के थे तभी १८ वर्ष के विद्यार्थियों के साथ विज्ञान में रुचि लेने लगे थे। गेटे ९ वर्ष की आयु में कविताएँ लिखने लगे थे। वायरन, स्काट तथा विकासवाद सिद्धान्त के जन्मदाता डारविन

भी ऐसी ही विलक्षण क्षमताओं के बच्चे थे। पास्काल की प्रथम विज्ञान रचना १५ वर्ष की आयु में ही प्रकाशित हो गई थी जिसमें उसने १०० से अधिक प्रमेय सिद्ध किये थे।

अमेरिका के भौतिक शास्त्री डा० स्टीवेंसन ने ६०० ऐसी घटनाएँ एकत्रित की हैं जिनमें किन्हीं व्यक्तियों विशेषकर १४वर्ष की आयु तक के बालकों द्वारा बताये गये उनके पूर्व जन्मों के अनुभव प्रामाणिक सिद्ध हुए हैं, १७० प्रमाण अकेले भारत के हैं।

पूर्व जर्मनी का विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न तीन वर्ष का बालक 'हामेन केन' मस्तिष्क विद्या के शोधकर्त्ताओं का केन्द्र रहा है। यह बालक ३ वर्ष की आयु में जर्मन के उच्च साहित्यिक ग्रंथ न केवल पढ़ लेता था अपितु उनका विश्लेषण भी कर लेता था।

मनोमय कोश को जागृत परिष्कृत करने के प्रयत्नों में ध्यान एकाग्रता को प्रमुखता दी गई है। जिससे संकल्प-बल प्रचण्ड हो, लक्ष्य विशेष पर उसका नियोजन हो सके। इस आधार पर मस्तिष्क संस्थान को विकसित करने, व्यक्तित्व में चमत्कारी प्रतिभाओं को जगाने जैसे अनेकों लाभ प्राप्त किये जा सकते हैं।

साधना की सिद्धि का सिद्धान्त हर क्षेत्र में काम करता है। श्रम का पुरस्कार मिलने की बात सर्वविदित है। पुरुषार्थ का प्रतिफल प्राप्त होने के सिद्धान्त को सुनिश्चित तथ्य मानकर ही संसार के विविध क्रिया-कलाप चल रहे हैं। अध्यात्म साधना के सम्बन्ध में भी यही बात है। यदि वह तथ्यों पर आधारित हो और विधिवत संपन्न की जाय तो उसके लाभ मिलना भी सुनिश्चित है।



मिशन की सभी पत्रिकाओं की सदस्य संख्या बढ़ाई जाय

अखण्ड-ज्योति का अपना महत्व है। उसे परिजन रुचिपूर्वक पढ़ते और प्रसार करते हैं यह उनकी गुण ग्रहिता एवं सत्प्रयोजनों में सहकार करने की सद्भावना का परिचायक है। किन्तु यह नहीं समझा जाना चाहिए कि मिशन की विचार-धारा समझने और उज्ज्वल भविष्य के निर्माण के लिए सभी आवश्यक प्रेरणाएँ मात्र उसी से प्राप्त हो सकती हैं। मिशन की अन्य पत्रिकाएँ उसकी पूरक के रूप में निकलती हैं।

गुजराती, मराठी, उड़िया में युग-निर्माण योजना इस दृष्टि से निकलती हैं कि उन क्षेत्रों की जनता भी इस प्रकाश से लाभान्वित हो सके। हिन्दी युग-निर्माण में सामाजिक समस्याओं एवं महामानवों की अनुकरणीय गतिविधियों की जानकारी देकर समाज निर्माण की आवश्यकता पूरी करती है। मिशन की क्रियात्मक गतिविधियों का विवरण एवं मार्ग-दर्शन पाक्षिक युग-निर्माण योजना में रहता है। यह सभी पत्रिकाएँ अपने-अपने प्रयोजनों को पूरा करती हैं। तद्नुसार उनके सम्मिलित प्रभाव से युग-निर्माण मिशन को अग्रगामी बनाने का उद्देश्य पूरा होता है। इनमें से प्रत्येक अपने स्थान पर अति महत्वपूर्ण है। इनमें से किसी को भी उपेक्षणीय नहीं समझा जाना चाहिए।

अखण्ड-ज्योति परिजनों से अनुरोध है कि वे इन सभी पत्रिकाओं को मिशन का ढांचा खड़ा करने में रक्त, मांस, अस्थि, चर्म आदि की तरह अविच्छिन्न और आवश्यक समझें। इनके सदस्य रहने और नये सदस्य बनाने की बात का वैसा ही ध्यान रखें जैसा कि अखण्ड-ज्योति का रखा जाता है। इन पत्रिकाओं का नया वर्ष भी जनवरी से आरम्भ होता है, अस्तु उनके ग्राहक बनाने का प्रयत्न भी इन्हीं दिनों पूरे उत्साह के साथ किया जाना चाहिए।—भगवती देवी शर्मा

मनोमय कोश प्रतिभा और संकल्पशक्ति का केन्द्र

मनोमय कोश मस्तिष्क के मन और बुद्धि संस्थानों से सम्बन्धित है। उसकी साधना हमारी बुद्धि, कल्पना, स्मरण शक्ति आदि के क्षेत्रों को सुविकसित करती है। कालिदास, वरदराज जैसे मन्द मति प्रयत्न पुरुषार्थ से विद्वान, बुद्धिमान बने थे। यह अनगढ़ को सुगढ़ बनाने की प्रक्रिया है। इसे प्रशिक्षण द्वारा विकसित करने का उपाय सर्वविदित है। अध्यात्म प्रयत्नों द्वारा इस प्रयोजन को किस प्रकार पूरा किया जाय, उसी के प्रयोग में मनोमय कोश की साधना सहायता करती है।

इस साधना का दूसरा क्षेत्र है। साहसिकता का—सङ्कल्प-शक्ति का—अभिवर्धन। चिन्तन में उत्कृष्टता और क्रिया-कलाप में आदर्शवादिता का मनोवेश करने वाली वे सद्विचारणाएँ भी इसी क्षेत्र में विकसित होती हैं जो चरित्रनिष्ठा विकसित करने के लिए उत्तरदायी हैं।

शिक्षा के आधार पर ज्ञान सम्पदा बौद्धिक तीक्ष्णता एवं क्रिया कुशलता बढ़ाने के प्रयत्न होते हैं। इसके साथ सङ्कल्प शक्ति का महत्व भी समझा जाना चाहिए, वे उपाय भी अपनाये जाने चाहिए जिनके आधार पर व्यक्ति सङ्कल्पवान बनता है और प्रगति के पथ पर अग्रसर होने में सफल होता है। मनोमय कोश को जागृत करने के उपाय जो भी हों, पर सङ्कल्प-शक्ति का उदय उसी क्षेत्र से होता है।

प्रगति पथ पर अग्रसर होने के लिए—अभावों और असुविधाओं से लड़ने के लिए—प्रतिकूलताओं को अनुकूलता में बदलने के लिए—न केवल साधन सामग्री की अभिवृद्धि आवश्यक है वरन् यह और भी अधिक अभीष्ट है कि मानवी सङ्कल्प-शक्ति को बढ़ाया जाय। मात्र साधनों की बहुलता से तो मनुष्य विलासी और आलसी भी बनता चला जायगा। इससे उसकी अकर्मण्यता अशक्तता और अदक्षता ही बढ़ेगी। प्रगति के इतिहास में साधनों एवं परिस्थितियों का उतना योगदान नहीं है जितना कि विचारणा और आकांक्षा का। सङ्कल्प इन्हीं के समन्वय को कहते हैं। सङ्कल्प की प्रखरता ही प्रगति का पथ-प्रशस्त करती है। जहाँ इसकी कमी होगी वहाँ प्रगति का रथचक्र उतना ही अवरुद्ध एवं दलदल में फँसा दिखाई पड़ेगा।

विकासवाद के अनुसार सृष्टि के आरम्भ में एक कोशीय एवं बहु कोशीय जन्तुओं की शरीर रचना बहुत ही सरल थी। प्राचीनतम प्राणी 'प्रोटोजोन्स' वर्ग के थे। वे एक कोशीय थे। अमीबा, यूग्लोना, पैरामीसियम, वर्टीमेला का आरम्भ इसी रूपमें हुआ। पीछे उनमें सङ्कल्प शक्ति जगी, वे सुरक्षा और सुविधा की आवश्यकता अनुभव करने लगे। इसके लिए उन्हें पारस्परिक सहयोग का उपाय सूझा और उसके लिए सम्मिलित प्रयास करने में जुट गये। 'बालकाक्स' वर्ग के जीव छोटे परिवार बनाकर रहने लगे। उनने मिल-जुलकर काम करने की व्यवस्था बनाई। कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व बाँटे। इनमें से कुछ आहार जुटाने में, कुछ सुरक्षा सम्भालने में, कुछ वंशवृद्धि करने में, कुछ सुविधा सम्पादन में, कुछ व्यवस्था संचालन में लग गये। आदिम काल की वर्ण-व्यवस्था यहीं से आरम्भ हुई। सहयोग के आधार पर न केवल सुविधा बँटी, वरन् उनका निज का स्वरूप एवं अस्तित्व भी विकसित होता चला गया। एक कोशीय जन्तुओं ने अपना काय-कलेवर बहुकोशीय 'मल्टी सेल्यूलर' वर्ग के जन्तुओं में विकसित कर लिया। वे सरल से जटिल होते गये। इसी चेतनात्मक स्फुरणा को प्रकृति की मौलिक क्रिया माना गया है। विकास के मूल में यही तत्व काम कर रहा है। इसी को सङ्कल्प शक्ति का चमत्कार भी कह सकते हैं।

एक कोशीय जीवों की तुलना में बहुकोशीय जीवों की काया काफी समुन्नत—बनावट की दृष्टि से जटिल बनती गई। स्पंज, हाइड्रा, जेलीफिश, कोरल, एनीमोन आदि बहु कोशीय जीवों की स्थिति तक पहुँचने पर भी उनके शरीरों में भोजन और मल विसर्जन के लिए एक

ही छिद्र था। इन दो प्रयोजनों के लिए दो द्वार तो आगे चलकर बने। विकास का रथ इसी मार्ग पर बढ़ता चला गया है। हड्डियाँ विकसित हुईं, मेरुदण्ड बने बिना खोपड़ी वाले जीवों के शरीर में मस्तिष्कीय चेतना की उपयोगिता देखते हुए खोपड़ी के मजबूत किले बनकर खड़े हो गये। जलचरों ने थल में रहना सीखा। उनमें से कुछ तो हवा में उड़ने की हिम्मत करने लगे। यही विकास क्रम उद्भिज, स्वेदज, अण्डज, जरायुज प्राणियों में अग्रसर हुआ है। प्राणियों की अनेक क्षमताएँ उनके काय विकास के साथ-साथ बढ़ती चली आई हैं। इन्द्रियों की क्षमता और अवयवों की संरचना का क्रम गाड़ी के दो पहियों की तरह साथ-साथ बढ़ा है। इसी मार्ग पर चलते हुए आदिम कालीन एक कोशीय जीवन वर्तमान स्थिति तक पहुँचा है। दोनों परिस्थितियों में जमीन आसमान जैसा अन्तर देखा जा सकता है।

विकास की इस प्रक्रिया के आधारभूत कारण खोजने में वैज्ञानिकों ने अपने-अपने ढङ्ग से प्रयत्न किये हैं और अपने-अपने दृष्टिकोण-निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं। लेमार्क और ह्यू गोडिव्राइस ने इस सम्बन्ध में बहुत कुछ खोजा और बताया है। अपनी शताब्दी में चार्ल्स डार्विन ने बहुत ख्याति प्राप्त की है। प्रायः सभी प्रगतिशील देशों में इस सन्दर्भ में काफी खोजें हुई हैं। इन प्रतिपादनों में जीवतत्व को मात्र रासायनिक पदार्थ मान कर विज्ञान वेत्ता एक विचित्र उलझन में फँस गये हैं। 'प्रोटोप्लाज्मा' में काय-कलेवर को बनाने और चलाने की क्षमता तो है, पर क्रमिक विकास की ओर बढ़ सकने जैसी क्षमता उसमें किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होती। फिर विकास क्रम किस प्रकार निरन्तर अग्रसर होता चला आया?

नये वैज्ञानिक प्रतिपादनों के अनुसार प्रोटोप्लाज्मा के समतुल्य ही एक दूसरे जीवतत्व की सत्ता स्वीकार की गई है। वह है—'ईडोप्लाज्मा'। वंश परम्परा में अब इन दोनों का समान योगदान माना जाने लगा है। वंशानुक्रम की मात्र रासायनिक पदार्थों के आधार पर व्याख्या अधूरी और असमाधान कारक ही रही है। अभिरुचियाँ, आस्थाएँ, भावनाएँ, मान्यताएँ रसायनों के माध्यम से बनी रहने और परिष्कृत होते चलने का कोई तुक नहीं बैठता। 'ईडोप्लाज्मा' के संयोग से वह बात बनती है। यह दोनों तत्व एक नहीं हैं। उनकी सत्ता स्वतन्त्र है। वे एक दूसरे के पूरक भर हैं। यहाँ प्रोटोप्लाज्मा को—पदार्थ 'सत्ता का और' ईडोप्लाज्मा को चेतना का प्रतिनिधित्व करते हुए पाया जाता है। गतिशीलता, समर्थता, आकांक्षा स्थिति के अनुरूप परिवर्तन, प्रजनन उत्साह, सुरक्षा के लिए संघर्ष, खाद्य पदार्थों को ऊर्जा के रूप में बदल लेना आदि कितने ही कार्य ऐसे हैं जिन्हें प्रोटोप्लाज्मा के हाथ से छीन लिया गया है और उनका श्रेय ईडोप्लाज्मा को दिया गया है। परमाणु निर्धारित हलचलें करते रह सकते हैं, पर वे उत्साह एवं परिवर्तन की स्फुरणा अपने भीतर से प्रकट नहीं कर सकते। जीवाणु की यही मौलिक विशेषताएँ हैं जिनसे उसे पदार्थ वर्ग में रासायनिक संगठना में गिन लेने मात्र से समाधान नहीं हो सकता।

जीवन तत्व की रासायनिक व्याख्याएँ कभी बड़े उत्साह के साथ की जाती थीं, पर अब वह जोश ठण्डा पड़ गया है और जीवन सत्ता के सम्बन्ध में स्वतन्त्र रूप से सोचने और खोजने की आवश्यकता अनुभव की जा रही है। जीव विज्ञानी ई० के० लेन कास्टर का कथन है—"भौतिक जगत में चल रही हलचलों के साथ जीवन सत्ता का तालमेल नहीं बैठता। उस निरूपण के पक्ष में प्रस्तुत किये गये प्रतिपादन ओछे पड़ते हैं। जीवन का एक स्वतन्त्र विज्ञान होना चाहिए। पदार्थ विद्या के बटखरों से उसकी नाप-तौल ठीक प्रकार हो सकना सम्भव नहीं दीखता।

पदार्थ में केवल अस्तित्व है। उसमें न तो जीवन है और न हलचल। वनस्पति में अस्तित्व के साथ-साथ जीवन भी है। प्राणियों में अस्तित्व, जीवन और अनुभूति तीनों हैं। किन्तु विवेचना बुद्धि और स्वतन्त्र इच्छा की न्यूनता है। जीवन निर्वाह के परम्परा गत अनुभवों और आवश्यकताओं के अनुरूप ही उनके चिन्तन की गाड़ी एक बनी बनाई पटरी पर लुढ़कती जाती है। मनुष्य की चेतना सुविकसित स्तर पर पहुँची हुई इसीलिए मानी जाती है कि उसकी सङ्कल्प शक्ति-विवेचनात्मक क्षमता ने काफी प्रगति करली है जब कि अन्य जीवधारी

शारीरिक दृष्टि से अपेक्षाकृत अधिक बलिष्ठ होते हुए भी चेतना के क्षेत्र में पिछड़े हुए हैं। जड़ और चेतन की आणविक हलचलों में समानता हो सकती है। पर यह सम्भव नहीं दीखता कि पदार्थ कभी चेतन के समतुल्य प्रगति कर सकने में समर्थ हो सकेगा। क्या धातुएँ कभी पक्षियों की तरह आकाश में उड़ने, चहचहाने तथा अण्डे देने में समर्थ हो सकेंगी? जीवन को रासायनिक सिद्ध करने के प्रयत्नों से काम चलता न देख कर कोल्विन, हैमरीज, किचनर, अरहेंनिस, आदि ने अपने-अपने शब्दों में यह कहा है—'जीवन किसी अन्य लोक से भूलता, भटकता पृथ्वी पर आ पहुँचा है, पर वह है पदार्थ से भिन्न। यों उसकी सत्ता पदार्थ के समन्वय से ही चिन्तनात्मक प्रयोजन पूरे कर सकती है।'

इससे एक कदम आगे बढ़कर पास्टयूर और टैण्डाल ने कहा है—"जीवन पदार्थ से नहीं जीवन से ही उत्पन्न होता है,हो सकता है।" विकास इतिहास की पृष्ठभूमि का पर्यवेक्षण करते हुए वे कहते हैं—आदिम काल में 'सैल' किसी दबाव से नहीं स्वेच्छा से वंश वृद्धि करते थे। पीछे वे नर और मादा के रूप में बँट गये। संयोग का आनन्द लेना और उत्तरदायित्व सम्भालना शुरू किया। ऐसी-ऐसी अनेक उलट-पुलट करते-करते जीवधारी वर्तमान स्थिति तक बढ़ते चले आये हैं। यह स्फुरणा का ही चमत्कार है यही वह मौलिक अन्तर है जो जड़ और चेतन के बीच भिन्नता की दीवार खड़ी करता है।

आइन्स्टीन कहते थे—'अणु सत्ता पर किसी अविज्ञात चेतना का अधिकार और नियन्त्रण है। पदार्थ मौलिक नहीं है उसका उद्भव चेतना की प्रतिक्रिया से ही सम्भव हुआ है। आज यह तथ्य प्रयोगशाला में सिद्ध नहीं होते तो भी मेरा विश्वास है कि आज न सही कल यह सब सिद्ध होकर ही रहेगा।'

जीवन का मूल स्वरूप उसकी चिन्तन स्फुरणा के साथ जुड़ा हुआ है। विचारणा और आकांक्षा के समन्वय से जो 'सङ्कल्प' उठता है, उसी में प्रगति की समस्त सम्भावनाएँ सन्निहित हैं। विकासवादी प्रगति पर दृष्टिपात करने पर हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है। वे एक जैसी परिस्थितियों में रहने पर भी एक की प्रगति दूसरे की यथास्थिति और तीसरे की अवगति का अन्तर देखकर इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि यह सङ्कल्प शक्ति की न्यूनाधिकता का ही प्रभाव है। साधनों के अभाव में भी लोग आगे बढ़ते हैं। सहयोग के बिना भी प्रगति करते हैं। इसके पीछे उनकी प्रखर सङ्कल्प-शक्ति ही काम करती है। आगे बढ़ने वालों के पीछे साधन भी बनता है और सहयोग भी जुटता है। मोटर दौड़ती है तो उसके पीछे धूलिकण और पत्ते भी उड़ते चले आते हैं। सङ्कल्प ही मानव जीवन की सर्वोपरि शक्ति है। उसके सहारे सामान्य स्थिति से आगे बढ़कर असामान्य स्तर तक पहुँचा जा सकता है। अन्धकार में प्रकाश उत्पन्न करने की—निराशा में आशाजनक सम्भावनाएँ प्रस्तुत करने की क्षमता उसी में है। ऊँचे उठने और आगे बढ़ने के लिए साधन जुटाने और सहयोग बनाने की आवश्यकता सभी

> श्रद्धयात्मवतां पुंसां सिद्धिर्भवति नान्यथा।
> अन्येषां च न सिद्धिः स्यात्तस्माद् यत्नेन साधयेत्।।
> —शिव संहिता २१।१६
>
> श्रद्धावान व्यक्ति को ही सिद्धि मिलती है। दूसरों को नहीं। इसलिए प्रयत्न और श्रद्धापूर्वक साधना करें।

मानते हैं, पर यह भुला नहीं दिया जाना चाहिए कि यह उपलब्धियाँ प्रचण्ड सङ्कल्प-शक्ति उभारे बिना मिल नहीं सकतीं। किसी प्रकार संयोगवश मिल भी जायँ तो स्थिर नहीं रह सकतीं। प्रगति का मूल-मन्त्र 'सङ्कल्प' को मानकर चला जाय और सर्व प्रथम उसी के उपार्जन, अभिवर्धन का प्रयत्न किया जाय तो यह निश्चित रूप से व्यावहारिक एवं बुद्धिमत्तापूर्ण प्रयास माना जायगा।

मनःसंस्थान ज्ञान, अनुभव एवं कौशल का ही नहीं प्रतिभा का भी क्षेत्र है। उत्कृष्टता के प्रति आस्था के बीज भी इसी भूमि में जमते है। सङ्कल्प शक्ति का उद्गम केन्द्र यही है। मनोमय कोश की साधना द्वारा यदि इन विभूतियों को जागृत एवं उपलब्ध किया जा सके तो उस दिशा में किया गया प्रयत्न सामान्य कार्यों की दौड़-धूम से कम नहीं अधिक ही लाभदायक और बुद्धिमत्तापूर्ण सिद्ध होगा।

विज्ञानमय कोश और जीवन साधना

विज्ञानमय कोश आत्म-चेतना का वह गहन अन्तराल है जिसका सीधा सम्बन्ध ब्रह्माण्डीय चेतना के साथ बनता है। अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोश व्यक्ति चेतना की परिधि में बँधे रहते हैं। उनके विकास का लाभ मनुष्य के निजी उत्कर्ष में दृष्टिगोचर होता है। सम्पर्क क्षेत्र के व्यक्ति उससे लाभ उठाते हैं। बलिष्ठ शरीर, प्रखर प्रतिभा और विद्या बुद्धि के सहारे कितने ही महत्वपूर्ण कार्य सधते हैं। व्यक्तित्व निखरता और क्षमता सम्पन्न बनता है। प्रगति के आरम्भिक चरण यही हैं। क्रमिक उन्नति करते हुए इसी मार्ग से चरम लक्ष्य तक पहुँचना सम्भव होता है।

ज्ञान, सामान्य लौकिक जानकारी को कहते हैं। दूसरे शब्दों में इसे शिक्षा भी कहा जा सकता है। विज्ञान का तात्पर्य है—विशेष ज्ञान। अध्यात्म प्रयोजनों में यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हैं, यों व्यवहार में विज्ञान का तात्पर्य 'साइन्स' समझा जाता है। उसे पदार्थ विज्ञान का संक्षेप माना गया है। पर अध्यात्म में वैसा नहीं है। सामान्य अर्थात् काम काजी, लौकिक, भौतिक, व्यावहारिक विशेष अर्थात् आन्तरिक, अन्तरंग, सूक्ष्म, चेतन, आध्यात्मिक। विशेष ज्ञान अर्थात् विज्ञान। सामान्य बुद्धि-लौकिक कुशलता सम्पन्न होती है। असामान्य बुद्धि—ऋतम्भरा प्रज्ञा कहलाती है। उसके द्वारा आन्तरिक प्रगति और आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति का साधन जुटाया जाता है। विज्ञानमय कोश चेतना की वह परत है, जो अपने भीतर उच्च-स्तरीय विभूतियों को छिपाये रहती है। कोश भण्डार को भी कहते हैं। विशेष अलौकिक जानकारी, विशेष शक्ति, अन्तःकरण की उच्चस्थिति इस संस्थान की उत्पत्ति एवं उपलब्धि है। इस सामर्थ्य के सूत्र यों रहते तो अपने ही अन्तःकरण में हैं, पर वस्तुतः उनका सम्बन्ध सूक्ष्म जगत में संव्याप्त ब्रह्माण्डीय चेतना से जुड़ा रहता है।

छोटे बैंक बड़े बैंकों से सम्बद्ध हों तो आवश्यकतानुसार उनके बीच आदान-प्रदान होता रहता है। जरूरत के समय छोटे बैंक बड़े संस्थानों से संरक्षण और सहयोग प्राप्त कर सकते हैं। इसी प्रकार सूक्ष्म जगत की हलचलों की जानकारी और उपयोगी विभूतियों को उपलब्ध कर सकना उनके लिए सम्भव हो जाता है जिनका विज्ञानमय कोश समुन्नत स्तर का बन चुका है। प्रसुप्ति तो मरण के समतुल्य होती है। सोता हुआ मनुष्य अचेत पड़ा रहता है, उसके लिए दूसरों के निमित्त कुछ कर सकना तो दूर अपने वस्त्र सम्भाल सकना तक कठिन हो जाता है। भौतिक जगत के पाँच तत्वों की ही तरह आत्मिक जगत की चेतन सत्ता पाँच प्राणों में विभक्त है। साधना विज्ञान के अनुसार उन्हें पांच कोश कहा जाता है। यदि वे जागृत हों तो सामान्य काया भी देवोपम विशिष्टताओं का परिचय देगी किन्तु यदि सुषुप्ति छाई हुई हो तो फिर निर्जीव निस्तब्धता के अतिरिक्त और कुछ भी दृष्टिगोचर न होगा।

विज्ञानमय कोश की विशिष्ट साधनाएँ हैं उनके माध्यम से प्रयत्नपूर्वक उस केन्द्र में सन्निहित क्षमताओं का अभिवर्धन किया जा सकता है। साधना के अनेक प्रकार हैं उनमें से कुछ योगाभ्यास एवं तपश्चर्या स्तर के हैं। कुछ ऐसे हैं जिनमें चरित्र निष्ठा एवं समाज निष्ठा में संलग्न रह कर चेतना के अन्तराल को परिष्कृत किया जाता है। आत्म-निर्माण एवं लोक-निर्माण में आदर्शवादी श्रद्धा सद्भावना को अपनाते हुए तत्पर रहा जाय तो वे क्रिया-कलाप भी उच्चस्तरीय साधना का प्रयोजन पूरा करते हैं। चरित्र को स्वर्ण की तरह तपा लेना संयम की अग्नि में अपने कषाय-कल्मषों को जला डालना विशुद्ध तप साधना ही है। अपने स्वार्थों को परमार्थ में जोड़ देना—व्यष्टि को समष्टि में विलय कर देना—इसे योग ही कहा जायगा। कितने ही महामानव अपनी जीवन प्रक्रिया को उत्कृष्ट आदर्शवादिता में ढाल कर एक प्रकार से सन्त ही बने रहे हैं, भले ही उनने वैसी वेषभूषा धारण न की हो। ऐसे लोगों को भी विज्ञानमय कोश की साधना का

परिपूर्ण लाभ मिलता रहा है।

साधना इस प्रकार से की गई या उस तरह, इसका कोई विशेष महत्व नहीं है। बात कर्मकाण्डों के विधि-विधानों की नहीं, अन्तराल में आदर्शवादी उत्कृष्टता को प्रतिष्ठापित करने की है। उसे जिस भी प्रकार बो लिया जाय, अंकुर उगेगा और समयानुसार विशाल वृक्ष बनकर पल्लवित और फलित होगा।

ब्रह्म वर्चस् प्रक्रिया के अन्तर्गत जो उपासनात्मक विधि-विधान बताये जाते हैं। उन बीजांकुरों में भी खाद पानी तो चरित्र निष्ठा और समाज निष्ठा का ही देना पड़ेगा। कोई साधना विधि कितनी ही शास्त्र सम्मत्त एवं अनुभूत क्यों न हो अन्तःकरण का स्तर निकृष्ट बने रहने पर विकसित न हो सकेगी। मरुस्थल में लगाये हुए बहुमूल्य पौधे भी उद्यान कब बन पाते हैं? ताप तापों की जलन साधना को भी उसी तरह जला देती है जैसे कि तप्त बालू में लगाये गये पौधे मुरझाते और नष्ट होते हैं।

जपयोग, लययोग, ध्यानयोग, हठयोग, राजयोग प्राणयोग, ऋजयोग, विभूयोग आदि की तरह ही एक योग साधन जीवन साधना भी है। इसे अन्य किसी योगाभ्यास से कम न माना जाय। व्यायामों के कला-कौशल सीख कर दङ्गल पछाड़ने वाले पहलवान बनते हैं, सरकस में भी उनकी प्रशंसा होती है। किन्तु ऐसे भी अनेक व्यक्ति हुए हैं जिनने व्यायामशाला में प्रवेश नहीं किया और उन विशिष्ट कला-कौशलों को नहीं सीखा जिन्हें वहाँ बताया और अभ्यास कराया जाता है। फिर भी उन्होंने आहार-विहार के संयम-नियम दिनचर्या, प्रकृति अनुसरण प्रसन्न सन्तुष्ट स्वभाव, उच्च दृष्टिकोण जैसे आधार अपना कर निरोग, बलिष्ठ, दीर्घ जीवन प्राप्त किया। व्यायाम शाला में लगने वाला समय और श्रम उन्होंने अन्य अधिक महत्वपूर्ण कामों में लगाया। यह नीति भी दूरदर्शिता पूर्ण है। इसमें व्यायाम अभ्यास से कम बुद्धिमत्ता नहीं है। अन्यान्य योगाभ्यासों की तुलना में जीवन परिष्कार की योग साधना किसी भी प्रकार कम महत्वपूर्ण और कम फलप्रद नहीं है। उत्कृष्ट चिन्तन आदर्श कर्तृत्व एवं परमार्थ प्रयोजनों में सघन तत्परता रखने वाले उदात्त महा मानव भी अपने ढङ्ग के सिद्ध पुरुष ही बनते हैं। उनका यश एवं वर्चस्व योगी, तपस्वियों से किसी भी प्रकार कम नहीं रहता, आत्म-कल्याण और विश्व कल्याण में उनकी भूमिका आत्मिक प्रगति के उच्च शिखर पर पहुँचे हुए लोगों के समतुल्य ही होती है।

साधना से सिद्धि का तात्पर्य यदि चमत्कारी कौतुक कौतूहलों का प्रदर्शन और उस आधार पर कीर्ति सम्पादन हो तो उस उपलब्धि को ओछे स्तर की विडम्बना मात्र ही कहा जायगा। इसीलिए लोक प्रचलन की यह मान्यता गलत ही कही जायगी कि साधना की सफलता सिद्धि से आँकी जानी चाहिए। कितने ही महामानव लौकिक सफलता की दृष्टि से नितान्त असफल रहे हैं। फिर भी उनकी सिद्ध स्थिति पर उँगली उठाये जाने का कोई कारण नहीं बना।

महा प्रभु ईसा मसीह के जीवन में मात्र तेरह उनके शिष्य बने थे और वे भी परीक्षा की घड़ियों में दुर्बल सिद्ध हुए। ईसा को फाँसी लगी। यह प्रत्यक्ष असफलता ही है फिर भी उनकी महानता में इससे कोई अन्तर नहीं आया। दधीचि के अस्थिदान से लेकर सुकरात के विष पान तक का लम्बा इतिहास उनका है, जिन्होंने कष्ट उठाये और घाटे सहे। सीता से लेकर लक्ष्मी बाई रानी तक की कथा-गाथाओं में असफलताओं का ही समावेश है। गुरु-गोविन्द सिंह से लेकर भगतसिंह तक की परम्परा अपनाने वाले को न सफल कहा जा सकता है न सिद्ध। अस्तु साधना से सिद्धि का तात्पर्य यदि लौकिक सफलता, चमत्कार या ख्याति के रूप में देखा जायगा तो उस परख प्रक्रिया को खोटी कहना पड़ेगा। हाँ आदर्शों की स्थापना में सफलता की बात कही जाय तो उसे तथ्यपूर्ण माना जायगा। कितने ही महामानव ऐसे हुए हैं, जो जीवन भर कष्ट सहते रहे, घाटे में रहे, ठगे गये, पग-पग पर असफल हुए, तिरस्कृत एवं उपहासास्पद बने, फिर भी उन्होंने ऐसे आदर्शों की स्थापना की, जिनके पद चिन्हों पर चलकर असंख्यों ने प्रकाश पाया अपना जीवन धन्य बनाया। उच्च-स्तरीय आध्यात्मिक साधना की यही सच्ची सिद्धि है कि उन कठिनाइयों की अग्नि परीक्षा में साधक खरा उतरे। प्रलोभन और भय उसे विचलित न कर सकें। दूसरों के लिए ऐसी परम्परा छोड़े जिसका अनुकरण करने वाले

मनुष्य जन्म को सार्थक बना सके। राजा हरिश्चन्द्र का नाटक बचपन में गाँधी जी ने देखा और वे उससे इतने प्रभावित हुए कि दूसरे हरिश्चन्द्र ही बनकर रहे। महामानव साथियों के लिए—अगली पीढ़ियों के लिए—ऐसे ही अनुकरणीय उदाहरण छोड़कर जाते हैं। यही उनके स्मरणीय और सराहनीय अनुदान होते हैं। सच्चे अर्थों में साधना की सिद्धि यही है। जीवन साधना का योगाभ्यास उसी प्रकार की सिद्धियों से भरा पूरा होता है।

संसार के महामानवों में से अधिकांश विपन्न परिस्थितियों और दरिद्र परिवारों में जन्मे। उन्हें न तो बड़े लोगों का परिचय सहयोग प्राप्त था और न साधनों का—परिस्थितियों का ही ऐसा सुयोग प्राप्त था। जिसके सहारे प्रगति की सम्भावना सोची जा सके। सामान्य लोग उस स्थिति में किसी प्रकार जिन्दगी की लाश ही ढोते हैं। किन्तु जिनके व्यक्तित्व में सद्गुणों की सम्पदा भरी होती है, वे अपने साथियों का हृदय जीतते हैं, सहयोग खींचते हैं। साधन उनके पास दौड़ते चले आते हैं और प्रगति की सम्भावनाएँ विकसित होती चली जाती हैं। कुछ उदाहरण गिना देने की आवश्यकता नहीं। व्यक्तित्व की महानता उत्कृष्ट चरित्र, उदात्त व्यवहार एवं परिष्कृत दृष्टिकोण के कारण ही उनकी चुम्बकीय शक्ति प्रखर बनी है। उसी ने उन्हें ऐतिहासिक महामानवों की पंक्ति में खड़ा किया है। उनके व्यक्तिगत उत्कर्ष और समाज को दिये अनुदानों का मूल्यांकन करने से स्पष्ट हो जाता है कि उनने साधना से सिद्धि का सिद्धान्त पूरी तरह प्रमाणित कर दिया। जीवन साधना का योगाभ्यास ऐसा है जिसकी सिद्धि बाजीगरी कौतुक जैसी चमक दिखा कर समाप्त नहीं होती, वरन् अद्भुत सफलताओं के रूप में—लोक-श्रद्धा के रूप में—इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों पर अङ्कित अमिट अक्षरों के रूप में—सदा सर्वदा जीवन्त बनी रहती है। ऐसे महामानवों की नामावली, जीवन चरित्रों का पर्व तो जितना साहित्य उलट कर हम जीवन भर तैयार करते रह सकते हैं।

कौतूहलों की बात ही यदि 'सिद्धि' मानी जाय तो सज्जनता से प्रभावित होकर दिव्य शक्तियों द्वारा अनुग्रह बरसाने की कथा-गाथाएँ पुराणों के पन्ने-पन्ने पर पढ़ी जा सकती हैं। हनुमान को राम का, अर्जुन को कृष्ण का अनुग्रह अकारण ही नहीं मिला था। अपनी पात्रता सिद्ध करके ही वे भगवान के प्रिय पात्र और शक्ति सम्पन्न बने थे। सुकन्या, सावित्री, अनुसूया, दमयन्ती, गान्धारी आदि महिलाओं में दिव्य सामर्थ्य होने की कथाएँ बताती हैं कि उनने कोई विशेष योगाभ्यास नहीं किये थे, वरन् उच्च चरित्र के आधार पर ही वे वैसे चमत्कार दिखाने में समर्थ हुईं जो उनके चरित्रों में बताये जाते हैं। शवरी, सुदामा, कर्ण, अम्बरीष, रैदास, कबीर, नानक, सूर, तुलसी, एकनाथ, रामदास, विवेकानन्द, गान्धी आदि की जीवन गाथाओं में योगाभ्यास का कम और लोक साधना का स्थान प्रमुख रहा है। फिर भी उन्हें दैवी अनुग्रह का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। यहाँ तक कि जटायु जैसे पक्षी और सेतुबन्ध के समय पुरुषार्थ करने वाली गिलहरी तक को भगवान का प्यार प्राप्त हुआ था।

आत्मा अनन्य शक्तियों का भाण्डागार है। उसमें अपने उद्गम केन्द्र परमेश्वर की समस्त शक्तियाँ बीज रूप में सन्निहित हैं। उन्हें उगाने और बढ़ाने के लिए चरित्र-निष्ठा का खाद और उदार सेवा साधना का पानी लगाना पड़ता है। इस नीति को अपना कर कोई भी साधक बुद्धिमान माली की तरह अपने अन्तःक्षेत्र में ऋद्धि-सिद्धियों से भरा पूरा उद्यान खड़ा कर सकता है। इसके लिए बाहर से कुछ ढूँढ़ने, लाने या पाने की आवश्यकता नहीं है। मात्र कषाय-कल्मषों की परतों को हटा देने भर का साहस सँजो लेना पर्याप्त है। आत्म-शोधन और आत्म-परिष्कार ही विभिन्न साधनाओं का वास्तविक उद्देश्य है। अंगारे पर चढ़ी राख की परत ही उसे धूमिल और निस्तेज बना देती है। यह परत हटते ही अङ्गारा फिर अपनी गर्मी और चमक का परिचय देने लगता है। निकृष्ट चिन्तन और घृणित कर्तृत्व से यदि हाथ खींच लिया जाय तो फिर आत्मिक प्रखरता के कारण उपलब्ध होने वाली असंख्य ऋद्धि-सिद्धियों के मार्ग में और कोई बड़ा व्यवधान शेष नहीं रह जाता।

विज्ञान मय कोश दो प्रयोजन पूरे करता है। प्रथम है—अन्तःकरण की चित्त तथा अहङ्कार परतों का

(शेष ६६ पृष्ठ पर)

विज्ञानमय कोश की अतीन्द्रिय सामर्थ्य

चेतना के चतुर्थ आयाम विज्ञानमय कोश की मूर्छना यदि दूर की जा सके तो सूक्ष्म जगत के साथ सम्बन्ध जुड़ सकता है और उस क्षेत्र में बिखरी पड़ी ऐसी विभूतियों का लाभ मिल सकता है जो सर्व साधारण के लिए सामान्यतया उपलब्ध नहीं हैं।

कभी-कभी विज्ञानमय कोश की विशेषता अनायास ही उग आती है। निर्जल द्वीपों में भी फलदार वृक्ष पाये गये हैं। यह वहाँ की अपनी उपज नहीं है, वरन् चिड़ियों की बीट में वे बीज उधर पहुँचे और उगे हैं। ऐसे अनायास सुयोग भी कई सामान्य व्यक्तियों को ऐसे लाभ देते हैं जिन्हें अद्भुत एवं अप्रत्याशित ही कहा जा सकता है। प्रयत्नपूर्वक यह क्षमता व्यवस्थित रूप से जगाई जा सकती है। इस सन्दर्भ में समय-समय पर उपलब्ध होती रहने वाली घटनाएँ यह बताती हैं कि दिव्य अनुभूतियों की कोई सत्ता-व्यवस्था इस संसार में निश्चित रूप से विद्यमान है।

दिव्य दर्शन का लाभ जागृत अनुभूतियों की तरह स्वप्न में भी मिल सकता है। सजग मस्तिष्क जिस समय निद्रित स्थिति में होता है उस समय 'अचेतन' को अधिक स्वतन्त्रता रहती है, अस्तु उस स्थिति में वह और भी अधिक अच्छी तरह अपनी क्षमता का परिचय दे सकता है। ऐसी कितनी हीं घटनाएँ हैं जिनमें कुछ लोगों को स्वप्न में दिव्य दर्शन का लाभ मिला है।

गेटे ने अपनी आत्म-कथा में लिखा है कि उसे एक दिन अचानक यह अनुभूति हुई कि सिसली में भयङ्कर भूकम्प आया है। उस समय तो उसने इसे ऐसे ही भ्रम समझा,पर कुछ ही समय में समाचार पत्रों में जब सिसली के भयङ्कर भूकम्प का विवरण छपा तो उसने जाना कि वह अनुभूति एक यथार्थता थी। प्रसिद्ध लेखक जानेथन स्विफ्ट ने अपनी एक पुस्तक में—"मङ्गल ग्रह के दो चन्द्रमा होने और उनमें से एक की चाल दूसरे से दूनी होने" की बात लिखी है। उस समय वह बात गप्प समझी गई थी, पर उस लेख के १५० वर्ष बाद सन् १८७७ में जब वाशिंगटन की 'नेवल आबजरवेटरी' में शक्तिशाली दुर्बीन से उस कथन की सत्यता घोषित की गई तो लोगों ने उस दिव्य-दर्शन पर आश्चर्य प्रकट किया कि बिना किसी साधन के ऐसी जानकारी किस प्रकार सम्भव हो सकी।

जे० डब्ल्यू० डने के ग्रन्थ 'एन एक्सपेरिमेन्ट विद टाइम' में ऐसे अनेक विवरणों का संग्रह है जिनमें समय से पूर्व मिली जानकारियाँ समय आने पर बिलकुल सही सिद्ध हुईं।

'दि आर्ट आफ थाँट' के लेखक विद्वान ग्राहमवालास ने लिखा है कि सृजनात्मक चिन्तन अनायास ही नहीं फूट पड़ते। पहले-पहले उनका अनुमान आभास होता, पीछे वे हाँड़ी के चावलों की तरह मस्तिष्क में पड़े-पड़े पकते रहते हैं। माता के पेट में प्रवेश हुए भ्रूण की तरह यह आभास अनगढ़ होते हैं किन्तु भीतर ही भीतर कोई अविज्ञात चेतना उन्हें अपने ढङ्ग से पकाती रहती हैं। तदुपरान्त ऐसी स्थिति आती है जिसे उत्साह और विश्वास का सम्मिश्रण कह सकते हैं। इस स्थिति में अपने आपको लगता है—कोई व्यावहारिक आधार हाथ लग गया। इसी स्थिति के परिपक्व विचार ही इस लायक होते हैं कि उन्हें गुण-अवगुण की कसौटी पर तर्क और बुद्धि के सहारे परखा जा सके। इतनी मंजिलें पार कर लेने के उपरान्त किन्हीं महत्वपूर्ण सृजनात्मक अनुमानों को व्यावहारिक बन सकने की स्थिति तक पहुँचने का अवसर मिलता है।

आइन्स्टीन से पूछा गया कि उन्होंने रेलेटिविटी के सिद्धान्त का सर्व प्रथम आभास किस प्रकार पाया? तो उन्होंने उत्तर दिया—'इट हैपेण्ड' अर्थात् वह अनायास ही सामने ही आ खड़ा हुआ। रेडियम खोज के सम्बन्ध में जब क्यूरी से पूछा गया तो उनका उत्तर भी इसी से मिलता-जुलता था। संसार में जो कुछ अद्भुत और

असाधारण है उसका उदय भाव सम्वेदना के क्षेत्र से होता है। विज्ञान की उपलब्धियों के सूत्र संकेत भी उसी क्षेत्र से मिले हैं और दार्शनिक क्षेत्र के अद्‌भुत विचारों का उदय भी वहीं से हुआ है। अन्तःकरण को मस्ती से भर देने वाली और लोक-मानस को झकझोर देने वाली दिव्य सम्वेदनाओं का उद्‌गम, भाव-सम्वेदनाओं के गहरी तली से ही उभर कर ऊपर आता है।

विज्ञान क्षेत्र में हुए अनेकानेक आविष्कारों का आरंभ कहाँ से हुआ? इस प्रश्न का सर्वत्र एक ही उत्तर मिलेगा कि—'वह सम्भावना अनायास ही सूझ पड़ी।' मात्र सूझ ही नहीं पड़ी, वरन् अन्तःकरण में किसी ने यह विश्वास भी दिलाया कि यह आभास भ्रम जंजाल नहीं, वरन् सर्वथा सत्य है। इस आश्वासन भरे आभास के सहारे ही उन लोगों ने अपनी खोजें अधिक गम्भीरता, अधिक तत्परता और अधिक तन्मयता के साथ प्रारम्भ कीं, फलतः उनका पथ-प्रशस्त होता चला गया और थोड़े से प्रयत्न ने आश्चर्य-जनक सफलता उनके सामने लाकर खड़ी कर दी। प्रायः सभी महत्वपूर्ण आविष्कारों का आरम्भ इसी प्रकार होता रहा है।

जेम्स वाट के एक आविष्कार की कहानी स्वप्न संकेतों के साथ जुड़ी हुई है। उन दिनों बन्दूक के छर्रे सीसे का तार काट-काटकर बनाये जाते थे। वह कोई ऐसा सुगम, सस्ता तरीका ढूँढ़ना चाहता था जिससे छर्रे अपेक्षाकृत सुन्दर भी बनें।

उन्हीं दिनों एक रात जेम्स वाट ने सपना देखा कि वह कहीं जा रहा है। आँधी आई और पानी बरसा। पानी की बूँदों की जगह उसके सिर पर सीसे के गोल छर्रे बरस रहे हैं। आंखें खुलने पर उसने इस विचित्र सपने को मन की भटकन भर माना और विशेष ध्यान नहीं दिया। किन्तु वही सपना कई रात लगातार उसी तरह आता रहा। तब वाट ने उसका संकेत खोजा। उसे लगा किसी ऊँची जगह से गरम सीसा पिघला कर पानी के तालाब में डाल कर प्रयोग करने पर छर्रे बन जाने की सम्भावना का यह संकेत हो सकता है। बड़ी कठिनाई से प्रयोग के लिए एक ऊँची इमारत उसे मिली जिसकी दीवार से सटा हुआ जलाशय भी था। जेम्स ने गरम सीसे की बूँदें ऊपर से गिराईं और पानी में गिरने पर ये गोल छर्रे के रूप में बदल गईं। वाट का आविष्कार सफल हुआ और तभी से बन्दूक में काम आने वाले गोल छर्रे बनने लगे।

पेन्सिल वेनिया युनिवर्सिटी के प्रो० लेम्बरटन एक वैज्ञानिक गुत्थी को वर्षों से सुलझाने में लगे हुए थे। पर कोई समाधान सूझ नहीं पड़ता था। अचानक एक रात उन्होंने वह हल दीवाल पर चमकता देखा। पाया गया कि वह उत्तर पूरी तरह सही था।

कोलरिज, गेटे, स्टीवेन्सन, ब्लेके सरीखे मूर्धन्य कवियों को अपनी सर्वश्रेष्ठ कविताओं की पृष्ठभूमि स्वप्नों में ही उपलब्ध हुई हैं। गणित और दर्शन का समन्वय करने वाले विलक्षण दार्शनिक रेने देकार्त ने अपने प्रतिपादन का आधार स्वप्न में ही ढूँढ़ा था।

गणित सिद्धान्तों के आविष्कारों के सम्वन्ध में खोज करने वाले विद्वान हेनरी फेहर ने संसार के ६९ गणितज्ञों के सम्वन्ध में जानकारी एकत्रित करने पर यह पाया कि उनमें से ५१ को गणित के गूढ़ सिद्धान्तों को ढूँढ़ निकालने में स्वप्न संकेतों से ही असाधारण सहायता मिली है।

हालैण्ड के "डच सोसाइटी फार साइकिकल रिसर्च" के सुविस्तृत अनुसन्धानों में एक विचित्र घटना यह भी दर्ज है कि एक व्यक्ति ने ३६८४ की संख्या कई दिन स्वप्न में लगातार देखी। वह उसका और कुछ मतलब तो न समझ सका, पर उसी नम्बर का लाटरी टिकट खरीद लिया। उसे सन् १९४८ का लाटरी का प्रथम पुरस्कार मिला।

सिलाई की मशीन का आविष्कर्त्ता ऐलियास उस अति उपयोगी यन्त्र का ढाँचा प्रायः तैयार कर चुका था, पर उसके लिए उपयुक्त सुई कैसे बने यह समझ में नहीं आ रहा था। जितनी तरह की सुइयाँ बनाईं वे सभी असफल हुईं। ऐलियास की उधेड़-बुन और चिन्ता बढ़ती जाती थी, पर कोई तरकीब हाथ नहीं लग पा रही थी।

एक रात ऐलियास ने सपना देखा कि सिलाई की मशीन चौबीस घण्टे में बनाकर तैयार करने की उसे राजाज्ञा मिली है। वह पूरा नहीं कर पाया तो उसे मार डालने का फरमान निकला और मारने के लिए घुड़सवार

भाले लेकर वक्षस्थल पर जमा हो गये। भालों को उसने भय और आतंक के साथ देखा उनकी नोंकों में छेद थे। सपना समाप्त हो गया। आँख खुलते ही एलियास को नई दिशा मिली। उसने सुई की पैनी नोंक पर ही छेद किया और मशीन में उलटी चलने के लिए लगा दिया। बस आविष्कार पूर्ण हो गया।

उन दिनों विज्ञान के क्षेत्र में परमाणु को मान्यता तो मिल गई थी, पर उसका स्वरूप स्पष्ट न था। विज्ञानी नील्स वोहर इसी के शोध प्रयास में भारी माथा-पच्ची कर रहा था, पर कोई सूत्र कहीं से हाथ नहीं लग रहा था।

एक दिन उसने सपना देखा कि—"वह सूर्य के बीचों बीच जलती ज्वालाओं में खड़ा है। अनेकों ग्रह-नक्षत्र उसके इर्द-गिर्द घूम रहे हैं। नील्स सीटी बजाता है, गैस ठण्डी हो जाती है और सूरज टूट कर टुकड़े-टुकड़े बिखर जाता है। वे टुकड़े फिर अपने केन्द्र का चक्कर काटना शुरू कर देते हैं। सपना समाप्त हुआ और नील्स हड़बड़ा कर उठ बैठा। यह दृश्य अजीब भी था और भयङ्कर भी। उसने उसे निरर्थक नहीं माना, वरन् अपने शोध विषय में किसी अज्ञात सहायता के संकेत की तरह लिया। अणु संरचना की उसने सङ्गति बिठाई कि सूर्य की तरह उसके मध्य में 'नाभिक' है और उसके इर्द-गिर्द इसी के खण्ड इलेक्ट्रानों के रूप में चक्कर लगाते हैं। इस अनुमान पर वह अपनी खोज चलाता रहा और अन्ततः उसे पूर्णतया सत्य पाया। विज्ञान को परमाणु के स्वरूप का निर्धारण करा सकने में नील्स का वह सपना कितना आधारभूत सिद्ध हुआ, यह समझा जा सके तो प्रतीत होगा कि अध्यात्म की उपलब्धियों ने विज्ञान की प्रगति में कितनी बहुमूल्य सहायता की है।

पैरिस (फ्रान्स) की अध्यात्मवादी शोध संस्था "रिसर्चेज साइकालॉजिक आडकरे स्पाण्डेन्स सर ला मैग्नेटिज्म वाइटल एन्ट्रे अना सालिटेयर एट एम डिल्यूज" के अध्यक्ष डा० विल्लाट ने मनुष्य में पाई जाने वाली अतीन्द्रिय क्षमता के सम्बन्ध में गहरी खोज-बीन संस्था के माध्यम से और निजी तौर से की है। उन्होंने आत्म-शक्ति को भी भौतिक शक्ति के ही समतुल्य माना है।

सुकरात कहते थे मेरे भीतर एक 'डेमन' रहता है। उसी के सहारे वे दूरानुभूति के आश्चर्यजनक प्रमाण प्रस्तुत करते थे। गेटे को भी ऐसी ही अदृश्य अनुभूतियाँ होती थीं जिनका कोई प्रत्यक्ष आधार तो नहीं था, पर वे प्रायः सत्य ही सिद्ध होती थीं। यह 'डेमन' क्या हो सकता है इसके उत्तर में उनने स्वयं ही कहा था—'यह सुविकसित अन्तःकरण का ही दूसरा नाम है, किसी प्रेत बेताल का नहीं।'

मनःशास्त्र के महामनीषी डा० जोसेफ राइन ने सर्व प्रथम अतीन्द्रिय विज्ञान पर अपनी वैज्ञानिक आधार पर लिखी हुई पुस्तक 'एक्स्ट्रा सेन्सरी पर्सेप्शन' प्रकाशित कराई थी। तब से लेकर अब तक इस सन्दर्भ में शोध-कार्य बहुत आगे चला गया है। डा० जोसेफ ने प्रायः ८५ हजार घटनाओं की साक्षियों का विश्लेषण करके कुछ निष्कर्ष निकाले थे। उसने कहा है—'बिना संचार साधनों की सहायता के एक मन दूसरे मन को प्रभावित कर सकता है। मन में पदार्थों को प्रभावित करने की सामर्थ्य मौजूद है। मनःशक्ति की लम्बी दौड़ में दूरी-ताप, ऊँचाई, गहराई अथवा अन्य कोई भौतिक कारण व्यवधान उत्पन्न नहीं करते।

रूसी परामनोविज्ञानवेत्ता एल० एल० वेसिलियेव ने एलेक्ट्रो मैग्नेटिज्म-एक्सरेज आदि के व्यवधान उत्पन्न करके यह पता लगाने का प्रयत्न किया कि मन की दूर-बोध शक्ति में उनके कारण कोई अड़चन उत्पन्न होती है, या नहीं। पर पाया यही गया कि जिनमें यह शक्ति मौजूद है उनका कार्य प्रत्येक वैज्ञानिक बाधा के बावजूद यथावत् चलता रहता है। मन की क्षमता को कोई भौतिक शक्ति प्रभावित नहीं करती। इससे वे यह सोचने को बाध्य होते हैं कि मन की शक्ति कोई अभौतिक शक्ति हो सकता है।

हनावा होकीची जापान के मुसाशी प्रान्त का रहने वाला व्यक्ति सात वर्ष की आयु में अन्धा हो गया था। किन्तु उसने अपना जीवन उच्चकोटि के विद्वानों को इकट्ठा कर उन्हें पढ़ाने में बिताया। उसने स्वयं ने सुनकर पढ़ा था और अपनी बौद्धिक क्षमता को इतना प्रखर बनाया था कि ४००००० हस्तलिपि की विषय-सूची तैयार

कर सकता था। उसने एक ऐसी पुस्तक सङ्कलित की जिसके २८२० खण्ड हैं। ऐसी विशाल पुस्तक आज तक दुनिया में किसी ने भी नहीं लिखी। उसने वागाक्से में एक स्कूल भी खोला जिसमें जापानी साहित्य पढ़ाया करता था।

स्पेन की सर्वश्रेष्ठ समझी जाने वाली इमारत 'इस्कोपियल' वहाँ के राजा फिलिप द्वितीय ने अपनी पत्नी मेरी ट्यूडार की स्मृति में बनवायी थी। उसमें यह भी व्यवस्था थी कि राजाओं की मृत्यु के बाद उन्हें इन्हीं में बनी कब्रों में दफनाया जाया करे। फिलिप को एक भविष्यवक्ता ने बताया था कि उसका राजवंश २४ पीढ़ी तक चलेगा। उस कथन पर राजा को पूरा विश्वास था। इसीलिए उसने २४ कब्रें ही बनवा कर रखीं। आश्चर्य यह है कि भविष्यवाणी पूर्णतया सच निकली। रानी मेरिया क्रिस्टिना को सन् १९२६ में २३ वीं कब्र में दफनाया गया। इसके बाद २४ वें राजा अलफोनो को दो वर्ष बाद ही गद्दी छोड़नी पड़ी। साथ ही, राजतन्त्र का भी अन्त हो गया। वहाँ गणतन्त्र स्थापित हुआ और अलफोनो स्पेन का अन्तिम चौबीसवाँ राजा कहलाया।

"इसिस अनवेल्ड" ग्रन्थ में ऐसे कितने ही उल्लेख हैं जिनमें विचार-शक्ति द्वारा दूसरों को भले या बुरे प्रयोजन के लिए प्रभावित किये जाने के उल्लेख हैं। पुस्तक में "सैक्यूज पेलिसियर" नामक व्यक्ति का उल्लेख है जो अपनी वेधक दृष्टि से चिड़ियों को मूर्च्छित करके पकड़ लेता था और अपनी आजीविका चलाता था। डाक्टर एसगर ने अपनी साक्षी सहित वह विवरण विस्तारपूर्वक प्रकाशित कराया है, जिसमें उपरोक्त व्यक्ति उड़ती चिड़ियों को किस प्रकार वशवर्ती करके उनके प्राण-हरण करता था।

विचारों से वस्तुओं को प्रभावित करने की विद्या "साइकोमेट्री" के नाम से जानी जाती है। जिन पदार्थों का जिस प्रयोजन के लिए प्रयोग होता रहा है, वे उससे भर जाते हैं और फिर जहाँ भी उनका प्रयोग होता है वहाँ वे उस क्षमता का परिचय देते हैं जो उनने दीर्घकालीन सम्पर्क से संचित की थीं।

ड्यूक विश्व-विद्यालय के प्रोफेसर जी० बी० राइन ने अतीन्द्रिय ज्ञान से सम्पन्न कितने ही व्यक्तियों की क्षमताओं को जाँचा और तथ्यपूर्ण पाया है। विज्ञानी कैरिंग्टन के शोधकार्य में भी मनुष्यों में अतीन्द्रिय शक्ति पाये जाने की यथार्थता स्वीकार की गई है।

डा० ब्रोरो, डा० वेगनर, डा० वेकची, डा० चेना आदि मूर्धन्य शरीर शास्त्रियों की एक मण्डली ने विश्व भ्रमण करके योगियों की विलक्षणताओं का पता लगाया था। उनने अपने अनुभवों में ऐसे कितने ही योगियों का वर्णन किया है, जिनमें ऐसी असामान्य क्षमताएँ पाई, जिन्हें आश्चर्यजनक कहा, जा सके।

अतीन्द्रिय क्षमता सम्पन्न व्यक्तियों तथा घटनाओं के ऐसे उदाहरण आये दिन देखने को मिलते हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि मस्तिष्क का सामान्य ज्ञान एवं कौशल ही सब कुछ नहीं है। सूक्ष्म जगत में ऐसा बहुत कुछ है जो सामान्य लोगों को उपलब्ध नहीं है। इसे प्राप्त करने के लिए अचेतन मन की उस परत को परिपुष्ट करना पड़ता है जिसे आत्म-विज्ञान में विज्ञानमय कोश नाम दिया गया है।

★

(शेष पृष्ठ ६२ का)

अनावरण, उन्नयन, परिष्कार। सुसंस्कारों की जड़ें इसी में प्रवेश करती और फैलती हैं। जीवन को कल्प-वृक्ष स्तर का बना सकने के उपयुक्त क्षेत्र यही है। उस कोश को समुन्नत बनाने के लिए किये गये प्रयास चाहे इस प्रकार के हों चाहे उस प्रकार के—व्यक्तित्व में प्रखरता उत्पन्न करते हैं और उसके सहारे सर्वतोमुखी प्रगति के पथ पर बढ़ चलना सम्भव होता है।

विज्ञानमय का दूसरा प्रयोजन है अन्तःचेतना की उन गहरी परतों को सजग करना जो सूक्ष्म जगत के साथ अपना सम्बन्ध बनाने और अधिकार जताने में समर्थ हैं। अतीन्द्रिय क्षमताओं का भण्डार यही है। उन्हें जगा लेने पर सीमा-बन्धन की दीवारें टूटती हैं। असीम के साथ सम्बन्ध जुड़ता है। विज्ञानमय कोश वह द्वार है जिसे खोलकर हम बन्धन मुक्त—जीवन युक्त होते हैं। उसी द्वार में प्रवेश करके वह प्राप्त किया जा सकता है जिसे पाने की आकांक्षा से अन्तरात्मा को सदा उद्विग्न और अशान्त रहना पड़ता है।

❖

हमारे उच्च चेतन की अद्भुत क्षमताएँ

अचेतन मन की उच्चस्तरीय सत्ता में सूक्ष्म जगत के साथ सम्बन्ध जोड़ने की क्षमता है। दृश्य जगत का व्यवहार मन और बुद्धि के सहारे चलता रहता है। शरीर की निर्वाह व्यवस्था को यथा क्रम सुसंचालित बनाये रहने का काम मस्तिष्क के पिछले भाग में अवस्थित अचेतन क्षमता चलाती रहती है। इससे आगे का उच्च स्तर जिसे दिव्य चेतन कहते हैं, विशिष्ट शक्तियों से भरा पूरा है। सामान्यतया वह कुंभकर्ण जैसी गहन निद्रा में पड़ा रहता है। यदि उसे जागृत होने का अवसर मिल जाय तो व्यक्तित्व को देवोपम बनाने से लेकर चमत्कारी सिद्ध पुरुषों जैसे अलौकिक स्तर के ज्ञान और कर्म का परिचय दे सकता है। विज्ञानमय कोश की जागरण साधना इसी दिव्य चेतना को समुन्नत बनाने की प्रक्रिया का नाम है।

मनोविश्लेषणवादी मनोवैज्ञानिकों के अनुसार हमारी सचेतन (कान्शस स्टेट) अवस्था से गहरी एक अन्य चेतना है, जो (अनकान्शस स्टेट) अचेतन अवस्था कहलाती है। सचेतन अवस्था किसी समुद्र में तैरते विशाल हिमखंड (ग्लेशियर या आइसबर्ग) का ऊपर निकला हुआ दशमांश भाग है और अचेतन अवस्था समुद्र की ऊपरी सतह के नीचे पानी में छिपे फैले ग्लेशियर का शेष विशाल भाग है, जो सचेतन से नौ-दस गुना बड़ा है। ग्लेशियर का कुछ हिस्सा पानी की ऊपरी सतह को कुछ ऊपर से, कुछ नीचे से छू रहा होता है, यही सचेतन-अचेतन के बीच की अवचेतन (सबकांशस) अवस्था है।

वैज्ञानिकों की मान्यता है कि कथित गुह्य शक्तियाँ वस्तुतः अत्यन्त शक्तिशाली अचेतन मस्तिष्क की ही करामातें हैं। मृतात्माओं, देवात्माओं से सम्पर्क के ठोस प्रमाण भी उपचेतन एवं अवचेतन की अज्ञात सामर्थ्य का ही परिणाम है। सम्मोहन अतीन्द्रियानुभूति परक स्वप्न, समस्याओं का अचेतन मस्तिष्क द्वारा आकस्मिक समाधान (किसी निश्चित समस्या पर मनन करते हुए सो जाने पर अचेतन मस्तिष्क द्वारा सोते समय ही उसका कोई ऐसा समाधान ढूँढ़ निकालना, जो जगने पर बुद्धि-पटल पर स्पष्टतः उभरकर विस्मित कर दे।' आदि सभी के प्रति वैज्ञानिकों की मान्यता यही है कि वे अवचेतन मस्तिष्क की गतिविधियाँ हैं।

फ्रायड ने 'सेल्फ' को तीन भागों में बाँटा है—'ईगो' अर्थात् चेतन आत्म। 'इड' यानी सहज प्रेरणाओं का अचेतन भण्डार। 'सुपर ईगो' यानी नैतिक प्रेरणाओं और मान्यताओं का क्षेत्र। प्रेम की सहज प्रेरणा (इन्स्टिन्क्ट) या मूल प्रवृत्ति को उसने 'लिबिडो' का विशेषण दिया। उनके अधिकांश लेखनों में 'लिबिडो' तथा सामाजिक मान्यताओं के अन्तर्द्वन्द्व का विवेचन है। उसके अनुसार 'लिबिडो' का असन्तुष्ट अंश मार्गान्तरित होकर सृजन के विविध रूपों में प्रवाहित होता है और उदात्तीकरण के द्वारा कला तथा संस्कृति के विविध क्षेत्रों में सक्रिय होता है। जुंग ने 'लिबिडो' की व्यापक व्याख्या की और सभी मूल प्रवृत्तियों से उसे सम्बद्ध बताया न कि मात्र प्रेम से। जुंग ने 'सामूहिक अवचेतन' की भी धारणा दी। 'काम्प्लेक्स' की भी उसने विशेष व्याख्या की और प्रतिपादित किया कि 'काम्प्लेक्स' का अर्थ होता है—अचेतन मस्तिष्क में किसी भी विचार-समूह का एक विशिष्ट भावावेग के साथ विद्यमान होना।

अचेतन की खोज जैसे-जैसे बढ़ती जाती है, अलौकिक कही-समझी जाने वाली अनेक बातों के सूत्र स्पष्ट होते जाते हैं। साथ ही विज्ञान के अब तक के अनेक सिद्धान्तों एवं नियमों का आधार भी ध्वस्त हो रहा है। नये नियमों का उदय, समर्थन हो रहा है। मनोविज्ञान की तो अधिकांश स्थापित मान्यताओं में भारी उलट-पुलट हो रही है।

यही कारण है कि प्रारम्भ में अनेक वैज्ञानिकोंमनो-वैज्ञानिकों ने उन तथ्यों पर विश्वास करने से ही इन्कार कर दिया था, जो आज परामनोविज्ञान का आधार बने हुए हैं। उन्हें प्रारम्भ में विचित्र और वाहियात बातें मात्र

माना गया था।

बहुत दिन नहीं हुए, जब मानसिक क्रिया-कलापों को शारीरिक आवश्यकताओं के अनुसार चलने वाला माना जाता था। भूख लगती है, इसीलिए पेट भरने की चिंता मस्तिष्क को होती है और पैर उधर मुड़ जाते हैं, जहाँ उदर-भरण हो सके। हाथ खाद्य-पदार्थों को मुँह तक पहुँचाते, मुँह उन्हें चबाता, पेट पचाता है। इसी तरह प्रत्येक मानसिक गतिविधि देह की जरूरतें पूरा करने के लिए ही होती है।

अचेतन मन की प्रारम्भ में जब जानकारी मिली, तब भी ध्यान इसी ओर दिया गया कि शरीर को जीवित-गतिशील रखने के लिए वह निरन्तर हमारे अनजाने ही चलने वाले विविध क्रिया-कलापों का संचालन करता है जैसे—रक्तसंचार, श्वास-प्रश्वास, हृदय की धड़कन, आकुंचन-प्रसारण, पाचन-विसर्जन, पलकों का झपकना, आदि। इस प्रकार बहुत समय तक मस्तिष्क को शारीरिक प्रयोजनों का पूर्तिकारक अवयव ही माना गया। विचार-शक्ति शारीरिक आवश्यकताओं की ही अनुवर्ती, अनुचरी मानी गयी। शरीर से सम्बद्ध समस्याओं के समाधान-कारक उपाय ढूँढने और उनके व्यवहार की व्यवस्था बनाने में ही विचार-शक्ति की पूर्ण सार्थकता मानी गयी।

पर यह शिशु मान्यता अधिक दिन नहीं टिकी। शोध क्षेत्र में प्रौढ़ता बढ़ी और धीरे-धीरे वैज्ञानिकों का ध्यान इस ओर गया कि ऐसे भावों की भी मनुष्य मस्तिष्क में कमी नहीं, जो शरीर को लाभ पहुँचाना तो दूर, उल्टे हानि ही पहुँचाते हैं। औरों के दुःख से स्वयं दुःखी हो जाने, पर-सेवा, लोक-मङ्गल के लिए सर्वस्व न्योछावर कर देने, देश समाज, विश्वमानव के लिए अपनी सुख-सुविधाएं ठुकरा देने आदि आचरणों से शरीर को तो कोई भी सुख मिलता नहीं, कष्ट ही भोगना पड़ता है। फिर, यह भी देखा गया कि भावनाएं व्यक्ति को क्रियाशील ही बनाती हों सो नहीं, वे तो शरीर और मन की सामान्य कार्य-व्यवस्था को भी कभी-कभी अस्त-व्यस्त करके रख देती हैं। किसी प्रियजन की मृत्यु से हृदयगति अवरुद्ध हो सकती है, मस्तिष्क विक्षिप्त हो सकता है। नृशंस क्रूर कर्मों को देखकर भय से कई लोग अचेत हो सकते हैं, कुछ अन्य क्रोध से अत्यन्त उत्तेजित हो सकते हैं।

इस दिशा में ध्यान देने पर मस्तिष्क के अचेतन स्तरों की विशालता-विविधता की ओर ध्यान गया। भावनाओं का महत्व जाना गया। अमरीकी वैज्ञानिकों डा० पाल मैकलीन, डा० जोसे डेलगेडी आदि ने गहन विश्लेषण कर निष्कर्ष निकाला कि भावनाएँ शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य को अत्यधिक प्रभावित करती हैं। व्यक्ति की अनेक शारीरिक-मानसिक हलचलें इन्हीं भावनाओं के संकेत पर होती रहती हैं।

वैज्ञानिकों ने देखा कि आहार-बिहार का अपना महत्व है, पर उतनी भर व्यवस्था सध जाने पर स्वास्थ्य ठीक ही बना रहे, यह निश्चित नहीं। अध्ययन-अध्यापन द्वारा चेतन मन की जानकारी बढ़ती है, पर शिक्षा-सुविधाएँ उपलब्ध हो जाने पर व्यक्ति मनोविकारों से रहित, स्वस्थ मस्तिष्क सम्पन्न हो जाए, यह अनिवार्य नहीं।

यहीं से मन के अचेतन—अधोचेतन—स्तरों की ओर ध्यान गया। ड्यूक विश्वविद्यालय में परामनोविज्ञान विभाग के अध्यक्ष डा० राइन ने अपनी पुस्तक "द रीच आफ माइन्ड" में 'फाइव ग्रेट स्टेप्स' शीर्षक के अन्तर्गत अपने अनेक वर्षों के अनुसंधानों को संश्लिष्ट रूप में प्रस्तुत किया।

इस प्रकार अचेतन मन की अनन्त सामर्थ्य के द्वार खुले। मायर्स ने इसे "सब्लीमाइनल माइन्ड" नाम दिया। मस्तिष्क के अचेतन स्तरों की खोज इन दिनों गम्भीरतापूर्वक की जा रही है। मनोवैज्ञानिकों ने मस्तिष्क के तीन कार्यक्षेत्र माने हैं—(१) चेतन (२) उपचेतन (३) अचेतन।

उपचेतन तथा अचेतन मस्तिष्क के क्रिया-कलापों के बारे में जब भौतिक-विज्ञानी दृष्टि से अभी तक ठीक-ठीक कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। एलेक्ट्रोएनसेफालोग्राम से भी इस विषय में स्पष्ट कुछ नहीं जाना जा सका है। अल्फा, बीटा, डेल्टा, थीटा आदि मस्तिष्कीयलयों (रिद्मों) से मस्तिष्क की विश्रान्ति, सतर्कता, उद्वेग, सुषुप्ति, स्वप्नावस्था आदि का भान मात्र होता है। मस्तिष्क के विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र की भी ऐसी व्यापक जानकारी

नहीं मिल सकी है कि कुछ निश्चित निष्कर्ष उस आधार पर निकाले जा सकें। मस्तिष्क के मुख्य भाग (फोरब्रेन) बावत मात्र ३ प्रतिशत जानकारी मिल सकी है, ९७ प्रतिशत अभी भी अविज्ञात ही है। सूक्ष्म विद्युदग्रों द्वारा स्मरण-शक्ति को जाग्रत एवं सम्वेदना-विशेष को उद्दीप्त करने के प्रयोग किए जा रहे हैं। फ्रेंच वैज्ञानिक प्रो० डेलगाडो ने लूलू नामक डरपोक जानवर की कनपटी में सूक्ष्म विद्युदाग्र (इलेक्ट्राड) के द्वारा एक विशेष भाग को उत्तेजित कर दिया, जिससे वह निर्भीक आचरण करने लगा। रूसी वैज्ञानिक प्रोफेसर एनोरवीन ने अपने प्रयोगों द्वारा 'रेटिक्युलर फार्मेशन' उन ग्रन्थियों का पता लगाया, जिनमें से कुछ मधुर रसों का स्राव करती हैं और प्रसन्नता-प्रफुल्लता, हँसी, मृदुता, शिष्टता, सौम्यता आदि प्रतिक्रियाओं को जन्म देती हैं, तो दूसरी ऐसे रस स्रवित करती हैं, जो चिन्ता, क्षोभ, निराशा, उद्वेग को जन्म दें। डा० एनोरवीन ने यह भी पता लगाया कि इन ग्रन्थियों का स्राव भी विचारों एवं भावनाओं से ही नियन्त्रित होता है।

कनाडा के शोधवैज्ञानिक डा० डब्ल्यू० जे० पेनफील्ड ने अपने प्रयोगों द्वारा स्मरण शक्ति की पट्टियों के बारे में आश्चर्यजनक जानकारी एकत्र की। एक व्यक्ति की स्मरण-शक्ति की पट्टी के किसी विशेष हिस्से में विद्युत-दौड़ने पर उसकी पूर्वजन्म की स्मृतियाँ जागृत हो गईं। इन्हीं प्रयोगों से यह भी जाना गया है कि हम जो भी काम करते हैं, वह कितना भी छिपकर क्यों न करें, अचेतन मस्तिष्क में वह सब अङ्कित होता रहता है।

मस्तिष्क के इन अचेतन स्तरों का ज्ञान हो जाने पर आधुनिक सभ्यता का आधार ही बदल जाएगा। इस सभ्यता का वर्तमान आधार चेतन मन की क्रियाएँ हैं। यह मन सदा बाह्य वस्तुओं और विषय-सुख में संलग्न रहता है। जब अपने ही भीतर के विशाल खजाने की जानकारी मिल जाएगी, तो उसकी प्राप्ति के लिए सचेष्ट हो जाना स्वाभाविक है।

प्राचीन भारतीय मनीषी मानव-मन के इन स्तरों की जानकारी रखते थे। मन की इन शक्तियों को अभिव्यक्त करने और इन पर अधिकार रखने की कला ही योग है। अचेतन की अनन्त सामर्थ्य का योग-शक्ति द्वारा प्रयोग कर प्राचीन भारतीय मनीषी 'अतीत-अनागत के ज्ञान', सर्वभूत-सतज्ञान, परचित्त ज्ञान, पूर्वजन्मों के ज्ञान, भुवनज्ञान, कायव्यूह ज्ञान, तराव्यूह ज्ञान, तारागति ज्ञान, दूरश्रवण, दूरबोध, सर्वज्ञत्व आदि अलौकिक शक्तियों से सम्पन्न होते थे। योगवाशिष्ठ में इसीलिए मन को 'आकाश के समान सर्वत्र स्थित' कहा गया है।

पूर्वाभास, दूरदर्शन, अप्रत्यक्ष की जानकारी विचार-संचार, देवात्म सम्पर्क आदि कितनी ही अलौकिकताएँ अपने अचेतन केन्द्र को इन सबकी परोक्ष जानकारी होने का ही परिणाम है। सचेतन मस्तिष्क की दृष्टि से यह पूर्वाभास चमत्कारी या अलौकिक कहा जा सकता है, पर है यह मस्तिष्क की स्वाभाविक क्षमता ही। कई पशुओं में यह क्षमता विशेष विकसित होती है। उसी के कारण

> यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
> तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः॥
> कठ० वल्ली ३ मं० ५
>
> जो योग साधन से रहित, असावधान, चंचल चित्त और संशयग्रस्त रहता है, उसका मन भी अज्ञानी विषयी रहता है और उसकी इन्द्रियाँ अनाड़ी सारथी के घोड़ों की तरह वश में नहीं रहतीं।

वे समीपी पर्यावरण में हो रही हलचलों का स्वरूप समझ लेते हैं और कुछ ही क्षणों बाद सम्भावित आघात को समझकर, उससे बच निकलते हैं। गिरने वाली इमारत को बिल्लियाँ इसी केन्द्र की पूर्वाभासी शक्ति के कारण चल देती हैं। अपने लिए घातक पशुओं, सिंह, चीता, तेंदुआ आदि की शाकाहारी या अपेक्षाकृत दुर्बल पशुओं द्वारा दूर से ही उपस्थिति जान लेने की शक्ति इससे भिन्न है। उसका सम्बन्ध विशेषकर विकसित घ्राण-शक्ति तथा श्रवण-शक्ति या त्वचा की अति विकसित सम्वेदन क्षमता से होता है। यों, हैं ये सब केन्द्र भी सेरिब्रम में ही।

मस्तिष्कीय शक्ति की इन्हीं विशेषताओं का इच्छित विकास व्यक्तित्व को अनन्ताविभूति सम्पन्न बना सकता है। श्रवण-शक्ति की दिव्य-क्षमताएँ विकसित कर अनन्त

ब्रह्माण्ड में होने वाली हलचलों को सुना-समझा जा सकता है और विश्व में घटित होने वाले घटनाक्रम को जाना जा सकता है। प्राणियों की मनःस्थिति के कारण उत्पन्न होने वाली अदृश्य ध्वनियों को समझने की क्षमता भी विकसित की जा सकती है और मानव ही नहीं, पशु-पक्षियों, जीव-जन्तुओं की मनःस्थिति का परिचय प्राप्त किया जा सकता है।

दृश्य-शक्ति का विकास कर अदृश्य जगत की सूक्ष्म हलचलों को प्रत्यक्षवत् देखा-समझा जा सकता है और गुप्त रहस्यों का ज्ञान हो सकता है। दूर की घटनाओं का ज्ञान, दूरवर्ती आकाश में हो रही सूक्ष्म हलचलों का ज्ञान एवं स्वप्नावस्था में दिव्य-दृश्य तथा भविष्य में घटित होने वाली घटनाओं का पूर्वाभास इसी दृश्य-शक्ति या तृतीय नेत्र के विकास की साधना के सत्परिणाम हैं। घ्राण-शक्ति का विकास भी ऐसे ही चमत्कारी सुफल सामने ला सकता है। कुत्तों जैसे जानवरों की विकसित घ्राणशक्ति का सदुपयोग कर आज अपराधों के अन्वेषण में उनसे सहायता ली ही जा रही है। स्वाद-शक्ति (रसना) और वाक्-शक्ति (वाणी) का विकास तृप्ति एवं वाग्बल का, वचन-सिद्धि का आधार बनता है। त्वचा की सम्वेदनशीलता का विकास कर उससे परिवेश के सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्पन्दनों को ग्रहण एव विश्लेषित किया जा सकता है।

प्रखरता के आधार पर विचार-शक्ति तीन भागों में विभक्त होती है (१) मन्द विचार इनमें जड़ता की मात्रा अधिक होती है। इसलिये यह न तो दूर तक जा सकते हैं न किसी को प्रभावित कर सकते हैं। ऐसे लोग अदूरदर्शी अविवेकी और समस्याग्रस्त होते हैं। जन-साधारण (२) मन्द विचारों की कोटि में आते हैं, यह लोग अपनी सफलता और सांसारिक-जीवन किसी तरह गतिशील तो कर लेते हैं, सम्पत्ति और विद्या-वृद्धि भी प्रचुर संचित कर लेते हैं किन्तु असाधारण कार्य करने की क्षमता उनमें भी नहीं होती। (३) इन्हीं विचारों को गहनता से सोचने और सम्पूर्ण ध्यान शक्ति समर्पित कर देने से वे अत्यधिक वेगवान बलवान हो उठते हैं। उनकी अधिक प्राण-शक्ति काम करने लगती है। हृदय और मस्तिष्क की शक्ति भी संयुक्त हो जाती हैं। यह वेग तुरन्त आश्चर्यजनक परिणाम देने वाले तथा अनेकों लोगों को इच्छित दिशा में चलाने की सामर्थ से ओत-प्रोत हो जाते हैं। ऐसे मस्तिष्क न केवल रचनात्मक अपितु ध्वंसात्मक कार्य भी कर सकते हैं। दूर-संचार, दूर-दर्शन, दूर-श्रवण और पूर्वाभास आदि अतीन्द्रिय कार्य इसी तरह की ध्यानस्था विचार-शक्ति के ही परिणाम होते हैं।

फार्म—४

१. प्रकाशन का स्थान— मथुरा

२. प्रकाशन का अवधि क्रम—मासिक

३. मुद्रक का नाम—मृत्युञ्जय शर्मा
राष्ट्रीयता— भारतीय
पता—जन-जागरण प्रेस, मथुरा।

४. प्रकाशक का नाम—मृत्युञ्जय शर्मा
राष्ट्रीयता— भारतीय

५. सम्पादक का नाम—भगवती देवी शर्मा
राष्ट्रीयता— भारतीय
पता—अखण्ड-ज्योति संस्थान, मथुरा।

६. स्वत्वाधिकारी— मृत्युञ्जय शर्मा
पता—अखण्ड-ज्योति संस्थान, मथुरा।

मैं, मृत्युञ्जय शर्मा यह घोषित करता हूँ कि ऊपर दिये गये सब विवरण मेरी अधिकतम ज्ञानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य हैं।

—हस्ताक्षर, मृत्युञ्जय शर्मा

विज्ञान मय कोश के भाण्डागार में अतीन्द्रिय अद्भुत क्षमताओं के कोष भण्डार भरे पड़े हैं। खदान खोद कर रत्न राशि पाने वालों की तरह हम भी साधना प्रयत्नों द्वारा अपनी अलौकिक सिद्धियाँ-लौकिक जीवन में प्रकट कर सकने योग्य बन सकते हैं।

आनन्दमय कोश–शिव शक्ति का संगम

आत्मसत्ता का मूल स्वरूप सत्य, शिव, सुन्दर कहा गया है। परमात्मसत्ता की व्याख्या सत्-चित्, आनन्द रूप में होती है। दोनों ही स्थितियाँ परम सुखद हैं। स्वभाव है जीवन को सुखद, सन्तोषजनक और आनन्दमय होना चाहिए।

बहिरङ्ग जगत में चारों ओर सौन्दर्य बिखरा पड़ा है। प्रकृति की आकृति और प्राणियों की प्रकृति की गहराई में यदि प्रवेश किया जा सके तो वहाँ अन्तरात्मा को पुलकित कर देने वाली शोभा दिखाई पड़ेगी। वस्तुओं की उपयोगिता को सिद्ध करने में ही तो सारा विज्ञान क्षेत्र लगा हुआ है। प्रकृति कामधेनु है, उसमें से एक से एक बढ़े-चढ़े अनुदान प्राप्त किये जा सकते हैं।

अन्तरङ्ग जगत पर दृष्टि डालते हैं, तो उसकी संरचना का कण-कण आनन्द की निर्झरिणी बहाता दीखता है। इन्द्रियों की सम्वेदना इतनी सुखद है कि उनका उपभोग करने में कई बार तो मनुष्य स्वास्थ्य, यश, धन, परलोक आदि की बाजी लगाकर भी किसी भी मूल्य पर अपनी ललक-लिप्साएँ पूरी करने में आतुरता दिखाता है। मस्तिष्क अपना इच्छित कल्पना–लोक इतना सुन्दर गढ़ सकता है कि उसे वास्तविक जगत से किसी भी प्रकार कम प्रेरणाप्रद नहीं कह सकते। भगवान का बनाया अपना संसार जितना अपने सृष्टा के लिए वास्तविक है, मनुष्य द्वारा अपनी भावना और आस्था के सहारे जैसा भी संसार गढ़ लिया है वही उसकी अनुभूतियों का केन्द्र है। मकड़ी अपना जाला स्वयं बुनती और स्वेच्छा से उसमें निवास करती है। मनुष्य अपने लिए—अपनी आस्थाओं के सहारे अपनी एक नई दुनिया बनाता है और उसमें स्वतन्त्रता पूर्वक निवास करता है। अपनी दुनिया भली बनाये या बुरी—स्वर्ग रचे या नरक—यह उसकी इच्छा और क्रिया पर अवलम्बित है। तथ्य जहाँ का तहाँ है। शरीर अपनी तत्परता के—कर्मनिष्ठा के—सहारे हमारे मनोरथ पूरे कराने में कल्प-वृक्ष का काम करता है तो मन:शरीर को कामधेनु कह सकते हैं। हमारी विचारणा, भावना यदि उत्कृष्टता का अवलंबन पकड़े रहे तो इसका प्रतिफल यह है कि मनुष्य इस धरती पर निवास करते हुए भी स्वर्ग सम्वेदनाओं के रसास्वादन का लाभ हर घड़ी लेता रह सकता है।

कारण शरीर की भाव अभिव्यंजना का तो अन्त ही नहीं। करुणा आत्मीयता जैसी दिव्य सम्वेदनाएँ यदि उमँगती रहें तो फिर मनुष्य अपने उसी आत्म अनुदान की प्रतिक्रिया से हर घड़ी भाव-विभोर स्थिति में रह सकता है। आत्म-बोध एवं आत्म-जागृति की स्थिति इतनी उच्चस्तरीय है कि मनुष्य अपनी गरिमा को देवात्मा स्तर की—परमात्मा स्तर की अनुभव कर सकता है। उतना ही गौरवान्वित रह सकता है, जितना कि देवसत्ता एवं परमात्मसत्ता अपने को अनुभव करती होगी। यह अध्यात्म दृष्टिकोण ही अमृत है। इसे प्राप्त करने पर अजरता, अमरता, प्रौढ़ता, सुन्दरता, प्रखरता की दिव्य विभूतियाँ हर घड़ी अपने को अमृतत्व का मिठास देती रहती हैं।

जीव साधारणतया सीमाबद्ध रहता है। उसकी ज्ञानेन्द्रिय सीमित रसास्वादन दे पाती है और कर्मेन्द्रियों द्वारा सीमित सम्पदा का उपार्जन हो सकता है। किन्तु मनुष्य के अन्तराल में बीज रूप में इतनी सम्भावनाएँ भरी पड़ी हैं जितनी कि इस ब्रह्माण्ड में गुप्त या प्रकट रूप में विद्यमान हैं। स्थूल जगत कलेवर है, सूक्ष्म जगत उसका प्राण है। कलेवर से प्राण की क्षमता अधिक ही होती है। दृश्यमान पदार्थों की तुलना में ताप, ध्वनि, विद्युत, ईथर आदि की अदृश्य शक्तियाँ अधिक प्रबल हैं। इस अदृश्य प्रकृति से भी सूक्ष्म जगत की समर्थता असंख्य गुनी बढ़ी-चढ़ी है। उसके साथ सम्बन्ध बना लेने—उस क्षेत्र में प्रवेश पा लेने की सामर्थ्य प्राप्त कर सकने के पश्चात् सीमा-बन्धन समाप्त हो जाते हैं और असीम सामर्थ्य का उदय होता है। अतीन्द्रिय सम्भावनाएँ ही अभी अपने सामने हैं। उनके कुछ कौतुक ही कभी-कभी देखने को मिलते और चकित करते रहते हैं। यदि सचमुच उस क्षेत्र

में कुछ अधिक प्रवेश मिल सके—दिव्य विभूतियों का उपार्जन एवं उपयोग जाना जा सके तो उसकी विलक्षणता सिद्ध पुरुषों जैसी हो सकती है। तब मनुष्य में देवत्व का उदय और नर में नारायण का दर्शन हो सकता है। यह परमआनन्द की स्थिति ही होगी।

उपरोक्त कथन का तात्पर्य यह है कि वाह्य जगत और अन्तर्जगत के दोनों ही क्षेत्र असीम दिव्य सम्वेदनाओं से भरे पड़े हैं। उनकी सुखद सम्वेदनाओं का अन्त नहीं। वस्तु स्थिति यही है। अपनी भ्रान्तियों में उलझ कर उपलब्धियों का लाभ नहीं—लिया यह दूसरी बात है। कस्तूरी का मृग नाभि में सुगन्ध के भण्डार को समझ नहीं पाता, वह उसे वाहर ढूंढ़ता है और प्राप्त करने के प्रयास में जितनी ही भाग-दौड़ करता है उतना ही थकता और निराश होता है। इस दुर्भाग्य पर दाता को दोष नहीं दिया जा सकता। उसने तो कस्तूरी प्रचुर मात्रा में—निकटतम स्थान नाभि में ही भर दी, करतलगत उपलब्धियों का लाभ लेने में भी बुद्धि समर्थ न हो सके तो कोई क्या करे? मृग-तृष्णा के भटकाव में प्रकृति का नहीं कुछ का कुछ देखने और समझने वाले का ही दोष है।

परमेश्वर ने अपने जेष्ठ पुत्र राजकुमार मनुष्य को अपने इस दिव्य उद्यान में—संसार में आनन्द लेने के लिए भेजा है। यहाँ आनन्द की सभी सम्भावनाएँ एवं सुविधाएँ मौजूद हैं। दुःख तो हमारे विकृत दृष्टिकोण और निकृष्ट क्रिया-कलाप की प्रतिक्रिया मात्र है। यहाँ सुख स्वाभाविक और दुःख कृत्रिम है। परमात्मा ने मनुष्य को अपने इस सुरम्य उद्यान में दुःख भोगने के लिए नहीं—आनन्द पाने और आनन्द वखेरने के लिए भेजा है। इस संसार को अधिक सुन्दर, समुन्नत, समृद्ध एवं सुसंस्कृत वनाने के प्रयास में संलग्न रहकर वह अपने ईश्वर प्रदत्त आनन्द को अपने उपार्जन को जोड़कर अधिकाधिक सुखी, आनन्दित रह सकता है। इसके लिए कोई वड़ा कदम नहीं उठाना पड़ता। इसके लिए मात्र अपनी दुर्वुद्धि का निराकरण और दुष्प्रवृत्ति का निवारण पर्याप्त होता है। आनन्द मनुष्य की पैतृक सम्पत्ति है। वह उसे उत्तराधिकार में—प्रचुर परिमाण में—मिली है। उपलब्धियों का स्वरूप समझना और उनका सदुपयोग करना जानना चाहिए। जिनसे इतना भी नहीं वन पड़ता उन्हें दुर्बुद्धिजन्य दयनीय दुर्दशा में ही पड़ा हुआ माना जायगा।

परमात्मा आनन्द स्वरूप है। जीवसत्ता के कण-कण में आनन्द का स्रोत है। प्रकृति में सौन्दर्य और सुविधा प्रदान करने की आनन्दमयी विशेषता भरी पड़ी है। यहाँ सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है। इसीसे जीवन को 'आनन्दमय' कहा गया है। यह कोश उसे असीम मात्रा में, सहज सुखद रूप से उपलब्ध है। हम आनन्दमय लोक में रह रहे हैं।

दुर्भाग्य लगभग वैसा ही है जैसा कि कवीर की एक उलट मासी में व्यक्त किया गया है। वे कहते हैं—

पानी में मीन पियासी।
मोहि लखि-लखि आवे हाँसी॥

कोई व्यक्ति अपने घर का ताला वन्द करके कहीं चला जाय। लौटने पर ताली गुम जाने से वाहर वैठा ठण्ड में सुकेड़े और दुःख भोगे। ठीक ऐसी ही स्थिति हमारी है। तिजोरी की ताली गुम जाने से दैनिक खर्च में कठिनाई पड़ रही है और भूखा-नंगा रहना पड़ रहा है। आनन्दमय कोश अपने भीतर भरा पड़ा है, किन्तु रहना पड़ रहा है निरानन्द स्थिति में। कैसी विचित्र स्थिति है? कैसी विडम्बना है? यह अपने ही साथ अपना कितना विलक्षण उपहास है।

आनन्दमय कोश की साधना इसी दुःखद दुर्भाग्य का अन्त करने के लिए है। उसके आधार पर उस ताले को खोला जा सकता है जिसमें उल्लास का अजस्र भाण्डागार भरा पड़ा है। यह कार्य आत्मा और परमात्मा के मिलन की विधि-व्यवस्था बनाकर—रीति-नीति अपनाकर ही सम्भव हो सकता है। पंचकोशों की साधना के उच्चस्तर पर पहुँच कर इसी ताली को ढूँढ़ना पड़ता है और ताले को खोलने की व्यवस्था वनानी पड़ती है। जो उसे कर सका उसे फिर यह नहीं कहना पड़ा कि हम निरानन्द नीरस जीवन जीते हैं। दुःख और दुर्भाग्य से ग्रसित हैं।

आनन्दमय कोश की साधना का स्वरूप ईश्वर और जीव की मिलन व्यवस्था है। साधारणतया हम ईश्वर के नाम भर से परिचित हैं, उसका नाम जब-तब लेते भी हैं और भजन-पूजन का उपक्रम भी चलाते हैं, पर यह प्रयत्न होता ही नहीं कि ईश्वर को अपने में—और अपने

को ईश्वर में—समाहित करने का प्रयत्न करें। इस समन्वय का कितना सुखद परिणाम हो सकता है इसकी कभी कल्पना भी तो नहीं आती। आमतौर से ईश्वर एक ऐसा व्यक्ति माना जाता है जो थोड़े से स्तवन पूजन से प्रसन्न किया जा सकता है और जिससे तुर्त-फुर्त मनोवाञ्छित वरदान मिल सकते हैं। इसी प्रलोभन में पूजा उपचार की सारी विडम्बनाएँ चलती हैं। ऐसे भगवत् भक्त कहाँ हैं, जो अपने ऊपर ईश्वरीय अनुशासन की स्थापना करते हैं। अपना समग्र समर्पण उसके चरणों में प्रस्तुत करते हैं। वस्तुतः भक्ति का यही स्वरूप है। यह जहाँ भी अपने वास्तविक स्वरूप में होगी वहाँ निश्चित रूप से अमृत की वर्षा हो रही होगी। स्वर्गीय परिस्थितियाँ वनी होंगी। उल्लास विखरा पड़ा होगा, सन्तोष की शान्ति रह रही होगी। आत्मा और परमात्मा का यथार्थ मिलन रसास्वादन कैसे सम्भव हो सकता है? इसकी पृष्ठभूमि क्या है? यह जानने के लिए हमें आनन्दमय कोश की विवेचना एवं साधना की गहराई में उतरना होगा।

श्रेष्ठ तत्वों का मिलन कितना सुखद होता है इसकी जानकारी सभी को है। पृथ्वी को सन्तुलित सूर्य सम्पर्क मिला और यहाँ जीवन की उत्पत्ति हुई। जिन ग्रह-पिण्डों को यह सुयोग नहीं मिला वे निर्जीव निस्तब्ध पड़े हैं। गङ्गा-यमुना के मिलन से सङ्गम वना और तीर्थराज प्रयाग का महत्व वढ़ा। लौह पारस के स्पर्श से सोना वनने वाली वात प्रख्यात है। दो गैसें मिलकर पानी वनाती हैं। जड़ और चेतन के मिलने से गतिशील शरीर वनते हैं। नर और नारी का मिलन एक नया गृहस्थ वनाता है। ऋण और धन विद्युत के मिलन से शक्तिधारा प्रवाहित होती है। जिधर भी आँख उठा कर देखा जाय श्रेष्ठता के साथ सम्पर्क से लाभ ही लाभ है। इस मिलन प्रक्रिया को अपनाकर तो दुष्ट, दुरात्मा भी अपनी दुरभि संधियाँ तक पूरी करते रहते हैं। ब्रह्म और जीव का—आत्मा और परमात्मा का मिलन कितना भाव-विभोर कर देने वाला—समर्थता और सम्पन्नता से भर देने वाला—आनन्द के समुद्र में डुवो देने वाला है। इसे शब्दों में नहीं वताया जा सकता, यह तो विशुद्ध रूप से अनुभूति का विषय है। भगवत् भक्तों की गरिमा पर जव दृष्टिपात करते हैं तो लगता है इसी में जीवन की सच्ची सार्थकता है।

श्रद्धा और भक्ति का युग्म है। श्रद्धा कहते हैं—श्रेष्ठता के प्रति असीम निष्ठा एवं आस्था को अन्तःकरण की गहराई में स्थापित करना। भक्ति कहते हैं—प्रेम सम्वेदना को—आत्मीयता की अनुभूति को। ईश्वर की उपासना श्रद्धा और भक्ति के आधार पर ही सम्भव होती है। पूजा उपचार तो उन सम्वेदनाओं को उभारने वाले प्रयोग अभ्यास भर हैं। ईश्वर परायणता की परख श्रद्धा और भक्ति की कसौटी पर ही होती है।

ईश्वर व्यक्ति नहीं, शक्ति है। उसे मनुष्यों की तरह मनुहार उपहार के सहारे प्रसन्न नहीं किया जा सकता। विजली का समुचित लाभ उठाने के लिए उसके उपयोग की मर्यादाओं को अपनाना पड़ता है। ईश्वर की प्रसन्नता इन तथ्यों पर अवलम्वित है जिन्हें उत्कृष्टता के नाम से जाना जाता है। जिसे भावना क्षेत्र में आस्तिकता, चिन्तन क्षेत्र में आध्यात्मिकता और कर्मक्षेत्र में धार्मिकता के रूप में प्रयुक्त किया जाता है।

उपासना का स्वरूप है—समन्वय। भक्ति का चरम लक्ष्य है—समन्वय—एकीकरण—समर्पण। द्वैत को मिटा कर अद्वैत की स्थापना। यह नाले का नदी में समर्पण हुआ। इसे कठपुतली का वाजीगर की उँगलियों के साथ गठ-वन्धन कहा जा सकता है। इसे पत्नी का पति को वरण समझा जा सकता है—अनुशासन की स्थापना यही है। अपनी स्वतन्त्र इच्छा आकांक्षाएँ समाप्त करके ईश्वरीय अनुशासन को अपने ऊपर स्थापित कर लेना—समर्पण यही है। इसी आत्म-समर्पण की गीता में भगवान ने भक्त से माँग की है। ईंधन अपने को अग्नि में डालकर अग्निमय हो जाता है। पानी दूध में मिलकर एक रूप वन जाता है। ईश्वर को मनोकामना पूर्ति का 'टूल' नहीं वनाया जाना चाहिए, वरन् उसकी गरिमा में अपने आपको आत्मसात् कर देना चाहिए। इसी स्थिति को ब्रह्म निर्वाह—ईश्वर दर्शन या भगवत प्राप्ति कहा गया है। यही ब्रह्म-विद्या की अद्वैत साधना है। इसी आधार पर नर को नारायण—पुरुष को पुरुषोत्तम—जीव को ब्रह्म—आत्मा को परमात्मा वनने का अवसर मिलता है।

प्रेम में आकर्षण है—चुम्बकत्व है। प्रेमी की समीपता सुहाती है, उसी के लिए अधीरता रहती है। ईश्वर भक्ति का—भगवत् प्रेम का—स्वरूप यही है कि बीच की दूरी को समाप्त किया जाय। दोनों के बीच गहन समस्वरता दिखाई दे। इस स्थिति में या तो ईश्वर को जीव की इच्छानुसार काम करना पड़ेगा या जीव को ईश्वर का अनुवर्ती बनना पड़ेगा। स्पष्ट है कि नदी नाले में नहीं मिल सकती, उसकी गहराई, चौड़ाई इतनी नहीं है जिसमें नदी समा सके। नाले का ही नदी में मिलना सम्भव है। जीव का इच्छानुवर्ती ईश्वर नहीं हो सकता। यह भ्रान्ति छोड़ देनी चाहिए। भक्त को ही भगवान् का अनुवर्ती होना चाहिए। यह कार्य भौतिक महत्वाकांक्षाओं को समाप्त करके, ईश्वर के अनुवर्ती बनने से ही सम्भव होता है। श्रद्धा और भक्ति का स्वरूप यही है। इसी आधार पर ईश्वर प्राप्ति का आनन्द लिया जा सकता है।

ईश्वर प्रेम सीमाबद्ध नहीं रह सकता। हिमालय के हृदय से निकली हुई गङ्गा, कहीं अवरुद्ध नहीं बैठी रहती, वरन् सूखे भू-खण्डों और प्यासे प्राणियों की प्यास बुझाती हुई अपनी क्षुद्रता को समुद्र की विशालता में समर्पित करती है। भक्ति का अर्थ है—प्रेम। प्रेम सम्वेदना की प्रतिक्रिया है—आत्मीयता, करुणा, उदारता, सेवा, सद्भावना। यह श्रेष्ठ सम्वेदनाएँ कल्पना और भावना क्षेत्र में आगे बढ़कर जब व्यवहार बनकर विकसित होती हैं तो उसका स्वरूप आत्म-निर्माण और लोक-निर्माण के विविध क्रिया प्रयोजनों में ही परिलक्षित होता है। अपने को और दूसरों को ईश्वर की शरण में ले जाने की—श्रद्धा और भक्ति का अवलम्बन, आश्रय दिलाने की—ही आकांक्षा प्रबल रहती है। निरन्तर इसी दिशा में सोचा जाता है और ऐसे ही कृत्य करने का ताना-बाना बुना जाता है।

यही है वह स्थिति—जिसे आनन्दमय कोश की जागृति कह सकते हैं। पंचकोशी गायत्री उपासना की यही सर्वोच्च स्थिति है। इसमें निरन्तर ईश्वर दर्शन की अनुभूति होती है। भगवान सूक्ष्म है, उसका साक्षात्कार भावानुभूति के रूप में ही होता है। आँखों से खिलौने की तरह ईश्वर को देखने की इच्छा करना बाल-बुद्धि के अतिरिक्त और कुछ नहीं। जब हवा, सर्दी, मैत्री, क्रोध, सुख, दुःख जैसे प्रत्यक्ष आँख से नहीं देखे जा सकते तो ईश्वर जैसे अचिन्त्य, अप्रमेय को इन चर्म-चक्षुओं से देखा जा सकना कैसे सम्भव हो सकता है? जिन्हें ऐसे दृश्य दीखते भी हैं वे उनकी ध्यान चेतना की प्रगाढ़ता का परिचय मात्र देते हैं। उन्हें दिवा स्वप्न के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता। ईश्वर दर्शन तो अन्तःकरण में दिव्यता की झाँकी करने के रूप में ही होते हैं। उसके लिए श्रद्धा और भक्ति के दो पैरों के सहारे लम्बी यात्रा पूरी करनी पड़ती है।

आनन्दमय कोश—श्रद्धा और भक्ति का उद्गम केन्द्र है। वहाँ ईश्वर मिलन की अनुभूति होती है। मूलाधार में अवस्थित जीव चेतना कुण्डलिनी को सहस्रार स्थित ब्रह्म चेतना में मिलाया जाता है। शक्ति शिव से मिलती है। अग्नि कुण्ड में दग्ध हुई सती को फिर नये शरीर से शिव को वरण करने का अवसर मिलता है। अस्तु ईश्वर मिलन का लक्ष्य पूरा करने के लिए गायत्री की उच्चस्तरीय पंचकोशी साधना में—कुण्डलिनी जागरण की विधि-व्यवस्था बनी है। भावनात्मक क्षेत्र में इस दिव्य मिलन की प्रतिक्रिया आनन्द और उल्लास के रूप में दृष्टिगोचर होती है। संसार के श्रेष्ठ—देवपक्ष को देखते हुए प्रसन्न होना—आनन्द है और निकृष्ट—दैत्यपक्ष को निरस्त करने के लिए उमंगते हुए शौर्य, साहस का नाम है—उल्लास। धर्म की स्थापना और अधर्म के नाश के लिए ईश्वर का अवतार होने की प्रतिज्ञा को साधक अपने ही भीतर पूरी होते देखता है। उसे लगता है कि भगवान का अवतार आनन्द और उल्लास के—श्रद्धा और भक्ति के—कुण्डलिनी जागरण के रूप में अपने ही भीतर हो रहा है। आनन्दमय कोश का यह भाव पक्ष है।

कुण्डलिनी जागरण को आनन्दमय कोश का शक्ति पक्ष कहा गया है। ईश्वर भाव-सम्वेदना भी है और समृद्धि सामर्थ्य का भण्डार भी। श्रद्धा और भक्ति के आधार पर की गई सोऽहम साधना, खेचरी मुद्रा जैसी उपासनाएँ भाव पक्ष को समुन्नत करती हैं। कुण्डलिनी जागरण से शक्ति पक्ष उभरता है। उससे मानवी अस्तित्व में ईश्वरीय वर्चस्व की प्रचण्डता प्रकट होती है। आनन्दमय कोश की कुण्डलिनी साधना में भक्ति और शक्ति दोनों का समन्वय है।

गायत्री-सावित्री और कुण्डलिनी

पृथ्वी के उत्तरी दक्षिणी ध्रुवों की तरह मानवी काया के भी दो आधार हैं—जिन्हें धुरी के दो छोर कह सकते हैं। इनमें से एक है ब्रह्मरंध्र स्थित सहस्रार कमल, दूसरा है मल-मूत्र छिद्रों के मध्य मूलाधार चक्र। सहस्रार चक्र को उत्तरी ध्रुव और मूलाधार को दक्षिणी ध्रुव समझा जाना चाहिए। ब्रह्मरंध्र में ज्ञान बीज और जननेन्द्रिय मूल में काम बीज माना गया है। स्थूल रूप से तो शरीर के सभी अङ्गों में रक्त-मांस आदि भरे हैं, पर सूक्ष्म रूप से अवयवों के मध्य जो चेतना संस्थान है उसे शक्ति चक्र कहा जाता है। चक्र शृङ्खला में आदि और अन्त के यही दो प्रमुख हैं। शेष तो इन्हीं के मध्यान्तर में बने हुए हैं।

मस्तिष्क के 'ज्ञान बीज' से हमारी समस्त चेतना प्रभावित होती है। शरीर निर्वाह तथा लोक-व्यवहार में उसी की भूमिका प्रधान है। उच्चस्तरीय भूमिका में यही केन्द्र अतीन्द्रिय क्षमताओं का उद्गम स्रोत सिद्ध होता है और अन्ततः ब्रह्म और जीव को मिलाने वाली जीवन लक्ष्य को पूर्ण करने वाली—परमानन्द प्रक्रिया भी यहीं सम्पन्न होती है। ब्रह्मरंध्र अर्थात् ब्रह्म संस्थान, ब्रह्मलोक गायत्री की ब्राह्मी शक्ति कहा गया है। उसका प्रभाव क्षेत्र ज्ञान चेतना है। गायत्री को ब्रह्माणी—ब्रह्म-पत्नी कहा गया है। उसकी सामर्थ्य व भौतिक जगत में दुःख-दारिद्र का विनाश करने वाले 'ब्रह्मरंध्र' के रूप में दुष्ट-दुष्कलों को परास्त करने वाले ब्रह्म दण्ड के रूप में देखा जाता है। अध्यात्म क्षेत्र में उसका स्वरूप ब्रह्म वर्चस् के रूप में देखा जाता है। गीता में कही गई ब्राह्मी स्थिति और उपनिषद् में वर्णित ब्रह्म चेतना का उद्भव उन्नयन इसी महा शक्ति के माध्यम से होता है।

पौराणिक कथा के अनुसार ब्रह्माजी के दो पत्नियाँ थीं। प्रथम गायत्री दूसरी सावित्री। इसे अलङ्कारिक प्रतिपादन में ज्ञान चेतना और पदार्थ सम्पदा कहा जा सकता है। इनमें एक परा प्रकृति है, दूसरी अपरा। परा प्रकृति के अन्तर्गत मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार—अहङ्कार चतुष्टय, ऋतम्भरा प्रज्ञा आदि का ज्ञान क्षेत्र आता है। दूसरी पत्नी सावित्री, इसे अपरा प्रकृति, पदार्थ चेतना, जड़ प्रकृति कहा जाता है। पदार्थों की समस्त हलचलें—गतिविधियाँ—उसी पर निर्भर हैं। परमाणुओं की भ्रमणशीलता, रसायनों की प्रभावशीलता, विद्युत, ताप, प्रकाश, चुम्बकत्व, ईथर आदि उसी के भाग हैं। पदार्थ विज्ञान इन्हीं साधनों को काम में लाकर अगणित आविष्कार करने और सुविधा साधन उत्पन्न करने में लगा हुआ है। इसी अपरा प्रकृति को सावित्री कहते हैं। कुण्डलिनी इसी दूसरी शक्ति का नाम है।

चेतना की शक्तियों कावारापार नहीं। विद्वान, विज्ञानी, आत्म-वेत्ता, महामानव, ऋषि, मनीषी इसी शक्ति का अपने-अपने ढङ्ग से अपने-अपने क्षेत्र में उपयोग करके अपने क्षेत्र में प्रगति करते हैं। मस्तिष्कीय विकास के लिए स्कूली प्रशिक्षण से लेकर स्वाध्याय सत्सङ्ग, चिन्तन, मनन और साधना समाधि तक के अगणित प्रगति प्रयास इसी आधार पर होते हैं। व्यक्तित्व और वर्चस्व की—प्रखरता की समस्त सम्भावनाएँ इसी क्षेत्र के साथ जुड़ी हुई हैं। परा प्रकृति की साधना एवं गायत्री उपासना के सहारे ही अन्तःचेतना का विकास होता है।

दूसरी शक्ति सावित्री—पदार्थ शक्ति, क्रियाशीलता इस अपरा प्रकृति से ही प्राणियों का शरीर संचालन होता है और संसार का प्रगति चक्र चलता है। शरीर में श्वास-प्रश्वास, रक्त-संचार, निद्रा-जागृति, पाचन-विसर्जन, ऊष्मा-ऊर्जा, विद्युत प्रवाह आदि अगणित क्रिया-कलाप काया के क्षेत्र में चलते हैं। संसार का हर पदार्थ क्रियाशील है। उत्पादन, अभिवर्धन और परिवर्तन का गतिचक्र इस सृष्टि में अनवरत गति से चलता है। प्राणी और पदार्थ सभी अपने-अपने ढङ्ग से प्रगति पथ पर द्रुतगति से दौड़ रहे हैं। विकास की दिशा में कण-कण को धकेला जा रहा है। निष्क्रियता को सक्रियता के रूप में बदलने का प्रेरणा केन्द्र जिस महत्तत्व में सन्निहित है, उसे अपरा प्रकृति कहते

हैं । सत, रज,तम—पंचतत्व तन्मात्राएँ आदि का सूत्र संचालन यही शक्ति करती है । सिद्धियाँ और वरदान इसी के अनुग्रह से मिलते हैं । ब्रह्मा जी की द्वितीय पत्नी सावित्री इसी को कहते हैं । मनुष्य शरीर में आरोग्य, दीर्घजीवन, बलिष्ठता, स्फूर्ति, साहसिकता, सौन्दर्य आदि अगणित विशेषताएँ इसी पर निर्भर हैं । यों इसका विस्तार तो सर्वत्र है, पर पृथ्वी में ध्रुव केन्द्र में और शरीर के मूलाधार चक्र में इसका विशेष केन्द्र है । साधना प्रयोजन में इसी को कुण्डलिनी शक्ति कहते हैं ।

८ गायत्री और सावित्री दोनों परस्पर पूरक हैं । इनके मध्य कोई प्रतिद्वन्दिता नहीं । गङ्गा-यमुना की तरह ब्रह्म हिमालय की इन्हें दो निर्झरिणी कह सकते हैं । सच तो यह है कि दोनों अविच्छिन्न रूप से एक-दूसरे के साथ गुँथी हुई हैं । इन्हें एक प्राण दो शरीर कहना चाहिए । ब्रह्मज्ञानी को भी रक्त-मांस का शरीर और उसके निर्वाह का साधन चाहिए । पदार्थों का सूत्र संचालन चेतना के विना सम्भव नहीं । इस प्रकार यह सृष्टि क्रम दोनों के संयुक्त प्रयास से चल रहा है । जड़-चेतन का संयोग विखर जाय तो फिर दोनों में से एक का भी अस्तित्व शेष न रहेगा । दोनों अपने मूल कारण में विलीन हो जायेंगे । इसे सृष्टि के—प्रगति रथ के—दो पहिये कहना चाहिए । एक के विना दूसरा निरर्थक है । अपङ्ग तत्वज्ञानी और मूढ़ मति नर-पशु दोनों ही अधूरे हैं । शरीर में दो भुजाएँ, दो पैर, दो आँखें, दो फेंफड़े, दो गुर्दे आदि हैं । ब्रह्म शरीर भी अपनी दो शक्ति धाराओं के सहारे यह सृष्टि प्रपंच संजोये हुए है,इन्हें उसकी दो पत्नियाँ, दो धाराएँ आदि किसी भी शब्द प्रयोग के सहारे ठीक तरह वस्तु स्थिति को समझने का प्रयोजन पूरा किया जा सकता है । पत्नी शब्द अलङ्कार मात्र है । चेतन सत्ता का कुटुम्ब परिवार मनुष्यों जैसा कहाँ है ? अग्नि तत्व की दो विशेषताएँ हैं—गर्मी और रोशनी । कोई चाहे तो इन्हें अग्नि की दो पत्नियाँ कह सकते हैं । यह शब्द अरुचिकर लगे तो पुत्रियाँ कह सकते हैं । सरस्वती को कहीं ब्रह्मा की पत्नी कहीं पुत्रियाँ कहा गया है । इसे स्थूल मनुष्य व्यवहार जैसा नहीं समझना चाहिए । यह अलङ्कारिक वर्णन मात्र उपमा भर के लिए है । आत्म-शक्ति को गायत्री और वस्तु-शक्ति को सावित्री कहते हैं । सावित्री साधना को कुण्डलिनी जागरण कहते हैं । उसमें शरीरगत प्राण ऊर्जा की प्रसुप्ति,विकृति के निवारण का प्रयास होता है । विजली की ऋण और धन दो धाराएँ होती हैं । दोनों के मिलने पर ही शक्ति प्रवाह वहता है । गायत्री और सावित्री के समन्वय से साधना की समग्र आवश्यकता पूरी होती है । गायत्री साधना का सन्तुलित लाभ उठाने के लिए सावित्री शक्ति को भी साथ लेकर चलना पड़ता है ।

अध्यात्म क्षेत्र में ज्ञान भाग को दक्षिण मार्ग कहते हैं । उसे निगम—राजयोग वेद मार्ग आदि भी कहा गया है । दूसरे क्रिया भाग को वाम मार्ग, आगम, तन्त्र, हठयोग आदि के रूप में प्रस्तुत किया गया है । दोनों पृथकता—प्रतिकूलता हानिकारक हैं । इससे कलह और विनाश उत्पन्न होता है । देवासुर संग्राम के—उपाख्यानों को पढ़ कर किसी को प्रसन्नता नहीं होती । उस वर्णन को पढ़ कर खिन्नता ही उभरती है । दोनों जब मिलकर साथ चलें—समुद्र मंथन में सहयोग किया तो उस क्षेत्र में दबी हुई प्रचुर सम्पदा उपलब्ध हुई । समुद्र मंथन के फलस्वरूप वहुमूल्य चौदह रत्न निकलने की कथा सर्वविदित है । लक्ष्मी, अमृत-कलश, कामधेनु, कल्प-वृक्ष आदि उसी सम्मिलित प्रयास के फलस्वरूप उपलब्ध हुए थे । जब तक देव और दानव पृथक-पृथक रहे—लड़ते-झगड़ते रहे—कष्ट और विनाश के अतिरिक्त और कुछ प्राप्त न कर सके, पर जैसे ही सहयोग वना वैसे ही समुद्र मंथन और उसकी उपलब्धि का आधार वन गया । गायत्री और सावित्री के समन्वय को ठीक इसी प्रकार के देवासुर सहयोग स्तर का कहा जा सकता है ।

शिव और पार्वती के विवाह से दोनों का एकाकीपन दूर हुआ था । दोनों के संयोग से दो पुत्र हुए एक सिद्धिदायक गणेश । दूसरे असुर निकंदन कार्तिकेय । एक से धर्म की स्थापना होती है दूसरे से अधर्म के विनाश की । गणेश का वरदान 'प्रज्ञा' और कार्तिकेय का अनुदान 'शक्ति' है । कार्तिकेय के छै मुख हैं, इन्हें हठयोग के षट्-चक्र कहते हैं ।

गायत्री की सर्वोपयोगी सर्व-सुलभ साधना नित्य-कर्म में सम्मिलित की गई है । संध्या वन्दन अध्यात्म साधना

का अनिवार्य अङ्ग है। 'संध्या' का कृत्य गायत्री उपासना के विना नहीं हो सकता। इसके उपरान्त आगे की विशेष साधनाएँ अपनाई जाती। एक अनुष्ठान दूसरा पुरश्चरण।

गायत्री साधना को चेतना पर चढ़े, कषाय-कल्मषों के निवारण की पुण्य प्रक्रिया कह सकते हैं। इससे आत्मसत्ता के दिव्य स्वरूप का निखार होता है। भौतिक क्षेत्र में आत्म-चेतना का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए सावित्री साधना का उपयोग करना पड़ता है। आत्मा को संसारी वर्चस्व बनाने के लिए शरीर धारण करना पड़ता है। गायत्री रूपी आत्मा को संसारी कर्त्तव्यों की पूर्ति के लिए जिस सामर्थ्य की आवश्यकता पड़ती है, उसे सावित्री साधना से सम्पन्न किया जाता है। पंचकोशी साधना इसी को कहते हैं।

कुण्डलिनी की शक्ति और महिमा पर प्रकाश डालने वाले अनेकों शास्त्र वचन उपलब्ध होते हैं। यथा—

या देवता भोग करीसा मोक्षायन कल्पते।
मोक्षदा नहि भोगाय त्रिपुरा तु द्वय प्रदा ॥

—त्रिपुरा तन्त्र

जो देवता भोग देते हैं, वे मोक्ष नहीं देते। जो मोक्ष देते हैं वे भोग नहीं देते। पर कुण्डलिनी दोनों प्रदान करती है।

उद्घाट्येत्कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात्।
कुंडलिन्या तथा योगी मोक्ष द्वारं विभेदयेत् ॥

—शांभवी तन्त्र

जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने बल से द्वार पर लगी हुई अर्गला आदि को ताली से खोलता है, उसी प्रकार योगी कुण्डलिनी के अभ्यास द्वारा सुषुम्ना के मार्ग को भेदन करता है और ब्रह्म-लोक में पहुँच कर मोक्ष को प्राप्त होता है।

मूलाधारे आत्मशक्तिः कुण्डलिनी परदेवता।
शायिता भुजगाकारा सार्द्ध त्रय बलयान्विता ॥
यावत्सा निद्रिता देहे तावज्जीवः पशुर्यथा।
ज्ञानं न जायते तावत् कोटियोगविधेरपि ॥
आधार शक्ति निद्रायां विश्वं भवति निद्रया।
तस्यां शक्तिप्रबोधेन त्रैलोक्यं प्रति वुध्यते ॥

—महायोग विज्ञान

आत्म-शक्ति कुण्डलिनी मूलाधार चक्र में साढ़े तीन कुण्डलिनी लगाये हुए सर्पिणी की तरह शयन करती है। जब तक वह सोती रहती है तब तक जीव पशुवत् बना रहता है। बहुत प्रयत्न करने पर भी तब तक उसे ज्ञान नहीं हो पाता। जिसकी आधार शक्ति सो रही है उसका सारा संसार ही सो रहा है। पर जब वह जागती है तो उसका भाग्य और संसार ही जाग पड़ता है।

यदा भवति सा संविद्विगुणीकृतविग्रहा।
सा प्रसूते कुण्डलिनी शब्द ब्रह्ममयी विभुः ॥
शक्ति ततो ध्वनितस्मान्नादस्तस्मान्निबोधिका।
ततोऽर्धेन्दुस्ततो बिन्दुम्तस्मादसीत्परा ततः ॥
पश्यन्ती मध्यमा वाणी वैखरी सर्गं जन्मभूः।
इच्छा ज्ञान-क्रियात्मासौ तेजोरूपा गुणात्मिका ॥
क्रमेणानेन सृजति कुण्डली वर्णमालिकाम् ॥

—महा तन्त्र

जागृत हुई कुण्डलिनी असीम शक्ति का प्रसव करती है। उससे नाद जागृत होता है फिर बिन्दु। परा, पशन्ती, मध्यमा और वैखिरी यह चारों वाणियाँ प्रखर होती हैं। इच्छा-शक्ति, ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति में उभार आता है और वर्ण मालिका की शृङ्खला से सम्वद्ध अनेक शारीरिक, मानसिक शक्तियों का विकास होता है।

शक्ति कुण्डलिनोति विश्वजननव्यापारबद्धोद्यमा।
ज्ञात्वे थं न तुर्नविशन्ति जननागर्भेऽर्भकत्वंनराः ॥

—शक्ति तन्त्र

कुण्डलिनी महाशक्ति के प्रयत्न से ही संसार का सारा व्यापार चल रहा है। जो इस तथ्य को जान लेता है वह शोक-सन्ताप भरे बन्धनों में नहीं बँधा रहता।

कूजन्ती कुलकुण्डली च मधुरं मत्तालिमालास्फुटं,
वाचः कोमलकाव्यवन्धरचनाभेदातिभेदक्रमैः।
श्वासोच्छ्वास विभञ्जनेन जगतां जीवो यया धार्यते।
सा मूलाम्बुजगह्वरे विलसति प्रोद्दामदीप्त्यावलिः ॥

—षट्चक्र निरूपणम्

कुण्डलिनी शक्ति के जागृत होने पर वाणी में मधुरता आ जाती है। काव्य-कला और साहित्य में प्रगति होती है। यह मूलाधार चक्र में दीप शिखा जैसी, चन्द्र ज्योति जैसी प्रकाशित है, प्राण वायु द्वारा यह धारण की जाती है।



कुण्डलिनी : काम बीज का परिष्कार

शरीर की उत्पत्ति काम बीज से है। फ्राइड के अनुसार वह बालकपन में दुग्ध-पान से लेकर साथियों की छेड़छाड़ के अनेक रूपों में विकसित होता है। किशोरावस्था में वह जोश बनकर उभरता है। होश को पीछे छोड़कर जोश की जो तूफानी लहरें उठती हैं उनमें मनोविज्ञानी काम तत्व की प्रबलता देखते हैं। लड़कों में नये स्थानों पर नये केश उत्पन्न होने—जननेन्द्रिय में प्रौढ़ता बढ़ने के रूप में उसकी अभिवृद्धि प्रकट होती है। लड़कियों में रजो-दर्शन तथा वक्षस्थल का उभार इसी का प्रमाण है। कल्पना क्षेत्र में विपरीत लिंग के प्रति आकर्षक कल्पनाओं के आँधी-तूफान उठने लगते हैं। आगे चलकर इसकी परिणति प्रणय में होती है। दाम्पत्य सूत्र जुड़ते हैं, आदान-प्रदान के भाव भरे रसास्वादन मिलते हैं और सन्तानोत्पत्ति का क्रम चल पड़ता है। एक नये गृहस्थ का—नये परिवार का श्रीगणेश होता है और पति-पत्नी को उसी की विविध-व्यवस्थाएँ जुटाने में अपनी लगभग पूरी शक्ति झोंकनी पड़ती है। यह 'काम बीज' से उत्पन्न वट-वृक्ष है, जिसका विस्तार भली या बुरी व्यस्त क्रिया-प्रक्रियाओं में होता है। जीवन सम्पदा का उत्सर्ग इसी वेदी पर होता देखा गया है। बीच-बीच में उच्छृङ्खल यौनाचार की कल्पनाएँ अथवा क्रियाएँ अपने अलग ही कुहराम मचाती रहती हैं। उन पर सामाजिक नियन्त्रण न हो तो उस स्वेच्छाचार की प्रतिक्रिया से सामाजिकता का, पारिवारिकता का, सभ्यता का, मानवी प्रगति का अन्त हुआ ही समझना चाहिए। अपराधों के घटना-क्रम में काम-विग्रह का—उसकी विकृत प्रतिक्रिया का—जितना हाथ रहता है उतना सब अनाचारों से मिलकर भी नहीं होता। नीति मर्यादाओं का उल्लंघन इसी प्रबल प्रेरणा से आये दिन होता रहता है।

इतने प्रेरक तत्व को तुच्छ मानकर नहीं चलना चाहिए। उसकी सामर्थ्य असीम है। एक शरीर से दूसरे का उत्पन्न होना इस सृष्टि का अभ्यस्त किन्तु अद्भुत आश्चर्य है। मानव तत्व की भावना, विचारणा एवं क्रिया को अपने जाल-जंजाल में समेट बटोर कर बैठ जाना इसी आकर्षण का काम है। भव-बन्धनों की चर्चा जब-तब होती रहती है। प्रकारान्तर से वह संकेत काम-विग्रह के लिए ही किया गया होता है। गीता के कर्मयोग में 'निष्काम' होने पर जोर दिया गया है। यों उसका मोटा अर्थ कामनाओं से पीछा छुड़ाकर कर्त्तव्य-परायण होना है, पर गहराई में उतरने पर उसमें 'काम' रहित होने पर उच्चस्तरीय आत्मिक प्रगति होने—आत्म-कल्याण एवं ईश्वर दर्शन का लाभ मिलने का तथ्य सामने आ खड़ा होता है।

ब्रह्मचर्य का महत्व सनातन धर्म के रूप में सभी सम्प्रदाओं ने समान रूप से बताया है। उसके कई प्रकार के लाभ सत्परिणाम बताये हैं। ब्रह्मचर्य का मोटा अर्थ संयोग से बचना बताया गया है। यह शारीरिक मर्यादा है। पर इसका लाभ भी तभी होता है जब उसे मानसिक रूप से भी निबाहा जाय। सच तो यह है कि यह प्रसङ्ग शारीरिक कम और मानसिक अधिक है। मन पर कामुकता छाई रहे तो शरीर संयम निरर्थक ही नहीं कई बार तो हानिकारक ही होता है। शरीर शास्त्री काम निरोध को हानिकारक भी बताते हैं। यह बात उस स्थिति में सही भी है जब मानसिक असंयम तो बनाये रहा जाय किन्तु शरीर को हठपूर्वक नियन्त्रित किया जाय। ऐसी दशा में स्वप्न दोष होने लगेंगे अथवा गुप्त कुकृत्यों का सिलसिला चल पड़ेगा। इसमें प्रत्यक्ष मैथुन से कम नहीं अधिक ही हानि है। इसके विपरीत यदि धर्म-पत्नी के साथ, मित्र, सहचर, सहोदर के भाव से रहा जाय और आवश्यकतानुसार मर्यादित कामसेवन क्रम भी चलता रहे तो उसकी कोई बुरी प्रतिक्रिया न होगी। सच तो यह है कि उससे कुकल्पनाओं और कुचेष्टाओं को निरस्त करने में सहायता भी मिलेगी। देवताओं, ऋषियों और महामानवों को भी जब विवाहित जीवन-क्रम अपनाते देखते हैं तो

लगता है यह कोई गर्हित कृत्य नहीं है। यदि ऐसा होता तो वे इस मार्ग पर क्यों चलते ?

यहाँ विवाहित रहने या अविवाहित रहने की उपयोगिता के पक्ष-विपक्ष में कुछ नहीं कहा जा रहा है। व्यक्ति विशेष की मनःस्थिति, परिस्थिति एवं कार्य-पद्धति को देखते हुए दोनों ही मार्ग उपयोगी हैं जिन्हें उच्च आदर्शों में निरत रहना है उन्हें अपनी शक्तियाँ बचाकर लक्ष्य के लिए अधिक कुछ कर सकना तभी हो सकता है जब गृहस्थ का भार ढोने से अवकाश मिले। प्राचीन काल से साधु परम्परा यह रास्ता अपनाती रही है। परिव्राजक कार्य-पद्धति में, न्यूनतम निर्वाह में, चिन्ता मुक्त रहने में उन्हें सुविधाएँ अविवाहित रहकर ही मिलती थीं। इसके विपरीत जिन्हें आश्रम चलाने पड़ते थे वे ब्राह्मण गृह-व्यवस्था के लिए पत्नी के सहयोग की सुविधा देखते थे। जो हो यह प्रसङ्ग यहाँ नहीं उठना है। चर्चा काम प्रक्रिया की हो रही थी। वह शरीर क्षेत्र से कम और मनःक्षेत्र से अधिक सम्बन्धित है। शरीर का ब्रह्मचारी मन से व्यभिचारी रहे तो उसे इस प्रति बन्धन की विडम्बना का कोई लाभ न मिल सकेगा। इसके विपरीत यदि मन पवित्र रहे तो गृहस्थ भी एक योगी बन सकता है। तब घर में तपोवन का वातावरण बना देना कुछ कठिन न होगा। वासना और विलासिता का स्थान यदि स्वच्छ सहकार और बालकोपम हास्य-विनोद ग्रहण करले तो उसे बधित ब्रह्मचर्य से कम नहीं अधिक लाभदायक ही कहा जायगा।

समस्या यहाँ आकर अटक जाती है कि यदि काम बीज जीव चेतना की इतनी गहराई में घुसा बैठा है—उसकी शक्ति इतनी प्रबल और जड़ इतनी गहरी है तो फिर उससे बच सकना कैसे हो सकता है ? तब ब्रह्मचर्य के लाभों से लाभान्वित कैसे हुआ जा सकता है ? यदि संयम न बरता जाय तो ओजस् की क्षति होती है। यदि बरता जाय तो दमित मानस विकृत ग्रन्थियों का हानिकारक संग्रह करता है। इधर खाई, उधर कुआँ। आखिर किया जाय तो क्या किया जाय ?

मनीषियों ने इसका उत्तर कुण्डलिनी जागरण की साधना के रूप में दिया है। इसका कर्मकाण्ड और विधि-विधान जितना चमत्कारी है उससे अधिक महत्वपूर्ण है उसका तत्व दर्शन। कुण्डलिनी विधान जानने से पहले उसका दर्शन जानना आवश्यक है। प्रतिपादन यह है कि काम-कला को ब्रह्म विद्या के रूप में परिवर्तित किया जाय। इसे विज्ञान की भाषा में—ट्रान्सफार्मेशन-रूपान्तरण कहते हैं। काम को कला में परिणत, परिष्कृत किया जा सकता है। भक्ति भावना उसी प्रयास का उत्कृष्ट रूप है, ललित कलाओं में, उद्देश्य पूर्ण शौर्य, साहस में, पारमार्थिक सेवा साधना में जो उच्चस्तरीय उल्लास उपलब्ध होता है उसे 'काम' तत्व की परिष्कृत भाव भूमिका कह सकते हैं। चिन्तन की दिशा धारा मोड़ देने से यह परिवर्तन सम्भव हो सकता है। वर्षा का जल यदि अनियन्त्रित फैले तो खेतों, घरों को डुबाकर हानिकारक सिद्ध होगा। पर यदि नदी नाले के माध्यम से बाँध बनाकर संग्रह किया जाय और नहरों के माध्यम से सिंचाई के लिए खेतों तक पहुँचाया जाय तो इससे हर प्रकार लाभ ही लाभ है। अनियन्त्रित काम प्रवृत्ति का निरोध इसी प्रकार उचित है, उसे हठ पूर्वक नष्ट कर देने की बात न सोची जाय, वरन् ऐसे प्रयोजन में लगा दिया जाय जिसमें उच्चस्तरीय उद्देश्यों की पूर्ति हो।

पौराणिक कथा में कामदेव भगवान शङ्कर पर प्रकोप करता है, उन्हें अपनी उँगली के इशारे पर नचाना चाहता है। शिवजी अपने दूरदर्शी विवेक से—तृतीय नेत्र से इसके दुष्परिणामों को समझने का प्रयत्न करते हैं। वस्तु स्थिति समझ में आते ही, तृतीय नेत्र खुलते ही सम्भावना समाप्त हो जाती है। कामदेव जलकर भस्म हो जाता है। यह विवेकशीलता की—पशु प्रवृत्ति पर प्रत्यक्ष विजय है। कुविचारों को सद्विचारों से ही निरस्त किया जाता है। लोहे से लोहा कटता है। कामुकता के दुष्परिणामों और संयम के सत्परिणामों पर विस्तारपूर्वक विचार किया जाय तो विवेक का निर्णय औचित्य के पक्ष में होगा। चोर की घात तो तब लगती है जब घर मालिक सोये हुए हों जब उनमें से कोई बच्चा रोने लगे—बुड्ढा खाँसने लगें तो बलिष्ठ चोर की भी हिम्मत टूट जायगी और उसे उलटे पैरों भागना ही पड़ेगा। कामुकता, सम्मत समस्त कुविचारों के सम्बन्ध में यही बात लागू होती है। यदि

आदर्शवाद के समर्थक तर्कों, तथ्यों, प्रमाणों और उदाहरणों की सेना सजा ली जाय और जब भी शत्रु शिर उठायें तभी वह सेना लड़ा दी जाय तो समझना चाहिए कि औचित्य ही जीतेगा। कुलमषों के उन्मूलन का यही एकमात्र मार्ग है। महाभारत युद्ध की घटना को लेकर जीव रूपी अर्जुन को—दुरित दुर्जनों को परास्त करने के लिए जिस सैन्य सज्जा के लिए कहा गया है उसे अन्त:सधर्म ही समझना चाहिए। शिवजी का काम दहन भी इसी तथ्य के समर्थन में एक प्रेरणाप्रद प्रसङ्ग है।

पीछे कामपत्नी, रति, सरसता विलाप करती है। विधवा के दु:ख को—भगवान आशुतोष सहन नहीं कर पाते। वे द्रवित होते हैं और वरदान देते हैं कि भस्मसात् कामदेव शरीर समेत तो जीवित नहीं हो सकते, पर वे सूक्ष्म रूप में फिर सजीव हो जायेंगे और उच्च आत्माओं पर भी अपना अस्त्र छोड़ने की अपनी कामना पूरी करेंगे।

इस वरदान का अभिप्राय यही है कि पशु-प्रवृत्तियों को भड़काने वाली और जीवन सम्पदा को कुमार्गगामी बनाने वाली कामुकता को परिष्कृत किया जा सकता है। उसे भावनात्मक श्रेष्ठ सम्वेदनाओं से लगा कर स्थूल यौनाचार के आकर्षण से विरत किया जा सकता है।

कुण्डलिनी के स्वरूप निर्धारण में यह तथ्य और भी स्पष्ट है। काम केन्द्र मूलाधार चक्र को बताया गया है। यह जननेन्द्रिय के मूल में है। इसे अग्नि कुण्ड, अग्नि समुद्र, शक्ति समुद्र भी कहा गया है। उमँगें और उत्साह भरने की क्षमता वहाँ केन्द्रित है। इस स्थिति में उसकी संज्ञा सर्पिणी की है। सर्प दंश और सर्प विष की भयानकता सर्वविदित है। सामान्य स्थिति में अधोगामी और बहिर्मुखी रहती है। उसके क्षरण-स्राव-जननेन्द्रिय मार्ग से नीचे की ओर टपकते हैं। उसका प्रत्यक्ष रूप त्वचा तल से ऊपर उभरा होता है। नर और नारी की जननेन्द्रियों की स्थिति इस दृष्टि से लगभग एक जैसी ही है। इसे कुण्डलिनी की गर्हित, मूर्च्छित, अध:पतित स्थिति समझा जाना चाहिए।

कुण्डलिनी जागरण साधना में समुद्र मंथन जैसे प्रयत्न करने पड़ते हैं। फलत: प्रसुप्ति जागृति में बदलती है। तप की उष्णता पाकर अन्त:ऊर्जा उभरती है और ऊपर की ओर चलने का प्रयत्न करती है। गर्मी से वायु, जल आदि सभी का विस्तार होता है। वे ऊपर की ओर उठते हैं। ग्रीष्म में चक्रवात गरम हवा के द्वारा ही उठते हैं। पानी से भाप गर्मी ही ऊपर की ओर उठाती है। मूलाधार से जगी हुई व्यक्ति ऊर्जा, प्राण-शक्ति कुण्डलिनी ऊपर को उठती है। मेरुदण्ड मार्ग से सर्पिणी की तरह लहराती हुई ब्रह्मरंध्र की ओर चलती है, बिजली की यही चाल है। यह ऊर्जा मस्तिष्क में पहुँचती है। सहस्रार कमल से सम्बन्ध बनाती है और उसी में लय हो जाती है। कमल सात्विकता का, कला का, दिव्य सौन्दर्य का केन्द्र माना गया है। भगवान के अङ्गों का—अवयवों का—वर्णन कमल उपमा के साथ किया जाता रहा है। लक्ष्मी कमलासन पर विराजमान है। गजेन्द्र ने ग्राह से मुक्ति पाने के लिए कमल पुष्प सूँड़ में लेकर भगवान की अभ्यर्थना की थी। कमला लक्ष्मी का दूसरा नाम है। विष्णु के चार हाथों में चार उपकरण हैं। शङ्ख, चक्र, गदा के उपरान्त चौथा 'पद्म' ही आता है। इस प्रकार पौराणिक संगतियों में कमल को दिव्यता की प्रतीक माना गया है। मस्तिष्क के मध्य क्षेत्र में—ब्रह्मरंध्र में—सहस्रार कमल अवस्थित है। उस पर कहीं विष्णु की, कहीं शिव की, कहीं सद्गुरु की स्थापना और ध्यान का उल्लेख है। यह प्रतिपादन यही इङ्गित करता है कि कामुकता में संलग्न अन्त:ऊर्जा को उस पतन के गर्त से निकाल कर ब्रह्म चेतना में—उत्कृष्ट उल्लास प्रदान करने वाली ब्रह्म विद्या में—नियोजित किया जाना चाहिए।

इसी परिवर्तन परिष्कार को—उत्कर्ष उन्नयन को कुण्डलिनी जागरण कहा गया है। ब्रह्मचर्य की तात्विक साधना यही है। इसी में अध्यात्म तत्व ज्ञान के समस्त सूत्र सँजोये हुए हैं। इस ट्रान्सफार्मेशन का—रूपान्तर का सत्परिणाम, महान् जागरण, महान् परिवर्तन दिव्य जीवन के पक्ष में सामने आता है। काम बीज का यह ब्रह्म समर्पण कितना श्रेयस्कर होता है इसे कुण्डलिनी महाविज्ञान की जागरण साधना एवं तत्व भावना को अपना कर ही जाना जा सकता है।



पंचकोशी साधना का विज्ञान और विधान

गायत्री को ज्ञान और विज्ञान का उद्गम कहा गया है। भारतीय धर्म और संस्कृति उसी का विकास विस्तार है। ब्रह्माजी ने अपने चार मुखों से चारों वेदों के रूप में गायत्री का ही व्याख्यान किया है। उसी से उसे 'वेदमाता' कहते हैं। इसी बीज का विस्तार अध्यात्म, धर्म, तत्वज्ञान की शाखा-प्रशाखाओं में बढ़ता चला गया है। भारतीय धर्म की उपासना संध्या वन्दन है। संध्या का शास्त्रीय स्वरूप गायत्री के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ है।

गायत्री की साधारण सर्व-सुलभ साधना जप, ध्यान, पूजा, उपचार के माध्यम से होती है। अनुष्ठान पुरश्चरण इस महाशक्ति को अधिक प्रचण्ड बनाने के लिए प्रयुक्त होते हैं। आत्म-चेतना में गायत्री महाशक्ति का वर्चस्व भर देने के लिए उसकी उच्चस्तरीय साधना का मार्ग अपनाना पड़ता है।

गायत्री का एक स्वरूप पंचमुखी भी है। इन मुखों को प्रकृति के पंच तत्व—जीव सत्ता के पाँच प्राण कह सकते हैं। ब्रह्म साक्षात्कार के लिए—दिव्य क्षमताएँ उत्पन्न करने के लिए—पंचकोशों का अनावरण—जागरण आवश्यक होता है। गायत्री की उच्चस्तरीय साधना पंचकोशी कहलाती है। यह योगाभ्यास परक है। सामान्य उपासना की तुलना में इसका स्तर ऊँचा है। स्कूली पढ़ाई पढ़ने के उपरान्त ही उसे कालेज कक्षा में प्रवेश मिलता है।

परिजनों को, गायत्री की सामान्य उपासना करने के उपरान्त जिन्हें अपनी स्थिति ऊँची उठी लगती हो उनके लिए प्रस्तुत उच्चस्तरीय साधना अपनानी चाहिए। जो अभी प्राथमिक प्रशिक्षण में ही चल रहे हों उन्हें उसी साधना क्रम को जारी रखना चाहिए।

अगले दिनों 'ब्रह्म वर्चस' प्रशिक्षण की प्रक्रिया चलेगी। हरिद्वार में उसकी आवश्यक व्यवस्था बनाई गई है। उसका आधार पंचकोशी साधना उपक्रम होगा। सर्व साधारण को पंचकोशों का स्वरूप, आधार समझने में सुविधा हो इस दृष्टि से इस अङ्क में तद् विषयक सामान्य जानकारी की एक झाँकी कराई गई है। इस अङ्क को उसी का परिचय समझा जाना चाहिए। अगले अङ्क में—पंचकोशों का स्वरूप एवं साधन बताया जायगा। ताकि गायत्री विद्या की उच्चस्तरीय प्रक्रिया की जानकारी प्राप्त करना सभी अध्यात्म प्रेमियों के लिए सम्भव हो सके। इस दृष्टि से मार्च और अप्रैल के दोनों अङ्कों को इस महाविज्ञान के दो खण्ड ही समझना चाहिए। प्रथम में—सिद्धान्त बताया गया है दूसरे में व्यवहार का—विधि-विधान का स्वरूप उपस्थित किया जायगा।

जिन्हें साधना क्षेत्र में रुचि हो वे इस दिशा में प्रस्तुत सामग्री के आधार पर आवश्यक मार्ग-दर्शन प्राप्त कर सकेंगे। कठिनाइयों के सम्बन्ध में परामर्श भी किया जा सकता है। व्यावहारिक प्रशिक्षण के लिए दस-दस दिवसीय सत्रों की व्यवस्था भी शान्ति-कुन्ज में की गई है।

जिन्हें साधना में रुचि नहीं है, उनके लिए जिज्ञासा की दृष्टि से भी यह जानकारी आवश्यक है। ज्ञान वृद्धि की दृष्टि से विद्यालयों में अनेक उपयोगी विषय पढ़ाये जाते हैं। भले ही वे काम में न आवें, पर मानसिक विकास की दृष्टि से उनकी जानकारी आवश्यक है। कोई व्यक्ति अपने घर की खेती से गुजारा करना चाहता है तो भी उसे इतिहास, भूगोल, गणित, साहित्य आदि की उपेक्षा इसलिए नहीं करनी चाहिए कि इन विषयों का उसके कृषि कार्य में सीधा उपयोग नहीं है तो वह उन्हें क्यों पढ़े।

हम भौतिक जगत में रहते हैं इसलिए उस क्षेत्र की जानकारियों का क्षेत्र जितना विस्तृत होगा उतनी ही भौतिक प्रगति की सम्भावना अधिक रहेगी। अध्यात्म जगत की गरिमा कम नहीं है। जीव चेतना का वास्तविक क्षेत्र तो वही है। जड़ों की शक्ति से तने का विकास होता है। आन्तरिक विशेषताओं का प्रतिफल ही भौतिक सफलताओं के रूप में सामने आता है। अस्तु अध्यात्म विज्ञान की जानकारी जीवन तत्व की सुव्यवस्था एवं प्रगति की दृष्टि से आवश्यक है।

गायत्री की पंचकोशी विवेचना एवं साधना के अन्तर्गत अध्यात्म विज्ञान के वे सभी पक्ष आ जाते हैं, जिन्हें विभिन्न मंत्रों से—विभिन्न विवेचनाओं और विधियों के साथ बताया गया है। अध्यात्म विज्ञान की सामान्य जानकारी और उसके उपयोग की विधि पाठकों को इन मार्च और अप्रैल के अङ्कों में मिल सके, ऐसा प्रयत्न किया गया है।

—❀—

* कारवाँ रोको नहीं निर्माण का *

—❀—

कारवां रोको नहीं निर्माण का,
है सृजन की कामना तो साथ दो !

धूल होने के लिए, टकरा रहे जो,
उन पहाड़ों से कहो वे राह छोड़ें।
चल पड़े हैं जो चरण विश्वास के,
अब उन्हें वे मोड़ने की चाह छोड़ें ॥
तप पराजित कब हुआ इन्सान का,
हो विजय की चाहना तो साथ दो !

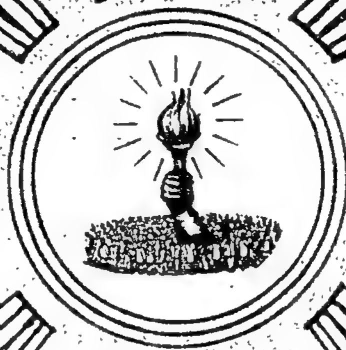
हम चले, विपरीत आँधी में हमारे,
वक्ष से तूफान टकराता चला।
चल बवण्डर बिजलियों के दौर से,
रोशनी के फूल बिखराता चला ॥
सब विरोधी शक्तियाँ आकर झुकीं,
हो चरण की साधना तो साथ दो !

ले रहा वैराग्य अब संहार, खुद,
ध्वंस का दिल बैठता जाता स्वयं।
मौत, मुग्धा जिन्दगी के नृत्य पर,
आदमी खुश नाचता, गाता स्वयं ॥
है जन्म नूतन विभा के प्राण का,
तुम नयी सम्भावना का साथ दो !

धन्य है विभु का सृजन उसकी कला,
जो रचा इन्सान को सुन्दर बना।
आदमी तेरी कला कितनी गजब,
यों गढ़ा पाषाण जो ईश्वर बना ॥
रह न जाये प्राण ये निष्प्राण बन,
हो लगन की चेतना तो साथ दो !

—लाखनसिंह भदौरिया 'सौमित्र'

सम्पादक—भगवती देवी शर्मा, प्रकाशक व मुद्रक—मृत्युञ्जय शर्मा, अखण्ड-ज्योति



युग निर्माण योजना

अनुक्रमणिका

१- काया कल्प—(कविता) १
२- धन नहीं भाव बड़ा है २
३- समाज सेवा साधना स्तर की हो ३
४- आत्मकल्याण का सुलभ पथ दर्शाने वाले—सन्तज्ञानेश्वर ६
५- अमर कला साधक फ्रा— एंजिल्को ९
६- पराश्रयी नहीं आत्मविश्वासी और आत्म निर्भर बनें १२
७- शालीनता और सौजन्यता के धनी—डा० जाकिर हुसैन १५
८- सामान्य कैदी से अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति तक १७
९- प्रतिष्ठा इन्हें दी जानी चाहिये १९
१०- आराम खोरी और हराम खोरी २२
११- भाव साहित्य के श्रृजेता वाल्ट ह्विटमैन २३
१२- प्रेम का प्रभाव २६
१३- हिन्दी के अनन्य सेवक—अमृत लाल चक्रवर्ती २७
१४- आर्थिक उत्कर्ष की प्राण चेतना—ईमानदारी
१५ सैनिक और सृजेता के प्रतीक—आचार्य जुगल-किशोर
१६- वह करोड़ पति होकर भी गरीबों सा रहा
१७- ये शिक्षायें हमें विदेशियों से लेनी पड़ेंगी
१८- नेत्रहीनों के जीवन में आशा की ज्योति जगाने वाले-अलपाई वाला
१९- मुद्राण कलाके आविष्कारक गुटेन वर्ग
२० हम निराशा के चंगुलसे अपने को मुक्त रखें
२१- राष्ट्रीय स्वाभिमानके रक्षक वाला जी विश्वनाथ
२२- युद्धोत्तर फ्रांस के निर्माता लुई—अर्मांद
२३ अपराध साहित्य की चिन्ता जनक बाढ़
२४- बुन्देल खण्ड के शिवाजी—महाराज छत्रसाल
२५- अमरशहीद—शिवराम राजगुरू
२६- मानवता के अनन्य सेवक—बादशाह खांन

सम्पर्क सूत्र—युग निर्माण योजना मथुरा।

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो योनः प्रचोदयात् ।



नैतिक एवं सांस्कृतिक पुनरुत्थान की मासिक पत्रिका

वर्ष १४
अङ्क ६

मार्च १९७७

वार्षिक मूल्य १२) रुपये
दस वर्ष का चन्दा १००)

काया—कल्प

कंकर भी शंकर बन वैठा, अनजाने भी शिल्प हो गया।
वह महान बन गया स्वयं ही, जिसका काया-कल्प हो गया ।।
छैनी संयम की, साहस का लिये हथौड़ा अगर बढ़ें हम।
अपने इस मानव जीवन की मनोयोग से मूर्ति गढ़ें हम।
नर ही नारायण हो बैठे, जव-जव शिव—सङ्कल्प हो गया ।।
अपने पाषाणी मन पर हम, छैनी और हथौड़ा मारें।
दुर्भावों को काट-छांटकर, भावों के भगवान उभारें।
प्रतिमा निखरेगी,उसकी ही जिसका कल्मष स्वल्प हो गया ।।
प्राण-प्रतिष्ठा करें मूर्ति में, हम अपना देवत्व जगाकर।
सद्गुण का आह्वान करें हम, अवगुण का असुरत्व भगाकर।
इस धरती के लिये मनुज ही अब तो देव—विकल्प हो गया ।।
कोई देव नहीं आयेगा, मानव की पीड़ाएं हरने।
मानव ही सक्षम हो सकता, मानव-पीड़ाएं कम करने।
"देव दया करते दीनों पर", यह भ्रम अब तो गल्प हो गया ।।
नर से नारायण वनकर हम, मानवता के प्राण उवारें।
नहीं, प्रतीक्षा में देवों की, अपना ही देवत्व न मारें।
मनु-पुत्रो ! नव-सृष्टि-सृजन का साहस भी क्या अल्प होगया ।।

—मगल विजय

धन नहीं भाव-बड़ा है

गुरु गोविन्दसिंह निविड़ वन में बैठे एकान्त चिन्तन, ध्यान और स्वाध्याय में लीन थे। नीचे वेगवती यमुना कल-कल करती वह रही थी और ऊपर चट्टान। चारों ओर पर्वतीय उपत्यिकाओं से घिरे उस स्थान पर प्राणी के नाम पर केवल चिड़ियायें और वन्य पशु थे तथा थे गुरु-गोविन्द सिंह। चिड़ियों की चहचहाहट और वन्य पशुओं की आवाजें उस प्राकृतिक स्थल को एक मनोहारिता प्रदान कर रही थीं।

तभी गुरु ने देखा यमुना को पार कर उनका एक शिष्य उनकी ही ओर आ रहा था। निकट आने पर उसे पहचाना—उस शिष्य का नाम था रघुनाथ। काफी सम्पन्न और ऐश्वर्यशाली। उसे अपनी धन सम्पदा का भी बड़ा अभिमान था। वह निकट आकर गुरु के पास वैठ गया। गुरु ने कहा—'आओ। रघु कैसे आये हो।'

रघुनाथ ने गुरु के चरणों में विनत प्रणाम किया और बोला—'सुना था कि आप हम भक्तों को छोड़कर इस एकान्त वन में आ गये हैं। सोचा आपकी कुशल क्षेम ही पूछ आऊं।'

'मेरी कुशल क्या जानना है रे रघु'—गुरु ने बड़ी आत्मीयता से सम्बोधित करते हुए कहा—'कुशल तो मेरे उन बन्दों की पूछ जाकर, जो ग्रन्थ साहिब का सन्देश तमाम कष्ट कठिनाइयां सहकर भी लोगों तक पहुँचाने में लगे हुए हैं।'

इतना कहकर गुरु गोविंद ने अपने पास की रूखी रोटियाँ रघुनाथ की ओर करते हुए कहा—'इस निर्जन वन में तो मैं तुम्हारा स्वागत इन्हीं से कर सकता हूँ।'

रघु ने उन्हें देखा और तुरन्त कहा—'अरे गुरुजी आप इन सूखे टुकड़ों पर अपना निर्वाह कर रहे हैं।"

सूखे टुकड़े नहीं ये प्रेम के पक्वान्न हैं'—गुरुजी बोले 'इन्हें एक भाई दे गया था।'

'तो मैं भी आपकी सेवा में एक तुच्छ भेंट अर्पित करता हूँ'—रघु ने कहा और उसने अपने हाथों से दोनों हीरे जड़े कड़े उतारे तथा गुरु के समक्ष रख दिये। फिर कहा—'इन्हें स्वीकार कीजिए।'

रघु यह कहकर गर्व से देखने लगा। गुरु ने उसके चेहरे पर आते जाते भावों को देखा और एक कड़ा अंगुली में पहन लिया। अंगुली में पहनकर उसे चौगिर्द चक्र की भांति घुमाने लगे। हीरे के कण सूर्य के प्रकाश में चमक उठे और उनकी किरणें विखरने लगीं।

तभी कड़ा उङ्गली पर से उछला और चट्टान पर से लुढ़कता हुआ यमुना में गिर पड़ा। रघुनाथ समझा कि गुरु के हाथों से वह कड़ा असावधानी वश छूट गया है। तत्क्षण उसके मुंह से 'हाय' निकल गयी और वह दौड़ा हुआ गया तथा नदी में कूदकर कड़ा खोजने लगा।

गुरु पुनः स्वाध्याय में तन्मय हो गये। कड़ा खोजते-खोजते जव कुछ देर हो गयी तो उन्होंने रघु को पुकारा। रघुनाथ ने नदी में से ही कहा—'गुरुजी कड़ा नहीं मिल रहा है। यह पता नहीं है कि वह कहाँ गिरा है। आप इतना वता दें तो मैं वह कड़ा निकाल कर अभी लाता हूं।"

रघुनाथ की यह आवाज सुनकर गुरु गोविंद ने दूसरा कड़ा भी उठाया और उसे पहले की तरह उङ्गली में पहनकर घुमाया तथा उछाल दिया। वह कड़ा भी यमुना में जा गिरा। 'छपाक्' की आवाज हुई और गुरु गोविंद-सिंह ने कहा—'पहला वाला कड़ा भी वहीं पर गिरा है।'

अव जैसे रघुनाथ को यथार्थ बोध हुआ। वह नदी में से निकल कर गुरु के सामने जा खड़ा हो गया। उसके चेहरे पर आये प्रश्नवाचक भावों को देखकर गुरु बोले—'जिस समय तुम रोटियां देखकर कड़ा दे रहे थे उस समय तुम्हारे चेहरे पर धन का मद खेल रहा था। जहाँ मद होता है वहां सेवा नहीं हो सकती। सेवा कोई धन से नहीं होती। उसके लिए तो हृदय में भाव होने चाहिए।'



समाज सेवा साधना स्तर की हो

समाज के पिछड़े और समस्याग्रस्त लोगों को आगे लाने तथा उनकी कठिनाईयों को सुलझाने का नाम समाज सेवा है। यह एक सेवा यज्ञ है और जितना ही यज्ञ भावना से किया जायगा—बदले में आत्म सन्तोष, आत्म तृप्ति और लोक श्रद्धा मिलेगी, जो सस्ती वाहवाही, झूठे सुख और थोथी श्रद्धा से हजार गुना कीमती है। क्योंकि समाज सेवा एक आध्यात्मिक स्तर की साधना है। और इसे इसी रूप में अपनाकर साधक इतना लाभान्वित हो सकता है जितना कि ईश्वर भजन तथा आत्मिक प्रगति के लिए की गयी तप तितिक्षा से अभिभूत होता है।

सभी मनुष्यों के विकास और उन्नति की गति एक समान नहीं है। कोई व्यक्ति वैज्ञानिक उपलब्धियों के लिए चाँद पर चढ़ा जाता है तो कोई व्यक्ति गांव के सिन्दूर लगे देवी देवताओं को पूजकर, उनसे रोग निवारण की प्रार्थना को ही परम पुरुषार्थ समझता है।

उदाहरण इसलिए दिया गया है कि आदमी के सोचने और समझने के तरीके में कितना अन्तर है। इस अन्तर को जमीन आसमान का नहीं आकाश पाताल का अन्तर भी कहा जाय तो कम है। अर्थात् मनुष्य की विचारणायें ही कितनी आगे वढ़ीं और ऊँची उठी तथा कितनी पिछड़ीं और नीचे गिरी हुई ही रह सकती है। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति की आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक स्थिति में भी इतना ही वड़ा अन्तर होता है।

एक व्यक्ति आर्थिक दृष्टि से हजारों रुपये अपने मौज-शौक में खर्च कर सकता है वहीं दूसरे व्यक्ति को अगली खुराक के लिए भी तपती हुई देह से जी तोड़ मेहनत करने के लिए मजवूर होना पड़ता है। एक व्यक्ति अच्छी सोसायटी और शिक्षा दीक्षा की दृष्टि से फॉरेन रिटर्न या महा पण्डित हो सकता है तो दूसरे व्यक्ति को अपने वेटे की नौकरी लग जाने का तार भी अधकचरे पढ़े लिखे व्यक्ति से पढ़वाना पड़ता है। वह अधकचरी अंग्रेजी जानने वाला व्यक्ति अपनी गलती से नौकरी पर पहुँच जाने का समाचार मृत्यु की सूचना कहकर पढ़ता है। और सुनने वाला अपने लाड़ले की भेजी हुई खुश खवरी को सुनकर हर्षोत्फुल्लित होने के स्थान पर शोकाकुल हो उठता है। शिक्षा के अभाव या अशिक्षा की व्यापकता का यह दूसरा छोर है।

इसी प्रकार रहन-सहन की दृष्टि से एक व्यक्ति ऊंचे तबके का है तो दूसरे को रहने के लिए झोंपड़ी और पहनने को साधारण कपड़े भी मुश्किल से नसीव होते हैं। असमानता या पिछड़ेपन को निम्नतर अवस्था और उन्नति का चरम शिखर हम मानव समाज में यत्र तत्र बड़ी आसानी से देख सकते हैं। यों सबकी स्थिति, सामर्थ्य, परिवेश और परिस्थितियों को देखते हुए प्रत्येक व्यक्ति समान हो भी नहीं सकता। ईश्वर की इस सृष्टि में एक कंकड़ भी दूसरे कंकड़ सरीखा नहीं होता। फिर मनुष्य तो कर्मशील है उसमें एकरूपता कहां से हो सकती है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि आदमी आदमी में राई और पहाड़ की विषमता हो। एक छात्र मेहनती है, उसके अभिभावक समर्थ हैं, तो यह उचित है कि वह अच्छी से अच्छी और ऊंची से ऊंची शिक्षा प्राप्त करे। परन्तु परिस्थितियां कम से कम ऐसी तो न हों कि कोई साधनहीन पिता चाहकर भी या आवश्यक समझने पर भी अपनी सन्तान को पढ़ा न सके।

राई और पहाड़ के इस अन्तर को पाटने के लिए, पिछड़ेपन को दूर करने के लिए और उन समस्याओं को सुलझाने के लिए जो कि जीते जी मनुष्य को नरक की यातना में झुलसा उठती है—करुणा की आवश्यकता है। करुणा अर्थात् जो अपने से पीछे हैं उन्हें आगे लाने की कसक। करुणा अर्थात् जो नीचे गिरे हुए हैं उन्हें ऊंचा उठाने की टीस। और करुणा अर्थात् भ्रातृ भाव से छोटे भाइयों के साथ सहयोग कर उन्हें प्रगति की दौड़ में सम्मिलित करने के प्रयास।

यहां करुणा से आशय दया का नहीं है। दया का शाब्दिक अर्थ तो होता है कि आप अपने से कमजोर व्यक्ति की सहायता कर उस पर कृपा कर रहे हैं। करुणा में कृपा का भाव या ऐसा विचार जरा भी नहीं होता कि

मैंने अमुक व्यक्ति की सहायता कर बहुत बड़ा काम कर दिया। करुणा एक कर्तव्य निष्ठा से प्रेरित सहयोग और सेवा की भावना है। जिस प्रकार एक परिवार में कई सदस्य रहते हैं। किसी सदस्य के बीमार हो जाने पर दूसरे स्वस्थ सदस्य भाग-दौड़कर उसकी सेवा सुश्रूषा करते हैं। उसका इलाज करवाते हैं। दवाई देते हैं, डॉक्टर को बुलाते हैं। अर्थात् अपने वश का सब कुछ कर लेते हैं। और जब वह स्वस्थ हो जाता है तो उससे किसी प्रकार के प्रत्युपकार नहीं भोगते। और न ही इस बात का विज्ञापन करते हैं कि हमने अपने भाई की सेवा सुश्रूषा बड़ी भागदौड़ और हाय्यतौबा मचा कर की। एवं न ही यह मांग करते हैं कि इस सेवा के बदले में हमें पारितोषिक स्वरूप यह मिलना चाहिए अथवा वह मिलना चाहिए।

बिना प्रत्युपकार किये और बिना प्रतिदान माँगे किया गया सहयोग सेवा है। न कि हम अपने भाई की सेवा सुश्रूषा करेंगे तो बदले में वह हमारा गुलाम हो जायगा। समाज सेवा की साधना इसी स्तर की भावना ही तो कही जा सकती है। अथवा वह किसी व्यापार व्यवसाय से कम नहीं है। आध्यात्मिक विचारधारा का थोड़ा भी ज्ञान रखने वाले व्यक्ति यह अच्छी तरह जानते हैं कि बिना कुछ माँगे प्रभु की की गयी आराधना ही सच्ची आराधना है। अन्यथा बेटा, नौकरी, लड़की की शादी, नया मकान और लॉटरी खुल जाने की अपेक्षा रखते हुए किया गया भजन पूजन, भजन पूजन नहीं हो सकता है। कुछ और भले ही हो। समाज सेवा को भी ईश्वर भक्ति के समकक्ष रखा जा सकता है। और एक मायने में तो यह प्रचलित ईश्वर भक्ति के ढङ्ग से ऊंचे स्तर की ही है। ईश्वर भक्ति के नाम पर प्रतिमा पूजन और कीर्तन-पूजन कर प्रतीक उपासना करने वाले भक्त तो कई मिल जायेंगे। पर नर में ही नारायणत्व का साक्षात् कर ईश्वर के व्यक्त स्वरूप की उपासना करने की निष्ठा ऊंचे स्तर की है। और एसे लोग दुर्लभता से मिलते है। भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं भगवद्गीता में कहा है—

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

अर्थात्—वासुदेव के सिवा अन्य कुछ भी नहीं है। यह मानकर संसार की सेवा करने वाले महात्मा दुर्लभ हैं।

सब प्राणियों में भगवद्भाव रखना कठिन हो सकता है। क्योंकि यह अध्यात्म की उच्च कक्षा है। लेकिन हम इतना तो कर ही सकते हैं कि जिसकी भी सेवा करें उसके प्रति भ्रातृभाव या कर्तव्य निष्ठा का दृष्टिकोण रखें। लेकिन इस युग में जिस प्रकार कई आध्यात्मिक सिद्धान्तों का अनर्थ किया गया है और आदर्शवादिता के नाम पर गलत रीति-नीति अपनाई गयी है। वही अनर्थ समाजसेवा के साथ भी हुआ है।

आध्यात्मिक भाषा के कई शब्द तो रूढ़ अर्थों में आ जाने के कारण उनके साथ पैदा की गयी गन्दगी से ही अपनी गरिमा खो बैठे हैं। एक और शब्द अपनी गरिमा खो रहा है वह है—समाज सेवा का। कहा जा चुका है कि समाज सेवा एक पवित्र यज्ञ है। लेकिन जिस तरह हमने कई आध्यात्मिक आदर्शों के साथ अनाचार किया और अपने हीन स्तर के कारण उनके गौरव को घटाया उसी प्रकार समाज सेवा के साथ-साथ स्वयं को भी समाज सेवी कहलाने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहे हैं।

इस सम्बन्ध में भी कुछ विवेचन की आवश्यकता है। जैसे कि समाज सेवा का स्पष्ट अर्थ अपने से पिछड़ों को आगे बढाना है। वहाँ पिछड़ों को आगे बढ़ाने के ईमानदार प्रयासों के स्थान पर इस अर्थ को विज्ञापित करने की प्रवृत्ति तेजी से बढ़ती जा रही है। लोग समाज सेवा करने के स्थान पर समाज सेवी कहलाना अधिक पसन्द करते हैं। इसलिए इस शब्द के साथ जुड़ी हुई शर्तों को पूरा करने की जगह महत्व इस बात को दिया जाता है कि कोई हमें साधना करते हुए देख रहा है अथवा नहीं। ध्यान इस पर नहीं रहता कि हमारी साधना कैसी चल रही है, वरन् इस बात का ध्यान रहता है कि लोग देखते हैं अथवा नहीं। यही कारण है कि लोग इस दिशा में नैष्ठिक प्रयास करने के स्थान पर अपने मुंह से अपनी बहादुरी और अपने पराक्रम का परिचय ज़्यादा देते हैं।

अपने प्रयासों से किसी का भला हुआ है अथवा नहीं, या हमने इस तरह के प्रयास किये भी हैं अथवा नहीं यह

बात गौण हो-जाती है, और प्रधानता मिलती है अपने तमगे को चमकाने की। कई बार लोग बड़ी चालाकी से भी काम लेते हैं। जैसे दहेज प्रथा को सभी बुरा कहते और बताते हैं। समाज सेवी बनने का चस्का इस प्रथा को तो पानी पी-पीकर गाली देने के लिए प्रेरित करता है। अब यह आवश्यक है कि कहने के साथ-साथ किया भी जाय। इन बातों को लाभदायक अवसरों पर ही सुरक्षा कवच की तरह इस्तेमाल किया जाता है। जैसे बेटी की शादी हो रही है। और लड़के वाले दहेज मांगते हैं तो उन्हें अपने सिद्धान्तों की दुहाई देकर, या दहेज प्रथा से होने वाली हानियाँ बताकर बच निकलने की कोशिश चलती है। लेकिन जब लड़के का नम्बर आता है तो लोगों को यह कहते हुए शर्म नहीं आती कि—'हम तो दहेज प्रथा के एकदम खिलाफ हैं पर लड़के की मां नहीं मान रही है।"

इसी प्रकार गरीबों को गले लगाने तथा कष्ट पीड़ितों की मदद करने की बात हर कोई करता है, लेकिन अपने आस-पास के ऐसे लोगों पर ध्यान देना आवश्यक लगता है जिन्हें वस्तुतः सहायता की आवश्यकता है। एक पत्रकार ने इसी प्रकार की मार्मिक घटना का उल्लेख करते हुए लिखा है—उन्होंने समाज सेवक के रूप में पर्याप्त ख्याति अर्जित की है। कई बार उनसे मिला भी हूँ। हर बार उनकी विचारधारा और गतिविधियों को जानना चाहा है। लेकिन वह है कि जब भी मिलना चाहा है वे यही कहते हैं—क्या बताऊँ आज अमुक कमेटी में जाना है। आज, दरिद्र, बच्चों को नहलाने का कार्यक्रम है, आज माताओं को बच्चों के पालन-पोषण का व्यावहारिक ज्ञान देना है। एक दिन जब मैं उनके घर पहुंचा तो वे घर पर नहीं थे। उनकी नौकरानी थी। वह उनके बंगले के पीछे वाले कमरे में रहती है। उस दिन उसका बच्चा न्यूमोनिया के कारण बुरी तरह तड़प रहा था।

मैंने पूछा—'दवा दी।' उत्तर में वह मौन रही। मैंने कहा—'क्यों दवा क्यों नहीं दी। अपने साहब से कहती तो वह किसी के भी पास भेज देते। उनकी जान पहचान के तो बहुत से लोग हैं।" नौकरानी फफक-फफक कर रो पड़ी। बोली—'दो दिन से कह रही हूँ। लेकिन हम गरीबों की कौन सुने। पैसे माँगे थे, वह भी नहीं दिये।" और बाद में सुना कि उसका बच्चा कोई दवा न मिलने के कारण गुजर गया है।"

स्वाभाविक है कि ऐसे लोग समाज सेवा का सिक्का अपनी प्रतिष्ठा जमाने के लिए उपयोग करते हैं। उनके मन में न दीन दुःखियों के प्रति करुणा है और नहीं सेवा का भाव। इस तरह की समाज सेवा का अगर विश्लेषण किया जाय तो वह मात्र एक फैशन ही सिद्ध होती है। जिनके पास करने को कुछ काम नहीं होता अथवा जो यह समझते हैं कि इस प्रकार हम समाज में कुछ इज्जत कमा लेंगे, या जिसके पास अपने पूर्वजों की कमाई हुई इतनी पैतृक सम्पदा है कि उसमें आराम के साथ निर्वाह हो जाय; वे समाज सेवा का मुखौटा लगा लेते हैं।

कहने का आशय यह नहीं है कि समाज सेवा कोई करता ही नहीं है। सचाई तो यह है कि निष्ठावान समाज-सेवक आत्म प्रचार और अपनी सेवाओं का ढोल पीठने के स्थान पर मूकभाव से अहर्निशि जनसेवा में लगे रहते हैं। चाहिये भी यही कि इस विशुद्ध साधना को पाखण्ड के रूप में नहीं साधना के रूप में ही अपनाया जाय। इसीलिए शुरुआत अपने से करनी चाहिये। अपने से शुरुआत करने का अर्थ है कि जिन आदर्शों की स्थापना हम समाज में होते हुए देखना चाहते हैं, उन आदर्शों को पहले स्वयं हम अपने में उतारें और कथनी से नहीं करनी से उदाहरण प्रस्तुत करें।

इस शुभारम्भ के साथ की गयी समाज सेवा किसी भी आध्यात्मिक या योग साधना से कम नहीं है। कहते हैं कि सूरज जब अस्त हो जाता है तो दीपक अपनी सामर्थ्य को बिना परखे स्वयं जलकर प्रकाश उत्पन्न करने की चेष्टा करता है। उसे इस बात की चिन्ता नहीं होती कि उसके प्रकाश से कितना क्षेत्र आलोकित हो रहा है। वह अपनी शक्ति के अनुसार अन्धकार से संघर्ष करता है और एक छोटे से क्षेत्र में ही सही प्रकाश उत्पन्न करता है, समाज सेवा की निष्ठा भी इसी प्रकार की होनी चाहिए। अधिक व्यापक क्षेत्रों में छाने की बजाय अपने आस पास के क्षेत्रों में ही देखा जाय तो अनेकों व्यक्ति ऐसे मिल जायेंगे जिन्हें हमारी आवश्यकता है। ★

आत्म कल्याण का सुलभ पथ दर्शाने वाले-संत ज्ञानेश्वर

भक्ति मार्ग के प्रवर्तक प्रसिद्ध धार्मिक सन्त स्वामी रामानन्द काशी से रामेश्वर की यात्रा पर निकले थे। मार्ग में एक गांव पड़ता था आलन्दी। स्वामी रामानन्द ने वहां भी अपना डेरा डाला और कुछ दिनों तक रुक जन साधारण को ज्ञान-कर्म और भक्ति की त्रिवेणी में मज्जित कराते रहे। स्वामी रामानन्द एक मारुति मन्दिरमें ठहरे हुए थे, उसी मन्दिर में गांव की एक युवती स्त्री भी प्रतिदिन दर्शन और पूजन के लिए आया करती थी। संयोग से एक दिन स्वामी जी का उससे सामना हो गया। स्त्री ने रामानन्द जी को प्रणाम किया तो बरबस उनके मुँह से निकल गया—'पुत्रवती भव।'

आशीर्वाद सुनकर युवती पहल तो हँसी फिर एक एक-एक चुप हो गयी। स्वामी जी को कुछ समझ में नहीं आया उन्होंने पूछा—'देवी तुम हँसी क्यों हो? फिर एका-एक चुप क्यों हो गयी।'

उस युवती ने कहा—'मेरी हँसी और फिर चुप्पी का कारण यह है कि आप जैसे महात्मा का आशीर्वाद बिल्कुल निष्फल जायगा।'

'क्यों बेटी तुम्हारी कोई सन्तान नहीं है क्या—माथे पर सिन्दूर और हाथों में चूड़ियां देखकर स्वामी जी ने उसके सधवा होने का अनुमान लगाते हुए कहा। तो स्त्री बोली—'सन्तान हो भी तो कैसे स्वामी जी। मेरे पति तो वैराग्य धारण कर संन्यासी हो गये हैं। सुना है उन्होंने आप ही से दीक्षा ली है।

'मुझसे'—स्वामी जी ने चिन्तामग्न होकर पूछा। चिन्ता इस लिए थी कि एक ऐसा व्यक्ति जिसने पहले तो गृहस्थ धर्म अंगीकार किया और इस धर्म का अभी ठीक से निर्वाह भी नहीं हुआ था कि उसने पलायन कर लिया। और मुझसे ही दीक्षा ग्रहण की। कुछ सोचते हुए स्वामी जी ने पूछा—'बेटी तुम्हारा नाम क्या है और तुम्हारे पति किस नाम से पुकारे जातेहैं।'

'मेरा नाम रुक्मिणी है और मेरे पति विट्ठल पन्त कहे जाते हैं—युवती ने कहा—'वे एक दिन गंगा स्नान की कह कर गये और फिर कभी नहीं लौटे। लौटे तो उनके समाचार कि उन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया है। तभी से मैं भी आठ पहर में केवल एक बार भोजन करती हूँ। पीपल की प्रदक्षिणा करती हूँ। इस बात को बारह वर्ष हो गये हैं।

रुक्मिणी अभी २८-३० के लगभग की थी। इसका अर्थ था कि विट्ठल पन्त के कारण वह असमय में ही तापस वेष धारण करने के लिए विवश हो गयी थी। स्वामी जी ने कहा—'समझ गया। समझ गया। इतने ही वर्ष पूर्व विट्ठल पन्त ने मुझसे संन्यास दीक्षा ली थी और चैतन्याश्रम स्वामी नाम धारण किया था।'

फिर उन्होंने अपनी रामेश्वर यात्रा का विचार निरस्त करते हुए कहा—'अब मैं काशी ही जाऊँगा और चैतन्याश्रम को वापस तुम्हारे पास भेजूँगा। जो व्यक्ति सन्तान हीन युवती पत्नी को छोड़ कर सन्यास ग्रहण करता है, शास्त्रों की दृष्टि में वह आश्रम व धर्म की मर्यादा भंग करने वाला पातकी है। उसे दीक्षा देने वाला गुरु भी उस दोष का भागी बनता है।

स्वामी जी के इस निश्चय को सुनकर रुक्मिणी ने भी उनके साथ काशी चलने का विचार व्यक्त किया। अपने माता पिता की सम्मति लेकर उनके साथ काशी गयी। स्वामी जी ने चैतन्याश्रम को बुलाकर सारा हाल पूछा तथा उसे समझा बुझाकर रुक्मिणी के साथ आलन्दी भेज दिया। चैतन्याश्रम फिर गृहस्थ होकर विट्ठल पन्त हो गये। इन्ही दम्पत्ति ने संन् १२-७३ में ज्ञानदेव को जन्म दिया जो आगे चल कर सन्त ज्ञानेश्वर के नाम से प्रसिद्ध हुए थे।

सन्त ज्ञानेश्वर का जन्म ऐसी परिस्थितियों में हुआ जब उनके माता पिता समाज से बहिष्कृत कर दिये गये थे। स्वामी रामानन्द ने तो विट्ठल पन्त को सन्यास छोड़ कर गृहस्थ धर्म का पालन करने की आज्ञा दे दी थी। और इसे शास्त्रोचित भी बताया था। पर महाराष्ट्र के पण्डित इसे सहन नहीं कर पा रहे थे। उस समय किसी

सन्यासी का सन्यास छोड़कर गृहस्थाश्रम में लौट आना एक बहुत अद्भुत बात थी और इसे किसी भी रूप में सहन नहीं किया जाता था। समझा जाता था कि इससे सन्यासाश्रम का भी अपमान होता है और गृहस्थाश्रम पर भी कलंक लगता है। इसलिए वहाँ के ब्राह्मण पण्डितों ने मिलकर यह निर्णय लिया कि उन्हें जाति और समाज से बहिष्कृत कर दिया जाय।

विट्ठल पन्त जब बहिष्कृत कर दिये गये तो उनकी निन्दा आलोचना भी खूब हुई। पर गुरु द्वारा दी गयी व्यवस्था के कारण लोकापवाद से वे ज़रा भी विचलित नहीं हुए। उल्टे उनके स्वाध्याय, आत्म चिन्तन और ईश्वर भजन में लगने वाला समय बढ़ता गया। पत्नी भी पति के पद-चिह्नों पर चलने लगी। इस प्रकार एक तरह से सारा परिवार ही भगवद्भक्त बन गया। उस समय विट्ठल पन्त की दशा अत्यन्त शोचनीय चल रही थी। न कहीं काम मिलता और न कोई भिक्षा देता था। फिर भी परम सन्तोषी वृत्ति के विट्ठल पन्त और उनकी पत्नी रुक्मिणी कई बार पेट की आग को पानी से बुझा लेते।

ज्ञानेश्वर अपने पिता की दूसरी सन्तान थे। उनसे पूर्व निवृत्ति नाथ का जन्म हो चुका था। बाद में एक भाई और एक बहन जन्मे। इस प्रकार चार सन्तानों का पेट भरना बड़ा कठिन काम था। इस पर उनके भविष्य की चिन्ता अलग से। यह तो निश्चित था कि बहिष्कृत परिवार की सन्तान होने के कारण चारों को भी समाज में प्रतिष्ठा नहीं मिलती। न मिली ही। जब ज्ञानदेव के बड़े भाई निवृत्ति नाथ सात वर्ष के हुए तो विट्ठल पन्त ने उनका उपनयन कराने का विचार किया। उन्हें पता था कि संस्कार के समय कोई ब्राह्मण नहीं आयेगा। फिर भी उन्होंने अपनी ओर से अनुनय विनय किया। कोई नहीं आया और निराश होकर विट्ठल पन्त ने पूरे परिवार को लेकर त्र्यंबकेश्वर चलने का निश्चय किया।

वहाँ अप्रत्याशित रूप से प्रसिद्ध योगी गहिनीनाथ ने निवृत्ति नाथ को दीक्षा दी। इसके बाद पूरा परिवार अपने गाँव आ गया। वहाँ कुछ दिनों तक रहे। फिर विट्ठल पन्त और रुक्मिणी अपने चार बच्चों को अनाथ छोड़कर प्रयाण कर गये। सब बालक अनाथ और असहाय होकर भिक्षावृत्ति से अपना गुजरा करने लगे। पिता की तरह शास्त्राध्ययन और सत्संग चर्चा में उनकी भी बड़ी रुचि थी। उनकी कुशाग्रबुद्धि को देखकर जहाँ पैठण के ब्राह्मण बड़े प्रभावित होते थे वही उनकी दुर्दशा देखकर उन्हें दया भी आती थी।

कुछ ही वर्षों में ज्ञान देव ने शास्त्रों का अध्ययन करने के साथ समाज की स्थिति का भी खुली आँखों से अध्ययन कर लिया। इससे उनकी समझ में यह तथ्य भली भाँति आ गया कि इन दिनों समाज में वर्ण, जाति और आश्रम के अनुसार बड़ा भेद भाव प्रचलित था। और इस भेद भाव के शिकार न केवल वही लोग हुए हैं बल्कि निम्न जाति के कहे जाने वाले लोग उनसे भी गयी गुजरी स्थिति में है। ज्ञानदेव अपने अनुभव भाइयों को भी बताते और सुझाते कि इन भेद भावों को दूर किया जाना चाहिए। यह सुधार कार्य किस प्रकार हो इसका उचित उपाय यही समझा गया कि समाज में रहते हुए सौम्य और नम्र उपायों से ही का लिया जाय।

इधर पैठण के ब्राह्मणों ने भी अच्छी उदारता का परिचय दिया। उन्होंने निर्णय दिया कि माता पिता के अपराधों का दण्ड उनकी सन्तानों को देना अन्याय पूर्ण है इसलिए इन चारों भाई बहिनों की शुद्धि कर समाज में लेलेना चाहिए। तदनुसार सन् १२८८ में पैठण के ब्राह्मणों ने इन चारों बालकों की शुद्धि करवा कर समाज में सम्मिलित कर लिया। शुद्धि कराकर ज्ञानेश्वर अपने भाई बहन सहित नेवा से आ गये और वहीं रहने लगे। यहीं रहकर ज्ञानेश्वर जी ने भगवद् गीता पर १२९१ में एक सुन्दर भाष्य लिखा। जो 'ज्ञानेश्वरी गीता' के नाम से मराठी साहित्य और धर्म ग्रन्थों के भाष्य-साहित्य में आज भी अपना महत्व रखता है।

यों ज्ञानेश्वरजी के सम्बन्ध में अनेक चमत्कारिक घटनायें प्रचलित हैं। पता नहीं वे कितनी सत्य हैं और कितनी असत्य। पर ज्ञानेश्वरी-गीता के नाम से उन्होंने जो ग्रन्थ धार्मिक जनता को दिया वह अपने आप में एक बहुत बड़ा चमत्कार है। लगभग ८०० पृष्ठों के इस वृहद् ग्रन्थ में गीता का भावार्थ मराठी के ओवी छन्दों में बड़े सुन्दर ढंग से विश्लेषित किया गया है। अब से लगभग ७००

वर्ष पूर्व लिखी गई इस ज्ञानेश्वरी में ५६ भाषाओं के शब्द आये बताये जाते हैं। इसी से पता चलता है कि ज्ञानेश्वरजी ने अल्पायु में ही कितनी भाषाओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया था।

जिस समय ज्ञानेश्वरजी ने गीता पर अपनी भावार्थ दीपिका टीका लिखी उस समय उनकी आयु केवल १५ वर्ष की बतायी जाती है। इतनी कम आयु में गीता जैसे गूढ़ग्रन्थ पर सुलझा हुआ भाष्य लिख देना एक चमत्कार ही कहा जायगा। ज्ञानेश्वरी पूरी करने के बाद वे तीर्थ यात्रा के लिए निकल पड़े। तीर्थयात्रा का उद्देश्य था लोगों को गीता के माध्यम से अधिक आत्म-कल्याण और ईश्वर प्राप्ति का सरल सुगम मार्ग दर्शन कहते हैं कि उनके समकालीन प्रसिद्ध सन्त नामदेव भी इस तीर्थ यात्रा में साथ थे। उनके बड़े भाई निवृत्तिनाथ—जिन्हें वे अपना गुरु मानते थे, सोपानदेव और मुक्ताबाई तो साथ थे ही। साथ में कई और लोग भी हो गये थे।

जगह जगह जाकर उन्होंने सर्वसाधारण को गीता का भावार्थ समझाया। इस ग्रन्थ की भाषा उन्होंने प्रयत्नपूर्वक इतनी सरल रखी कि जन साधारण को आसानी से वे तथ्य समझ में आ जाय। जहाँ जहां भी वे जाते भिक्षा वृत्ति पर निकलते समय गीता सुनने के लिए भी लोगों को निमंत्रित कर देते। पहले दिन जितने लोग उन्हें सुनने आते दूसरे दिन श्रोता बनकर आने वालों की संख्या उससे बड़ी चढ़ी ही रहती। क्योंकि ज्ञानेश्वर के वक्तव्यों की भाषा सीधी सादी होने के साथ-साथ वे कहते समय भावविभोर भी हो उठते। इसके अतिरिक्त वे अविश्वासी और दुराग्रही प्रवृत्ति के लोगों को अध्यात्म की शक्ति सामर्थ्य बताने के लिए विलक्षण कार्य भी कर बैठते। एक बार कहते हैं उनके प्रतिपादनों की गूढ़ता देखकर कुछ लोगों ने उन पर संदेह किया था कि ये कहीं रटी रटाई बातें तो नहीं हैं। ज्ञानदेव पर आक्षेप करते हुए किसी ने कहा था—'नाम से क्या होता है। यह भैंसा जा रहा है। इसको भी ज्ञानदेव कह सकते हैं।

इस पर ज्ञानदेव बोले—'हाँ-हाँ ठीक है। इसमें और मुझमें कोई भेद नहीं है। इसमें भी मेरी ही आत्मा है।'

इतना सुनने पर उस व्यक्ति ने भैंस की पीठ पर कस कर तीन कोड़े लगाये उस समय ज्ञानेश्वर जी ने सर्वात्म भाव की सिद्धि का अद्भुत परिचय दिया। कहते हैं कि भैंसे की पीठ पर कोड़े पड़ते ही उसके निशान ज्ञानदेव की पीठ पर उभर आये थे। और उन घावों से खून बहने लगा था।

इसी प्रकार यह भी सुना जाता है कि ज्ञानेश्वर जी ने एक बार गधे के मुँह से भी वेद ऋचाओं का पाठ करवाया था। तीर्थ यात्रा द्वारा गांव-गाँव में भक्तिमार्ग का प्रचार कर ज्ञानेश्वर जी वापस पंढरपुर लौटें। उन्होंने आत्मकल्याण के लिए जिस मार्ग का उपदेश दिया उसमें ज्ञानकर्म और भक्ति का अद्भुत समन्वय है। अपने-अपने मत की पुष्टि के लिए अधिकाँश आचार्यों ने किसी एक पर ही अधिक जोर दिया है। जैसे शंकराचार्य ने ज्ञान को ही सर्वाधिक प्रधानता दी है तथा कर्म और भक्ति को गौण बताया है। लेकिन ज्ञानेश्वर ने ज्ञान, भक्ति और योग तीनों विषयों का समुचित विश्लेषण करते हुए साधक से अपनी रुचि के अनुकूल मार्ग अपनाने की प्रेरणा दी है।

ज्ञानेश्वर जी ने अपनी ज्ञानधारा प्रयाग से लेकर वृन्दावन, पंजाब, मारवाड़, काशी गिरनार आदि स्थानों पर बहाई और मार्ग में पड़ने वाले सभी स्थानों को उस ज्ञान गंगा में स्नान कराते गये। तीर्थ यात्रा पूरी कर लेने के बाद पंढरपुर में ही उन्होंने सन् १२८७ में समाधि ले ली। ज्ञानेश्वरी गीता के अतिरिक्त योग वशिष्ठ पर भी उन्होंने अमृतानुभव नाम की एक टीका लिखी है। उनके उपदेशों से समाज के पिछड़े और निम्नकुल के लोगों में आत्म विश्वास का भाव जागा। बड़े बड़े शास्त्रियों और धर्मगुरुओं ने उन्हें जब धर्म के लाभ से ही वंचित कर रखा था तब ज्ञानेश्वर जी ने उनके लिए ईश्वरीय राज्य का द्वार खोला और धार्मिक क्षेत्र में समानता का आदर्श स्थापित किया।

—o—



अमर कला साधक—फ्रा एंजिल्को

एक बार ऐक मेडिकावासी धनी व्यक्ति फ्रा एंजिल्को के चित्रों को देखकर इतना प्रभावित हुआ कि उसने अपना फ्लोरेंस स्थित एक विशाल भवन उसे भेंट कर दिया।

वह स्वयं तो साधु था उसे प्रसादों से क्या लेना देना था एंजिल्को ने इसको एक मठ बना दिया जिसमें एक भोजन गृह तथा ४१ साधुओं के छोटे आवास कक्ष बनाये गये।

यहीं भोजन गृह में उसने अपने दस चित्र लगा दिये थे। बाद में इन चित्रों को देखने के लिये काफी दर्शक आने लगे तथा उसकी मृत्यु के कुछ वर्षों पश्चात् इस भवन को उसका स्मारक बनाना पड़ा।

एंजिलको ने अपना सारा जीवन लोक सेवा में लगाया था। तदनुरूप ही उसे सम्मान तथा श्रद्धा मिली। वह रोम चला गया तो उसके साथी साधुओं ने उसे १४४६ में पुनः फ्लोरेन्स बुलाया तथा अपने विहार का प्रमुख बनाया।

विहार का प्रमुख बनने के बाद उसे कला साधना के लिये अधिक समय नहीं मिल पाता था फिर भी वह किसी न किसी प्रकार चित्र बनाने का समय निकाल ही लेता था। उसने इस काल में लगभग पैंतीस चित्र बनाये।

उससे प्रभावित होकर उस काल के अन्य चित्रकारों ने भी अपने चित्रों का लक्ष्य मनुष्य के अन्तः करण में सुद्प्रेरणाएं भरने का रखा। इसका परिणाम यह हुआ कि चित्रकला जन-मानस की मानसिक तथा आत्मिक प्रगति में सहायक बनी।

चार सौ वर्ष गुजर जाने के बाद भी उसके चित्रों की लोकप्रियता घटी नहीं वरन् बढ़ी ही है। उसके चित्रों को देखकर मन में वासना तृष्णाओं के जाल—जंजाल से ऊपर उठाकर नित्य सुख पाने—लोक मंगल के लिये सर्वस्व न्यौछावर करने की उमंग उठने लगती है। जीवन्त कला का यह अमर उपासक था फ्रा एंजिल्को।

फ्रा एंजिल्को उसका वास्तविक नाम नहीं है। फ्रा से अभिप्राय उसके साधु होने से है तथा एंजिल्को से यह ध्वनि निकलती है—जिसने देवत्व का चित्रण करने में सफलता पायी है। उसका वास्तविक नाम जान द्रदर ग्योवानी था।

इस महान चित्रकार का जन्म मेडिको राज्य में पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुआ था। उसके पिता एक सामान्य कृषक थे। उसका बड़ा भाई ईसाई साधु था।

भाई का ग्योवानी पर बड़ा प्रभाव था। वह भी बड़ा होकर अपने भाई की तरह ईसाई साधु ही बना।

बचपन से ही वह जिज्ञासु तथा चिन्तन शील था अपने निकटवर्ती मनुष्यों का गहराई से अध्ययन करने का आदी था।

ज्यों-ज्यों वह बड़ा होता गया उसके सामने यह तथ्य स्पष्ट होता गया कि मनुष्य में उत्तम आचरण करने की दूसरों के लिये सहयोग सेवा तथा सहयता करने की स्वाभाविक कामना होती है। यह कामना अन्तःकरण की निर्मलता तथा देवत्व का प्रतिनिधित्व करती है। इसके विपरीत अपना ही हित सोचने तथा दूसरों का अहित करते हुए भी अपना स्वार्थ साधने की राक्षसी प्रवृत्ति भी बीज रूप में होती है।

इन दोनों प्रवृतियों में से जिसको पोषण मिलता जाता है मनुष्य वैसा ही बनता जाता है। यदि दैवी प्रवृतियों को पोषण मिलता है तो वह सन्त साधु, देवता बन जाता है तथा आसुरी प्रवृतियों को पोषण मिलता है तो वह स्वार्थी, पशु, राक्षस होता जाता है।

मनुष्यों में जितनी अधिक देवत्व की वृद्धि होती जाती है उतना ही इस धरा पर स्वर्गोपम वातावरण उत्पन्न हो जाता है। यदि असुरता की वृद्धि होती है तो संसार में नारकीय परिस्थितयां दृष्ट गोचर होने लगती हैं।

माहात्मा ईसा उस स्वर्गीय सन्देश के एक सन्देश वाहक के रूप में इस धरती पर आये तथा भ्रमित धरती

के मनुष्यों को सद्‌मार्ग बताते रहे थे। कुछ व्यक्तियों ने जिनके स्वार्थों पर ईसा के उपदेशों द्वारा चोट पहुँचती थी, ने उन्हें सूली पर टाँगा। ईसा का यह बलिदान व्यर्थ नहीं गया। मुझे भी इस सद्‌ज्ञान द्वारा प्रचार प्रसार करने के लिये तत्पर हो जाना चाहिये।

मनुष्य को ईश्वर ने अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक सुविधा सम्पन्न बनाया तथा उसे सुविकसित मस्तिष्क तथा समर्थ शरीर यन्त्र दिया तो उसके पीछे ईश्वर का यही प्रयोजन रहा है कि वह इस धरती को स्वर्ग बनाये। अतः उसे भी ईसा का अनुगामी बन कर सद्‌ज्ञान का अलख घर घर द्वार-द्वार जगाना चाहिये। अतः वह भी ईसाई साधु बन गया।

वाणी और कर्म द्वारा वह लोगों को धर्म का—मानवीय कर्तव्य का राजमार्ग बताने के लिये साधु बना था। वह अपने इस कर्तव्य को बखूबी निभाता रहा। अल्प काल में ही वह नागरिकों तथा साधु समाज में सम्मानित माना जाने लगा।

एंजिल्को के शुद्ध सात्विक आहार, त्याग तपोमय जीवन तथा नित्य उपासना के द्वारा उस की आत्मा पर पड़े आवरण धीरे-धीरे उठने लगे। उसकी आत्मिक शक्ति में निरन्तर वृद्धि हो रही थी। वह अपनी आत्मा की आवाज को सहज ही सुन सकता था।

ये प्रतिभाए एंजिल्को को ही प्राप्त थी, यह मानना गलत होगा। ईश्वर ने हरेक व्यक्ति को बीज रूप में कुछ प्रतिभाएं दी हैं आवश्यकता हैं उन्हें पहचानने की और विकसित करने की। उन प्रतिभाओं में से कला भी एक है। ऐसी ही कला के बीजांकुर उस साधु में भी थे। चित्रकला में विशेष रुचि थी और इसी कला में उसकी कुछ गति भी थी।

कभी-कभी उसको अपने अन्दर से एक विशेष प्रकार की आवाज सुनायी देती थी—एंजिल्को तुम अपनी वाणी, व्यवहार तथा आचरण के द्वारा तो जन कल्याण कर ही रहे हो। किन्तु तुम्हें और भी सामर्थ्य प्राप्त हुई है उसको भी पहचान कर उसके विकास का प्रयत्न करो और भी अधिक सेवा तुम कर सकते हो। तुम्हारे भीतर एक श्रेष्ठ चित्रकार के अंकुर विद्यमान हैं उन्हें विकसित भर करने की आवश्यकता है। यदि तुम यह साधना कर सके तो तुम्हारे द्वारा बनाये गये चित्र युगों तक मानव जाति को प्रेरणा तथा प्रकाश देते रहेंगे।"

एंजिल्को ने अपने अन्तर की इस आवाज को सुना। किन्तु 'उसे कौन मार्ग दर्शन देगा। बड़े से बड़े ख्याति प्राप्त चित्रकारों के आगे उसके चित्रों को कौन प्रतिष्ठा देगा।' इस प्रकार की कमजोरी एक क्षण उसके मन में आयी किन्तु दूसरे ही क्षण वह अपनी इस कमजोरी को समझ गया। यह उसका आलस्य बोल रहा था।

अब वह आश्वस्त हो चला था। उसका अपना अन्तःकरण ही उसका गुरु—मार्ग दर्शक बना। प्रसिद्धि की चाह तो सामान्य मानव को होती है जिसकी बुद्धि भ्रमित रहती है। उसे प्रसिद्धि की चाह क्या?

उसी समय से एंजिल्को अपनी कला साधना में जुट गया। इसके लिये उसने अपने साधु कर्म—लोक सेवा—सद्‌ज्ञान के प्रचार प्रसार के क्रम में कोई व्यवधान नहीं डाला वरन् फालतू समय में वह अपनी कला साधना करने लगा।

सच्चे मन से तथा निष्काम भाव से कोई कार्य किया जाता है तो उसकी सफलता सुनिश्चित रहती है। फ्रा एंजिल्को की तूलिका कुछ ही समय में प्राणवान हो उठी।

सारे दिन वह साधु संस्थान के कार्यालय में काम करता, लोगों को उपदेश देने जाता, संस्कार करवाता तथा शेष समय में वह चित्र बनाने का अभ्यास करता। इस बचे हुए समय में भी उसने कई चित्र इतने सुन्दर बनाए उनमें से अभी तक दो सौ मिल चुके हैं।

उसके चित्रों का एक उद्देश्य होता था—उनमें एक प्रेरणा भरी होती थी। 'नीचे मत गिरो ऊपर उठो और आकाश को छूलो। देवत्व को प्राप्त करो। स्वर्ग किसी अन्य लोक में नहीं उसे इसी लोक में पाया जा सकता है —लाया जा सकता है। यह और किसी की नहीं उसकी आत्मा की आवाज थी जिसे वह चित्रों के माध्यम से अंकित कर जन सामान्य में प्रेरणा भर रहा था।

फ्रा एंजिल्को के चित्रों के विषय महात्मा ईसा के जीवन से संबंधित होते थे। उन चित्रों द्वारा वह देवत्व को धरती पर लाने का प्रयास कर रहा था तथा उसे

उनमें पूरी तरह सफलता भी मिली थी। उसके चित्रों में चित्रित पुरुष देवदूत, स्त्री देवी तथा बालक देवता होता था। वैसी ही अनुपम होती उन चित्रों की पृष्ठ भूमि स्वर्ग धरा सी पावन, मनोहर तथा आल्हाद कारी।

उसकी 'घोषणा,' 'ईसा की उत्पत्ति, यूनान की उड़ान 'मागी की भक्ति, आदि चित्र चार सौ वर्षों बाद भी कलाकारों के प्रेरणा स्त्रोत बने हुए हैं।

किस प्रकार कला मावव के उन्नयन में सहायक हो सकती है। उसके विचारों, भावनाओं को परिष्कृत करके सद्प्रेरणा दे सकती है फ्रा एंजिल्को के चित्र इसके अनुपम उदाहरण हैं।

उसके चित्रों को देखकर लगता है जैसे स्वयं मानव निर्माता ईश्वर ने अपने पुत्रों को सन्मार्गगामी बनाने के उद्देश्य से पथ प्रदर्शक के रूप में इन्हें रचा हो।

ऐसे पैंतीस चित्र फ्लोरेंस के 'म्यूसो डी सेन मार्को चर्च में अलमारियों के पल्लों पर जड़े हुए हैं। ये सभी चित्र अनुपम हैं तथा किसी देवता के उतारे हुए लगते हैं। पन्द्रह इंच लम्बे तथा पन्द्रह इंच चौड़े इन चित्रों में सचमुच ही स्वर्ग उतर आया है।

चित्र कलाके समालोचक इन्हें आश्चर्य की वस्तु कहते हैं तथा उनका मत है कि 'ऐसी सादगी प्रेम तथा देवता के दर्शन अन्य चित्रों में दुर्लभ है। 'घोषणा' नामक चित्र में मधुरता तथा गरिमा के अतिरिक्त भाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं।

'कला को केवल कला के लिये' मान ने वाले कलाकार कला को कल्पना लोककी एक वस्तु बना लेते हैं उससे सामान्य मानव कोई लाभ नहीं उठा पाता। आजकल चित्रकला के क्षेत्र में ऐसे ही प्रयोग चल रहे हैं। कला को केवल लोक रंजन का साधन मानने वाले तथा मानव की पाशविकता को गुदगुदाने—उभारदेने वाले चित्रकार तथाकथित कलाकार कला के नाम पर नग्नता का प्रचार भर करते हैं। किन्तु इसके विपरीत फ्रा एंजिल्को के चित्र मानव को उसका सच्चा स्वरूप बताते हैं तथा कलाकार को मनुष्य से भिन्न नहीं बताते।

फ्रा एंजिल्को की मृत्यु पन्द्रहवी सदीके अन्तिम दशक में हुई। वह आज भी अपनी चित्रकला तथा मानव जाति के उत्थान हेतु अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित करने के जीवन-दर्शन के रूप में अमर है।

आज जब चित्रकला पाशविक वृतियों के जाल में फँसी हुई है। चित्रकार लोग मनुष्य की वासना को उभारने तथा नारी को नग्न करने के प्रयास में दुशासन बने हुए हैं। फ्रा एंजिल्को जैसे सच्चे कला उपासक की कमी आज की पीड़ित मानवता बुरी तरह अनुभव कर रही है। उसकी पुकार सुनकर कितने माई के लाल आज चित्रकला को पुनः अपने उस गौरवमय पद पर आसीन करने का साहस करते है, इसकी प्रतीक्षा कर रही है।



समुद्र खौलाया जाने लगा तो डरी सहमी जल की बूँदें विधाता के पास जाकर कहने लगीं 'पितामह! हमें कष्ट क्यों देते हो हमने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है।, विधाता ने बहुतेरा समझाया—बूँदो तुम आकाश में उड़ोगी जहाँ बरसोगी वहीं हरियाली फूटेगी और संसार को प्रसन्नता मिलेगी, पर वह उपदेश बूँदों को अच्छा न लगा। वे लौटीं तो, पर विधाता को गालियां हीं देती रहीं।

समुद्रजल की बूँदों को आकाश में फेंक दिया, फिर वे धरती पर गिरीं और बहते-बहते समुद्र में फिर जा पहुँची तब उन्हें पता चला कि अरे हम तो व्यर्थ ही डरते रहे हमारा तो कुछ भी नहीं बिगड़ा। उधर स्वाँति नक्षत्र आ गया तो बूँदें एक बार फिर उमड़ीं इस बार उनमें न भय था न उद्वेग। हंसती खिलखिलाती बूँदें आकाश से झरने लगीं कोई बाँस में गिरी तो वंशलोचन बन गई, कोई कदली में गिरी तो कपूर और सीपी के मुख में गिरी तो मोती बन गई।

विधाता विचार कर रहे थे कि मनुष्य भी सङ्कट और साधनाओं से विचलित न होता तो आज वह भी बूँदों के समान, वंशलोचन कपूर और मोती बन गया होता।

पराश्रयी नहीं आत्मविश्वासी और आत्म निर्भर बनें

विश्व में जितने भी महापुरुष हुए हैं। उन्होंने जन-सामान्य के औसत स्तर से ऊँचे उठ कर यदि कोई उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की है तो इसका कारण यह नहीं है कि उन्हें कदम-कदम पर अनुकूल परिस्थितियाँ प्राप्त हुई हों। अथवा उनके साथ आगे बढ़ाने में सहायक कारण रहे हों। बल्कि उनकी प्रगति का श्रेय उनकी कर्मठता, लगन, परिश्रम, पुरुषार्थ और संघर्ष क्षमता को ही रहा है। जो वे कठिन से कठिन और प्रतिकूल परिस्थितियों में भी निरन्तर निखारते और बढ़ाते रहे है।

प्रतिकूल परिस्थितियों व विपत्तियों से संघर्ष करने की क्षमता किसी में भी जन्म जात नहीं मिलती। बल्कि वे विकसित करना पड़ती हैं। ठीक उसी तरह जैसे कि कोई व्यक्ति अध्ययन, अवलोकन, पर्यटन और निरीक्षण द्वारा अपने ज्ञान की अभिवृद्धि करता है। विपत्तियाँ सभी के जीवन में आती हैं, कठिनाइयाँ प्रत्येक मनुष्य की राह रोककर खड़ी होती है और आपदायें सभी के मार्ग में इस तरह आती हैं जैसे राह पर चलने वाले के लिए कंकड़ पत्थर आते हैं। जीवन में आने वाली विपत्तियों और कठिनाईयों के लिए कंकड़ पत्थर की उपमा पूर्णतया सटीक न बैठती हो। पर विपदायें, कठिनाइयां और बाधायें आती हरेक के जीवन में हैं। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि वे व्यक्ति का मार्ग रोकने में समर्थ होती हों यदि ऐसा हुआ होता तो संसार में कोई भी व्यक्ति सफल एवं समृद्ध नहीं हो सकता था। और ऐसा भी नहीं है कि इन कठिनाइयों से बच कर कोई व्यक्ति सफल हुआ हो। प्रत्येक सफल व्यक्ति को कठिनाईयों और विपत्तियों के बीच से गुजरना पड़ा है और यह भी कि उन व्यक्तियों ने उन्हें परास्त कर ही विजय श्री का वरण किया है।

कठिनाइयाँ पथ रोकती हैं और रोड़े अटकाती है। यह भी ठीक है। पर वे यह परिणाम तभी प्रस्तुत कर पाती हैं जब कि कोई व्यक्ति इनसे हार मान ले। जरा सी प्रतिकूलता देखने पर निराश हो जाने, कठिनाई सामने आने पर हताश होकर बैठ जाने तथा कष्टकाकीर्ण मार्ग को देखकर हौसला खो बैठने पर उन्नति का पथ अवश्य ही अवरुद्ध हो जाता है। इसके विपरीत यदि व्यक्ति उनसे संघर्ष करने का संकल्प कर आगत विपत्तियों का सामना करते हुए आगे बढ़ने लगता है तो कठिनाइयाँ उसका रास्ता छोड़ देती हैं और परे हट जाती हैं। यह ठीक जाड़े के मौसम की तरह होती है जिसमें कमजोर व्यक्ति तरह तरह के रोगों से ग्रस्त हो जाते हैं और स्वास्थ्य साधक अन्य ऋतुओं की अपेक्षा अपना स्वास्थ्य बना लेते हैं, शक्ति बढ़ा लेते हैं।

सफलता के क्षेत्र में कमजोर व्यक्ति उन्हें ही कहा जायगा जो आत्म विश्वासी तथा आत्म निर्भर हो। स्वस्थ व्यक्ति से जिस प्रकार रोग भी दूर रहते और शक्ति तथा बल भी उनके पास होता है, उसी प्रकार सफलता के मार्ग पर सशक्त आत्मा के साथ आगे बढ़ने वाला व्यक्ति आत्म विश्वासी भी होगा और आत्म निर्भर भी होगा। आत्म विश्वास का अर्थ है अपनी सामर्थ्य और शक्ति पर भरोसा। मनुष्य यदि चाहे तो सर्व समर्थ हो सकता है। क्योंकि परमात्मा ने मनुष्य को ऐसी सम्भावनायें भी छुपा कर दी है कि यदि उसे उनका बोध न हो तो वह अणु से विभु, क्षुद्र, से महान और नर से नारायण बन सकता है। ईश्वर पुत्र होने का बोध ही मनुष्य में उन सम्भावनाओं के प्रति बोध जाग्रत करता है और वह बोध आत्म विश्वास से भर देता है। जैसे किसी व्यक्ति को अपनी सम्पन्नता और समृद्धि का भान हो, वह समझता हो कि मैं कुलीन और धनाढ्य परिवार का पुत्र हूँ तो दरिद्रता का उसे ख्याल भी नहीं आता। किसी वस्तु के अभाव की उसे कल्पना भी नहीं होती। राजा का पुत्र जिस तरह राजकुमार होता है उसी प्रकार सर्व शक्तिमान परमात्मा का पुत्र होने के कारण स्वय को दीन हीन और दुर्बल होने की स्थिति अनुभव ही नहीं करनी चाहिए।

अपनी शक्तियों के प्रति जागरुक और आश्वस्त व्यक्ति असंदिग्ध रूप से आत्म निर्भर भी होना चाहिए। जिसे यह पता हो कि मैं दोनों पैरों से भलीभाँति चल सकता हूँ वह किस लिए बैसाखियों का सहारा लेगा। जिसे यह मालूम हो कि मेरे पास लाखों की सम्पत्ति है वह काहे को कौड़ी-कौड़ी के लिए दूसरों के सामने हाथ फैलायेगा। आत्मविश्वास से सम्पन्न व्यक्ति अपनी ही क्षमताओं के सहारे प्रतिकूलताओं को अनुकूल बनाता है और विपरीत परिस्थितियों में भी आगे बड़ने की राह खोज लेता है।

आम रास्ते पर चलने में किसी को कोई परेशानी नहीं होती। पर उस रास्ते से कोई विशेष मंजिल नहीं मिलती। आम रास्ते पर चल कर लोग वहीं पहुँच सकते हैं जहाँ कि अन्य राहगीर जाते हैं। पर जिन्हें अपना विशिष्ट लक्ष्य प्राप्त करना है, ढर्रे की जिन्दगी से हट कर जो उल्लेखनीय सफलता प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें अपनी राह आप बनानी पड़ती है। जीवन एक नगर की भाँति नहीं है, जहाँ पहले से ही बनी बनाई, साफ सुथरी और निष्कण्टक राह हों। वरन् जीवन एक गहरा सागर है, जिसकी तह में अमूल्य रत्न और मोती भरे पड़े हैं। तथा उन्हें पाने के लिए गोते लगाना पड़ता है दम घोंटू श्वाँस रोध का अभ्यास करना पड़ता है, विषैले कीड़े से लेकर वड़ी मछलियों तक से अपने को बचाने की व्यवस्था करनी पड़ती है और आस-पास तथा ऊपर नीचे की अगाध जल राशी से संघर्ष करते हुए उन रत्नों तक पहुँचना होता है, जिन्हें सफलता कहते हैं।

इसलिए सफलता का इच्छुक प्रत्येक समझदार व्यक्ति स्वप्नों में महल खड़े नहीं कर सकता वरन् उतना ही सोचता और करता है जितना कि उसकी शक्ति होती है। क्योंकि वह अच्छी तरह जानता है कि उसे जो कुछ भी करना है वह अपनी ही शक्ति द्वारा कर सकेगा। अन्य और किसी का सहयोग न तो उसे अपेक्षित है और न किसी के सहारे कोई सफलता प्राप्त की जा सकती है। जब हम स्वयं ही अपनी सहायता आप नहीं कर सकते तो दूसरे क्यों हमारी सहायता करेंगे। संसार में इतना अवकाश किसे है वह दूसरों की कोई बहुत बड़ी सहायता करने के लिए समय निकाल सकें। यदि कोई यत्किंचित सहायता भी करता है तो वह सहायतार्थी की आवश्यकता को देखते हुए अपर्याप्त ही रहती है और मान भी लें कि किसी तरह होई वाँञ्छित सफलता तक पहुँचा भी दे तो दूसरों के कन्धे पर सवार रहने वाले लोग उसका मूल्य नहीं समझ पाते।

सवस अधिक स्पष्ट उदाहरण पिता पुत्र का है। पिता जीतोड़ मेहनत कर किसी प्रकार अपनी सन्तान को विरासत में अपार दौलत छोड़ जाये तो इस बात की बहुत कम सम्भावना रहती है कि सन्तान विरासत में मिली सम्पत्ति की कद्र करेगा। अधिकांशतः तो मेहनत और परिश्रम से कमाई गई पैतृक सम्पत्ति के मिल जाने पर लोग उच्छृंखल और अवारा गर्द ही होते देखे गये हैं। इस तरह की सन्तानें अपने पिता की छोड़ी गयी सम्पत्ति को प्रायः शौक-मौज में ही नष्ट कर डालती है। क्योंकि उन्हें यह तो अनुभव होता नहीं कि इस सम्पत्ति के अर्जन में कितनी मेहनत करनी पड़ी है। इसलिए उसी सफलता को मूल्यवान् कहा गया है जो अपने बल-बूते पर प्राप्त की गयी है।

दूसरों पर निर्भर रहने वालों की एक सहज कमजोरी बन जाती है कि वे अपनी शक्ति को अपहचानी ही छोड़ कर दूसरों के भरोसे ही जीवन व्यतीत करने के आदि बन जाते हैं। बच्चा जब अँगुली पकड़ कर चलना सीखता है तो उसे सहारा मिल जाता है। लेकिन यदि वह सारी जिन्दगी ही अँगुली पकड़ कर चलने की आशा करे तो निराशा ही मिलती है। छोटे से बच्चे भी यह गल्ती नहीं करते। अँगुली का सहारा मिल जाय तो ठीक अन्यथा वे गिरते पड़ते चलना सीख ही लेते हैं। और चलने में समर्थ होने पर किसी सहारे की अपेक्षा नहीं करते। लेकिन परावलम्बी व्यक्ति आजीवन परमुखापेक्षी ही बने रहते हैं। वे दूसरों का सहारा पकड़ कर ही आगे बढ़ना चाहते हैं और इसके लिए उन्हें निराश ही होना पड़ता है तथा ठोकरें खानी पड़ती हैं। फिर भी परमुखापेक्षी अपने श्रम से मुक्त नहीं होता। वह दूसरों के औपचारिक आश्वासन पर भी अखण्ड विश्वास कर लेता है। सोचता है कि अमुक आश्वासन देने वाला व्यक्ति उसका

पूरा पूरा सहयोगी रहेगा और उसे उसकी मंजिल तक पहुँचा देगा।

ऐसी मनोवृत्ति के लोग कदम-कदम पर ठगे और ठगे जाते हैं। क्योंकि उन्हें सच्चे और अवसरवादी मित्रों की पहचान तो होती नहीं। वे तो जिस किसी के भी सम्पर्क में आते हैं उसे ही अपना मित्र मान बैठते हैं। जबकि सच्चे मित्र आसानी से नहीं मिलते। आज के अत्यन्तिक आत्मकेन्द्रित व्यक्तियों से भरे समाज में तो निन्यानवे प्रतिशत लोग किसी स्वार्थ के कारण ही दोस्ती का हाथ बढ़ाते हैं। जबकि परावलम्बी हर मीठी बातें करने वाले को अपना अहेतुकी मित्र समझ बैठता है और जब उसका भ्रमभंग होता है तो माथा ठोंक कर रह जाता है।

दूसरों पर ही निर्भर रहने वाले व्यक्ति को सब से बड़ी जो क्षति होती है वह यह कि ऐसे लोग स्वभाव से ही भिकारी और कायर बन जाते हैं। स्वयं को छोड़कर उसे प्रत्येक व्यक्ति साधन सम्पन्न, सक्षम और शक्ति सम्पन्न लगने लगता है और वह प्रत्येक व्यक्ति से कोई न कोई आशा बाँध लेता है। इस तरह का स्वभाव कई बार अव्वल दर्जे की चाटुकारिता में भी बदल जाता है। और ऐसे लोग अपने उद्धार की आशा करते करते केवल दूसरों की प्रशंसा करने और उन्हें खुश करने के सस्ते से यन्त्र भर बन जाते हैं। जबकि किसी की झूठी वाहवाही कर कुछ भी प्राप्त नहीं किया जा सकता दुम हिलाने और तलुए चाटने से कुत्ते को केवल रोटी का टुकड़ा ही मिलता घर की मालकियत नहीं मिल जाती। पशु के लिए भले ही ऐसा कोई अवसर नहीं हो, पर मनुष्य के लिए तो मालकियत प्राप्त करने का पूरा-पूरा अवसर है। फिर वह दूसरों के अनुदान की आशा करे और थोड़ा बहुत मिल जाने पर सुखी हो जाने की बात सोचे यह तो लज्जाजनक है।

शायद कुछ लोग यह सोचते हों कि विपत्तियों के दिन बीत जाने पर हम आत्म निर्भर होने की बात सोचेंगे। यह सोचना ही गलत है। आत्म निर्भरता तो विपत्तियों के बीच रह कर ही प्राप्त की जा सकती और उन पर विजय भी आत्म निर्भरता के जन्मदाता आत्म विश्वासों से ही प्राप्त होती है। बीज यदि जमीन पर गिरने के बाद यह कहने लगे कि पहले हमें कोई अंकुरित कर दे फिर जमीन के अन्दर दबेंगे और गल सकेंगे तो बीज किसी जन्म में भी अंकुरित नहीं हो सकता। सोना यदि कह दे कि पहले हम चमक जायें फिर आग में तपेंगे तो तपने की आवश्यकता ही क्या है। जो लोग कठिनाइयों से डरते हैं और विपत्तियों से घबराते हैं वे ही कह सकते हैं कि विपत्तियाँ बीता लें तब जाकर हम कहीं प्रयत्न करेंगे वे अपने आप के साथ छलवा करते हैं। क्योंकि विपत्तियाँ आती ही इसलिए हैं कि उनसे मनुष्य का पुरुषार्थ चमके और उसकी संघर्ष क्षमता निखरे।

विपत्तियों को दुर्भाग्य मानने वालों के तर्क और है। पर जो रचनात्मक दृष्टिकोण रखते हैं और आशवादी हैं वे जानते हैं कि विपत्तियाँ मनुष्य की क्षमताओं और शक्तियों का विकास करने के लिए आती हैं। पुरुषार्थी और पराक्रमी व्यक्ति विपत्तियों से न तो घबराते हैं और न ही भयभीत होते हैं। वरन् वे उन्हें अपने विकास में सहायक मानकर उनका स्वागत करते हैं। हाँ वे लोग जरूर विपत्तियों से घबराते हैं जिन्हें अपने स्वरूप का परिचय नहीं है और अपनी उन्नति के लिए दूसरों के आश्रय की प्रतिक्षा करते रहते हैं।

अपनी परिस्थितियों को सुखद बनाने के लिए दूसरों पर निर्भर रहने वाले व्यक्तियों को सोचना चाहिए कि जीवन में सफलता, उन्नति और समृद्धि की उपलब्धियाँ अर्जित करने के लिए आवश्यक है कि स्वावलम्बी बना जाय। अपने पाप पर विश्वास कर प्रतिकूल परिस्थितियों तथा कठिनाइयों का सामना किया जाय एवं उन्हें सहयोगी बनाया जाय। तभी उन्नति सम्भव है। जीवन में सफलता उन्हें ही मिलती है जो अपना जीवन पथ स्वयं बनाते हैं और उस पर चलकर आगे बढ़ते हैं। दूसरों के भरोसे रहकर आज तक कोई भी कुछ कर नहीं सका है। और न कर सकेगा। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को चलना अपने ही पैरों से पड़ता है और अपने पैरों पर चल कर संसार के समर्थ सफल व्यक्ति तथा महापुरुष अपना लक्ष प्राप्त कर सकते हैं। औरों के मरने पर स्वयं को स्वर्ग किस तरह दिखाई दे सकता है।

—*—

शालीनता और सोजन्यता के धनी—डा० जाकिर हुसैन

'मनुष्य का प्रथम घर माँकी गोद है। वह जैसे जैसे बड़ा होता है, उसके घर का क्षेत्र भी उसी प्रकार विस्तृत होता जाता है और अन्ततः यह समग्र विश्व को समेट लेता है। इस प्रकार सारा संसार मनुष्य का बसेरा बन जाता है।' विश्वबन्धुत्व की भावना के प्रेरक यह विचार भूतपूर्व राष्ट्रपति डाक्टकर जाकिर हुसैन के हैं जो पजाब विश्वविद्याल के गुरुगोविन्दसिंह भवन का उद्घटन करते समय व्यक्त किये थे।

डाक्टर जाकिर हुसैन एक अच्छे और नेक इन्सान थे। उनके मानवीय दृष्टिकोण का ही यह प्रभाव था कि सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति के वे प्रिय बन जाते थे। वे आजीवन भारत देश को अपना देश और यहां के प्रत्येक नागरिक को अपने परिवार का अंग मानते रहे। राज्य प्रमुख के नाते देश के भविष्य की उन्हें सदैव चिंता रहती थी। विघटनकारी तत्वों की सक्रियता पर वे क्षुब्ध थे पर निराश नहीं। अपने धैर्य को बनाए रखते थे। उनका विश्वास था कि राष्ट्र के सम्मुख आने वाली समस्याओं का भले ही तात्कालिक उपचार न किया जा सके पर दृढ़ इच्छा शक्ति के द्वारा उसे उखाड़ कर फेंका जा सकता है।

जब वह किसी मनुष्य को दूसरे मनुष्य से घृणा करते हुए देखते थे तो उन्हें बहुत दुःख होता था। वह ऐसे व्यक्ति को पुराना रोगी मानते जिसे दीर्घ सूत्री इलाज की आवश्यकता है। वह अच्छी शिक्षा पर बल देते थे ताकि इसके द्वारा समाज और राष्ट्र की समस्याओं को आसानी से हल किया जा सके। जामिया मिलिया की स्थापना के पीछे उनका यही उद्देश्य था। वह स्वयं घूमकर इस बात का पता लगाते थे कि विद्यार्थी अपना जीवन किस प्रकार बिता रहे हैं। बच्चों के प्रति प्रेम और दुलार के वितरण में उन्होंने कभी कंजूसी न की। वह बच्चों का समुचित आदर करते थे और उनकी इच्छानुसार विकास में पूरी पूरी सहायता करते थे। उनका कहना था—'बच्चों का अपना व्यक्तित्व होता है। हमें इसके महत्व को घटाने या, अतिक्रमण करने का प्रयास कभी न करना चाहिए। जामिया मिलिया का पूरा ढाँचा उनके इन्हीं विचारों का साकार रूप था।

एक दिन वह जामिया मिलिया की भोजन शाला का निरीक्षण कर रहे थे। उन्होंने देखा कि एक विद्यार्थी ने खाने की मेज पर रखी फालतू प्लेट में किसी सब्जी का सूप उड़ेल दिया है। शायद यह सब्जी उसे पसंन्द नहीं है। वह चुपचाप उस विद्यार्थी की बगल वाली कुर्सी पर जाकर बैठ गए उन्होंने सब्जी की प्लेट को अपने आगे बढ़ाते हुए कहा—'मेरे प्यारे दोस्त! शायद यह सब्जी तुम्हें अच्छी नहीं लगती। यदि नहीं खाना था तो थाली सामने आते ही खानसामा को बुलाकर वापस कर सकते थे। थाली में आई हुई वस्तुओं को छोड़ना या बरबाद करना कहाँ तक उचित है इस पर तुम्हें स्वयं विचार करना चाहिए।

विद्यार्थी डाक्टर साहब की बात सुनकर पानी पानी हो गया उसके बाद उसने अपने जीवन में कभी अन्न की बरबादी न की। अलीगढ़ विश्वविद्यालय में भी जब उन्हें कोई विद्यार्थी अपनी कमीज या शेरवानी के बटन खोले हुए दिखाई देता था तो वे उसके पास जाकर बन्द करने लगते थे।

उनके जीवन में वेश भूषा और शिष्टाचार की दृष्टि से बड़ी सादगी थी। और ऐसी ही अपेक्षा दूसरों से भी करते थे। उन्हें खर्चीले और भड़कीले वस्त्र पसन्द न थे। उन्होंने स्वदेशी आन्दोलन के समय अपने परिवार के सारे रेशमी वस्त्र एकत्रितकर होली जलाई थी। फिर भी अपनी प्यारी पुत्री सईदा खुर्शीद की रेशमी वस्त्र पहनने की रुचि को कम न कर सके तो उन्हें बड़ा दुख हुआ। वह अपने परिवार के सदस्यों को भी अपनी सलाह सुझाव के रूप में ही देते थे यदि कोई नहीं मानता था तो वे उसकी मर्जी पर छोड़ देते थे। यहां भी रेशमी वस्त्रों के सम्बन्ध में यही हुआ। उन्होंने सईदा को समझाते हुये कहा 'यदि तुम कीमती वस्त्र पहनकर किसी समारोह में

जाओगी तो तुम्हारी ओर कोई ध्यान न देगा क्योंकि वहां पहले से कितनी ऐसी महिलाए मौजूद होंगी जो तुम से भी अधिक कीमती वस्त्र पहन सकती हैं। यदि तुम खादी के वस्त्र पहनकर जाओगी तो अपवाद और विशेष आकर्षण का केन्द्र बनोगी क्योंकि तुम जैसी महिलाएं वहां कम ही होंगी। इस तरह वह सहज रूप में अपने सुझाव व्यक्त करते थे ताकि सामने वाले पर उसका अच्छा प्रभाव पड़ सके।

डाक्टर जाकिर हुसैन की जिज्ञासाओं का क्षेत्र इतना व्यापक था कि ज्ञान जिन स्रोतों से भी मिलता प्राप्त करने के लिए सदैव तैयार रहते थे। वह कभी यह न सोचते कि इतना पढ़ लिखकर यदि किसी से कोई बात पूछूंगा तो वह मेरे प्रति क्या धारणा, बनायेंगे। जब कभी घर में सम्बन्धियों या मित्रों की स्त्रियाँ आतीं तो वे आहार योग्य वस्तुओं के बनाने के ढग पूछकर अपनी डायरी में नोट कर लेते और फिर कभी अपनी बेटी सईदा के पास पहुँचकर किसी विशिष्ट सब्जी बनाने के लिए कहते साथ डायरी से पढ़कर उसकी विधि भी बताते थे।

अपने देश में लोगों की यह आम धारणा है कि प्रौढ़ अथवा वृद्ध अवस्था में लिखने पढ़ने से कोई लाभ नहीं है। यदि किसी वृद्ध से कुछ सीखने के लिए कहा भी जाये तो वह सीधा उत्तर देता हैं–'बूढ़े तोते क्या राम राम पढ़ेंगे ? अब तो मरघट में ही जाकर कुछ कार्य हो सकेगा।' कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसे लोग अपने जीवन के चले आ रहे ढर्रे में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं करना चाहते। पर डाक्टर जाकिर हुसैन इसके अपवाद थे और इसीलिए वे राष्ट्रपति जैसे महत्व पूर्ण पद तक पहुँच सके।

जब वह राँची में थे तो उन्होंने आदिवासी भाषा सीखनी शुरू करदी थी। उनकी उत्कट इच्छा थी कि आदिवासियों को उनकी ही भाषा में सम्बोधित करें। आदिवासी भी भारतीय समाज के अङ्ग हैं। पिछड़े वर्गों के विकास के बिना समूचे भारत का प्रगति शील चित्र निर्मित करना स्वप्नमात्र ही रहेगा। अतः उन से विचार विनिमय के लिए उनकी ही भाषा सीखने के लिए वे प्रयत्न शील थे।

जाकिर हुसैन फारसी भाषा के उद्भट विद्वान थे। फिर भी उन्होंने अपने जीवन के अतिन्म चरण में फारसी का ज्ञान बढ़ाने का निश्चय किया था। ज्ञान के सागर से जितनी मूल्यवान निधियां एकत्रित की जा सकें कम ही हैं ऐसा मानकर मृत्यु से केवल एक वर्ष पूर्व उन्होंने फारसी पढ़ाने के लिए एक शिक्षक रखा और नियमित रूप से सबक लेने प्रारम्भ कर दिये।

राष्ट्रपति जैसे गौरव पूर्ण पद पर होने के कारण वे सदैव कार्य में व्यस्त रहते थे। सार्वजनिक कर्तव्य और राष्ट्रीय चिंतन के पश्चात भी वह इतना समय निकाल ही लेते थे कि अपने परिवार को भरपूर स्नेह दे सके। वे शालीनता और सौजन्यता की प्रतिमूर्ति थे। वे नेक इन्सान थे और जीवन भर इस इन्सानियत की खुशबू को अपने सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति को प्रदान करते रहे।

गान्धी जी उन दिनों अपने भाषण के बाद हरिजन फण्ड के लिए चन्दा इकट्ठा किया करते थे। लोग उनकी ओर चल रहे थे और हाथ में पैसे देते जाते थे।

गाँधी जी के हाथ से एक पैसा गिर गया, वे उसे खोजने लगे। धक्का मुक्की में वह मिल नहीं रहा था।

लोगों ने उन्हें परेशान देखकर कहा—बापू! एक पैसे के लिए इतनी चिन्ता न करें। उसकी क्षतिपूर्ति हम कर देंगे।

पर गाँधी जी उस पैसे को ढूंढ़ते ही रहे और कहा—आप और दें यह अलग बात है पर जो दिया गया है उसे सुरक्षित रखना मेरा कर्तव्य है। यह पैसा मेरा नहीं राष्ट्र का था और जो अमानत मुझे सौंपी गई उसको सँभालकर रखना मेरा कर्तव्य है।' जो लोग सार्वजनिक पैसे की परवाह अपने निजी पैसे से भी अधिक कर सकते हैं वस्तुतः वे ही सार्वजनिक सेवा कर सकने के अधिकारी हैं।

सामान्य कैदी से अंतर्राष्ट्रीय ख्याति तक

अब से लगभग ४० वर्ष पूर्व की घटना है। प्रसिद्ध सहित्य कार आंद्रे मालरो ने उस समय न तो लेखन प्रतिभा का परिचय दिया था और न ही कोई स्थायी व्यवसाय अपनाया था। तब उनकी आयु पच्चीस छब्बीस वर्ष की रही होगी। वे अपनी पत्नी के साथ कम्बोडिया में फक्कड़ पने से घूम रहे थे। साथ में इस दम्पत्ति के साथ एक मित्र और था। घुमने की धुन तब सवार हुई जब उन्होंने पुरानी विद्या और कला की खोज का काम हाथ में लिया तब वे प्राच्य-विद्या संस्थान से शिक्षा ग्रहण कर निकले ही थे। सुना था कि कम्बोडिया प्राच्य-रत्नों का खजाना है उसी आकर्षण ने उन्हें वहा की यात्रा करने के लिए प्रेरित किया।

कम्बोडिया में घूमते घूमते वे तीनो व्यक्ति नोम-पेन्ह पहुँचे, वहां के पुराने बोद्ध-मंदिरों को देखकर वे इतने अभिभूत हो उठे थे कि उन्हें अपनी जेब का ही ध्यान नही रहा। और वहां जो कुछ भी उनके पास था वह सब चुक गया। अब प्रश्न उठा कि क्या करें। तभी तोनों ने मिलकर वहाँ के एक मन्दिर का कोष लूटने की योजना बनाई और एक रात उस मंदिर को लूटने के लिए वे अंगकोर वाट पहुँचे जो नोम-पेन्ह के समीप ही था। इस मन्दिर में बताते हैं कि काफी सम्पदा है। तीनों ने मिल कर पहले तो वहां का पहरा दे रहे चोकी दार को काबू में किया फिर अन्दर घुस गये।

अन्दर पुजारी और कार्मचारी एक बड़े से हॉल में सोते थे उस हॉल के दरवाजे बन्द कर दिये। फिर मुख्य पुजारी को डरा धमका कर उससे तिजोरी की चाभी छिनी और तिजोरी में से कुछ सिक्के लेकर चलते बने। सोचा था जितने से काम चल जाय उतना ही काफी।

सुबह मन्दिर के अधिकारी ने रिपोर्ट लिखा दी। मालरो, उनकी पत्नी तथा दोस्त कोई पेशेवर लुटेरे तो थे नहीं। इसलिए सुबह होने के कुछ समय बाद ही पकड़ लिये गये। मालरो की पत्नी को तो स्त्री होने का लाभ दिया गया और उसे बरीकर दिया गया पर मालरो को तीन वर्ष की क़ैद हुई। सुनते है मालरो की पत्नी ने आगे के न्यायलय में अपील की थी परिणाम स्वरूप वह अपने पति की सजा कम कराने से सफल हो गयी थी जो तीन वर्ष से घट कर एक ही वर्ष रह गयी थी।

जेल में रहने के कारण मलरो को एकाकी जीवन बिताना पड़ा। और यह एका की जीवन उन्हें मृत्यु से भी अधिक भयावह लगता था। कोई काम तो था नहीं। इसलिए दिन के अधिकाँश घन्टे खाली ही व्यतीत करना पड़ते। एक दिन उन्होंने देखा एक कैदी कागज पर कुछ लिखता जा रहा है और गुन गुनाता भी जा रहा है। पास जा कर देखा तो वह कैदी गीत लिख रहा था। यह देख कर मालरो ने अपना खाली समय बिताने का एक साधन खोज लिया। और वे केवल समय बिताने के लिए ही लिखने लगे।

समय बिताने के लिए अपनाये गये इस क्रम ने उनके जीवन में इतना बड़ा स्थान ग्रहण किया कि यही उनके जीवन में आगे चल कर सबसे बड़ा विशेषता बन गया। लेखक होने के कारण मालरो को अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हुई। खाली समय में लिखने की ओर प्रवृत्त होकर अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा अर्जित करने वाले आन्द्रे मालरो का जन्म १९०१ में पेरिस में हुआ था। उनके पिता मूलतःफ्लार्डर्स के निवासी थे जहाँ कि मालरो के बाबा शराब और मछली का धन्धा किया करते थे। पता नहीं क्या बात हुई कि मालरो के बाबा ने सिर में कुल्हाड़ी मार कर आत्महत्या करली और इस घटना से दुखी होकर उनके पिता अपनी मां सहित पेरिस में आकर बस गये थे।

मालरो को अपने जीवन में प्रेम नाम की चीज किसी से नहीं मिली। उनके पिता अपनी ही धुन में रहने वाले मनमौजी और रंगीन तबियत के आदमी थे। जिससे अब कर पहली सन्तान होने के चार वर्ष बाद ही आंद्रे की मा उनके पिता से अलग हो गयी। आंद्रे की मा और पिता में काफी समय तक इस बात को लेकर विवाद चलता रहा कि आंद्रे किसके पास रहे। माँ चाहती थी कि मेरा बेटा

मेरे ही साथ रहे। और पिता अपनी जिद में आकर आंद्रे को उसकी मां के पास जाने नहीं देना चाहते थे। आंद्रे की मां का तर्क अपने आप में काफी वजनदार था। उसका कहना था कि मेरा भूतपूर्व पति बेहद गैर जिम्मेदार और लापरवाह व्यक्ति है। उसके संरक्षण में रहने से आंद्रे का भविष्य बिगड़ जायगा।

जीत अन्ततः ! माँ के हृदय की ही हुई। और चार वर्ष के छोटेसे बालकने अपने माता पिताकोएक दूसरेसे अलग होते हुए तथा अपना बटवारा होते हुए देखा। बटवारा इसलिए कि आंद्रे का पिता साल में छः माह आंद्रे को उसकी माँ के पास छोड़ने के लिए राजी हो गया था पर शीघ्र ही उसने पूर्णतया आंद्रे को उसकी माँ के संरक्षण में ही छोड़ दिया। आन्द्रे अपनी माँ के साथ ही रहने लगे। उनकी मा के पास आर्थिक स्रोत इतने सुदृढ़ तो थे नहीं इसलिए आन्द्रे का बचपन बड़ी कठिनाइयों में बीता। पिता ने फिर दूसरी शादी कर ली थी जिससे दो बच्चे हो गये थे। और इसी कारण उन्होंने आंद्रे को अपने साथ रहने के लिए जोर देना बन्द कर दिया था। और आंन्द्रे को अपनी माँ के साथ रहने की छूट मिल गयी।

उन्होंने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा कहां प्राप्त की इसका कहीं उल्लेख नहीं मिलता है। स्वयं आंद्रे से जब उनके बचपन के बारे में प्रश्न किया जाता तो वे यही उत्तर देते थे मुझे अपने बचपन से कोई लगाव नहीं है। इसलिए मैं उसकी कोई चर्चा नहीं करना चाहता। जिन लेखकों को मैंजानता हूँ उनमेंसे अधिकांश को अपनाबचपनप्याराहै पर मैं अपने बचपन से घृणा करता हूँ। अपने बचपन से उन्हें क्यों घृणा हुई इसका कारण यही है कि बालक आंद्रे लग भग सारे बचपन में माता और पिता की कशमकश में जूझते रहे। १६ वर्ष की आयु में उन्होंने सीन नदी के किनारे बसे एक छोटे से गांव में पुरानी किताबों की दुकान खोली जैसे तैसे उन्होंने मेहनत मजदूरी कर थोड़े बहुत रूप ये इकट्ठे किये। इन रुपयों से उन्होंने पुरानी किताबें खरीदीं जिनके पास ऐसी किताबों की कोई उपयोगिता नहीं थी उन लोगों ने वे किताबें आधे-तिहाई दामों में बेच दीं। और आंद्रे ने उन फटी पुरानी किताबों पर नया कवर चढ़ा कर व्यवस्थित बनाया तथा पोनी आधी कीमत में बेचने लगे।

इसी दुकान को चलाते हुए उनका परिचय क्लारा गोल्ड-स्मिथ नामक लड़की से हुआ। जो एक रईस घराने की पुत्री थी। क्लारा आन्द्रे मालरो की ओर इस कदर आकर्षित हुई कि दोनों ही प्रणय सूत्रों में बंध गये। क्लारा के साथ शादी कर लेने पर आंद्रे को काफी सहयोग मिला पर उनका दाम्पत्य जीवन शीघ्र ही नीरस हो गया। कारण कि क्लारा आन्द्रे के साथ सहयोग करते हुए भी बिगड़े स्वभाव की लड़की थी गलत संगति और बुरे वातावरण में रहने के कारण पति के प्रति वफादार रहने का उसका स्वभाव नहीं था। जब उसने देखा कि आंद्रे उसके उन्मुक्त जीवन को देख कर असन्तुष्ट है तथा उसको सम्मान नहीं देता है तो वह इस सम्बन्ध को तोड़ने के लिए छट पटाने लगी। क्लारा समझती थी कि आंद्रे उसके धन का गुलाम हो जायगा पर धन को अत्यन्तिक महत्व न देने वाले आंद्रे के लिए चरित्र निष्ठा अधिक महत्वपूर्ण थी। इससे खिन्न हो कर क्लारा ने अपने पति को तलाक दे दिया और उसे नीचा दिखाने का भी बहुत प्रयत्न किया। यहाँ तक कि क्लारा ने आंद्रे की चरित्र हत्या करने के लिए एक निहायत ही वाहियात जीवनी लिख कर भी छपाई।

तलाक शुदा पत्नी के इस तरह के व्यवहार को देख कर भी आंद्रे मालरो अविचलित ही रहे और शान्त भाव से अपना काम करते रहे। उन्होंने क्लारा के प्रति कभी प्रतिशोध की भावना व्यक्त नहीं कि बल्कि मानविकी और प्राच्य विद्या का अध्ययन करने में जुटे रहे। इन्ही दिनों उन्होंने जेल में लेखन का अभ्यास किया और पत्र पत्रिकाओं में लिखने लगे। कुछ समय बाद उन्होंने एक उपन्यास लिखा जिसका नाम था 'द कॉंकरा" यह उपन्यास उनकी पहली पुस्तक थी जो १६२५ में हुए केण्टन के विद्रोह की पृष्ठ भूमि पर लिखी गयी थी।

'द कांकरा' लिखने कार्य के बाद मालरो ने एक पत्र भी निकाला। सन् ३० से ३६ तक उन्होंने यूरोप में बढ़ रहे फासीवाद के विरुद्ध विचार क्रान्ति का संघर्ष छेड़ा डिज औफ रेथ "मेन्सफेट "द वाल नट ट्रीज आफ आल्टेन वर्ग "वायसेंज आफ साइलेन्स" द मूनेजनरी म्यूजियम और मेटा मोर्फोसिस आंफ द गौड्स आदि पुस्तकें फ्रांसीसी

(शेष पृष्ठ २५ पर)

प्रतिष्ठा इन्हें दी जानी चाहिए

पौराणिक साहित्य में एक कथा आती है। जिसके अनुसार सिंधुराज के राज्य में बम्मुआर नाम का एक दुर्दान्त दस्यु रहता था। उसने अपने जीवन के २० से भी अधिक वर्ष लोगों को मारने, काटने, लूटने और घरों में आग लगा देने के काम में विताये। चालाक इतना था कि सूचना देकर आता था और लाख सुरक्षा का प्रबन्ध करने के बावजूद अपनी धमकी को पूरा कर चलता बनता था। जब वह पकड़ा गया तो उसे मृत्यु दण्ड मिला और मरने से पहले जब उसकी मां अपने पुत्र को देखने गयी तो बम्मुआर ने अपनी मां से भी मिलने को मना कर दिया। कारण पूछने पर बम्मुआर ने बताया सर्वप्रथम जब मैंने अपने पड़ौसी के घर से एक स्वर्णमुद्रा की चोरी की थी उस समय मैं छोटा ही था और वह स्वर्णमुद्रा ले जाकर मैंने अपनी मां को दे दी थी। मां इससे इतनी खुश हुई कि उस दिन उसने मुझे बहुत प्यार किया था। इतना प्यार कि इससे पहले शायद ही मुझे कभी इतना प्यार मिला हो। इस अवांछनीय प्यार का ही परिणाम है कि मैं आज मृत्यु दण्ड का भागी बन रहा हूँ।

इस घटना ने सिन्धुराज के सामने एक नया तथ्य उद्घाटित किया कि मनुष्य अपने समीप के लोगों का स्नेह और समाज की प्रतिष्ठा पा कर ही किसी उचित या अनुचित दिशा में बढ़ता है। हम देखते हैं कि वे ही बच्चे अधिक बिगड़ते और बदमाशियाँ करते हैं जिनके माता-पिता उनकी गलत हरकतों को बाल सुलभ चपलता समझ कर नजर अन्दाज कर देते हैं या उस समय अधिक प्यार करने लगते हैं। मनुष्य का अहं बड़ा संवेदन शील है और वह अपनी तृप्ति के लिए प्रत्येक वह काम करने लगता है जिससे उसे प्रतिष्ठा मिलती हो।

जन समान्य की दृष्टि में पैसे वालों की बड़ी इज्जत होती है। धन सम्पन्न व्यक्तियों को हर कोई सम्मान देता है तथा प्रतिष्ठित करता है इसीसे लोगों में धनवान बनने की होड़ लग जाती है। आज के भौतिक युग में सम्पन्नता को प्रतिष्ठा देना तो इतनी आम बात हो गयी है कि सद्गुणी, चरित्रवान् और सदाचारी गरीब व्यक्ति को भी लोग नीची नजरों से देखते हैं। जबकि पैसे वाला कितना भी चरित्रहीन, दुराचारी, दुर्गुणी और दुर्व्यसनी हो उसे इज्जत मिलने लगती है। जब कभी उसके इस पक्ष की चर्चा चलती भी है तो धन सौ एबों को छुपाता है।" की कहावत चरितार्थ करते हुए कह दिया जाता है — भई उसके पास पैसा है तो ये सब शौक-मौज करता है। करना चाहिए भी आखिर पैसे का उपयोग जीवन को सुखी बनाने के लिए क्यों न करे।" और निर्धन व्यक्ति जब ईमानदारी, सादगी, मितव्ययता तथा सोच समझकर चलने की बात करता है। तो उसे मजबूरी बताकर बेचारे का उपहास किया जाता है।

सम्पत्ति को आत्यन्तिक प्रतिष्ठा देने के कारण ही समाज में बेईमानी, भ्रष्टाचार, रिश्वत और अन्य अनैतिक प्रवृत्तियां जन्म लेती हैं। प्रतिष्ठा स्वाभाविक आकर्षक उपलब्धि है। जब वह धन से ही मिल सकती है तो लोग धनवान बनने की चेष्टा क्यों न करें? फिर भले ही किसी भी तरह के उपाय काम में लाना पढ़े। चोरी करना पड़े, बेईमानी करना पड़े, भ्रष्टाचारी बनना पड़े। पर ये सब बातें गौण हो जाती हैं और मुख्य चीज हो जाती है अमीरी जिसके बल पर लोगों की दृष्टि में प्रतिष्ठित होने का अवसर मिल सके।

मनुष्य सम्पत्ति को इसलिए प्रेम नहीं करता कि उससे आत्म सन्तोष मिलता है। सम्पत्ति आत्म-सन्तोष को उल्टे कम करती है। जब अपने से भी बड़ा चड़ा कोई दूसरा सम्पन्न व्यक्ति दिखाई पड़ जाता है। क्योंकि मनुष्य अन्य औरों से आगे होना और ऊँचा उठना चाहता है। तथा जब वह देखता है कि मैं किसी से पीछे हूँ और इस कारण मेरा अमुक से कम सम्मान होता है तो वह एक क्रुद्ध सर्प की भाँति फुफकार उठता है और सम्पत्ति तब व्यर्थ लगने लगती है जब हम उसके होते हुए स्वयं की अथवा स्वयं के प्रियजन की मौत को कुछ समय और

टाल देने में असमर्थ रहते हैं। सम्पत्ति की इस पंगुता से प्रत्येक व्यक्ति भलीभाँति परिचित है। फिर भी उसको पाने की दौड़ में इसलिए भाग लेता है कि उससे इज्जत मिलती है, प्रतिष्ठा प्राप्त होती है, लोगों की दृष्टि में अपना स्थान ऊँचा होता दिखाई देता है।

इस प्रतिष्ठा के कारण ही व्यक्ति उचित अनुचित का विचार किये बिना हर तरीके से सम्पत्ति कमाना चाहता है, किसी जमाने में ज्ञान की—प्रतिष्ठा थी। ब्राह्मणों और ऋषियों को सर्वत्र सम्मान की प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखा जाता था। राजदरबारों में जब उनका प्रवेश होता तो राजा और सम्राट उनके लिए अपना सिंहासन छोड़ कर उठ जाते थे और उन्हें आसन देने के उपरान्त ही बैठते थे। उस युग में हर प्रतिभाशाली व्यक्ति ज्ञान पिपासु होता था और ज्ञानप्राप्ति के लिए लोग अपना सारा जीवन तक खपा देते थे। उस युग में हमारा देश ज्ञान और सत्य की खोज में सब से आगे बढ़ा हुआ था। यहाँ एक से एक विद्वान, ज्ञानी, और शास्त्रज्ञ होते थे। किसी पाश्चात्य विद्वान ने भारत की प्राचीन स्थिति का उल्लेख करते हुए लिखा है—"जिस समय यूरोप के आधुनिक उन्नत देशों के निवासी घुटनों के बल झुक कर तलाबों झीलों और नदियों से पानी पीते थे उस समय भारत ने विश्व के श्रेष्ठतम साहित्य की रचना की। जिसे समझने में आज भी लोग असमर्थ हैं।

कहने का अर्थ यह कि इस काल में जब ज्ञान ही प्रतिष्ठा और सम्मान का आधार था—धन,परिवार, सत्ता और अधिकार नहीं तो लोग स्वयं ज्ञानार्जन में लगते थे और अपनी सन्तानों के लिए भी वैसी ही व्यवस्था करते थे। कालान्तर में प्रतिष्ठा का आधार बदला और वीरता को सम्मानित किया जाने लगा। यह उस युग की बात है जब भारत की शस्य श्यामला भूमि की समृद्धि से आकर्षित होकर विदेशियों ने उसे लूटना चाहा। उस समय देश और समाज की सुरक्षा के लिए विद्वानों तथा पण्डितों से भी अधिक आवश्यकता पराक्रमी शूरवीरों की पड़ी। तो इस तरह के लोगों को सम्मानित किया जाने लगा। लोगों की जीवनधारा बदली सोचने का ढङ्ग भी बदला और जनसामान्य में यह मान्यता घर कर गयी कि 'सोलह बरस लौं क्षत्रिय जीवें—आगे जीवन को धिक्कार।" तो देश, धर्म और संस्कृति की आनबान पर न्यौछावर हो जाना ही लोगों ने अपना जीवन लक्ष्य बना लिया और ऐसे अवसर खोजने लगे जबकि मातृभूमि के लिए स्वयं को कुर्बानी दी जा सके सर्व विदित है कि ज्ञानी और विद्वानों के साथ साथ इस युग में पराक्रमी नरनाहरों की भी कमी नहीं रही।

प्रतिष्ठा के इन दो केंद्रों के साथ यह बात भी जुड़ी रहती थी व्यक्ति इस केन्द्र पर खड़ा होकर समाज के लिए कितना उपयोगी सिद्ध होता है। विद्वान, ज्ञानी, साहित्यकार, तत्वदर्शी और मनीषियों की बौद्धिक प्रतिभा को तो सम्मानित किया ही जाता था ताकि देश का मानसिक धरातल ऊँचा उठे और ज्ञान विज्ञान का विकास हो। पर बुद्धि की विपथगामिता को कभी स्वीकार नहीं किया। समाज के पक्ष में अपनी बौद्धिक प्रतिभा लगाने वालों की अभिवन्दना की गई पर उन लोगों को जरा भी प्रोत्साहन नहीं दिया गया जिनका बुद्धि कौशल स्वार्थपूर्ति के लिए छल छद्मों में लगता था। ऐसे लोग कितने ही बौद्धिक प्रतिभा से सम्पन्न रहे हों पर वे रहे हमेशा निंदा भर्त्सना के पात्र ही।

इसी प्रकार वीरता को सम्मानित करने वाले युग में निहत्थे आतताई से भिड़ जाने वाले दुर्बल व्यक्ति को उतना सम्मान दिया गया जबकि आततायी और अनाचारी कितना ही पराक्रमी तथा वीर रहा हो उसकी निंदा ही की जाती थी। ऐसा इसलिए होता था कि वीरता सम्मानित होने के कारण गर्वोन्मत्त होकर समाज को क्षति न पहुँचाने लगे। यदि ऐसा होता तो समाज में भले आदमियों का जीना कठिन हो जाता। वे न अपनी आवश्यकतायें पूरी कर पाते और न ही अपने परिश्रम से पूरी तरह लाभान्वित हो सकते थे।

इन दिनों धन सम्पत्ति प्रतिष्ठा का केन्द्र बिन्दु बने हुए हैं। यह अनुचित नहीं है। समृद्धि को सम्मान हर युग में मिलता रहा है। पर सम्मानित करने से पहले इस बात का भी ध्यान रखा जाता था कि वह किस प्रकार अर्जित की गयी है। धन का सम्मान इसलिए किया जाता था कि उसके पीछे व्यक्ति के परिश्रम और पुरुषार्थ की

कहानी लिखी रहती थी। ऐसा नहीं होता था कि व्यक्ति जिस तिस तरह से अमीर हो जाय और उसे सम्मान मिलने लगे। आज के युग में धन को ही एकांगी प्रतिष्ठा दिये जाने के कारण लोग हर उपाय काम में लाकर जल्दी से सम्पन्न हो जाना चाहते हैं—यह स्थिति बदलनी चाहिए। और प्रतिष्ठित उन्हें ही किया जाना चाहिए जिन्होंने नीतिपूर्वक सम्पत्ति कमाई और उसका उपयोग समाज के उत्कर्ष में किया।

एकांगी धन को ही सम्मानित नहीं किया जाय और न ही केवल समृद्धि को सराहा जाय। आज के इस वैज्ञानिक युग में सबके साथ मिलकर चलने के लिए पिछले आधारों को भी साथ लेकर चलना चाहिए। सर्वप्रथम ज्ञान और विद्या को सम्मानित किया गया उसके बाद वीरता और पराक्रम की प्रतिष्ठा हुई। पर जिस युग में शौर्य और पराक्रम को प्रतिष्ठा मिली उस युग में ज्ञान और विद्या की उपेक्षा नहीं हुई। अब जबकि सम्पत्ति को प्रतिष्ठा दी जाती है तो ज्ञान तथा शौर्य को भी प्रतिष्ठित किया जाना चाहिए। जो लोग अपने ज्ञान द्वारा, अपनी योग्यता और बुद्धि कौशल द्वारा समाज को ऊँचा उठाने में लगे हुए हैं उन्हें भी सम्मानित किया जाय। उन्हें भी प्रतिष्ठित किया जाय जो साहस पूर्वक मानवता को नुक्सान पहुँचाने वाले तत्वों से मुकाबला करते हैं। भले ही वे मानवीय हों अथवा प्राकृतिक। उन्हें सराहा जाय जो आदर्शों की स्थापना के लिए जीवन भर तिल-तिल कर जल रहे हों।

आशय यह है कि सफलता नहीं सत्तत्व को प्रतिष्ठा मिले। सफल तो वे लोग भी हो जाते हैं जो अपनी संपूर्ण शक्ति किसी भी दिशा में लगा देते हैं। चोर को कम बुद्धिमत्ता का परिचय थोड़े ही देना पड़ता है, डॉकू कम बहादुर नहीं होते, बेईमान लोग ईमानदारों से ज्यादा चतुर होते हैं। पर ये सफलतायें सराहनीय नहीं हैं। सराहनीय बने नीति जिसे कि मनुष्य अपनाता है। उपमन्यु और आरुणि को गुरु निष्ठा के लिए अपने स्वास्थ्य से खिलवाड़ करने वाला ही माना जायेगा। स्वास्थ्य से खिलवाड़ तो शराबी और नशेबाज भी करते हैं पर वे प्रतिष्ठा के अधिकारी नहीं हैं। हरिश्चन्द्र और मोरध्वज को अपनी सत्यनिष्ठा के कारण दरिद्रता का वरण करना पड़ा था। तो क्या उन लोगों को सम्मानित किया जाय जो जुआ खेलते हैं और अपनी सारी सम्पत्ति चौपट कर डालते हैं। इसी प्रकार मारकाट करने और लड़ने-भिड़ने वाले डाकुओं को शिवाजी, राणाप्रताप, बन्दावैरागी, गुरु गोविंदसिंह, लक्ष्मीबाई तथा सुभाष चन्द्रबोष की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता।

क्यों ? इसलिए कि यहाँ नीति और अनीति का भेद आड़ आता है। एक ओर जहाँ अपना स्वार्थ ही सब कुछ है वहीं दूसरी ओर देश तथा समाज के लिए अपना सर्वस्व बलिदान किया गया है। एक ओर जहाँ दूसरों को पीड़ा देने तथा अपना पतन करने की स्थिति है वहीं दूसरी ओर अपने को कष्ट देकर समाज को ऊँचा उठाने का भाव है। महापुरुषों को श्रद्धा की दृष्टि से देखना तो समझ में आता है पर बिना जाने बूझे सफल व्यक्ति को सम्मानित करने की बात किसी तरह भी समझ में नहीं आती। इसलिए उन्हीं सफल व्यक्तियों को सम्मान दिया जाय जिन्होंने नीति का वरण कर सफल होते हुए समाज के सामने अपना आदर्श प्रस्तुत किया।

किसी का व्यक्तिगत रूप से सफल या असफल होना समाज के लिए उपयोगी नहीं है। समाज के लिए तो यह उपयोगी है कि व्यक्ति से सत्प्रवृत्तियों को इस प्रकार प्रोत्साहन मिलने लगे कि समाज की सुख शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना आसानी से हो सके। इसका यही उपाय है कि लोगों को इस ओर आकर्षित किया जाय। प्रतिष्ठा ही आकर्षण का केन्द्र है। मनुष्य को जो कार्य करने से प्रतिष्ठा मिलती दिखाई देती है वह उसी कार्य में प्रवृत्त होता है। इसलिए सत्प्रवृत्तियों का सम्मान किया जाना चाहिए। जो लोग निन्दनीय और असामाजिक कार्यों द्वारा उन्नति कर रहे हैं उनकी न तो सराहना की जाय तथा न ही प्रशंसा। हमारा प्रत्यक्ष या परोक्ष समर्थन ही किसी के लिए प्रोत्साहन बनता है। अतः केवल उचित और अच्छे कार्यों का ही समर्थन किया जाय, उन्हें करने वालों को ही सम्मान मिले। सत्कार्यों और सत्पुरुषों को प्रतिष्ठा व सम्मान मिलेगा तो इसमें जरा भी संदेह नहीं है कि जनसामान्य भी उस ओर आगे बढ़ेगा।

आराम खोरी और हराम खोरी

विद्यासागर जी ट्रेन से स्टेशन पर उतरे । शीत ऋतुथी और था रात का समय । वैसे उस समय में सवारियाँ कम ही उतरती थी और उन दिनों तो लोग इतनी यात्रायें भी नहीं करते थे । फिर स्टेशन भी तो छोटा सा था । और, वहां विद्यासागर जी के अतिरिक्त एक और युवक उतरा था । प्लेटफार्म पर कोई नहीं दिखाई दे रहा था । दो-एक खोमचे वाले थे जो डिब्बों की खिड़कियों में से झांक-झांक कर यात्रियों को चाय के लिए पूछ रहे थे ।

सामान कुछ था नहीं अतः विद्यासागर जी खाली हाथ ही बाहर की ओर चल दिये । तभी उनके कानों में युवक की आवाज पड़ी जो कुली-कुली चिल्ला रहा था । ऐसे ठण्ड के समय में कोई-सवारी मिलने की आशा छोड़ कर कुली लोग अपने अपने ठिकानों पर चल गये थे । युवक के पास एक झोला था और थोड़ा सा सामान था । शायद एक बक्से में कुछ कपड़े वगैरह भी थे । जो आसानी से हाथों में उठाकर ले जाये जा सकते थे । पर युवक सम्पन्न परिवार का था इसलिए वह कुली को आवाज लगा रहा था विद्यासागर जी ने जब युवक को आवाज लगाते देखा तो वे उसके पास गये और बोले—कहां जाना है ।

युवक ने अपना गन्तव्य स्थान बताया । विद्यासागर जी ने उसका सामान उठाया और कहा-चलो । युवक उनके पीछे-पीछे चल दिया । उस समय विद्यासागर जी-धोती कुर्ता पहने हुए थे और ठण्ड से बचने के लिए एक हल्की सी शाल डाले हुए थे । युवक ने यही समझा कि यह कोई कुली ही होगा,, जो आवाज सुन कर चार छः आने की मजदूरी प्राप्त करने के लिए उसके पास आ गया है और सामान उठा कर चल रहा है । उसे क्या मालूम था कि जो उनका सामान उठा कर चल रहा है वह कोई साधारण कुली नही बल्कि एक महान कुली है जो लोगों के अज्ञान का बोझ हल्का करने के साथ साथ समाज के सिर पर से कुरीतियों, रूढ़ियों और मूढ़ परम्पराओं का भार भी हटाने के लिए कृत सकल्प हो ।

विद्यासागर जी और वह युवक प्लेटफार्म के बाहर आये तब युवक ने कहा-क्या इस समय कोई सवारी मिल सकेगी ।

'हा हा क्यों नहीं:—विद्यासागर जी ने कहा और बाहर जा कर सवारी देखने लगे । उन्होंने एक तांगा ठीक किया और युवक का समान उठा कर ताँगे में रख दिया । युवक के बैठ जाने के बाद स्वयं भी ताँगे में जा कर बैठ गये । यकायक युवक को कुछ याद आया और वह बोला-'हां कितने पैसे दू' ।

'बेटा में पैसा नहीं लेता । बल्कि मैं भी तुम्हारी तरह ही एक यात्री हूँ । विद्यासागरजी ने कहा तो युवक इस अप्रत्याशित स्थिति को सामने देखकर जैसे शर्मिदा हो गया । उसने अपनी झेंप मिटाने के लिए क्षमा मागते हुए कहा-मैंने गलत समझा आपको और यह तकलीफ दी । इसके लिए आप मुझे माफ करना ।

"माफ तो मैं तब करूंगा जब तुम मुझे यह वचन दो कि आइन्दा से अपना सामान खुद उठाने में संकोच नही करोगे । विद्यासागर जी बोले । इस पर युवक ने कहा-सो तो ठीक है पर मैं कुली को इसलिए खोज रहा था कि उसे चार छः आने की मजदूरी मिल जाती ।'

"कुली के प्रति इतनी दया है तो उन्हें चार छः आने यों ही दे देते । इस तरह अपने को परवश क्यों बनाते हो" विद्यासागर जी बोले ।

युवक ने अपना बचाव करने के लिए कहा "इस तरह तो उनमें हराम खोरी की आदत पडेगी ।" विद्यासागरजी तपाक् से बोले—"पर आराम खोरी तो उससे भी बुरी चीज है जो आदमी को परवश बनाती है और उसका नुक्सान करती है ।" युवक चुप रह गया । बाद में जब उसने विद्यासागरजी का परिचय प्राप्त किया तो उसका सिर उनके चरणों में अनायास ही झुक गया ।



भाव साहित्य के श्रृजेता वाल्ट ह्विटमेन

अमेरिका आज विश्व में अपनी जो स्थिति रखता है कभी वह ऐसा समृद्धिशाली देश नहीं था किन्तु औद्यो गिकरण की तीव्र प्रक्रिया अपना कर वह इस स्थिति को पाने जा रहा था।

उन्हीं दिनों की बात है जब अमेरिका वासी अपना सारा ध्यान भौतिक उत्कर्ष की ओर ही नियोजित किये हुए थे नैतिक तथा आत्मिक प्रगति से उन्हे कोई सरोकार नहीं रह गया था। सारे धन वैभव को अर्जित करने के लिये बनाए जाने वाले बड़े-बड़े कल कारखानों के बीच मनुष्य एक मशीनी पुर्जा बन कर रह गया था। उसमें हृदय तथा भावनाएँ जम सी गयी थी।

ऐसे ही समय में एक आत्मदृष्टा अमेरिकी कवि के मुख से यह गान फूट पड़ा था।

"मैं युग युग से आता हूँ।"

"और आकर हाड़ माँस का शरीर ग्रहण करता हूँ।"

"मनुष्यों के साथ मनुष्य बन कर घूमता हूँ।

"यह देखते हुए कि धर्म की रक्षा हो रही है।"

ये पक्तियाँ हमारे महान धर्म ग्रन्थ की गीता का पद्यानुवाद सी लगती हैं, "यदा यदा ही धर्मस्य—के महान सत्य को उद्घाटित करने वाले यह कवि वाल्ट ह्विटमेन थे जो भोतिकता वादी देश में उत्पन्न होकर अध्यात्म वादी देश भारत के श्रेय पथ का अनुसंधान कर रहे थे।

उक्त पंक्तियाँ उनके घास की पत्तियाँ नामक कविता संग्रह की पवित्र गीत नामक कविता से उद्धृत की गई हैं यही नहीं उनकी यह तीव्र आकांक्षा थी कि अमेरिका से भारत के साँस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित हों तथा दोनों देश एक दूसरे की संस्कृति से लाभान्वित हों। उन्होंने अपनी इस आकांक्षा को अपनी पेसेज टू इन्डिया' (भारत की एक यात्रा) नामक कविता के छंदों में संजो या है।

इस प्रकार की त्यान्वेषिक तथा आदर्शोन्मुख कविताओं के गुण-ग्राहक अमेरिका में नहीं थे। इस कारण उन्हें जीवन पर्यन्त गरीबी में गुजारा करना पड़ा।

वाल्ट ह्विटमेन का जन्म ३१ मई सन् १८ १९ में अमेरिका के वेस्ट हिल्स नामक स्थान पर हुआ था। उनका परिवार काफी बड़ा था। माता लूसीया वान तथा पिता वाल्टर के अतिरिक्त उनके नौ भाई बहिन परिवार में थे।

इन सबका भार उनके पिता पर था जो पहले कृषि कर्म करते थे। उसमें असफल होने के कारण उन्हें बढई का काम अपनाना पड़ा था। ऐसी स्थिति में वाल्ट का बचपन सुख से बीतना कैसे सम्भव था। किन्तु वाल्ट धन को सुख का श्रोत नहीं मानता था। उसके भाई जहाँ परिवार की दीन हीन दशा से खिन्न रहते थे वहाँ वाल्ट सदा प्रसन्न चित्त रहता था।

मनुष्य के जीवन का सूत्र किन्ही अदृश्य हाथों में थमा रहता है। अपनी अल्प बुद्धि से जिन परिस्थियों को अवाँछनीय तथा दुखखिन्नता का कारण मान बैठता है किन्तु उसे पता नहीं रहता कि उसके सूत्रधार का उसे उन परिस्थितियों में डालने का कोई न कोई शुभ अभिप्राय ही है।

वाल्ट को आगे चल कर एक कवि बनना था साहित्य कार बनना था। जितना अधिक जन जीवन को निकट से देखने का अवसर पाएगा उतना ही उसकी लेखनी सशक्त होगी। इसी कारण पाँच वर्ष तक पाठशाला में पढ़ने के बाद उसे एक वकील के यहाँ नौकरी करनी पड़ी।

ज्ञान पाठशाला में ही मिलता हो। विद्या विद्यालयों की चहार दीवारी में बन्द रहती हो ऐसी बात नहीं। वह तो जन जीवन में गलियों बाजारों तथा चौराहों में, पुस्तकों में प्रकृति के सुरम्य उपवन में यत्रतत्र बिखरी पड़ी है। चाहिये कोई झोली फैला कर बटोरने वाला।

उस ज्ञान तथा विद्या को गृहण करने की सामर्थ्य वाल्ट में थी। उसके नियोजक ने उसकी इस चाह को समझा तथा उसे पढ़ने के लिये पर्याप्त साहित्य दिया। उसने होमर शेक्सपियर, वाल्टर स्काट आदि को पढ़ा बाइबिल को पढ़ा। इन सबने उसके ज्ञान भण्डार को समृद्ध किया। वह इन पर चितन मनन किया करता। वेस्ट हिल्स के प्राग्रण में बिखरे नैसर्गिक सौन्दर्य ने उसे जगत के सौन्दर्य से अभि

शुरू कर दिया। बारह वर्ष का वाल्ट ह्विटमेन लेख व कविताएं लिखने लगा तथा वे प्रादेशिक पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगीं।

अपनी नौकरी के अतिरिक्त समय में 'लांग आइलेण्ड पेट्रीयट' नामक साप्ताहिक समाचार पत्र के मुद्रणालय में छपाई का काम सीखने लगे। इसके पश्चात एक वर्ष तक वे छपाई का काम सीखने के लिये न्यू यार्क भी रहे।

सोलह वर्ष की आयु में वे शरीर तथा बुद्धि से पूरे वयस्क हो चुके थे। दीखने में पूरे गम्भीर व्यक्ति थे। यद्यपि वे स्वयं पाँच वर्ष तक ही स्कूल में पढ़े थे किन्तु उनकी योग्यता ने उन्हे इस अल्पायु में ही स्कूल अध्यापक बना दिया। वे स्कूल में पढाने के साथ-साथ अब लांग आइलेण्ड नामक पत्र भी निकालने लगे थे।

लाँग आइलेण्ड के वे स्वयं लेखक, सम्पादक, प्रकाशक, मुद्रक, पेकर, तथा होकर सभी कुछ थे। जो लोग समय के अभाव की दुहाई देते हुए कहते है कि में अमुक काम कैसे करु उनके लिये वाल्ट ने बहुत सुन्दर उदाहरण प्रस्तुस किया है। वे स्कूल में पढ़ाते,अपना अखबार निकालते साथ ही साथ अन्य पत्र पत्रिकाओं के लिये लेख भी लिखते थे तथा राजनीति में भाग लेते थे। अकेले व्यक्ति द्वारा इतने कार्य सम्पादित होना एक आश्चर्य ही लगता किन्तु यदि समय का पूरा उपभोग किया जाय तथा मनोयोग, परिश्रम तथा निष्ठ का संगम करके जीवन क्रम को व्यवस्थित किया जाय तो यह असम्भव नहीं लगता।

१८४१ में वे अरोरा नामक एक पत्र के सम्पादक बनाये गये। उसके बाद वे कई पत्रों के संम्पादक रहे। इवनिंग टेटलर 'बुकलिन ईगल' आदि पत्रों का उन्होंने कुशलता पूवर्क सम्पादन किया। इन्ही दिनों उन्होंने' फ्रेन्कलिन ऐवन्ज' नामक एक उपन्यास लिखा जो काफी लोक प्रिय हुआ।

वे अधिक समय तक एक ही पत्र के सम्पादक नहीं रह सके। इसका कारण यह था कि वे जनता को विचारोत्तेजक सामग्री देना चाहते थे जिससे जनता का नैतिक स्तर बढ़े किन्तु पत्रों के मालिकों का व्यवसायी दृष्टि कोण उनसे मेल नहीं खाता था अतः उन्हें सम्पादक पद से त्याग पत्र देना पड़ता था। अन्त में उन्होंने अपनी सारी सम्पति लगाकर अपना स्वयं का' फ्रीमेन' नामक पत्र निकाला।

ईश्वर भी मनुष्य की निष्ठाओं की कड़ी परीक्षा लिया करता है। उनका पत्र आरम्भ होते ही उनकी कर्म निष्ठाओं की परीक्षा आरम्भ हो गई। पत्र प्रकाशित होना आरम्भ ही हुआ था कि एक दिन पत्र के कार्यालय में आग लग गयी तथा इस अग्नि मे सब कुछ स्वाहा हो गया।

इस प्रकार आरम्भ में ही यह दुर्घटना हो जाने पर कोई साधारण साहस वाला व्यक्ति होता तो सिर पीट कर रह जाता किन्तु ह्विटमेन इस भयंकर आघात को भी सह गये।

उन्होंने अपने घर आकर अपना पैतृक व्यवसाय बढ़ई गिरी अपना लिया। उनके लिये किसी भी प्रसिद्ध पत्र की सम्पादकी सहज प्राप्य थी। किन्तु वे जानते थे कि पत्र सम्पादक रहने के लिये उन्हें अपने आदर्शों को त्यागना पड़ेगा। अतः उन्होंने इस गरीबी तथा अप्रसिद्धि को भी स्वीकार कर लिया।

बढ़ईगीरी का कठोर काम करते हुए भी उनकी कविता कुण्ठित नहीं हुई संवेदन शीलता तथा कोमल अनुभूतियों में कोई कमी नहीं आयी। वरन् जन जीवन को और भी निकटता से देखने परखने तथा अपनी आत्मीयता के विस्तार में सहायता ही मिली। दुकानदार नाविक, मछियारे, बस ड्राइवर, किसान, बुद्धिजीवी आदि सभी लोगों से उनकी आत्मीयता थी।

इन्ही दिनों उन्होंने कई कविताएं लिखी। ये सब मनुष्य की उस चिरंतन अभिलाषा को अभिव्यक्त करती थी जो उसे निरंतर देवत्व की ओर अनित्य सुख की ओर प्रेरित करती रहती थी। ये कविताए" लिव्ज आफ ग्रास (घास की पत्तियाँ) नामक संग्रह के रूप में उन्हें स्वयं प्रकाशित करनी पड़ी क्यों कि इस प्रकार की आदर्शोन्मुख कविताओं को लोग पसन्द नहीं करते थे।

पुस्तक छप तो गयी किन्तु उनका संतोष जनक विक्रय नहीं हो सका। उनका आर्थिक संकट ज्यों का त्यों बना रहा। किन्तु कोई सद्प्रयास निरर्थक नहीं जाता। उनके इस संग्रह ने इमर्सन जैसे दार्शनिकों को प्रभावित किया। तथा वे उनके परम मित्र बन गये। ऐसे ही अन्य सुलझे द्रष्टिकोण के व्यक्ति उनके मित्र तथा प्रशंसक बन गये।

लोगों की नजरों में उनकी कविता निरर्थक ही थी किन्तु वे उसे श्रेष्ठ कृति मानते थे। उन्होंने उसका दूसरा संस्करण भी छाप दिया। इस साहस पूर्ण कदमके सामयिक दन्ड स्वरूप उन्हें कर्जदार बनना पड़ा तथा विवश होकर क्लर्की करनी पड़ी।

एक महान ध्येय को लेकर चलने के कारण ह्विटमेन ने विवाह नहीं किया था। वे घर गृहस्थी के झझटों में ही उलझकर नहीं रह जाना चाहते थे। फिर भी वे इनसे मुक्त नही रह सके उन्हें आजीवन अपनी माता तथा अपने भाइयों की आर्थिक सहायता देनी पड़ी। कर्जदार रहते हुए भी उन्होंने अपने पारिवारिक दायित्वों को पूरी तरह हँसते मुस्कराते वहन किया।

परिवारिक दायित्व, कर्ज, बीमारी तथा पुस्तक प्रकाशकों का उनकी कृतियाँ प्रकाशित नहीं करना आदि विकट परिस्थितियों से वे अपने जीवन के उतरार्द्ध में निरंतर जूझते रहे। वह सब उनकी शारीरिक तथा बौद्धिक शक्ति से ही सम्भव नहीं हो गया वरन् उसके पीछे उनकी गहन आत्म शक्ति भी काम कर रही थी। उसी के कारण वे नितांत विपरीत परिस्थितियों में भी साहित्य सृजन करते रहे।

उनके मित्रों में अमेरिका के बड़े-बड़े आदमी थे। इमर्सन तथा अब्राह्म लिंकन जैसे उनके पर मित्र भी उनकी आदर्शोन्मुख कविताओं के प्रकाशन में कोई सहायता नहीं कर सके। समाचार पत्रों में उनकी निंदा होती थी।

किसी ने ठीक ही कहा है कि महान व्यक्ति जीते जी महान नही कहाते। वाल्ट ह्विटमेन के साथ भी यही हुआ वे जब प्रसिद्ध हुए तब तक मृत्यु की छाया उनके ऊपर मँडराने लगी थी।

२७ मार्च सन् १८९२ में तिहत्तर वर्ष की आयु में उनका देहावसान हुआ। उसके पन्द्रह वर्ष पहले से ही पक्षाघात के कारण उनका आधा अंग निष्क्रिय हो गया था। फिर भी वे अपना कार्य उसी निष्ठा व लगन से करते रहे जब कि वे स्वस्थ थे। उन्होंने 'ए पेसेज. टू. इन्डिया' नवेम्बर वाऊज "डेमोक्रेटिक विस्टाज' आदि कृतियों का सृजन किया।

संघर्ष में वे विजयी हुए। अमेरिका के बाहर उनकी ख्याति फैल चुकी थी। बाद में अमेरिका वासियों ने भी उन्हें सम्मान दिया।

उन्होंने अपनी एक कविता में अपने आत्म विश्वास को यों प्रकट किया है:—

"अब मैं इस संसार से विदा लेता हूँ।

मैं उस मनुष्य सा हूँ।

"जिसकी आत्मा देह से निकल चुकी हो—जो मर चुका हो फिर भी विजयी हो।"

भला ऐसी विजय कौन उनके पद चिन्हों पर चल कर पाना न चाहेगा।

(पृष्ठ १८ का शेष)

साहित्य की अमूल्य निधि कही जाती है। इनमें से कई कृतियाँ वृति तो पुरस्कृत भी हुई। उनकी प्रतिभा का उपयोग साँस्कृति पुनरुत्थान के लिए करने हेतु जनरल दगाँल ने उन्हें संस्कृति मन्त्री भी नियुक्त किया और इस पद पर वे ११ वर्ष तक बने रहे।

सन् १९७६ में उनका देहान्त हुआ। उस समय वे प्रसिद्धि के जगत में एक देदीप्यमान नक्षत्र की भाँति चमकने लगे थे। उनका जीवन इस बात का उदाहरण है कि अनवरत अध्यवसाय के द्वारा मनुष्य क्या नहीं बन सकता है।

—०—

प्रातः काल की पवन लहरी आई और गुलाब को स्पर्श कर चली गई। पत्ते ने हँसते गुलाब को देखा तो आग-बबूला हो गया। बोला—यह भी कोई जीवन है, माली आता है और असमय में ही तुम्हारी जीवन लीला समाप्त कर देता है। इतने अल्प जीवन में भी क्या आनन्द? मैं रोज देखता हूँ, कितने ही फूल खिलते हैं और मुरझा जाते हैं।

गुलाब ने बड़े शान्त स्वर में उत्तर दिया—भाई! जीवन का अर्थ है सच्ची सुगन्ध। इस प्रकार चारों ओर सुगन्धि को फैलाते हुये आमन्त्रित मृत्यु ही जीवन और अमरता है।

प्रेम का प्रभाव



जेकस कई शराब घर चलाता था। उसके शराब खानों से जहाँ रईस अमीरों के घर पर शराब जाती थी वहीं गरीब मजदूरों को भी शराब बेची जाती थी। अमीर उमराव तो उसके यहाँ से कोई ज्यादा मात्रा में शराब मगाते नहीं थे। उसके शराब घरों में अधिक ग्राहक गरीब और मजदूर पेशा ही आते थे। अपने ग्राहकों को फँसाने के लिए वह बड़ी ही चालाकी से काम लेता था। पहले तो वह अपने आदमियों को उनके पास दोस्ती करने के लिए भेज देता था। जो उनसे दोस्ती गाँठ कर उनमें शराब की लत लगा देते थे और जेकस के नियमित ग्राहक बना देते थे।

शराबियों के पास कोई पूँजी तो जुट नहीं पाती। अगर होती भी है तो वह धीरे-धीरे खत्म होने लगती है। फिर अगर वह आदत किसी गरीब आदमी को लगे तो उसके परिवार का अमन चैन भी जाता रहता है। वह अपने परिवार की जरूरतों की उपेक्षा कर भी शराब पीता है। जेकस ऐसे लोगों को उस समय उधार देता था और फिर बड़ी बेरहमी से अपना पैसा वसूल करता था। इसलिए लोग जेकस को अनाचारी और दुष्ट व्यक्ति के रूप में जानने लगे थे। इस धन्धे के अतिरिक्त सम्राट ने उस पर टैक्स वसूली का काम भी छोड़ रखा था। जिस वह टैक्स वसूली के लिए निकलता था उस समय समय तो उसका रूप ही बदल जाया करता था। हाथ में हण्टर और कोड़े लिए जेकस जब भी टैक्स वसूली करने निकलता तो लोग डर के मारे घरों में जा छुपते। जिन पर बकाया टैक्स निकलता था—न दे पाने पर जेकस उन्हें कोड़ों से पिटवाता और बुरी-बुरी यातनायें देता।

एक बार उस गाँव में ईसा मसीह का आगमन हुआ। लोगों ने बताया कि जेकस बहुत दुराचारी व्यक्ति है और वह ईसा के आने से बहुत क्रुद्ध है। क्योंकि ईसा लोगों को नेक और शराफत की जिन्दगी जीने का उपदेश देते थे। उनके उपदेशों का लोगों पर प्रभाव भी होता था। कईयों ने उनसे प्रभावित होकर शराब, नशा और कुमार्ग छोड़ा था। जेकस के नाराज होने की बात जब ईसा को पता लगी तो उन्होंने कहा—मैं जेकस के घर जाऊँगा और कल उसीका आतिथ्य ग्रहण करूँगा।'

शिष्यों को आश्चर्य तो हुआ ही चिन्ता भी कम नहीं हुई। वे सोच रहे थे कि क्रुद्ध जेकस कहीं उन्हें नुकसान न पहुँचा दे। इसलिए उन्होंने जेकस की आदतों का उल्लेख करते हुए ईसा से वहां जाने को मना किया। तब ईसा बोले—'एक पिता का फर्ज होता है कि वह अपने बिगड़े हुए पुत्र की चिन्ता करे और उसे सही मार्ग पर लाने के लिए प्रयत्न। जेकस है तो आखिर उसी परमपिता का पुत्र जिसके कि हम सब हैं और हम ही उसकी चिन्ता न करें तो कौन करेगा।

आखिर ईसा ने जेकस के यहां जाने का निश्चय कर ही लिया। जेकस को जब इस बात का पता चला तो अगले दिन उसने जंगल में चले जाने का कार्यक्रम बनाया ताकि ईसा से भेंट ही न हो सके। अगले दिन जब ईसा जेकस के यहां गये तो उन्हें पता चला कि वह तो जंगल में चला गया है। ईसा कब मानने वाले थे। वे भी उसे खोजते हुए वहाँ पहुँच गये जहाँ जेकस था। जेकस ने जब उन्हें देखा तो बड़ा हैरान हुआ और हैरानी का तब तो और भी ठिकाना नहीं था जब ईसा ने कहा—'जेकस मैं आज तुम्हारा अतिथि बनने के लिए आया हूँ।' वह तो समझ रहा था कि ईसा उसे समझायेंगे, उपदेश देंगे पर इसके स्थान पर वह प्रेम पूर्ण व्यवहार देख कर वह अभिभूत हुए बिना नहीं रहा। वह बोला—प्रभो मैं आपके सामने नत मस्तक हूँ और प्रतिज्ञा करता हूँ कि अपनी आधी सम्पत्ति दरिद्र नारायण की सेवा में अर्पित करूँगा। तथा जिनसे मैंने अनुचित धन प्राप्त किया है उन्हें चौगुना वापस करने का वचन देता हूँ।



हिन्दी के अनन्य सेवक—अमृत लाल चक्रवर्ती

अपने जीवन के चालीस वर्षों तक श्री अमृतलाल चक्रवर्ती ने हिन्दी भाषा के भंडार को अपने साहित्य से भरा। एक बंगला भाषी प्रदेश के निवासी होते हुए भी हिन्दी के प्रति इनकी जो श्रद्धा थी वह हिन्दी भाषी प्रदेश के साहित्यकारों के लिए एक प्रेरणा बन कर उभरी। इनके कार्यों को ध्यान में रखते हुए इन्हें १९२४ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति का गौरवपूर्ण पद दिया गया। हिन्दी साहित्य भण्डार को समृद्ध बनाने के साथ साथ इन चालिस वर्षों में इनके मार्ग-दर्शन में कई पत्र पत्रिकाएँ जन्मी, विकसित हुई तथा जागृत नागरिकों का निर्माण करने की महत्वपूर्ण भूमिका इन पत्रिकाओं ने निभाई। चक्रवर्ती जी जैसे लोक सेवकों के प्रयासों का ही परिणाम है कि आज हिन्दी राष्ट्र भाषा का सम्मान पा रही है।

चालिस वर्षों में उन्होंने 'हिन्दुस्तान' 'भारत मित्र' 'हिन्दी बंगवासी' 'वेंकटेश्वर समाचार' 'कलकत्ता समाचार' 'निगमागम चन्द्रिका' 'फारवर्ड' 'श्री सनातन धर्म' आदि पत्र पत्रिकाओं के माध्यम से जन जागरण का बिगुल बजाया। इनके मार्ग दर्शन तथा सम्पादकत्व में ये पत्र पत्रिकाएँ समृद्ध हुईं।

इस स्थिति तक श्री अमृतलाल चक्रवर्ती एक दिन में नहीं पहुँच गये। हजार मुसीबतें सहते हुए वे इस सम्मान जनक और सेवा परक स्थिति तक पहुँचे थे।

कहते हैं मुसीबतें अकेली नही आीत, अपने बच्चे-बच्चीं भी साथ लेकर आती हैं ताकि मनुष्य की पूरी खबर ली जा सके। अमृतलाल चक्रवर्ती जी को दिसम्बर १८८१ में इण्टर की परीक्षा देनी थी उसके पहले ही आपत्तियों ने परीक्षा लेनी आरम्भ कर दी। सितम्बर में पिताजी बीमार हुए। वे थोड़े दिन रोग भोगकर चल बसे। बीमारी फिर भी नहीं गयी। उसने अमृतलाल को पकड़ लिया। विद्यालय के प्रधानाध्यापक ने दया करके गाँठ से खर्चे के रुपये भेजकर परीक्षा देने बुलाया पर बीमारी ने पीछा नहीं छोड़ा।

स्वस्थ होकर नौकरी के लिए कलकत्ता आये। बहुत प्रयत्न करने पर भी नौकरी नहीं मिली। खर्च के लिए जो रुपये साथ लाये थे वे भी खर्च हो गये। यहाँ तक कि भूखों मरने की नौबत आ गई। अकेले होते तो ठीक पर बचपन में ही विवाह करके इनके पिता ने पत्नी का भार और लाद दिया था। बाल विवाह की कुरीति ने भारतीय समाज को कितना गया गुजरा बना दिया था, इसे अनुभव कर वे परेशान हो उठे। कितने ही युवक इस कुप्रथा के शिकार होकर आगे नहीं बढ़ सके थे। किन्तु वे इन कठिनाइयों से पीछे हटने वालों में से नहीं थे। उन्होंने अपनी पत्नी के गले का हार बेच कर सब्जी बेचकर अपना खर्च चलाना प्रारम्भ कर दिया। गाँव से पाँच मील दूर प्रति सप्ताह एक हाट लगता था वहीं सब्जी बेचकर वह चार-पांच रुपये कमा लेते।

उच्च कुल के युवक को इस प्रकार सब्जी का धन्धा करते देखकर जाति वालों ने टोका। उसे जाति से बाहर करने की धमकियां दी जाने लगी। लोग तरह-तरह के उलाहने देने लगे—कुँजड़े का धन्धा ही करना था पढ़ लिख कर समय क्यों बरबाद किया? वे भी चुप न रहते, कहते, पढ़े-लिखे लोगों का भूखों मरना आपको अच्छा लगता है क्या? इस प्रकार की हीन मान्यताओं ने ही तो हमारे समाज को पतन के गर्त में डुबाया है। धन्धा और परिश्रम तो मानव का धर्म है। इसमें लज्जा की क्या बात है।"

सङ्कट कालीन स्थिति की तरह इन्होंने सब्जी बेचने का काम किया था, इसका अर्थ यह नहीं था कि वे इसी कार्य से सन्तुष्ट हो गये हों। जब साठ सत्तर रुपये इकट्ठे हो गये तो वे अपने परिवार के साथ गाजीपुर चले गये। वहाँ एक दुकानदार ने काम दिया। उन्होंने दुकानदार के व्यवहार से असन्तुष्ट हो रेलवे डिपार्टमेन्ट में नौकरी कर ली। वहाँ पर भी अफसर से झगड़ा हो गया और नौकरी छूट गई।

दुख और समस्यायें मनुष्य को बनाने के लिए आती

है जो इनसे वीरता पूर्वक लड़ता हुआ आगे बढ़ सकता है प्रगति और सफलता उसी के चरण चूमती है। ऐसी विषम परिस्थितियों में भी उन्होंने हिम्मत नहीं हारी। उन्होंने कानून पढ़ना प्रारम्भ कर दिया। साथ-साथ पब्लिक ट्यूटर मि० हिल के यहाँ नौकरी भी जारी रखी। मि० हिल इनकी उन्नति से बहुत प्रसन्न हुए।

चक्रवर्ती जी ने बचपन में ही समाज की हीन दशा को देखा था। इनके पिता आनन्द चक्रवर्ती पुराने ढर्रे के ब्राह्मण थे। घर की स्थिति ठीक न होने के कारण उन्हें कभी मामा के घर और कभी भाई के यहाँ रहना पड़ता। समाज के विभिन्न चित्र उनकी आँखों के सामने गुजर चुके थे। कभी मौलवी के बेंत खाकर स्कूल छोड़ना पड़ा कभी ट्यूशन करके अपना खर्च चलाना पड़ा। सामाजिक कुप्रथा तथा राजनैतिक दासता के साथ-साथ अशिक्षा भारतीय जनता को दीन हीन बनाये जा रही थी। उसके प्रति उनके बालमन में भी पीड़ा उमड़ने लगी थी। यहाँ जब वे 'प्रयाग समाचार' के सम्पादक देवकी नन्दन त्रिपाठी के सम्पर्क में आये तो यह पीड़ा लेखों के रूप में बह निकली। यहीं इन्हें हिन्दू सभा में सम्मिलित होने का सुअवसर मिला।

उन्नति के अवसर प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में आते हैं। जो उन अवसरों को परखना जानते हैं वे आगे बढ़ जाते हैं। ऐसा ही एक अवसर इनके जीवन में भी आया। हिन्दू सभा के वार्षिकोत्सव में कलाकांकर के राजा रामपाल सिंह आये। उन्होंने इस युवक के आगे 'हिन्दुस्तान' पत्र के सम्पादक बनने का प्रस्ताव रखा। हिल साहब ने आश्वासन दे रखा था। कानून पास करते ही मुंसिफ बनवा दूँगा।" कानून पास करने में कुछ ही महीने रह गये थे। सम्पादक का कार्य उन दिनों घाटे का सौदा था। वह अस्थाई होने के साथ-साथ आर्थिक दृष्टिकोण से भी महत्वहीन था। मुंसिफ बनने में दोहरा लाभ था। इन्होंने पत्र सम्पादक बनना ही स्वीकार किया। वे जानते थे कि अपनी प्रतिभा व योग्यता का उपयोग वह सम्पादक बनकर ही भली प्रकार जन-जागरण के लिए कर सकेंगे।

"हिन्दुस्तान" के सम्पादक का काम करते हुए इन्होंने अनुभव किया कि वे अभी इन्टर भी पास नहीं कर पाये हैं। उन्हें सम्पादक के नाते अपनी शिक्षा पूरी करनी चाहिए। राजा साहब ने मुझे सम्पादक बना दिया तो क्या मुझे अपनी कमी तो पूरी कर लेनी चाहिए। सन् १८८३ में उन्होंने सम्पादकी छोड़ दी। घर जाकर पूरी तैयारी करके इन्टर की परीक्षा में बैठे। अच्छे अङ्कों में सफलता प्राप्त करने पर ही पुन सम्पादन क्षेत्र में आये।

बंगाली होते हुए भी हिन्दी के प्रति इनकी बहुत रुचि थी। सारे देश को एक सूत्र में बाँधने का काम कोई भाषा कर सकती थी तो वह थी हिन्दी, इतने विशाल देश की भाषा का साहित्य भण्डार भी विशाल होना चाहिये। वे स्वयं भी उच्च कोटि के साहित्यकार बनना चाहते थे जिससे यह भण्डार भरा जा सके तथा अन्य साहित्यकारों को प्रेरणा मिल सके। इसके लिए हिन्दी का विस्तृत ज्ञान आवश्यक था। इन्टर पास करके इन्होंने 'भारत मित्र' कार्यालय में नौकरी कर ली। सुबह शाम काम करते और दिन में मेट्रोपोलिटन इन्स्टीट्यूट में पढ़ते। इस प्रकार वे १८९० में बी० ए० पास कर सके।

पत्र सम्पादक का कार्य करते हुए उन्होंने पत्र के महत्व को समझा था। गुलामी, अन्ध विश्वास, रूढ़िवादिता तथा अज्ञान के कारण समाज जर्जर हो चुका था। उसकी नैतिक तथा बौद्धिक क्षमता कुंठित हो चुकी थी। उसे जाग्रत करने का काम पत्र-पत्रिकाएँ कर सकती थी। इस प्रकार के पत्र पत्रिकाओं की संख्या उस समय उँगलियों पर गिनने जितनी थी। जनता को अपने अधिकारों तथा दायित्वों के प्रति सजग रहने की प्रेरणा देने के लिए पत्रकारिता का माध्यम उस समय उपयुक्त था। उसी उद्देश्य से उन्होंने मुंसिफ बनना छोड़कर यह क्षेत्र अपनाया था।

अंग्रेज सरकार पत्रकारों की शत्रु तो थी ही साथ-साथ लोगों की व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाएँ भी बहुत बड़ा रोड़ा थीं। ऐसी ही एक महत्वाकांक्षा जब ये 'भारत-मित्र' के सम्पादक थे, इनके मार्ग में रोड़ा बन कर आयी थी। सन् १८८६ में हरीसन रोड बन रही थी। जगन्नाथ खन्ना 'भारत मित्र' के मैनेजर डायरेक्टर थे। उस समय म्युनिसिपिल कमिश्नर भी थे। इस सड़क के बनाते समय बड़ा बाजार का एक मन्दिर टूटने लगा। 'भारत-

मित्र में इसके विरोध में लेख प्रकाशित हुए। खन्ना जी को यह कैसे सहन हो सकता था कि उनके ही पत्र का सम्पादक उनके ही विरोध में लेख प्रकाशित करे व उनके कामों की टीका-टिप्पणी करे। उन्होंने चक्रवर्ती जी को इस भूल को सुधारने तथा 'भारत मित्र' में अपनी भूल के लिये खेद प्रकट करने को कहा। चक्रवर्ती जी जनता को जगाना चाहते थे। सुलाना चाहते तो यह स्वेच्छा से गरीबी वरण का घाटे का सौदा—सम्पादक का काम ही क्यों अंगीकार करते! उन्होंने मना कर दिया। खन्ना जी चाहते तो थे कि उन्हें इस पद से हटा दें किन्तु दूसरा कोई व्यक्ति इस प्रकार के परमार्थ प्रयोजन वाले काम को करने के लिये मिला नहीं।

इनकी प्रेरणा से ही बंगवासी वालों ने महाभारत का अनुवाद निकाला। 'हिन्दी बंगवासी' पत्र भी इन्हीं के प्रयासों से निकला! बंगाली क्षेत्र में हिन्दी का प्रचार करने के लिये इस पत्र के माध्यम से आपने पर्याप्त कार्य किया। दस वर्ष तक 'हिन्दी बंगवासी' का सम्पादन करते हुए इन्होंने कई पुस्तकें लिखीं। इन्हें प्रसिद्धि की चिन्ता नहीं थी। लेखक को प्रसिद्धि का मोह नहीं रखना चाहिये। यह समझाने के लिये इन पर अपना नाम प्रकाशित नहीं करवाया।

स्वाभिमानी प्रगतिशील तथा जनता की आवाज के समर्थक होने के कारण इन्हें कई पत्र-पत्रिकाओं में काम करना पड़ा। इन्होंने जिस पत्र को हाथ में लिया उसे ही सुविकसित करके छोड़ा जिसका परिणाम यह हुआ कि पत्र वालों ने पुनः इन्हें सम्पादन करने का आग्रह किया।

पत्रिकाओं से निकाले जाने पर ये अपना कोई स्वतंत्र व्यवसाय करने लग जाते थे। कुछ समय तक 'आर्डर सप्लायर' का काम किया। फिर वैंकटेश्वर समाचार' का सम्पादन करने बम्बई चले गये। वहाँ किसी का स्वार्थ टकराया, विचारधारा न मिली तो 'निगमागम चन्द्रिका' के मैनेजर व सम्पादक बन गये। वहाँ से छूटे तो १९०६ में घर आकर मोदी की दुकान खोली ली। दुकान करते हुए स्वदेशी आन्दोलन में भाग लिया। 'भारत मित्र' से फिर बुलावा आया। वहाँ तीन वर्ष तक काम किया।

व्यवसायी और साहित्यकार दोनों के रूप में प्रायः बहुत कम व्यक्ति सफल होते हैं। लेकिन चक्रवर्ती जी इसके अपवाद थे। वे कहते थे—'दुकान करो या लेखन, जिसमें कुछ परिश्रम करने की हिम्मत है व लगन है वह हर क्षेत्र में सफल होता है।" १९१३ में सेठ दामोदर राठी ने उन्हें अपनी ब्यावर राजस्थान वाली मिल में मैनेजर बना दिया। अच्छा पद, आय और सुख सुविधा उन्हें अपने उद्देश्य से डिगा न सकी। 'वैंकटेश्वर समाचार' से निमन्त्रण आया तो मैनेजरी छोड़ कर बम्बई पहुँच गये। सेठ दामोदर दास वहाँ भी बुलाने पहुँच गये। उन्होंने उत्तर दिया—"माफ कीजिये सेठ साहब हिन्दी लिखे बिना रहा नहीं जाता।" सत्य है चक्रवर्ती जी की तरह स्वार्थ के साथ परमार्थ को जोड़ा नहीं जाय तो मनुष्य और पशु में अन्तर ही क्या रह जायेगा।

जरा सी कठिनाई तथा असुविधा के आते ही हिम्मत हार जानेकी अपेक्षा चक्रवर्तीजी की तरह साहस तथापरिश्रम के शस्त्रों से सुसज्जित होकर कर्मक्षेत्र में उतरा जाय तो स्वयं के निर्वाह के साथ-साथ लोक जागरण जैसा परमार्थ भी किया जा सकता है। ऐसी जीवन्त आत्माएं ही अज्ञानान्धकार में ज्ञान किरणें फैला सकती हैं। ☼

दमिश्क में एक बार बड़ा अकाल पड़ा। लोग बेमौत मरने लगे, जो जिन्दा थे वे सूखकर पिंजर हो रहे थे। इन्हीं दिनों एक अमीर से मेरी भेंट हुई। वह भी औरों की तरह ही सूख रहा था।

मैंने पूँछा भला, आपको क्या कमी है। आपके पास तो खाने और ऐश करने की हर चीज मौजूद है फिर क्यों इस प्रकार सूख रहे हैं।

अमीर ने कहा—क्या वह तन्दुरुस्त आदमी सुखी हो सकता है, जिसकी बगल में बीमार पड़ा कराहता हो। आस-पास के लोग जब मुसीबतों से घिरे हों तो सुखी का सुख भी उसके लिए जहर बन जाता है।

शेखसादी

आर्थिक उत्कर्ष की प्राण चेतना-ईमानदारी

आर्थिक उन्नति के सम्बन्ध में सर्वाधिक भ्रान्त धारणा लोगों के मन में यह घर किये हुए है कि ईमानदार आदमी भूखों मरता है और बेईमान मौज उड़ाता है । जब कि सचाई यह है कि कोई व्यक्ति सफल होता है और उन्नति करता है तो केवल ईमानदारी से ही । बेईमान आदमी भी सफल होता है तो मात्र इसलिए कि वह ईमानदार होने की धाक जमा लेता है और उसकी धाक पर विश्वास कर जनसामान्य उसके हाथों स्वयं को ठगाता रहता है । लेकिन जब कलई खुलती है तो न केवल उसकी प्रतिष्ठा जाती रहती है वरन् उसे निंदा व अपमान भी सहना पड़ता है । यहां तक कि क्रूद्ध जनता उसकी कमाई सम्पत्ति को चौपट तक कर डालती है ।

अमेरिका के एक व्यापारी के साथ ऐसा ही हुआ वह व्यापारी रेडियो के पुर्जे बनाने वाली फैक्ट्री का मालिक था । शुरु शुरु में उसने अच्छा माल बना कर अपनी व्यापारिक प्रतिष्ठा बना ली । उसका काम चल निकला । देश विदेश में प्रति वर्ष लाखों रेडियो सेट उसके बिकने लगे । फिर ज्यादा मुनाफा कमाने के उदेश्य से उसने अपने माल का स्तर काफी गिरा लिया । कुछ समय तक तो उसके एजेण्ट यही शिकायत करते रहे कि उसके माल में पहले जैसा टिकाऊपन और उम्दा मजबूती नहीं रही । थोड़े समय तक तो वह बहलाता रहा और आगे अच्छा माल देने का वायदा करता रहा । पर जब उसने अपना वायदा पूरा नहीं किया तो दुकानदारों ने मिल कर उस पर धोखा धड़ी का मुकदमा चला दिया । मुकदमा दायर करने वाले लोग जीते और उक्त व्यापारी को मुआवजे के रूप में इतनी बड़ी रकम चुकानी पड़ी कि अपनी पैतृक सम्पत्ति बेच देने के बाद उसे दर दर भटकना पड़ा ।

ईमानदारी की पालिश में बेईमानी थोड़े ही दिन तक चलती है और जब असलियत सामने आती है तो क्षति उठाने से बचा नहीं जा सकता । कोई यह भले ही समझे कि हमारी चालाकी चल रही है तथा हम कभी पकड़ में नहीं आ सकते । लेकिन खतरे की तलवार सिर के ऊपर लटकती रहती है । कभी भी वह गिर सकती है तथा प्रतिष्ठा व अर्जित सम्पत्ति के साथ संजोये गये स्वप्नों को भी नष्ट भ्रष्ट कर सकती है । ऐसी स्थिति में जो दारुण क्लेश सहना पड़ता है उसकी उपमा नारकीय यंत्रणा से ही दी जा सकती है ।

बेईमानी ईमानदारी की तुलना में इसलिए लाभदायक दीख पड़ती है कि उससे तत्काल लाभ मिलता प्रतीत होता है । बाईस-पच्चीस रुपये किलो के शुद्ध घी के स्थान पर आधा वनस्पति और आधा शुद्ध घी मिला कर तैयार की गयी चीजें बेचने से आठ दस रुपये का लाभ तुरन्त मिल गया तो प्रतीत होता है । पर अर्थशास्त्र की दृष्टि से देखा जाय तो यह नीति असफल व्यापारिक नीति ही सिद्ध होती है । अर्थशास्त्र का सीधा सिद्धान्त है कि कम मुनाफा और अधिक खपत अधिक लाभ देती है । जब कि अधिक लाभ कमाने के चक्कर में खपत कम होती है और अपेक्षा कृत लाभ भी कम ही मिलता है । एक किलो पीछे आठ दस रुपये बचाने वाला दुकानदार दिन भर में पचीस तीस रुपये बना भी लेता है । पर वही व्यवसाय ईमानदारी के आधार पर किया जाय तो धीरे-धीरे साख बढ़ती जाती है और इतनी ज्यादा बिक्री होती है कि शार्ट कट से मुनाफा कमाने वाला बहुत पीछे छूट जाता है ।

इस बात को यों और अधिक स्पष्टता से समझा जा सकता है । एक दुकानदार मण्डी में से एक सौ पांच रुपये क्विण्टल का गेहूं खरीद कर पांच रुपये का मुनाफा रखते हुए बेचता है जब कि दूसरा दस रुपया मुनाफा कमाने के लिए भाव बढ़ा देता है । स्वाभाविक ही लोग कम कीमत पर बेचने वाले के पास जायेंगे । दूसरे व्यापारी के हिसाब से वह घाटे में है । पर वह शाम व तक पचीस क्विण्टल गेहूँ बेच चुका है । इस पर उसे लाभ हुआ १२५ रुपये का जब कि महंगे दामों पर बेचने वाले व्यापारी ने मुश्किल से पाँच क्विण्टल गेहूँ बेचे और प्रति क्विण्टल पाँच रुपये ज्यादा लेने पर भी उसने कुल पचास रुपये ही कमाये किसने ज्यादा कमाया और कौन घाटे में रहा—

स्पष्ट है।

नैतिक दृष्टि से भी ज्यादा मुनाफा कमाने का प्रयत्न करना बेईमानी है। अर्थशास्त्र की परिभाषा के अनुसार किसी उत्पादन के मूल्य का अर्थ है पूँजी-पूँजी का ब्याज और श्रम। लाभदायक व्यवसाय करने के लिए मूल्य जितना कम रखा जायगा और माल खरा दिया जायगा इतना ही अधिक फायदा होगा। ओछी और सकीर्ण दृष्टि से देखने वाले लोग जल्दी मालामल हो जाने के उदेश्य से कम लागत पर अधिक मुनाफा कमाने की बात भले ही सोचें, पर इस तरह बात बनती नहीं है। अधिक लाभ कमाने के लिए ईमानदारी ही एकमेव मार्ग है।

इस मार्ग पर चलते हुए प्रगति भले ही मदंगति से हो पर होती स्थायी है। बेईमानी से जल्दी काम बनता दिखाई देता है पर वह सफलता ताश के महल जैसी होती है जो हवा का झोका लगते ही ढह जाती है। ताश का महल बहुत थोड़े समय में बनाया जा सकता हैं। पर सीमेण्ट और कांक्रीट के भवन में काफी समय लगता है व परिश्रम भी बहुत करना पड़ता है। फिर भी लोग मकान और भवन सीमेण्ट कांक्रीट के ही बनाते हैं। कागज के नहीं। यह छोटी सी बात तो लोग बहुत अच्छी तरह समझते है। न जाने क्या कारण है कि प्रगति के क्षेत्र में आगे बढ़ने के लिए यह सामान्य सा सिद्धान्त भी भुला बैठते है।

व्यापार व्यवसाय में ही नहीं नौकरी-धन्धे में भी लोग जल्दी उन्नति करने के लिए शॉर्ट कट ढूंढ़ा करते हैं। समझा जाता है कि अपने पद और क्लर्की को बनाये रखने तथा प्रमोशन लेने का सुगम तरीका चाटुकारिता हैं। अपने साथियों की बुराई करने तथा उनका महत्व घटाने से पहले अफ़सर के विरोधियों को पानी पी पी कर गलियां दी जांय। इस तरह अफसर की सहनुभति प्राप्त कर उसकी मदद से आगे बढ़ा जाय। यह नीति अपना कर यदि कोई सफल हो भी तो ज्यादा से ज्याद क्लर्क से हेडक्लर्क बन सकता है। इससे अधिक नहीं। क्योंकि प्रगति के लिए तो आवश्यक है अपनी योग्यता बढ़ाना। और चाटुकारों को ।पनी योग्यता बढ़ाने के लिए फुरसत तो मिलती नहीं। इसलिए वे गुड़ से खाण्ड को ही ज्यादा मान लेते है और उसी में सन्तोष कर लेते है।

उत्तम तो यह है कि अपनी योग्यता बड़ा कर, परिश्रम से काम करते हुए अफसर की सहानुभूति प्राप्त करने के स्थान पर उसकी प्रशंसा प्राप्त की जाय तथा अपना सम्मान बढ़ाया जाय। परिश्रमी व्यक्ति की इज्जत सभी जगह होती है। चाह कर भी उसका विरोधी या उससे ईर्ष्या करने वाला उस पर वार नहीं कर सकता। सरकारी नौकरी में चापलूसी द्वारा अधिक से अधिक सवाई तरक्की की जा सकती है तो प्रायवेट संस्था में वहभी नहीं होती। और परिश्रम से, ईमादारी पूर्वक काम करने वाला व्यक्ति हर कहीं दिन दूनी और रात चौगुनी तम्की कर दिखाता है। प्रायवेट संस्था में काम करने वाला व्यक्ति जब अपना सारा समय मालिक की खुशामद करने और उसकी हमदर्दी प्राप्त करने में लगा देता है तो उसका काम जरा भी नहीं हो पाता। व्यक्तिगत लाभ का स्वयं ध्यान रखने के कारण अधिकारी या प्रबन्धक जब देखते हैं कि अमुक व्यक्ति केवल चाटुकार ही बना हुआ है तो लाख वे उसकी प्रशंसा सुन कर खुश हो जाते हैं पर उसके काम की स्थिति देख कर उसे शीघ्र ही नापसंद करने लगते है। ऐसी स्थिति में तरक्की के स्थान पर वर्तमान स्थिति ही खतरे में पड़ जाती है।

ईमानदारी का सीधा अर्थ है अपने दायित्वों के प्रति निष्ठा और जितना हम प्राप्त करते हैं उतना ही देने का प्रयत्न व्यापारी या दुकानदार के लिए ईमानदारी का मतलब है कि वह एक रुपये की वस्तु बेचता है तो उस वस्तु का मूल्य जो उसने थोक में चुकाया है तथा उसे बेचने में मेहनत की है उसका पारिश्रमिक एक रुपये से कम नहीं होना चाहिए। न ही यह होना चाहिए जो चीज बतायी जाय वह कुछ और हो या उसमें मिलावट हो। यह विश्वासघात है जब कि ग्राहक के विश्वास को बनाये रखना दुकानदार का दायित्व है।

इसी प्रकार नौकर पेशा के लिए ईमानदारी का अर्थ है कि यदि वह तीन सौ रुपये का वेतन लेता है तो तीन सौ रुपये का काम करके दे।, इसका तो कोई मापदण्ड नहीं है कि किस काम का कितना मूल्य होता है। व्यक्ति की कार्यक्षमता, योग्यता और उसके समय का। स्मरणीय

है श्रम की कमी सिक्कों से नहीं तौला जा सकता। श्रम तो एक मजदूर भी करता है जो दिन भर पत्थर तोड़ता है और शाम को पांच छः रुपये कमा कर चला जाता है। वह व्यक्ति भी श्रम करता है जो कुर्सी पर बैठा हुआ किसी संस्थान उसकी शाखा या विभाग का प्रबन्ध करता है। उसे मिलते है आठ सौ रुपये। एक मजदूर ने भी आठ घण्टे श्रम किया और एक प्रबन्धक भी आठ घन्टे तक काम करता रहा। इसलिए श्रम दोनों का ही बराबर है। पर दोनों के पारिश्रमिक में अन्तर है। वह इसलिए कि विभागाधिकारी की कार्य क्षमता और योग्यता अलग ढंग की तथा मजदूर की अलग।

अतः यहां ईमानदारी का यही स्वरूप बनता है कि अपने दायित्व को-नियत समय में पूरी लगन, निष्ठा और सम्पूर्ण योग्यता के साथ निबाहे। इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति अपने कार्य समय में व्यर्थ की गपशप करता है, अपना समय नष्ट करता है, अपना काम करने के स्थान पर अधिकारियों की चापलूसी कर उन्हें प्रसन्न रखना चाहता है तो वह बेईमानी करता है। इस बेईमानी का सम्भावित परिणाम अवनति तथा घाटा ही होता है। प्रगतिया तरक्की कदापि नहीं। यदि कहीं प्रगति होती दिखाई भी देती है तो इसका कारण यह है कि वह धोखा देने में सफल हो गया, अर्थात् स्वयं को अधिकारियों की दृष्टि में चालाकी से कर्तव्य निष्ठ बनाये रह सका। हालांकि वह है नहीं पर ईमानदारी की आड़ में बेईमानी कर गया। नकली सिक्के को आँखों में धूल झोंक कर असली सिक्के की तरह चलाने की धूर्तता ही है यह। इसकी असलियत खुलने पर वही परिणाम भोगने पड़ते हैं जो अमेरिका के उस व्यापारी को भोगना पड़े।

ईमानदारी प्रगति के लिए आवश्यक ही नहीं अनिवार्य शर्त है। इसे पूरा किये बिना कोई भी व्यक्ति सफल नहीं हो सकता। कई बार हम देखते हैं कि ईमानदार आदमी अपने सिद्धान्त पर दृढ़ रहते हुए भी असफल हो जाता है। ऐसे कई उदाहरण गिनाये जाते हैं और सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है कि यह गुण प्रगति में बाधक है। कुछ मामलों में ऐसा हुआ भी है। एक ऐसे व्यापारी व्यक्ति का विवरण भी जानने में आया है जिसने अपने संस्थान को ईमानदारी के आदर्श पर खड़ा किया था और उसी के अनुसार चलाने का प्रयत्न भी किया। कम लागत और आंशिक मुनाफा कमा कर उसने अपना उत्पादन बेचा। इसलिए अधिक पूँजी इकट्ठी नहीं हो सकी। बाद में कुछ ऐसी परिस्थितियाँ आयी कि उसे अपना संस्थान विसर्जित करना पड़ा। बात यह हुई थी कि जिन लोगों से उसने अपने व्यापार के लिए रुपया उधार लिया था उन्होंने समय से पहले ही तकाजा कर दिया और ब्याज भी पूरा वसूल किया था। इस कारण उसने जो थोड़ी बहुत पूँजी कमाई थी वह भी ऋण दाताओं ने लूट ली और वह खाली हो गया।

पर इस विवरण का विश्लेषण करने पर विदित हुआ कि दोष ईमानदारी के आदर्श का नहीं था। कम लाभ लेकर अच्छी चीज देने के कारण उस नव युवक व्यापारी के उत्पादन की माँग तो बढ़ने लगी थी। पर उसने इतने में ही सन्तोष कर लिया और अधिक उन्नति की आकांक्षा ही छोड़ दी। इसलिए उसकी असफलता का एक कारण तो है दूर दर्शिता का अभाव। दूसरे उसने व्यापार में लगाने के लिए ऐसे लोगों से रुपया उधार लिया था जिन पर अनायास ही विश्वास नहीं किया जा सके। और उससे गलती यह हो गयी थी उसने अति विश्वास कर लिया। ईमानदारी के कारण तो वह सफल हो रहा था पर दूर दर्शिता का अभाव एवं अति विश्वास का दोष ले डूबा।

दर असल असफलता मिलती है तो इसलिए नहीं कि ईमानदारी दोषपूर्ण है। वरन् इसलिए असफल होना पड़ता है कि सफलता का गणित सिद्ध करने के लिए दूसरी ओर जो बातें आवश्यक होती हैं जैसे सूझबूझ, दूर दर्शिता, निर्भयता, धैर्य व्यावहारिकता आदि, वे असफल होने वाला व्यक्ति नहीं अपनाता है। और इन गुणों के के अभाव में जब वह असफल हो जाता है तो दोष ईमानदारी को देने लगता है।

अतएव समाज को आर्थिक दृष्टि से उन्नत और संपन्न बनाने के लिये हमें लोगों को ईमानदारी के प्रति आस्थावान बनना चाहिए। आर्थिक उन्नयन की प्राण चेतना यही है।

सैनिक और सृजेता के प्रतीक—आचार्य जुगल किशोर

परतंत्र भारत में मैकाले ने भारतीय छात्रों के लिए ऐसी शिक्षण योजना तैयार की जिससे अंग्रेजी शासन की मशीनरी को चलाने के लिए सस्ते क्लर्क और बाबू मिल जांय। इस शिक्षण पद्धति में विद्यार्थी को सर्वांगीण विकसित व्यक्तित्व से सपन्न बनाने की अपेक्षा उन्हें कुर्सी के लिए—क्लर्की करने के लिए ही तैयार करना होता था अतः छात्र इसके अतिरिक्त कोई और व्यवसाय चुन सके उसकी भी सम्भावना नहीं थी एवं वह जीवन के अन्य क्षेत्रों में सफलता पूर्वक प्रवेश और निर्वाह कर सके इसकी भी नहीं। राष्ट्रीय नेताओं ने जब स्वतन्त्रता आन्दोलन का शंखनाद किया और जनमानस में उपयुक्त चेतना जागृत होने लगी तो स्वातन्त्र्योत्तर भारत के नव निर्माण की ओर भी उनका ध्यान गया। किसी भी राष्ट्र की उन्नति का आधार उस राष्ट्र के शिक्षित नागरिक ही हैं। और जब शिक्षा ही गलत ढङ्ग से हुई हो तो राष्ट्र के उत्थान की सम्भावना कहाँ से रहती है। अतः राष्ट्रीय नेताओं का ध्यान इस ओर भी गया और उन्होंने प्रचलित शिक्षा पद्धति के दोषों को समझा।

जिन नेताओं ने स्वतंत्र भारत से उपयुक्त और आवश्यक शिक्षा पद्धति की विधायकता निर्धारित करने के लिए जोर दिया उनमें महात्मा गाँधी का नाम अग्रणी है। अंग्रेजी शिक्षा पद्धति के दोषों से मुक्त रहकर उन्होंने ऐसी शिक्षण व्यवस्था प्रचलित करने का प्रयत्न किया जिससे स्वतन्त्र भारत के नव निर्माण का लक्ष्य आसानी से प्राप्त किया जा सके। इसी उद्देश्य से उन्होंने अहमदाबाद में गुजरात विद्यापीठ के रूप में ऐसे विश्वविद्यालय की स्थापना का प्रारूप तैयार किया जो इस दिशा में मार्गदर्शक का काम कर सके। इस उद्देश्य के साथ तत्कालीन आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रश्न भी जुड़ा हुआ था। स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए चल रहे असहयोग आन्दोलन में कई छात्र अपनी पढ़ाई छोड़कर राष्ट्रीय संग्राम में कूद पड़े थे। एक अर्थ में उनकी शिक्षा बंद हो चुकी थी अतः उनके लिए भी शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था बनाना आवश्यक था।

आवश्यक तैयारियाँ और उपयुक्त व्यवस्थायें कर लेने के बाद गुजरात विद्यापीठ की नींव पड़ी। और ऐसे तपे हुए कर्मठ जीवनदानी कार्यकर्ताओं को तलाश किया जाने लगा जो इस दायित्व को कुशलता पूर्वक निभा सकें। उन्हीं दिनों गाँधीजी के सपर्क में ऐसे उत्साही और सेवाभावी कार्यकर्ता के रूप में ३७ वर्षीय एक निष्ठावान कार्यकर्ता आया जो हर दृष्टि से इस दायित्व के निर्वाह योग्य लगा। उक्त कार्यकर्ता ने अपने साथी सहित विद्यापीठ को समर्पित कर दिया और गाँधी ने कहा—जैसे उपयुक्त व्यक्ति की मुझे तलाश थी उनमें से दो तो मिल ही गये। समाज सेवा के लिए स्वयं को अपने साथी सहित समर्पित करने वाले उस जन सेवक को विद्यापीठ का अध्यक्ष नियुक्त किया गया और साथी को प्राचार्य। अध्यक्ष पद पर नियुक्त होने वाले उक्त कार्यकर्ता थे आचार्य जुगल किशोर जो सन् १९२० में ही इग्लैण्ड से शिक्षा प्राप्त कर भारत लौटे थे। उनके साथी श्री गिडवानीजी को प्राचार्य पद पर नियुक्त किया गया था।

गुजरात विद्यापीठ के संचालन का दायित्व आचार्यजी पर छोड़कर बापू एक प्रकार से निश्चिन्त हो गये थे। पर साल भर बाद उन्होंने आचार्यजी को हिन्दी का शिक्षण कार्य संगठित करने के लिए बम्बई भेजा वहां से अपने मार्गदर्शक और गुरु के आदेश पर वे लाहौर चले गये जहाँ लोकमान्य तिलक ने भी इसी प्रकार की शिक्षण संस्था स्थापित की थी। लाहौर के विद्यालय में भी असहयोग आन्दोलन में भाग लेने वाले तथा स्वतन्त्रता सैनिक छात्र-अध्ययन करते थे। आचार्यजी ने वहाँ राजनीति शास्त्र पढ़ाया और उनके छात्रों में से ऐसे देशभक्त क्रान्तिकारी निकले जिन्होंने भारतमाता का ललाट गौरवोन्नत किया। शहीद भगतसिंह, बी० के० कौल, करन भाई, भारत भूषण, यशपाल तथा श्री कृष्ण दयाल बालेचा जैसे राष्ट्रीयता के सजग प्रहरी और सैनिक उनके छात्र ही थे। आचार्यजी इस कालेज में प्रिन्सीपाल भी

थे और कालेज के पाठ्यक्रम का निर्धारण भी वे ही करते थे। छात्रों को अपने देश की संस्कृति और गौरव गरिमा का ज्ञान मिलने के साथ विदेशों की जानकारी भी मिले इस उद्देश्य से उन्होंने दूसरे देशों का इतिहास भी कालेज की कक्षाओं के पाठ्यक्रम में सम्मलित कराया। कालेज में शिक्षा का माध्ययम हिन्दी ही रखा और यह नियम भी बना दिया कि प्रत्येक क्षात्र तीन घण्टा प्रतिदिन दस्तकारी सीखे। यह सब महात्मा गाँधी के इशारों पर तो होता ही था—पर यह सब जिस कुशलता के साथ किया गया उसका श्रेय आचार्यजी की निष्ठा, भक्ति भावना और देशप्रेम को भी जाता है। कारण कि उन्होंने स्वयं को सर्वतोभावेन गाँधीजी और मातृभूमि के प्रति समर्पित कर दिया। और देश के लिए कठपुतली की तरह जिस प्रकार भी उन्हें नाचना पड़ा नाचे। आत्म समर्पण और त्याग तथा तपस्या का जीवन ही जुगल किशोर जी की विशिष्ट संपदा थी जिसके बल पर वे देश सेवा के मार्ग पर सफलतापूर्वक आगे बढ़ते गये।

इस प्रकार स्वयं को देश और समाज की सेवा के लिए समर्पित करने वाले आचार्य जुगलकिशोर का जन्म सन् १८७३ ई० में सहारन पुर जिला के पतेहर गाँव में हुआ। जब वे युवावस्था में प्रविष्ट हुए तब उन दिनों ऐनीबेसेण्ट, जे० कृष्ण मूर्ति तथा डॉ० अरुण्डेल की थियोसोफिस्ट विचारधारा का प्रभाव जोरों पर था। जुगल किशोर जी भी थियोसॉफिकल सोसायटी से प्रभावित हुए। इसका एक कारण यह भी था कि वे इसी सोसायटी द्वारा संचालित हिन्दू कालेजियेट स्कूल में पढ़ रहे थे। इस स्कूल की स्थापना श्रीमति एनी बेसेण्ट ने की थी और अन्य विषयों की शिक्षा के साथ विद्यालयों के छात्रों में थियॉसॉफी के संस्कार भी डाले जाते थे। आगे चल कर कालेज की प्रबन्ध समिति और बेसेण्ट में मतभेद हो गया। फलस्वरूप वहाँ की शिक्षा का स्तर भी असन्तोष जनक रूप से गिर गया। और ऐसी परिस्थितियों में उन्होंने कालेज छोड़कर अन्य शिक्षण संस्था में प्रवेश प्राप्त कर लिया। कालेज छोड़देने के बाद भी उनके सम्बन्ध श्रीमति बेसेण्ट से गुरु और शिष्य के वात्सल्य और श्रद्धापूर्ण सम्बन्ध बने रहे, उनमें कोई अन्तर नहीं आया।

श्रीमति बेसेंण्ट ने बाद में विचार किया कि कुछ योग्य और प्रतिभाशाली छात्रों को पढ़ने के लिए इग्लैण्ड भेजा जाय। जुगलकिशोर जी की गणना प्रतिभाशाली और जिज्ञासु छात्रों में की जाती थी। अतः बेसेण्ट के इस विचार और उसे क्रियात्मक रूप देने की व्यवस्था का लाभ जुगलकिशोरजी को भी मिला। इसे उनका सौभाग्य ही कहना चाहिए कि श्रीमति बेसेण्ट की पारखी दृष्टि ने उन्हें अपने विचार के लिए सर्वथा योग्य समझा। फलतः जुगलकिशोर जी १६१३ में इग्लैण्ड चले गये और ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुए।

जुगलकिशोरजी की अभिरुचि बहुमुखी थी। जिस उद्देश्य से वे इग्लैण्ड गये थे, उस उद्देश्य के लिए एकाग्रता और तन्मयतापूर्वक जुटे रहने के साथ उन्होंने अन्य विषयों में भी रुचि ली। आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में और भी कई भारतीय छात्र पढ़ते थे। अन्य क्षेत्रों में अपने देश के व्यक्तियों का देख मिलकर एक अनूठी आत्मीयता और सौहार्द्र प्रेम उमड़ता है। जिन्हें कभी विदेश यात्रा का अवसर मिला है वे भली भाँति जानते हैं कि विदेश में पहुँच कर अपने देश निवासियों को देख कर कितनी प्रसन्नता अनुभव होती है, भले ही उनसे कभी सपने में भी कोई परिचय न हुआ हो। इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य का परिणाम था कि ऑक्सफोर्ड में पढ़ने वाले भारतीय छात्रों ने ऑक्सफोर्ड मजलिस नामक एक मित्र मण्डली बना रखी थी—जिसमें अपने देश की चर्चाओं से लेकर पारिवारिकता की सुखद भावनाओं के विकास तक विभिन्न प्रवृत्तियाँ चला करती थी। जुगलकिशोरजी इस मित्र मण्डली में उत्साहपूर्वक भाग लेते और इसकी प्रवृत्तियों में गहन रुचि। सात वर्ष तक वे इग्लैण्ड में रहे और उसी अवधि में प्रथम विश्वयुद्ध लड़ा गया। विश्वयुद्ध से पूर्व उन्होंने फ्रान्स, और आस्ट्रिया सहित इग्लैण्ड के कई पड़ौसी देशों की यात्रा करली थी। १६१७ में अपनी शिक्षा समाप्त करने के बाद भी वे तीन वर्ष तक वहीं रहे और पूर्ववत शौक्षणिक तथा साहित्यिक गतिविधियों में भाग लेते रहे।

१६२० में भारत लौटने पर उन्होंने भारत की युवापीढ़ी में देशभक्ति के बीज बोने का काम आरम्भ किया।

इस कार्य में उनके साधना गुरु और मार्गदर्शक थे महात्मा गाँधी। उन्होंने जुगलकिशोर को जिस काम में भी लगाया—विना कोई आगा-पीछा सोचे वे उसमें जुट पड़े। भले वह गुजरात विद्यापीठ का संचालन हो अथवा नेशनल कॉलेज लाहौर की प्राध्यापकी या प्राचार्य का दायित्व। छः वर्ष तक गाँधीजी के निर्देशों के अनुसार शैक्षणिक प्रवृत्तियों में हाथ बटाते रहने के बाद वे १६२६ में साबेरमती आगये, साथ में उनकी धर्मपत्नी भी थी। गाँधीजी ने उस समय रचनात्मक कार्यक्रमों में जुगलकिशोरजी को सन्नद्ध किया और गाँधी आश्रम के उत्तर प्रदेश शाखा के अध्यक्ष पद का दायित्व सौंपा।

जुगलकिशोरजी इस दायित्व को तत्परता और निष्ठा के साथ निभा रहे थे कि राजामहेन्द्र प्रताप द्वारा वृन्दावन में स्थापित प्रेम महा विद्यालय को उनकी सेवाओं की आवश्यकता पड़ी। गाँधी आश्रम की उत्तरप्रदेश शाखा में उन्हें एक वर्ष भी नहीं हुआ था कि जुगलकिशोरजी को प्रेम महाविद्यालय का प्रिंसिपल पद सम्हालना पड़ा। प्रेममहाविद्यालय ने देश को एक से एक बढ़िया देशभक्त कार्यकर्ता दिये हैं। जुगलकिशोरजी ने देशभक्ति के साँचे में ढाल कर छात्रों को तैयार करने की ऐसी मुहिम चलाई कि अंग्रेज सरकार को उन्हें गिरफ्तार करने के लिए बाध्य होना पड़ा। यह उनकी पहली गिरफ्तारी थी और बिना बात उन्हें एक वर्ष के करावास का दण्ड दे दिया गया। साल भर तक जेल में रहने के बाद वे कारावास में नये मंसूबे बान्धकर आये और उसके लिए महात्मा गाँधी से अनुमति ले कर कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण शिविर चलाना आरम्भ किया। ये शिविर मुख्यतः ग्रामीण क्षेत्रों में चलाये जाते और देहाती जनता को स्वतन्त्रता कि विचारधारा और प्रेरणाओं से आप्यायित किया जाता, उन्हें गाँधीजी के नेतृत्व में लड़ी जा रही स्वतंत्रता की लड़ाई में सक्रिय भाग लेने के लिए प्रोत्साहित किया। इस प्रकार के अन्य प्रचारात्मक कार्यों से लोगों में जोश तो खूब उत्पन्न होता था पर किया क्या जाना चाहिये। इसकी दिशा में अधिकांश लोग वंचित रह जाते। जुगल किशोर जी द्वारा चलाये गये प्रशिक्षण क्रम में अहिंसक क्रान्ति का व्यावहारिक और प्रयोगात्मक शिक्षण दिया जाता था ताकि जन सामान्य जो अब तक इस आन्दोलन में तटस्थ सा था सक्रिय भाग ले सके। यह कार्य उन्होंने प्रेम महाविद्यालय के प्राचार्य पद पर रहते हुए ही आरम्भ किया तथा जारी रखा। प्रशिक्षण कोर्स बड़ा सफल रहा और क्या देहाती तथा क्या शहरी हर वर्ग की जनता—प्रौढ़ व्यक्तियों से लेकर वयस्क अवयस्क छात्रों तक ने इस व्यवस्था से लाभ उठा कर स्वतंत्रता संग्राम में खुल कर भाग लेना आरम्भ किया। इस अभियान का व्यापक प्रभाव हुआ और गांधीजी ने स्वयं प्रेम महाविद्यालय में आकर आचार्यजी की प्रशंसा की।'

प्रशिक्षण शिविरों के व्यापक प्रभाव और स्वतंत्रता आन्दोलन के त्वरण वेग से उधर सरकार चिंतित हो हो उठी तथा उसने स्वतन्त्रता के मंत्र साधना आश्रम प्रेममहाविद्यालय पर ही प्रहर किया। एक आदेश द्वारा पी० एम० वी० को अनिश्चित काल के लिए बन्द कर दिया गया। पर इससे जुगलकिशोर जी के उत्साह पर क्या प्रभाव पड़ना था, हाँ प्रेममहाविद्यालय के बन्द हो जाने से कार्य में अवश्य शिथिलता आ गई। वे चुप न बैठे रहे, अपने साथियों और सहयोगियों को साथ लेकर वे भी राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेते रहे तथा छात्रों को भी इस दिशा में प्रोत्साहित करते रहे।

उनकी निष्ठा और क्षमता का उपयोग जनमत जागृत करने में लेने के लिए जुगलकिशोरजी को १६३२ में काँग्रेस महा समिति का महामन्त्री बनाया गया। इस पद पर उनकी गतिविधियाँ और प्रखर हुई, साथ ही अंग्रेज सरकार उन्हें किसी प्रकार फँसाकर जेल में ठूंसने की ताक लगाने लगी। आचार्यजी को सरकार के इरादों का पता चल गया था अतः वे भूमिगत हो गये और भूमिगत रह कर ही अपना काम चलाते रहे। सरकार ने उस समय काँग्रेस कार्यकर्ताओं को कई बन्धनों से जकड़ दिया था। यहाँ तक कि उसके अधिवेशनों पर भी पावन्दी लगा दी थी। पर काँग्रेस नेताओं ने इस निषेध आज्ञा को तोड़कर कलकत्ता में अधिवेशन किया। इस अधिवेशन को सफल बनाने के लिए आचार्यजी ने जी जान से प्रयत्न किया था।

१६३३ में काँग्रेस की ओर से आया व्यक्तिगत सत्या-

गए या कार्यक्रम। आचार्य विनोबा भावे पहले सत्याग्रही बने। आचार्यजी ने भी स्वयं और पत्नी सहीत इस सत्याग्रह में भाग लिया। उनका कार्य क्षेत्र इस समय ब्रजभूमि ही थी। जहाँ कभी अन्याय और अत्याचार के खिलाफ़ गोप गोपियों ने अपनी आवाज बुलन्द की थी और कंश जैसे भ्रष्ट शासन का उच्छेदन किया था। आचार्यजी और उनकी धर्म पत्नी श्रीमति शाँतिदेवी ने उसी परम्परा को पुनर्जीवित करते हुए स्वयं को गिरफ्तार कराने की नई कड़ी जोड़ी। मथुरा के जिला मजिस्ट्रेट ने उन्हें छह माह के कारावास की सजा दी। सजा काट कर आने के बाद उन्होंने हरिजन सेवक सघ का काम सम्हाला और पश्चिमी उत्तार प्रदेश के संघ अध्यक्ष बने और ग्रामीण उद्योग संगठनों के संचालन में भी महत्वपूर्ण भूमिका निवाही।

सन् १९३६ में जब आम चुनाव हुए तो कांग्रेस के टिकट पर वे प्रान्तीय विधान सभा के सदस्य बने। इस चुनाव में उत्तरप्रदेश में काँग्रेस की पहली सरकार बनी और मुख्यमन्त्री पं गोविन्द वल्लभ पन्त। पंतजी ने उन्हें मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित किया। मन्त्रीपद सम्हालते ही उन्होंने अपने प्रभाव का उपयोग बंद पड़े प्रेममहाविद्यालय को पुनः खुलवाने में किया और सफल भी हुए। तीन वर्ष तक मंत्रीपद पर रहते हुए उन्होंने उल्लेखनीय सेवा कार्य किये।

१९४० में वे फिर व्यक्तिगत सत्याग्रह में बंदी बने। इस बार भी उनकी पत्नी साथ थी। जेल से छूटने के बाद ४२ के भारत छोड़ो आन्दोलन में सरकार ने उन्हें पुनः सपत्नीक गिरफ्तार किया और लाल किले में रखा। तीन वर्ष बाद ही वे जेल से रिहा हो सके और अगले आम चुनाव में प्रान्तीय विधानसभा के लिए निर्विरोध चुने गये। इस बार भी उन्हें मंत्रीपद पर नियुक्त किया जाने लगा परन्तु उन्होंने इन्कार कर दिया। क्योंकि वे प्रशासनिक सेवाओं की अपेक्षा रचनात्मक कार्यक्रमों में अधिक रुचि ले रहे थे।

दो वर्ष बाद उनका तथा राष्ट्र का स्वप्न साकार हुआ और भारत को स्वतन्त्रा मिली। स्वतंत्रता के बाद भारतीय संविधान का जो निर्धारण हुआ और इसके लिए जो संविधान सभा बनी उसमें आचार्यजी ने प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया। इस हैसियत से वे १९५० तक संविधान सभा में काम करते रहे और वर्ष भर बाद उन्हें लखनऊ विश्वविद्यालय का उपकुलपति बनाया गया। इसी वर्ष स्वतन्त्र भारत के प्रथम आम चुनाव हुए और राज्य विधानसभा के लिए चुन लिये गये। विधायक के रूप में काम करते हुए भी उन्होंने समाज सेवा और रचनात्मक कार्यों में ही अधिक रुचि दर्शायी। आगे चलकर जब डॉ० संपूर्णनंद ने उत्तरप्रदेश का मुख्यमन्त्री पद सम्हाला तो आचार्यजी को समाज कल्याण मंत्रालय तथा श्रम विभाग सौंपा गया। जितने समय तक वे मन्त्री रहे उन्होंने समाज के गिरे हुए और उपेक्षित लोगों को उठाने आगे बढ़ाने के लिए काफी काम किया। बाद में उन्हें शिक्षा विभाग भी सौंपा गया।

१९६६ में राजनीति से सन्यास लेकर आचार्यजी कानपुर विश्वविद्यालय के उपकुलपति पद पर काम करने लगे। कुछ समय बाद अवकाश लेकर उन्होंने सक्रिय जीवन से भी सन्यास ले लिया और मथुरा आकर रहने लगे। आचार्यजी ने यह समय भी व्यर्थ नहीं गँवाया और अवकाश के समय भी समाज सेवा के लिए कुछ न कुछ तो करते ही रहे। राष्ट्र के प्रति उनकी जो निष्ठा और सेवा के उनके जो आदर्श थे उस निष्ठा और आदर्श को निभाहने में आचार्यजी की धर्मपत्नी का योगदान भी अनूठा रहा है। श्रीमति शाँतिदेवी ने अपने पति के प्रति सहचरत्व का सच्चा आदर्श निभाया।

अंतिम समय में आचार्य जी श्वाँस रोग से भयङ्कर अक्रान्त हो गये थे। कुछ माह तक आगरा में चिकित्सा कराते रहने पर भी कुछ लाभ नहीं हुआ और ८१ वर्ष की अवस्था में २२ मार्च १९७४ को उनका देहावसान हो गया। उनके निधन से देश का एक महान सपूत उठ गया जिसने देशभक्ति और देश सेवा का त्याग तपस्यापूर्ण ऐसा आदर्श उपस्थित किया जो हर वय की पीढ़ी के लिए प्रेरणाप्रद है।

वह करोड़ पति होकर भी गरीबों सा रहा



कनाडा के एक नगर में सड़क पर खड़ी कार में आकर दो व्यक्ति वैठे। एक वृद्ध था और दूसरा युवक। दोनों पिता पुत्र थे। कार में स्टीयरिंग पर वैठते समय पुत्र ने अखवार खोला। पिता ने पूछा यह क्या है।

'टाइम्स अखवार–पुत्र ने उत्तर दिया।

कहाँ से खरीदा

उस नुक्कड़ वाली दुकान पर से—पुत्र ने कहा। इस पर पिता कहने लगा–जाओ जाकर वापस कर आओ मेरे पास भी टाइम्स है मैं पढ़ लू फिर तुम पढ़ लेना।

तीस चालीस पैसे के अखवार को वापस करने की बात कोई सामान्य व्यक्ति कहता तो मितव्ययता की दृष्टि से उचित भी था। पर कार का मालिक कहे तो यह आश्चर्य जनक ही है। और तव तो और भी ज्यादा जवकि कोई करोड़ पति व्यक्ति कहे। पर वह मितव्ययिता के वल पर ही करोड़पति वना था। एक नाई के लड़के से जिसे दो जून खाना ठीक से न मिल सके संसार का सवसे वड़ा प्रेस मालिक लॉर्ड टाम्सन उन नव युवकों के लिए निश्चित ही आदर्श है जो कदम कदम पर असफल होते हैं तथा अपनी हिम्मत इस बुरी तरह हार जाते है कि फिर रोटी ही उनका सवसे वड़ा ध्येय वन जाती है।

लॉर्ड-टाम्सन का जन्म सन् १८६४ में कनाडा के एक अति सामान्य परिवार में हुआ था। और जैसे ही होश सम्हाला अपने पैतृक व्यवसाय में लग जाना पड़ा। लेकिन टाम्सन का मन इस तरह के कामों में न लगा। वे चाहते थे अपने परिवार को विरासत में मिली गरीवी दूर करना। किसी तरह टाम्सन ने खेती का काम शुरु किया। कड़ाके की शीत और शरीर पर अपर्याप्त कपड़े। मौसम से लड़ते हुए उन्होंने धरती की छाती पर अपना पसीना वहाना शुरु किया पर सफलताने अँगूठा दिखा दिया।

इस क्षेत्र को छोड़ कर वे व्यापार व्यवसाय में लगे। व्यापार में तो जितनी अधिक पूंजी होती है उतना ज्यादा मुनाफा होता है। ओछी पूंजी प्रायः घाटा ही देती है। वही टाम्सन के साथ भी हुआ इसलिए टाम्सन को वह क्षेत्र भी छोड़ देना पड़ा।

आर्थिक तंगी और असफलता पर असफलता सामान्य आदमी का मनोवल चट से तोड़ डालती है पर टाम्सन किसी दूसरी ही मिट्टी के बने थे। वे अपने परिवार वालों से कहा करते–दस साल वाद में लखपति वन जाऊंगा। और घर के लोग कहते पहले सुवह के भोजन का तो प्रवन्ध हो जाय।

इन प्रतिकूलताओं के वावजूद भी टाम्सन के होसले पस्त नहीं हुए और वे अपने प्रयासों में निरन्तरता वनाये रहे। १६२६ में उन्हें जवर्दस्त धक्का पहुँचा जिसने उनके जीवन को न केवल एक नयी दिशा दी वरन् उनके कदमों में भी गति पैदा करदी। हुआ यह कि उनकी लड़की की एक दुर्घटना में वांह टूट गयी। अर्थाभाव के कारण पर्याप्त इलाज नहीं हो सका और हाथ जैसा का तैसा ही रह गया।

टाम्सन को अपनी विवशता के कारण लाड़ली वेटी इमी की यह स्थिति बुरी तरह कसक गयी और उन्होंने संकल्प कर लिया कि आजकी जिस विवशता के कारण इमी को पंगु वनना पड़ा है। उसके जीवन को जो क्षति पहुँची है उसकी क्षति पूर्ति करके रहूँगा। और टाम्सन के दिमाग में एक ही प्रश्न गूंजने लगा। कैसे पैसा कमाया जाय। एक तरह से उन्हें यही धुन सवार हो गयी और वे रात दिन एक कर श्रम में जुट गये। रविवार त्यौहार, छुट्टियां, आराम आदि सब कुछ भूल कर वे परिश्रम करते और उनके सामने लक्ष्य निकट आने की आशा रहती।

काफी मेहनत मशक्कत कर उन्होंने थोड़ा पैसा इकट्ठा किया और एक अखवार खरीदा। उनके पास केवल इतनी ही पूंजी थी। वह सारी पूंजी पुराने मालिक के मूल्य चुकाने में चली गयी। साधारणतया यह चिन्ता होनी चाहिए थी कि आगे का काम कैसे चलेगा पर इस चिन्ता का बीज ही उन्होंने अपने परिश्रमी हाथों से नष्ट कर डाला था। यही कारण था कि उन्होंने प्रेस के कर्मचारियों

को वेतन के दिन नकद के स्थान पर चेक दिया और कहा इसे सप्ताह भर बाद भुनाना।

सप्ताह भर बाद तक अखबार के एजेण्ट या ग्राहक अखबार का शुल्क भिजवा देते और टाम्सन उसे ले जाकर बैंक में जमा कर देते। कर्मचारी वास्तव में हफ्ते भर बाद ही चेक भुनाने जाते हैं और अपना वेतन लेकर आते थे। उन्होंने अपना काम काज बढ़ाने के लिए ऐसे व्यक्तियों की तलाश की जिनके पास पर्याप्त संपदा थी और महीने में कोई निश्चित आमदनी मिलना जरूरी नहीं था। ऐसे व्यक्तियों के मिलने पर उन्होंने कहा मैं तुम्हे पर्याप्त वेतन दूंगा पर समय पर न दे सकूं। इसका मन में विचार मत लाना।

इस प्रकार बड़ी सूझ-बूझ, अपने सद्व्यवहार तथा सहानुभूति जैसे गुणों के कारण उनके कर्मचारियों तथा अधिकारियों को कभी क्षुब्ध नहीं होना पढ़ा। साथ ही वे अपने लिए खर्च के सम्बन्ध में बहुत ही किफायत से काम लेते थे। यहाँ तक कि वे कभी कभी अपने दोस्तों की निगाह में बेहद कंजूस भी बन जाते। एक बार उन्होंने ढीला ढाला कपड़ा पहन रखा था। उनके दोस्तों ने उनके कपड़ों को देखकर कहा—यह ढीला ढाला लिबास आप कहा से ले आये।

टाम्सन ने जो उत्तर दिया उससे मित्र हतप्रभ रह गया। टाम्सन ने कहा था कि—एक जगह थोक में मिल गये थे सो एक साथ बहुत सारे खरीद लाया।

कहा जा सकता है कि टाम्सन ने यह रीति नीति अपने विकास काल में अपनायी हो। लेकिन यह किफायत शारी उनके जीवन में अन्तिम क्षणों तक इसी प्रकार बनी रही। कई बार उन्हें राज परिवार में आमंत्रित किया गया, महा रानी ने उन्हें मिलने के लिए बुलाया। वैसे महत्वपूर्ण अवसरों पर सभी की आकांक्षा रहती है कि अच्छे कपड़ों में टीपटाप से महारानी के या राज परिवार के किसी सदस्य से मिला जाय। पर टाम्सन अपनी साधारण वेश भूषा में ही मिलने जाते थे। अनेक अवसरों पर उनके निकटवर्ती मित्र कहते भी कि—"आप राजघराने में जा रहे हैं कम से कम ऐसे समय तो आपको नया सूट खरीद लेना चाहिए।

टॉम्सन उत्तर देते—व्यक्ति हमेशा अपने स्वभाव और व्यवहार से सामने वाले को महत्वपूर्ण जचता है। न कि कपड़ों से। फिर मैं नया सूट पहन कर जाऊं तो भी वही टाम्सन रहूँगा जो इन कपड़ों में हूँ। इसलिए व्यर्थ ही नया सूट खरीदने में क्यों पैसे बर्बाद करूं।

टाम्सन जब भी कुछ खरीदने जाते तो उनकी हमेशा यही कोशिश रहती कि वस्तु के वास्तविक मूल्य से कही अधिक दाम जेब से न निकल जायें। आमतौर पर दुकानदारों में यह प्रवृत्ति होती है कि किसी संपन्न व्यक्ति को देखकर वह अधिक से अधिक पैसा ऐंठना चाहता है। दुकानदारों की इस तरह लाभ उठाने की अनुचित दुष्प्रवृत्ति से टॉम्सन अपनी सादी वेशभूषा के कारण अनायास ही बच जाते।

नदी में तेज बाढ़ आई। भयङ्कर शब्द करती हुई चली गई पीछे उसका कोई भी चिन्ह शेष न रहा।

फिर वर्षा ऋतु प्रारम्भ हुई। एक गड्ढे पर बूंदें ध्यान लगाकर गिरने लगीं। हर बूंद के साथ मिट्टी का एक कण टूट कर अलग हो जाता। बरसात समाप्त हुई तब वह गड्ढा एक विशाल तालाब बन चुका था।

जहाँ शक्ति का केन्द्रीकरण होता है, जहाँ मिल-जुल कर सम्पन्न किये जाने वाले अनवरत प्रयत्न किये जाते हैं वहीं ऐसी उल्लेखनीय सफलता के दर्शन होते हैं।

लार्ड टाम्सन पैसा बचाने और कमाने की कला में पूरी तरह माहिर थे। घाटे में चल रहे किसी भी अखबार को खरीद कर उसे सफलता पूर्वक चला देना उनके बायें हाथ का खेल था। इसका रहस्य उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है—"हमारे अखबार किसी वाद विशेष से जुड़े नहीं है और संपादक को यही निर्देश दिया गया है कि वे जहां भी है वहां के समाज और वहां की जनता की सेवा मनो योग के साथ करें।"

सन् १९७६ में उनका देहान्त हुआ। एक साधारण से परिवार से उठकर सफलता के चरम शिखर को छू लेने वाले टाम्सन की जीवन गाथा प्रत्येक नव युवक के लिए प्रेरणा दायी है। और सन्देश देती है कि जीवन में पराजय नाम की कोई चीज ही नहीं है।

ये शिक्षायें हमें विदेशियों से लेनी पड़ेंगी

अनुकरण के संदर्भ में यदि हमारी प्रवृत्तियों का अध्ययन किया जाय तो दुनिया की शायद ही कोई जाति होगी जो हमारी बराबरी में टिक सके। पश्चिमी देशों की नकल करने में हम आंख मीच कर काम लेते है। पहनाव ओढ़ाव से लेकर रहन सहन और शिष्टाचार हर मामले में जैसे सभी शिक्षित और अशिक्षित व्यक्तियों ने यह कसम खाली लगती है कि हम विदेशी सभ्यता को अपनाने में जरा भी पीछे नहीं रहेंगे। यही कारण है कि अब तक हमारा राष्ट्रीय व्यक्तित्व सुगठित रूप से नहीं बन सका है। न हम अपनी संस्कृति को आदर दे पाते हैं और न अपनी जबान में ही ठीक से बोल पाते हैं। कुछ वर्ष पूर्व हमारे देश के एक सांसद सोवियत रूस की यात्रा पर गये थे! वहां के संस्मरणों को "गांधी के देश से लेलिन के देश में" पुस्तक में लिखते हुए उन्होंने बताया है कि रूसी जनता को भारत से आने वाले पर्यटकों से एक शिकायत हमेशा बनी रहती है कि वहां की क्षेत्रीय या राष्ट्र भाषा वे बोल नहीं पाते और अपनी भाषा में बोलते हुए उन्हें शर्म आती है। इसलिए धड़ाके से वे अंग्रेजी में बोलने लगते हैं।

सामान्यत: दूसरे देश से आने वाले यात्रियों के लिए चाहने पर उस देश की सरकार दुभाषियों की व्यवस्था कर देती है। इधर रूस और भारत में बढ़ती हुई मैत्री के कारण रूसी जनता में भारतीय जीवन पद्धति के प्रति अपनत्व का भाव पैदा हुआ है। इस कारण वहा हिन्दी भाषा के अध्ययन की प्रवृत्ति भी बढ़ी है। और हिन्दी जानने वाला जब कोई भारतीय वहां की यात्रा करने के लिए जाता है तो वे उनसे हिन्दी में बात अधिक पसन्द करते है। लेकिन उस स्थिति में उन्हें निराशा ही नहीं खीझ भी आती है जब वे किसी भारतीय को हिन्दी में बात करने की अपेक्षा अंग्रेजी का व्यवहार करते हुए देखते हैं।

रूस ही क्यों दुनिया के कई देशों में ऐसे प्रसंग आये दिन सामने आते रहते है जब भारतीयों को हिन्दी का प्रयोग न करने के कारण नीचा देखना पड़ता है। यह सच है कि अपनी जीवन पद्धति को छोड़कर कोई भी व्यक्ति या समाज प्रतिष्ठा तथा सम्मान नहीं प्राप्त कर सकता। कहा जाता है कि विदेशी सभ्यता को इसलिए अपनाना चाहिए कि उसी सभ्यता को अपना कर वे देश ऊंचे उठे हैं तथा आगे बढ़े हैं। लेकिन यह एक तथ्य है कि रहन सहन बदलने या दूसरों की नकल करने से कोई प्रगति नहीं करता। नकल करने की प्रवृत्ति बुरी नहीं है बुरी है अन्धानुकरण की आदत। नकल वहीं तक उचित है जब तक कि हम दूसरों की अच्छी आदतें सीखते हैं। अच्छी शिक्षायें ग्रहण करते हैं। यदि धनवान व्यक्ति की भोंड़ी नकल कर कोई व्यक्ति अपनी सामर्थ्य से अधिक प्रदर्शन करने लगे तो जो पास में हैं उसे गंवा देने के साथ साथ ऋणग्रस्त हो जाने की भी नौबत आ जाती है। किसी ऊंचे उठे और आगे बढ़े हुए व्यक्ति से परिश्रम पुरुषार्थ और कर्मनिष्ठा की प्रेरणा लेना तो अच्छा है। लेकिन अपने को उसी के स्तर का सिद्ध करने के लिए अन्धाधुन्ध खर्च करना और गांठ का भी गंवा बैठना अदूरदर्शिता ही नहीं अविवेकपूर्ण भी है।

अनुकरण के सम्बन्ध में हम जाने-अनजाने यही अनर्थ कर रहे हैं। विदेशियों से अच्छी बातें सीखने के स्थान पर हम उनकी बाहरी चमक दमक को ही अपनाना चाहते हैं। इस भोंड़ी नकल के स्थान पर यदि हम उपयोगी तत्वों को ग्रहण करने न करने का आत्म निरीक्षण करें तो पायेंगे कि शिष्टता, श्रमशीलता और सौजन्य के मामले में पासंग भी नही है। इग्लैण्ड के निवासियों की सौजन्यता का परिचय देते हुए एक भारतीय प्रवासी जो कुछ समय पूर्व ही इग्लैण्ड गये थे श्री शशिबन्धुम ने लिखा है "लन्दन की ऑक्सफोर्ड स्ट्रीट दुनियां की तमाम व्यस्त सड़कों में से एक है। यह सड़क शृंगार प्रसाधनों के लिए विख्यात है इसलिए यहां प्रतिदिन इतनी भीड़ रहती है जितनी कभी किसी उत्सव मेले या विशेष समारोह में नहीं रहती होगी।

एक बार मैं जब क्रासिंग के निकट फुटपाथ पर था। प्रतीक्षा कर रहा था कि मोटरों का आवागमन बन्द हो तो सड़क पार कर लूं किन्तु ऐसा जल्दी होता नहीं दिखाई दिया। इसी बीच चौराहे पर जल रही लालबत्ती बुझी और पीली जलने लगी। पीली जल्दी ही बुझ गयी और उसके स्थान पर हरी बत्ती जलने लगी। तथा फुटपाथ पर खड़े हुए यात्री सड़क पार करने लगे। मुझे वहाँ के यातायात नियमों की सामान्य सी जानकारी थी। जब तक यह पता लगाता कि हरी बत्ती जलाने का क्या तात्पर्य है अधिकांश लोगों ने सड़क पार कर ली थी। जैसे ही दो पग आगे बढ़ाये कि फिर पीली बत्ती जल गयी मैं समझ न सका कि आगे बढ़ूं या पीछे लौट जाऊं। और पीछे लौटना ही उचित समझा। यद्यपि पीली बत्ती जलते ही कार चालकों को गाड़ी आगे बढ़ा देना चाहिए था। पर वे जैसे के जैसे ही अपने वाहन खड़े किये रहे। वे समझ चुके थे कि मुझे यहाँ के नियमों की जानकारी हैं। इसलिए एक कार चालक ने मुझसे शिष्टता पूर्वक कहा—आप निस्संकोच सड़क पार करलें। चूंकि आपने अपने समय में ही सड़क पर पैर बढ़ा लिया था इस लिए जब तक आप सड़क पार नही कर लेते आगे की कारें खड़ी रहेगी "और मैंने बड़े संकोच के साथ सड़क पार की लेकिन मेरे मस्तिष्क में उनकी सौजन्यता की छाप बड़ी देर तक बनी रही।

शशि बन्धुम के मस्तिष्क में इस सौजन्य तथा शिष्टता के साथ ही अपने देश की उस स्थिति का भी स्मरण हो आया जब तांगे, मोटर या साइकिल के आगे भूले भटके कोई आ जाता है तो उनके चालक गालियों की बौछार लगा देते हैं। सड़क पार करना हो या टिकट खरीदना नहीं अनुशासन का कड़ाई से पालन करना एक अच्छी बात हैं। भले ही अपने को हानि होती हो तब भी निर्धारित मर्यादाओं का पालन तो किया ही जाना चाहिए। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि कोई व्यक्ति गल्ती से अथवा कमजोर या बीमार व्यक्ति अपनी असमर्थता के कारण परिस्थिति वश बीच में आ जाय तो भलमनसाहत बलाए—ताक ही रख दी जाय। गल्ती का भान कराने के लिए समझाना आवश्यक हो तो मीठी वाणी से शिष्टता पूर्वक भी समझाया जा सकता है। लेकिन ऐसी परिस्थितियों में उज्जडपन से ही काम लिया जाता है। तेज तर्रार और स्वयं को जरूरत से ज्यादा अक्लमंद समझने वाले लोग अपने लाभ के लिए दूसरों की आँखों में धूल झोंककर बीच में घुसने का अवसर भले ही ताकते हों, पर उन्हें यह जरा भी सहन नहीं होता कि अमुक व्यक्ति बीमार है या कमजोर है तथा उसे आगे आने देना चाहिए इस मामले में भी विदेशियों में अच्छी मानवीय समझ पायी जाती है।

एक बार की घटना है। भारत से कोई प्रतिष्ठित पत्रकार अमेरिका गये। उस समय वे न्यूयार्क की एक सड़क पर घूम रहे थे—जो हर समय व्यस्त रहती है। उन्होंने देखा कि सड़क पार करते समय एक अपाहिज स्त्री भी सामने आ गयी। वह बैसाखियों के सहारे चल रही थी पर उसे ध्यान था कि मेरे अपाहिज होने के कारण आवागमन की व्यवस्था में कोई गड़बड़ी न आये। लेकिन परिस्थिति ही कुछ ऐसी थी। बैसाखियों के सहारे वह जल्दी चलने का प्रयास कर तो रही थीं फिर भी उसकी गति अन्य लोगों के समान नहीं थीं। दूसरे लोगों ने सड़क पार कर ली तब वह आधी दूरी से भी कम तक पहुँची थी। इतने में ही गाड़ियों को चलने की स्वीकृति मिल गयी। अपाहिज वृद्धा सड़क के बीच में थी पर न तो कोई गाड़ी वाला चीखा चिल्लाया और न ही किसी ने गाड़ी स्टार्ट की। सभी तब तक गाड़ी स्टेण्ड किये रहे जब तक वृद्धा ने सड़क न पार करली।

सौजन्यता और शिष्टाचार ही नहीं श्रमशीलता और कर्तव्य परायणता में हम विदेशियों से सीख सकते है। जहाँ बात बात पर छुट्टी लेना और आराम करना अच्छा लगता है वहीं विश्व के विकसित और विकास मान देशों में श्रम को महत्व दिया जाता है। जापान का उदाहरण सामने है। वहा की सरकार ने जब सप्ताह में काम के ४८ घण्टे कर ४४ घण्टे कर दिये। अर्थात् सप्ताह में एक दिन की छुट्टी के स्थान पर डेढ़ दिन की छुट्टी रखने की घोषणा की तो वहाँ के नागरिकों ने माँग की कि काम के घण्टे बढ़ाया जाना मंजूर है पर उनमें कटौती सहन नहीं की जा सकती। अन्ततः सरकार को घोषित काम के घण्टों में कटौती निरस्त करनी पड़ी।



नेत्र हीनों के जीवन में आशा की ज्योति जगाने वाले—

अलपाई वाला

कुछ व्यक्तियों पर इतनी अधिक विपत्तियाँ और कष्ट कठिनाईयां आती हैं कि लगता है नियन्ता उनके साथ क्रूर मजाक कर रहा है। ऐसा ही रुस्तम जी मेहरवान जी अलपाई वाला को लग रहा था जब वे १६१३ में वैरिस्टर वन कर भारत लौटे और वम्बई में अपनी प्रैक्टिस करने लगे। प्रैक्टिस करते करते उन्हें तीन चार वर्ष ही हुए थे—प्रैक्टिस अच्छी चलने लगी थी। कानून की सूक्ष्म पकड़ तथा गहन सूझ बूझ को देखते हुए लोग उनके पास ही खिचे चले आते। यह जानते हुए भी कि वे इस क्षेत्र के नये खिलाड़ी हैं। उस समय वे अपनी वय के तीस वर्ष भी पूरे नहीं कर पाये थे, जीवन की कई आकांक्षायें तथा लालसायें अभी अधूरी ही थीं कि उन्हें वकालत से अवकाश लेना पड़ा।

कारण था—आँखों की निरन्तर मन्द पड़ती गयी ज्योति। जब प्रगति के सभी अवसर सामने हों, उन अवसरों का सफलतापूर्वक उपयोग भी किया जा रहा हो और लक्ष्मी तथा सरस्वती के हाथों से कृपा दृष्टि एक साथ वरस रही हो तब इस प्रकार का शारीरिक व्यवधान उपस्थित हो जाय तो व्यक्ति के मन पर क्या गुजरती होगी कुछ कहा नहीं जा सकता। इसीलिए अलपाई वाला को लग रह था कि नियति उनके साथ क्रूर उपहास कर रही है।

उन्होंने विवश होकर काम काज से छुटकारा ले लिया। तरुणाई आदमी में उद्दाम क्रियाशीलता जागृत करती है। और एक उत्साही युवक के लिए हाथों पर हाथ धरे वैठे रहना कष्टदायी ही होता है। उस दशा में तो और भी ज्यादा जब उसकी कार्यशीलता अभिवृद्धि की ओर अग्रसर हो। उन्होंने अपनी मनः स्थिति का चित्रण करते हुए लिखा है—'मैं तीस वर्ष का भी नहीं हुआ था उस समय और घर में वैठे वैठे तो मेरा दम ही घुटने लगा। मैं असहाय अपंग वन कर जीना नहीं चाहता था।

"कई लोग इस प्रकार अन्धे होकर यकायक प्रखर ज्ञानवान, महात्मा, विद्वान या चमत्कारी वन जाते हैं संगीत या साहित्य में लोकप्रिय हो जाते हैं परन्तु मेरे साथ ऐसा कुछ नहीं हुआ। जीवन सादा और सरल था। पेशे की ओर अधिक ध्यान देना पड़ता। दिमाग में तरह तरह की योजनायें व अस्त व्यस्त विचार आते थे। कहीं कुछ भी सिलसिलेवार नहीं था। लेकिन मैं सरल व सीधी किन्तु स्वाभिमान पूर्ण जिन्दगी जीना चाहता था। न तो साधु वनने का चाव उठा और न महात्मा वनने का शौक।"

"मैं सरल व सीधी किन्तु..............'इन अन्तिम पंक्तियों में अलपाई वाला की मर्म व्यथा स्पष्ट होती है। अन्धे और नेत्रहीन व्यक्तियों को अपनी दैनन्दिन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी किस प्रकार दूसरों पर आश्रित होना पड़ता है जवकि अलपाई वाला ने अपने समृद्धि के दिनों में कितने असहाय अशरण व्यक्तियों को सहायता और शरण दी थी। अव उन्हें इसकी कल्पना ही व्यथित कर उठती थी लेकिन विवशता थी सो स्वाभिमान पूर्वक जीने की आकांक्षा अभिव्यक्ति वन गयी।

यह विपदा अकेले नहीं आयी। अपनी अन्य सहेलियों को भी साथ लाना न भूली। नेत्र हीनता के साथ आमदनी के सूखे पड़े स्रोत वेकारी और अभाव उन्हें सालने लगे लेकिन अलपाई वाला ने इन सव झझावातों में पड़ने के वावजूद भी अपनी जीवन नैया की पतवार नहीं खोली और थपेड़ों से संघर्ष का एक मार्ग खोज ही निकाला। उन्होंने असहाय अपंग और निराश जीवन के स्थान पर अपने लिए एक अनोखा ही कार्य ढूँढ़ निकाला—सार्वजनिक कार्यों में सक्रिय योगदान। और इस कार्य को उन्होंने इतनी कुशलता के साथ संपन्न किया कि लोग जिन घटनाओं को नियति की क्रूरता कहते हैं वे ही घटनायें प्रकृति का वरदान सिद्ध हुईं।

इन्होंने पुरुषार्थ के बल पर दुर्दैव को भी सदभाग्य में बदलने वाली इस महान विभूति का जन्म ७ मई १८८७ ई० को बम्बई के एक पारसी परिवार में हुआ था। परम्परागत रूप से उनके परिवार में कानूनी पेशा चलता आ रहा था सो उन्हें भी इसी दिशा में उन्मुख किया गया। परिवार के परिवेश और माता पिता के वात्सल्य—बाल्य पोषण की दक्ष क्षमता ने उन्हें मेधावी बनाया। लेकिन एक शारीरिक कमजोरी उनमें बचपन से ही थी—उनकी आंखें कमजोर थीं। इस कारण १३ वर्ष की आयु में ही उन्हें चश्मा लगाना पड़ा। सन् १९०३ में उन्होंने अच्छे अंकों से मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण की और एलफिन्स्टन कालेज में भर्ती हुए। उनके पिता एक सफल सालिसिटर थे। और इनका एक बड़ा कार्यालय भी था।। रुस्तम जी ने बी० ए० की परीक्षा पास कर ली तो पिता ने उन्हें कार्यालय में ही आर्टिकल क्लर्क का कार्य सौंप दिया। इसका एक कारण यह भी था कि पिता के सामने अपने पुत्र के भविष्य का एक सुस्पष्ट चित्र था। वे भी अपने बेटे को भी सालिसिटर ही बनाना चाहते थे। भविष्य के प्रति इस स्पष्ट दृष्टिकोण ने रुस्तम जी के लिए सुदृढ़ नींव रखने का प्रबन्ध किया। अपने पिता के आफिस में क्लर्क का दायित्व कुशलता पूर्वक निभाते हुए रुस्तम जी के शिक्षण प्रशिक्षण का क्रम साथ साथ चलता रहा।

सन् १९११ ई० में उन्होंने एल० एल० बी० की परीक्षा पास की। इन दिनों उनकी नेत्र ज्योति धीरे-धीरे मंद पड़ती जा रही थी हालकि इसका उपचार तो चल रहा था। पर उससे कोई लाभ होता प्रतीत नहीं हो रहा था। नेत्रों की ज्योति का मंद पड़ते जाना उनकी सालिसिटर बनने की की आकांक्षा में अवरोधक बन रहा था। क्योंकि सालिसिटर के लिए काफी पढ़ना और बहुत सारा लिखना आवश्यक है। इस कारण उन्होंने इग्लैण्ड जाकर बार एटला के लिए पढ़ने का निश्चय किया। वहाँ शिक्षा प्रशिक्षा तो हुई ही आँखों का उपचार भी किया लेकिन उससे कोई लाभ नहीं हुआ। १९१३ में वे बैरिस्टर होकर भारत लौटे।

बैरिस्टरी की प्रेक्टिस शुरू करते ही चार वर्ष बाद ही उनकी नेत्र ज्योति बुझ गयी और वे हर किसी के लिए सहानुभूति के पात्र बन गये जिसे उन्होंने अपने स्वाभिमान पर आघात कारी सिद्ध माना।

जिन दिनों वे विद्यार्थी थे उन दिनों बम्बई में थियोसोफिकल सोसायटी का अच्छा प्रसार था। इस आध्यात्मिक और नैतिक आन्दोलन के प्रति वे भी आकृष्ट हुए और यदा कदा इसमें भाग भी लेते रहे। नेत्र ज्योति चुक जाने के बाद उन्होंने अदालत जाना बन्द कर दिया तो अब क्या करें ? यह प्रश्न खड़ा हुआ। और उन्हें अतीत की स्मृतियां पुनः आकर्षण क्षेत्र में खींच लायीं। उस समय की प्रेरणायें तथा स्थापित आदर्श अब अपनी प्रबल जीवन्त क्षमता के साथ जागे और अलपाई वाला ने स्वयं को लोक सेवा के लिए समर्पित कर दिया।

वकालत करने के लिए पढ़ने लिखने में तो आँखों की आवश्यकता थी। और वह काम नेत्र हीन होते हुए किया नहीं जा सकता। दूसरे अलपाई वाला ने अपने जीवन का उद्देश्य ही बना लिया था, वह था लोक सेवा। सेवा साधना में भी आंखों की आवश्यकता होती है लेकिन कुछ ऐसे कार्य भी है जिनमें नेत्रों का अभाव बाधा नहीं बनता ऐसा ही एक कार्य अलपाई वाला ने चुना—शिक्षण और वे कानून से छुटकारा पाकर शिक्षण संस्थाओं में पढ़ाने लगे। आरम्भ में अध्यापन ट्यूशन के रूप में चला लेकिन वहीं तक सीमित नहीं रहा। अलपाई वाला असाधारण स्मरण शक्ति के धनी तो थे ही अपने पूर्वाजित ज्ञान का लाभ वे इसी शक्ति के माध्यम से छात्रों को बांटते रहे।

उनकी प्रतिभा लगन और निष्ठा से प्रभावित होकर न्यू-ईश स्कूल के प्रवन्धकों ने अपनी शिक्षण संस्था का मन्त्री भी उन्हें नियुक्त किया। और दस वर्षों तक वे इस पद पर कार्य करते रहे उनके अध्ययन का ढंग निराला ही था, किताबों का सहारा लेने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता था। जो कुछ भी वे पढ़ाते केवल पूर्वाजित ज्ञान के आधार पर। यह आधार इतना सुदृढ़ था कि उन्हें कभी किसी की सहायता के लिए मुंह नहीं ताकना पड़ा। बिना किसी से कोई सहयोग लिए वे धारा प्रवाह पढ़ाते चलते। इस अध्ययन शैली से वे छात्रों में श्रद्धा और आदर के पात्र बने।

उनके संपर्क में जो भी आता प्रभावित हुए बिना

नहीं रहता। कहाँ तो मात्र आखों की ज्योति कम पड़ जाने पर ही जीवन से हार मान बैठ लेने वाले लोग और कहाँ यह नेत्र हीन अध्यापक जो इस स्थिति में जीवन के प्रति आशा वान तथा भविष्य के प्रति सजग है। अध्यापन काल के दौरान ही उन्होंने समाज सेवा में अपनी भूमिका स्थिर कर ली थी और उसे निभाने की तैयारी कर ही रहे थे कि तहमीना पाथा नामक एक युवती से उनका परिचय हुआ। उस समय अलपाई वाला पंचगमी स्कूल में पढ़ा रहे थे। तहमीना उनके संपर्क में आयी तो भविष्य के प्रति इतनी आशा और जीवन के प्रति इतनी आस्था रखने वाले युवक से प्रभावित हुए बिना न रही। उनकी सेवा साधना के भावी कार्यक्रमों से जब परिचय हुआ वह तो स्वयं को भी सहयोगिनी सहचरी के रूप में प्रस्तुत करने से नहीं चूकी। घर वाले तथा हम जोली सहेलियों ने उन्हें बहुत समझाया कि—एक नेत्र हीन से शादी कर अपने जीवन से खिलवाड़ करना अलाभप्रद ही है। इन समझाईशों पर प्रायः वे यही उत्तर देती—यदि मैं आंख वाले युवक से शादी करूं और वह शादी के बाद अन्धा हो जाय तो आप क्या मुझे अपने कर्तव्य से पलायन करने के लिए सलाह देंगी।

जीवन साथी के रूप में वरण करने का प्रस्ताव जब अलपाई के सामने रखा गया तो उन्होंने भी यह कदम उठाने से पहले भली भांति विचार करने के लिए कहा। तहमीना जब अपने निश्चय पर डटी रही तो ये दोनों विभूतियां सहचरत्व के सूत्रों में आबद्ध हो गयी। अलपाई वाला तथा तहमीना दोनों एक दूसरे के हृदय को समझ कर अपने सपनों को साकार करने की योजनायें बनाने लगे।

बम्बई में तब डा० नील कण्ठ राय तथा उनके भाई हरि प्रसाद छत्रपति नेत्र हीनों के लिए विक्टोरिया मेमोरियल स्कूल चला रहे थे। वे किसी योग्य तथा नेत्रहीनों के दर्द को जानने वाले प्रतिभाशाली व्यक्ति की तलाश में थे। छत्रपति बन्धु यह शिक्षण संस्था केवल सेवा भावना से ही चला रहे थे इसलिए उनके मन में इस कार्य को और अधिक प्रगति देने की योजना थी। सन् १९१९ में उनका परिचय अलपाई वाला से हुआ। स्वयं अलपाई वाला भी अपनी सेवा साधना को और मुखर रूप में देखने के लिए उत्सुक थे। अतः वे अपनी समस्त प्रवृत्तियों को समेट कर इन दोनों के साथ आ मिले। तीनों ने मिल कर नेत्र हीनों की समस्याओं पर विचार विमर्श किया।

उस समय दसियों ब्रेललिपियाँ प्रचलित थीं। जबकि सभी भारतीय भाषाओं के लिए एक ही लिपि का होना सुविधा जनक रहता। लेकिन एक एक भारतीय भाषा के लिए दो दो तीन तीन लिपियों का प्रचलन भी था। नेत्रहीनों के लिए एक बड़ी समस्या थी यह क्योंकि वैसे ही ब्रेललिपि में उपलब्ध साहित्य पुस्तकें आवश्यकता की दृष्टि से अपर्याप्त थी और उस पर भी इतनी सारी लिपियाँ एक लिपि का जानकार दूसरी लिपि में उपलब्ध पुस्तकों से समुचित लाभ ले ही नही पाता था। अतः प्रथमतः आवश्यक समझा गया कि एक ब्रेल लिपि का प्रचलन किया जाय। इस दिशा में अलपाई वाला ने प्रबल प्रयत्न किये १९२३ में बहरों व अन्धों के एक सम्मेलन में उन्होंने यह प्रश्न उठाया, १९२८ में आल इण्डिया टीचर्स एसोसियेशन को ब्रेल लिपि के सम्बन्ध में एक पत्र लिखा सन् ४१ में भी सरकार द्वारा गठित ब्रेल संकेत समिति को अपने निष्कर्षों तथा खोजों के महत्वपूर्ण तथ्यों से अवगत कराया। यही नहीं उन्होंने इस दिशा में रचनात्मक कार्य करने का बीड़ा भी उठाया।

१९४७ में अलपाई वाला तथा उनके मित्रों ने मिलकर सूरत में एक ऐसी संस्था खोलने का विचार किया जिसके पदाधिकारी तथा कार्यकर्ता अन्धे ही हों। इस स्थापना का उद्देश्य नेत्र हीनों के जीवन में आशा का प्रकाश फैलाना था। और कुछ दिनों में ही वे अपने विचार को मूर्त रूप देने में सफल हुए। उनने मंगुलाल शाह, सिराज बसराई, सरदार दावर आदि जैसे व्यक्तियों से मिलकर ब्लाइण्ड मेंस सोसायटी की स्थापना कर ली

इस प्रकार उत्तरोत्तर वे अपने आपको समाज सेवा के रचनात्मक कार्यों में लगाते गये। उनके द्वारा की गयी सेवाओं के सम्बन्ध में यह कहना उपयुक्त ही होगा। कि स्वयं नेत्रहीन होते हुए भी उन्होंने नेत्र हीनों के जीवन में आशा की ज्योति जगाने का प्रयास किया और एक सीमा तक वे सफल भी हुए।

मुद्रण कला के आविष्कारक—गुटेन वर्ग

जो डाइंत्स नगर आज पश्चिमी जर्मनी के क्षेत्राधिकार में है कभी सोने के आभूषण बनाने के लिये ठीक उसी प्रकार विख्यात था जिस प्रकार दमिश्क अपनी तलवारों के लिये। सैकड़ों कारीगर यहां सोने के गहने बनाने का काम सदियों से करते आ रहे थे पर किसी के मस्तिष्क में वैसा विचार नहीं आया जैसा पन्द्रहवी शताब्दी के मध्य में गुटेन वर्ग के मस्तिष्क में आया था। गुटेनवर्ग भी स्वर्णाभूषण गढ़ने वाला एक साधारण सा कारीगर था पर उसने अपने इस विचार को क्रियात्मक अभिव्यक्ति दी तो ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में एक क्रान्ति उत्पन्न हो गयी।

प्रसिद्ध पाश्चात्य विचारक—लेखक विक्टर ह्यूगो के शब्दों में "मुद्रण कला का आविष्कार इतिहास की सबसे बड़ी घटना है। वह समस्त क्रान्तियों की जनक है……… मुद्रित विचार शाश्वत हो जाते हैं उन्हें जैसे अस्पृश्य अविनश्वर पंख लग जाते हैं। वे पक्षियों के झुण्ड की तरह उड़ान भरते हैं, एक साथ चारों दिशाओं में फैल जाते हैं।

ज्ञान कला और विचारों को यह शाश्वतता और सहज सुलभता का माध्यम देने के कारण गुटेन वर्ग मानव इतिहास के एक अमर पात्र बन गये उन्होंने मुद्रण कला का आविष्कार तथा प्रचार करने के लिये जीवन भर अथक श्रम और संघर्ष किया था। मानवता को उनकी यह देन निस्संदेह अतुलनीय है।

ज्ञान के प्रकाश को राजा के महल से लेकर रंक की कुटिया तक में पहुँचाने वाले सशक्त माध्यम के दाता, गुटेन वर्ग का जन्म पन्द्रहवी शताब्दी के दूसरे दशक के अन्तिम चरण में जर्मनी के माइन्त्स नगर में हुआ था। तब यह स्वर्णाभूषण गढ़ने का केन्द्र होने के कारण सोने का माइन्त्स कहलाता था। इसी सोने के माइन्त्स ने मानवता के हीरक गुटेन वर्ग को उपजाया था। उनके पिता एक सामन्त परिवार से सम्बन्धित थे।

गुटेन वर्ग का मानस सामन्ती रंग ढंग का न होकर एक कलाकार के एक आविष्कारक के स्तर का था। अतः युवा गुटेन वर्ग ने सोने के आभूषण गढ़ने की कला सीखी औरस्वर्ण भूषण बनाने का काम करने लगे। आभूषणों के साथ-साथ उन्हें कभी-कभी अक्षर गोदने का काम भी करना पड़ता था। इसी काम को करते-करते उनके मस्तिष्क में एक दिन मुद्रण कला के आविष्कार की बात आयी और उन्होंने सोने के स्थान पर शीशे के अक्ष ढाल कर जो कला आरम्भ की वह सोने के आभूषणों से लाख गुना मूल्यवान और उपयोगी सिद्ध हुई।

अधिकांश व्यक्ति काम करते हैं तो उसके पीछे उनकी यही दृष्टि रहती है कि उस काम को करने के कारण वे कुछ कमालेंगे और उससे उनका तथा उनके परिवार का गुजारा चल जायेगा। ऐसे व्यक्ति सामान्य ही बनकर रह जाते हैं। किन्तु जो अपने काम में कलाकार व वैज्ञानिक का दृष्टिकोण रख कर चलते हैं। इसमें कतिपय सुधार या विकास हो सकता है अथवा ऐसा करने से कोई नयी बात बन सकती है। ऐसी पकड़ रखने वाले व्यक्ति सामान्य की श्रेणी लाँघ कर विशिष्ट व्यक्तियों अन्वेषकों, कलाकारों आदि की पांत में आ विराजते हैं। गुटेन वर्ग की दृष्टि भी उसी प्रकार की थी। कुछ नया खोजने की प्रसुप्त मानवीय प्रतिभा को उन्होंने सोया नहीं पड़ा रहने दिया। उसी का परिणाम यह है कि माइन्त्स नगर के उन हजारों कारीगरों को आज तक कोई नहीं जानता वे अतीत के गर्भ में लुप्त हो गये जबकि गुटेन वर्ग का नाम अमर हो गया।

एक दिन काम करते-करते ही उनके मस्तिष्क में यह बात आयी कि जिस प्रकार सोने के आभूषण बनाने में ठप्पों का प्रयोग होता है वैसे ही धातु के अक्षर ढालकर उनसे छपाई का काम किया जाय तो ज्ञान विज्ञान कला में जो प्रगति हो रही है उसका लाभ थोड़े से सामर्थ्यवानों तक सीमित न रहकर जन सामान्य को भी मिलने लग जाय। उन्हें अपनी यह कल्पना उपयोगी और व्यवहार्य लगी। उन्होंने इस विषय में खूब चिंतन किया।

अक्षर कैसे हों, उन्हें जोड़ा कैसे जाय, छपाई कैसे

की जाय, छापने की मशीन कैसी हो इन सब बातों पर उन्होंने मस्तिष्क को खूब व्यायाम कराया। काफी जोड़ तोड़ के बाद उनके मस्तिष्क में भावी मुद्रणालय की पूरी योजना तैयार हो गयी।

योजना तो उन्होंने बनाली पर मात्र योजना से ही तो सब कुछ नहीं हो जाता, उसकी क्रियान्विती के लिये केवल मस्तिष्क ही नहीं भौतिक साधन भी तो चाहिए थे। छापाखाना खोलने के लिये, उपकरण बनाने के लिये जो धन आवश्यक था वह उनके पास नहीं था। इसके लिये उन्हें धनिकों के द्वार खटखटाने पड़े। उनकी इस योजना में माइन्त्स नगर के योहान्स फुस्ट नामक धनी व्यापारी ने दिलचस्पी ली। योहान फुस्ट पक्का व्यापारी था, जिसका मनुष्यता से दूर का भी रिश्ता नहीं था। उसे उनकी योजना सो पसन्द आ गयी पर उसका दृष्टि कोण दूसरा ही था उसने अपने स्वार्थी स्वभाव के कारण लोकोपयोगी कार्य सम्पादित करने वाले गुटेन वर्ग को आर्थिक सहयोग देने के साथ ही उनका शोषण करने की योजना भी बना ली थी। फुस्ट उन्हें ब्याज पर आठ सौ गुल्डन धन राशि देने को तैयार हो गया।

योहान फुस्ट से आठ सौ गुल्डन कर्ज लेने के कारण आगे चल कर गुटेन वर्ग को बहुत परेशान होना पड़ा। वे दूसरों को भी अपनी ही तरह सरल मानते थे। अतः वे फुस्ट की कुटिलता का अनुमान लगाने में असफल रहे थे। व्यक्ति की परख का गुण होना किसी के लिये कितना आवश्यक है यह पता गुटेन वर्ग और योहान फुस्ट की इस संविदा से लगता हैं। इसे भी एक कमी ही कहना चाहिए उनके व्यक्तित्व की। हम स्वयं ईमानदार हैं तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि दूसरे भी सभी ईमानदार होंगे, ऐसा होता नही इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को आदमी को परखने की समझ पैदा करनी चाहिए।

गुटेन वर्ग ने दो वर्ष की तैयारी के बाद अपना मुद्रणालय आरम्भ कर दिया। पेरिस विश्व विद्यालय के कातिव श्याफर को उन्होंने अपना सहायक नियुक्त किया।

धन की कमी पड़ जाने के कारण उन्हें फुस्ट से आठ सौ गुल्डन और उधार लेने पड़े। इस प्रकार फुस्ट का शिकंजा उन पर कसता ही गया। कुटिल फुस्ट आर्थिक सहयोग देकर उनके मुद्रणालय को ही हड़प कर जाने की गिद्ध दृष्टि लगाये बैठा था।

सर्वप्रथम उन्होंने ४२ भागों वाली बाइबिल की १८० प्रतियां तैयार कीं। यह छपाई बहुत ही सुन्दर तथा सुसज्जित थी। इसके लिये गुटेन वर्ग ने विशेष श्रम किया था ताकि पहले पहले ही मुद्रण कला का सुन्दर स्वरूप लोगों के सामने रख सकें। उनकी स्मृति में बनाये गये, संग्रहालय में उस बाइबिल की एक प्रति आज भी रखी हुई है।

गुटेन वर्ग अपनी इस सफलता पर बहुत हर्षित हुए। होते क्यों नहीं। नव सृजन का सुख कितना आल्हादक होता है यह सभी जानते हैं। उनकी मुद्रण कला की सर्वत्र प्रशंसा हुई।

व्यापरी योहान फुस्ट दूसरी ही बात सोचे, घात लगाए बैठा था। उसने दूसरा ग्रंथ छापने के लिये उन्हें धन उधार नही दिया। वह तो ईश्वर प्रदत्त इस विभूति को अपने ही घृणित स्वार्थ में नियोजित करने का अपराध कर रहा था। वह तो पहले वाला कर्ज चुकाने के लिये भी तकाजे पर तकाजे करने लगा।

गुटेन वर्ग ने फुस्ट को अपने कार्य की उपयोगिता समझाते हुए उससे निवेदन किया कि वह यदि उन्हें और धनराशि कर्ज नहीं देना चाहे तो न दें पर उनके कार्य में यों अड़ंगा न डाले। उसके पैसे मिल जाएंगे। पर फुस्ट तो पूरा घाघ था। उस पर इन बातों का क्या प्रभाव पड़ता। फलतः दोनों में तना तनी हो गयी।

फुस्ट ने कानून का सहारा लिया। न्यायालय में उसने गुटेन वर्ग पर १६०० गुल्डन मूल और ४२६ ब्याज धन का दावा दायर कर दिया। गुटेन वर्ग के पास इतनी धनराशि कहाँ थी? न्यायाधिकारी ने कर्ज न चुकाने की स्थिति में फुस्ट को गुटेन वर्ग के मुद्रणालय और उसमें छपी हुई बाइबिल की प्रतियों पर अधिकार दिलवा दिया। फुस्ट की इस स्वार्थन्धता की निन्दा भी हुई पर गुटेन वर्ग के मार्ग में तो बड़ी बाधा उत्पन्न हो गयी।

गुटेन वर्ग अब फिर खाली हाथ थे। उनके साथ जो गुजरी थी उसे देखते हुए यदि वे कमजोर दिल गुर्दे के होते तो सदा के लिये चुप रह जाते पर वे भी कम

जीवट के आदमी नहीं थे।

पुनः मुद्रणालय स्थापित करने के मार्ग में बाधक था अर्थाभाव। इस अभाव की पूर्ति के लिये उन्हें पुनः धन पतियों के द्वार खटखटाने पड़े। वे फुस्ट के व्यवहार पर दुखी अवश्य थे पर निराश नहीं हुए थे। वे जानते थे कि व्यक्ति के गुण-कर्म स्वभाव को एकदम वदला नहीं जा सकता और वे यह भी जानते थे कि सभी मनुष्य एक से नहीं होते। वे धनियों के पास अपनी योजनाएं लेकर जाने लगे। अन्त में माइन्त्स नगर की सिन्डीकेट के सदस्य डा० कान्राड हमरी ने उनके जनोपयोगी कार्य का उचित मूल्यांकन किया और फुस्ट के अधिकार में गये मुद्रणालय का एक भाग खरीद कर उसका कार्य भार गुटेन वर्ग को सोंप दिया। यही नहीं मुद्रणालय को सुचारु रूप से चलाने के लिये अपेक्षित धन भी उन्होंने गुटेन वर्ग को दिया।

गुटेन वर्ग अबकी वार दुगुने उत्साह के साथ अपने काम में जुट गये। उन्होंने मुद्रण पद्धति व मशीन में भी इस वार कुछ आवश्यक सुधार किये और 'कैथोलिकन' नामक एक सम्पूर्ण विश्वकोप छापा। इसकी छपाई पहले वाली वाइविल की तरह सुसज्जित तो नही थी पर उससे कुछ अधिक साफ व सुघड़ थी।

उनका मुद्रणालय व्यवस्थित रूप से चल निकाला। फिर भी अभी उनकी परीक्षा का समय व्यतीत नहीं हुआ था। जर्मनी की राजसत्ता पाने के लिये उत्तराधिकारियों में युद्ध होने लगा। इस युद्ध के दौरान माइन्त्स नगर के एक भाग में आग लगा दी गयी। उनके मुद्रणालय को इस अग्नि काण्ड से काफी क्षती पहुँची। विवश हो उन्हें दूसरे नगर चले जाना पड़ा।

१४६३ में माइन्त्स आदि नगरों के नये सत्ताधीश अडोलफ फान नस्साड ने उनके कार्य का महत्व समझा और उन्हें एल्टविले नगर में एक अच्छा प्रेस खोलने के लिये आमन्त्रित किया। उन्होंने वहां एक प्रेस खोला। एल्ट विले के वोल्टर म्युत्से परिवार के उत्साही युवकों को प्रशिक्षित करके प्रेस व्यवस्था का भार उन्हें सौंप कर वे माइन्त्स नगर आ गये।

जिस मुद्रण कला का आविष्कार उन्होंने किया था उसके प्रचार प्रसार के लिये भी गुटेन वर्ग ने बहुत काम किया। उनकी यह मुद्रण कला द्रुतगति से लोक प्रिय होती गयी। स्थान २ पर मुद्रणालय खुलने लगे। सन् १५०० तक २६० नगरों में मुद्रणालय खुल गये। इन मुद्रणालयों में ४०,००० पुस्तकें छापी गयीं। मुद्रण कला १४७७ में इग्लैण्ड में, १५०३ में तुर्की में, १५५३ में रूस में १५५४ में पीरू में, १६३९ में उत्तरी अमेरिका में, १७९९ में मिश्र में तथा तदनन्तर सारे विश्व में फैल गयी। आज तो प्रत्येक देश के प्रत्येक वड़े गाँव में भी तो एक आध प्रेस देखने को मिल ही जाता है। यह सब गुटेनवर्ग की खोज का परिणाम है।

उनके द्वारा आरम्भ की गयी मुद्रण कला में अब तक बहुत विकास हो चुका है। सेनेफेल्डर ने मुद्रण कला में लीथोग्राफी का चलन करके चित्र कला को भी सर्व सुलभता का माध्यम प्रदान किया।

प्राचीन काल में ज्ञान को सुरक्षित रखने और वृद्धि गत करने का एक ही माध्यम था सुनकर स्मरण रखा जाना। हमारे वेदादि ग्रन्थों को श्रुति इसी कारण कहते हैं। यह हर व्यक्ति के लिये सम्भव नहीं था। इस कारण ज्ञान का प्रकाश थोड़े से लोगों अन्तःकरण तक पहुँच पाता था। ये थोड़े से लोग के समाज के मार्ग द्रष्टा बनते थे। धीरे-धीरे लिपि, लेखन, कागज आदि के आविष्कार हुए तो उसकी सुलभता और शाश्वतता में वृद्धि हुई। उसे मुद्रण कला ने और भी विस्तृत कर दिया।

२४ जून १९६२ को गुटेन वर्ग की स्मृति में बनाये गये एक संग्रहालय का उद्घाटन किया गया है। इस संग्रहालय में १५ वीं सदी के वे सभी यन्त्रोपकरण जुटाये गये हैं जिन्हें गुटेन वर्ग ने बनाया था वे। वे जिस ढंग से मुद्रण किया करते थे, वैसा का वैसा मुद्रणालय, कागज मशीनें, टाइप कम्पोजिंग का सामान, वाइण्डिंग विभाग आदि निर्मित किया गया है। इस संग्रहालय के निर्माण में लाखों रुपये व्यय हुए हैं। इस संग्रहालय को पहले वर्ष में ही ६० देशों के सत्तर हजार दर्शकों ने देखा।

यह सब गुटेन वर्ग की यश कीर्ति को स्थायी बनाने के लिये किया गया है। किन्तु गुटेन वर्ग ने अपने जीवन में तो सम्मान और सुख कम तथा दुख और आपदाएं ही अधिक झेली। कभी उन्हें आर्थिक सहयोग के लिये

धनिकों के द्वार द्वार भटकना पड़ा तो कभी अपने मुद्रणालय को युद्ध जनित विनाश से बचाने के लिये मुद्रणालय की मशीनों और उपकरणों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ढोते रहना पड़ा। स्वार्थी लोगों के जाल में फंस कर अपमानित भी होना पड़ा था, उन्हें

गुटेन वर्ग ने यह सब किया क्यों कि उनकी दृष्टि दूर गामी थी। वे वर्तमान की नही भविष्य की बात सोचते थे। इस कारण उन्हें विपरीत परिस्थितियों से जूझने में भी एक आनन्द आया। वे उनसे एक योद्धा की तरह जूझते रहे। उसी का परिणाम है कि आज उनकी स्मृति को स्थायित्व प्रदान करने की बात सोची गयी। गुटेन वर्ग के मन मस्तिष्क में उनके द्वारा खोजी गयी इस पद्धति के द्वारा मानव समाज के भविष्य में होने वाले हिंत की सुनहरी कल्पना रही होगी।

जो लोग मानव समाज के भावनात्मक नव निर्माण के लिये—सम कालीन विकृतियों को समाप्त करने के लिये, यदि वैसी ही कल्पनाएं करते हो जैसी गुटेन वर्ग ने की थी और उन्हीं की तरह आपदा, संघर्ष व अपमान झेलते रहे हों तो इसका अर्थ यह नही कि उन्हें भविष्य में भी वही सब मिलने वाला है। जो यह मानकर चलते हैं कि जिस किसी कार्य का उद्देश्य 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' की लोकोपयोगी रीति नीति पर आधारित है, उसकी सार्थकता सुनिश्चित है। वे अपने जीवन में ऐसा कोई कार्य सम्पादित कर जाते हैं जो उनकी स्मृति को स्थायी बना देता है। गुटेन वर्ग का जीवन इसी सत्य का परिचायक है।



एक राजा वन भ्रमण के लिए गया। रास्ता भूल जाने पर भूख प्यास से पीड़ित वह एक वनवासी की झोंपड़ी पर जा पहुँचा। वहाँ से आतिथ्य मिला तो जान बची।

चलते समय राजा ने उस वनवासी से कहा—हम इस राज्य के शासक हैं। तुम्हारी सज्जनता से प्रभावित होकर अमुक नगर का चन्दन बाग तुम्हें प्रदान करते हैं। उसके द्वारा जीवन आनन्दमय बीतेगा।

वनवासी उस परवाने को लेकर नगर के अधिकारी के पास गया और बहुमूल्य चन्दन का उपवन उसे प्राप्त हो गया। चन्दन का क्या महत्व है और उससे किस प्रकार लाभ उठाया जा सकता है, उसकी जानकारी न होने से वनवासी चन्दन के वृक्ष काटकर उनका कोयला बनाकर शहर में बेचने लगा। इस प्रकार किसी तरह उसके गुजारे की व्यवस्था चलने लगी।

धीरे-धीरे सभी वृक्ष समाप्त हो गये। एक अन्तिम पेड़ बचा। वर्षा के कारण कोयला न बन सका तो उसने लकड़ी बेचने का निश्चय किया। लकड़ी का गट्ठा लेकर जब बाजार में पहुँचा तो सुगन्ध से प्रभावित लोगों ने उसका भारी मूल्य चुकाया। आश्चर्य चकित वनवासी ने इसका कारण पूछा तो लोगों ने कहा—यह चन्दन काष्ठ है। बहुत मूल्यवान् है। यदि तुम्हारे पास ऐसी ही और लकड़ी हो तो उसका प्रचुर मूल्य प्राप्त कर सकते हो।

वनवासी अपनी ना समझी पर पश्चात्ताप करने लगा कि उसने इतना बड़ा बहुमूल्य चन्दन वन कौड़ी मोल कोयले बनाकर बेच दिया। पछताते हुए नासमझ को सान्त्वना देते हुए एक विचारशील व्यक्ति ने कहा—मित्र, पछताओ मत, यह सारी दुनिया तुम्हारी ही तरह नासमझ है। जीवन का एक-एक क्षण बहुमूल्य है पर लोग उसे वासना और तृष्णाओं के बदले कौड़ी मोल में गँवाते रहते हैं। तुम्हारे पास जो एक वृक्ष बचा है उसी का सदुपयोग करलो तो कम नहीं। बहुत गँवाकर भी कोई मनुष्य अन्त में सँभल जाता है तो वह भी बुद्धिमान ही माना जाता है।

हम निराशा के चंगुल से अपने को मुक्त रखें

मानव शुभ सङ्कल्पों के निकुंज को ही आशा की संज्ञा दी गई है। प्राणियों में वह अमृत है। जैसे सारा वनस्पति—जगत सूर्य से परिपोषण पाता है वैसे ही मनुष्य में आशायें शक्ति का संचार करती हैं। मनुष्य की प्रत्येक उन्नति जीवन की सफलता, जीवन लक्ष्य, की प्राप्ति का संचालन आशाओं द्वारा उत्प्रेरित होता है। यदि आशाओं के दीप बुझ जाय तो संसार की प्रगति पर विराम चिन्ह लग जाय एवं सम्पूर्ण वातावरण नीरस अव्यक्त एवं निश्चेष्ट सा प्रतिभासित होने लगे। अस्तु भारतीय आचार्यों ने सदा-सर्वदा समाज को यही समझाने का प्रयास किया है।

निराशायाँ समंपापं मानवस्य न विद्यते।
तां समूलं समुत्सार्थ ह्याशावाद परोभव ॥

"मनुष्य के लिए निराशा से बढ़कर दूसरा कोई पाप नहीं इसलिए इसका समूल नाश करके आशावादी बनाना धर्म है।" मानवोत्कर्ष का आधार आशावादिता को मानते हुए उन्होंने आगे और भी कहा है :—

मानवस्योन्नतिः सर्वासाकल्यं जीवनस्य च।
चरितार्थं तथा सृष्टे राशावाद प्रतिष्ठितम ॥

संसार में आने के उद्देश्य की पूर्ति हेतु हे मनुष्यों! तुम्हें सर्वप्रथम आशावादिता का आश्रय लेना चाहिए।

इस संसार के समस्त क्रिया कलाप आशाओं से परिचालित होते हैं। उत्तीर्ण होने की बलवती आशा ही छात्रों को लगन से अध्ययन में जुट पड़ने के लिए उत्प्रेरित करती है। विशिष्ट व्यक्तियों में अपनी विशिष्ट छाप छोड़ने की आशायें एवं अभिलाषायें होती हैं तभी वे असाधारण कार्य करने में विशेष तत्पर दीख पड़ते हैं।

मानव अपने परिवेश की कठपुतली ही नहीं है वरन् वह अपने भाग्य का स्वयं निर्माण करता है और ऐसा करने में तभी वह समर्थ है जब वह आशावादी हो।

अनेकानेक असाध्य रोगों में भी प्रायः देखा गया है कि रोगी यद्यपि जीवन की आश छोड़ बैठा है तथापि एक कुशल चिकित्सक उसमें जीवन की आशा पुनः आलोकित करके उसे कराल काल के गाल में जाने से बचा लेता है। आशा से मस्तिष्क—संस्थान को शक्ति मिलती है और यही संस्थान शरीर के अन्य सभी संस्थानों का पूर्ण नियन्त्रण करता है। अस्तु अपनी प्राण-रक्षा हेतु मनुष्य को चिरन्तन आशावादी होना चाहिए न कि सदा सर्वदा ही उसे नैराश्य नीर टपकाना चाहिए। आशा की किरण शाश्वत नव सृजन का संदेश देती है। इसके लोप होने से जीवन ज्योति टिमटिमाते तारे की भाँति कभी भी बुझ सकती है।

ठीक ही कहा गया है कि डूबते को एक तिनके का सहारा पर्याप्त होता है। सैनिक अदम्य साहस से रणक्षेत्र में जूझते हैं क्योंकि उनमें राष्ट्रीयता की उमंगें होती हैं और साथ ही उनमें सामान्य रूप से ये आशायें होती हैं कि मरणोपरान्त भी वे शहीदों की श्रेणी में समादृत होंगे।

आशायें जीवन में शुभ-संकेतों की परिचायक हैं। इनके सहारे मानव घोर आपदाओं एवं दुश्चिन्ताओं को सहर्ष जीत लेता है। चिर-शाश्वत संसार का रोना रोने वाले अर्द्ध मृत से लगते हैं जबकि आशावान व्यक्ति पौरुष के लिए सदैव समुद्यत रहता है और उसके प्रयास से मिट्टी सोना उगलने लगती है। आशावान व्यक्ति दूसरों का पराश्रित नहीं होता वह औरों के आगे अपना हाथ प्रसारण नहीं करता प्रत्युत उनको जीवन देता है सफलता ऐसे ही व्यक्तियों की आरती उतारती है जो जीवन के प्रति आशावान दृष्टिकोण रखते हैं।

हमें अपने जीवन में नित-नव आशाओं के दीप प्रज्वलित रखना चाहिए। परन्तु यह तभी संभव है जब जीव जगत एवं ईश्वर में हमारी दृढ़ आस्था हो। ईश्वरी इच्छा से ही भगवत प्रेम का स्फुरण होता है। विकट से विकट परिस्थतियों में भगवान का ध्यान करने से कोई न कोई समाधान निकल आता है। अस्तु नित नूतन आशाओं का संवरण उपेक्षित नहीं होना चाहिए।

आशावादी व्यक्तियों से ही समाज का पोषण होता

है। वे विशाल वट-वृक्ष की भाँति औरों को शीतल छाया प्रदान करते हैं ताकि उनके व्यक्तित्व का विकास अवगुण्ठित न हो। निराशावादी व्यक्तियों से चतुर्दिक के वातावरण में असन्तुलन पैदा होने लगता है जिसमें लोगों को घुटन होने लगती है। पर छिद्रान्वेशण, ईर्ष्या-द्वेष एवं मनोमालिन्य उन्हें ही लपेटता है जो निराशावादी होते हैं। आशावादी व्यक्ति सर्वत्र मंगल देखते हैं। कठिनाईयों में भी —वे सम्भाव्य मंगल की कामना करते हैं। वे हर क्षण विश्व में सौन्दर्य एवं माधुर्य का आलोक दर्शन करते हैं तथा उनके दर्द के सुर में प्रणीत गीत भी मधुरतम होते हैं। एवं नव-सृजन को उकसाते हैं। निर्धनता एवं अभाव में भी वे हतोत्साहित नहीं होते। जीवन पथ पर वे सदा प्रयाण गीत गाते उत्तरोत्तर बढ़ते चलते हैं। इस प्रकार इस धरती का संवरण आशावादी व्यक्तियों द्वारा ही सभव दीखता है।

आशा एवं आत्म-विश्वास परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। जैसे अग्नि में ऊष्मा स्वाभाविक है उसी प्रकार आशावादी व्यक्ति का आत्म विश्वासी होना भी आवश्यक है। आत्म-विश्वास से आन्तरिक शक्तियाँ जागृत होती हैं और इन शक्तियों के केन्द्रित प्रयास से असाधारण सफलतायें मिल सकती हैं।

निराशा एक मानवीय दुर्गुण है जो मानसिक शक्तियों को लुञ्ज पुञ्ज कर देता है। निराशावादी व्यक्ति अपने प्रत्येक प्रयास में असफल रहता है। जहाँ आशा नहीं वहाँ प्रयास नहीं और विना प्रयत्न के प्रयास के ध्येय की प्राप्ति कदापि संभव नहीं है।

विचारक स्वेट मार्डन के मतानुकूल निराशावाद भयङ्कर है जो हमारे नाश के ताक में बैठा रहता है।" निराशावादी प्रगति की भावना का परित्याग कर देते हैं। यदि कभी भी उन्हें उन्नति का ध्यान आया तो विपत्तियों का पहाड़ उन्हें दिखाई पड़ने लगता है। कार्य प्रारम्भ भी नहीं हुआ कि चिन्ताओं के बादल मँडराने लगे। प्रयास आरम्भ के पूर्व ही वे अधमरे हो जाते हैं जबकि आशा-वादी व्यक्ति संहर्ष कार्यारम्भ करता है। सतत् गतिवान बने रहने हेतु कठिनाइयों को भी सहायक एवं प्रेरणा सूत्र मानकर चलता है तथा अन्त तक सोत्साह पूर्व-नियोजित कार्य में तत्पर एवं सन्नद्ध रहता है जिसके परिणामस्वरूप उसकी आशायें पुष्पित एवं फलवती होती हैं। अस्तु आशा को जीवन एवं निराशा को मृत्यु ही मानना समीचीन जान पड़ता है।

आशावादी व्यक्ति ही कर्मों के रहस्य को जानता है। उसका दृष्टिकोण व्यापक होता है। वह जो कर्म करता है, समष्टि-हित में करता है।

हमें हर घड़ी सुन्दर स्वर्णिम भविष्य की आशा एवं कामना करनी चाहिए। जीवन का यह उद्देश्य नहीं है कि हम श्रान्त पथिक से राह में रुक जाँय। हमें तो निरन्तर बढ़ते चलना है उस सीमा तक जिसके आगे राह नहीं है। इच्छा क्रिया एवं ज्ञान के समाञ्जस्य से हमें पूरे विश्व की मानवता का परिचालन-भार ग्रहण करना चाहिए।

ईश्वर को प्राप्त करना कोई सहज बात नहीं है। वह अति दुस्तर और कठिनाई से जाना जा सकता है। इस संसार में बहुत सुखद पदार्थ हैं। धन, यौवन, दीर्घ जीवन, राज-सिंहासन और तू कहे तो मैं तुझे अनन्त काल तक सुखभोग करने वाली सामर्थ्य प्रदान कर सकता हूँ, मगर तू ब्रह्म को जानने का हठ न कर।" ऋषि-पुत्र नचिकेता ने सारी बातें ध्यान से सुनीं। यमाचार्य के कथन में उन्होंने कोई रोक-टोक नहीं की।

यमराज ने सम्भाषण समाप्त किया तो उसी सरलता के साथ नचिकेता ने जवाब दिया— "देव! बहुत सुखोपभोग प्राप्त कर लेने पर भी क्या मेरा जीवन बना रहेगा। फिर भोगों से तृप्ति भी नहीं होती इसलिए अपना धन, अपना ऐश्वर्य, राज-सिंहासन तथा नाच-गान आप अपने ही पास रखें। मुझ पर यदि प्रसन्न हों तो वही उपदेश दें जिससे मेरा आत्म कल्याण हो। नचिकेता की दृढ़ता पर यमराज प्रसन्न हुए और उसे ब्रह्म विद्या का ज्ञान कराया।

राष्ट्रीय स्वाभिमान के रक्षक—बालाजी विश्वनाथ

पश्चिमी घाट के जंजीरा वाद नामक प्रदेश का अधिपति कासिम अपनी वहु संख्यक पर असंगठित हिन्दू प्रजा पर मन माने अत्याचार किया करता था। उसकी इस क्रूरता का प्रेरक दिल्ली पति औरंगजेब था। कासिम छत्रपति शिवाजी के समय से ही हिन्दुओं की अन्याय के विरुद्ध उठती हुई शक्ति को कुचलने का कुप्रयास करता रहता था।

महाराष्ट्र में उन दिनों जागरण की लहर उठ रही थी। कान्होजी आंग्रे नामक एक महाराष्ट्रीयन योद्धा ने थोड़े से नवयुवकों की सेना गठित कर तट प्रदेश पर अधिकार कर लिया। उसके अपने युद्ध पोतों और जावांज साथियों के कारण कासिम की नींद हराम हो गयी थी। कान्होंजी आंग्रे की शक्ति दिन पर दिन वढ़ती जा रही थी। वह कासिम के अपनी हिन्दू प्रजा पर अत्याचार करने के मार्ग में वाधा वनता जा रहा था।

कासिम और कान्होंजी आंग्रे के वीच चलने वाले संघर्ष में चिपलून जिले के मीठवन्दर नामक स्थान के नमक व्यापार के ठेकेदार और जिले के कर उगाहने के ठेकेदार युवक वालाजी ने अपने स्वधर्मी और देश के हित में संघर्ष करने वाले कान्होजी आंग्रे का पक्ष लिया। कासिम को जव यह ज्ञात हुआ तो वह वहुत कुपित हुआ उसने वालाजी के भाई जनार्दन को हाथ पांव वाध कर संदूक में वन्द करके जीवित सागर में वहा दिया।

ऐसी स्थिति में वालाजी का उस क्षेत्रमें रहना सम्भव नहीं था अतः वह सपरिवार वहाँ से भाग चले। यही व्यक्ति जो एकदिन कासिम के भय सेअपनी प्राण प्रिय जन्म भूमि को छोड़ने को विवश हुआ था, आगे चलकर अपनी कार्य कुशलता योग्यता, सूझवूझ तथा राष्ट्र निष्ठा के कारण महाराष्ट्र का यशस्वी पेशवा वना और उसने अपनी जन्म भूमि छोड़ते समय कासिम के अत्याचार से अपने क्षेत्र जनों को मुक्ति दिलाने की जो प्रतिज्ञा की थी उसे पूरी करने में सफल हुआ।

वालाजी का घराना जंजीरावाद के सिद्धी सरदार की आधीनता में अपने ग्राम श्री वर्द्धन पट्ट के परगने की मालगुजारी वसूल करनेका काम किया करता था। वालाजी के पिता विश्वनाथ भट्ट का इस तेहसीलदारी के कारण क्षेत्र में अच्छा मान था। पिता की मृत्यु के पश्चात वालाजी के ज्येष्ठ भ्राता जनार्दन भट्ट इस कार्य को करते थे। महत्वाकांक्षी वालाजी ने भाई के आश्रय में रहकर पैतृक व्यवसाय में हाथ वंटाने की अपेक्षा अपना स्वतन्त्र व्यवसाय व आधिपत्य जमाने के लिये चिपलूक जिले में प्रव्रजन किया। वे सपरिवार वहीं रहते थे तभी आंग्रे का पक्ष लेने के कारण उन्हें वहां से भागना पड़ा।

मीठ वन्दर से चलकर वे वलेयास ग्राम पहुँचे वहां उनके मित्र महादेव भानु रहते थे। वह भी अपनी आर्थिक स्थिति को सुद्रढ़ करने के लिये वाहर जाना चाहते थे सो दोनों परिवार सतारा की ओर चल पड़े। किन्तु वे अधिक दूर नहीं जापाये थे कि कासिम के सैनिकों ने उन्हे पकड़कर अंजन वेल नामक दुर्ग में वन्द कर दिया। यहां पच्चीस दिन वड़े कष्ट में विता ने पर भी वालाजी और महादेव भानु निराश नही हुए। आशा ही परम वल" के सहारे उन्होंने दुर्ग पति को अपने पक्ष में कर लिया और मुक्त हुए। मुक्ति के पश्चात वे कैसे सासवाड़ पहुँचे और आवाजी पुरंदरे की सहायता से महाराष्ट्र की राजधानी सतारा में महाराष्ट्र छत्रपति के सचिवालय के अधीन मालगुजारी वसूल करने वाले प्रमुख अधिकारी वने यह लम्वी कहानी है। जव वे मीठवन्दर से भागे थे तव उनके साथ उनका चार वर्षीय पुत्र वाजीराव भी था जो आगे चलकर उनका उत्तराधिकारी पेशवा वना।

वालाजी जव महाराष्ट्र की राजधानी में राज्य के मालगुजारी वसूल करने वाले आधिकारी वने उन दिनों छत्र पति सिंहासन के लिये छत्रपति सम्भाजी के पुत्र शाहू और छत्रपति राजाराम के पुत्र शिवाजी की व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं का द्वन्द हो रहा था। छत्रपति राजाराम की पत्नी महारानी तारावाई अपने पुत्र को छत्रपति

बनाना चाहती थी। किन्तु प्रधान सेना पति और अधिकाँश सरदार न्याय सम्मत पक्ष—शाहू की ओर झुके होने के कारण शाहू ही छत्रपति वनाए गये। शाहू का छत्रपति वनाना उचित भी था। उनकी माता येसुवाई अब तक उन्हीं के कारण मुगल सम्राट के यहाँ नजरवन्द थी। स्वयं शाहू भी सोलह वर्ष तक नजरवन्द रहने के वाद मुक्त होकर महाराष्ट्र आये थे।

वालाजी इस ओर से उदासीन रहकर अपना कार्य कर रहे थे। यद्यपि थे छोटे पद पर किन्तु उनकी बुद्धिमता आगे चलकर रंग लायेगी इसकी उन्हें भी आशा थी और छत्रपति भी उनमें छिपे व्यक्तित्व को समझ रहे थे।

वाला जी का कार्य यों तो मालगुजारी वसूल ने का था पर वे इस तक ही सीमित नहीं रहे। उनकी दृष्टि मात्र अधिकारी या कर्मचारी कीही न होकर उससे भी अधिक महत्व की थी। वे राष्ट्र की समृद्धि के लिये कृषकों की समृद्धि को अनिवार्य मानते थे। देश में उत्पादन वढ़ेगा तो खुशहाली अपने आप आयेगी। यह सोचकर उन्होंने खेती की उन्नति की ओर विशेष ध्यान दिया। कृषकों को समुचित प्रोत्साहन व मार्ग दर्शन देकर उन्होंने देश की समृद्धि को वढ़ाया। किसान उन्हें देवता की तरह मानने लगे। अब पहले की तरह मालगुजारी वसूलने के लिये सैनिकों व ज्यादा कर्मचारियों की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। कृषक अपने आप माल गुजारी कार्यालय में जमा करा जाते थे। किसी किसान को मालगुजारी न देने के कारण दण्डित करने का अवसर ही नहीं आता था।

इससे मालगुजारी की दर तो वही रही पर वसूली के लिये अधिक आदमियों को न लगाने के कारण उस राशि में प्रवन्ध व्यय रूपी कटौती वहुत कम हुई। इससे प्रधान सेनापति धनानन्दजी जाधव और छत्रपति शाहू वहुत प्रभावित हुए। धनानन्द जी जाधव की मृत्यु पर सम्पूर्ण राजस्व विभाग उन्हें सौंप दिया गया।

वालाजी ने अपना प्रवन्ध कौशल व योग्यता तो राष्ट्र हित में दिखायी थी और इसी कारण उन्हें राजस्व विभाग का सर्वे सर्वा वना दिया गया था। पर इसके कारण नव निर्वाचित प्रधान सेनापति चन्द्रसेन उनसे जलने लगा। आगे चल कर उसने उन्हें मारनेका षड़यन्त्र भी रचा और छत्रपति से द्रोह भी किया पर दूसरों के लिये कुआ खोदने वाले को स्वयं उसमें गिरना पड़ता है। उसी उक्ति के अनुसार चन्द्रसेन को अपना प्रधान सेनापति पद खोना पड़ा और वालाजी को प्रधान सेनापति पद मिल गया।

वालाजी वीर और योग्य व्यक्ति थे। इनसे भी ऊपर उनकी विशेषता यह थी कि वे हिन्दू महाराष्ट्र को प्राणों से भी प्रिय मानते थे। वे जब प्रधान सेनापति वनाए गये उस समय महाराष्ट्र के सामन्त गण राष्ट्र का हित नहीं सोचकर व्यक्ति गत महत्वाकांक्षाओं में उलझने लगे थे। उन्हें पुनः एक सूत्र में वाँधने वाले कुशल राजनीतिज्ञ और वीर सेनापति की भूमिका उन्होंने वखूवी निभाई।

कान्होजी आंग्रे और कोल्हापुर के राजा को हराकर छत्रपति साहू के पक्ष में करना और पेशवा भैरव पन्त पिंगले को उनकी कैद से मुक्त कराने का वीरता और चतुराई पूर्ण कार्य करके उन्होंने अपनी योग्यता प्रदर्शित की। उसका परिणाम यह हुआ कि वे पेशवा वना दिये गये। कभी सिद्धियों के डर से मारे-मारे फिरने वाले वालाजी जो आरम्भ में पेशवा के कार्यालय में मामूली क्लर्क की हैसियत से काम करते थे अपनी राष्ट्र निष्ठा और योग्यता के वल पर महाराष्ट्र के पेशवा पद पर अभिसिक्त हुए।

कान्होजी आँग्रे को सैनिक सहायता देकर उन्होंने अपनी जन्मभूमि को सिद्धियों के आधिपत्य से मुक्त कराने की अपनी प्रतिज्ञा को भी पूर्ण कर लिया।

पेशवा पद प्राप्ति में उनकी व्यक्ति गत महत्वा काँक्षा का उतना हाथ नहीं था जितना उनकी योग्यता और उत्कट राष्ट्रीय तथा जातीय भावना का हाथ था। पेशवा वनने के वाद भी वे सुखोपभोग में नहीं डूव गये। प्रायः ऐसा होता है कि सामान्य स्थिति का व्यक्ति जव किसी उच्च पद पर पहुँच जाता है तो उसमें गर्व आ जाता है और वह कर्म निष्ठ न रहकर विलासी वन जाता है किन्तु वालाजी ने ऐसी मूर्खता नहीं की।

उच्च पद पर रहते हुए भी वे स्वभाव व्यवहार व हृदय से छोटे लोगों के प्रति हम दर्द ही वने रहे थे। वे

जब दिल्ली के मुगल शाहन्शाह फरुखशियर की प्रार्थना पर उनके साथ संधि कर उसे रक्षा का वचन देने के लिये ससैन्य दिल्ली जा रहे थे तब की बात है। उन्होंने अपने सेना धिकारियों को आदेश दे रखे थे कि मार्ग में पड़ने वाले खेतों में से अन्न या घास का एक तिनका भी अपनी सैन्य द्वारा क्षति ग्रस्त नहीं होना चाहिए। किन्तु उनके एक अभिमानी सरदार मल्हार राव होल्कर ने उनकी यह आज्ञा नहीं मानी व अपने घोड़ों के लिये एक किसान की खड़ी फसल कटवा डाली साथ ही उसे मारा पीटा भी।

इस बात की सूचना जब बालाजी को लगी तो वे बड़े कुपित हुए इसलिये नहीं कि उनकी आज्ञा का उल्लंघन किया गया है वरन इसलिये कि गरीब आदमी का अहित किया गया है। अतः उन्होंने मल्हार राव की सारी सम्पत्ति जब्त करके और किसान को उसकी फसल और मार पीट का पूरा हर्जाना दे देने का निर्णय दे दिया। कृषक उनकी इस न्याय प्रियता पर बड़ा प्रसन्न हुआ। मल्हार राव की बुद्धि भी ठिकाने आगयी उसने भविष्य में ऐसा न करने की शपथ खाते हुए उनसे क्षमा माँगी। पेशवा बालाजी विश्वनाथ ने उसे क्षमा तो कर दिया पर दण्ड स्वरूप उसका ओहदा घटा दिया। उनके इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वर ने उन्हें सामान्य व्यक्ति से ऊपर उठाकर पेशवापद पर इसलिये जा बिठाया कि वे उसके उपयुक्त थे। उनसे गरीबों व दुर्बलों का रक्षण ही सम्भव था उन पर अत्याचार नहीं।

मुगल सम्राट फरुखशियर के बेटे मुहम्मदशाह से हुई संधि के अनुसार बालाजी ने चतुरता पूर्वक न केवल मुगल साम्राज्य से अपने प्रदेश ही छीन लिये वरन् मुगल सम्राट का वीरता पूर्वक मुकाबला भी किया।

—*—

पूर्णिया श्रावक को अपने जीवन में अनेक बार सपत्नीक भूखा रहना पड़ा। वह अभावग्रस्त रह सकते थे पर अपनी मानसिक शान्ति किसी भी शर्त पर खोने को तैयार न थे। जब तक वह अपने घर आये अतिथि को भोजन न करा देते स्वयं न करते थे।

एक दिन की बात। सुबह का समय। पूर्णिया स्वाध्याय में रत थे। पर बीच-बीच में स्वाध्याय का क्रम टूट जाता,मन उचट जाता,विचारकी शृंखला टूट जाती.उसे नये सिरे सेजोड़ते और फिर पढ़ना शुरू करते। प्रयत्न करने पर भी मन में स्थिरता नहीं आ रही थी। स्वाध्याय का निर्धारित समय पूर्ण हो गया और अपने आसन से उठ बैठे।

पत्नी ने उनकी मुख मुद्रा पर बनती बिगड़ती रेखाओं को देखा। समझ गई आज कोई बात अवश्य है। ऐसा उतार चढ़ाव उसने कभी देखा न था। शायद किसी चिन्ता ने आदबा या हो पूछ बैठीं 'आज क्या स्वास्थ्य ठीक नहीं' 'शरीर तो ठीक जान पड़ता है पर मन की अस्वस्थता ने एकाग्रता आने ही न दी। मानसिक घबराहटका कारण जानने पर भी समझ में नहीं आ रहा क्या बात है ? आज अपने घरमें अनीतिसे अर्जित की गई कोई वस्तु तो नहीं आगई है। क्योंकि भोजन के अनुसार ही मन के संस्कार बनते बिगड़ते रहते हैं। अब उसे ध्यान आगया। दूसरे ही क्षण बोलीक्षमा कीजिए आज भूल हो गई मैं पड़ोसी के यहां चूल्हा जलाने के लिये आग लेने गई। कण्डा अपने साथ ले नहीं गई थी। उसी के कंडे पर आग ले आई थी और जल्दी-जल्दीमें देना भूल गई।'

पैसे दो पैसे की चीज ने पूर्णिया के विचारों में कैसा गतिरोध पैदा कर दिया उन्हें अपनी मानसिक अस्वस्थता का कारण मालूम हो गया उन्होंने एक कंडा पड़ोसी के यहाँ वापिस भेज दिया।जो अनीति के उपार्जन से अपना और अपने परिवार का पालन करते हैं, उनकी स्थिति कैसी होगी, इसका अनुमान आप लगा सकते हैं।

युद्धोत्तर फ्रान्स के राष्ट्र निर्माता--लुई अर्मांद

सन् १९६४—६५ में फ्रान्स में दगाल के वाद कौन विषय पर जनमत संग्रह किया गया था। इस जनमत संग्रह का उद्देश्य यह था कि तत्कालीन राष्ट्रपति दगॉल के वाद लोग किस व्यक्ति को अपने लोकतंत्र का अधिपति बनाना पसंद करेंगे। जब इसके परिणाम सामने आये तो सारा संसार आश्चर्य चकित रह गया। फ्रान्स की जनता ने एक ऐसे व्यक्ति का नाम लिया था जिसका राजनीति से कोई सम्वन्ध नहीं था। हालांकि वह व्यक्ति फ्रान्स की जनता में इतना अधिक लोकप्रिय रहा है कि शायद ही किसी और देश में ऐसा साधारण व्यक्ति रहा हो। अपनी लोक प्रियता से परिचित होते हुए भी उस व्यक्ति को राजनीति में भाग लेने की कतई दिलचस्पी नहीं रही है।

लोकप्रियता के उच्च शिखर पर आसीन इस असाधारण व्यक्तित्व का नाम है—लुई अर्मांद। अर्मांद का राजनीति से दूर तक कोई सम्वन्ध नहीं है फिर भी उनकी लोकप्रियता का अन्दाज इसी वात से लगाया जा सकता है कि फ्रान्स के लोग उन्हें अपने देश और प्रशासन के सर्वोच्च पद पर देखने के लिए कितने उत्सुक थे। अर्मांद की लोकप्रियता का एक बड़ा कारण है उनकी निस्वार्थ सेवा भावना। युद्धोत्तर फ्रान्स के नवनिर्माण में उनके द्वारा दिया गया योगदान महान ही कहा जा सकता है। पेशे और व्यवसाय से वे एक इन्जीनियर रहे हैं परन्तु उन्हें लोकप्रियता किसी भी राजनेता से कम नहीं वरन् कई गुना ज्यादा ही मिली है।

फ्रान्स में–सेवाय के एक छोटे से गाँव में उनका जन्म हुआ। माता-पिता दोनों ही अध्यापक थे। न इतने अधिक धनवान् कि अपने पुत्र के लिए सभी प्रकार की सुख सुविसुविधायें जुटा सकें और न इतने गरीव की प्राथमिक आवश्यकताएँ भी पूरी न हों। कुल मिलाकर मध्यवर्गीय स्तर का परिवार। माता-पिता दोनों ही सुशिक्षित थे इसलिए अपने वालक के विकास पर उन्होने पूरी तरह ध्यान दिया। भले ही वे उत्तराधिकार में कोई धन सम्पत्ति देने में समर्थ नहीं रहे हों परन्तु अपनी सूझ-वूझ उच्च गुणों की छाप और विकासमान वौद्धिक क्षमता के रूप में उन्होंने जो कुछ दिया वह किसी भी धन सम्पदा से लाख गुना वेहतर था। धनवान् और अदूर दर्शी लोग ही अपनी संतान को उत्तराधिकार में धन सम्पदा देने की वात सोचते हैं। यदि ऐसा नहीं हो सका तो वे मरते हुए भी यही सोचते हैं कि हम अपनी औलाद के भविष्य के लिए कुछ नहीं कर सके।

लुई अर्मांद के माता पिता ने उन्हें वचपन में स्कूल पढ़ने भेज दिया। श्रमशीलता, अध्ययन और धैर्य जैसे मानवोचित गुणों के विकास पर पूरा ध्यान देते हुए उन्होंने अपने पुत्र को—राष्ट्र के लिए उपयोगी सिद्ध होने में किञ्चित भी लापरवाही नहीं की। उचित देख भाल और सावधानी के कारण अर्मांद की अन्तर्निहित प्रतिभा निरखने लगी वैज्ञानिक प्रयोगों तथा गणित के सवालों में उनकी आरम्भ से ही रुचि रही। माता-पिता ने भी अर्मांद को इसी दिशा में प्रेरित किया।

वारह तेरह वर्ष की आयु में उनका परिचय एक मेडिकल स्टोर के मालिक से हुआ। निस्सन्तान होने के कारण वह अर्मांद को वहुत प्यार भी करता था। इस मेडिकल स्टोर के मालिक ने उन्हें फोटोग्राफी का प्रशिक्षण दिया। अर्मांद की वैज्ञानिक प्रयोगों में रुचि तो आरम्भ से ही रही थी। फोटोग्राफी सीखने के वाद अपने मुहल्ले के कसाई के यहाँ से हड्डियाँ लाकर उवाली तथा उनमें से जिलेटिन निकाला जो फोटोग्राफी की प्लेटें तैयार करने में काम आता है।

विज्ञान की दिशा में प्रेरित करने प्रगति करने के लिए माता-पिता ने अर्मांद को शुरु से प्रकृति के रहस्यों से परिचित कराना आरम्भ कर दिया था। इसका परिणाम यह हुआ कि अर्मांद प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण करना सीख गये। चौदह-पन्द्रह वर्ष की आयु में सूक्ष्म निरीक्षणी के स्वभाव के परिणाम स्वरूप अर्मांद कई पेड़-पौधों तथा वनस्पतियों के वारे में इतना जानने लगे थे, जितना कि सामान्य वयस्क या प्रौढ़ व्यक्ति भी नहीं जानता है।

फफूंद की सौ से भी अधिक जातियों तथा कुकुर मुत्ते की सैकड़ों किस्मों के बारे में वे अच्छी तरह जानते थे। यह भी कि इनमें से कौनसी खाने योग्य है और कौनसी नहीं। इन जानकारियों ने उन्हें आगे चलकर बड़ा लाभ दिया। उन्होंने जंगली फलों के रस से एक एसिड तैयार किया जो फोटो प्लेटें डेवलप करने के काम आती है।

प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त कर उन्होंने एनेसी और लियोन के विद्यालयों में आगे की पढ़ाई जारी रखी और इसके बाद एकोल पोलिटेक्नीक कॉलेज में प्रवेश किया। यहाँ की परीक्षायें पास करे वे खनिज इन्जीनियरी के महाविद्यालय में भर्ती हुए। वहाँ उनके अध्ययन का विषय था भूमि की स्तर रचना। इसकी स्नातक परीक्षा में वे सर्वोत्तम आये। इस प्रकार अर्माद को लगातार सफलता मिलती गई। निस्सन्देह इन सफलताओं का कारण उनका बुद्धि कौशल था। इसके अभाव में कोई और साधन चाहे कितने ही प्रभावशाली और सशक्त क्यों न हों—व्यक्ति को सफलता नहीं दिला सकते। धनवान् और ऐश्वर्यशाली रईसों के पुत्र भी मन्दबुद्धि होने के कारण स्कूली परीक्षाओं व जीवन के क्षेत्र में असफल होते देखे गये हैं।

शिक्षा समाप्त कर अर्माद के सामने व्यवसाय के चुनाव का प्रश्न खड़ा हुआ। वे नहीं चाहते थे कि उनकी उपार्जित योग्यता और प्रतिभा पैसे कमाने अथवा अपने ही लिए सुख सुविधायें जुटाने के काम आये। वे अपने ज्ञान का लाभ अन्य औरों को भी देना चाहते थे इसीलिए उन्होंने निश्चय किया कि वे इसी कॉलेज में प्राध्यापकी करें। परन्तु उस समय वहाँ कोई पद रिक्त नहीं था।

अर्माद इससे निराश नहीं हुए। सेवा भावी व्यक्तियों के लिए कई क्षेत्र खुले पड़े है जहाँ वे अपनी प्रतिभा का उपयोग कर समाज को लाभान्वित कर सकते हैं। ऐसे लोगों के सामने कभी 'नोवैकेन्सी' की समस्या नहीं रहती। उन्हीं दिनों क्लेरमोते फेर्राद में वैज्ञानिक शोध कर्ताओं की आवश्यकता हुई। अर्माद को पता चला और मालूम हुआ कि इन शोध कर्ताओं को फेरद्रि के चश्मों का अध्ययन करना पड़ेगा क्योंकि चश्मों के पानी में कई रसायनिक तत्व मिले हुए हैं जो स्वास्थ्य सुधार के लिए आश्चर्य जनक रूप से लाभदायी सिद्ध हुए हैं। अर्माद ने अपना प्रार्थना पत्र सम्बन्धित अधिकारियों को दे दिया। अधिकारियों ने भी उनकी योग्यता, प्रतिभा और लगन देख कर उन्हें नियुक्त कर लिया।

अर्माद यद्यपि एक रसायन शास्त्री थे फिर भी उन्होंने इस पानी का प्रयोग रोगग्रस्त चूहों पर किया। इन प्रयोगों के निष्कर्ष इतने महत्वपूर्ण थे कि फ्रान्स की 'मेडिकल एकेडमी ने उन्हें अपना सदस्य चुन लिया। चश्मों के पानी का अध्ययन समाप्त हो जाने के बाद उन्होंने वहाँ की नौकरी छोड़दी और रेलवे में नौकरी कर ली।

रेल्वे विभाग में एक जटिल समस्या उनकी प्रतीक्षा कर रही थी। उस समय रेल के इन्जनों में बायलर लवण जम जाने के कारण जल्दी खराब हो जाया करते थे। जमे हुए लवणों को खुरचना भी बड़ा मुश्किल का काम था। अर्माद ने एक ऐसी चीज खोज निकाली जिसे पानी में मिला देने पर बायलरों में लवण जमते ही नहीं। इससे बायलर पहले से दुगने समय तक काम देने लगे।

१९३८ में, फ्रान्स की रेलों का राष्ट्रीयकरण हुआ। अर्माद की तेजी से पदोन्नति होने लगी। किन्तु तभी विश्वयुद्ध छिड़ गया। जर्मनी ने फ्रान्स को विजित भी कर लिया। फ्रान्स ने तब तक काफी प्रगति करली थी। उसके विकसित साधनों का उपयोग कर जर्मनी पूरे यूरोप को जीतने के लिए प्रयत्न करने लगा। अर्माद ने तब देश भक्ति का जो परिचय दिया वह कई फ्रान्सीसी युवकों के लिए प्रेरणास्रोत बन गया। अर्माद और उनके साथी जर्मन सेनाओं की कार्यवाई में बाधा डालने के लिए तोड़-फोड़ करने लगे। जर्मन की खुफिया पुलिस परेशान हो गयी। पूरे चार साल तक तोड़-फोड़ मूलक गतिविधियों के आयोजक लुई अर्माद पर हाथ भी नहीं डाल पाये। अपने बुद्धि कौशल के बल पर वे यहाँ भी सफल होते रहे।

परन्तु जून १९४४ में वे अखिल जर्मन की खुफिया पुलिस के हाथों पड़ ही गये और उनका कोर्ट मार्शल हुआ। सैनिक न्यायालय ने उन्हें मृत्यु दण्ड का फैसला सुनाया। और उनको कारावास की काल कोठरी में डाल दिया। अर्माद के जीवन यह कारावास बड़ा महत्व रखता

है। उन्होंने मानसिक संतुलन को कभी डिगने नहीं दिया और लगातार यह सोचते रहे कि कभी ईश्वर की कृपा से मुक्त जीवन जीने का अवसर मिले तो वे फिर उसी निष्ठा के साथ राष्ट्र के नवनिर्माण तथा मानव जाति के कल्याण के लिए प्रयत्न करेंगे। यहाँ तक कि उन्होंने कारावास में ही फ्रान्स की राष्ट्रीय कृत रेलों के विद्युतिकरण की योजना भी बना डाली।

आखिर फ्रान्स विमुक्त हुआ। उस समय वहाँ की अस्सी प्रतिशत रेलवे सम्पदा नष्ट भ्रष्ट हो चुकी थी। इन्जिन, यात्री डिब्बे, माल के डिब्बे और अधिकांश कारखाने बर्बाद हो गये थे। प्रधान इन्जीनियर के पद पर नियुक्त कर फ्रान्स की सरकार ने उन्हें इन सब को पुनः व्यवस्थित करने का गुरुतर भार सौंपा था। अर्माद को तो जैसे इन उत्तरदायित्वों से ही प्रेम था। अधिकांश लोग अपने अधिकारों की चिन्ता करते हैं परन्तु जो उनकी ओर ध्यान न देकर अपने कर्तव्य पालन का ही ध्यान रखते हैं उन्हें अधिकार के साथ साथ अन्य अमूल्य उपहार भी स्वयमेव ही मिल जाते हैं।

अर्माद ने रेलों को पुनर्व्यवस्थित करने के साथ-साथ उनके विद्युतीकरण की योजना भी सरकार के सामने रखी। उस समय विद्युत इन्जनों में हल्के वोल्ट का करेण्ट ही काम में लाया जाता था। अर्माद ने ऐसी विधि खोज निकाली जिससे इन्जनों में औद्योगिक करेण्ट का उपयोग किया जाने लगा। और भी कई सुधारों के कारण विद्युतीकरण का खर्च बहुत घट गया। आज सारा संसार उस विधि का लाभ उठा रहा है।

कुछ समय बाद उन्हें रेल्वे बोर्ड का डायरेक्टर जनरल और बाद में अध्यक्ष बनाया गया। इन पदों पर रह कर उन्होंने कई महत्वपूर्ण कदम उठाये। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में यूरोपीय देशों को यातायात के मामले में एकीकरण के लिए तैयार कर लिया। पहले होता यह कि दूसरे देश में माल भेजने के लिए सीमा पर माल को उस देश की वैगनों में भरा जाता था। इससे समय और श्रम का अनावश्यक अपव्यय होता था। अर्माद ने यूरोपीय देशों में यह परम्परा बनायी कि वही वैगनें दूसरे देशों में भी आने जाने लगी। इससे वैगनों का पूर्ण उपयोग भी होने के साथ-साथ पश्चिमी यूरोपका यातायाती एकीकरण हो गया।

मशीनों के सम्बन्ध में अहर्निश सोचते रहने के बावजूद भी उनकी एक मूल मान्यता मशीनों के मूल्यांकन और महत्वबोध को स्पष्ट कर देती है। वे मानते हैं कि आधुनिक युग में यन्त्रों का अपना महत्व है परन्तु उनका विचार है कि ये यंत्र तो मानव जाति को सुखी बनाने के साधन मात्र हैं जहाँ उसके आस्तित्व शक्ति और मल स्वरूप को कोई हानि पहुँचाने लगती है अर्माद वहां यांत्रिक सभ्यता के सबसे बड़े विरोधी हैं। वस्तुतः आजतक युद्ध जीतने या धन कमाने की आकांक्षा ने ही अविष्कारकों को प्रेरणा दी है। इसी मूल आकांक्षा का परिणाम एक से एक बढ़ चढ़ कर संहारक अस्त्र, विनाशकारी अणु—परमाणु बम आदि वैज्ञानिक उपलब्धियाँ हैं। परन्तु अर्माद विज्ञान के इस स्वरूप के घोर विरोधी हैं वे मानते हैं कि मानव मात्र का हित साधन विज्ञान का आधार होना चाहिए।

अपने साथी इन्जीनियरों को भी वे आर्थिक लाभ को गौण मानकर काम करने के लिए प्रेरित करते है। और कहते हैं कि हमें तकनीकी दृष्टि से सम्भव और आर्थिक दृष्टि से लाभ प्रद योजना पर भी इस कसौटी पर कसने के बाद विचार करना चाहिए कि वे औसत आदमी को कितना लाभ पहुँचाती है।

इसीलिए उन्होंने १६५८ में यूरेटम योजना बनायी जिसके अनुसार औद्योगिक क्षेत्र में अणुशक्ति का उपयोग करने के लिए पश्चिम यूरोप के कई देशों ने मिलकर प्रयास आरम्भ किये। मानवमात्र के हित साधक, विचारों से उदार और आदर्श वादी लुई अर्माद को फ्रान्सीसी जनता इतना अधिक प्यार करती है तो उसे मात्र संयोग नहीं कहा जाना चाहिए वास्तव में इस प्यार की कीमत उन्होंने स्वयं को ही समर्पित कर चुकाई है।

राजनीति के क्षेत्र में भले ही उनकी कोई दिलचस्पी न रही हो परन्तु वे किसी भी राजनेता से अधिक समय तक याद किये जाते रहेंगे।

—✶—

अपराध साहित्य की चिन्ताजनक बाढ़

मध्यप्रदेश के ग्वालियर नगर में कुछ माह पूर्व एक ऐसी घटना घटी जिसने मनोरंजन के प्रचलित साधनों के दुष्प्रभाव की ओर लोगों का ध्यान वर बस ही आकृष्ट कर लिया। इस घटना में दो युवकों ने एक फिल्म से प्रेरणा ग्रहण कर एक लड़के का अपहरण किया और बाद में उनकी हत्या कर दी हत्या का कारण जहां हो सके तो थोड़ा बहुत धन ऐंठना था वहीं फिल्म से प्रेरणा लेकर एक सस्पेंस की सृष्टि करना भी बताया जाता है। हत्यारे युवकों ने हू बहू फिल्म के घटनाक्रम का ही अनुकरण किया था। फिल्म से ली गयी एक कथानक की प्रेरणा का यह दुष्परिणाम है। हालाँकि सरकार ने अब अपराध के वीभत्स फिल्मांकन तथा सैक्स के चित्रण पर रोक लगा दी है। पर इन दिनों साहित्य में अपराध कथाओं की जिस तरह बाढ़ आ रही है उससे लगता है कि फिल्मों पर लगे प्रतिबन्धों का सारा सत्परिणाम अपराध साहित्य की बाढ़ के कारण कहीं पुछ न जाय। इन दिनों अधिकांश मासिक पत्रिकाओं ने हल्के रोमांस, व्यभिचार, अपराध, हत्या, ठगी, जालसाजी और धोखाधड़ी की कहानियां इस भड़कीले ढङ्ग से छापना आरम्भ की हैं कि उनका प्रभाव निश्चत ही बुरा होता है अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है।

इन कहानियों को सच्ची घटनाओं का रङ्ग दिया जाता है। बाकायदा तारीखवार अपराधों का विवरण कल्पना का रङ्ग चढ़ा कर इतने बढ़िया सज्जितढङ्गसे पेश किया जाता है कि अपराधप्रवृत्ति को जैसे सम्मानित किया जा रहा हो। सच्ची घटनाओं वाले इन पत्रोंमें सामग्री का चयन और सम्पादन विदेशी पत्र पत्रिकाओं के आधार पर किया जाता है। और कथानक के प्रस्तुती करण में इतनी रोमांचकता लने का प्रयत्न किया जाता है जैसे किसी शौर्यप्रद और वीरता पूर्ण चरित्र का चित्रण किया जा रहा हो।

रोमांच और वासना को केन्द्र विन्दु बना कर उसी के ईर्द गिर्द घूमती हुई कहानी कथ्य को एक आदर्श के रूप में पाठक के सामने प्रस्तुत सी करती लगती है। बेशक इन कहानियों में बुरे चरित्र का बुरा अन्त होता है। लेकिन इससे पर्व अपराध को जिस प्रकार महिमा मण्डित किया जाता है उससे पाठक को किसी शिक्षा मिलने के स्थान पर पतन की प्रेरणा ही मिलती हैं। इसी प्रकार की कहानियाँ छापने वाली मासिक पत्रिका ने कहानी के हत्यारे नायक का चित्रण इस प्रकार किया है—'भुजबल' मेहनत मजदूरी करने के साथ ही रोज अखाड़े पर कसरत करता और लाठी चलाने का अभ्यास करता था। जब वह २० वर्ष का हुआ तो उसका साँवला शरीर देखने लायक था। कन्धे पर लाठी लेकर जब वह गाँव में निकलता तो लोग उसे देखते ही रह जाते।

ऐसे ही एक पत्रिका में डाकू चरित्र का चित्रण इस प्रकार किया गया—२३ दिसम्बर की अन्धेरी और ठण्डी रात थी। सुन्दर ने उस रात दतसोली गाँव के प्रधान के यहाँ डकैती डालने की योजना बनायी। उस रात गाँव में लूटपाट का ताण्डव था। सुन्दर की रायफल दनादन गोलियां बरसा रही थीं। गांव वाले अपने घरों में दुबके पड़े थे।"—इसके बाद पुलिस के आगमन के साथ ही डाकू के मुंह से पुलिस के लिए अशोभन और न पढ़े कहे जाने योग्य गालियाँ हू बहू लिखी गयी है। आगे कहा गया है—"डाकुओं की ओर से अन्धाधुन्ध गोलियाँ चलने लगीं। सुन्दर की रायफल से निकली एक गोली थानाध्यक्ष के बाजू में लग गयी। गोली लगते ही थानाध्यक्ष ने पुलिस को जबरदस्त मुठभेड़ के लिए प्रोत्साहित किया। जब पुलिस का दबाव बढ़ने लगा तो सुन्दर ने अपने साथियों को निकल भागने का आदेश दिया।""""सुन्दर अपने साथियों के साथ बचकर निकल गया।"

उपरोक्त उदाहरण से भी वीभत्स और अपराध को वीरता के भाव से मण्डित करने वाला चित्रण रहता है। इस प्रकार की कहानियाँ छापने का उद्देश्य लोगों को अपराध की प्रेरणा देना तो नहीं कहा जा सकता, प्रकाशकों का एक ही मन्तव्य रहता है कि पाठकों को रोचक

और प्रिय लगने वाली सामग्री देकर अपनी पुस्तकों की अधिक से अधिक बिक्री करवाना। दूसरे अर्थों में पाठक की कोमल भावनाओं को छूकर अपना स्वार्थ सिद्ध करना है। इसे समझने के लिए हमें मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में जाना होगा।

यह तो सभी जानते हैं कि मनुष्य अच्छाईयों और बुराईयों के सम्मिश्रण का पुतला है। उसमें देवत्व के साथ साथ आसुरी भावनायें भी रहती है। अपनी कई दुर्भावनाओं को मनुष्य नैतिक बन्धनों और सामाजिक मर्यादाओं के कारण दमित—नियन्त्रित करके रखता है। अपनी बुरी प्रवृत्तियों पर पूर्णतः नियन्त्रण करने में भले ही कोई सफल न हो लेकिन सामाजिक मर्यादायें और नैतिक बन्धन भी उसे समाज के पक्ष में अहितकर नही होने देते। आलोच्य विषय का साहित्य इस लिए लोकप्रिय होता है कि उसका अध्ययन बुरी प्रवृत्तियों को स्पर्श सुख देता है। और जब उस विद्या को प्रयत्न पूर्वक इस योग्य बनाया जाता है कि स्पर्श सुख खाज को खुजलाने जैसा रस उत्पन्न करता है। जो तत्काल तो राहते देता है लेकिन उसे रोग शमित होने की अपेक्षा और बढ़ता ही है।

वास्तव में अपराध साहित्य को साहित्य की कोई विद्या कहना भी गलत है। साहित्य का अर्थ हैं जिसमें मनोरंजन के साथ साथ कल्याणकारी हितकारी प्रेरणायें भी मिलें। लेकिन उपरोक्त साहित्य से कोई कल्याणकारी प्रेरणा मिलने के स्थान पर पतनोन्मुख करने वाली प्रवृत्तियों को ही बल मिलता है। खरबूजे को देख कर खरबूजा रंग पकड़ता है—की कहावत के अनुसार पाठक जब अपराध साहित्य पढ़ता हैं तो उसकी अनुभूतियां अपने आसपास के वातावरण को अपराध प्रधान अनुभव करती हैं। समय समय पर ऐसी कई घटनायें प्रकाश में आती है जिनसे विदित होता है कि किसी प्रकार साधारण सा व्यक्ति भी मानसिक दुर्बलता के कारण धोखाधड़ी सैक्स और अपराध काण्डों का कारण बन जाता है। इस प्रकार के साहित्य में उन मानसिक दुर्बलताओं को दूर करने के स्थान पर प्रच्छन्न रूप से उन्हें प्रोत्साहित ही किया जाता है। क्योंकि उन्हें स्वाभाविकता का दृष्टि कोण दिया जाता है कि इन परिस्थितियों में ऐसा ही सम्भव था।

अपराधी घटनायें घटती हैं। उनके दुष्परिणामों का उल्लेख करने के स्थान पर इस तरह का साहित्य अपराध को और नमक मिर्च लगा कर लिखा जाता है। उनकी सत्यता प्रमाणित करते हुए ऐसा साहित्य पेश किया जाता हैं जो युवा मानस और अपरिपक्व किशोर मस्तिष्क को और बुरी तरह प्रभावित करता है। यद्यपि कुछ स्वस्थ पत्रिकायें और पुस्तकें भी प्रकाशित होती हैं लेकिन उनकी तुलना में अपराध साहित्य इतनी विपुल मात्रा में निकलता है कि उनका अस्तित्व ही नगण्य हो जाता है। बुक-स्टॉलों पर आकर्षक गेट अप, चिकना कागज और अर्ध नग्न युवती के आपत्तिजनक चित्र अथवा हाथ में रिवाल्वर या छुरा लिये स्त्री और पुरुष का भयानक खूंखार चेहरा इस प्रकार मुद्रित किया जाता है कि उनके आकर्षण की तुलना में स्वस्थ और प्रेरणादायक साहित्य दब सा जाता है।

इस प्रकार के साहित्य को समाजघाती भी कहा जाए तो थोड़ा है। काल्पनिक हों या सच्ची अपराध कहानियां किशोर और युवा मस्तिष्क के लिए धीमे जहर का काम करती हैं। साथ ही हमारे राष्ट्रीय चरित्र का भी हनन करती हैं। अपराध भावना को इस प्रकार महिमा मण्डित कर छापना अपराध प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करना नहीं तो क्या है? भले ही उसे शिक्षाप्रद और रोचक के विशेषणों से विज्ञापित किया जाता हो लेकिन प्रभाव तो उनका विपरीत ही होता है। अतः सरकार के साथ साथ समाज को भी चाहिए कि इस प्रकार अपराध साहित्य के द्वारा पाठक अपराध का प्रशिक्षण देने वाली प्रक्रिया बन्द करे। तथा साहित्य के नाम पर छपने और बिकने वाली इन गन्दी पुस्तकों के स्थान पर ऐसा साहित्य निकला जायजो पाठक को प्रेरणा और उत्साह प्रदान करें।

बुंदेलखण्ड के शिवाजी—महाराज छत्रसाल

सन् १६४६। बुन्देलखण्ड के प्रतापी हिन्दू राजा रुद्रप्रताप के पौत्र चम्पतराय की रानी लाल कुँवरी ने पुत्र रत्न को जन्म दिया। किन्तु उस समय पुत्र जन्म का उत्सव मनाना तो दूर पुत्र को वचा सकना भी कठिन था चम्पत राय स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये मोर के पहाड़ों में भटक रहे थे। संगियो साथियों की संख्या घटती जा रही थी। सहायता कोई देता नहीं था। मुगलों के आक्रमण की आशंका कच्चे धागे से बंधी तलवार की तरह सिर पर टंगी ही रहती थी। राज्य तो हाथ से निकल ही गया था। अब तो अपने प्राण भर बचे थे।

एक दिन तो मुगलों का आक्रमण हो ही गया। मुगल सेना ने उनके थोड़े से साथियों को घेर लिया। वचकर निकलने के प्रयत्न में वालक वहीं पर पड़ा रह गया। किन्तु संयोग से उसकी ओर आक्रमणकारियों का ध्यान नहीं गया और उसकी प्राण रक्षा हो गयी। अभावों और आपदाओं के बीच जन्मा और पला यही वालक आगे चलकर प्रतापी महाराज छत्रसाल के नाम से विख्यात हुआ, जिन्होंने बुन्देलखण्ड में छत्रपति शिवाजी की तरह ही सुगठित हिन्दू राष्ट्र की स्थापना का उद्योग किया।

उनके पिता आजीवन बुन्देलखण्ड को मुगलों के अधिकार से छुड़ाने के लिये संघर्ष करते रहे थे। महाराणा प्रताप की तरह उन्होंने भी अपार कष्ट सहे और स्वतन्त्रता के अमरदीप को जलाये रखा था। उनकी माता भी एक वीर और पराक्रमी नारी थी। वे चम्पतराय की सच्ची सहयोगिनी थीं। पति के साथ वे हर प्रकार की परिस्थितियों से वीरता पूर्वक जूझती रहीं थीं।

छत्रसाल के बचपन के कुछ वर्ष अपने नाना के पास बीते। फिर कुछ वर्षो तक वे अपनें पिता के साथ रहे। घोड़े की पीठ पर, जंगलों में और युद्ध क्षेत्र में ही उनका अधिकांश जीवन व्यतीत हुआ। इन परिस्थितियों में पल कर वे पराक्रमी और साहसी वन गये।

सातवर्ष के छत्रसाल ने अपने नाना के घर पर रहते हुए अपने वीर माता पिता के युद्ध क्षेत्र में मुगलों से जूझते हुए प्राण विसर्जित कर देने की बात सुनी तो उन्हें जहां मातृ-पितृ वियोग का शोक हुआ वहीं अपने पिता के स्वप्न को साकार करने—मातृभूमि को मुगलों की आधीनता से मुक्त कराने का संकल्प भी जागृत हुआ। नन्हें बालक के हृदय में लगी यह चिंगारी एक दिन मुगल साम्राज्य को ही जला कर राख कर देगी यह किसे पता था।

सोलह वर्ष की आयु तक छत्रसाल ननिहाल में रहे। विद्याध्ययन, शस्त्र संचालन, युद्ध कला, अश्व संचालन और शरीर साधना के अनन्तर वे अपने पिता के अधूरे सपनों को पूरा करने के लिये चल पड़े। वे अपने कुटुम्बीजनों से मिले, जो छोटी, छोटी रियासतों के स्वामी थे। मुगलों को कर दिया करते थे। उनको उन्होंने अपना मन्तव्य बताया तो उनसे छत्रसाल को प्रोत्साहन के स्थान पर निराशा ही मिली। वे इतने बड़े मुगल साम्राज्य से टकराने और विपदाओं को मोल लेने की अपेक्षा करद राजा बने रहना और पराधीनता की आराम दायक जिन्दगी जीना ही उचित समझते थे। उन्होंने छत्रसाल को भी ऐसी ही राय दी। जिस किसी के पास गये उसने उनकी कामना को अविवेक पूर्ण ही बताया पर वे तो उसे ही विवेक पूर्ण मानते थे।

स्वजनों से सहायता नहीं मिली तो उन्होंने मुगल सेना में रह कर पंचहजारी या उससे भी ऊँचा रुतवा पाकर एक दिन स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने की बात सोची। इसी उद्देश्य से वे राजा जयसिंह के पास गये जयसिंह ने उनका सम्मान किया। उन्हें अपनी सेना में रख भी लिया। कई युद्धों में उन्होंने अपूर्व वीरता प्रदर्शित भी की सम्मानित भी हुए। मुगलों की युद्ध नीति भी सीखी। तभी उन्हें विचार आया कि महाराष्ट्र पति शिवाजी उनकी सहायता भी कर सकते हैं। उन्होंने भी विना किसी की सहायता के अपने बुद्धि चातुर्य और नीति कौशल से एक सुगठित साम्राज्य की स्थापना करके

जनता को मुगलों के अत्याचारों से बचाया है। अतः वे शिवाजी से मिलने चल पड़े।

शिवाजी ने अपने अधिकृत राज्य की सीमा पर कड़ा पहरा बिठा रखा था। उन पहरों से बच निकलना दुष्कर था। अतः वे बीहड़ वन मार्ग से गये। मार्ग में भीमा नदी की विकट बाढ़ की पर्वाह न करते हुए वे उन तक पहुँचे। छत्रपति शिवाजी ने वीरवर चम्पत राय के स्वतन्त्र्य प्रेमी सुपुत्र का हार्दिक स्वागत किया। छत्रसाल ने उनका सहयोगी बनने की बात कही। इस पर शिवाजी ने जो उत्तर दिया वह उनके महान उद्देश्य को स्पष्ट करता है—"हमारा ध्येय राजा बनने भर का नहीं है। हम चाहते हैं, इस भारत वर्ष में एक ऐसा सुदृढ़, सुशासन हो जिसमें हर व्यक्ति सुख से रह सके। इसके लिए मुगल साम्राज्य को छिन्न भिन्न करना आवश्यक है। यहाँ रहने की अपेक्षा तुम स्वतंत्र साम्राज्य स्थापित करो। असंतोष की अग्नि सर्वत्र धधक रही है। उत्तम यही है कि ऐसे समय में बुंदेल खण्ड में एक सुदृढ़ हिन्दू साम्राज्य की स्थापना करो यहाँ रहकर मेरी सहायता भी करोगे तो नाम मेरा होगा। दूसरे यहाँ की जनता तो कुछ-कुछ जागी है। अभी जहाँ बिल्कुल सोता पड़ा है वहाँ प्रभाती गाने की आवश्यकता अधिक है। साथ ही यह भी ध्यान रखना कि इसे धर्म कार्य समझ कर करना। धर्म के साथ ईश्वर रहता है। जहाँ व्यक्तिगत महत्वाकाँक्षा नहीं होती समष्टिगत हित की भावना प्रमुख होती है ऐसे कार्यों में सहयोगियों सहायकों की कमी नहीं रहती। मैंने जब महाराष्ट्र की स्थापना का शुभारम्भ किया था तब मेरे पास क्या था? मैं भी तुम्हारी ही तरह खाली हाथ था। किन्तु भगवान का काम समझकर इस उद्योग में जुट पड़ने के कारण इतनी सफलता तो मिल ही गई है।"

शिवाजी के उस मार्गदर्शन ने छत्रसाल को नया उत्साह प्रदान किया। उन्होंने अपने हाथों से छत्रसाल के मस्तक पर तिलक लगाया। अपने हाथों से तलवार बाँधी, आर्थिक सहायता भी दी। युद्धकला के कुछ गुण भी बताये और पीठ पर हाथ फेरकर भेजा, बुन्देल खण्ड की ओर।

बुन्देलखण्ड आने पर उन्होंने सबसे पहले राजाओं व जागीरदारों से सहायता माँगी। शुभकरण बुन्देला उनका शुभेच्छु था। उसने उनका सम्मान तो किया पर मुगलों के विरुद्ध लड़ने के लिए इन्कार कर दिया। किन्तु सभी शुभकरण जैसे नहीं निकले औरङ्गाबाद के राजा बलदिवान ने उनका साथ दिया। इन दिनों ओरछा के राजा सुजान सिंह पर भी औरङ्गजेब की कोपदृष्टि थी। निकट भविष्य में ओरछा पर मुगल सेना का आक्रमण होने वाला था। किन्तु उस आक्रमण का सामना करने वाला कोई नायक उन्हें दिखाई नहीं पड़ता था। उन्होंने जब छत्रसाल के बारे में सुना तो उन्हें अपनी सहायता के लिए आमन्त्रित किया। यद्यपि ओरछा नरेश और उनके पिता चम्पतराय में शत्रुता थी पर वे उस शत्रुता को भुलाकर उसके पास गये। उसने छत्रसाल को द्रव्य सहायता दी और आड़े वक्त पर मदद का वचन दिया।

अब छत्रसाल ने अपनी शक्ति बढ़ाना आरम्भ किया। राजा बलदिवान सहायक थे ही। धीरे-धीरे उन्होंने मुगलों के किलों पर अधिकार जमाया। सबसे पहले धंधेरा का दुर्ग जीता। वहाँ के पराजित राजा ने उन्हें अपनी कन्या ब्याही। फिर सिरौंज की चौकी पर अधिकार किया। अगला धावा धमौमी दुर्ग पर हुआ। फिर बाँस के जागीरदार से सुगठित न्याय पूर्ण हिन्दू राज्य स्थापना के लिए सहायता माँगी पर वह माना नहीं तो उसे हराया। उसे हराकर उसके स्थान पर उसके पुत्र को वहाँ का अधिपति बनाया। इस प्रकार धीरे-धीरे अपनी शक्ति बढ़ाते हुए वे बुन्देलखण्ड के बड़े साम्राज्य को गठित करने में सफल हुए।

पहले जो हिन्दू राजा उनकी सहायता करने से इन्कार करते थे। अब वे उनके बढ़ते प्रताप को देखकर उनसे आ मिले। उन्होंने ग्वालियर के क़िलेदार मनव्वर खाँ को हराया। १६७८ में उन्होंने पन्ना नगर बसाया। अब उनका परिवार यहीं रहने लगा। छत्रसाल के इस उत्कर्ष का समाचार जब मुगल सम्राट औरङ्गजेब के पास पहुँचा तो उसने रणदुल्ला खाँ की कमान में एक बड़ी सेना उन्हें पराजित करने के लिए भेजी। कई ईर्ष्यालु हिन्दू राजाओं ने भी मुगल सेना की सहायता की। किन्तु छत्रसाल की वीरता और बुद्धि चतुराई के कारण मुगल सेना को

परास्त होना पड़ा । इस युद्ध में उन्हें कई तोपें व युद्ध सामग्री हाथ लगी ।

वे मुगल दरबार के लिए जा रही कर—सम्पदा के धन की भरी गाड़ियाँ भी लूट लिया करते थे । इससे उनकी आर्थिक स्थिति और भी सुदृढ़ हो गई । छत्रसाल को पराजित करने के लिए एक एक करके औरङ्गजेब ने तहव्वर खाँ, सैयद लतीफ, अनवर खाँ, और शाह कुली आदि सरदारों के सेनापतित्व में बड़ी बड़ी सेनायें भेजी पर हर बार उन्हें हार खानी पड़ी । इसका कारण महाराज छत्रसाल के सैनिकों की देश-प्रेम की भावनायें व महाराज का परमार्थिक दृष्टिकोण था ।

छत्रसाल योद्धा ही नहीं साहित्यप्रेमी भी थे । उनके दरबार में लाल कवि व भूषण जैसे कवि रहे थे । महाकवि भूषण के सम्मान में तो वे उनकी पालकी के कहार भी बने थे । इसका कारण यह था कि भूषण पहले शिवाजी के दरबार में रहे थे । महाराज छत्रसाल उन्हें उपहार में शिवाजी द्वारा दिये गये धन से अधिक धन देकर उनका अपमान नहीं करना चाहते थे अतः उन्होंने अपनी भावना को यों प्रकट किया ।

सन् १६८७ में स्वामी प्राणनाथ द्वारा पन्ना में उनका विधिवत राज्याभिषेक किया गया । वृद्धावस्था में वे राज्य भार अपने पुत्रों को सौंप कर वानप्रस्थ जीवन व्यतीत करने लगे थे । किन्तु फिर ८६ वर्ष की आयु में उन्हें अपने हाथ में तलवार पकड़नी पड़ी । उनके पुत्र जगत राज पर मुहम्मद खाँ बंगस नाक मुसलमान ने आक्रमण किया । दो बार तो वह हारा पर तीसरी बार उसकी विजय हुई । इस पर वे बहुत दुखी हुए । एक बार फिर उन्होंने महाराष्ट्र की ओर सहायता के लिए हाथ फैलाया । उन्हें सहायता मिली । शिवाजी के पौत्र साहू के सचिव बाजीराव ने उनकी सहायता की । और बंगस को हार खानी पड़ी ।

छत्रसाल और शिवाजी का उद्योग यों ऊपर से तो अन्य राजाओं द्वारा राज्य विस्तार सा ही दिखाई पड़ता है किन्तु उस समय के संदर्भ में जबकि प्रत्येक राजा अपने क्षुद्र स्वार्थों के वशीभूत होकर मुगल कुशासन और उसके अन्याय को सिर झुकाकर स्वीकार कर रहा था, बिना किसी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा के इतना बड़ा उद्योग करना और एक सुगठित न्यायपरक साम्राज्य की स्थापना करना एक क्रान्तिकारी प्रयास है । उनके उस उद्योग के पीछे भोग लिप्सा नहीं बलिदान का भाव है । यह भाव हमारे लिए आज भी उपयोगी है ।



'वह अपने को सौंदर्य प्रेमी नहीं, सौंदर्य-योगी मानता था । बातचीत के दौरान बहुधा वह आवाज को जरा नीची और भारी बनाकर दार्शनिक अदा से कहता-"ज्ञान, कर्म, भक्ति ये योग की निचली सीढ़ियाँ हैं । सर्वोच्च सीढ़ी है सौंदर्य-योग । वेदों में भी कहा है..........पर्वतों की रम्य कन्दराओं और नदियों के सुहावने सगमों पर साधक परम तत्व को पाता है ।" और अपने रेगिस्तानी कस्बे में सौंदर्य के घोर अभाव से घबराकर एक दिन वह घर से चल पड़ा । देश के सुन्दरतम रमणीकतम स्थलों पर पन्द्रह वर्ष निवास करके लौटा, तो अपने कस्बे की कुरूपता उसे इस बुरी तरह खली कि उसने अगले ही दिन ब्राह्म-मुहूर्त में वहाँ से चले जाने का सङ्कल्प किया । तब रात को परमात्मा ने स्वप्न में उससे कहा—"नादान, पित्रार्जित पैसे से घूम-घूमकर तू इतने दिन मेरे सिरजे सौंदर्य का भोग करता रहा । इस सौंदर्य में भला तेरा योग क्या था ? अपने भीतर सौंदर्य भर और बाहर सौंदर्य बिखेर ! यदि तेरे हाथ ऊपर जमीन में एक नन्ही हरी पत्ती उपजा पायें, यदि तेरा मुखड़ा देखकर आँसू-भरी आँखों में आशा की चमक दौड़ जाये, तो समझना कि सौंदर्य-योग का क ख ग तूने सीख लिया है ।'

अमर शहीद—शिवराम राजगुरु

स्वातंत्र्य-यज्ञ में अपना सर्वस्व तन, मन, धन, प्राण आहूत कर देने वाले नर पुंगवों में अमर शहीद राजगुरु का नाम अग्र पंक्ति में आता है। सरदार भगतसिंह सुखदेव के साथ हँसते-हंसते फाँसी के फन्दों को चूमने का गौरव उन्हें भी मिला था। इन तीनों देश भक्तों के प्रति भारतीय जनमानस में जो श्रद्धा व सम्मान की भावना थी उसे देखते हुए भावी जनाक्रोश की फुफकारती—उफनती वेगवान सरिता की कल्पना से ही अंग्रेज अधिकारी सशङ्क हो उठे थे। तथा उन्हें निर्धारित समय से बारह घण्टे पूर्व ही फाँसी दे दी। जबकि ब्रिटिश शासन में चोर, डाकू व हत्यारों को भी रात्रि के समय फाँसी नहीं दी जाती थी—किन्तु इन्हें रात्रि में ही फाँसी दी गयी।

भारत को स्वतंत्र कराने के लिए शान्ति व क्रान्ति दोनों का सहारा लिया गया इन दोनों पक्षों का अपना महत्व था। सच पूछा जाय तो सिर पर कफन बाँध कर देश के लिए मर मिटने वाले इन युवकों के बलिदान ने भारत के नागरिकों के हृदय कुण्ड में जो वन्हि जलाई उसकी हमारी स्वतन्त्रता प्राप्ति में कम महत्वपूर्ण भूमिका नहीं रही है। राजगुरु ने भी अपने यौवन के शुभारम्भ के साथ ही इस पथ पर अपने पग बढ़ा दिए थे। पराधीन पददलित, व अपमानित रहने की अपेक्षा उन्होंने अन्याय से संघर्ष करना ही अभीष्ट समझा। उन्होंने अपने जीवन का एक ही ध्येय बना लिया। वह ध्येय था भारत माता को परतंत्रता की कारा से मुक्ति दिलाना और अपने आपको इस प्रयोजन में बलिदान कर देना।

तत्कालीन क्रान्ति कारियों के दल में राजगुरु की तरह ही अनेकानेक युवक भिन्न भिन्न सरिताओं के सागर में आमिलने की तरह ही आ जुटे थे। भावनाएँ सबकी देश के लिए प्राणार्पण की थी। किन्तु योग्यताएँ व क्षमतायें तो एक सी नहीं थी। दलनायक चन्द्रशेखर आजाद थे। वे किसी भी कान्तिकारी को कोई काम कराने के लिए कहने से पहले उसकी योग्यता-क्षमता को भी देखते थे। यहीं राजगुरु भगतसिंह से पिछड़ जाते थे। भगतसिंह उनसे हर दृष्टि से बीस थे। किन्तु राजगुरु की निष्कपट व बलिदान की उत्कट कामना को यह सह्य नहीं हो पाता था

साइमन कमीशन के आगमन पर लाहौर में लाला लाजपत राय के नेतृत्व में जनता ने उसका विरोध किया। शासन की तरफ से विरोध प्रदर्शन के अवसर पर निहत्थी जनता पर लाठियाँ बरसायी गई। इस नृशंस लाठी वर्षा में लाला लाजपत राय लाठियों की मार सहते-सहते गिर पड़े। वे इतनी बुरी तरह पीटे गये थे कि उनका प्राणान्त हो गया। शान्तिवादी तो इस क्रूरता को चुपचाप सह गये किन्तु क्रान्ति कारियों के लिए यह असह्य था। उन्होंने उसका बदला लेनेका निश्चय किया। यह निश्चय पुलिस अधिकारी साँडर्स का वध करना था। इसको क्रियान्वित करने के लिए भगत सिंह को चुना गया।

राजगुरु भी इस 'एक्शन' के समय उनके साथ थे। निश्चित समय पर भी पंजाब केसरी लाला लाजपत राय की हत्या का कारण वह पुलिस अधिकारी पुलिस स्टेशन से बाहर नहीं निकला तो राजगुरु अधिक प्रतीक्षा नहीं कर सके। वे दलनायक आजाद से बोले—'अन्दर जाकर ही मार आऊँ।" आजाद को उनकी यह अधीरता बहुत अखरी। यह अधीरता राजगुरु के उत्कट देश प्रेम व निर्भयता की प्रतीक थी। महान उद्देश्य के साथ बाँध कर सामान्य व्यक्ति भी कितना निर्भय और साहसीहो सकता है उसका यह ज्वलंत उदाहरण है।

साँडर्स वध के समय भी राजगुरु पहले वार करने से चूके नहीं। भगतसिंह वार करे पहले ही उन्होंने मोटर सायकिल पर चढ़ने को उद्यत साँडर्स को अपनी गोली का निशाना बना दिया। गोली उसकी कनपटी पर लगी। सत्कार्यों में भी स्पर्धा हो सकती है। राजगुरु भगतसिंह से स्पर्धा ही करते हैं।

अपनी इस स्पर्धा के कारण उन्हें बार-बार आजाद की डाँट सहनी पड़ती थी व अपने साथियों के सामने

लज्जित होना पड़ता था। किन्तु उन्होंने इसे कभी अपना अपमान नहीं समझा। उन्हें तो बस यही दुख होता था कि उन्हें देश के लिए कुछ करने का अवसर क्यों नहीं दिया जाता।

उनकी यह स्पर्धा केवल आवेश नहीं थी। वे क्रान्तिकारी बनने के पहले अपने आप को भावी परिस्थितियों में दृढ़ रहने के लिए शरीर, मन व आत्मा से तैयार कर चुके थे। एक समय की बात है। उन्होंने भोजन बनाते समय चूल्हे में सड़ासी का मुँह रख दिया जब वह तप कर लाल सूर्य हो गयी तो उसे पकड़ कर अपने सीने पर दागने लगे। गर्म लोहे से दागे जाने की शारीरिक यंत्रणा को बिना आह किये सह रहे थे। दो बार वे ऐसा कर चुके थे तीसरी बार साथियों का ध्यान उनकी ओर गया तो उन्हें रोका और पूछा गया—यह क्या कर रहे हो? "कुछ नहीं देख रहा था कि शारीरिक यंत्रणायें क्या मुझे इस पथ पर आने वाली किसी भी स्थिति में विचलित तो नहीं कर देगी।" यह उनका सीधा सा उत्तर था।

संसद में बम फेंकने की योजना बनी तो भगतसिंह के साथ उन्हें भेजने के बजाय बटुकेश्वर दत्त को भेजने का निर्णय किया गया। राजगुरु इस निश्चय पर चोट खाये सांप की तरह फुफकार उठे। अपनी देश भक्ति व अपनी समर्पण भावना पर एक चोट समझकर उन्होंने तीव्र प्रतिवाद किया। इस निश्चय में केवल आजाद ही परिवर्तन कर सकते थे। वे कोटला मैदान में हुई गुप्त मंत्रणा के पश्चात ही झांसी के लिए प्रस्तान कर चुके थे। दल के अन्य सदस्य भी स्थान परिवर्तन कर चुके थे। राज गुरु को उसके लिए आजाद के पास झाँसी जाना पड़ा। किन्तु आजाद ने उनकी बात नहीं मानी। यही नहीं उन्हें झिड़कियाँ भी सहनी पड़ी। उनका उनके सरल निश्छल चित्त पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उन्हें तो यही मलाल था कि उन्हें क्यों नहीं अवसर दिया जाता—सरफरोशी का।

महाराष्ट्र के एक निर्धन परिवार में जन्मे शिवराम राजगुरु का यह अनोखा व्यक्तित्व यह बताता है कि युग की पुकार सुनकर अपने आपको किसी प्रयोजन विशेष के लिए समर्पित कर देने की स्वाभाविक अन्तः प्रेरणा को दबाया न जाय तो हर स्थिति का हर वर्ग का व्यक्ति श्रेय पथ का पथिक बन कर गौरवान्वित हो सकता है।

संसद में बम विस्फोट के पश्चात् भगतसिंह व बटुकेश्वर दत्त स्वेच्छा से बन्दी हो गये। क्योंकि उन्हें बताया था कि क्रान्तिकारियों का दल जो क्रिया कलाप करता है उसके पीछे उसका उद्देश्य क्या है? इनके पकड़े जाने के बाद गिरफ्तारियों का ताँता लग गया। पुलिस चाक चौबंद हो गई। सुखदेव, जयगोपाल, किशोरी लाल, हंस राज, शिव वर्मा आदि क्रान्तिकारी पकड़े गये। बाद में राजगुरु भी पूना में पकड़ लिए गये। उन पर लाहौर षड़यंत्र केस चलाया गया। इस केस में सुखदेव, भगतसिंह व राजगुरु को फाँसी की सजा दी जाने का फैसला कर दिया गया। अन्य कई क्रान्तिकारियों को आजन्म काले पानी की सजा दी गई।

न्यायालय में ७ अक्टोबर १९३० के दिन जब यह फैसला हुआ तो न्यायाधीश ने अभियुक्तों की उपस्थिति को ठीक नहीं समझा क्योंकि एक साथ इतने लोगों को फाँसी व अजन्म कारावास की सजा सुनाने की जनता पर प्रतिक्रिया हो सकती थी। अतः उन्हें प्रथक-प्रथक बुलाकर फैसला सुनाया गया।

फैसला सुनने के लिए सर्व प्रथम राजगुरु को ही बुलाया गया। मातृभूमि के लिए प्राण दण्ड पाने वालों में वह भगतसिंह से पीछे नहीं रहे थे। यह जानकर उनके हर्ष का पारावार नहीं रहा। न्यायालय में ही उन्होंने इन्किलाब जिंदाबाद" का नारा पुरजोर आवाज में बुलंद किया। इस पर जज ने क्रुद्ध हो उन्हें चुप रहने का आदेश दिया। तो वे दुगुने जोर से यही नारा बुलंद करने लगे। पुलिस बड़ी कठिनाई से उन्हें फाँसी की कोठरी तक ले जा सकी। उनकी उत्कट अभिलाषा पूर्ण हुई वे फाँसी के फन्दे को चूम कर अमर हो गये। वे धन्य हैं जो इस निर्भयता निश्छल व प्रखरता से दीप्त जीवन जीते हैं और मर कर भी अमर बन कर पीछे वालों को मनुष्य जीवन सफल कर जाने का पथ दर्शा जाते हैं।

—⊙—

मानवता के अनन्य सेवक—बादशाह खाँन



नौशहरा बमकांड के सिलसिले में गुप्तचर विभाग जाँच पड़ताल कर रहा था। जाँच का सारा उत्तरदायित्व इस विभाग के एक बड़े अधिकारी शौर्ट के हाथ में था। दिसम्बर का महीना और कड़ाके की सर्दी। जिन व्यक्तियों पर इस काण्ड का इलजाम लगाया गया था उन्हें बयान देने के लिए आज शौर्ट साहब की कोठी पर उपस्थित होना था।

बड़ी इन्तजारी के बाद सवा छः फुट लम्बे एक जवान का नम्बर आया। अंग्रेज सरकार इसे जानबूझ कर फँसाना चाहती थी। उसने बड़ी मस्ती के साथ अपने अपने दोनों हाथ छाती से बाँध लिए और दृढ़ लम्बी टाँगों को आराम के लिए छोड़ दिया। शौर्ट अपने तुनक मिजाज के लिए प्रसिद्ध था। उसने जवान से पहला प्रश्न किया। जवान भी पीछे हटने वाला न था। उसने भी नहले पर दहला जड़ते हुए कड़कती आवाज में उत्तर दे दिया। शराब की मस्ती में बैठे साहब का दिल कांपने लगा। उसे अपने सामने की दीवारें हिलती हुई नई नजर आने लगी। उन्होंने अपने को सँभालते हुए कहा—'तुमने हमको शायद बहरा समझ लिया है अम बहरा नहीं है।'

और जब उस जवान से दूसरा प्रश्न पूछा गया तो उसने इतने धीरे से दिया मानों किसी के कान में बुदबुदाया हो। उसके ओठ हिलते दिखाई दिये पर आवाज न सुनी जा सकी। शौर्ट ने झल्लाकर कहा—'तुम अजीब आदमी है। अबकी बार इतना धीरे बोला कि सुनाई ही नहीं पड़ा। जोर से बोलो।'

वह निर्भीक जवान इसी मौके का इन्तजार कर रहा था। उसने कड़कडाती हुई आवाज में कहा—'अगर मैं जोर से बोलता हूँ तो कहते हो धीरे बोलो और धीरे बोलता हूँ तो कहते हो जोर से बोलो। यही अच्छा है कि तुम मुझे बोलने का तरीका बता दो।'

अंग्रेज अधिकारी भारतियों के मुँह से ऐसे मुँहफट उत्तर सुनने के अभ्यस्त न थे। शौर्ट को लगा कि यह जवान कुछ भी कर सकता है। उसने अपने भय को छिपाकर बाहर खड़े सिपाहियों को अपनी सहायता के लिए बुलाकर उस अक्खड़ जवान को इनके हवाले कर दिया। वह जवान शौर्ट की कोठी से ऐसे बाहर निकला मानो कोई शेर जीतकर पिंजरे से निकल रहा हो। शौर्ट उस स्वाभिमानी शेर को बाहर जाते देखता रहा पर एक शब्द भी उसके सामने न बोला। साहब पर चढ़ा शराब का नशा तो पहले उत्तर में ही, काफूर हो चुका था।

गुप्तचर विभाग के वरिष्ठ अंग्रेज अधिकारी से लोहा लेने वाला यह कोई सामान्य व्यक्ति नहीं वरन् बादशाह खाँन थे जो युवावस्था से ही समाज के अन्धविश्वासों और अंग्रेजों के शोषण के विरुद्ध अपनी आवाज बुलन्द करते रहे।

खान अब्दुल गफ्फार खाँ ने अपने प्रारम्भिक जीवन में देखा कि उनकी पख्तून जाति ज्ञान के अभाव में परस्पर दल बन्दी, ईर्ष्या-द्वेष और अंधविश्वासों में फँसी हुई है। इस स्थिति से जाति को मुक्त कराने के लिए उन्होंने शिक्षा प्रचार का कार्य अपने हाथ में लिया और अनेक विद्यालय तथा महाविद्यालयों की स्थापना कराई। अंग्रेज सरकार उस समय समाज सुधारों की ऐसी गतिविधियों पर कड़ी नजर रखती थी। वह सुधारात्मक गतिविधियों में विरोध की गन्ध अनुभव करती थी।

बादशाह खाँ सरकार की आँखों में खटकने लगे। शत्रुओं की सूची में एक और नाम बढ़ गया। पर बादशाह खाँ सरकार के कड़े विरोध से झुकने वाले कब थे? उन्होंने मानव मात्र की सेवा के उद्देश्य से 'अंजुमन इसलाह' तथा 'खुदाई खिदमतगार' नामक संस्थाओं की स्थापना की। उन्होंने अपने अभियान को और अधिक तीव्र करने के लिए सन् १६२८ में 'पख्तून' नामक पत्र भी प्रकाशित किया। उस पर अंग्रेज सरकार ने कई बार रोक लगाई।

सत्य, अहिंसा और सादगी को अपने कार्यक्रम का आधार बनाया। उन्होंने गुप्त रूप से गाँव-गाँव घूमकर मदीना, अलहलाल, अलबलगा, जमींदार आदि क्रान्तिकारी

समाचार पत्रों का प्रचार प्रसार किया। वह अच्छी तरह जानते थे कि देश में सामाजिक और राजनीतिक क्रान्ति निष्पक्ष और निर्भीक समाचार पत्रों के द्वारा ही आ सकती है।

बादशाह खाँ कांग्रेस की राजनीतिक गतिविधियों से अप्रत्यक्ष रूप से बहुत पहले ही परिचित हो चुके थे। सन् १९१९ में उनके निवास स्थान उतमान जई में रौलट एक्ट के विरुद्ध जो आम सभा आयोजित की गयी थी उसका श्रेय बादशाह खां को ही था। सन् १९२० के कलकत्ता तथा नागपुर के कांग्रेस सम्मेलनों की अपीलों से वह बहुत प्रभावित हुए। सन् १९२८ में जब कांग्रेज का अधिवेशन लखनऊ में हुआ तो सबसे पहले बादशाह खाँ की मुलाकात गांधीजी तथा नेहरू जी से हुई। तभी उनकी राजनीतिक गतिविधियाँ और तेज हो गयीं। कांग्रेस दल में उनकी लोकप्रियता इतनी बढ़ती चली गयी कि सन् १९३४ के बम्बई अधिवेशन में उन्हें अध्यक्ष पद ग्रहण करने के लिए विवश किया गया। पर वह एक विनम्र सिपाही से अधिक किसी पद को ग्रहण नहीं करना चाहते थे। इसी अवसर पर अखिल भारतीय स्वदेशी प्रदर्शनी का उद्घाटन करने के लिए उनसे आग्रह किया गया तो वे बड़ी मुश्किल से तैयार हुए। आधुनिक नेताओं की तरह केवल भाषण देकर उद्घाटन की औपचारिकता में उनका विश्वास नहीं है। वह केवल सिद्धान्तों में ही विश्वास नहीं करते वरन् गाँधीजी की तरह अपने व्यवहारिक जीवन को आदर्शमय बनाना चाहते थे। उन्होंने वर्धा और कलकत्ता में कांग्रेस की शक्ति को बढ़ाने में महत्वपूर्ण कार्य किया।

उनके जीवन के तीस महत्वपूर्ण वर्ष जेलों में बीते। वहाँ दुर्गन्धयुक्त सड़ा गला भोजन, अंधेरी कोठरी, धूल और जुओं से भरे वस्त्र, कठिन से कठिन कार्य, हाथ-पैर की तंग बेड़ियाँ जैसी अनेक यातनायें भी उनके आदर्श को विचलित न कर सकी। वे शक्ति सम्पन्न होते हुए भी शत्रु के प्रति सदैव नम्रता का व्यवहार करते थे। कभी कभी जेल में अपराधी कैदियों के मध्य संघर्ष की स्थिति आ जाती तो वे कड़े प्रेम से उनका निराकरण कर देते थे। उनका सदैव यही प्रयास रहता था कि कैदियों में अच्छे संस्कार पड़ें और यहाँ से मुक्त होने के बाद अच्छे इन्सान की तरह जीवन जी सकें।

संत सुकरात की तरह वह जेल के किसी नियम को तोड़ना उचित नहीं समझते थे। जब कभी कोई अधिकारी उनके प्रेम और त्याग को देख कर कोई सुविधा देना चाहता था तो वे बड़ी आत्मीयता के साथ अस्वीकार कर देते थे। कितनी ही बार उनके लिए गेहूँ के स्थान पर पिसा आटा या बाहर से भोजन भेजने का प्रयास किया गया तो उन्होंने मना करते हुए यही कहा—"इससे आपकी नौकरी खतरे में पड़ सकती है। और मेरे पवित्र उद्देश्यों पर भी दूसरों को शङ्का हो सकती है। समय समय पर अंग्रेजों द्वारा भी उन्हें प्रयोजन दिये जाते पर वह इन सारी बातों से बड़े सतर्क रहते थे। बड़ी से बड़ी प्रताड़नाएँ उन्हें कर्तव्यच्युत न कर सकीं।

अहिंसा के प्रति अटूट आस्था ने ही उन्हें सीमान्त

फार्म ४

१	प्रकाशन का स्थान	मथुरा
२	प्रकाशन की अवधि	मासिक,
३	मुद्रक का नाम	लीलापत शर्मा
	राष्ट्रीयता	भारतीय
	पता	युग निर्माण योजना मथुरा,
४	प्रकाशक का नाम	लीलापत शर्मा,
	राष्ट्रीयता	भारतीय
	पता	युग निर्माण योजना गायत्री तपोभूमि मथुरा
५	संपादक का नाम	श्री भगवती देवी शर्मा
	राष्ट्रियता—	भारतीय
	पता	युग-निर्माण योजना गायत्री तपोभूमि मथुरा,
६	स्वत्वाधिकारी	युग निर्माण योजना, ट्रस्ट गायत्री तपोभूमि, मथुरा,

मैं लीलापत शर्मा प्रकट करता हूँ कि ऊपर लिखे तथ्य मेरी जानकारी और विश्वासानुसार सही हैं।

हस्ताक्षर—लीलापत शर्मा

गाँधी बना दिया। । 'खुदाई खिदमतगार' का मुख्य उद्देश्य किसी से बदला न लेना, हिंसा न करना, अत्याचारी और आततायी को भी क्षमा दान देना तथा मानवमात्र के प्रति सेवा करना था। पख्तूनों के हाथ से बन्दूक फिंकवाकर उनके हिंसा से पूर्ण हृदय में मानव प्रेम की सुरसरि प्रवाहित करने तथा शोषण और अन्याय के प्रतिकार हेतु सत्याग्रह करने की प्रेरणा देने का प्रमुख कार्य बादशाह खाँ के द्वारा ही हुआ। अंग्रेजों के अत्याचार व दमनचक्र उनके संगठन को अहिंसा के रास्ते से एक कदम भी न हटा सके।

सन् १९३९ में कांग्रेस कार्यकरिणी, ब्रिटिश सरकार की युद्ध में सहायता देने को इसलिए तैयार हो गई कि बाद को भारत स्वतन्त्र होजायेगा। पर अहिंसा के अनन्य उपासक बादशाह खां ने उस कार्य कारिणी से त्याग पत्र देकर अपना विरोध प्रकट किया। वे स्वतन्त्रता से भी बढ़कर अहिंसा को महत्व देते थे। उनकी दृष्टि में युद्ध मे अंग्रेजों की सहायता करना हिंसा को बढ़ावा देना था।

वह आज भी हिंसा को सारे संसार के लिए विनाश का कारण मानते हैं। हिंसा घृणा है और अहिंसा प्रेम। इसलिए वह प्रत्येक समस्या को शांतिमय ढंग से हल करना चाहते हैं। सन् १९४२ में 'भारत छोड़ो आंदोलन' के समय जब समूचा देश हिंसा की आग में जल रहा था, अंग्रेजों द्वारा प्रयास करने पर भी सीमाप्रान्त में एक भी हिंसक वारदात नहीं हुई। इसीलिए गाँधीजी को कहना पड़ा 'पख्तून एक बहादुर जाति है और इस लिए पठानों ने हिंसा नहीं की है।'

उनका धर्म जीवमात्र की सेवा करने, मनुष्य को सत्य न्याय और बन्धुत्व का ज्ञान कराने के लिए है। इससे आध्यात्मिक और नैतिक भावना का विकास होता है। जिस व्यक्ति में मानव जाति के प्रतिप्रेम और हित चिंतन की बात नहीं होती, अवसर आने पर अन्तर में छिपी घृणा को बाहर निकालने का प्रयास करता है, उनकी दृष्टि में वह धर्म से बहुत दूर है।

बादशाह खाँ का अबतक का दीर्घकालीन जीवन सच्चे इन्सान की तरह बीता है और उनकी मानव मात्र से अपेक्षा भी यही है कि वह कर्तव्य भावना से प्रेरित होकर सच्चे इन्सान की तरह जीवन को जिएँ।

—⊙—⊙—

जीवन एक सूर्यकान्त मणि

महाप्राज्ञ का अन्तकाल निकट आया तो उसने अत्यन्त प्रयत्न के द्वारा प्राप्त 'सूर्यकान्त मणि' अपने पुत्र सौमनस को दी और कहा—यह कामधेनु के समान मनोवांछा प्रदान करने वाली है। इसको सँभालकर रखना। इससे तुम्हारी सब आवश्यकतायें सहज में ही पूर्ण हो सकगी और तुम्हें कभी किसी चीज का अभाव नहीं हो सकेगा।

सौमनस ने मणि तो लेली पर पिता के उपदेशों पर कुछ ध्यान नहीं दिया। रात्रि के समय दीपक के स्थान पर वह उसका उपयोग करने लगा। एक दिन उसकी प्रेयसी वेश्या ने उपहार में वह मणि मांगी। और सौमनस ने उसे बिना किसी संकोच के दे डाला।

वेश्या ने कुछ समय बाद एक जौहरी के हाथ उसे बेच दिया और उस धन से शृङ्गार की सामग्री खरीद ली। जौहरी ने मणि की परीक्षा की और रासायनिक प्रयोगों द्वारा उसकी सहायता से बहुत-सा सोना बना लिया। इससे वह बड़ा वैभवशाली बन गया और अपना जीवन राजा महाराजाओं की तरह व्यतीत करने लगा। अनेक दीन-दुखियों की भी उसने उस स्वर्ण राशि से बहुत सहायता की।

आनन्द ने अपने शिष्य विद्रुथ को यह कथा सुनाते हुए कहा—वत्स ! यह जीवन सूर्यकान्त मणि के समान है। इसका सदुपयोग करना कोई-कोई पारखी जौहरी ही जानते हैं, अन्यथा सौमनस और गणिका की तरह उसे कौड़ी मोल गँवा देने वाले ही अधिक होते हैं।

अनुक्रमणिका

१- जाग जाये व्यक्ति का साहस अगर (कविता) १
२- प्रमाद का दुष्परिणाम २
३- इसके अतिरिक्त और कोई चारा नहीं ३
४- उसकी जगह मैं ही जल जाऊं ६
५- सम्राट समुद्र गुप्त साम्राज्य जिनके लिये साधना था साध्य नहीं ७
६- कटीली झाड़ियों में खिला फूल—जार्ज कार्वर ६
७- सम्पत्ति का व्यय और उपयोग १२
८- सम्पन्न हों पर मानवता खोकर नहीं १३
६- साहस व धैर्य के धनी--बहादुरशाह जफर १५
१०- क्रूर जिरार्ड-अनाथों का सहृदय पिता भी १७
११- चरित्र निष्ठा से ही व्यक्ति और समाज का कल्याण होगा। १६
१२- सहृदय साधु पुरुष--डॉ०कैलाश नाथ काटजू २१
१३- अनुशासन ही समाज को आगे बढ़ाता है २४
१४- देश प्रेम और स्वतन्त्रता के प्रतीक- डी० वेलेरा २७
१५- महाराष्ट्र के पुनर्प्रतिष्ठापक पेशवा बाजीराव ३०
१६- सामाजिक और आर्थिक स्थिति पर नशों का दुष्प्रभाव ३३
१७- मान्य विद्वान और समाज सेवी—पं०गिरधर शर्मा चतुर्वेदी ३६
१८- स्वाधीन भारत के स्वप्न द्रष्टा--बदरुद्दीन तैय्यबजी ३६
१६- प्रो० एच० विल्सन मैक्समूलर जिनके उत्तराधिकारी बने ४३
२०- साधनों के साथ चेतना का विकास भी आवश्यक ४५
२१- इतालवी जनता के मुक्तिदाता--ज्यीसैपगैरीबाल्डी ४८
२२- चिकित्सा क्षेत्र में नये युग के प्रवर्तक मारियो पोजियो ५२
२३- अन्धविश्वासों की कलिमा पूर्ण छाया ५५
२४- गिनी बिसाऊ का स्वातन्त्र्य सृष्टा—एमिलकार-कब्राल ५८
२५- पाब्लो नेरुदा—जिनकी कवितायें स्याही से अधिक लोहू से लिखी गयी हैं ६१
२६- अनावश्यक वस्त्रों से स्वास्थ्य को न मारें ६३

सम्पर्क सूत्रः—युग निर्माण योजना मथुरा

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ।



नैतिक एवं सांस्कृतिक पुनरुत्थान की मासिक पत्रिका

वर्ष १५ अङ्क १०

अप्रैल १९७७

वार्षिक मूल्य १२) रुपये
दस वर्ष का चन्दा १००)

जाग जाये व्यक्ति का साहस अगर !

जाग जाये व्यक्ति का साहस अगर ।
है वहुत आसान जीवन का सफर ।।
फूल क्या, औ शूल क्या, जव चल पड़े ।
थी शरम की वात, यदि रहते खड़े ।।
रौंदते जाओ विछे काँटे अगर ।
पार कर लोगे सहज अपनी डगर ।।
जाग जाये व्यक्ति का साहस अगर ।।
हम गिरें, तो वाँह कोई थाम ले ।
सोचना ऐसा कभी मत वावले !
खुद सम्हल जाना, लगे ठोकर अगर ।
और भी पुरुषत्व जायेगा निखर ।।
जाग जाये व्यक्ति का साहस अगर ।।
जिन्दगी का—शक्ति ही पाथेय है ।
साहसी ही, विश्व वीच अजेय है ।।
चाहते वरना विजय श्री तुम अगर ।
मनोवल अपना, वनाओ तुम प्रखर ।।
जाग जाये व्यक्ति का साहस अगर ।
है वहुत आसान जीवन का सफर ।।

—माया वर्मा

प्रमाद का दुष्परिणाम

सोलह बार मुहम्मद गौरी को हरा देने के बाद पृथ्वी राज को जैसे गर्व हो गया था। वह समझने लगे थे कि गौरी अब उन्हें परास्त नहीं कर सकता है। विजय के गर्व ने उन्हें इस तथ्य को भुला दिया था कि गफलत में पड़जाने पर विजय क्षण भर में ही पराजय में बदल सकती है। वे न केवल इस तथ्य के प्रति आँखें मूंदे थे वरन् उन्होंने ऐसी गतिविधियां भी अपनानी शुरू कर दी थी जिससे लगता था कि वे अपने दायित्व के प्रति अब उतने गम्भीर नहीं रह गये हैं।

संयोगिता जैसी अनिन्द्य सुन्दरी से उनका विवाह हुआ था। और वे अपनी प्रियतमा के रूप जाल में ऐसे खो गये थे कि न राज्य प्रवन्ध सूझता था और न ही सुरक्षा की ओर कोई ध्यान था। अपनी दुनिया को पृथ्वी राज ने संयोगिता के कक्ष तक ही समेट लिया था। कब दिन उगता है और कब शाम होती है—पृथ्वी राज को इसका कोई पता नहीं चलता। संयोगिता की रूप माधुरी को देखते देखते आँखें थक जातीं पर देखने की चाह न मिटती। स्पर्श सुख की चाह कभी नहीं मिटती है। वह बुझाने के प्रयास में आग को घी से भड़काने की तरह और और भड़कती ही जाती है।

फिर खबर मिली कि गौरी पुनः आक्रमण की तैयारी कर रहा था। गौरी की आँखों में तो भारत की उस अपार सम्पदा के सपने तैर रहे थे जो विजय के बाद उसके करतल गत होती मालूम पड़ती थी। जब भी दरबार में कोई भारत की श्री समृद्धि की चर्चा करता तो उसके मुँह से आह निकल जाती थी और विचार आने लगते थे कि कब उसका सपना पूरा होगा। अपना स्वप्न पूरा करने के लिए गौरी दिन रात उधेड़ बुन में लगा रहता था। सोलह बार आक्रमण करने और हर बार पराजित होने पर वह यह तो अच्छी तरह समझ चुका था कि भारतीय वीरों का पराक्रम वह आमने सामने होकर नहीं झेल सकता है। सम्भवतः वह इसी लिए चाहता था कि कोई दूसरा रास्ता अपनाया जाय। यह दूसरा रास्ता खोजने में उसके जासूसों ने सफलता प्राप्तकर ली थी। विदित हुआ था कि कन्नौज का राजा पृथ्वी राज से जला भुना बैठा है और उसको साथ लिया जाय। वह विभीषण साबित हो सकता था।

विश्वस्त साथियों को मध्यस्थ बना कर गौरी ने जयचन्द का सहयोग पाने में सफलता प्राप्त करली थी। जब आक्रमण की पूरी तैयारियाँ हो गयी और इस बात का पता पृथ्वीराज के मंत्री गुरुराम और राज्य कवि चन्द को चला तो उन्होंने इससे पृथ्वीराज को सूचित करना आवश्यक समझा। चन्द और गुरुराम जब आक्रमण की सूचना देने गये तब भी पृथ्वीराज अपने विलास कक्ष में मग्न थे। बिना कुछ जाने ही पृथ्वी राज ने किसी से भी मिलने के लिए मना कर दिया। तो चन्द ने यह संदेश भिजवाय—

कग्गर अप्पहं राज कर, मुँह अप्पहं इह वत्त।
गौरी रतौ तुम धरनी, तुम गौरी रस रत्त॥

'यह काम करने के लिए पूरा जीवन पड़ा है। गौरी तुम्हारी मातृभूमि को ताक रहा है और तुम गोरी-स्त्री रस में ही डूबे हो।"

तब भी पृथ्वी राज ने कोई तत्परता नहीं दिखाई। संयोगिता को जब इस बात का पता चला तो उसने अपने पति को फटकारा और कहा—जब शत्रु तुम्हारी मातृभूमि पर आंख गड़ाये हुए है तब तुम यहाँ क्या कर रहे हो।

सन्न रह गया पृथ्वी राज और फिर उस फटकार को सुनकर बाहर निकल आया। लेकिन अब तक बहुत देर हो चुकी थी इस युद्ध में पृथ्वी राज गौरी से हारा। काश पृथ्वी राज सो नहीं जाता, राग रंग में डूबा नहीं होता तो भारत का इतिहास आज कुछ और ही होता।



इसके अतिरिक्त और कोई चारा नहीं

देश, काल और पात्र की आवश्यकताओं को देखते हुए मानव जीवन की सार्थकता के लिए हमें आज क्या कार्यक्रम अपनाने चाहिये ? गम्भीरता पूर्वक यह विचार करने पर एक ही निष्कर्ष निकलता है कि दुर्भावना एवं दुष्प्रवृत्ति के बढ़े हुए प्रकोप के उन्मूलन के लिए हमें प्राण-पण से जुट पड़ना चाहिये। आज इसी ताड़का का उपद्रव इस ऋषि भूमि में सबसे अधिक हो रहा है। जब तक सद्भावनाओं की प्रवृत्ति बढ़ेगी नहीं तब तक सुधार के सारे प्रयत्न निष्फल होते रहेंगे। ऊसर भूमि में बहुत वर्षा होने पर भी घास नहीं जमती, उसी प्रकार दुर्बुद्धि से भरे हुए व्यक्ति बहुत उपकार करने एवं सहयोग देने से भी ऊँचे नहीं उठ सकते।

भिक्षुकों को देखकर सहृदय व्यक्ति को दया आना स्वभाविक है। सोचते हैं इन बेचारों को सुखी बनाने के लिए शक्ति भर मदद करनी चाहिये। भावना से प्रेरित होकर अपने बच्चों का पेट काटते हैं, भविष्य के लिए कुछ बचा कर रखा था उसे समाप्त करते हैं और उसे भिखारियों में बांट देते है। सोचते हैं यह बेचारे सुखी होंगे, जरूरत पूरी हो जाने पर आर्शीवाद देंगे। पर जब परिणाम देखते हैं तो दूसरा ही निकलता है। प्राप्त हुए पैसे को लेकर वह भिखारी बीड़ी खरीदता है या जोड़ने के लिए जमा कर लेता है। आज का काम चल गया, कल फिर वही व्यवसाय चलाता है। इस प्रकार हमारे जैसे ढेरों दानी रोज ही उसकी सहाता करते हैं पर एक सामयिक छोटी आवश्यकता मात्र वे पूरी कर पाते हैं। भिखारी आजीवन भिक्षा वृत्ति ही करता रहता है, दुःख का कोई अन्त नहीं होता।

क्या यह अच्छा न होता कि उसे कुछ काम करने के लिए समझाया या दबाया जाता उस दिशा में उसका सहयोग किया जाता। यदि यह प्रयोग सफल हो सकता तो वह भिखारी दूसरे अन्य लोगों की तरह ही अपने भुज बल से कमाता खाता, स्वावलम्बी और स्वाभिमानी जीवन यापन करता। स्वयं मांगने की अपेक्षा दूसरों को देने की स्थिति में होता। दान देकर नहीं उसकी वृत्ति को बदल कर ही समस्या का हल हो सकना सम्भव है। बीमार को देखकर, उन्हें कष्ट से कराहते हुए, आर्थिक संकट में फँसते हुए देखकर सहृदयता की भावना जगती है, वह सोचता है, ऐसे लोगों के लिए चिकित्सालय स्थापित करना चाहिए। इस उदार भावना से प्रेरित होकर वह अपनी सारी सामर्थ्य खर्च करके औषधालय खुल वाता है। सोचता है इससे संसार की एक बड़ी कठिनाई दूर होगी। हर साल हजारों रोगी अच्छे हुआ करेंगे। औषधालय खुलता है, दवाएँ बटती हैं, रोगी आते हैं और अच्छे भी होते है। पर आरोग्य रक्षा का उद्देश्य पूरा नहीं होता। आहार विहार का असंयम करने वाले व्यक्ति रोग मुक्त होते होते अपने पुराने ढर्रे पर फिर आ जाते हैं। फिर बीमार पड़ते हैं। फिर दवा लेने आते है। एक रोग से पीछा छूटा नहीं कि दूसरा आ घेरता है। ढेरों औषधियाँ खर्च होती है, बेचारे चिकित्सक का समय लगता है पर बीमारी की समस्या ज्योंकी त्यों उलझी रहती है। विचार शीलता कहती है कि लोगों को आदतें बदलने की प्रेरणा दिये बिना काम नहीं चलेगा। नशे बाजी छूटेगी नहीं, असंयम घटेगा नहीं, अनियमितता घटेगी नहीं तो रोग भी कब छूट ने वाला है। जलते तवे पर पानी के थोड़े से छींटे क्या प्रयोजन पूरा करेंगे ? दवाओं से नहीं प्रवृत्ति बदलने से रोग घटेंगे, लोगों को इसी का शिक्षण देना चाहिये। कोई मित्र या सम्बन्धी कर्ज या गरीबी में फस कर अपने पास आर्थिक सहायता को आता है। अपने को कठिनाई में डाल कर उसकी वह आवश्यकता पूरी कर दी गई। सोचा था बेचारा एक बड़ी मुसीबत से निकल जायगा। पर ऐसा नहीं हो सका। पिछला कर्ज तो उसने चुका दिया, रुका हुआ कारोबार भी चालू कर लिया, पर फिजूल खर्ची की आदत नहीं छोड़ी। अपनी हैसियत से अधिक उचित अनुचित कामों में फिर खर्च किया, लापरवाही बरती थोड़े ही दिन बाद फिर अर्थ संकट सामने आ गया। अब फिर वही सम्बन्धी पहले की तरह दुबारा याचना करता

हैं सहायता के लिए। अब कहाँ से दिया जाय ? यदि देने की स्थिति हो तो भी बार-बार कब तक देते रहा जायगा। ऐसे ही दस बीस मित्रों की माँगे उठने लगी तो अपनी रोटी भी कठिन हो जायगी।

विवेक कहता है आर्थिक तंगी की समस्या कठोर परिश्रम करने, मितव्ययिता बरतने और लापरवाही जरा भी न करने की आदत डालने से ही सुलझेंगी। आर्थिक तंगी जिन कारणों से उत्पन्न हुई है वे कारण यदि बने रहे तो कुबेर भी उनकी जरूरत पूरी न कर सकेगा। घाटा और तंगी बनी ही रहेगी। सामयिक सहायता का थोड़ा महत्व हो सकता है पर ठोस हल तो आदतें सुधारना ही है। इसी के लिए इन मित्र स्वजनों को क्यों न समझाया जाय दबाया जाय ?

पुण्य फलके अभाव में मनुष्य नाना प्रकार की आधि-व्याधियों से घिरे हुए पड़े हैं। एक तपस्वी सोचता है मैं कठोर तप करके आत्मबल उपार्जित करूं और उसका लाभ आशीर्वाद रूप से इन दीन दुखियों को प्रदान करूं। वह ऐसा करता भी है। निरन्तर कठोर तप में लगता है और पुण्य पूंजी जमा करता है। जो दुखिया सामने आते हैं उनके लिए अपनी कमाई दान करता है। कुछ का भला होता है। तप थोड़ा, आर्शीवाद मागने वाले बहुत, कुछ ही दिन में यह सारी पूंजी समाप्त हो जाती है। पहले जिनका दुःख दूर किया था वे अब तक नये कष्टों की शिकायत लेकर फिर सामने आते हैं—उनकी प्रशंशा सुनकर और भी नये दुखियों की भीड़ जमा होती है। अब क्या किया जाय ? तप की पूंजी तो समाप्त हो चुकी। कष्ट तो पुण्य की पूंजी से दूर होते हैं। तप समाप्त हो गया उसे बाटना संभव न रहा तो आर्शीवाद कैसे फलित हो ? दुनिया की भीड़ जमा तपस्वी खाली हाथ। जीवन भर की कठोर कमाई समाप्त हो गई पर एक भी दुखिया का कष्ट दूर न हुआ।

तपस्वी सोचता है यह तरीका गलत है। इन दुखियों को स्वयं ही तप करने और पुण्य उपार्जित करने की प्रेरणा देनी चाहिये ताकि अपने बल बूते पर ही यह लोग सुखी बन सकें। इनकी सच्ची सहायता प्रवृत्तियों के बदलने से ही हो सकती है। अपने ही पुण्य से कोई व्यक्ति सुखी और समुन्नत हो सकता है, अपनी मनोभूमि बदलने से ही तो दुख दरिद्र की स्थिति पलटती है।

एक व्यक्ति सोचता है गरीबी ही सब दुखों की जननी है। इसलिए लोगों की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए उद्योग, उत्पादन, बांध बिजली, मिल, कारखाने आदि खोले जाने चाहिये, इसके लिए वह कम्पनियाँ बनाता है। सरकार के द्वारा ऐसी योजनाएँ चलवाता है। कितने ही लोग काम से लगते भी हैं। तनख्वाहें भी अच्छी मिलती है। अनुमान था कि अब यह कर्मचारी लोग अच्छी आजीविका पाकर सुखी रहेंगे। पर बारीकी से देखने पर कुछ दूसरी बात ही दीखती हैं। (जुआ, शराब, सिनेमा, फिजूल खर्ची, व्यसन बदमाशी जैसे कुसंस्कार उस पैसे को देखते ही भड़क उठते हैं। अधिकांश कमाई बुराईयों में खर्च करके तंगी और गरीबों में ही डूबे रहते हैं) वेतन बढ़ाने का आन्दोलन सफल होने पर बढ़ी आमदनी से जो सुख बढ़ने की सम्भावना थी वह भी सार्थक नहीं हुई। पैसा बढ़ा तो व्यसन भी बढ़े। वह लाभ नहीं मिला जो सोचा गया था।

इतने प्रयत्न करने के बाद देश में खुश हाली बढ़ाने के लिए निरन्तर प्रयत्न शील रहने वाला सज्जन व्यक्ति इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि आमदनी का लाभ तब मिलेगा, जब सद्गुण भी पनपे। दुर्गुणों के रहते बढ़ी हुई आमदनी चलनी में दूध दुहने की तरह कुछ भी लाभदायक न रहेगी। खुशहाली के लिए प्रवृत्तियां बदलने पर भी जोर देना आवश्यक है।

एक व्यक्ति सोचता है कि राजनीति में बड़ी शक्ति हैं। सरकारी प्रयत्नों के द्वारा कानून के द्वारा देश की काया पलट की जा सकती है इसलिए चुनाव लड़ना चाहिये और सरकार में प्रवेश करना चाहिये। वह चुनाव में खड़ा होता है। पर वोटर तो जाति वाद के प्रलोभनों के चक्कर में फँसे पड़े है, उन्हें सिद्धान्तों की और व्यक्तियों की अच्छाई बुराई का, देश और समाज का ध्यान नहीं, वे तो अपने व्यक्तिगत सम्पर्क और स्वार्थ की बात सोचते हैं। अपने मिलने जुलने वालों को किसी लाभ की आशा से वोट देते हैं। बेचारा ईमानदार देश भक्त हार जाता

है। पैसा लुटाने वाला हर तरह के हथकण्डे काम में लाने वाला दुश्चरित्र व्यक्ति जीत जाता है।

हारने के बाद वह सोचता है कि सरकार से मनचाहे अच्छे काम कराना तब तक संभव नहीं जब तक कि वोटरों की प्रवृत्ति न बदले, अच्छे सदस्य ही अच्छी सरकार बनाते है, अच्छे सदस्यों को चुना जाना अच्छे विचारों की जनता द्वारा ही संभव है। इसलिए पहला कार्य वोट देने वाली जनता को देश भक्ति, कर्तव्य-पालन और वोट का राष्ट्रीय थाती मानने की शिक्षा देना है। जनता जितना बदलेगी उतनी ही सरकार सुधरेगी। अच्छे दूध से ही अच्छा घी निकलेगा।

एक व्यक्ति सोचता है कि बड़ा अफसर या अधिकारी बनकर वह जनता का बड़ा हित साधन करेगा। इसके लिये वह उच्च शिक्षा प्राप्त करता है। घोर श्रम करके इस योग्य बनता है कि अधिकारी नियुक्त हो सके। सफलता मिलती है और वह पूरी ईमानदारी एवं लगन से जन हित का ध्यान रखते हुए व्यवस्था बनाता है। पर कुछ ही दिन में वह अपने को असफल और लाचार पाता है। निर्धारित सरकारी कार्य पद्धति की आड़ लेकर नीचे के कर्मचारी कामचोरी और रिश्वत खोरी की गुन्जायश बनाये रहते है। बेईमान जनता और बेईमान अफसरों की मिली भगत से रिश्वत पकड़ी नहीं जाती। सताये हुए लोगों की शिकायत को बेकार बताने के लिए कर्म चारी अपने कानूनी दाव पेच पहले से ही ठीक रखे रहते है। दण्ड देने की व्यवस्था बहुत ही जटिल होने के कारण वह अफसर नीचे वालों का कुछ बिगाड़ भी नहीं सकता। सुधारवादी अधिकारी हाथ मलते रह जाता है।

इन्जीनियर और ठेकेदार मिलकर निर्माण कार्यों में गड़बड़ी करें तो उनको कैसे पकड़ा जाय ? पुलिस और डाकू मिल जुल कर षड़यंत्र बना लें उनकी रोकथाम कैसे हो ? रिश्वत लेने वालों और देने वालों के पारस्परिक स्वार्थ सधे रहे तो उन पर प्रतिबन्ध कैसे लगे ? व्यभिचारिणी ओर व्यभिचारी का परस्पर सहयोग रहने पर कानून क्या करे ? सरकारी टेक्सों की चोरी में अधिकारी और व्यापारी दोनों ही मिल जांय तो उनकी रोक कैसे हो।?

प्रकट पापों से गुप्त पापों की संख्या सैकड़ों गुनी अधिक होती है। जो पाप प्रकट भी हो जाते हैं, उनके लिए भी कानूनी पेचीदगियों के कारण अपराधियों को दण्ड कहाँ मिलता है ? ऐसी दशा में यह आशा करना कि अधिकारी या मिनिस्टर बनकर कोई बड़ा काम किया जा सकेगा, निराधार और निरर्थक है। अच्छी बुरी सरकारों में अन्तर तो अवश्य होता है पर समाज में फैले हुए अगणित अनाचारों को केवल सरकारी यंत्र के आधार पर ही नहीं रोका जा सकता। इसलिए जन मानस में नैतिकता की—कर्तव्य भावना की प्रवृत्तियों का जाग्रत रहना आवश्यक हैं। मनुष्य आत्मा की पुकार पर ही बुराईयों को रोक सकता है, पापों से बच सकता है। अन्यथा सरकार को लिए विशेषतया आज जैसी प्रजा तंत्री सरकारों के लिए अपराधों को पूर्ण रुपेण रोक सकना कठिन ही है।

स्थिति पर विचार करने से यह समझ में आता है कि कानून या प्रशासन के माध्यम से नही, धर्म और कर्तव्य की भावनाएँ जाग्रत करने से मनुष्य की दुष्प्रवृत्तियाँ नियन्त्रण में रह सकती हैं और तभी क्लेश कलह, अभाव अनाचार उत्पन्न करने वाली अनेक बुराईयों को हटाया जा सकता है।

गुण्डा गर्दी मिटाने के लिए, अपराधियों को दण्ड दिलाने के लिए संघर्षात्मक जो प्रयोग किये जाते है, उनसे भी दुष्टता घटती नहीं, बढ़ती है। चोर ठग जेल में जाकर अन्य साथियों के साथ में अपनी कला में और भी पारंगत बनकर निकलते हैं। यदि उनका हृदय परिवर्तन हुआ तो हर जेल जीवन के बाद अपराधी प्रवृत्ति के लोग और भी अधिक खतरनाक बनकर निकलते हैं। भावना बदलने से बाल्मीकि और अंगुलिमाल डाकू, अम्बपाली और गणिक जैसी शील रहित, सूर और तुलसी जैसे कामुक बदल कर कुछ से कुछ हो सकते है? यह उद्देश्य दण्ड मात्र से पूरा नहीं होता। संसार से अपराधों की जड़ काटने के लिये जेल पर्याप्त नहीं सुधारात्मक शिक्षण की उपयोगिता अधिक है।

एक भावुक व्यक्ति जो अपराधों की पैशाचिकता भरी

(शेष पृष्ठ २६ पर)

उसकी जगह मैं ही जल जाऊं

सन् १९४० की घटना है। सेवा ग्राम जहां राजनीति और स्वतंत्रता आन्दोलन का केन्द्र बना हुआ था वहीं दुखियों और रोगियों को भी गाँधी जी ने सेवा ग्राम में अपने पास रख छोड़ा था। कार्यकर्ताओं को मार्ग दर्शन, देश भर की विभिन्न जगहों से आये पत्रों का उत्तर देने और अपना प्रत्येक कार्य अपने हाथों से करने के बाद जो भी समय बचता गांधी जी इन दुखियों और कष्ट पीड़ितों की सेवा सुश्रुषा में व्यतीत करते थे।

इसी सेवा ग्राम में एक विद्वान भी रहते थे। नाम था उनका परचुरे शास्त्री। संस्कृत और हिन्दी भाषा के विद्वान होने के साथ वे अन्य कई विधाओं के भी मर्मज्ञ थे। लेकिन उन्हें कुष्ठ रोग था—जो सर्वाधिक घृणा जगाने वाला और जुगुप्सा कारी है। स्वयं बापू ने कुष्ठ रोगी की सेवा सुश्रुषा पर सर्वाधिक जोर दिया है। कारण कि आमतौर पर लोग कुष्ठ रोगी के अंगों से बहने वाले पानी और उसके देह से आने वाली बदबू के कारण उसके पास जाना नहीं चाहते। यहीं नहीं यह रोग छूत की बीमारी भी समझा जाता है इस लिए अपने को इस रोग से बचाने के लिए भी लोग कुष्ठ रोगी को एक प्रकार से बहिष्कृत कर देते हैं।

गांधी जी ने इन सब कारणों के रहते हुए भी कुष्ठ रोगी की सेवा को भगवान की सेवा बताया। कारण कि अन्य रोगियों को तो लोग वैसे भी सम्हाल लेते हैं जबकि कुष्ठ रोगी को उसके स्वयं के परिवार वाले ही तिरस्कृत कर देते हैं। लेकिन गाँधी जी ने कुष्ठरोगी की सेवा भगवान की सेवा मान कर करने का आदर्श दिया और वे स्वयं कहने से पहले इस आदर्श को आत्मसात् करने लगे। सेवा ग्राम में तब परचुरे शास्त्री ही कुष्ठ रोगी के रूप में थे और गांधी जी उनकी सेवा स्वयं अपने हाथों से करते, उनकी मालिश करते, उनके घावों को धोते और दवाई लगाते थे।

एक बार जब वे परचुरे शास्त्री जी की सेवा कर रहे थे। तो आश्रम में आये एक नये कार्यकर्ता ने यह सब देखा। और गाँधी जी की पर दुख कातरता को देख कर अभिभूत हुए बिना नहीं रहा। बाद में जब उक्त कार्यकर्ता की गाँधी जी से भेंट हुई तो बोला—"बापू शास्त्री जी के रोग की तो एक बहुत ही गुण कारी औषधि है।"

'क्या'—गाँधी जी ने बड़ी व्यग्रता दर्शाते हुए पूछा।

'मैंने आयुर्वेद की किसी पुस्तक में पढा था कि एक जीवित काला सांप पकड कर लाया जाय और उसे मिट्टी की कोरी हण्डी में भर दिया जाय। फिर हण्डी को गाय के गोबर से बने उपलों की आग में इतना तपाया जाय कि वह साँप हण्डी के अन्दर ही जल कर भस्म हो जाय। इसके बाद सांप की भस्म को शहद के साथ सेवन किया जाय तो जीर्ण कुष्ठ रोग भी नष्ट हो जाता है।"

गाँधीजी परचुरे शास्त्री के स्वभाव को जानते थे। इस लिए उन्होंने शास्त्री जी से बिना पूछे यह उपचार करना ठीक न समझा। हो सकता है। परचुरे शास्त्री इस प्रकार तैयार की गयी औषध से ठीक हो जांय। लेकिन इस हिंसक तरीके से तैयार की गयी औषधि का पता शास्त्री जी को चले और उनका मन गवाही न दे तो उन्हें कितना दुख होगा। इसलिए गांधीजी ने परचुरे शास्त्री को दवा तैयार करने की यह विधि बताते हुए पूछा—अगर तुम यह दवा लेने को राजी हो तो मैं इसका प्रबन्ध करूं।"

जो अशंका थी वही सच हुई। गाँधी जी के मुंह से यह बात सुनकर शास्त्री जी बोले'—बापू यदि साँप को भस्म करने की बजाय मुझे ही भस्म कर दिया जाय तो अच्छा है।

उनका गला रुंध आया था और फिर वे इतना ही कह सके—मैं पिछले जन्म के पापों की वजह से तो यह दण्ड भोग रहा हूँ। उस सांप बेचारे ने हमारा क्या बिगाड़ा है जो उसे जिन्दा ही भस्म कर दिया जाये।

सम्राट समुद्र गुप्त-

साम्राज्य जिनके लिये साधन था साध्य नहीं

सन् ३३५ के आस पास मगध के सिंहासन पर चन्द्र गुप्त प्रथम का पुत्र समुद्र गुप्त बैठा तो उसने बिखरे भारत को पुनः एक सुदृढ़ साम्राज्य के रूप में गठित करने का प्रयास आरम्भ कर दिया। शुंग वंश के पतन के बाद आर्यावर्त में कोई सुदृढ़ साम्राज्य नहीं बचा,था जो विदेशी आक्रमणों से इस देश और इसकी महान संस्कृति की रक्षा कर सके। जिसकी उस समय बहुत अधिक आवश्यकता थी।

समुद्र गुप्त जानता था कि भारत वर्ष की समृद्धि की चर्चाएं सुन-सुन कर विदेशियों के मुँह में पानी भर आता था। किन्तु अभी तक किसी की दाल यहाँ गल नहीं सकी थी। सिकन्दर के पूर्व ईरान के बादशाह दारा ने भारत विजय का सपना देखा था वह साकार नही हो सका। सिकन्दर को भी पंच नद प्रदेश से ही वापस लौट जाना पड़ा था। उसके सेना पति सेल्यूकस को सम्राट चन्द्र गुप्त मौर्य से हार कर अपमान जनक सन्धि करनी पड़ी थी। उसी प्रकार यूनानी आक्रमण कारी डेमेट्रियस और मिएन्डर को भी पुष्यमित्र शुंग ने आर्यावर्त की सीमा के बाहर खदेड़ दिया था। यह सब सम्भव हुआ था एक सुदृढ़ सुगठित साम्राज्य के द्वारा।

समुद्र गुप्त ने इसी उद्देश्य से विजय अभियान चलाया कि वह बिखरे हुए देश को पुनः एक सूत्र में बाँध सके। इसमें उसकी व्यक्तिगत महत्वाकाँक्षा नहीं थी वरन् उस समय को देखते हुए किसी भी विवेक शील और समर्थ व्यक्ति के लिये यह कार्य एक युग धर्म था और साम्राज्य अपने आप में कोई बुरी चीज नहीं होती। यह तो एक व्यवस्था है। अशोक के हाथ में इस व्यवस्था का सूत्र आया तो उसने कितना काम कर दिखाया। समुद्र गुप्त का भी ऐसा ही उद्देश्य था देश और संस्कृति की रक्षा के अपने पुरुषार्थ का सदुपयोग करते हुए एक सुदृढ़ विशाल और न्याय परक साम्राज्य व्यवस्था का गठन करना।

गुप्त साम्राज्य की स्थापना उसके पिता चन्द्र गुप्त ने की थी पर उसे विस्तार दिया था समुद्र गुप्त ने। समुद्र गुप्त को भारत का 'नेपोलियन' भी कहा जाता है अपने इस महान उद्योग के कारण। उसने कई छोटे-छोटे राज्यों पर अधिकार करके मगध के साम्राज्य का विस्तार सारे भारत में किया। इससे उसकी वीरता और युद्ध कौशल का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

बाल्य काल में ही उसमें नेतृत्व और प्रबंध कौशल के गुण विकसित होने लगे थे। अतः उसके पिता ने सबसे छोटा होने पर भी उसे ही युवराज मनोनीत किया। अपने पिता की मृत्यु होने पर जब उसके हाथ में सत्ता आयी तो उसने दिग्विजय के लिए प्रयाण कर दिया। नौ उत्तर भारत के और अठारह वन्य राज्यों पर मगध का प्रभुत्व स्थापित करने के बाद उसने दक्षिण के बारह राज्यों को जीता।

समुद्र गुप्त किसी भी राजा को हरा कर उसका राज्य नहीं छीनता था वरन् उसे अपना करद राज्य बना लिया करता था। अधिपति वही राजा रहता था। पराजित होने पर भी वह उनके साथ समानता का व्यवहार करता था और अपने उस उद्देश्य को स्पष्ट रूप से समझा देता था जिसके कारण उसे यह कटु दायित्व निर्वाह करना पड़ रहा था। अपनी इस उदार नीति के कारण वह पराजित राजाओं का हृदय भी जीत लिया करता था। दक्षिण के सभी राज्य उसके करद राज्य थे।

दिग्विजय करने के पश्चात उसने अश्व मेध यज्ञ करके भारतीय सभ्यता और संस्कृति के नियमों में बँधा रह कर शासन सम्हालने की शपथ ग्रहण की। संघर्ष के बाद सृजन और शान्ति के सद्प्रयासों का शुभारम्भ भी इस यज्ञ के पश्चात आरम्भ हो गया था। यज्ञ के अवसर पर लोक सेवा में रत समाज सेवियों को, गरीबों और

अनदाताओं को सम्राट समुद्र गुप्त के मुक्त हस्त दान दिया।

समुद्र गुप्त की दिग्विजय कोई व्यक्ति गत महत्वाकांक्षा से प्रेरित मनक नहीं थी। उसका उद्देश्य था नागरिकों को सुरक्षा और सुशासन देना, धर्म, संस्कृति साहित्य और कला की उन्नति करना। समुद्र गुप्त स्वयं कला प्रेमी था। वह वीणा वादन का सिद्ध हस्त कलाकार माना जाता था अपने समय में। उसकी सभा में साहित्य कारों और कलाकारों को अपूर्व सम्मान दिया जाता था।

गुप्त काल हमारी सभ्यता और संस्कृति का स्वर्ण काल कहा जाता है। इसका कारण गुप्त वंशीय सम्राटों की वह उच्च और सर्व जन हित कारी नीति थी जिसकी परम्परा सम्राट समुद्र गुप्त ने डाली थी। उस समय धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक और नैतिक सभी पक्षों में आदर्श प्रगति हुई। उसका बहुत कुछ श्रेय उन राजाओं को दिया जा सकता है।

व्यक्ति का क्रिया कलाप उसके साथ जुड़े हुए उद्देश्य से ही भला बुरा ठहराया जा सकता है। यों तो राजा कई हुए हैं कई वंशों की सल्तनतें रही हैं पर जो नैतिक और सामाजिक आदर्श व्यवस्था गुप्त काल में थी वह स्पृहणीय थी। कहना न होगा कि राजा भी धर्म परायणी, नीतिवादी, उदार शील, और संस्कारवान होते थे। प्रजा भी उनका अनुकरण करके वैसी ही बनती थी। इसी कारण यह कहावत आज तक प्रचलित है यथा राजा तथा प्रजा।

समुद्र गुप्त स्वयं वैदिक मत के मानने वाले थे पर धार्मिक संकीर्णता का लेश मात्र अंश भी उनके हृदय में नहीं था। वे सभी धर्मों का आदर करते थे। उन्होंने गया के बौद्धों के लिये विहार बनवाया था। वसुबंधु नामक बौद्ध विद्वान को उनकी तरफ से राज्याश्रय मिला हुआ था। राज्य और राजा की तरफ से किसी भी धर्मावलम्बी के साथ भेदभाव नहीं बर्ता जाता था। यह उनकी उदारता का ही परिचायक था।

महान विजेता और सेना नायक के रूप में तो वे प्रसिद्ध हैं ही उससे भी अधिक वे सुराज्य संस्थापक थे। विजय यात्रा और सैन्य संचालन कौशल तो उनके लिये साधन मात्र था, साध्य था एक ऐसे शासन की स्थापना करना जहाँ सभी को आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक स्वतंत्रता प्राप्त हो सके। और वे अपने इस उद्देश्य को पूर्ण करने में सफल हुए थे। चालीस वर्ष तक उन्होंने मगध के विशाल साम्राज्य का सूत्र संचालन धर्म और नीति से किया। यह उनकी महानता ही मानी जायगी। प्रभुता का नशा व्यक्ति को पथ भ्रष्ट करने से चूकता नहीं है। पर वें इस नशे के प्रभाव में आये ही नहीं वे स्वयं को प्रजा का—देश का एक सेवक भर समझते रहे।

आज जब सुनते हैं कि उस समय लोग अपने घरों में ताले नहीं लगाया करते थे, चोरी की वारदातें नहीं के बराबर होती थी। धार्मिक विद्वेष कहीं देखने को नही मिलता था। लोग अभक्ष्य भक्षण से अत्यधिक सावधान रहते थे। उस समय के लोग कितने सामाजिक थे इसका परिचय इसी बात से लग जाता है कि उस समय कोई भी प्याज और लहसुन भी व्यवहार में नहीं लाता था। इस प्रकार के गंध युक्त पदार्थ कोई अपने घर में पकाए और उसकी गंध से दूसरों को असुविधा हो इसलिये कोई भी इनका प्रयोग नही करता था। माँस भक्षण सर्वथा त्याज्य समझा जाता था। यह सम्राट समुद्र गुप्त के काल में हुए सांस्कृतिक व नैतिक अभ्युदय का ही सुपरिणाम था।

सम्राट समुद्र गुप्त ने विदेशी सम्राटों से दौत्य सम्बन्ध स्थापित करके अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में शान्ति व सह अस्तित्व स्थापित करने का प्रयास किया था। ३७५ ई० में इस महान विजेता, सेना नायक और सुशासक की मृत्यु हुई। एकतन्त्र में भी यदि शासक उच्च दृष्टि रखे तो समाज कितना लाभान्वित होता है। लोक तन्त्र में भी वैसी ही दृष्टि रखी जाय तो जाने क्या हो जाय।



कटीली झाड़ियों में खिला फूल—जॉर्ज कार्वर

अमेरिका के एक बड़े शहर में कृषि वैज्ञानिकों का सम्मेलन चल रहा था। सम्पन्न, बुद्धिमान और प्रतिभाशाली विद्वान अपने शोध कार्यों और निष्कर्षों का विवेचन कर रहे थे। तभी एक विक्षिप्त से व्यक्ति ने सभा कक्ष में प्रवेश किया। गेट पर खड़े चपरासी ने उस व्यक्ति को दयनीय स्थिति में देखकर अन्दर जाने से रोका था परन्तु परिचय पत्र देखकर उसे यह विश्वास करना पड़ा कि इस आदमी को सम्मेलन में आमंत्रित किया गया है।

जैसे ही उस व्यक्ति ने जिसका नाम जार्ज कार्वर था सभा कक्ष में प्रवेश किया। उपस्थित व्यक्तियों ने उसे इस दशा में देखकर आश्चर्य और उपहास मिश्रित हँसी से उपेक्षित किया। जार्ज कार्वर के कन्धे पर बड़े-बड़े थैले टंगे हुए थे और शरीर पर वस्त्रों, के नाम पर फटे पुराने साधारण कपड़े। कन्धे पर लटके थैलों में पुस्तकें, लैंस नमूने और वैज्ञानिक उपकरण थे। जिन्हें कार्वर ने हॉल में अपने स्थान पर बैठने से पूर्व उतार दिया। और वहां अपना परिचय दिया।

कार्वर के शिष्टाचार भरे परिचय से लोगों की पूर्व धारणाओं को एक धक्का सा लगा परन्तु वे पूरी तरह टूटी नहीं थी। चूँकि कार्वर को कांग्रेस ने आमंत्रित किया था इसलिए सभ्यता के नाते सम्मेलन में बोलने का समय तो देना ही था। जैसे ही उन्हें बोलने के लिए कहा गया वे अपने उपकरण मेज पर सजाने लगे। लोग उन्हें ऐसा करते देखकर हंस रहे थे। परन्तु कार्वर ने अपने इस उपहास पर कोई प्रतिक्रिया नहीं की। वे जान रहे थे कि उन्हें सनकी समझा जा रहा है परन्तु उन्हें आत्म विश्वास था परिश्रम और समझ बूझ से निकाले गये निष्कर्षों पर। वस्तुत: आत्म विश्वास एक शक्ति है जिसके बल पर किन्हीं भी परिस्थितियों में कहीं भी अपना मूल्य और प्रभाव प्रतिष्ठापित किया जा सकता है।

उन्होंने जब बोलना आरम्भ किया तो सभी उपस्थित सदस्य दाँतों तले अँगुली दबा गये। जिस आदमी की बाहरी वेश भूषा को देखकर उन्होंने विक्षिप्त होने का अनुमान लगाया था वह एक ही परिच्छेद में चरमरा कर टूट गया। कार्वर तीन घण्टे तक बोलते रहे और उनके शोध निष्कर्षों को कांग्रेस सदस्य मुहे बाये सुनते रहे। उन्हें लगने लगा इसके पूर्व जो भी बातें कही गयी हैं कार्वर द्वारा प्रतिपादित निष्कर्षों के आगे बहुत फीकी हैं। तब उन्हें आभास हुआ कि विद्या बुद्धि का निवास वस्त्रों में नहीं मस्तिष्क में होता है। विद्वता का प्रतीक बाहरी चमक दमक नहीं व्यक्ति के मुख मण्डल पर परिश्रम का तेज और तल्लीनता के कारण विवश साधारण रहन सहन है। सदस्यों को अपने पूर्वाग्रही अनुमान पर बड़ी लज्जा आई उन्होंने अनुभव किया कि कार्वर की खोज श्रम और समय साध्य अध्यवसायी प्रयत्नों का परिणाम है।

इस महान् अध्यवसायी आत्मा का जन्म अमेरिका के डायमण्ड ग्रोव नामक गाँव में रहने वाले नीग्रो परिवार में हुआ था। उस समय नीग्रो जाति के लोग गोरे अमेरिकनों के दास ही रहते थे। कार्वर भी अपनी माता के साथ एक गोरे मालिक द्वारा साधारण से मूल्य पर खरीदा हुआ गुलाम था।

कुछ बड़ा होने पर कार्वर ने अपने मालिक के बच्चों को रोज रोज कहीं जाते देखा। उसने माँ से पूछा तो पता लगा कि वे स्कूल जाया करते हैं। बाल सुलभ स्वभाव से प्रेरित होकर कार्वर ने भी कहा—'मैं भी इन लोगों के साथ जाया करु माँ।

'नहीं बेटे। तुम्हारे भाग्य में यह नहीं लिखा' मां ने अपनी विवशता जता कर कहा।

'भाग्य क्या चीज होती है—कार्वर ने बड़े भोले पन से पूछा।

'जाकर उन लड़कों से पूछ—खीझ कर मां ने कह दिया।

परन्तु कार्वर सचमुच अपने मालिक के बच्चों के पास पहुँचा और उनसे पूछा कि भाग्य क्या होता है ?

लड़कों को यह बात समझ में नहीं आई इसलिए

उन्होंने पूरा विवरण पूछा। कार्वर ने अपनी मां से हुई पूरी बात चीत बता दी। उन लड़कों ने कहा—तो यह बात है तुम भी हमारे साथ स्कूल चलना चाहते हो।'

'हां मुझे भी पढ़ने की इच्छा होती है। बड़ी कृपा होगी आपकी यदि कुछ कर सकें तो'

मालिक के लड़कों ने उसे ए० बी० सी० डी० लिखना सिखाया और वर्णमाला का अभ्यास करने के लिए कहा। वह लकड़ी टीन और जमीन पर अभ्यास करने लगा। कभी कभी मालिक देखता और मुंस्करा देता। माँ को जब यह पता चला कि कार्वर पढ़ने की कोशिश कर रहा है तो उसने रोका। क्योंकि वह गोरे स्वामियों के अत्याचारी स्वभाव से अच्छी तरह परिचित थी। कार्वर ने कहा—परन्तु मालिक तो मुझे ऐसा करते देखकर बड़े खुश होते हैं।

'अच्छा तो मालिक की खूब सेवा किया कर—माँ ने सलाह दी और कार्वर अपने स्वामी की सेवा में हमेशा प्रस्तुत रहने लगा। अपनी आज्ञाकारिता और लगन से वह सबका प्रशंसा पात्र बन गया। मालिक कार्वर के इस सेवा भाव से और भी अधिक प्रसन्न हुआ। अपने स्वभाव के विशिष्ट गुणों के बल पर कार्वर ने मालिक के हृदय में स्थान बना कर उसकी कृपा अर्जित कर ली। जब उसे विश्वास हो गया कि मेरा मालिक दूसरे गोरे स्वामियों की तरह क्रूर नहीं है तो अपनी इच्छा बता दी।

मालिक अधिक सहायता करने के लिए तो तैयार नहीं हुआ परन्तु उसे दासता के बन्धन से मुक्त कर दिया। कार्वर ने इस निर्णय को ही स्वामी का अनुग्रह समझा। वह स्वतंत्र हो गया तथा स्वतंत्र होने के साथ कई समस्याएं भी आ खड़ी हुईं। वह पढ़े तो कहाँ पढ़े ? यद्यपि अमेरिका में उस समय स्कूलों की कोई कमी नहीं थी परंन्तु समस्या का कारण तो यह था कि कोई भी स्कूल नीग्रो लड़कों को अपने यहाँ प्रवेश नहीं देते थे। कार्वर—ऐसे स्कूल की तलाश में लगा जहाँ नीग्रो बच्चों को प्रवेश दिया जाता हो काफी खोज बीन के बाद पता चला कि दूर बहुत दूर न्योशों नामक का एक नगर है जहाँ नीग्रो बालकों की पाठशाला है। कार्वर ने अपनी माता और मालिक से विदा ली और चल दिया अपने उसी महा तीर्थ की ओर।

जाकर देखा तो विचार आया कि यह पाठशाला है या भेड़ बकरियों का दरबा। एक छोटा सा सीलन और और बदबू भरा कमरा जिसमें बच्चे कैदियों की तरह भरे हुए थे परन्तु कार्वर ने तुरन्त इस विचार को मन से निकाल दिया मैं यहाँ निरीक्षण करने आया हूँ या पढ़ने। जो कुछ भी जैसा भी है ठीक है मुझे अपने उद्देश्य से ही मतलब रखना चाहिए। और कार्वर ने विद्यालय में में प्रवेश किया। प्राप्त परिस्थितियों और कठिनाईयों में भी अपने लक्ष्य को देखकर ही आगे बढ़ने के लिए सचेष्ट तथा आसपास के वातावरण से निरपेक्ष रहने वाले मनस्वी वीर विजय श्री का वरण करते हैं। कार्वर ने विद्यालय में प्रवेश लेकर एकाग्रता से पढ़ना आरम्भ किया।

लेकिन उसके सामने एक और समस्या आयी वह थी व्यय की, भोजन वस्त्र और आवास के प्रबन्ध की। किसी से सहयोग मिलने की तनिक भी गुन्जायश नहीं थी। कार्वर को इसका स्वयं ही प्रबन्ध करने के लिए उठना पड़ा। वह कई स्थानों पर गया। काम तलाश करने के लिए परन्तु बात कहीं भी नहीं बनी। कार्वर फिर भी निराश नहीं हुआ। अब उसके सामने एक लक्ष्य था औसत स्तर से ऊँचा उठने का, बड़ा नहीं महान बनने का जिसके जीवन का कोई लक्ष्य होता है वे सतत सभी स्थितियों में आगे ही बढ़ते रहते हैं। उनके हाथ कभी एक दूसरे पर जम कर ठोढ़ी से नहीं लगते।

कार्वर ने कठोर श्रम करने का निश्चय किया और वह कपड़े धोने का काम करने लगा। लोगों के गन्दे कपड़े ला कर उन्हें उजला धोता। इतना साफ कि ग्राहक फिर उसे ही तलाश करले। निर्वाह योग्य मजदूरी मिलने लगी और वह उसी से काम चलाने लगा। दिन बीते महीने और बरस गुजर गये कार्वर प्राथमिक कक्षा से महा विद्यालयीन शिक्षा तक पहुँच गये। केवल अपने श्रम के बल पर।

महाविद्यालयीन कक्षाओं में प्रवेश पाने के लिए आवेदन करते समय कार्वर के सामने विकट समस्या खड़ी हुई। कोई भी कालेज इस नीग्रो छात्र को अपने संस्थान में प्रविष्ट नहीं होने देना चाहता था। जार्ज कार्वर कृषि विषय लेकर स्नातक की डिग्री प्राप्त करना चाहते थे।

उन्होंने हाईलैण्ड विश्व विद्यालय में प्रार्थना पत्र दिया। अधिकारियों से अनुनय विनय की परन्तु उनका आवेदन ठुकरा दिया गया। यही नहीं उन्हें अपमानित भी किया गया। जार्ज कार्वर ने इस हीन कृत्य को भी सहन कर लिया परन्तु निराश नहीं हुए। वे इण्डिया वोला के सिम्पशन कॉलेज आए और प्राचार्य से मिले। प्राचार्य सहृदय व्यक्ति थे उन्हें इस नीग्रो छात्र में प्रतिभा के बीज दिखाई दिए आज तक किसी काले अफ्रीकी ने इस ऊंचाई को नहीं छूआ था कार्वर की महात्वाकांक्षा को उन्होंने समझा और पूछा—कार्वर तुम स्नातक की डिग्री तो ले लोगे परन्तु कहीं सम्मानित आजीविका का लाभ कैसे उठाओगे।'

'श्रीमान जी मैं आजीविका के लिए नहीं लोक सेवा के लिए पढ़ रहा हूँ। जीविका तो अब भी मिल रही है और तब भी मिलेगी—कार्वर का आत्म विश्वास बोल उठा और प्रधान आचार्य ने कालेज की व्यवस्था कमेटी के सम्मुख अपनी सिफारिश के साथ कार्वर का आवेदन पत्र रख दिया।

व्यवस्था समित के सदस्यों ने प्राचार्य की सिफारिश को ठुकराया तो नहीं परन्तु उसके साथ जो शर्तें लगायीं सामान्य मनोबल का व्यक्ति उन्हें जानकर अवश्य ही अपमानित अनुभव करता और विद्यालय से अपना आवेदन वापस ले लेता। परन्तु कार्वर को तो अवसर की तलाश थी थोडी भी सम्भावना दिखने पर मान अपमान को ओर वे नहीं देखते। उन्होंने सभी शर्तें स्वीकार कर लीं जो इस प्रकार थी। वे किसी भी छात्रवृत्ति के लिए प्रतियोगी नही होंगे, न गोरे छात्रों के समान अधिकार मागेंगे और नही छात्रावास में रहने का अधिकार मागेंगे।

आत्म निर्भर एवं आत्म निष्ठ कार्वर ने इन सब शर्तों को स्वीकार कर लिया और अपने उद्योग—कपड़े साफ करने के धन्धे को पूर्ववत् जारी रखते हुए अध्ययन में तन्मयता पूर्वक जुट गये। इस साधना ने उनके सभी मार्ग अवरोधों को दूर कर दिया। गोरे छात्रों का दुर्व्यवहार और कालेज के प्रति बन्ध उनकी प्रगति को रोकने में असमर्थ सिद्ध हुए तथा वे अन्तिम परीक्षा में सर्वोच्च अंकों से सर्व प्रथम उत्तीर्ण हुए।

कार्वर की इस सफलता ने सब को हत प्रभ कर दिया। महाविद्यालय के अधिकारियों में उनकी साख जम गयी और उन्हें संस्थान में प्राध्यापक नियुक्त कर लिया गया। कॉलेज में उन्होंने केवल अध्यापन कार्य ही नहीं किया बल्कि कृषि और वनस्पति विज्ञान के क्षेत्र में महत्वपूर्ण वैज्ञानिक खोजें भी कीं। जिनके आधार पर अमेरिका का कृषि उद्योग दिन प्रति दिन समृद्ध होने लगा।

अब वहाँ के अधिकारी लोग इस बात को सर्वथा भूल गये थे कि कार्वर एक नीग्रो और गुलाम रहा हुआ व्यक्ति है सर्वत्र उनके मनोयोग, परिश्रम और प्रयत्नों की सराहना की जाने लगी। उनके सेवा पूर्ण उपकारों के उपलक्ष में आगे चलकर इग्लैण्ड की रॉयल सोसायटी ने उन्हें अपना फैलो बनाया और स्पिगन मैडल से सम्मानित किया। आज अमेरिका अपने देश के इस महान सपूत पर गर्व करता है। वहां की रग-रग में बसी हुई रंगभेद की नीति को भुला कर। कार्वर ने इतना ऊंचा स्थान केवल अपने परिश्रम के बल पर प्राप्त किया।

उनका जीवन एक छोटी सी घटना से प्रेरित होकर पढ़ने और बाद में विद्यार्जन को ही जीवन लक्ष्य बना लेने की अभूतपूर्व कहानी है। उन्होंने सिद्ध कर दिया कि गयी गुजरी स्थिति में भी रहते हुए आदमी अध्यवसाय और परिश्रम के बल पर अपने जीवन का सर्वोच्च विकास कर सकता है। कोई भी शक्ति उसकी प्रगति को नहीं रोक सकती।

एक शिकारी हिरन का पीछा करता आ रहा था जान बचाने के लिए हिरन अंगूर की लताओं में छिप गया। शिकारी को गया जान कर उसने अंगूर की सारी बेल चरली, इस पर शिकारी ने उसे देख लिया और मार दिया।

जो आश्रय देने वाले के साथ कृतघ्नता करता है उसकी हिरन जैसी दशा होती है।

सम्पत्ति का व्यय और उपयोग

बंगाल के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री और सामाजिक नेता भूदेव मुखोपाध्याय का पुत्र उन दिनों स्कूल में पढ़ता था। उम्र रही होगी कोई आठदस वर्ष की एक दिन की बात है स्कूल में दुर्गा उत्सव की चर्चा चल रही थी। अध्यापक अपने छात्रों से उनके घर पर की जा रही दुर्गाउत्सव की तैयारियों के सम्बन्ध में पूछ रहे थे। किसी ने बताया कि हमारे घर में अमुक कलाकार दुर्गा की प्रतिमा तैयार कर रहा है, किसी ने कहा कि हमारे यहां इस दिन अमुक नृत्य गान का कार्यक्रम होगा।

पंक्ति बद्ध बैठे छात्र एक एक कर अपने स्थान से उठते और अध्यापक को सम्बोधित कर अपने घर पर दुर्गापूजा की चल रही तैयारियों से अवगत कराते थे। अध्यापक उस विषय में सुन कर जहाँ आवश्यक समझते परामर्श देते थे और यह भी निर्देश देते कि छात्र अपने अभिभावक को गुरुजी का मत जरूर बतायें। एक २ कर कई लड़कों ने दुर्गा पूजा के सम्बन्ध में बताया। जब उस छात्र की बारी आयी तो उसे कुछ जंच नहीं रहा था कि मैं क्या कहूँ। कारण कि वह समझ रहा था अन्य छात्रों ने जो कुछ बताया है उसके आगे तो मैं जो भी कह सकता हूँ वह फीका रहेगा। वे सोच ही रहे थे कि अध्यापक ने पूछ लिया —'क्या तुम्हारे यहाँ दुर्गापूजा का उत्सव भी नहीं मनाया जाता।'

'मनाते तो हैं गुरुजी—छात्र ने हिचकते हुये कहा और इसके बाद उन्होंने तैयारियों का जो स्वरूप बताया उसका सारांश यह था कि कार्यक्रम बड़ी ही सादगी के साथ सम्पन्न किया जाता है।

भूदेव मुखोपाध्याय का परिवार बंगाल के सम्पन्न परिवारों में समझा जाता था। इतना सम्पन्न और वैभव शाली परिवार, फिर भी कार्यक्रम इतनी सादगी से सम्पन्न किये जाते थे कि छात्रों और अध्यापकों को उस सम्बन्ध में सुन कर हंसी आ गयी। अध्यापक ने व्यंग कर ही दिया —"तुम्हारा घर तो कंजूस का घर है। इतना अधिक पैसा तुम्हारे घर में है फिर भी तुम लोग कुछ सौ रुपये दुर्गा पूजा के लिए भी खर्च नहीं करते।"

व्यंग बालक-हृदय को छू गया और वह स्कूल में खूब रोया। स्कूल की छुट्टी हो जाने पर वह जब अपने घर पहुँचे। तो छूटते ही मुखोपाध्यायजी से प्रश्न किया "पिताजी आपके पास इतना पैसा है फिर भी आप दुर्गा पूजा के अवसर पर कंजूसी बरतते हैं। और लोग जिस तरह यह उत्सव मानते हैं उस तरह क्यों नहीं मनाते।

भूदेव बाबू ने कहा—"बेटा पूजा हम करते तो हैं। चण्डी पाठ, घटपूजा और ब्राह्मण भोजन भी निर्धारित विधि विधान से कराते हैं। हाँ जो बातें पूजा का अंग नहीं हैं जैसे दुर्गा की प्रतिमा को बाहर से बाजे गाजे के साथ लाना, गाना तमाशा करना आदि बातें हम नहीं करते। करना भी नहीं चाहिए। इससे क्या फायदा होता है। उल्टे धन की बर्बादी होती है।

समय का पहिया घूमता है।

और तेईस साल बीत जाते हैं।

वह पुत्र भी बड़ा हो गया है। तथा भूदेव बाबू वृद्ध हो चले हैं। भूदेव बाबू ने अपने पुत्र को बुलाया और कहा—बेटा! जीवन में मैंने जो कुछ भी बचा कर रखा। मैं चाहता हूँ कि उसका एक ट्रस्ट बना दिया जाय। और उस ट्रस्ट के द्वारा संस्कृत, संस्कृति तथा समाज की सेवा हो। तुम्हें इस सम्पत्ति से कोई आकर्षण तो नहीं।

'सम्पत्ति से आकर्षण है'—पुत्र ने कहा—'पर इस सम्पत्ति से नहीं। मुझे आकर्षण उस सम्पत्ति से है जो मैंने आपके जीवन से प्राप्त की है। वह यह कि धन की व्यर्थ बर्बादी को रोक कर, सादगी के साथ रहते हुए जो कुछ भी अर्जित किया जाय वह समाज को ऊँचा उठाने में लगा दिया।'

और भूदेव बाबू ने संस्कृत शिक्षा के लिए डेढ़ लाख रुपये के विश्व नाथ ट्रस्ट फण्ड के दस्तावेजों पर हस्ताक्षर कर दिये।

सम्पन्न हों पर मानवता खोकर नहीं

ऐहिक जीवन की आवश्यकतायें और उनकी पूर्ति का साधन धन होता है। इसलिए सांसारिक जीवन में धन का बड़ा महत्व है। व्यक्ति यदि निर्धन और गरीब है तो न केवल उसे कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है वरन् गरीबी उसके अपमान का कारण भी बन जाती है। इसीलिए सम्पन्नता और समृद्धि को एक विभूति माना गया है। जीवन निर्वाह की छोटी छोटी आवश्यकतायें भी धन के द्वारा ही पूरी होती हैं और उसके न होने पर मनुष्य को अनेक समस्याओं और कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है।

निर्धनता मनुष्य के विकास में एक प्रमुख बाधा है। इसके विपरीत सम्पन्न व्यक्ति जहाँ अपनी सम्पन्नता से स्वयं लाभ उठाते हैं वहीं उनमें यदि परोपकार वृद्धि भी हो तो अन्य अनेक लोगों की सेवा में भी अपने धन का सदुपयोग कर सकते हैं। लेकिन पास में पैसा ही नहीं है, अपनी स्वयं की ही आवश्यकतायें पूरी नहीं होती तो दूसरों की सेवा और परमार्थ मूलक कार्यों में योगदान कहाँ से सम्भव हो सकता है।

कहने का अर्थ यह नहीं है कि परमार्थिक कार्य केवल धन के द्वारा ही पूरे होते हैं। वरन् यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि व्यक्ति अपनी निर्वाह व्यवस्था को लेकर ही यदि दिन रात मरता खपता है तो उसका ध्यान लोकमंगल की ओर नहीं के बराबर ही जाता है। निर्धनता और अभावग्रस्त परिस्थितियों में रहते हुए लोकमङ्गल के कार्यों में महामानव स्तर के व्यक्ति ही लग सकते हैं। जनसामान्य के लिए तो सर्वप्रथम और पहले ध्यान देने योग्य कार्य अपना निर्वाह ही है। यदि उसकी आवश्यकतायें आसानी से पूरी हो रही हैं तथा निर्वाह भी निश्चिन्त रूप से चल रहा है तो ही वह इतर कार्यों की ओर ध्यान दे सकता है।

अतः व्यक्ति समाज के लिए कुछ कर सके इसके लिए सर्वप्रथम आवश्यक है कि वह अपने लिए निश्चिन्त हो। वह सम्पन्न और धनवान न हो तो न सही पर उसे इतना अभावग्रस्त भी नहीं रहना चाहिए कि उसका सारा समय और सारा श्रम तथा सारी बुद्धि अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति और उपार्जन के जोड़-तोड़ में ही लगी रहे।

निर्धनता इसीलिए अभिशाप है कि उसके कारण व्यक्ति अपने निर्वाह के अतिरिक्त कुछ नहीं सोच सकता। और वह अपने तथा परिवार के सदस्यों की सुख-सुविधा से भी निचले स्तर पर उनकी आवश्यकताये जुटाने में व्यस्त रहता है। निर्धनता अभिशाप है—इसके साथ ही साथ समृद्धि भी कोई सम्मानित करने जैसी स्थिति नहीं है। क्योंकि सम्पन्नता और साधन बढ़ने के साथ-साथ मनुष्यों में स्वार्थपरता, लोभ, चालाकी, सङ्कीर्णता, क्रूरता और पशुता जैसी प्रवृत्तियाँ भी बढ़ती देखी जा सकती है। मानवतावादी विचारकों ने सम्पन्नता की तुलना में निर्धनता को अच्छा बताया है तो इस कारण नहीं कि गरीबी कोई अच्छी बात है बल्कि इसका कारण यह है कि पशु प्रवृत्तियों के साथ रहने वाली सम्पन्नता की अपेक्षा मानवीय गुणों से सम्पन्न गरीबी अच्छी है। इस विचार के साथ गरीबी और अमीरी की तुलना नहीं की जानी चाहिए वरन् तुलना होती है मानवीय गुणों और पाशविक प्रवृत्तियों की।

एकाकी सम्पन्नता को सात्विकता से निम्न श्रेणी में भी गिना गया है और उसे राजसी सम्पदा बताया गया है। इसका कारण है कि व्यक्ति यदि सम्पन्न हो लेकिन उसमें मानवीय गुणों का अभाव हो तो वह सम्पन्नता थका देने वाला बोझ बन जाती है। समृद्ध और साधन सम्पन्न स्थिति को ही भौतिकवाद कहा गया है और मानवीय गुणों, आदर्शों तथा दैवी सद्प्रवृत्तियों को अध्यात्मवाद। यों इन दोनों में कोई वैर विरोध नहीं है पर मानवीय गुणों से रहित भौतिक प्रगति मनुष्य को अधः पतित ही बनाती है।

उदाहरण के लिए २० वी शताब्दी में विज्ञान की सहायता से मनुष्य ने अपने को काफी साधन सम्पन्न और

समृद्ध बनाया है। मशीनों की मदद से श्रम की बचत, थोड़े समय में अधिक उत्पादन, उपलब्ध साधनों का बुद्धिमानी पूर्वक उपयोग और प्रकृति का दोहन, उत्पादन आदि बातें विज्ञान की सहायता से ही सम्भव हो सकी हैं और मनुष्य पहले की अपेक्षा अधिक सम्पन्न हुआ है। उसकी दृष्टि में पैसे का महत्त्व भी कम हुआ है और वह पैसे को बचाकर रखने के स्थान पर उसका उपयोग अपनी सुख सुविधायें बढ़ाने के लिए करने लगा है। पहले की अपेक्षा इस शताब्दी में निर्धनता घटी है और अमीरी बढ़ी है। पहले जहाँ सौ में से एक व्यक्ति सम्पन्न होता था वहीं अब सौ में से औसतन दस व्यक्ति सम्पन्न और नब्बे में से भी कई एक अच्छी खाती पीती स्थिति में रहने लगे हैं। यह मनुष्य समाज की प्रगति का सूचक है और भविष्य में उसके और अधिक विकसित होने का संकेत भी। लेकिन इस स्थिति का एक अंधकारपूर्ण पक्ष भी है और वह है मनुष्य के नैतिक मूल्यों और मानवीय आदर्शों के प्रति आस्थाओं में गिरावट।

प्रायः देखा गया है कि मनुष्य जैसे जैसे साधन सम्पन्न और अमीर होता जाता है उसके आकर्षण का केन्द्र धन बनाता जाता है। सम्पन्न होते जा रहे लोगों के ध्यान केन्द्र से यह तथ्य हटता जाता है कि धन या रुपया हमारे जीवन निर्वाह के लिए है। उसकी उपयोगिता यहीं तक सीमित है कि उससे हमारे जीवन की आवश्यकतायें पूरी होती रहें तथा निर्वाह आसानी से चलता रहे। और वे अपना सारा समय तथा सारा मनोयोग धनोपार्जन के लिए ही लगाते रहते हैं। मनुष्य को जहाँ यह सोचना चाहिए कि धन की उपयोगिता जीवन के लिए है वहीं वह यह सोचने लगता है कि जीवन की सार्थकता धनोपार्जन में है। मान्यताओं और विचारणाओं के इस उलटफेर में जीवन का सन्तुलन ही बिगड़ जाता है। और जीवन की सार्थकता तथा प्रयोजन जो इससे कुछ और होना चाहिए था वह यहीं तक बन्ध और रुक जाता है।

ऐसी स्थिति में होता यह है कि अर्थप्रधान दृष्टिकोण बना लेने के कारण नैतिकता, मानवता, और आदर्शों के जीवन मूल्य गिर जाते हैं तथा सहृदयता, ईमानदारी, उदारता तथा परदुःख कातरता का स्थान क्रूर व्यावहारिकता, बेईमानी, संकीर्णता और दूसरों से लाभ उठाने की हीन मनोवृत्तियाँ ले लेती हैं। उदाहरण के लिए ब्याज के धन्धे से रुपया कमाने वाले सेठ साहूकार दूसरों की विपन्नताओं और बुरी परिस्थितियों से ही अपनी झोली भरते हैं। मुसीबत के मारे लोग ही उनके पास पहुँचते हैं और वे उनकी मजबूरियों का फायदा उठाकर अपना उल्लू सीधा करते हैं। उनके हृदय में दया, करुणा और सहृदयता जैसे तत्व न जाने कहाँ विलीन हो जाते हैं। पर उद्देश्य एक ही सामने रहता है कि किस तरह सामने वालों की मजबूरियों का अधिक से अधिक लाभ उठाया जाय।

माना कि इस प्रकार व्यक्ति थोड़ा अधिक लाभ अर्जित भी कर लेता है पर मानवीय आदर्शों की बलि देकर अर्जित किया गया यह लाभ अन्ततः मँहगा ही सिद्ध होता है। दूसरों के प्रति घृणा, नफरत और व्यवहार में अत्यन्तिक स्वार्थपरता बरतने वाले लोगों को बदले में यही तत्व मिलते हैं। अपने प्रति वह दूसरों की सद्भावनायें खो देते हैं। और जैसा कि परिस्थितियों का क्रम है। वे अनुकूल प्रतिकूल चलती ही रहती हैं—जब बदलती हैं तो हितैषियों और शुभ चिन्तकों की सद्भावनाओं तथा सत्परामर्शों का सम्बल उनके पास नहीं रहता है। चंचला लक्ष्मी के चलायमान हो जाने पर वे अपने आपको अनाथ, असहाय और बेसहारा अनुभव करते हैं।

कदाचित ऐसी परिस्थितियाँ न भी आयें तो रुपये पैसों से भण्डार भरा रहने के बावजूद भी मानवीय आदर्शों के अभाव में उनका हृदय आत्मसन्तोष से रिक्त ही रहता है। धनवान सम्पत्तिशाली और वैभव सम्पन्न होने के बावजूद सी आत्मसन्तोष के अभाव में निरन्तर एक खालीपन बना रहता है जिसकी पूर्ति रुपये पैसों से कदापि सम्भव नहीं है। वह तो मानवता और आदर्शों के परिपालन पर ही उपलब्ध हो पाता है। सम्पत्तिशाली या धनवान होना बुरा नहीं है। बुरा है सम्पन्न होने के साथ मानवता को खो देना मानवता के मूल्य पर सम्पत्ति का वैभव कमाना एक बहुत ही मँहगा सौदा है।



साहस व धैर्य के धनी—बहादुर शाह 'जफर'

२८ सितम्बर १८ ७ का सूरज अपनी प्रखर किरणों से लाल किले को दुलार रहा था। उसी समय किले के भीतरी कक्ष में नजरबंद अन्तिम मुगल सम्राट किसी गम्भीर चिन्तन में निमग्न थे। पाँसा पलट चुका था। विप्लव असफल रहा था। अपने मन की साध पूरी हो जाने का उस वृद्ध शाहंशाह को संतोष था। विजय श्री भले ही न मिली हो अन्याय का प्रतिकार करने वह उठ खड़ा तो हुआ था। उस संतोष की आभा उसके श्वेत केशी व फहराती लम्बी डाढ़ी युक्त चेहरे पर चमक रही थी।

अंग्रेज सेनापति हडसन ने कक्ष में प्रवेश किया। पहरे पर खड़े संतरी ने एडियां मिला कर उसे 'सेल्यूट' दिया। हडसन के साथ एक सैनिक भी था जिसके हाथ में बड़े से रेशमी रुमाल से ढका हुआ एक थाल था। हडसन ने बादशाह का अभिवादन करते हुए कहा—'बादशाह शलामत ! कम्पनी ने आपकी दोस्ती का इजहार करते हुए आपकी खिदमत में यह नायाब तोहफा भेजा है।" इसे कबूल फरमाएं।" उसके इस कथन के साथ ही सैनिक ने थाल बहादुर शाह 'जफर' के सामने कर दिया। काँपते हाथों से किन्तु दृढ़ हृदय से उन्होंने रेशमी कपड़ा हटाया तो अंग्रेजों की क्रूरता निरावृत हो गयी। उसमें बादशाह के लड़कों के कटे हुए सिर थे।

हडसन ने सोचा था कि बूढ़ा अपने बेटों के कटे सिर देखकर विलाप करने लगेगा। किन्तु इस सम्भावना के विपरीत वृद्ध पिता ने कुछ क्षण अपने पुत्रों के कटे सिरों की ओर देख कर अपनी नजरें हडसन के क्रूर चेहरे पर जमाते हुए निर्विकार भाव से कहा अलह हम्दो लिल्लाह ! तैमूर की औलाद ऐसे ही सुर्खरु होकर अपने बाप के सामने आया करती है। गजब का धैर्य था इस व्यक्ति में।

'जफर' अपमान और परवशता के जीवन से मृत्यु को बेहतर समझते थे। यही कारण था कि अपने पुत्रों के इस असामयिक अन्त पर वे दुखी नहीं हुए। वरन प्रसन्न थे कि जो हसरत वे पूरी नहीं कर सके वह उनके पुत्रों को पूरी करने का अवसर मिला था। बहादुर शाह के मुगल सम्राट बनने के पहले ही मुगल सल्तनत दिल्ली के लाल किले की चहार दीवारी में आ सिमटी थी। वह नाम मात्र के बादशाह थे। बादशाह क्या थे अंग्रेजों के कृपा पात्र उनकी कठ पुतली भर थे। वे जैसे चाहते उन्हें नचा सकते थे। उनके पूर्वजों ने विलास से समझौता करके अपने आप को परवश बना दिया था। यही उनके भाग्य की लकीर बन कर उन्हें भी भोगना पड़ा था। किन्तु वे कभी उस जिन्दगी को भली नहीं मान पाए थे।

सोने के पिंजरे में बन्द तोते की जो दशा होती है वही उनकी भी थी। वे अपनी इस दशा पर सदैव क्षुब्ध व असंतुष्ट थे किन्तु करते क्या उनके पर तो अंग्रेजों ने पहले ही उनके पूर्वजों के समय ही काट दिये थे। वे स्वयं को अंग्रेजी शासन के चंगुल से बचाना तथा भारत के तत्कालीन राजाओं में स्वतंत्रता की लहर उत्पन्न करना चाहते थे किन्तु उसके लिए सभी रास्ते बन्द हो चुके थे। यह उनकी बहुत बड़ी व्यथा थी। इस व्यथा को उनके पूर्वज हास विलास स्त्री व शराब की दुनियां में उलझ कर भुलाते रहे पर वे भुला न सके। वे विद्रोह करना चाहते थे।

बहादुर शाह अच्छे शायर थे। 'जफर' उनका उपनाम था। उनकी शायरी में उनकी यह व्यथा खुलकर सामने आयी है। 'लगता नहीं है दिल मेरा उजड़े दयार में''''''दो गज जमीन ना मिली कु ए यार में। जैसी कृतियों में उनकी यह व्यथा अपने पूरे यौवन के साथ उभरी है। मनुष्य की आत्मा हास विलास, आराम व शौक मौज में कभी तृप्त नहीं होती। वह तो मानवोचित गौरव गरिमा युक्त जीवन जीने में ही तृप्ति पाती है। यही कारण था कि, 'जफर' का दिल इस उजड़े दयार में नहीं लगता था। वे चाहते थे कि एक पुरुषार्थी व्यक्ति की तरह इस जंजाल से मुक्त हो स्वतंत्रता की वन्हि जलाते किन्तु घुट कर रह जाते।

और फिर वह समय भी आया जबकि उनकी वह

चिर संचित अभिलाषा पूर्ण हुई। जिस प्रकार के विद्रोही स्वर उनके हृदय में गूंज रहे थे। वैसे ही स्वर अन्य कई लोगों के हृदय तन्त्रियों की झंकार बने हुए थे। १८५० का विप्लव इसी का परिणाम था। भीतर ही भीतर यह आग बवन्डर का रूप धारण करती जा रही थी। स्वतंत्रता प्रेमी भारतीय राजाओं, सैनिकों व प्रजाजनों ने विप्लव की पूरी की पूरी योजना बना रखी थी। उसको सुनियोजित ढंग से कार्यान्वित करने के लिए हजारों, लाखों व्यक्ति घर-घर जाकर जन-जन के हृदय द्वारों पर दस्तक दे रहे थे।

इस जन क्रान्ति के सूत्र धार थे विठूर के पेशवा नाना साहब। उनके सहयोगियों ने बहादुर शाह 'जफर' से इस जन क्रान्ति का नेतृत्व करने का अनुरोध किया। 'जफर' अब तक इन्तजार करते-करते थक चुके थे। उनके शरीर में वह शक्ति नहीं रही थी कि अपना जौहर दिखा सकें। किन्तु अंग्रेजों से दो दो हाथ करने की उमंगें अभी वैसी ही जवान थी। उन्होंने उस पर सहमती दे दी। यह सब गुप्त रूप से हुआ था। अंग्रेजों को इसकी कानो कान खबर नहीं थी।

यह सुनियोजित क्रान्ति यदि निश्चित तिथि पर ३१ मई १८५८ के दिन एक साथ सारे भारत में फूटती तो अंग्रेजी साम्राज्य का पता ही न चलता। किन्तु उसके पहले ही मेरठ में सैनिक विद्रोह हो गया और लोगों के धैर्य का का बाँध टूट गया और भिन्न भिन्न तिथियों को भिन्न-भिन्न स्थानों पर विद्रोह हुआ। फिर भी अंग्रेजों के होश हवास गुम हो गये। पहले पहले तो सब जगह क्रान्तिकारियों की विजय हुई।

१५ मई को लाल किले पर विप्लवी क्रान्ति कारियों का अधिकार हो गया। दिल्ली से अंग्रेजों का सफाया हो गया। बहादुर शाह 'जफर' को भारत सम्राट बना या गया। अंग्रेजों के हौंसले पस्त हो गये। कई अंग्रेज युद्ध में मारे गये। व कई बन्दी बनाये गये। बन्दियों के साथ बहादुर शाह ने मानवोचित व्यवहार किया। १५ मई से १४ सितम्बर तक दिल्ली पर क्रान्ति कारियों का आधिपत्य रहा उसके पश्चात अंग्रेज प्रबल होने लगे तथा २० सितम्बर को बहादुर शाह उनकी बेगम व बच्चों को अंग्रेजों ने बन्दी बना लिया। इस प्रकार भारत में क्रान्ति का शंखनाद फूंकने में उनका महत्वपूर्ण योगदान व नेतृत्व रहा।

८० वर्ष के शाहंसाह बहादुर शाह पर लाल किले के दीवाने खास में, लेफ्टीनेन्टे जनरल डेलास के नेतृत्व में ५ सदस्यों की सैनिक अदालत में अभियोग चलाया गया जिसने उन्हें काले पानी की सजा सुनायी। २७ जनवरी १८५८ को उन्हें रंगून के बन्दी गृह में भेज दिया गया। यहाँ एक सामान्य नागरिक की तरह उन्हें बन्दी जीवन भोगना पड़ा। कारावास के इस जीवन से जफर व्यथित नहीं थे। वे उसे अपने पापों के प्रायश्चित के रूप में ही लेते। उनके पुत्रों का वध अंग्रेजों ने पहले ही कर दिया था। उनकी बेगम व पुत्र वधुओं के साथ भी अंग्रेजों ने मानवीय व्यवहार नहीं किया उन्हें भी अपने संरक्षक के साथ दुख व कष्ट का जीवन व्यतीत करना पड़ा। किन्तु वह जीवन उस जीवन से श्रेष्ट था यहाँ आत्मा हनन की स्थिति नहीं थी। रंगून जेल में ७ नवम्बर १८६२ को बहादुर शाह 'जफर' का निधन हो गया। एक सच्चे इंसान सहृदय कवि व क्रान्ति के सैनिक के रूप में उन्हें याद किया जाता रहेगा। उनका जीवन हमें आत्म हनन करके सुख एश्वर्य भोगने की विडम्बना से बचने के लिए सचेत करता रहेगा।

एक लुहार बढ़िया हथौड़े बनाने के लिए प्रसिद्ध था। एक व्यक्ति उसके पास आया और बोला—जैसे हथौड़े आप बनाते हैं उससे भी अच्छा मेरे लिए बना दें, मैं उसकी अधिक कीमत देने को तैयार हूँ। लुहार ने उत्तर दिया—मान्यवर, मैं उससे और अच्छा हथौड़ा नहीं बना सकता। यदि बना सकता होता तो पहले ही बना दिया होता मैं हथौड़े की उत्कृष्टता को अपनी उत्कृष्टता मानता हूँ। और उसमें किसी प्रकार की कमी रहने देना पसन्द नहीं करता।

मूल्य को देखकर नहीं अपने गौरव को देख कर काम का स्तर ऊँचा रखना चाहिए।

क्रूर जिरार्ड-अनाथों का सहृदय पिता भी

अमेरिका का एक निहायत मक्कार, बदनाम, कंजूस और धोखिबाज व्यापारी स्टीफन जिरार्ड। जिसकी बदमाशियों के सम्बन्ध में आज भी कई किंवदन्तियाँ प्रचलित है। कहते हैं जब उसकी पत्नी बीमार हो गयी तो उसने मामूली सी मासिक वृत्ति बाँध दी। सुन्दर और सुघड़ युवापत्नी को जिसने स्वस्थ रहते समय अपने पति का अगाध प्रेम पाया था बीमार होते ही इस प्रकार की उपेक्षा सहन नहीं हुई। उसने अनुभव किया कि जिरार्ड को उससे नहीं उसके शरीर से प्रेम था। खिलौना समझकर उसने अपनी पत्नी को वासनापूर्ति का साधन मात्र माना था। इस उपेक्षा और कटुसत्य को देखकर वह पागल हो गयी। तथा स्टीफन ने एक दूसरी शादी कर ली।

स्टीफन जहाजरानी का धन्धा करता था। मेहनत और उचित अनुचित सभी प्रकार के साधनों से उसने खूब पैसा कमाया और थोड़े ही समय में करोड़ पति बन गया। स्वयं समर्थ होते ही उसने अपने भागीदारों को चकमा दिया और पूरे व्यापार पर अपना कब्जा जमा बैठा।

यह १८ वीं शताब्दी के उतरार्द्ध की बात है। कहते हैं स्टीफन अफीम का तस्कर व्यापार भी करता था। उसने औरों की तो क्या किसी जरूरत मन्द सम्बन्धी की भी कभी मदद नहीं की।

सन् १७९३ में फिलाडेलफिया में पीत-ज्वर महामारी के रूप में फैला। स्टीफन को भी ज्वर हो गया। मरीजों को शहर के बाहर एक गन्दी बस्ती में डाल दिया गया। वहाँ न उनकी कोई पूछ ताछ करने वाला था और न साल सम्हाल। स्टीफन तो धनाढ्य था उसके लिए पर्याप्त चिकित्सा एवं सुविधायें थी। ज्वर ग्रस्तस्थिति में अचानक उसका हृदय परिवर्तन हो गया और वह मरीजों की बस्तीमेंचला गया। बीमाररहते हुएभी वह रोगियोंकी देख भाल करने लगा। वहां की गन्दगी अपने हाथों से साफ करता। इस बीमारी ने उसके व्यक्तित्व का काया पलट कर दिया। चार महीने तक वह लगातार रोगियों की परिचर्या करता रहा। महामारी जब बन्द हो गयी तब कहीं जा कर स्टीफन अपने पूर्व निवास में आया।

छः मास पूर्व का कंजूस और बेईमान स्टीफन अब पूरी तरह बदल गया था। ईमानदारी और उदारता ने उसके दोष दुर्गुणों का स्थान ले लिया। सन् १८१२ की लड़ाईमें अमरीकी सरकारका खजाना खालीहो गया था। देश की अर्थ व्यवस्था डगमगाने लगी थी। ऐसे मौके पर स्टीफन ने अमरीकी सरकार को करोड़ों रुपये की सहायता देकर उसकी अर्थ व्यवस्था को सम्हलवाया।

जिरार्ड स्टीफन का परिवार तो पहले ही बिखर चुका था। पत्नी पागल हो गयी थी, एक बच्चा था जो मर गया। भाई फ्रांस में रह कर अपना धन्धा कर रहा था। फिलाडेलफिया में अब उसका न कोई साथी रहा न सम्बन्धी। जिरार्ड को ऊबाने वाला अकेलापन असह्य हो उठा। इस ऊब भरी स्थिति में उसका ध्यान अनाथ बच्चों की ओर गया जो गली गली भीख माँग कर गुजारा करते थे।

१८३० में उसने अपनी वसीयत लिखी और पचास करोड़ की सम्पत्ति का एक ट्रस्ट बना दिया। जिसके अनुसार अनाथ बच्चों के लिए एक स्थायी कालेज बनना था बच्चों के खाने पीने, रहन सहन, आवास वस्त्र, शिक्षा आदि की सभी सुविधायें कालेज में रखी गयीं। जिरार्ड धर्म की ओर भी आकृष्ट हुआ। व्यक्तित्व एवं चरित्र के विकास के लिए सच्चे मानव धर्म की उपयोगिता उसकी समझ में आई। कालेज के बनकर तैयार हो जाने पर उस भवन में एक प्रार्थना मन्दिर का निर्माण भी करवाया जहाँ के वातावरण में धार्मिक भावनाएं अनायास ही जागृत होने लगती हैं। स्टीफन ने यहाँ एक सूझबूझ भरी सावधानी वर्ती। पेशेवर धार्मिक पुरोहितों ने धर्म की जितनी हानि की है उतनी नास्तिक और प्रत्यक्ष वादी तार्किकों ने नहीं की। इसी कारण अपनी वसीयत में उसने स्पष्ट निर्देश दिये कि किसी भी धर्म के व्यवसायी प्रचारक एवं पादरियों को प्रार्थना मन्दिर में स्थान नहीं

दिया जाय। कालेज में पढ़ने वाले बालक इस कारण हर प्रकार के साम्प्रदायिक भेद भाव से मुक्त हैं।

१८४८ में कालेज पूर्णतया तैयार हो गया। जो तब से अब तक निरन्तर प्रगति करता, रहा है पिछले १२५ वर्षों में इस कालेज ने फिलाडेलफिया के शहरी जीवन को बहुत प्रभावित किया है। व्यापार, बीमा आदि क्षेत्रों में काम करने वाले व्यक्ति एवं सफल वकील, न्यायधीश, अध्यापक, वैज्ञानिक और सरकारी अधिकारियों में सर्वाधिक संख्या जिरार्ड कालेज के विद्यार्थियों की रही है और मजे की बात यह कि वे सब कभी अनाथ, निराश्रित और अभागे थे।

जिरार्ड कालेज से निकलने वाले विद्यार्थी हर क्षेत्र में सफल होते हैं। वहाँ उनकी अन्तर्निहित प्रतिभा को जगाया, उभारा जाता है। जिरार्ड कालेज की शिक्षा पद्धति बहुत अंशों में यहाँ के प्राचीन आश्रमों से साम्य रखती है। विद्यार्थी जब कॉलेज छोड़कर निकलता है तो उसके बाद भी उसे मार्ग दर्शन, सहयोग और सलाह कालेज से प्राप्त होती रहती है। छात्र पढ़ाईपूरी करने के बाद नौकरी करना चाहता है या कोई धन्धा करना चाहता है। इस कार्य के लिए कालेज में अलग से एक अधिकारी नियुक्त है। जो यह ज्ञात करता है कि छात्र किस पेशे को अपनाने की इच्छा रखता है। कालेज के १० हजार छात्रों की एक तालिका से वह यह पता चलाता है कि कौन लोग उसे इस सम्बन्ध में उपयुक्त मार्गदर्शन दे सकते हैं। ऐसे छात्रों को छाँटने के बाद उसे उनके पास भेजा जाता है।

भूतपूर्व छात्र नये छात्रों की सहायता करना अपना परम कर्तव्य समझते हैं। जिरार्ड कालेज की व्यवस्था देखकर अभास होता है कि यह एक विद्यालय नहीं परिवार है। जिसके सभी नये व पुराने विद्यार्थी अपने को एक दूसरे का भाई समझते हैं।

इस समय कालेज की कोई २५ इमारतें है जो लगभग ४३ एकड़ जमीन में बनी हुई हैं। लगभग ८०० विद्यार्थी यहां पढ़ रहे हैं। कालेज के पास ७५ करोड़ की पूंजी है। इतना धनवान शिक्षण संस्थान अमेरिका में शायद ही कोई दूसरा हो। यह सम्पन्नता विद्यार्थीयों को निरन्तर लाभान्वित करती रहती है।

कालेज का पाठ्यक्रम ११ वर्षों का है। इतनी अवधि तक छात्र वहीं रहते हैं। पढ़ाई में पुस्तकीय ज्ञान के अतिरिक्त जीवनोपयोगी विद्या का भी सब प्रकार से शिक्षण दिया जाता है। व्यवसाय चुनने के लिए विद्यार्थी स्वतन्त्र रहते है। छपाई, ढलाई, प्रेस व्यवसाय, बढ़ई गिरी, मोटर मैकेनिक, मशीन संचालन, व्यवस्था आदि विषय छात्र अपनी रुचि के अनुकूल चुनते हैं। इनके अतिरिक्त लोक व्यवहार और शिष्टाचार भी सिखाया जाता है ताकि विद्यार्थी को समाज में कहीं नीचा देखने का अवसर न आये यहाँ तक कि विद्यार्थियों को, रेस्टोरेण्ट और यात्रा में भी अपने अध्यापकों के साथ भेजा जाता है ताकि वहाँ किसप्रकार व्यवहार किया जाय इसका प्रायोगिक ज्ञान कराया जाता है।

जिरार्ड कालेज में उन सभी अनाथ बच्चों को प्रवेश दिया जाता है जिन्होंने जीवन में प्रेम और ममता का कभी अनुभव न किया हो। पारिवारिक वातावरण की सृष्टि करके इस कमी तथा इसके कारण उत्पन्न अस्वथ्य संस्कारों को दूर किया जाता है। २५ विद्यार्थियों पर एक आया नियुक्त रहती है जो उन्हें माता और बड़ी बहन का प्यार दुलार देती है।

अनाथ बालकों को सरकार की ओर से भी सहायता दी जाती है। परन्तु उसे खर्च नहीं किया जाता। कॉलेज की ही एक विशेष निधि में उसे जमा किया जाता है। छात्र जब पढ़ाई पूरी करके निकलते हैं तो उनके हिस्से का धन उन्हें सौंप दिया जाता है। जिरार्ड स्टीफन का यह प्रयास ऐतिहासिक ही कहा जाना चाहिए। अपने पूर्व के जीवन में वह कितना ही बेईमान और चरित्र हीन रहा हो जीवन के उत्तर काल में उसे जो सूझी, उस सूझ ने अनायास देवताओं की पंक्तियों में बिठा दिया है।

—**—

चरित्र निष्ठा से ही व्यक्ति और समाज का कल्याण होगा

स्वेट मार्डेन ने लिखा है कि—संसार में ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता है जो धन के लिए अपने आप को बेचते नहीं, जिनके रोम रोम में ईमानदारी भरी हुई है, जिनके भीतर सत्य का दीपक प्रकाशित है, जिनकी अन्तरात्मा दिग्दर्शक यन्त्र की सूई के समान एक उज्जवल नक्षत्र की ओर देखा करती है, जो सत्य को प्रकट करने में क्रूर राक्षस का सामना करने में नहीं डरते, जो कठिन कार्यों को देखकर हिचकिचाते नहीं, जो अपने नाम का ढिढोरा पीटे बिना ही साहस पूर्वक काम करते जाते हैं, मेरी दृष्टि में वही चरित्र वान् आदमी है।

हमारी प्रगति की सीमा हमारे चरित्र का स्तर ही निर्धारित करने में सहायक होगी। चरित्र ही अन्य संभावनाओं का मार्ग प्रशस्त करता है। जीवन की स्थायी सफलता का आधार मनुष्य का चरित्र ही है। यदि इसके बिना किसी प्रकार सफलता पा भी ली गई तो टिकाऊ नहीं होगी। जीवन की अन्तिम सफलता चरित्र पर ही आश्रित है। सम्पूर्ण जीवन कार्य, व्यवहार, विचार मनोभावों की निर्मलता शुद्धि से ही हमारे चरित्र का गठन होता है। अपने मनोभाव, चेष्टाओं पर अपना नियन्त्रण रखना, बुराईयों को छोड़कर जीवन में अच्छाईयों को महत्व देना आत्म संयम है। दूसरों की भलाई के लिए अपनी सुख सुविधा छोड़ना आत्म त्याग है। जीवन शोधन, परमार्थ एवं अपने लक्ष्य पथ पर आगे बढ़ना अध्यवसाय है। जिसके जीवन में इस त्रिवेणी का संगम होता है, वह सहज ही चरित्र की पवित्रता प्राप्त कर लेता है। बड़ी कड़ी मिहनत से धन कमा सकते हैं वाक् चातुर्य के बल पर नेता गीरी मिल सकती है किन्तु इन विभूतियों के बावजूद भी चरित्र वान् नहीं हो सकते यदि संयम आत्म त्याग और अध्यवसाय न हो।

चरित्र स्वार्थ पर नहीं परमार्थ पर जीवित रहता है। यदि हमारी सामर्थ्य तथा धन के सदुपयोग से दूसरे जरूरत मन्द लोगों का भला न हो तो सब सामर्थ्य बेकार। अतः चरित्र वान् होने का एक यह भी कार्यक्रम है कि हम अपने शक्ति से विवेक से दूसरे के काम आ सकें। इसके साथ ही मानव जीवन का लक्ष्य है व्यक्ति के स्तर से उठकर समष्टि के स्तर पर आत्मसात् करना। मानव एक सामाजिक प्राणी है। यदि आजीवन हम अपना घेरा अपने स्वार्थ तथा अपने अहंकार रक्षण में ही लगाये रखें तो यह स्वार्थ पूर्ण जीवन होगा।

चरित्र आदमी का अनमोल धन है। इसकी हर प्रकार से रक्षा करनी चाहिए। हमारे भौतिक साधन किसी कारण वश आज नहीं है तो कल हो जाएंगे लेकिन यदि प्रमाव वश अपने चरित्र को गिरा दिया तो पुनः वह स्तर पाना असंभव है। देखा यह गया है कि धन, मान मर्यादा और यश उस व्यक्ति के पीछे चलते हैं जिनका चरित्र बल सुदृढ़ है। साधन हीन सच्चरित्र व्यक्ति को विश्वास पूर्वक सभी सहयोग करते हैं। यदि उस पर किसी प्रकार की आपत्ति आती है तो अनेक सहायक मिल जाते हैं। किन्तु दूसरी ओर एक चरित्र हीन के अपने भी पराये हो जाते हैं। राम की सीता हरी गई अनेक बन्दर भालू जान पर खेल कर लड़े। किन्तु नीति विहीन रावण का अपना सगा भाई विभीषण साथ छोड़ गया। समाज भी आदर्श उन्हीं को मानता है जो निष्ठा पूर्वक चरित्र की रक्षा करते हैं। सभी अपने बच्चे का नाम, राम लक्ष्मण कृष्ण, हनुमान या युधिष्ठर रखना चाहते हैं लेकिन ऐसा उदाहरण नहीं मिलता है जो रावण कंस या दुर्योधन रखे।

आचरण हीन व्यक्ति समाज में उन्नति नहीं कर सकते। भले ही कुछ देर के लिए सम्पति खड़ी कर लें सहयोगियों की एक लम्बी जमात बना लें किन्तु भीतर से सदैव खोखले रहेंगे। मनोबल हमेशा गिरा रहेगा आनन्द, उत्फुल्लता, निर्भयता, आत्म निर्भरता और संतोष के लिए हमेशा तरसते रहेंगे। कुछ देर के लिए प्रतिष्ठा भी भले मिल जाय। किन्तु पर्दाफास भी देर या सवेर होगा ही सबसे पहले तो अपनी भीतर की अन्तरात्मा ही परेशान किए रहेगी। छोटी छोटी गलतियां भी भयंकर परिणाम दिखलाएंगी। परिणामतः बेचैनी और अकुलाहट

नहीं होगी। अतः चरित्र हीन व्यक्ति समाज से डरेगा परिवार से डरेगा यहाँ तक कि अपने आप से भी डरेगा। इस डर के मन से पीछा छुड़ाने के लिए ही ऐसे लोग घोर व्यसन के शिकार होते देखे जाते हैं। अतः मन सदैव अशान्त रहेगा।

दूसरी ओर चरित्र वान् सदा उत्फुल्ल रहेगा। निर्भयता उसके रोम रोम से टपकेगी। उसे चारों ओर संतोष ही संतोष दिखलाई देगा। आपत्ति काल में जब साधारण लोग घबड़ा जाएंगे तो यह मुस्कराता रहेगा। यह तथ्य है कि सुख या दुख आता और जाता रहता है। मगर वह न दुख में उद्विग्न होगा न सुख में इतरायेगा।

मानव-जीवन की सार्थकता उज्ज्वल और उच्च चरित्र से होती है। सामाजिक प्रतिष्ठा के भागी दार वे होते हैं जिनमें चरित्र बल होता है। जिस पर सभी लोग विश्वास करते हैं। ऐसे ही लोगों की साख औरों पर पड़ती है। पर उपदेश तो वाक्चातुर्य के बल पर भी कर सकते हैं। किन्तु दूसरों को प्रकाशित और सद्मार्ग पर लाने का काम केवल चरित्रवान् ही कर सकते हैं। सद् विचारों और सद् कर्मों की एक रूपता को ही चरित्र कहते हैं। जो अन्दर से छली कपटी क्रूर हैं तथा दिखलाने के लिए सज्जन बने हुए हैं वे कभी भी चरित्र वान् नहीं बन सकते। जो अपनी इच्छाओं को नियन्त्रित रखते हैं और उन्हें सत्कर्मों का रूप देते हैं उन्हीं को चरित्र वान् कहा जा सकता है। संयत इच्छा शक्ति से प्रेरित सदाचार का नाम ही चरित्र है।

समाज का सौंदर्य, सुख और शान्ति चरित्रवान् व्यक्तियों के द्वारा ही स्थिर रहती है। दुश्चरित्र और दुराचारी से सभी भयभीत रहते हैं। उनके पास आने में लोग लज्जा और संकोच अनुभव करते हैं। जो भी उनके सम्पर्क में आता है उसे ही वे अपने दुष्कर्मों की आग में लपेट लेते हैं। ऐसा समाज दुख कलह और कटुता से झुलस कर रह जाता है। अनेकों प्रकार की भौतिक सम्पत्तियाँ व सांसारिक सुख सुविधायें प्राप्त होते हुए भी लोगों को शान्ति उपलब्ध नहीं होती। अधिक तर लोग कुढ़ कुढ़ कर जीवन बिताते रहते है। यह सब चारित्रिक न्यूनता के कारण ही होता है।

काम विषयक सदाचार चरित्र की सर्व श्रेष्ठ विशेषता और कसौटी मानी गई है। कुछ अवसरों पर "चरित्र शब्द से मर्यादित कामोपभोग का ही अर्थ लगाया जाता है। जिन देशों में स्त्री पुरुषों के बीच की शील मर्यादायें निश्चित नहीं हैं वहाँ भारी विशृंखलता पाई जाती है। पश्चिम के देश कुटिल प्रवंचनों के शिकार होकर अपना श्रेय खो चुके हैं। इन्हीं पाश्चात्य सिद्धान्तों पर आधारित इस घृणित दुष्प्रवृत्ति के कारण भारतीय संस्कृति कम अस्त-व्यस्त नहीं हुई। इस विषैली कामुकता की दुर्भाग्य पूर्ण स्वच्छन्दता ने आज सारे सामाजिक ढांचे को ही खोखला कर दिया है। इसके दुष्परिणाम स्वरूप ही स्वास्थ्य की दुर्दशा अशक्तता, अपहरण हत्या और आत्महत्यायें आये दिन समाज में होती हैं। सदाचार की सीमायें जब तक निर्धारित न होंगी और दुराचार पर जब तक प्रतिबन्ध नहीं लगेगा तब तक समाज में सुख शान्ति और व्यवस्था का स्थापित होना प्रायः असंभव ही है।

भीतर बाहर से पवित्र रहने, शुद्ध आचारण करने श्रेष्ठ पुस्तकों का स्वाध्याय, सत्संग शक्ति पुरुषार्थ आत्मिक प्रसनन्ता के आधार पर ही मनुष्य की उन्नति संभव है। आत्म नियन्त्रण संयम और सम्भाषण से न केवल अपने को वरन् अपने पास पड़ोस और सम्पर्क में आने वाले को भी सुख मिलता है। मानवता का विकास भी इसी से संभव है कि हम दूसरों को अपने जैसा समझें तथा उनके साथ भी सद्व्यवहार करें। चरित्र के धनी लोगों से ऐसी सद् प्रेरणायें समाज को मिलती हैं।

चरित्रवान् बनने के लिये अपनी आत्मिक शक्ति जगाने की आवश्यकता होती है। तप संयम और धैर्य से आत्मा बलवान् बनती है। कामुकता, लोलुपता व इन्द्रिय सुखों की बात सोचते रहने से ही आत्म शक्ति का ह्रास होता है। अपने जीवन में कठिनाईयों और मुसीबतों को स्थान न मिले तो आत्म शक्ति जाग्रत नहीं होती जब तक कष्ट और कठिनाईयों से जूझने का भाव हृदय में नहीं आता तब तक चरित्रवान् बनने को कल्पना साकार रूप धारण नहीं करती।

—★—

सहृदय साधु पुरुष—डॉ० कैलाश नाथ काटजू

सन् १९२९-३० की बात है। इलाहाबाद में कांग्रेस की कोई सार्वजनिक सभा हुई। उन दिनों स्वतन्त्रता आन्दोलन पूरे जोर पर था। सरकार ने इस सभा को गैर कानूनी करार देकर भाग लेने वाले सभी लोगों को गिरफ्तार कर लिया। आस-पास घूमते हुए नागरिक भी पकड़े गये। सब को एक पंक्ति में खड़ा कर नामवार सजा घोषित की जाने लगी। एक युवक जो बेहद डरा हुआ था—घबड़ा रहा था। उसका नाम आया तो काँपते हुए बोला—'परन्तु मैं तो निर्दोश हूँ"

मजिस्ट्रेट इतने भर कहने से आश्वस्त नहीं हुआ, पूछ बैठा—'निर्दोश हो तो साबित करो कि तुम पर लगाया गया अभियोग झूठ है। क्या तुम्हारा कोई वकील है?

युवक क्या जवाब देता। 'नहीं कहने ही जा रहा था किसी ने पीछे से आगे बढ़ कर कहा—'जी हाँ। महोदय मैं इस व्यक्ति का वकील हूँ।"

ऐसे समय में किसी व्यक्ति को आगे बढ़ते देख युवक को बड़ा आश्चर्य हुआ। खद्दर की शेर वानी, टोपी और चूड़ीदार पायजामा पहने स्वयं को वकील कहने वाले व्यक्ति ने युवक के आश्चर्य को कम किया—'तुम्हें हैरत क्यों हो रही है। सचमुच मैं सभी काँग्रेस अभियुक्तों का वकील हूँ, अपने देश के नागरिकों का वकील हूँ।'

दण्डित सभासद् तो निर्भय निश्चिन्त सजा भुगतने के लिए तैयार से थे परन्तु युवक को घबड़ाते देख उक्त वकील साहब ने उसकी पैरवी की। देशवासियों के, काँग्रेस अभियुक्तों के हर समय तत्पर रहने वाले उक्त वकील साहब थे डा० कैलाश नाथ काटजू। उनकी सहृदयता के समक्ष युवक श्रद्धावनत हो गया और स्वयं को कांग्रेस अभियुक्तों की पंक्ति में गिने जाने पर ही गर्व का अनुभव करने लगा। डा० काटजू पेशे से वकील थे परन्तु उन्होंने वकालत को कभी अनुचित—उचित का अवाँतर-अभेद व्यवसाय नहीं माना। साधन और जीविका की पवित्रता के कारण काटजू ने अपने इस पेशे में ईमानदारी और न्याय की रक्षा का भाव समाहित कर इसे भी परमार्थ-साधना बना दिया।

उन्होंने अपने वकालत के पेशे में मिलने वाली फीस पर नहीं, अपने मुवक्किल की स्थिति और पक्ष के औचित्य पर ही ध्यान दिया। कानपुर में बच्चीसिंह का मुकदमा उनके जीवन की सर्वाधिक चर्चित घटना है। इस मुकदमे में दोनों पक्षों की एक पीढ़ी गुजर चुकी थी बताया जाता है कि दोनों के बीच सन् १९४८ से झगड़ा चल रहा था। मुकदमे की दूरवस्था को देखते हुए कोई भी वकील इसे हाथ में नहीं लेता था। वादी ने कानपुर अदालत का द्वार अपनी रेहन रखी सम्पत्ति को जिसका ऋण मूल सूद सहित चुका दिया गया था। हस्तगत करने के लिए खट खटाया। कानपुर न्यायालय ने तो वादी के पक्ष में निर्णय दिया। परन्तु प्रतिवादी रेहनदार ने जिला न्यायालय में अर्जी दी। जिला न्यायाधीश ने फैसला दिया कि नियमानुसार वादी ने केवल सूद भी पूरी तरह नहीं चुकाया है।

बच्चीसिंह जो अपने पिता महाराजसिंह के बाद मुकदमा लड़ रहा था—इसी में बर्बाद हो गया। डा० काटजू के पास जब वह अपना मामला लेकर आया तो उस समय विवस्त्र मानव कंकाल काया ही उसके पास शेष बची थी। सारी बात सुनकर डा० काटजू का हृदय द्रवीभूत हो उठा। बच्चीसिंह की करुणा जनक स्थिति को देखकर उन्होंने यह मुकदमा ले लिया।

उनके अदालती ज्ञान और कानूनी प्रतिभा की परीक्षा का यह चुनौती भरा अवसर था। बच्चीसिंह के पास अपनी बात का कोई प्रमाण नहीं था। १८५७ की क्रान्ति में कानपुर की अदालतों के निर्णय सम्बन्धी सभी रिकार्ड भी नष्ट हो गये थे। बड़ी कठिन परिस्थितियाँ थी परन्तु परिस्थतियों से पराजित होना उनका स्वभाव नहीं था। कानून और मामले की बारीकियों का भलीभाँति अध्ययन कर डा० काटजू ने बच्चीसिंह का पक्ष इतनी दृढ़ता पूर्वक रखा कि निर्णय उसी के पक्ष में हुआ।

फैसला सुनकर बच्ची सिंह गद् गद् हो गया और उसने डा० काटजू के हाथ में मुकदमे की फीस के रूप में २५ रु० रख दिये। आसपास के लोग देखकर प्रतीक्षा करने लगे कि अब वे बिफर उठेंगे। लेकिन सबकी आशा के विपरीत काटजू ने पैंतीस रुपये बड़े संतोष और आदर के साथ स्वीकार कर लिए। ऐसे व्यक्ति के लिए यह कहना कहाँ तक उपयुक्त होगा कि वकालत उनका मात्र पेशा ही था। बेशक यह पेशा तो था परन्तु उन्होंने न्याय और मानवता को ही सर्वोपरि स्थान दिया। मुवक्किल की फीस ने उन्हें कभी नहीं ललचाया बल्कि वे तो उसकी स्थिति पर द्रवी भूत होते थे। इस रूप में वकालत उन पर नहीं वे वकालत पर हावी रहते थे।

ऐसी कई घटनायें उनके सम्बन्ध में विख्यात हैं जो उनकी मानवीय आदर्शों के प्रति निष्ठा और न्याय की रक्षा का भाव व्यक्त करती हैं। भारतीय समाज, न्याय और राजनीति में अपने ढंग के अभूत पूर्व डा० कैलाश नाथ काटजू का जन्म सन् १८८७ ई० में मध्य भारत की एक छोटी सी रियासत जावरा में हुआ था। उनके पिता जावरा नवाब के एक मन्त्री के निजी सचिव थे। वेतन के रूप में कोई खास पैसा मिलता नहीं था। उनकी आर्थिक स्थिति साधारण थी। पिता ने अपने बालक को प्राथमिक शिक्षा समाप्त कर लेने के बाद किसी तरह उच्च शिक्षा के लिए इलाहा बाद विश्व विद्यालय में भेजने की व्यवस्था की।

डा० काटजू एक अध्यवसायी और परिश्रमी छात्र सिद्ध हुए। सन् १९०७ में ही उन्होंने एम० ए० पास कर लिया। कानून उनका प्रिय विषय था—उसी समय उन्होंने एल० एल० बी० की परीक्षा भी उत्तीर्ण की। छः वर्ष तक इस विषय में एल० एल० एम और १९१९ में एल० एल० डी० की उच्चतम परीक्षा पास की। विषय में इतनी योग्यता अर्जित कर कानपुर उच्च न्यायालय में प्रैक्टिस करने लगे।। इन्हीं दिनों उन्होंने एक महा निबंध लिख कर डॉक्टर आफ लॉज' की डिग्री प्राप्त की।

कानपुर में जमने से पूर्व उन्हें बड़े संघर्षों का सामना करना पड़ा था। विद्यार्थी जीवन समाप्त होते ही उन्हें काम ढूढ़ने की आवश्यकता हुई। उच्च शिक्षित लोगों के लिए उचित रोजगार का प्रबन्ध उन दिनों भी मुश्किल ही था। उन्हें सौ रुपये प्रतिमास पर भी कोई काम देने के लिए तैयार नहीं हुआ। जावरा, रतलाम इन्दौर, ग्वालियर आदि महा नगरों में दर दर की ठोकरें खाना पड़ी। परन्तु वे निराश नहीं हुए।

उन्हें अपनी योग्यता पर विश्वास और भविष्य की प्रतीक्षा के लिए धीरज था। प्रतिकूल परिस्थितियों में स्थिर बुद्धि और संतुलित मन ही व्यक्ति को संतुष्ट और शान्त रखता है। सामर्थ्य, योग्यता और प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति भी प्रायः प्रतिकूल परिस्थितियों में—मनोबल की कमी के कारण जल्दी घबड़ा उठते हैं। ऐसी दशा में आत्म विश्वास और धैर्य धारण आवश्यक है इन शक्तियों से रहित व्यक्ति निराश होकर अपने जीवन को नर्क बना लेते हैं।। परिणाम स्वरूप उनकी प्रतिभा का विकास और जो लाभ समाज को मिल सकता था उससे दोनों ही वञ्चित रह जाते हैं।

व्यक्ति किसी विशेष योग्यता से सम्पन्न है तो भी कोई जरूरी नही कि लोग उसे तत्काल ही जानने लगें। प्रकृति की दीर्घ क्रिया व्यवस्थाओं से हीरे का निर्माण होता है। सदियों और सहस्राब्दियों तक वह धरती की पर्तों में ही छुपा रहता है, तब कहीं जाकर यदा कदा लोगों की निगाह में आता है और उसका मूल्यांकन होता है। प्रतिभा शाली व्यक्ति भी उसी प्रकार बरसों तक उपेक्षित रहते हैं। शंकालु और आत्म निर्बल व्यक्ति इस उपेक्षा अवमूल्यन से अपनी योग्यता को ही सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। परन्तु डा० काटजू तो दृढ़ आत्म विश्वासी थे। धैर्य और संघर्ष की शक्ति क्षमता उनमें थी। कठिन परिस्थितियों से जूझते रहने पर भी वे फलस्वरूप हताश नहीं हुए। काफी समय तक मनोयोग पूर्वक जीवन संघर्ष में जूझने के बाद वे कानपुर के पं० पृथ्वी नाथ के संपर्क में आये।

उनकी प्रतिभा अवसर पाकर व्यक्त हुई और डा० काटजू की ख्याति दूर-दूर तक फैलने लगी। वे जब कानपुर के सर्वाधिक प्रतिष्ठित, कुशल और होशियार वकील बन गये थे तभी बच्चीसिंह का मुकदमा उनके पास आया।

वकालत के पेशे में विख्यात होते ही उन्होंने स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेना भी आरम्भ कर दिया। नागरिक सेवाओं और आन्दोलनों के लिए सदैव उद्यत रहने वाले डा० काटजू इस रूप में भी बड़े लोकप्रिय हुए। कानपुर में कुछ वर्षों तक वकालत करने के बाद वे इलाहाबाद चले आये। क्योंकि यह शहर उन दिनों राजनैतिक आंदोलनों और घटनाओं का केन्द्र बना हुआ था। यहीं उन्होंने अपनी वकालत भी जारी रखी। लगातार तीस वर्ष तक वे इलाहाबाद और देश के श्रेष्ठ तम न्याय मन्दिरों में एक छत्र सम्राट वकील बने रहे। इसके साथ ही राष्ट्रीय आन्दोलनों में भी उसी प्रकार भाग लेते रहे। स्वर्गीय मोतीलाल नेहरु द्वारा संस्थापित 'इलाहाबाद जर्नल जो राष्ट्रवादी विचार धारा का प्रमुख पत्र का वे वर्षों तक सम्पादन करते रहे।

राष्ट्रीय विचारों और सेवा भावी क्रिया कलापों से प्रभावित हो कर इलाहाबाद की जनता ने उन्हें १६३५ में नगर पालिका अध्यक्ष चुना। इसके दो वर्ष बाद स्वतंत्रता आदोलन में भाग लेने के लिए उन्होंने वकालत का पूर्णतया परित्याग किया। राजनीति के वे अब खुलकर खिलाड़ी बन चुके थे। जीवन में यह परिवर्तन उनके सम्मुख बहु आयाम प्रस्तुत कर गया। कांग्रेस के सक्रिय कार्यकर्ता बन गये थे। पार्टी ने उनकी योग्यता प्रतिभा को दृष्टिगत रखते हुए तत्काल संयुक्त प्रांतीय धारा सभा का सदस्य चुना और फिर न्याय उद्योग एवं विभाग के मंत्री बने। इन पदों का उन्हें कोई पूर्व अनुभव नहीं था फिर भी लगन, परिश्रम और ईमान दारी के कारण इन पदों के महत्वपूर्ण दायित्व को पूरा करते रहे।

कांग्रेस ने शीघ्र ही अंग्रेज अधिकारियों की अड़ंगे बाजी के कारण मन्त्री पद और सदस्यता से त्याग पत्र देने का क्रम चलाया। तुरन्त हीं डा० काटजु ने भी मन्त्री पद से इस्तीफा दे दिया और सत्याग्रह का मार्ग अपनाया। उनकी दृष्टि में पद नहीं अनुशासन महत्वपूर्ण था। संगठन का अनुशासन व्यक्ति की क्षमता और योग्यता को समाजोपयोगी बनता है। अन्यथा अनुशासन विहीन प्रतिभा थोड़ अहं और अभिमान की ही जननी बनती है। सत्याग्रह आन्दोलन में भाग लेने के कारण उन्हे १६४० में डेढ़ साल के लिए जेल भेज दिया गया।

कहां तो वकील जीवन का ऐश्वर्य और सुखोपभोग और कहाँ जेल की यातनायें। डा० काटजू इन विषम परिस्थितियों में भी एक समान ही स्थिर और शांत रहे। महानता अपने पूर्व जीवन के सुख सुविधाओं को नहीं वर्तमान के संघर्षों को ही वरेण्य करने की प्रेरणा देती है। क्योंकि सेवा और जन कल्याण के मार्ग में आने वाली प्रतिकूल परिस्थितियाँ हीं उसकी आत्मा का स्वार्थ पूरा कर उसे संतोष प्रदान करती हैं।

जेल से सजा पूरी कर लौटे अभी कुछेक ही माह हुए होंगे कि उन्हें भारत छोड़ो आन्दोलन के अन्तर्गत फिर गिरफ्तार किया गया। और पुनः जेल जाना पड़ा। जेल में उनका स्वास्थ्य ज्यादा खराब रहने लगा इस कारण सात-आठ महीने बाद ही उन्हें छोड़ दिया गया।

१६४६ से १६६२ तक वे कई महत्वपूर्ण पदों पर रह कर देश सेवा करते रहे। जीवन के अन्तिम दिनों में मध्यप्रदेश की राज नीति में पूर्ण सक्रिय रहे। बाद में उन्हें मध्य प्रदेश की सेवाओं के अवसर छोड़ना पड़े परन्तु सेवा के लिए कोई विशेष अवसर या परिस्थिति आवश्यक नहीं होती। वह तो हर समय किया जा सकने वाला अनुष्ठान है। उन्होंने जो कुछ भी कमाया वह अपने लिए कम व औरों के लिए अधिक खर्च किया। निर्धन छात्र छात्राओं के सहयोग हेतु उन्होंने अपनी आय का अधिकाँश भाग दिया और साथ ही आत्म विज्ञापन से बचने के लिए कहीं चर्चा न करने की सख्त हिदायत भी। नियमित रूप से सहायता प्राप्त करने वाले छात्र बड़ी संख्या में उनके प्रति भविष्य के लिए आभारी हैं।

१६६८ में उनका देहान्त हो गया। एक ऐसे मार्ग का पथिक उठ गया जिसने जिस मार्ग पर भी कदम रखा उसमें सफलता पायी। अपनी धर्म निष्ठा लगन ईमानदारी और साधुता के कारण सभी क्षेत्रों में उन्होंने अपूर्व ख्याति प्राप्त की। परन्तु लोग उन्हें साधु पुरुष के रूप में ही अधिक याद रखते हैं।



अनुशासन ही समाज को आगे बढ़ाता है

प्रत्येक कार्य को पूरा करने, लक्ष्य प्राप्त करने अथवा उद्देश्य की पूर्ति के लिए सुनिश्चित मर्यादाओं का पालन करना पड़ता है। उन मर्यादाओं के अभाव में व्यक्ति सहित समाज भी लक्ष्य विहीन, अस्त व्यस्त और दिशा भ्रष्ट हो जाता है। व्यक्ति ही क्यों? जड़ जगत् जिसे ब्रह्माण्ड कहा जा सकता है फिर भी अपनी अपनी मर्यादाओं और नियमों में बन्धे हुए है। सूर्य, पृथ्वी, चन्द्रमा, ग्रह, उपग्रह सभी एक व्यवस्था और विधान के अनुसार चलते हैं। कोई ग्रह उपग्रह अपनी कक्षा से हटकर यदि दूसरी कक्षा में चला जाय तो भयंकर विस्फोट उत्पन्न हो जाता है।

पेड़ पौधों के उगने फलने से लेकर ऋतुओं के बदलने का भी एक निश्चित क्रम है और एक निश्चित व्यवस्था है। कहने का अर्थ यह कि संसार को हर छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी वस्तु घटना तथा प्रक्रिया एक नियम से चलती और कार्य करती है। मनुष्य भी उस नियमन से अलग नहीं रह सकता उसे भी अपनी प्रत्येक गतिविधि को नियन्त्रित, नियमित और व्यवस्थित रखना पड़ेगा। अनुशासन इसी का नाम है। अनुशासन का निर्धारण इसलिए आवश्यक होता है कि प्रत्येक व्यक्ति के अपने हितों की रक्षा होती रहे। समाज में सबल होते है और निर्बल भी, धनी भी होते हैं और अमीर भी, बुद्धिमान भी होते और निर्बुद्धि भी। पर किसी के पास योग्यता या विभूति विशेष होने का अर्थ यह नहीं कि वह दूसरों के अधिकारों का हनन करे, अपनी शक्ति, सम्पत्ति और बुद्धि के बल पर दूसरों का दमन, शोषण करे उन्हें छल ले। जीने का सभी को बराबर अधिकार हैं और वह अधिकार उच्छृंखल लोग छीन न डालें इसलिए नियन्त्रण की कठोर व्यवस्था बनानी पड़ती है। भले ही वह राजतन्त्र के माध्यम से हो या धर्मतन्त्र के माध्यम से।

अनुशासन का इतना ही अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी अपनी सीमा और परिधि में कर्तव्यों का पालन करते हुए अपने अधिकारों का उपयोग करें। अधिकार की रट सभी लगाते हैं पर अधिकारों के साथ कर्तव्य भी अनिवार्य रूप से जुड़े हैं, दायित्व भी जुड़े होते है। और उन दायित्वों का पालन करते हुए ही व्यक्ति अपने अस्तित्व को सुरक्षित तथा बाह्य स्थिति को सुव्यवस्थित बनाये रह सकता है। अन्यथा उद्दण्ड और उच्छृंखल प्रवृत्ति के लोग अपनी अवांछनीय हरकतों से समाज में अस्तव्यस्तता फैला सकते है।

उद्दण्डता और उच्छृंखलता पशु प्रवृत्ति की निशानी है और कमोवेश रूप में यह सभी मनुष्यों में रहती है। मनुष्य अन्ततः आसुरी और देवी सत्ता के बीच का सेतु ही तो है। उसमें पशुता के गुण भी बीज रूप में उतने ही विद्यमान है जितनेकि उत्कृष्टताके। अनुकूल परिस्थितियाँ और निरवरोध वातावरण पाकर ही एक प्रकृति दूसरी प्रकृति को दबा कर आगे बढ़ जाती है। कहना नहीं होगा कि पशुस्तर पर विकसित हुई मानवी चेतना व्यक्तिगत जीवन में अस्त व्यस्तता, पारिवारिक जीवन में क्लेश कलह और सामाजिक जीवन में अवांछनीयता को ही बढ़ावा देगी।

उदाहरण के लिए शराब पीने के बाद की स्थिति को ही लें। शराबी व्यक्ति नशेमें धुत्त होकर अपनी इन्द्रियों पर काबू खो बैठता है, ऊटपटांग बकता झकता है न उसके पैर सही दिशा में चल पाते हैं और न उसका मस्तिष्क सही ढङ्ग से सोच पाता है। उसके वैयक्तिक जीवन में आयी यह अस्तव्यस्तता उसे हास्यास्पद बना देती हैं। परिवार में कलह से लेकर बाहरी लोगों के लड़ने झगड़ने तक का उसका उतारूपन पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन में क्लेश कलह और अवांछनीयता फैलाता है। कहने का अर्थ यह कि इस प्रकार मानवीयता की मर्यादाओं को तोड़ने से रोकने के लिए बनाई गयी विधि व्यावस्था अनुशासन है। शराब का नशा ही नहींअन्य कई कारणों से भी व्यक्ति इन मर्यादाओं को तोड़ने पर उतारू हो जाता है।

उनमें से एक बड़ा कारण है स्वार्थ एक व्यक्ति यदि

अपने स्वार्थ के कारण दूसरे लोगों को भ्रमित करता है या सामाजिक नियमों मर्यादाओं को भंग करता है तो असामाजिकता की ओर अग्रसर हुई उसकी गतिविधियाँ असंदिग्ध रूप से खतर नाक हो जायेंगी। बेईमानी, कम नाप तोल, भ्रष्टाचार, चोरी आदि आर्थिक अपराध हैं। ये भी अनुशासन हीनता में आते हैं बल्कि उससे गम्भीरतम हैं इसलिए अपराध हैं। पर जब सामाजिक नियमों और मर्यादाओं को—नैतिक नियमों को कोई व्यक्ति तोड़ता है, तथा प्रत्यक्षतः उसका तात्कालिक प्रभाव नहीं दिखाई देता है लेकिन उसका दुष्परिणाम तो होता ही है—वह मर्यादा—भंग अनुशासन हीनता बन जाता है।

कहा जा चुका है कि सृष्टि का चक्र एक नियम, एक मर्यादा और एक व्यवस्था के अनुसार चलता है। जिसके कारण ही विभिन्न शक्तियों, पदार्थों और क्रियाओं में सन्तुलना बना रहता है। जड़ हो या चेतन उसकी प्रत्येक क्रिया प्रति क्रिया के पीछे उन तथ्यों की ही प्रेरणा रहती है। इसी स्थिति को दृष्टिगत रखते हुए प्रसिद्ध दार्शनिक एभिगंटन ने लिखा है—जिस तरह मनुष्य के कार्यकलापों के पीछे मन की शक्तिकार्यकरती हैं,ठीक इसी तरह सृष्टि के मूल में भी एक चेतना संज्ञा कार्य करती है जो पूर्ण व्यवस्थित और नियामक है। पहले स्थूल दृष्टि से देखने पर जड़ जगत का कार्य भी एक मशीन की तरह दिखाई देता है किन्तु गम्भीर विचार, चिन्तन द्वारा देखा जाय तो मालूम पड़ता है कि जगत और इसके प्रत्येक कार्यकलाप के पीछे एक चेतन सत्ता काम कर रही है जो नियामक है।"

प्रश्न उठता है कि जब नियामक सत्ता स्वयं सारी व्यवस्था प्रक्रिया को सुचारू रूप से चला रही है तो मनुष्य के लिए अनुशासन के—नियमों मर्यादाओं के बन्धन प्रतिबन्धों के निर्धारण की क्या आवश्यकता है। स्मरणीय हैं जड़ तत्वों और मनुष्येतर प्राणियों में विचारशक्ति नहीं होती अतः वे अपने नियत निर्धारित स्वभाव के अनुसार ही वर्तते है। जबकि मनुष्य योनि को सर्व श्रेष्ठ माना गया है और उसे तदनुसार विचार शक्ति भी मिली हुई है। वह अपने क्रिया कलापों और गतिविधियों का स्वयं निर्धारण तथा संचालन स्वयं कर सकता है अतः आवश्यक हो जाता है कि उसके लिए नीति नियमों और समाजिक मर्यादाओं की व्यवस्था की जाय। इसी उद्देश्य को दृष्टिगत रखते हुए मनीषी विचारकों और समाज नियन्ताओं ने कुछ मर्यादायें निर्धारित की हैं—जिन्हें अनुशासन कहते हैं।

उन मर्यादाओं की प्रेरणा स्फुरणा मनुष्य को अन्तर्जगत से भी उठती हुई अनुभव होती है। शान्त मन और गम्भीरता पूर्वक विचार किया जाय तो पता चलेगा कि न केवल वाह्य—भौतिक जगत में ही कोई नियंत्रण व्यवस्था काम नहीं कर रही है वरन् उसकी अन्तश्चेतना में भी वही चेतना काम करती है। उसे गलत काम करने पर टोकती रोकती है। उसे बताती है कि यह काम समाज के साथ द्रोह तो है ही अपने लिए भी कम घातक नहीं है।

> आकाश के नक्षत्रों से लेकर अणु परमाणु के कार्यकलाप और संसार की प्रत्येक घटना के पीछे एक अमर चेतन सत्ता का नियत विधान काम करता है। जिस तरह किसी के पथ भ्रष्ट हो जाने पर सृष्टि में खलबली मच जाती है उसी तरह विश्व नियम—नियतिके विधान और सामाजिक मर्यादाओं को तोड़ने पर-उनके विरुद्धचलने पर मनुष्य के आन्तरिक जीवन में भी भयङ्कर संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। उसका परिणाम वाह्य जीवन में भी विनाश और हानि के रूप में ही प्राप्त होता है।
>
> —काण्ट

मनुष्य वैसे भी नियामक सत्ता की मर्यादाओं, के उल्लघनों का दुष्परिणाम अनुभव करता है। वह देखता है आग को अगर छू लिया जाय तो वह जला देती है। पानी में अगर छलांग लगा दी जाय तो सारा शरीर भीग जाता है बिजली के खुले तारों को छू लिया जाय तो विद्युत प्राण हर लेती है। बर्फ गला देती हैं और यहाँ तक कि वाहन टकरा जाये तो भयङ्कर हानि उठानी पड़ती है। यह सब होता है मर्यादाओं का उल्लंघन करने के कारण

मर्यादायें तोड़ने का—अनुशासन भङ्ग करने का दुष्परिणाम हर किसी को भोगना पड़ता है।

रामायण में स्वर्णमृग के शिकार के प्रसंग में हम अच्छी तरह देखते हैं कि भगवती सीता भी मर्यादा उल्लंघन के दुष्परिणाम से नहीं बच सकी थी। भ्रम के शिकार हो कर लक्ष्मण जब राम की सहायता के लिए जाने लगे तो उन्होंने पर्णकुटी के द्वार पर एक रेखा खींच दी और सीता से कहा—आप इस रेखा के अन्दर रहेंगी तो आपको कोई खतरा नहीं होगा और रेखा से बाहर निकलने पर सुरक्षा पर आँच आ सकती है।

हुआ भी यही। छद्म वेश धारी रावण को भिक्षा देने के लिए सीता ने लक्ष्मण रेखा से बाहर कदम रखा तभी उनका हरण सम्भव हो सका। इस प्रसंग द्वारा अलंकारिक ढङ्ग से मर्यादाओं का उल्लंघन न करने की शिक्षा दी गयी है। और इसीलिए अन्तिम मर्यादा सीमा के लिए 'लक्ष्मण रेखा' का शब्द प्रचलित हुआ है। व्यक्ति अपनी अन्तरात्मा से प्रेरित मर्यादाओं, चेतावनियों का पालन करे, उन्हें सुने तो जीवन सुख शान्ति पूर्वक व्यतीत हो सकता है और स्वतः पालित उन मर्यादाओं का अनुशासन भी ऊंचे स्तर का आत्मानुशासन बन जाता है और वह आत्मानुशासन व्यक्तिके उच्चस्तरीय आत्मविकास के साथ साथ समाज में भी उसे आदर्श व्यक्ति बनाता है।

कदाचित् अन्तरात्मा की प्रेरणा किसी को न सुनाई देती हो क्योंकि स्वच्छ स्पष्ट और स्फटिक हृदय में ही उसकीअनुभूति होती है। अन्तः क्षेत्र में जमे कषाय कल्मष अन्तरात्मा की आवाज को उसी प्रकार हमारे कानों तक नहीं पहुँचने देते जिस प्रकार एक बन्द कोठरी में होने वाली आवाज बाहर के व्यक्ति को नहीं सुनाई देती है, सुनाई भी देती है तो अस्पष्ट। लेकिन मनुष्य अपने आसपास की दुनिया से तो अनुशासन सीख सकता है। समाज का मार्ग दर्शन करने वाले प्रकाश पुञ्ज, उसका नियंत्रण करने वाले मनीषी व्यक्ति को उन नियमों और मर्यादाओं से भली भाँति अवगत कराते रहे हैं।

कानून, नागरिक के नियम और कर्तव्य, नैतिकता के सिद्धान्त सर्वविदित हैं। स्वार्थ के कारण हो या किसी के बहकाये जाने पर उनका उल्लंघन किसी कीमत पर नहीं करना चाहिए इन नियमों और मर्यादाओं के अनुकूल रहने पर ही व्यक्ति तथा समाज की प्रगति और उन्नति का मार्ग प्रशस्त होता है। इसके विपरीत चलने से, नियमों का उल्लंघन करने से, अनुशासन भंग करने से अवनति और पतन ही होता है।

चेतना एक शक्ति है। और मनुष्य उससे सम्पन्न होने के कारण उस शक्ति का स्वामी है। शक्तिका सदुपयोग जहाँ सुख दायक और आनन्द वर्धक होता है वही दुरुपयोग कष्ट कारक और पीड़ादायी बन जाता है। उदाहरण के लिए विद्युत को ही लें। विद्युत का सदुपयोग यदि किया जाय तो उससे बड़े बड़े महत्वपूर्ण काम लिये जा सकते हैं और लिये जाते भी हैं। मशीनें, पंखे, इंजिन, रेडियो आदि उपकरण मनुष्य के श्रम को घटाती है और जीवन की रिक्तता को समाप्त करती है। सुन्दर, सुरुचि पूर्ण प्रकाश मिलता है। विद्युत शक्ति ने सचमुच संसार का नक्शा ही बदल दिया है। यदि इसी शक्ति को ढङ्ग से उपयोग किया जाय तो यही विद्युत प्राण घातक बन जाती है। आग की सहायता से मनुष्य ने अपनी कितनी कठिनाईयों का हल कर लिया है, इसीलिए उसे जीवन दाता भी कहा गया है किन्तु गलत ढङ्ग से, नियम विरुद्ध उसका उपयोग भी भीषण परिस्थितयाँ उत्पन्न कर देता है। मानवी चेतना को नियम से, मर्यादित ढङ्ग से उपयोग —जिसे अनुशासन कहते हैं समाज में सुव्यवस्था और जीवन में सुख शान्ति का अवतरण लाती है पर यदि दुर्बुद्धि ग्रस्त होकर उसका उपयोग किया जाय तो सुख शान्ति और सुव्यवस्था स्वप्न मात्र बन कर रह जाती है। प्रत्येक विचारशील व्यक्तिका कर्तव्य है कि अनुशासन—नागरिक मर्यादाओं का पालन करें और दूसरों के सामने भी अपने आचरण से अनुकरणीय आदर्श उपस्थित करें।



देश प्रेम और स्वतंत्रता के प्रतीक—डी वेलेरा

आयरिश स्वतंत्रता के लिये सन् १९१६ में किया गया ईस्टर विद्रोह ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा कुचल दिया गया और विद्रोही नायकों को फाँसी पर चढ़ा दिया गया उन्हीं नायकों में से एक नायक फांसी के फन्दे को चूमने के पहले यह मानकर पानी का एक गिलास पी रहे थे कि यह उसके लिये अन्तिम पेय सिद्ध होगा किन्तु एक अप्रत्याशित ढंग से उनकी फाँसी की सजा आजीवन मृत्यु दण्ड में परिवर्तित कर दी गयी थी।

ये सौभाग्य शाली नायक थे डी वेलेरा जिन्होंने इस संग्राम के अनन्तर ५७ वर्ष तक अपने जीवन का एक-एक क्षण आयरलेण्ड की स्वतंत्रता तथा एकता के लिये समर्पित कर दिया। उनके मृत्यु दण्ड से मुक्ति पाने का कारण उनका अमेरिकी नागरिक होना था। अमेरिका वासिनी आयरिश मां और स्पेनिश पिता के पुत्र डी वेलेरा अपने मामा के पास आयर लैण्ड में पले थे। फिर भी उनकी अमेरिकी नागरिकता उन्हें बचा गयी थी। उनके माता पिता के प्रयासों के कारण अमेरिकी सरकार ने ब्रिटिश सरकार पर दवाव डालकर उन्हें मृत्यु दण्ड से मुक्त करवा दिया था।

फाँसी का अप्रत्याशित रूप से आजीवन कारावास में बदल जाना और आजीवन कारावास की सजा भी एक वर्ष से अधिक न चल सकने—१९१७ में राजनीतिक वंदियों की सामूहिक मुक्ति के अन्तर्गत उन्हें भी जेल से छुट्टी मिल जाने के पीछे छिपे अदृश्य संकेत को उन्होंने समझा कि उनकी इस मुक्ति के पीछे निश्चित रूप से ईश्वर का कोई महान उद्देश्य है। अतः उन्होंने अपने भावी जीवन को राष्ट्र समर्पित ढंग से जीना ही उचित समझा। तदनुरूप ही उन्होंने जीवन लक्ष्य निर्धारित कर लिया कि वे आयर लैण्ड की स्वतंत्रता के लिये और समृद्धि के लिये लड़ते ही रहेंगे

३३ वर्ष की आयु में डी वेलेरा ने अपनी रण नीतिज्ञता और कुशल सैन्य संचालन का परिचय १९१६ के ईस्टर विद्रोह में दिया था। आयर लण्ड को स्वाधीन कराने के सब शान्ति पूर्ण प्रयास जब निष्फल हो गये तो यह सशस्त्र विद्रोह हुआ। यह विद्रोह भी कुचल दिया गया। किन्तु इस विद्रोह ने आयर लेण्ड को एक कुशल नायक डी वेलेरा के रूप में प्रदान कर दिया। डी वेलेरा ने ५७ वर्ष तक आयर लेण्ड की राजनीति में सक्रिय भाग लेते हुए आयरिश जनता का नेतृत्व किया। २४ जून १९७३ को उन्होंने अस्सी वर्ष की आयु में अब राजनीति से संन्यास ले लिया है। वे इस समय तक आयर लेण्ड के राष्ट्रपति थे।

डी वेलेरा का जन्म सन् १८८३ में अमेरिका में हुआ। शिक्षा दीक्षा भी अमेरिका में ही हुई। किन्तु अपनी मातृ भाषा गेलिक के प्रति उनके उत्कट प्रेम ने उन्हें आयर लेण्ड बुला लिया। वे अपने माता के पास रहने लगे। उनका प्रारम्भिक जीवन आयर लेण्ड की राष्ट्र भाषा गेलिक के अनन्य प्रेमी तथा गणित के शिक्षक के रूप में प्रारम्भ होकर आयर लेण्ड के राष्ट्रपति पद पर जाकर समाप्त हुआ।

एक वर्ष की जेल काटकर जब वे बाहर निकले तो उनके सामने एक ही लक्ष्य था—आयर लेण्ड को ब्रिटिश दासता से मुक्त कराना। अतः ईस्टर विद्रोह में वोलैण्ड्स की विद्रोही टुकड़ी का यह नायक जेल से छूटते ही पुनः आयर लेण्ड के राष्ट्रवादी संगठन सिन फिएन को पुर्नसंगठित करने में लग गया।

उनके इन स्वतंत्रता समर्थक क्रिया कलापों की भनक पड़ने पर उन्हें ब्रिटिश सरकार ने पुनः १९१८ में वन्दी बना लिया। उन्हें लिंकन की जेल में रखा गया। डी वेलेरा अपने बुद्धि चातुर्य से इस जेल से छूट निकले। उनके जेल से निकल भागने की बड़ी रोचक कहानी है।

दो प्रयासों के असफल हो जाने के बाद तीसरी बार वे जेल से निकल भागने में सफल हुए थे। जेल से निकलने के लिये जेल के ताले की एक चाबी चाहिए थी। उसके लिये एक बार उन्होंने पोस्टकार्ड पर एक शराबी का कार्टून बनाया जो नशे में छोटे ताले में बड़ी सी ताली फँसा कर

उसे खोलने का प्रयास कर रहा था। यह ताली ठीक उस जेल के ताले के नाप की थी। जेल अधिकारियों ने इस कार्टून पर कुछ भी शक नहीं किया। दोस्तों ने वैसी ही चाबी उनके पास भेज दी। फिर भी काम नहीं बना अन्त में तीसरी बार उनके साथियों ने केक में एक रेती व एक चाबी छिपाकर उनके पास भेजी, जिससे रात के अंधेरे में ताला खोलकर वे जेल से भाग निकले और चुपके से अमेरिका जा पहुँचे। वहां उन्होंने आयर लेण्ड की स्वतंत्रता के लिये धन संग्रह किया व जनमत जाग्रत किया। यह बड़ा ही जोखिम, साहस व जीवट का काम था।

अमेरिका से जब वे १९१९ में आयर लेण्ड लौटे तब से आयर लेण्ड की स्वतंत्रता समर्थक गतिविधियाँ तीव्र होने लगीं। सिन फियेन के सदस्यों ने अपनी प्रथक संसद बनाने की घोषणा कर दी। डी वेलेरा संगठन के अध्यक्ष चुने गये। उन्होंने ब्रिटिश ताज के प्रति निष्ठा वान रहने की शपथ न लेने का संकल्प ले लिया। परिणाम स्वरूप ब्रिटिश सरकार समर्थक आयरिश दल 'ब्लैक एन्ड टेन्स' ने उनसे लड़ना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार वहाँ पर गृह युद्ध रचा कर ब्रिटेन दूर खड़ा तमाशा देखने लगा। साम्राज्य वाद की लिप्सा कितनी भयंकर होती है। उसका उदाहरण आयर लेण्ड के इतिहास में देखने को मिलता है।

जुलाई १९२९ में गृह युद्ध की समाप्ति हुई और 'आयरिश ट्रिटी' के अनुसार दक्षिण की आयरिश फी-स्टेट्स को उतरी अलस्टर से प्रथक कर दिया गया। इस अपमान जनक संधि का डी वेलेरा ने विरोध किया अतः कुछ ही समय पश्चात गृह युद्ध फिर चल पड़ा। १९२३ में फिर युद्ध थमा। फिर भी वे ब्रिटिश ताज के प्रति निष्ठावान रहने की शपथ न लेने पर डटे रहे। १९२७ में उन्होंने आपद् धर्म के रूप में उसे स्वीकार किया और दूसरे ही वर्ष अपने दल का बहुमत स्थापित करके उन्होंने शपथ लेने का नियम ही समाप्त कर दिया। यही नहीं आयरिश न्यायालय के फैसलों की प्रिवि कौसिल में अपील करने की व्यवस्था भी हटा दी। इस प्रकार वे एक एक कदम बढ़ाते हुए अपनी स्वतंत्रता को हस्तगत करने के लिये प्रयत्न रत थे। उनका स्वतंत्रता प्राप्ति की दिशा में अगला कदम आयरिश पट्टेदारों को ऋण रूप में दिये गये २५ करोड़ डालर के ब्रिटिश धन का भुगतान बन्द कर देना था। इस पर ब्रिटिश सरकार ने आयर लेण्ड से अपने देश में आने वाले कृषि उत्पादनों पर भारी कर लगा दिया। अन्तःत आयर लेण्ड स्वतंत्र होकर रहा।

आयरिश जनता को स्वतंत्रता मिल जाने पर भी ब्रिटेन ने उससे आर्थिक युद्ध जारी रखा। इस अर्थ युद्ध में भी डी वेलेरा ने आयर लेण्ड का कुशलता पूर्वक नेतृत्व किया। संघर्ष के दिनों में उनकी जो महत्व पूर्ण भूमिका रही थी सृजन के समय में भी वैसी ही महत्वपूर्ण भूमिका उन्होंने निभायी। देश को उन्होंने नयी आर्थिक व्यवस्था में ढाला ताकि वह ब्रिटेन से चलने वाले आर्थिक युद्ध में पराजित न हो जाँय। और उनकी योग्यता तथा देश प्रेम ने इस आर्थिक युद्ध को आयर लेण्ड के स्वावलम्बन अभियान मे परिणित कर दिखाया।

आयात पर कड़ा प्रतिबन्ध लगाया गया। चीनी मिलों की समाप्ति की गयी। गेहूँ की खेती को बढ़ावा दिया गया। निर्यात को बढ़ाया गया। उनके द्वारा उठाये गये ये सब कदम एक प्रकार से राष्ट्र को आर्थिक नव जीवन प्रदान करने में सफल हुए। यही नहीं दूसरे विश्व युद्ध के समय उन्होंने अपने विकास मान राष्ट्र को युद्ध की आग से बचाकर रखा। आयर लेण्ड ने तटस्थता की नीति अपनायी न जर्मनी के पक्ष में रहा और न ही मित्र राष्ट्रों की तरफ। इस कारण इंगलैण्ड की तत्कालीन सरकार उनसे बहुत नाराज हुई और उन्हें काफी बदनाम किया वे अपने देश में उतने ही लोकप्रिय हुए जितना कि उन्हें बदनाम किया गया था।

डी वेलेरा ने बड़े लम्बे समय तक आयर लेण्ड का नेतृत्व किया है। इतने लम्बे समय तक लोकप्रिय व जन मान्य रहना छोटी बात नहीं है वह भी नीति पूर्वक और पूरी राष्ट्रीय निष्ठा के साथ, भ्रष्ट तरीके अपना कर नहीं। उनकी इस लोक प्रियता के पीछे उनकी योग्यता व उनका व्यक्तित्व तो था ही उससे भी ऊपर थी उनकीउत्कट राष्ट्रीयता की भावना और अपनी राष्ट्र भाषा के प्रति प्रेम।

ईस्टर विद्रोह में उन्होंने एक सामान्य नायक की भूमिका निभायी थी तब उन्होंने राष्ट्र को नेतृत्व प्रदान करने की बात सोची तक नहीं थी किन्तु एक वर्ष के कारावास में जब उन्होंने देश की स्थिति और अपनी मानवीय सामर्थ्य पर गहराई से चिन्तन किया तो वे इस लोकोपकारी कार्य में जुट पड़ने को तैयार हो गये। बाद में वे पूरे क्रान्ति कारी बन गये। उनका जीवन क्रान्ति धर्मा होते हुए भी विद्रोही मात्र नहीं था। जब संसद में लौटना आवश्यक था तो वे अपनी जिद पर अड़े नहीं रहे। यही नहीं उन्हीं डी वेलेरा ने युवा वस्था में पादरियों की कटु आलोचना की थी किन्तु जब आयर लेण्ड का संविधान बनाने की बात आयी तो उन्होंने आयर लेण्ड को धर्म सम्मत राष्ट्र ही बनाया क्यों कि उनकी धर्म के प्रति अनास्था नहीं थी। वे तो पाखण्ड व धर्म के स्वरूप में आ गयी जड़ता के विरोधी थे। संकट की घड़ी में उन्होंने देश को अपने मस्तिष्क से नहीं देश वासियों के मस्तिष्क से सोचा था। यही कारण था उनकी इस अखण्ड लोक प्रियता का।

(शेष पृष्ठ ५ का)

घटनाएँ पढ़ कर सिहर उठता है और उनका अन्त करने के लिए बड़े से बड़ा त्याग करना चाहता है, उसके लिए एक ही मार्ग शेष रह जाता है कि लोगों की भावनाएँ बदल डाले। बदला हुआ मनुष्य असुर से देवता में और हैवान से इंसान में परिणित हो सकता है। दुष्ट की देह को मार डालने की अपेक्षा उसकी दुष्प्रवृत्ति को मार डालना अधिक महत्व पूर्ण है।

सुना है औषधियों द्वारा शरीर का काया कल्प हो सकता है पर ऐसे उदाहरण देखने में नहीं आए जिनमें जरा जीर्ण मनुष्यों ने युवा वस्था प्राप्त की हो। किन्तु ऐसे असंख्य उदाहरण आए दिन सामने आते रहते है जिनमें दुष्टा चारियों का सज्जन बनना प्रत्यक्ष दिखाई देता है। एक लोक सेवी व्यक्ति यह सोचता है तो उचित ही है कि मैं मानसिक काया कल्प करने का कार्यक्रम अपनाऊँ और अपना जीवन इसी कार्य में लगाऊँ।" दुर्बलों दुखियों और पतितों को देखकर भावना शील हृदयों में करुणा उत्पन्न होना स्वभाविक है। उनका यह सोचना उपयुक्त ही है कि अपने लिए सुख समृद्धि जमा करने की अपेक्षा में दुर्बल को सबल, दुखियों को सुखी, पतितों को समुन्नत बनाने में ही अपनी शक्तियाँ लगाकर जीवन को धन्य क्यों न बनाऊँ ? हर महापुरुष ने इसी ढंग से सोचा है और हर बुद्धिमान ने यही कार्य क्रम अपनाया है जिनने अपनी गतिविधियों को इस दिशा में मोड़ा है वे हीं तो बुद्ध, ईसा, गाँधी, शंकराचार्य, दयानन्द विवेकानन्द की तरह इतिहास के पृष्ठों पर अपनी अमर छाप छोड़ सके है।

दुःखियों को सुखी बनने का, दुर्बल को सबल बनाने का एक ही मार्ग हो सकता हैं कि उनकी अन्तः चेतना में प्रेरणा, पोरुष, ओर उत्साह इतना भर दिया जाय कि वे अपनी प्रसुप्त शक्तियों को जाग्रत करके अपने पैरों पर खड़े हो सकें। बाहरी सहायता से सामयिक आवश्यकताएँ पूरी हो सकती हैं, थोड़ी देर का सहारा लग सकता है। समस्याओं का वास्तविक हल तो मनुष्य के अपने प्रयत्न और पुरुषार्थ से, सुधार और परिवर्तन से ही संभव होता है। इसलिए इस भावना परिवर्तन के कार्य को ही सर्व श्रेष्ठ क्यों न माना जाय ? और तत्परता पूर्वक इसी एक कार्य में क्यों न लगा जाय ?

प्रत्येक दृष्टि से, प्रत्येक समस्या का हल खोजने का गम्भीर प्रयत्न करने पर सबका एक ही हल सूझ पड़ता है—भावना परिवर्तन। विश्व की समस्त उलझनें समस्त विपत्तियां मानवीय दुर्बुद्धि के कारण उत्पन्न हुई हैं। उनका वाह्य कारण कुछ भी दिखाई दे मूल में यही तथ्य छिपा हुआ होगा कि संकीर्णता और स्वार्थ परता की चिन गारियाँ दावानल बनकर हाहाकारी उत्पातों का सृजन कर रही हैं। अग्नि काण्ड की उठती हुई लपटों को बुझाना ही उचित है। जिसे विश्वहित की चिन्ता है, जो मानव जीवन को परमार्थ में लगाने का ठोस आधार उनके समाधान का ढूढ़ता है उसके लिए एक ही मार्ग है कि जन मानस में सद्प्रवृत्तियों के जागरण का कार्यक्रम बनाए और उसके लिए जितना भी संभव हो सके, उतना अपनी शक्तियों की श्रद्धान्जलि समर्पित करें। युग निर्माण योजना का लक्ष्य और कार्यक्रम यही तो है।

महाराष्ट्र के पुनर्प्रतिष्ठापक—पेशवा बाजीराव

वयस्क और योग्यपुत्रों के हाथमें शासन सूत्रथमाकर बुन्देल केसरी वीर महाराज छत्रसाल ईश्वराधना और लोकसेवा में निरत रह वानप्रस्थ का सा जीवन यापन कर रहे थे। तभी ८६ वर्ष की आयु में स्वदेश की स्वतंत्रता, के लिये महान उद्योग करने वाले बूढ़े शेर को पुनः राज्यरक्षा की ओर प्रवृत्त होना पड़ा।

मुहम्मद शाह बंगस ने उनके कनिष्ठ पुत्र जगतराज पर तीसरी बार आक्रमण कर उसकी राजधानी जैतपुर पर अधिकार कर लिया। बंगस पहले दो बार जगतराज से हार चुका था पर तीसरी बार उसकी विजय हुई। वृद्ध छत्रसाल के शरीर में अब वह बल नहीं रहा था न पर्याप्त सैन्य ही उनके पास थी अतः उन्हें पुनः एक बार उस ओर आशाभरी नजर से देखना पड़ा जिधर उन्होंने युवावस्था में देखा था। छत्रपति शिवाजी की सहायता और मार्ग दर्शन से ही वे एक सामान्य जागीरदार से बुंदेल खण्ड के गौरव बन सके थे और मुसलमान शासकों से अपनी मातृभूमि को स्वतंत्र करा सके थे।

महाराष्ट्र में छत्रपति शिवाजी के पौत्र शाहू उनके आसन पर आसीन थे। उनके सुयोग्य मन्त्री पेशवा बाजीराव ने शिवाजी की मृत्यु के बाद विघटित हो गये हिन्दू महाराष्ट्र को पुनः संगठित कर एक महान शक्ति के रूप में विकसित किया था। महाराज छत्रसाल को बाजीराव ही वे व्यक्ति दिखे जो उनके जीवन भर की साधना को डूबने बचा सकते थे। उन्होंने अपने एक विश्वस्त दूत के हाथ इस आशय का संदेश भेजा—

जो गति भई गजेन्द्र की सो गति पहुँची आय।
बाजी जात बुंदेल की राखो बाजी राय॥

बाजीराव को संदेश मिला था कि वे एक विशाल सेना लेकर उनकी सहायता के लिये आ पहुँचें। भारत के इतिहास में यह अपने ढङ्ग की महत्वपूर्ण घटना है। यदि इससे तत्कालीन हिन्दू राजा थोड़ी सीख लेते तो उनका पराभव सम्भव नहीं होता। महाराष्ट्र और बुंदेलखण्ड की सम्मिलित शक्ति के आगे बंगस को पराजित होकर भागना ही नहीं पड़ा वरन हर्जाना और भविष्य में आक्रमण नहीं करने के लिये वचन बद्ध भी होना पड़ा।

महाराज छत्रसालके आह्वान पर यों उनकी सहायता को प्रस्तुत हो जाने वाले पेशवा बाजीराव ने एक बार पुनः उस स्वप्न को साकार करने के लिये प्राणपण से चेष्टा की जिसे समर्थ राम दास और शिवाजी ने देखा था। उनका लक्ष्य पुनः भारत वर्ष को एक सूत्र में बाँधना था। उनका अपना सारा जीवन इसी प्रयास में पूरा हुआ इसमें वे अन्ततः सफल भी हुए।

इतिहास पुरुष बाजीराव का जन्म सन् १६९९ में सावित्र नदी के तट पर बसे हुए महाराष्ट्र के ग्राम श्री वर्द्धन पट्ट में हुआ था। व्यापारिक दृष्टि से महत्व पूर्ण स्थान पर बसा होने के कारण मुसलमान शासकों की लोलुप दृष्टि के घेरे में रहा करता था। इनके पिता बाला जी विश्वनाथ यहीं रह कर व्यापार कार्य किया करते थे। बालाजी को जब बाजीराव छोटे ही थे तभी निकटवर्ती 'जंजीरा' क्षेत्र के मुस्लिम शासक कासिम के अत्याचारों के कारण ग्राम छोड़ना पड़ा। बालाजी व्यापार के सिलसिले में अपने पास कुछ सैनिक भी रखते थे, मालगुजारी वसूलने का काम भी उनके हाथ में था। कासिम के आक्रमण के समय उन्होंने तट प्रदेश के अधिपति कान्होजी आँग्रे का साथ दिया था। इस कारण कासिम ने उन पर घोर अत्याचार करने आरम्भ किये। बालाजी के ज्येष्ठ- भ्राता जनार्दन को हाथ पाँव बांध, एक संदूक में बन्द कर क्रूरमना कासिम ने सागर में जीवित समाधि दे दी।

ऐसी विकट परिस्थितियों को किशोर बाजीराव ने अपनी आँखों से देखा था और देखा था विधर्मी शासकों के उस नृशंस अत्याचार को जिसे देख कर उनके किशोर मन में इस अत्याचार से अपने देशवासी भाईयों को मुक्त करने का संकल्प भरने लगा।

बालाजी का श्री वर्द्धन पट्ट में रहना सुरक्षित नहीं

था अतः वे सपरिवार वहाँ से चल दिये। कैसे वे छत्रपति शाहू के मन्त्रि मण्डल में पहुँचे कैसे उन्होंने छत्रपति वंश को पुनः शक्तिमान बनाया यह एक लम्बी कहानी है। जातीय गौरव और राष्ट्रीय स्वाभिमान से भरे पूरे पिता के दाहिने हाथ बन कर रहने वाले बाजीराव ने उनसे बहुत कुछ सीखा। बालाजी यदि कायर होते तो वे कासिम के विरुद्ध आँग्रे का समर्थन कभी न करते पर इससे उन्हें कोई हानि नहीं हुई। वे पहलेसे अधिक यशस्वी बन सके और अधिक महत्वपूर्ण कार्यकर सके। बालाजी महाराष्ट्र मंडल के पेशवा बनाए गये।

पिता के पेशवा बनने के समय वे उनके प्रमुख सहायकों में रहे। युद्धों में भी वे उनके साथ जाते और राज्य संचालनमें भीवे उनका हाथ बँटाते।उन्हींके साथ वे दिल्ली भी गये और तत्कालीन मुगल सम्राट फरूखशियर से संधि वार्ता करने में भी उनका महत्व पूर्ण स्थान रहा।

बालाजी की कुशल राजनीति और वीरता पूर्ण देश भक्ति के प्रताप से मराठों का प्रताप सारे देश में फैल गया। वे भारत के सभी राजाओं से सरदेशमुखी कर चौथ वसूल किया करते थे। एक बार पुनः धर्म समन्वित राज्य की स्थापना सम्भव हो सकी। धर्म समन्वित इस लिये कहा जाना उचित है क्यों कि उनके राज्य में वैसे अन्याय नहीं होते थे जैसे मुगलों व अन्यमुस्लिम शासकोंके काल में होते थे।

बालाजी की मृत्यु के उपरान्त उनके द्वारा निभाये जारहे इस दुर्वह दायित्व का भार बाजीराव के कन्धों पर आ गया। बाजीराव अपने पिता की तरह ही वीर और कुशल राजनीतिज्ञ थे। उनकी माता ने उन्हें बचपन में वीर शिवाजी, भगवान राम, भगवान कृष्ण आदि महापुरुषों की प्रेरक कहानियाँ सुना सुना कर उनमें देश, धर्म और संस्कृति के प्रति अनुराग और जीवन के प्रति स्वस्थ और परमार्थिकदृष्टिकोण उत्पन्न किया था इससे उनमें जो चारित्रिक और व्यक्ति गत विशेषताएं उत्पन्न हुई थी उनके सहारे वे इस दुर्वह दायित्व को पूरा करने में समर्थ थे।

यों उस युग के किसी भी राज पुरुष के जीवन में घटनाएं तो वही युद्ध संधि, वीरता, न्याय और राजप्रवन्ध विषयक घटित होती थी वे उनके जीवन में भी घटित हुई। उनके महत्व को उनके उच्च दृष्टि कोण के परिपेक्ष्य में न आंका जाय तो उनके महत्व को पूरी तरह आंकना सम्भव नहीं होता।

छत्रपति शिवाजी के प्रवल उद्योगों द्वारा स्थापित हिन्दू महाराष्ट्र समय के साथ शक्तिशाली तो होता गया और उसका चरम विकास बाजीराव और उनके पुत्र नाना साहब बालाजी के समय में देखने को मिला पर बाद में इस महाराष्ट्र के जितने भी कर्णधार हुए उनमें जातीय और राष्ट्रीय निष्ठा का ह्रास और व्यक्तिगत महत्वाकाँक्षा का परिवर्द्धन होने लगा था। ऐसी स्थिति में महाराष्ट्र के सामन्त गणों की व्यक्तिगत महत्वाकाँक्षाओं को राष्ट्रीय हित से ऊपर उठ कर उन्हें विश्रृंखलित होने से बचाने का काम जिन व्यक्तियों ने किया उन्ही में बाजीराव पेशवा का नाम मुख्य माना जाता है।

पूना नगर के पुनर्निमाण का श्रेय भी बाजीराव पेशवा को ही है। पूना नगर की रमणीकता, समृद्धि और बसावट के विषय में अंग्रेज प्रेक्षक मि० गोर्डन का वर्णन मनोमुग्ध कारी है। यह पेशवा बाजी रावकी कला प्रियता और निर्माण कौशल का उदाहरण है।

निजाम पर अनेकों वार विजय और उससे चौथ वसूलने का अधिकार पाना, मालवा जीत कर वहां सुशासन की स्थापना करना, छत्रसाल के गौरव और बुंदेलखण्ड के हिन्दू राज्य की रक्षा करना, पुर्तगालियों के राज्य विस्तार को रोकना आदि ऐसे महत्व पूर्ण कार्य हैं जो उनकी वीरता और नीति कौशल के कारण ही सम्भव हुए हैं।

उनके जीवन में कई वार ऐसे प्रसंग आये जब मृत्यु उनके सामने विकराल रूप धारण करके खड़ी हुई शत्रु पक्ष के विश्वासघात के कारण वे बन्दी बना लिये गये। ऐसे विकट क्षणों में भी उन्होंने धैर्य और साहस को विसारा नहीं। फल यह हुआ कि बाजी उनके हाथ रही।

महाराज शाहू और राजाराम आदि तो नाम मात्र के छत्रपति रहे थे। राज्य का मेरूदण्ड तो पेशवा ही

थे। पेशवा बाजी राव के पराक्रमी व्यक्तित्व ने सिंधियाँ और होल्कर को अपनी व्यक्तिगत महत्वाकाँक्षाओं का दास नहीं होने दिया। उनके जीवन के घटना क्रम इस बात की पुष्टि करते है कि उन्हें विधर्मी शासकों से जितना संघर्ष नहीं करना पड़ा उतना अपने ही स्वजातीय बन्धुओं से महाराष्ट्र के एकत्व के लिये करना पड़ा।

पेशवा बाजी राव के जीवन के साथ ऐसे भी कुछ प्रसंग जुड़े हुए हैं जिनसे उनका उदात्त दृष्टिकोण स्पष्ट होता है। महाराज छत्रसाल की सहायता करने के कारण उन्होंने पेशवा बाजी राव को महाराष्ट्र मण्डल के लिये न केवल अपने राज्य का तीसरा भाग, जिनमें झाँसी बाँदा व जालौन सम्मिलित थे, मिले वरन् साथ ही काफी धन भी मिला यही नहीं उन्होंने अपनी यवनी पत्नी की कोख से उत्पन्न एक पुत्री का विवाह भी बाजीराव के साथ किया। यद्यपि बाजीराव नहीं चाहते थे फिर भी महाराज छत्र-साल की बात रखने के लिये उन्हें यह विवाह सम्बन्ध स्वीकारना ही पड़ा।

उनकी इस यवनी पुत्री पत्नी को लेकर अपने कुटुम्बी जनों का बड़ा विरोध सहना पड़ा पर उन्होंने उसे अपने अधिकार से वंचित नहीं होने दिया। उसे वही सम्मान और स्नेह वे देते रहे जिसकी वह अधिकारिणी थी।

वे उसकी कोख से उत्पन्न पुत्र शमशेर बहादुर के उसी प्रकार उपनयन व मुण्डनादि संस्कार करवाना चाहते थे ताकि वह सांस्कृतिक मर्यादाओं में बँध कर 'उच्च उदात्त जीवन जीने की प्रेरणा ले पर तत्कालीन रूढ़िवादी समाज का एक भी ब्राह्मण इसके लिये तैयार नहीं हुआ। हिन्दू समाज की यह संकीर्णता ही उसके संकोचन का कारण बनी हुई है, आज भी।

उनका सारा जीवन युद्ध, संधि करण और राजनीति में ही व्यतीत हुई। पर उनकी राजनीति धर्म नीति के पीछे चलने वाली थी। अपने गुरु ब्रह्मेन्द्र स्वामी, जो तपस्वी संन्यासी थे से प्रायः वे राज्य विषयक परामर्श लिया करते थे। कभी कोई विशेष उलझन होती तब भी वे उन्ही से मार्ग दर्शन पाया करते थे।

२२ अप्रेल सन् १७४० में पेशवा बाजीराव का देहावसान हुआ। उनकी मृत्यु पर महाराष्ट्र पति को वैसा ही शोक हुआ जैसा महामात्य चाणक्य की मृत्यु पर सम्राट बिन्दुसार को हुआ था। इतिहास पुरुष बाजीराव का जीवन भर का उद्योग काल की परिधि में बांधा नहीं जा सका वे आज भी उतने ही अनुकरणीय हैं।

वन-विहार के लिये आये हुए राजा का जहां पड़ाव था, उसी के पास कुएँ पर एक अन्धा यात्रियों को कुएँ से निकाल कर जल पिलाया करता था। राजा को प्यास लगी उसने सिपाही को पानी लाने भेजा। सिपाही वहाँ जाकर बोला—"ओ रे अन्धे एक लोटा जल इधर दे।"

सूरदास ने कहा—"जा भाग तुझ जैसे मूर्ख नौकर को पानी नहीं देता।" सिपाही खीझ कर वापिस लौट गया। अब प्रधान सेनापति स्वयं वहां पहुँचे और कहा—"अन्धे भाई एक लोटा जल शीघ्रता से दे दो।" अन्धे ने उत्तर दिया—कपटी मीठा बोलता है लगता है पहले वाले का सरदार है। मेरे पास तेरे लिए पानी नही।" दोनों ने राजा से शिकायत की, महाराज बुड्ढा पानी नहीं देता। राजा उन दोनों को लेकर स्वयं वहाँ पहुँचा और नमस्कार कर कहा—"बाबा जी! प्यास से गला सूख रहा है, थोड़ा जल दें, तो प्यास बुझायें।" अन्धे ने कहा—"महाराज! बैठिये अभी जल पिलाता हूँ।

राजा ने पूछा—'महात्मन! आपने चक्षुहीन होकर भी यह कैसे जाना कि एक नौकर, दूसरा सरदार और मैं राजा हूँ।" बुड्ढे ने हँसकर कहा—व्यक्ति की वाणी से उसके व्यक्तित्व का पता लग जाता है।

वाणी में अहंकार नहीं आत्मीयता का पुट देने का अभ्यास करना चाहिये।

सामाजिक और आर्थिकस्थिति पर नशोंका दुष्प्रभाव

मादक पदार्थों का सेवन व्यक्ति के स्वास्थ्य को तो क्षीण करता ही है उसका सामाजिक और आर्थिक स्थिति पर भी बुरा प्रभाव होता है। मादक द्रव्यों का सेवन इस लिए किया जाता है कि लोग उससे तनाव मुक्ति और थकान में राहत मिलने की आशा करते हैं। कुछ देर के लिए ऐसा होता भी है पर वह तनाव मुक्ति या थकान कम होने की अनुभूति अवास्तविक होती है। मस्तिष्कपर इससे मूर्छा का झीना सा आवरण ही पड़ता है। इसे हल्की बेहोशी भी कहा जा सकता है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि तनाव कम हो जाता है या थकान मिट जाती हो।

थकान इसलिए अनुभव होती है कि मनुष्य श्रम करते करते अपनी शक्ति को चुका देता है। फिर उसे नयी शक्ति अर्जित करने के लिए थोड़े आराम की जरूरत होती है। लेकिन लोग आराम के लिए शरीर और मस्तिष्क को शिथिल करने के स्थान पर एकाध दो सिगरेट पी लेते हैं,बीड़ी सुलगा लेते है। इससे न तो शक्ति मिलती है और न ही थकानदूर होती है। होता यह हैकि सिगरेट और बीड़ी का धुंआ तथा उसमें रहने वाले मादक तत्व मस्तिष्क की संवेदन शीलता को प्रभावित करते हैं संवेदनशीलता प्रभावित होने से थकान को अनुभव करने वाले जो ज्ञानतन्तु होते हैं वे निष्क्रिय हो जाते हैं। इसी से नशों के कारण थकान से राहत मिलती अनुभव होती है। यद्यपि वह कम होती नहीं है।

इसीलिए कहा जाता है कि मादक द्रव्य मनुष्य की क्रियाशक्ति को चाबुक मार कर दौड़ाते हैं। घोड़े जब थक जाते हैं या धीमे चलने लगते हैं तो उन पर चाबुक बजाकर दौड़ने की मजदूरी पैदा की जाती है। दौड़ने की शक्ति न होते हुए भी वे दौड़ने लगते हैं। इसी प्रकार मनुष्य की क्रियाशक्ति जब थकने लगती है तो नशीले पदार्थों का सेवन उस पर चाबुक का काम करता है। और उनके सामने पुनः काम में जुट जाने की मजबूरी पैदा हो जाती है। यह नहीं कि नयी क्रियाशक्ति पैदा हो गयी हो इसीलिए नशों का सेवन करने वाले लोग नशे के इतने आदी होजाते हैं कि इसके बिना उनका काम नहीं चलता सीमा से अधिक खर्च होने पर शक्ति तो प्रभावित होती ही है और इस कदर प्रभावित हो जाती है कि फिर नशे के बिना काम नहीं चल सकता।

नशे के आदी लोग फिर कोई उन्नति नहीं कर सकते इसका परिणाम समाज पर भी होता है। समाज अपने आप में तो कोई जीवन्त है नहीं। उसका निर्माण उसमें रहने वाले व्यक्तियों से ही होता है। और उसके व्यक्ति निष्क्रिय तथा अपरिश्रमी होंगे तो समाज की स्थिति पर भी इसका असर सुनिश्चित रूप से पड़ेगा। हाल हीं में चीन ने की उन्नति को देखकर इस तथ्य को समझा जा सकता है। चीनी जनता जब तक अफीम की आदी थी तब तक वह सारा देश ही पददलित और दीन हीनस्थिति में पड़ा रहा। जब वहाँ के राष्ट्रीय नेताओं ने जनता की इस लत को प्रतिबन्धित किया तथा जन शक्ति कोरचनात्मक दिशा दी तो कुछ ही वर्षों में चीन महाशक्तियों की पंक्ति में गिना जाने लगा।

व्यक्ति और समाज की क्रियाशक्ति को कुन्द करने में ही नहीं उसकी आर्थिक स्थिति पर भी अपना दुष्प्रभाव डालने में नशों से अधिक जिम्मेदार तत्व कोई दूसरा नहीं है। पहली बात तो यही है कि आर्थिक सुव्यवस्था के लिए आय और व्यय का सन्तुलन बनाये रखना अत्यावश्यक है। यह जरूरी है कि जितनी आमदनी हो उससे कम खर्च किया जाय। आमदनी के अनुसार खर्च न करने की, अपव्यय की विवशता तब उत्पन्न हो जाती है जब व्यक्ति अपने साथ फालतू की जरूरतें भी लगाये हुए हो। पासमें पैसा न होने पर और जरूरतें तो कम की जा सकती है पर व्यसन एक ऐसी कृत्रिम आवश्यकता है जिसके लिए अन्य प्राथमिक आवश्यकताओं में कटौती करना भी आवश्यक हो जाता है। मादक द्रव्यों के आदी लोग कम खायेंगे, फटा पहनेंगे, बच्चों की शिक्षा दीक्षा की ओर से ध्यान हटा लेंगे पर अपने नशों को कम नहीं कर

सकेंगे। पास में न होने पर भी लोग उधार सुधार कर लेंगे पर अपनी हुड़क को जरूर बुझायेंगे।

ब्याह शादियों और अन्य कुरीति ग्रस्त घरेलू आयोजनों में तो एक मुश्त धन का अपव्यय होता है। इसलिए इन खर्चों के आकड़े लोगों की जवान पर रहते हैं और जल्दी जल्दी ध्यान भी चला जाता है। पर पच्चीस पचास पैसे और रुपये दो-पांच रुपये एक वार में खर्च होने पर नशों में होने वाला खर्च उसका उपयोग करने वालों के ध्यान में नहीं आता। देश के अर्थ विशेषज्ञों के अनुसार मादक द्रव्यों का आदी प्रत्येक व्यक्ति अपनी आमदनी का न्यूनतम १० प्रति शत भाग बीड़ी, सिगरेट तथा अन्य नशों पर खर्च करता है। अर्थात् २०० रुपये प्रतिमाह कमाने वाला व्यक्ति महीने में २० -रुपये नशों के लिए खर्च करता है। महीने में २० रुपये का अर्थ हुआ साल में २५० रुपये। यह रकम कोई कम नहीं है। वीस रुपये प्रतिमास खर्च करने पर रोज का औसत साठ-सत्तर पैसा पड़ता है। यह कोई ज्यादा महसूस नहीं होता। लगता है कुछ नहीं है। पर इन्ही पैसों को इकट्ठा कर देखा जाय तो वहुत वड़ी रकम बनती है। इतनी रकम किसी के जेव से निकल कर गिरपड़े तो कई दिनों तक खाना नहीं भाता।

नशा पीने वाले लोग इतनी दूर दृष्टि से सोचते नहीं हैं। अगर सोचने लगें तो अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने का प्रत्येक इच्छुक व्यक्ति इसे तुरन्त छोड़ने का संकल्प करले। वर्ष में २५० रुपये वचाना एक उपलब्धि हैं। सालभर में पूरे माह से भी अधिक समय की कमाई फूंक देना पैसे की निगाह से ही देखा जाय तो उतने दिन वर्वाद कर देने जैसा है। कहा नहीं जा सकता कि कितने लोग नशे के लिए खर्च करने पर अपने भोजन में पौष्टिक तत्व सम्मिलित नहीं कर पाते हैं। कितने लोग इस कारण अपने कपड़ों को पैवन्द लगा लगा कर चलाते रहते हैं। विचार किया जाय तो २० रुपये में एक सन्तुलित परिवार के कपड़ों का खर्च चलता है। एक वच्चे की पढ़ाई का प्रवन्ध किया जा सकता है। इस पैसे से किसी रोगी व्यक्ति का उपचार कराया जा सकता है।

ये सव सुविधायें पास में अगर हों भी तो भी पैसों को वर्वाद करने की कोई तुक नहीं है। २० रुपये महीने यदि रेकरिंग डिपॉजिट योजना के अन्तर्गत वैंक में जमा कराये जांय तो दस वर्ष में लगभग पांच हजार रुपये इकट्ठे होते है। यदि कोई व्यक्ति २० वर्ष की आयु से २० रुपये महीने की बीड़ी सिगरेट पीना शुरु करता है और ६० वर्ष की आयु तक पीता रहता है तो धीरे धीरे ४० वर्षों में १० हजार रुपये वहा देता है। जबकि प्रत्येक बैंक रेकरिंग डिपाजिट या फिक्स डिपाजिट पर ऊंची दर में चक्रवृद्धि व्याज देता है। इस प्रकार वह रकम प्रत्येक व्यक्ति पीछे २० हजार से भी अधिक हुई एक व्यक्ति इतनी आर्थिक उपलब्धि को केवल तम्बाकू पीते रहने के कारण ही गवा देता है। इतना पैसा किसी को भी दरिद्रता मिटाने और पैसे वाला बना देने में कम नहीं है।

हमारे देश में आम आदमी के लिए भरपेट भोजन और तन पर कपड़ा प्राप्त करना भी कठिन है। वैसी स्थिति में एक एक आदमी अपने जरा से शौक के लिए इतनी बड़ी रकम फूंक देता है यह कम शोचनीय नहीं है। यदि इस फिजूल खर्ची से कुछ मिलता हो तो भी वात समझ में आती है। मिलता कुछ नहीं है उल्टे भांति भांति के रोग और गले लग जाते हैं जिनके इलाज में काफी पैसा खर्च होता है। वैज्ञानिक विश्लेषणों से पता चला है कि तम्बाखू से दमा, श्वांस जैसी दम घोंटू बीमारियों के साथ साथ हृदय रोग, कैन्सर, टी० वी० यक्ष्मा जैसे राजरोग भीहो जाते हैं। इन रोगों का शिकार हो जाने पर व्यक्ति का जीवित रहना भी कठिन हो जाता है। लोग राम राम कर अपनी आयु के शेष दिन पूरे करते हैं और हम गरीवों को ऐसी बीमारियाँ देने के कारण गलियाँ देते हैं। पर कोई यह नहीं सोचता कि इन वीमारियों का कारण भगवान नहीं हम स्वयं हैं। जो खून पसीने की कमाई को इन विषों से खेलने में लगाते रहे।

राष्ट्रीय स्तर पर भी नशों से होने वाली सामाजिक और चारित्रिक हानियां प्रत्यक्ष है। अधिकांश अपराधोंमें अपराधियों को गिरफ्तार होने के वाद पाया गया है कि लोगों ने ये अपराध कोई तीव्र मादक द्रव्य सेवन करने

पर ही किये। वस्तुतः अपराध मानवात्मा को दहला देने वाली इतनी क्रूर घटना होती है कि पूर्ण सजगता में रहते हुए कोई व्यक्ति उन्हें कर नहीं पाता। जिनकी आत्मा मर चुकी है उनकी बात अलग है पर जो लोग पहली पहली बार अपराध करने की ओर प्रवृत्त होते हैं वे अपराध करने से पहले शराब जरूरत पीते हैं ताकि आत्मा की आवाज़ के प्रति कान बहरे हो जाँय। एक सर्वेक्षणसे यह भी पताचला है कि चोर उठाईगीरेऔर जेब कतरे प्रायः चेनस्मोकरहोतेहैचेनस्मोकरकाअर्थ है लगातार धूमपान करने वाले। धुंए के छल्ले बनाकर ही अधिकांश अपराधी प्रवृत्ति के लोग अपराधों को ओर बढ़ते हैं।

आशय यह नहीं है कि नशा करने वाला प्रत्येक व्यक्ति अनिवार्य रूप से अपराधी भी होता है। कहा इतना ही जा रहा है कि मादक द्रव्य मनुष्य की चरित्र निष्ठा की जड़ों को हिलाकर रख देता है। वे व्यक्ति भले ही अपने चरित्र को बनाये रखें जो आज नशा करते हैं पर उन्हें देख कर जो बच्चे बुरा प्रभाव ग्रहण करते हैं उनके सम्बध में क्या निश्चित है कि वे भी अपनी आस्थाओं को दृढ़ बनाये रहेंगे। बच्चों पर प्रभाव पड़ता है तो सबसे पहले अपने ही बच्चे प्रभावित होते हैं। सिगरेट बीड़ी, भाँग, गांजा और शराब पीने वालों के बच्चे भी जाने अनजाने उसी राह पर चल पड़ते हैं जिस पर कि उनके अभिभावक। इस बात की भी बहुत सम्भावना रहती है कि वे अपने अपने अभिभावकों से बहुत आगे निकल जायें। और उनमें वे चारित्रिक त्रुटियां भी आ जायें जो कि अभिभावकों में नहीं हैं। अतः नशा करने वाले लोग अपनी सन्तान को योग्य बनाने में भी असफल रहते हैं और उन बच्चों का भविष्य तो बिगड़ता ही है, समाज के साथ भी कम खिलवाड़ नहीं होता। क्योंकि बच्चे ही तो कल के कर्णधार हैं। उन्हीं से तो कल का देश बनेगा।

नशों का निषेध करने पर उसका उत्पादन कम होगा। इससे वे फैक्ट्रियां और कारखाने बन्द होंगे जो कि इन पदार्थों को तैयार करते हैं। और उनमें लगे हुए लोग बेकार होंगे। इस तरह नशे के आदी लोग अपनी कम जोरी को दूसरों का आधार देकर बनाये रखना चाहते हैं। जबकि पूंजी अगर पास में हो तो नये उद्योग धन्धे खोले जा सकते हैं। अनुमान है कि भारत में करीब १५ करोड़ लोग करीब १-५० अरब रुपयों की तमाखू पी जाते हैं यदि इस पूंजी को किन्हीं उद्योग धन्धों में लगाया जाय तो दरिद्रता निवारण में बहुत बड़ी सफलता प्राप्त की जा सकती है। दस करोड़ रुपये में एक बढ़िया कपड़े का मिल बन सकता है जिसमें तीन चार हजार लोगों को काम मिल सकता है। १५० करोड़ रुपयों में ऐसे पन्द्रह मिल डाले जा सकते हैं और ४५—५० हजार लोग उनमें रोजगार प्राप्त कर सकते हैं। यदि कर्मचारियों के साथ साथ उनके परिवार वालों और स्त्री बच्चों को भी जोड़ा जाय तो रोजी रोटी प्राप्त करने वालों की संख्या लाखों तक पहुँच सकतीहै। यह तो केवल मिलों में रोजगार प्राप्त करने वालों की संख्या का अनुमान हुआ। मिलों के लिए मशीनें, लोहा, लकड़ी आदि सामान उपलब्ध कराने वालों से लेकर उनकी विक्रय व्यवस्था करने वालों दुकानदारों और ऐजेण्टों को कितना ही काम मिल सकता है।

और जो जमीन तम्बाकू, भाँग आदि की खेती करने में लगी होती है उस पर यदि अनाज की खेती की जाय तो न केवल भारत अन्न उत्पादन के क्षेत्र में आत्म निर्भर हो सकता है वरन् बाहर के देशों में भी उसका निर्यातकर काफी मात्रा में राष्ट्रीय मुद्रा कमा सकता है। कहते हैं कि जिस जमीन पर तम्बाकू की खेती हो जाती है। उस पर दूसरी फसल नहीं उगती। इस प्रकार हम कितनी उर्वर भूमि को बेकार किये दे रहे हैं।

व्यक्तिगत रूप से हानि का संदर्भ लेकर किसी को नशा न करने की सलाह दी जा सकती है। यह सुनने वाले पर निर्भर है कि वह मानता है या नहीं मानता पर जब उसके कारण सारे समाज पर, देश की अर्थव्यवस्था पर भी दूरगामी प्रभाव पड़ते हों तो मादक द्रव्यों की लत छुड़वाने के लिए बाध्य करना भी उचित हो सकता है।



मान्य विद्वान और समाज सेवी–पं० गिरधर शर्मा चतुर्वेदी

स्वाधीन भारत के सम्मुख जब राष्ट्र भाषा का प्रश्न खड़ा हुआ तो उस समय तमाम बुद्धिजीवी दो वर्गों में बंट गये। एक वर्ग वाले हिन्दी को इस पद के लिए सर्वथा उपयुक्त मानते थे और दूसरे अन्य अहिन्दी भाषा यथा—अंग्रेजी, उर्दू संस्कृत आदि को। हिन्दी के बाद देश की सभ्यता संस्कृति और गौरव के अनुरूप कोई भाषा उपयुक्त प्रतीत होती थी तो वह संस्कृत थी। इस पक्ष के विद्वानों ने अनेक प्रकार से हिन्दी का विरोध किया। उनके तर्कों को अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता था। परन्तु उनकी धारणा को क्रियान्वित करने के लिए सबसे ज्यादा बाधक था प्रचलन की कसौटी पर संस्कृत का खरा न उतरना।

संस्कृत के पक्षधर विद्वान इस तथ्य को नजर अन्दाज ही कर गये और इसे ही राष्ट्र भाषा घोषित करने का प्रयत्न करने लगे। राजनेताओं और विद्वानों के सामने एक समस्या उठ खड़ी हुई। इसका समाधान खोजने के लिए अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन का एक अधिवेशन बुलाया गया। इस अधिवेशन में श्री नर हरि-विष्णु गाड़गील तथा श्री दामोदर पाद सातवलेकर भी सम्मिलित हुए थे। सब लोगों ने अपने अपने विचार व्यक्त किये परन्तु सर्वाधिक प्रभावोत्पादक रहा संस्कृत के ही विद्वान पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी का परामर्श। उन्होंने उपस्थित विद्वानों से कहा देश में साक्षरता के विकास के लिए सर्व प्रथम आवश्यकता यह है कि जन सुलभ भाषा का प्रचार किया जाये। इसके लिए हिन्दी ही ज्यादा उपयुक्त है। राष्ट्र भाषा हिन्दी को घोषित किया जाय तो भी संस्कृत के उत्थान में कोई बाधा नहीं पहुँचेगी वरन् इस भाषा के पठन पाठन में और अधिक सहयोग मिलेगा। और जब लोग संस्कृत समझने लगें उस समय इस भाषा को राष्ट्र भाषा बनाने का प्रश्न उठाया जाना चाहिए। पं० चतुर्वेदी ने इस प्रकार अपने व्यक्तिगत प्रभाव और मूर्धन्य विद्वत्ता के बल पर विघटन कारी प्रवृत्तियों को वशीभूत कर लिया।

चतुर्वेदी जी मूलतः संस्कृत के साहित्य कार थे परन्तु हिन्दी के क्षेत्र में भी उन्होंने इतना कुछ किया है जो सदैव अविस्मरणीय ही रहेगा। उनकी साहित्य सेवा को समाज, शासन और प्रबुद्ध वर्ग ने सम्मान की दृष्टि से देखा और सराहा है। सन् ६५ में साहित्य अकादमी द्वारा भी उन्हें विशेष पुरस्कार दिया गया। लोक सिद्धि और ज्ञान के उच्च शिखर तक पहुँचने के लिए उन्हें आजीवन कठोर संघर्ष करते रहना पड़ा।

सफलता पुरुषार्थी और परिश्रमी को ही मिलती है। साधारण सी वेषभूषा और कन्धे पर पुस्तकों का झोला उठाये गिरिधर शर्मा को जिन लोगों ने प्राथमिक शाला में जाते हुए और साथियों द्वारा खिझाते हुए देखा होगा वे शायद ही कह पाये हों कि यह बालक एक दिन आगे चल कर इस देश के पुरातन ज्ञान विज्ञान और साहित्य का पुनरुद्धार कर्ता बनेगा। उपेक्षा और तिरस्कार मिलने पर भी गिरिधर शर्मा मनोयोग पूर्वक अपने अध्ययन में जुटे रहे। परिणाम स्वरूप खिझाने और चिढ़ाने में ही सचेष्ट रहने वाले छात्र तो पिछड़ गये तथा अध्यवसायी गिरिधर कक्षा में सर्वाधिक अंकों से उत्तीर्ण हुए। उनका श्रम उन्हें अनवरत सफलता दिलाता गया।

चतुर्वेदी जी ने जब कुछ समझने बूझने की वय में प्रवेश किया तब वे देश के प्रसिद्ध विद्वान मधु सूदन ओझा के सम्पर्क में आये। श्री ओझा जी उस समय संस्कृत के पौराणिक और वैदिक साहित्य पर अनुसंधान कर रहे थे। चतुर्वेदी जी को भी उन्होंने इस दिशा में लगने के लिए प्रेरित किया। सर्व प्रथम वे संस्कृत भाषा का अध्ययन करने में जुटे। और इस विषय में सर्वोच्च परीक्षा पास की।

संस्कृत भाषा में विश्वसनीय विशेष क्षमता अर्जित कर लेने के उपरान्त वे साहित्य सेवा और अनुसंधान की ओर आकृष्ट हुए। अब तो वे ओझा जी के काम में पूरी तरह हाथ बटाने लगे। यही नहीं उनके बाद तो उस काम को और भी गति दी। आगे चल कर

संस्कृत पत्रकारिता के क्षेत्र में उन्होंने बड़ी ख्याति अर्जित की। जीवन काल में उन्होंने कई पत्र पत्रिकाओं का संपादन और प्रकाशन किया जिनमें हिन्दी और संस्कृत दोनों ही भाषाओं के पत्र सम्मिलित रहे। उनके संपादन में निकलने वाला 'संस्कृत-रत्ना कर" स्तर और प्रसार सभी दृष्टि से अभूत पूर्व पत्र सिद्ध हुआ। कई संस्कृत सेवी साहित्य कारों के सम्मुख अनेकों समस्यायें थीं उन्हें इस पत्र द्वारा राहत मिली। संस्कृत में होने वाले प्रकाशन अधिकांश तया पौराणिक उदाहरण ही होते हैं। नूतन ज्ञान को इस भाषा में लिपि बद्ध करने का प्रयास बहुत कम हुआ है। किन्हीं किन्हीं साहित्यकारों ने किया भी तो प्रोत्साहन न मिलने तथा प्रकाशित न होने के कारण अन्धकार में ही रह जाते हैं उनका कोई उपयोग नहीं होता।

श्री चतुर्वेदी जी ने सर्व प्रथम इस तथ्य की ओर ध्यान दिया तथा नव लेखन को प्रोत्साहित किया। इसके लिए उन्होंने कई नयी प्रतिभायें ढूंढ़ी और उनका निर्माण किया। उनके सहयोग से सफल साहित्यकार बनने वालों की संख्या अंगुलियों पर नहीं गिनाई जा सकती। वह भी ऐसी प्रतिभायें जिन्होंने संस्कृत भाषा को ही अपना क्षेत्र चुना और अपनी सफलता से औरों को चमत्कृत कर दिया।

संस्कृत—रत्नाकर—के माध्यम से उन्होंने सरल और इस भाषा का साधारण ज्ञान रखने वाले को भी आसानी से समझ में आने जैसा साहित्य तैयार कराया। अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन अवसर पर उन्होंने संस्कृत को राष्ट्र भाषा के पद पर प्रतिष्ठित करने से पूर्व उपयुक्त वातावरण के निर्माण की आवश्यकता बताई थी और इसके लिए प्रयत्न करने की सलाह दी उस समय कई लोगों ने उनका विरोध किया था। उन्हें इस भाषा के विकाश का बाधक बताया था। वे लोग तो चुप बैठ गये परन्तु चतुर्वेदी जी ने अपने परामर्श पर कितने मनोयोग के साथ अमल किया यह जान कर उनके व्यक्तित्व से अप्रभावित हुए विना नहीं रहा जा सकता। किसी भी समस्या या लक्ष्य का समाधान विकल्प मार्ग सुझाने वाले तो वहुत मिल जायेंगे परन्तु उसको व्यावहारिक और प्रायोगिक पक्ष उद्घाटित करने वाले महामानव विरले ही होंगे। इसी गुण का अभाव होने के कारण नेतृत्व, प्रबुद्ध और बुद्धि जीवि लोगों पर से जन साधारण का विश्वास उठ गया है।

संस्कृत—रत्नाकर को बोध गम्य बनाने के लिए चतुर्वेदी जी ने अनेकों बार रात दिन एक करके पत्र के अनुरूप कहानियाँ, कवितायें उपन्यास और लेख तैयार किये। किसी भी पत्र के चलने और लोकप्रिय होने में दिनों दिन उसका बढता और ऊंचा उठता स्तर अत्यावश्यक है। स्तर के अनुरूप रचनायें न मिलने पर चतुर्वेदी जी को यही करना पड़ता। इसके लिए स्वाभाविक ही अनेकों रचनायें अस्वीकृत कर लौटानी पड़ती। चतुर्वेदी जी जानते थे कि इससे नये लेखक हतोत्साहित होंगे, उनके मन में हीन भावना घर करने लगेगी परन्तु उन्होंने एक नया मार्ग ढूंढ़ निकाला जो रचनायें थोड़ें बहुत संशोधन के बाद छपने योग्य हो सकती थी उन्हें वे लेखक के पास आवश्यक परामर्श देकर वापस भेज देते। जो रचनायें बिलकुल ही छपने योग्य नहीं होती उनके रचियिताओं को पुनः प्रयास करने के लिए प्रोत्साहित करते। ऐसे उदार और सेवा भावी संपादक शायद ही मिलते होंगे।

चतुर्वेदी जी में उपर्युक्त विशेषता उनके निरभिमानी व्यक्तित्व का प्रतीक थी। वे संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। विद्वानों में उनका काफी सम्मान था फिर भी अभिमान उन्हें छू तक नहीं गया था। यही कारण था कि उनके मदन मोहन मालवीय, सातवलेकर, स्वामी श्रद्धानन्द, राजर्षि टण्डन, डा० सम्पूर्णानन्द, पं० इन्द्र विद्या वाचस्पति, पं० शालिग्राम शास्त्री जैसे विद्वानों से अति मधुर तथा मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध थे। वे अपने साथियों के साथ मीलों पैदल घूमते थे। टहलना उनकी दिनचर्या का अनिवार्य अंग बन गया था। इससे व्यायाम, परामर्श और प्रेम प्रतीति अभिवर्धन आदि अनेकों आवश्यकतायें पूरी हो जाती।

उनके विशिष्ट गुणों, ज्ञान तथा सेवाओं ने कई अवसरों पर सम्मानित कराया। विदेशी सरकार जो हर तरह से इस देश की सभ्यता संस्कृति और भाषा को कुचलने के नित नये षड्यन्त्र रचती थी ने चतुर्वेदी जी को

महामहोपध्याय की उपाधि से विभूषित किया। हिन्दू विश्व विद्यालय ने उन्हें वाचस्पति तथा राजर्षि टण्डन द्वारा संस्थापित हिन्दी सम्मेलन ने साहित्य वाचस्पति से अलंकृत किया।

चतुर्वेदी जी ने केवल साहित्य और संस्कृति की ही सेवा नहीं की वरन् अपनी पूरी क्षमता को भारतीय समाज के बहु मुखी विकास में नियोजित किया। शिक्षा और समाज सेवा के क्षेत्र में भी उनकी सेवायें अविस्मरणीय हैं। विद्याध्ययन के बाद चतुर्वेदी जी सहारनपुर के स्याद्वाद जैन संस्कृत महा विद्यालय में प्रधानाचार्य बन कर आये। वहाँ शिक्षा के साथ साथ साहित्य की भी आराधना चालू रही। तदुपरान्त वे ऋषि कुल ब्रह्मचर्य आश्रम हरिद्वार पहुँचे, सनातन धर्म कालेज लाहौर, जयपुर, अलवर, आदि स्थानों पर विभिन्न शिक्षण सस्थाओं में उन्होंने कार्य किया। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अनुसन्धान का विशेष दायित्व सौंपा गया तो उन्होंने अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाया और सभी लोगों की दृष्टि में ऊंचे उठ गये। काशी के ही ओरियण्टल कान्फ्रेंस में अध्यक्ष पद पर उन्हें प्राच्य विद्या की सेवा का अवसर भी मिला।

पत्र कारिता, प्राच्य विद्या और शिक्षा के साथ साथ समाज सेवा का क्षेत्र भी उनसे अछूता नहीं रहा। अपने जीवन काल में वे भारतीय धर्म शास्त्रों की जीती जागती प्रतिभा माने जाते थे। इस सम्वन्ध में किसी भी विषय पर मत भेद की स्थिति आने से कई विद्वान उनके पास आते और परामर्श करते। बात उस समय की है जब मदन मोहन मालवीय तथा अन्य विद्वान शुद्धि आन्दोलन तथा गायत्री और वेद में हरिजनों एवं स्त्रियों के अधिकारी होने या न होने के सम्बन्ध में शास्त्रावलोकन कर रहे थे। उस समय उपेक्षित व उत्पीड़ित और तिरस्कृत जाति के लोग बड़ी तेजी से ईसाई धर्म ग्रहण कर रहे थे। स्थिति बड़ी चिन्तनीय हो गयी थी। हिन्दुओं की संख्या दिनों दिन घटती जा रही थी। फिर भी रूढ़ि वादी दुराग्रही महन्त गुरु इस वर्ग के लोगों को समानता का दर्जा किसी भी स्थिति में देने के लिए तैयार नहीं हो रहे थे। किसी भी सुधारवादी आन्दोलन की सफलता के लिए किसी न किसी का विरोध तो लेना ही पड़ता है। मालवीय जी ने भी शास्त्रावलोकन के उपरान्त यह पाया कि धर्म ग्रन्थों की राय उनके ही पक्ष में है। उनके विचार को बल और सहयोग दिया चतुर्वेदी जी ने और मालवीय जी तथा चतुर्वेदी जी के नेतृत्व में चल पड़ा हरिजनोद्धार आन्दोलन तथा सुधारवाद का समर्थक बहुमुखी प्रचार अभियान। सात्विक और सरल जीवन जीने की प्रेरणा देकर लोगों के मन में हिन्दुत्व के गौरव का भान कराया जाने लगा कथित छोटी जातियों के धर्म परिवर्तन में आशा जनक सुधार हुआ उन लोगों आत्म विश्वास ने जन्म लिया।

सन् १६६६ में उनका देहान्त हुआ। अन्तिम सांस तक वे संस्कृत की सेवा करते रहे। वे बहुमुखी प्रतिभा और निष्ठा के धनी थे। डाक्टर सम्पूर्णनन्द ने उनके निधन पर श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए एक प्रामाणिक बात कही कि पं० गिरिधर शर्मा एक व्यक्ति नहीं थे वरन् देश को शिक्षा और संस्कृति की ओर अग्रसर करने वाली पीढ़ी के प्रतिनिधि थे।

—⊙—

○ शिवाजी को सूचना मिली कि कोडलगढ़ में औरङ्गजेब द्वारा नियुक्त अधिकारी एक हिन्दू कन्या के साथ वलात निकाह पढ़वाने वाला है। उन्होंने इस अनीति को रोकने के लिए कोडलगढ़ विजय के लिये तुरन्त कूच करने की आज्ञा अपने प्रिय योद्धा ताना जी के पास भेज दी।

उन्हीं दिनों ताना जी के पुत्र का विवाह होने वाला था, किन्तु उन्होंने कर्तव्य की गरिमा समझी तथा तुरन्त प्रस्थान किया। समय पर पहुँच कर कन्या का उद्धार किया। तथा गढ़ जीत लिया। किन्तु उस अभियान में स्वयं भी वलि हो गये।

८ शिवाजी को गढ़ विजय तथा तानाजी के वलिदान का समाचार मिला तो उनके मुख से निकला—गढ़ आया पर सिंह चला गया दुर्ग का नाम सिंहगढ़ ही रख दिया गया।

स्वाधीन भारत के स्वप्नद्रष्टा—बदरूद्दीन तैयबजी

बदरूद्दीन तैयबजी ने अपने सार्वजनिक जीवन की शुरूआत बम्बई में हाईकोर्ट की वकालत से की। जिस समय वे एडवोकेट बने, उस समय बम्बई में कोई भी भारतीय वकील नहीं था। उन दिनों एक साधारण सा यूरोपीय व्यक्ति भी उच्चशिक्षा प्राप्त भारतीय से अधिक प्रतिष्ठित समझा जाता था। चूंकि देश का शासन तंत्र उनके आधीन था, भारतीय पराधीन और शासित जाति का गुलाम व्यक्ति था। इसलिए उसे प्रतिष्ठित और सम्मानित दृष्टि से देखता भी कौन। इसीलिये भारतीय परिवार स्वयं को अन्य परिवारों की दृष्टि में ऊँचा सिद्ध करने के लिए बड़ी तेजी से अंग्रेजी सभ्यता अपनाने में लगे हुए थे। ऐसे लोग जनता में भी ऊँचे समझे जाते थे, जिन्हें अंग्रेजों के सम्पर्क में आने, उनकी खुशामद करने और तलुए चाटने का अवसर मिला होता।

तैयब जी के सभी साथी एडवोकेट और बैरिस्टर यूरोपीयन तथा गोरी चमड़ी के थे। जनता भी उन्हें एक कालेदेशी वकील की उपेशा ज्यादा सम्मान देती थी। सरकार की कृपादृष्टि से जितने यूरोपियन बैरिस्टर लाभान्वित होते थे उसकी तुलना में भारतीय वकील एकदम हेय और गिरा हुआ ही माना जाता तथा उतनी ही उसकी उपेक्षा भी की जाती। तैयवजी को अपनी वकालत जमते दिखाई नहीं दी। कई मित्रों ने सलाह दी कि वे किसी भी प्रकार अंग्रेजों से सम्बन्ध बनायें और उनकी मैत्री का लाभ उठायें। वे अच्छी तरह जानते थे कि इस प्रकार वे अपना आत्म सम्मान बेचकर ही अंग्रेजों के मित्र बन सकते हैं। राजनैतिक रूप से भले ही हम गुलाम हों, अवसर मिला तो दासता की बेड़ियों पर प्रहार कर उन्हें अवश्य तोड़ेगे लेकिन किसी भी कीमत पर मानसिक दासता को स्वीकार नहीं करेंगे—यह कह कर तैयबजी ने मित्रों का परामर्श ठुकरा दिया।

उनकी ही तरह कई बैरिस्टरों ने फीरोज शाह मेहता, एच० वाड़िया आदि लोगों ने वकालत शुरू की और जल्दी ही हतोत्साहित होकर बैठ गये परन्तु तैयवजी न तो परिस्थितियों के सामने प्रतिपक्ष से समझौता करना जानते थे और न ही कर्म क्षेत्र से घबरा कर हट जाना उन्हें आता था। पराजय स्वीकार कर प्रतिपक्ष से समझौता करना उन्हें आत्म सम्मान खोने जैसा लगता था। इसी कारण वे एक गौरवशाली भारत पुत्र बनकर जिये। उन दिनों जब उनकी वकालत नाममात्र को भी नहीं चल रही थी, प्रचलित परम्परा के अनुसार वे भी अपने अन्य साथियों की तरह नये अंग्रेज न्यायाधीश पार्सन से मुलाकात करने उनके निवास स्थान पर गये।

कोई काला भारतीय वकील भेंट करने के लिए आया देखकर पार्सन ने उनकी उपेक्षा करते हुए बड़े अफसराना लहजे में कहा—'मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ ? इस वक्त मैं बहुत व्यस्त हूँ।'

बदरूद्दीन जी को यह अपमान बड़ा खटका। वे अपनी स्थिति को समझते हुए भी बडी शान के साथ उठते हुए बोले—'अच्छी बात है। मुझे भी काम है।' और चल दिये।

पार्सन को अपनी गल्ती अनुभव हुई और तैयबजी को नाराज होते जा कर देखा तो शिष्टता के नाते वे उनके पीछे बग्घी तक आये और गल्ती सुधारने के लिए बग्घी और घोड़ों की प्रशंसा करने लगे। तैयबजी जानते थे कि पार्सन यह सब केवल औपचारिकता जताने और अपनी गल्ती को भूल सिद्ध करने के लिए ही यह सब कर रहे हैं। इसलिए वे रुके नहीं चलते ही बने।

बाद में मैजिस्ट्रेट ने अपने साथियों और बैरिस्टरों से इस घटना की चर्चा की। तैयबजी के विचार सही निकले पार्सन इसे व्यस्तता के कारण अपनी भूल ही साबित कर रहा था और तैयब जी को घमण्डी बना रहा था। बैरिस्टरों ने इस घटना के सम्बन्ध में उनकी ही निंदा की। परन्तु तैयब जी निश्चिन्त ही रहे।

उन्हें अधिक दिनों तक बेकार नहीं रहना पड़ा। भाई कमरूद्दीन की सहायता से कुछकाम मिलने लगा। बस फिर क्या था ? तैयब जी ने अपनी लगन, विषय की पकड़

और सूझ-बूझ के बल पर जल्दी ही पैर जमा लिए। उनकी वकालत चल निकली। यहाँ तक की बहुत से अंग्रेज वैरिस्टर बेकार हो गये। अधिकारियों को इससे बड़ी चिन्ता हुई। चिन्ता का दूसरा कारण कि उन्हें भारतीय वकील साम्राज्यवाद के सबसे बड़े शत्रु सिद्ध होंगे, यह आशंका होने लगी थी। बंगाल के तत्कालीन लेफ्टिनेंट गवर्नर सर जार्ज कैम्पवेल का विचार था कि वे राजनीतिक आन्दोलन के जन्मदाता न भी बने तो भी कम से कम भारतीय जनता के हृदय में स्वाधीनता की ज्योति तो जगा ही सकते हैं। इसी कारण कैम्पवेल ने वकीलों और वकालत की प्रथा समाप्त करने का प्रस्ताव रखा जो बाद में पास नहीं हुआ। परन्तु कैम्पवेल और अंग्रेज अधिकारियों की यह आशङ्का सच निकली। आगे चलकर बम्बई में फीरोजशाह मेहता, तैलंग, कलकत्ता में उमेश चन्द्र बनर्जी, मनमोहन घोष और लाल धन घोष ने राष्ट्रीयता का जितना प्रचार किया उससे लगता है स्वाधीनता के आन्दोलन का सूत्रपात् वहीं से हुआ। यों तो १८५७ में भी स्वाधीनता संग्राम लड़ा गया था परन्तु उस आन्दोलन की आग चिनगारी बन कर बुझती जा रही थी। कुछ ही लोगों के मस्तिष्क में यह बात बैठी थी कि इस चिन्गारी को फिर से शोला बनाया जा सकता है। ऐसे ही व्यक्तियों में तैयबजी भी एक थे। उनके स्वाभिमान का आधार भी भारत, भारतीयता और भारतीय संस्कृति ही थे।

८ अक्टूबर १८४४ को बम्बई के सम्पन्न मुस्लिम परिवार में उनका जन्म हुआ। एलफिन्स्टन स्कूल और कालेज में उनकी प्रारम्भिक शिक्षा पूरी हुई। अध्ययन शील और परिश्रमी होने के कारण वे लगातार सफल होते गये। स्कूल में उनका ध्यान पाठ्य पुस्तकों पर और ब्लैकबोर्ड की ओर ही रहता था, घर पर भी अन्य कामों और खिलोंनों की अपेक्षा उन्हें अपनी पढ़ाई और पुस्तकें अधिक प्यारी लगती थी। माता पिता का कुछ प्यार स्वभाववश और कुछ इन विशेषताओं पर रीझने से अधिक ही मिला।

सन् १८६० में वे वैरिस्टरी पढ़ने के लिए इग्लैण्ड भेज-दिये गये। वहाँ वे बड़े प्रतिभाशाली और महत्वाकांक्षी छात्र सिद्ध हुये। कुछ ही दिनों में अंग्रेजी, लैटिन, और फ्रेंच भाषा पर उनका अच्छा अधिकार हो गया। एक व्याख्यान प्रतियोगिता में उन्हें सर्वप्रथम पुरस्कार भी मिला। वहाँ वे चार वर्ष तक ही रहे होंगे की उनकी आँखों में कोई रोग हो गया। माता-पिता ने उन्हें बम्बई बुला लिया और यहाँ उपचार करवाया।

स्वस्थ्य होने पर वे पुनः इग्लैण्ड चले गये। यों तो तैयबजी ज्यादा कहीं आने जाने की अपेक्षा अपने अध्ययन कक्ष में ही रहते। फिर भी कभी जब वे थक जाते तो अपने भारतीय मित्रों और इग्लैण्ड में रह रहे हिन्दुस्तानी परिवारों में मिलने के लिए चले जाया करते थे। दादा भाई नौरोजी भी उस समय इग्लैण्ड में ही थे, तैयबजी उनके अच्छे मित्र बन गये। नौरोजी के अतिरिक्त फिरोजशाह मेहता, उमेशचन्द्र बनर्जी आदि लोगों के सम्पर्क में आने से उनके हृदय में देशभक्ति की भावना पैदा हुई। और वे भारत की, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं में गहरी दिलचस्पी लेने लगे। सन् १८६७ में वैरिस्टरी पास की और भारत लौट आये। यहां उन्होंने भारतीय समाज का भी अध्ययन किया और वकालत के लिए संघर्ष भी।

सन् १८०३ में बम्बई कारपोरेशन का पहला चुनाव हो रहा था। तैयबजी भी इस चुनाव में खड़े हुए और जनता ने उन्हें अपना प्रतिनिधि चुन लिया। राजनैतिक क्षेत्र में यह उनका पहला कदम था। वे दस वर्ष तक कॉरपोरेशन के सदस्य रहे। १८८२ में वे बम्बई व्यवस्थापिका के नामजद सदस्य मनोनीत किये गये। वहाँ उन्होंने भारतीय हितों और नागरिक अधिकारियों की जोरदार वकालत की। अब वे बम्बई से बाहर के लोगों में भी लोकप्रिय होने लगे थे। ज्यों-ज्यों उकका कार्यक्षेत्र बढ़ता गया, मित्रों की संख्या भी बढ़ने लगी। स्वभाव से वे इतने मधुर थे कि एक बार सम्पर्क में आने वाला व्यक्ति भी उनका बन जाता था। कई लोगों ने उनका अनुसरण किया, उनकी विशेषताओं को आत्मसात् कर समाज में अच्छा स्थान बनाया।

उनके व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता थी—चारित्रिक दृढ़ता। अपने मित्रों के गुणों की प्रशंसा उन्हें तो

स्वयं अपना लेते थे परन्तु औरों के दोष दुर्गुणों से वे अछूते ही रहते। मित्रों की अधिक संख्या में उनकी भिन्न-भिन्न आदतें, और शौक होना स्वाभाविक था परन्तु तैयब जी ने ऐसी कोई आदत नहीं डाली जो उनके चरित्र की दुर्वलता वन सकती थी। वे न शराव पीते थे और न सिग्रेट। विलासिता भी उन्हें छू तक नही गयी थी मित्रों ने कई वार आग्रह किया कि वे घुड़ दौड़ देखने चलें परन्तु उन्होंने हर अवसर पर वड़ी विनम्रता से क्षमा मांग ली। खाली समय में वे अपनी पत्नी को देश विदेश की खवरें सुनाया करते और ज्ञान विजान की वातें करते रहते थे।

नियमानुवर्तिता और समय की पावन्दी ये दो विशिष्टताएं उनके स्वभाव का प्रमुख अंग थीं। उनकी मान्यता थी कि कोई भी काम नियमपूर्वक किया जाय तो वह ठीक समय पर उचित परिणाम दे देगा। इसके विपरीत अव्यवस्थित ढ़ग से किया गया काम न तो समय पर पूरा होगा और नही उसका उचित परिणाम निकलेगा। अपने चरित्र और आदतों से उन्होंने एक ऐसे समय में लोक नायक का इतना अच्छा आदर्श रखा जव देश को इस प्रकार के व्यक्तियों की आवश्यकता थी। कई नेताओं ने तैयव जी के जीवन को अपना आदर्श चुना और उसका ही अनुसरण किया। आज जव कि देश में नेताओं की वाढ़ आयी हुई है परन्तु उनमें नेतृत्व की विशेषताओं को ढूंढा जाय तो उनका नाम मात्र भी नहीं मिलेगा।

तैयव जी ने शायद उस समय से ही अपने आपको तैयार करना आरम्भ कर दिया था, जव इग्लैण्ड के विद्यार्थी जीवन में उन्होंने देश भक्ति का पाठ पड़ा था। उनकी यह तैयारी और व्यक्तित्व का गठन आगे चल कर वड़ा काम आया। कई लोग तो उनकी सादगी, सरलता और निर्व्यसनी जीवन से ही प्रभावित होकर राजनीति के क्षेत्र में आये। सम्पन्न और समृद्ध होते हुए भी सरल सादा जीवन जीने का आखिर क्या आनंद है, अपनी सम्पदा को देशहित में लगाने का कोई न कोई उद्देश्य तो होगा? प्रभावित व्यक्तियों को इस प्रकार की कई जिज्ञासायें उठा करतीं और वे जितना ही उनके वारे में सोचते आत्मोत्सर्ग की भावना उतने ही तीव्र वेग से जागने लगती।

वम्वई व्यवस्थापिक परिषद् के सदस्य होने से उनकी ख्याति देश भर में फैल गयी। परन्तु वे अस्वस्थ हो गये और इस परिषद् से त्यागपत्र दे देना पड़ा। पुनः स्वस्थ हो जाने पर तैयव जी की अध्यक्षता में वाम्वे प्रेसिडेन्सी ऐसोसियेशन गठित की गयी। इसी के तत्वाववधान में इण्डियन नेशनल कांग्रेस का पहला अधिवेशन हुआ। तैयव जी अधिवेशन के समय भारत में नहीं थे। दूसरी वार भी ऐसा ही संयोग हुआ। आखिर वे तीसरे वर्ष १८८७ के मद्रास अधिवेशन में सम्मिलित हुए और वहां उन्हें कांग्रेस-अध्यक्ष चुना गया। अधिवेशन में देशहित के लिए तैयव जी ने मर्मस्पर्शी भाषण दिया। इस भाषण में जातीय एकता से लेकर आत्म सम्मान पूर्वक जीने की वात कही गयी थी।

कांग्रेस का जन्म होते ही, सरकार शंकित हो उठी थी। राष्ट्रीय चेतना जागृत होने से पहले ही उसकी सम्भावना को भी कुचलने के लिए अंग्रेज सरकार ने फूट के वीज वोना आरम्भ कर दिया था हिन्दू मुस्लिमों के धार्मिक मतभेद की भावना पैदा कर वे सन् ५७ के इतिहास की सम्भावित पुनरावृत्ति को मिटाना चाहते थे। सरकार का यह षणयंत्र काफी सफल भी हुआ। सैयद अहमदखां जैसे राष्ट्रवादी नेता साम्प्रदायिक खेमे में चले गये। तैयव जी का ध्यान भी राष्ट्रीय हितों से हटाकर मुस्लिमों के हित में लगाने के लिए अंग्रेज अधिकारियों ने वड़े प्रयत्न किये। उनका विचार था कि अकेले इस व्यक्ति को वहला लिया जाये तो भारी खतरा टल जायेगा। लार्ड डफरिन स्वयं सन् ८७ में वम्वई आकर तयव जी से मिले और कांग्रेस से नाता तोड़ने का परामर्श दिया। इसके लिए उन्होंने जातीय अभिमान की भावना से लेकर प्रलोभन तक दिया परन्तु तैयव ने वड़ी दृढ़ता का परिचय दिया और डफरिन से स्पष्ट कह दिया कि-मैं आप लोगों का सम्मान करता हूँ। इसका मतलव यह नहीं कि आपकी हर उचित अनुचित वात को स्वीकार कर लूं।

सरकार के वहकावे में आकर सैयद अहमद खां यह प्रचार करने लगे थे कि इडियन नेशनल कांग्रेस हिन्दुओं

की मस्या है और मुसलमान केवल ईसाईयों से ही दोस्ती कर सकते हैं। तैयव जी ने इसका प्रतिवाद किया। सैयद अहमद की प्रेरणा से उन्ही दि ों कलकत्ता की एक मुस्लिम संस्था का राजनैतिक सम्मेलन आयोजित किया गया जिसमें जाति से मुस्लिम होने के नाते तैयव जी को भी उसमें आमंत्रित किया गया। वे संस्था और सैयद जी की गति विधियों से अच्छी तरह परिचित थे इसलिए सम्मेलन में भाग लेने से इन्कार कर दिया। संस्था ने अपने प्रतिनिधि भेजे तो तैयव जी ने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा-मैं इस सम्मेलन के इरादे को अच्छी तरह जानता हूँ। विना जाने बूझे पूरे भारत के सभी नागरिकों को महत्व देने वाली संस्था का निराधार विरोध मैं सहन नहीं कर सकता।'

'परन्तु यह सम्मेलन तो मुस्लिम राजनीतिक हितों पर विचार विमर्श करने के लिए आयोजित किया जा रहा है।'

तैयव जी वड़े तीखे स्वर में बोले—सारे देश की जनता जब उत्पीड़न की आग में जल रही हो तो किसी एक वर्ग के हितों की चर्चा करना संकीर्ण और ओछी बात है।'

तैयव जी इस सम्मेलन में किसी भी प्रकार भाग लेने नहीं गये और मुस्लिम धर्म के अनुयायियों में अंजुमन ए-इस्लाम के प्रतिनिधि की हैसियत से उन्होंने एक वक्तव्य प्रसारित किया—'भारत की विभिन्न जातियों के सम्वन्ध ऐसे नहीं है कि किसी भी जाति के नेता अन्य जातियों के नेताओं से अलग रह कर काम करें। मेरा विचार है कि हमें अपना अधिकार प्राप्त करने के लिए मिल जुल कर प्रयत्न करना चाहिए। इससे जल्दी सफलता मिलेगी।

सन् १८६२ में उनका स्वास्थ्य फिर विगड़ा। और वे जलवायु परिवर्तन के लिए नीलगिरि और दार्जिलिंग जाने लगे। स्वास्थ्य सुधार में लग-भग डेढ़ वर्ष लगा। सरकार ने उनके सामने न्यायाधीश वनने का प्रस्ताव रखा शासकीय नीतियों से अप्रभावित रह कर अपने काम को निष्पक्ष रह कर करने में वे वड़े माहिर थे। सरकार ने समझा था तैयव जी इसे उपकार समझेंगे और उनसे दवने लगेंगे परन्तु ऐसा कुछ नहीं हुआ। १८६५ से ही, जब उन्होंने न्यायाधीश का पद सम्हाला उनकी ख्याति निष्पक्ष न्यायाधीश के रूप में फैलने लगी।

जून १८६७ में रैण्ड नामक एक अंग्रेज की हत्या कर दी गयी। हत्या का आरोप लगाया गया वाल गंगाधर तिलक पर। क्योंकि वे शिवाजी मेला लगाने लगे थे तथा एक बार उन्होंने शिवाजी द्वारा अफजल खां की हत्या को भी उचित और न्यायपूर्ण कहा था। इस ऐतिहासिक घटना पर 'केसरी' पत्रिका में उन्होंने लेख भी छपवाया था। इन आधारों पर हत्या का आरोप लगाकर उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। तिलक के प्रशसंकों ने उनकी जमानत की अर्जी दी जो खारिज कर दी गयी। ऐसा दो वार हुआ। तीसरी वार सरकार ने तैयव जी की अध्यक्षता में सुनवायी आरम्भ की। एक ओर तो वे निष्पक्ष न्यायाधीश के रूप में विख्यात थे दूसरे उन पर दवाव डाला जा रहा था कि वे जमानत मजूंर न करें और तिलक पर मुकदमा चलने दें। वदरूदीन जी ने इस दवाव की परवाह नहीं कि और दोनों पक्षों के तर्क वितर्क सुने। उन्होंने फैसला दिया—'मेरा विचार हैं कि तिलक की जमानत मजूंर करने में कोई कानूनी वाधा नही है क्योंकि सम्भव है वे महीने भर वाद ही निर्दोष सिद्ध हो जायें।

इस निर्णय से प्रशासनिक क्षेत्र में वड़ी खलवली मची परन्तु तैयव जी की धाक और लोकप्रियता इतनी फैल चुकी थी कि सरकार उनके विपक्ष में कोई भी राय तक नहीं दे सकती थी। अपने देश में अपनी ही प्रतिभा और योग्यता के वल पर विदेशी सरकार का एक अंग रहते हुए भी उस की नीतियों और इरादों पर प्रहार करने का ऐसा उदाहरण विश्वभर में कहीं नहीं मिलता। और मजा यह है कि सरकार सव कुछ करने में समर्थ होते हुए भी कुछ न कर सके।

तैयव जी ११ वर्षों तक जज वने रहे। परन्तु उन्होंने समाज सेवा से कभी मुँह नही मोड़ा और कांग्रेस के काम में भी पूर्व वत् भाग लेते रहे। अगस्त १६०६ को लन्दन में हृदय गति रुक जाने से उनका अचानक देहान्त हो गया उन्होंने देश भक्ति और आत्माभिमान की जो गंगा प्रवाहित की वही आगे चल कर स्वतन्त्रता की जननी सिद्ध हुई।

प्रो० एच० विल्सन

मैक्स मूलर जिनके उत्तराधिकारी बने

सन् १८०८ में एक अंग्रेज युवक इंग्लैण्ड से भारतीय चिकित्सा सेवा विभाग का अधिकारी बन कर आया। इस अंग्रेज युवक का रसायन शास्त्र तथा रासायनिक परख विज्ञान पर भी अच्छा अधिकार और अनुभव था। इस कारण उसे ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने कलकत्ता की टकसाल में एस्से अधिकारी बना दिया। इस पद पर काम कम था और जिम्मेदारियाँ अधिक। इसलिए अधिकाँश समय फालतू ही रहता।

अपने विभाग के अन्य अधिकारियों ने युवक को खाली समय मौज मजे उड़ाने में लगाने की प्रेरणा दी। परन्तु युवक को यह अच्छा नहीं लगा। वह कोई ऐसा काम तलाशने लगा। जिसमें खाली समय गुजारा नहीं उपयोग में लाया जा सके। समय ही जीवन है। यह बात अच्छी तरह समझ कर उसके उपयोग के अवसर ढूंढे जाय तो व्यक्ति शीघ्र ही समय काटने वालों की अपेक्षा कई गुना अधिक प्रगति कर दिखा देता है।

परख—अधिकारी युवक जो बाद में प्रो० एच० एच० विल्सन के नाम से पाश्चात्य देशों तथा भारत के सांस्कृतिक जगत में विख्यात हुए ने समय की कीमत को ही ठीक प्रकार से समझा। तथा उसका उपयोग इतनी कुशलता के साथ किया कि भारत से विदा होते समय वे वेदों के आद्य आंग्ल अनुवादक के रूप में माने जाने लगे।

एच० विल्सन ने परख—अधिकारी के पद पर रहते हुए शेष समय भारतीय जन जीवन का अध्ययन करने में लगाया। इस देश की सामान्य जनता से लेकर विशिष्ट और विद्वान व्यक्तियों तक में उन्हें कई विशेषतायें दिखाई दी। किसी भी देश और समाज की सभ्यता संस्कृति की परख वहां के सामान्य वर्ग से ही की जा सकती है। विल्सन ने देखा कि यहाँ का साधारण आदमी अद्भुत परिश्रमी, संतोषी, अध्यवसायी, सहृदय तथा शिष्ट विनम्र है। ये जातीय विशेषतायें इस देश की संस्कृति और धर्म की ही देन हो सकती हैं, बाहर से अभ्यायित नहीं। यद्यपि उस समय भी दम्भी, मिथ्याभिमानी और शान शौकत पसन्द करने वाले लोगों की कमी नहीं थी। परन्तु विल्सन ने इसका कारण दूसरा ही माना है। अपनी एक पुस्तक में वे इन कारणों का उल्लेख करते हुए कहते हैं—'जहाँ कहीं भी मुझे सादगी, सज्जनता और नम्रता का अभाव दीखा वहा के वातावरण का अध्ययन करने पर पता चला कि ये गुण यूरोपियनों के संसर्ग से ही पैदा हुए है। अन्यथा भारत की आत्मा तो महान् है।

भारतीय समाज की इन विशेषताओं का परिचय उन्हें अपनी टकसाल में ही देखने को मिला। वहाँ के कर्मचारियों को वे भारतीय संस्कृति का प्रेरणा स्रोत मानते हुए लिखते है—मैंने जब भी टकसाल के कर्मचारियों, मिस्त्रियों तथा श्रमिकों को देखा तो वे प्रायः हंसमुख और कार्यरत ही दीखे। उनके अथक परिश्रम, अनवरत अध्यवसाय और प्रसन्न चेहरों को मैं कभी नहीं भुला सकूँगा। अनुशासित और व्यवस्था प्रेमी है। ईमानदार हैं। दूसरे देशों की टकसाल में जिस प्रकार का सुरक्षा, प्रबंध और अपराध निरोधक व्यवस्था की आवश्यकता पड़ती है, वह यहाँ अनावश्यक समझी गयी है।

यह चित्रण उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दशकों वाले जन समाज का है। जो लोग भारत की चरित्रहीनता, आलस्य और अप्रामाणिकता को यहां की संस्कृति की देन मानते हैं, वे भूल करते हैं। वस्तुतः इन दुर्गुणों का आविर्भाव तो शारीरिक, मानसिक और राजनीतिक सर्वांगीण दासता के युग में ही हुआ। उस समय जबका कि यह चित्र है, ईस्टइण्डिया कम्पनी का शासन अपने प्रारम्भिक दौर में था।

भारतीय जनता के प्रति इतना प्रशंसा भाव तथा परिष्कृत दृष्टिकोण रखने वाले प्रो० एच० एच० विल्सन का जन्म २६ सितम्बर १७८६ ई० को लन्दन के एक

मध्यमवर्गीय परिवार में हुआ था। सोहो स्कवायर तथा सेंट टामस अस्पताल में उन्होंने शिक्षा तथा चिकित्सा शास्त्र की डिग्री प्राप्त की। विद्यार्थी जीवन में भी वे साथियों की दृष्टि में एक रूखे स्वभाव के किताबी कीड़े माने जाते थे। परन्तु विल्सन मनोरंजन के लिए जीवन शक्ति का अपव्यय करने वाली पार्टियों और मौज मजों से अपना समय बचाकर प्रकृति की गोद में जाते। समय सम्पदा का नाश करने वाला मनोरंजन जहाँ व्यक्ति की मानसिक शक्तियों को क्षीण और पंगु बनाता है, वही स्वस्थ मनो विनोद और प्रकृति प्रेम मस्तिष्क को नयी ताजगी और बुद्धि को शक्ति प्रदान करता है।

भारत आने तक उन्हें यह पता नहीं था कि संस्कृत नाम की कोई भाषा है भी। यहाँ के जन-जीवन को इतना निकट से देखने के बाद उन्हें भारतीय संस्कृति के प्रति जिज्ञासा हुई और वे यहाँ की संस्कृति के प्रति आकृष्ट हुए। कई भारतीय विद्वानों से उन्होंने सम्पर्क साधा।

आरम्भ में उन्हें बड़ी कठिनाईयों का सामना करना पड़ा। कई वैदिक विद्वान अपने धर्मग्रन्थों को विदेशी तथा विधर्मियों के हाथ से स्पर्श भी होने देना नहीं चाहते थे। इस सम्बन्ध में उन लोगों की धारणा थी कि ऐसा होने से धर्मग्रन्थ अपवित्र हो जाते हैं। इस परम्परा का निर्माण धर्मान्ध मुगल बादशाहों से धर्मग्रन्थों की रक्षा के लिए किया गया है। हम तो इस ज्ञान को संसार के कोने कोने में पहुँचाना चाहते है ताकि दुनिया के लोग भारतीय संस्कृति और धर्म की महानता को भली भाँति समझ लें। प्रो० विल्सन ने समझाया। विचार और विवेक का वरण करने के लिए सतत तैयार रहने वाले पण्डितों ने अब विल्सन को सभी प्रकार की सहायता देने का निश्चय किया।

समाज का बहुत बड़ा वर्ग ऐसा है जो किसी समय में बनायी गयी उपयोगी परम्पराओं को, जो अब व्यर्थ सिद्ध हो चुकी हैं, भी पालन करता चलता है। इनमें से कई तो समझदार और विचारशील भी होते हैं परन्तु प्रायः उनका ध्यान परम्परा की उपयोगिता के विषय पर नहीं जाता। कारण वे विचारशील होने से पहले कहीं परम्परा वादी होते हैं। उन व्यक्तियों को समझाने का प्रयास किया जाय तो वे आसानी से व्यर्थ परिपाटियों और हानिकारक प्रथाओं का त्याग कर सकते हैं। समाज के बहुत बड़े वर्ग को इस प्रकार रूढ़िमुक्त किया जा सकता है।

विद्वानों की सहायता से संस्कृत साहित्य का अध्ययन कर विल्सन भारतीय तत्वज्ञान की दिशा में क्रमशः प्रगति करते गये। हिन्दू धर्म और संस्कृति के अध्ययेन हेतु बनायी गयी एशियाटिक सोसायटी के वे सदस्य भी बने। कई वर्षो तक वे इस संस्था के सेक्रेट्री पद पर रहे।

सर्वप्रथम उन्होंने मेघदूत और विष्णुपुराण का अंग्रेजी में अनुवाद किया। संसार संस्कृत साहित्य के रत्नकोषों को देखकर आश्चर्य चकित रह गया। संस्कृत भाषा के अध्ययन को सुलभ बनाने के लिए उन्होंने एक शब्दकोष तैयार किया और संसार की सभी भाषाओं से अधिक इस भाषा को समृद्ध साबित किया।

सन् १८३३ में आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में संस्कृत के प्रोफेसर बन कर यहाँ से वापस चले गये। जाते समय वे अपने साथ वेदों की संहितायें और आर्य साहित्य भी लेते गये। उन्होंने सर्व प्रथम ऋगवेद का अंग्रेजी अनुवाद किया। जो आज भी यूरोप के वेद विद्यार्थियों को पाठ्य ग्रन्थ के रूप में पढ़ाया जाता है। सायण भाष्य पर आधारित उनका अनुदित ऋग्वेद प्रकाशित होते ही यूरोपीय देशों में तहलका मच गया। संसार के लोग आश्चर्य चकित रह गये कि इतना सम्पन्न और समर्थ संस्कृति वाला देश एक व्यापारी कम्पनी का गुलाम कैसे बना हुआ है। प्रो० विल्सन ने भारत का ऐतिहासिक अध्ययन कर उन कारणों को भी उद्घाटित किया।

१८६० में जब विल्सन की मृत्यु के कारण आक्सफोर्ड के संस्कृत प्रोफेसर का पदरिक्त हुआ तो उनका प्रधान शिष्य और मेधावी अनुयायी होने के कारण ही मैक्समूलर को इस पद पर नियुक्त किया गया। आग्ल भाषा में वैदिक साहित्य के अनुवाद का श्रेय भी मैक्समूलर को प्रो० विल्सन के कारण ही प्राप्त है। अवकाश के समय का उपयोग कर संसार को एक महान संस्कृति के तत्वज्ञान से अवगत करा देने वाले प्रो० विल्सन का भारतीय समाज बारम्बार आभारी है।

—※—

साधनों के साथ चेतना का विकास भी आवश्यक

प्रायः समझा जाता है कि जैसे जैसे साधन संपदा वढ़ती जायेगी वैसे वैसे मनुष्य अपने आपको नैतिक दृष्टि से भी उच्च और सद्गुण संपन्न वनाता चला जायगा। इस मान्यता का कारण यह है कि लोग समझते हैं कि मनुष्य परिस्थितियाँ के हाथ में खेलने वाला वेवस पुतला है। परिस्थितियां ही उसे अच्छा या बुरा वनाती हैं। यह सोचना गलत है। न तो मनुष्य परिस्थितियां अच्छी होने परस्वतः अच्छा वनता है। और न ही परिस्थितियां प्रतिकूल होने पर बुरा। गरीब से गरीब व्यक्ति भी यदि उसमें नैतिक गुणों के प्रति आस्था है तो परिस्थितियां लाख प्रतिकूल हों पतन की ओर नहीं वढ़ता और व्यक्ति कितना ही साधन सम्पन्न हो नैतिक स्वास्थ्य की दृष्टि से वह दुर्वल है तो कितनी ही अनुकूल परिस्थितियाँ हों वह पतन के गर्त में जानें से नहीं रुकता।

इस तरह की असंख्यों घटनायें है जिन्हें देखकर यह कहा जा सकता है। कि व्यक्ति के सामने ऐसी परिस्थितियाँ थी कि वह अपराध कर भी डालता तो उसके परिवेश को देखते हुए उसे अस्वाभाविक नहीं था। लेकिन फिर भी वह विचलित नहीं हुआ। क्योंकि नैतिक दृष्टि से वह समर्थ और वलवान आत्मा का स्वामी था। जिसने प्रतिकूल परिस्थितियों में भी उसे वुरे मार्ग पर चल पड़ने से वचा लिया। इसके विपरीत साधन सम्पन्न और वड़े लोग भी वड़ी वड़ी चोरियां और वेईमानियाँ कर लेते है। जवकि उनके पास इतनी साधन सम्पदा थी कि वे चाहते तो विना वेईमानी किये भी उपलब्ध साधनों में मौज मजे की जिन्दगी गुजार कर सकते थे, लेकिन ऐसा नहीं रह सका।

यह तथ्य उस कथ्य को असत्य ही सिद्ध करता है कि मनुष्य परिस्थितियों का दास है। और परिस्थितियों के वशीभूत होकर ही व्यक्ति पतन के मार्ग पर चलने के लिए विवश होता है। सर्वविदित और प्रख्यात मिसाल है कि राजा हरिश्चन्द्र राजपाठ खो जाने के वाद भी वचन के प्रति निष्ठावान और कर्तव्य परायण रहे। अपने परिवार तक के लिए उन्हें कर्तव्य मर्यादा को एक पग लाँघना स्वीकार नहीं हुआ। राणा प्रताप राज सिंहासन खोकर जंगलों में मारे मारे फिरे वे चाहते तो केवल मौखिक रूप से ही अकवर की अधीनता स्वीकार कर अपने लिए तमाम सुख सुविधाएं जुटा सकते थे। पर कथनी और करनी को एक समझने वाले राणा प्रताप को यह कहना मात्र भी स्वाभिमान के खिलाफ लगा और उन्होंने अपने आदर्श के लिए आजीवन घास की रोटिया खायीं।

नैतिक आदर्शों के प्रति दृढ़ आस्था रखने और प्रतिकूल से प्रतिकूलतम परिस्थितियों में भी आदर्शों की राह न छोड़ने के असंख्यों उदाहरण हैं। वहीं साधन संपन्न होने के वावजूद भी अपनी महत्वाकाँक्षाओं को अवाँछनीय ढंग से पूरा करने के लिए प्रयत्न शील रहने वाले लोगों के भी कई एक उदाहरण है। राज्य लिप्सा, धन लिप्सा सम्मान लिप्सा, कीर्ति आकांक्षा आदि कितनी ही इच्छायें है जिनसे प्रेरित और आकर्षित होकर व्यक्ति जिस तिस ढंग से भी सम्भव हो उन्हें पाने के लिए लालायित रहता है।

संपन्नता आनी चाहिए, साधन भी वढ़ने चाहिए भौतिक प्रगति का एकमात्र आधार भी यही है। और विशुद्ध आध्यात्मिकता मनुष्य के भौतिक जीवन को पंगु नहीं वनाती वरन् जीवन के उस पक्ष को भी सवल और सुदृढ़ वनाती है। भौतिक प्रगति को नकार कर उसे झुठला कर वास्तविक प्रगति सम्भव है भी नहीं। क्योंकि जीवन न एकाँकी भौतिकता का नाम है। और न शुष्क आध्यात्मिकता का वरन् वह भौतिक और आत्मिक जीवन की समुच्चय प्रगति का जोड़ है। धर्म की परिभाषा इसीलिए शंकराचार्य ने इस प्रकार की है-यतो अभ्युदयः निःश्रेयस काराबुभौ। 'जो लौकिक जीवन में कल्याण और (अभ्युदय) आध्यात्मिक जीवन में परम उत्कर्ष की उपलब्धि करादे वही धर्म है।

अतः साधन सम्पन्नता वढ़ने के साथ साथ व्यक्ति की चेतना का स्तर भी उन्नत और परिष्कृत होते जाना

चाहिए। चेतना के परिष्कार की ओर यदि ध्यान नहीं दिया गया तो व्यक्ति की साधन सम्पन्नता ही उसे अधः-पतित बना डालेगी। यह सोचना निराभ्रान्ति ही है कि परिस्थितियों पर मनुष्य की चेतना की दिशा निर्भर है। परिस्थितियां अच्छी हों तो व्यक्ति नैतिक दृष्टि से सुघड़ और सुथरा होगा। तथा परिस्थितिया यदि प्रतिकूल हुई तो व्यक्ति की नैतिकता डाँवाडोल होगी। प्रतिकूल परिस्थितियों में भी व्यक्ति अपने आदर्शो पर किस प्रकार दृढ़ रह सकता है इसका प्रमाण राजा हरिश्चन्द्र और राणा प्रताप जैसे पौराणिक तथा ऐतिहासिक महापुरुषों के जीवन में देखा जा सकता है। और दुर्बल चेतना साधना सम्पन्न स्थिति में भी किस तरह लड़खड़ा जाती है यह हम आज के वैज्ञानिक युग में, जबकि साधनों का काफी विकास हो गया है ;देख सकते हैं।

पश्चिमी देशों में व्यापार व्यवसाय के लिए कम्प्यूटर एक उपयोगी और आवश्यक उपकरण बन गया है। हिसाब किताब रखने, रिकॉर्ड रखने, पूछने पर सही सही जानकारी देने वाले इस उपकरण ने व्यावसायिक संस्थान के कामों को बड़ा ही आसान कर दिया है और कई व्यक्तियों के श्रम को बचाने में मदद की है। इस उपकरण के कारण लोग अन्य उपयोगी कार्यों में लग सके और विज्ञान की मदद से विकसित अन्य उपायों साधनों द्वारा पहले की अपेक्षा अधिक उपार्जन करने लगे। अर्थात् विज्ञान के सहयोग से लोग पहले की अपेक्षा समृद्ध हुए हैं। परन्तु समृद्ध होने के बावजूद भी लोगों में अपराध वृत्ति आश्चर्य जनक रूप से बढ़ी है। सर्वाधिक संपन्न और धनवान देश अमेरिका में सबसे ज्यादा चोरियां डाकेजनी, लूटमार, अपहरण और बलात्कार तथा हत्यायें जैसे अपराध होते हैं। हाल ही में एक हिन्दी पत्रिका ने कम्पयूटर द्वारा चोरियों का रोचक विवरण प्रकाशित किया था।

कम्प्यूटर द्वारा चोरियां किस प्रकार होती है इसके चार तरीके बताये गये। पहला तरीका था, कम्प्यूटर को सीधे गबन का आदेश देना, दूसरी रीति झूठी जानकारी देने की बतायी गयी है। तीसरी रीति के अनुसार बाहर का व्यक्ति भी चोरी कर सकता है। और चौथा प्रकार चोरी के लिए जानकारी एकत्र करने के रूप में बताया गया है। स्टैनफर्ड रिसर्च इस्टीट्यूट के डा० बी० पार्कन ने बड़ी खोजबीन के द्वारा यह पता लगाया है कि कम्प्यूटरों द्वारा इस समय अमेरिका में ३० करोड डालर प्रतिवर्ष चुराये जाते है। अर्थात् २॥ अरब रुपयों के लगभग। स्मरणीय हैं यह अनुमान केवल पकड़ी गयी चोरियों के सम्बन्ध में ही लगाया गया है अन्यथा न पकड़े जाने वाली, अज्ञात चोरियों की संख्या तो और अधिक है।

कम्प्यूटरों द्वारा चोरी करने के तरीके भी बड़े विचित्र हैं। बताया जाता है कि एक बार कैलिफोर्निया के एक एकाउण्टेण्ट ने अपनी कम्पनी के कम्प्यूटर को आदेश दिया कि कम्पनी द्वारा खरीदे जाने वाले कच्चे माल का दाम असली मूल्य से बढ़ा कर नोट करे। इसके बाद उक्त अकाउण्टेंट ने एक फर्जी कम्पनी बनायी और कम्प्यूटर में उसका खाता खोल दिया तदुपरान्त कम्प्यूटर को आदेश दिया गया कि खरीद की बढ़ाई हुई रकम उस फर्जी कम्पनी के खाते में जमा की जाय। मशीन सो मशीन, उसने अपने चालक के आदेश का पालन किया और लगभग दस लाख डालर उस फर्जी कम्पनी के नाम से गबन कर लिया गया।

इसी प्रकार १९७२ में अमरीका की एक ईक्विटी फण्ड कम्पनी ने ३३ हजार पालिसियाँ बेची पर प्रबन्धक ने कम्पनी के कम्प्यूटर को यह झूठी सूचना दी कि ९७ हजार पालिसिया बेची गयी है। फलस्वरूप कम्पनी के शेयरों की कीमत अन्धाधुन्ध बढ़ गयी और प्रबंधक ने काफी माल बनाया। सन् ७४ में ही कम्प्यूटर के माध्यम से बाहर के व्यक्ति द्वारा चोरी करने का एक रोचक विवरण प्रकाश में आया था। वहाँ की एक कम्पनी के कर्मचारी ने नौकरी छोड़ने से पहले ऐजेन्सी के कम्प्यूटर को अपने घर के फोन से सम्बद्ध कर लिया। और नौकरी छोड़ने के बाद इस प्रकार गुप्त सूचनायें एकत्रित करने लगा। तथा उन सूचनाओं को प्राप्त कर दूसरों को बेचता रहा। इस चोरी का रहस्योद्घाटन भी कम्प्यूटर ने ही किया। वह इस प्रकार कि इस प्रकार का अदेश होते ही मालिकों ने पूछा कि तुम गुप्त सूचनाओं की जानकारी किन किन लोगों को देते है तो कम्प्यूटर ने भूत-पूर्व कर्मचारी का

फोन नम्बर भी वता दिया।

इस तरह की चोरियों में ध्यान देने योग्य वात यह है कि ये अपराध न छोटे मोटे पेशेवर चोरों ने किये तथा न ही कम पढ़े लिखे लोगों ने वरन् इस तरह की चोरियों में प्रायः उन्हीं लोगों का हाथ रहा जो आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न थे, शैक्षाणिक दृष्टि से उच्च शिक्षा प्राप्त तथा पेशे की दृष्टि से सम्वन्ध संस्थानों में अच्छे पद और ऊंचे वेतन पर कार्यरत। अमरीका ने एक बैंक के कम्प्यूटर में इस प्रकार की व्यवस्था की जिससे वह आधे सेण्ट तक की गणना करने लगा। फिर कम्प्यूटर को यह आदेश दिया गया कि वह आधा सेण्ट ग्राहकों को चुकाने के स्थान पर एक अलग खाते में जमा होता रहे। वह खाता जो कि फर्जी रूप से खोला गया था। उस अधिकारी का अपना ही खाता था। बैंक में तो हजारों ग्राहक प्रतिदिन आते हैं। आधा सेन्ट नहीं चुकाया जाता और बैंक के उनके खातों में से भी निकल जाता। इस प्रकार वह अधिकारी कम्प्यूटर की मदद से लाखों सेण्ट प्रतिवर्ष अपने खाते में जमा करवाता रहा।

एक कर्मचारी ने कम्प्यूटर को अपने वेतन का चेक रोजाना छापने का आदेश दिया और इस तरह दो सौ चेक प्राप्त कर लिए। सयोगवश ही इस काण्ड का पता चल सका। एक अन्य कर्मचारी ने अपनी कम्पनी कम्प्यूटर को यह आदेश दिया कि मेरे वेतन की रकम सौ गुना करके मेरे खाते में जमा करते जाना कंम्प्यूटर वैसा ही करता रहा। लेकिन जब कम्पनी के प्रवन्धक ने 'कम्प्यूटर से यह पूछा कि कर्म चारियों ने अपने व्यक्तिगत खातों के सम्वन्ध में क्या आदेश दिये हैं तो कम्प्यूटर ने यह वात भी वता दी।

अकेले कम्प्यूटर द्वारा ३० करोड़ डॉलर की प्रतिवर्ष चोरी-विज्ञान की सहायता से मनुष्य करने लगा। यह तो केवल कम्प्यूटर की वात हुई। अन्यथा टैप रिकॉर्डर बिजली की आरी, वैज्ञानिक प्रयोगों के द्वारा तैयार किये गये फार्मूले तथा विषैली दवायें आदि अनेकानेक तरीके है। जिनका विवरण जानकर ही बुद्धि चकरा जाती है। इतना ही नहीं परमाणु बम, हाइड्रोजन बम कीटाणु बम, मौसम को वदल देने के उपाय जैसे कई एक आविष्कार है। जिनके द्वारा मानव समाज सामूहिक आत्मघात की तैयारी कर रहा है।

वस्तुतः तो विज्ञान ही क्यों प्रत्येक साधन को हम तेजधार वाले चाकू के रूप में देख सकते हैं जिससे अपने दैनिक कार्यों में सहायता लेकर उनका लाभदायक उपयोग भी कर सकते हैं और उनसे किसी दूसरे की हत्या तथा आत्मघात जैसे जघन्य कर्म भी कर सकते हैं। साधनों और सम्पदाओं की वृद्धि अनावश्यक नहीं है पर यह तथ्य भी स्मरण रखा जाना चाहिए कि अपना भौतिक स्तर उठाये विना उन्हें अर्जित किये जाते रहना कोई सुख शान्ति की स्थापना नहीं कर सकता। बल्कि वे एक ऐसे हथियार के रूप में भी प्रयोग किये जा सकते हैं जिनके द्वारा मनुष्य पशुता से भी पतित हो कर क्रूर दानव के स्तर तक जा गिरेगा।

> एक शिष्य को अपने धर्मनिष्ठ होने का अभिमान हो गया। गुरुजी उसे ताड़ गये। धर्म का सही मर्म समझाने के लिये वे एक दिन एक सद्गृहस्थ के घर ठहरे। कृषक एक आम लाया था, उसे उसने अपनी धर्म-पत्नी को दे दिया। बेचारी धर्मपत्नी ने भी उसे खाया नहीं, छोटे वच्चे को दे दिया। वच्चे ने आम गुरु चरणों में समर्पित किया तो गुरु ने शिष्य को बताया—'वत्स! धर्म का यह है सही अर्थ।

कहने का अर्थ यह नहीं है कि परिस्थितियां नहीं वदलनी चाहिए और मनुष्य को वहीं तक सीमित रहना चाहिए जहाँ कि वह पहले था। बल्कि तात्पर्य यह है कि परिस्थितितां बदलने के साथ साथ मनः स्थिति वदलने पर भी वरावर ध्यान देना चाहिए। परिस्थितियाँ नहीं, अपनी मनः स्थिति, मान्यतायें, आदर्श, भावनायें और प्रवृत्तियाँ ही मनुष्य को अच्छा या बुरा बनाती हैं। अतः साधनों के विकास के प्रयासों साथ साथ चेतना के परिष्कार और मान्यताओं में परिवर्तन आवश्यक है। तभी भौतिक दृष्टि से सम्पन्न और आत्मिक दृष्टि से सुख शान्ति पूर्ण सुव्यवस्थित समाज की संरचना हो सकती है।

इतालवी जनता के मुक्तिदाता—ज्यीसैप गैरीवाल्डी

इटली के समुद्र तट पर बसे एक सुन्दर आवास में अभी भी जागरण के चिन्ह दिखाई दे रहे थे। सातवें दशक को पार कर चुके एक नव दम्पत्ति इसमें निवास कर रहे थे। रात्रि ने अपनी काली चादर सागर के वक्ष और पृथ्वी के उदर पर ओढ़ ली थी। इसी रात में उस आवास की खिड़की खुली और एक वृद्ध चेहरा दिखाई दिया। बाहर निहार कर उसके ओंठ बुदबुदा उठे—'कितना आनन्द है।

सत्तर वर्ष पार कर चुकने के बाद नव दम्पत्ति और फिर आनन्द पूर्ण बुदबुदाहट। आश्चर्यान्वित कर देने वाली बात है पर जिस वृद्ध युवक की चर्चा यहाँ की जा रही है उसे सचमुच ही अपने जीवन के उत्तरार्ध में घर बसाने की सूझी थी। और इसका कारण था जीवन का पूर्वार्द्ध जो देश, जाति और समाज की सेवा में ही बीता था तथा इनके अतिरिक्त और किसी बात का ध्यान नहीं रहा था। उस वृद्ध पुरुष का नाम था—ज्यीसेप गैरीवाल्डी जिसने अपना जीवन ही उल्टे क्रम से शुरु किया। आम तौर पर वचपन के बाद गृहस्थी बच्चे, घर परिवार की ही कल्पना होती है। सारा जीवन उनकी सेवा में खप जाता है। तब वृद्धा अवस्था में कहीं ईश्वर का या उसके बनाये संसार का कुछ काम करने की इच्छा भूले भटके से हो आती है। पर गैरीवाल्डी के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। उन्होंने पहले देश और समाज की चिन्ता की तथा उसके बाद में घर परिवार बसाने की बात सोची। वह भी तब जबकि वे अपने सार्वजनिक लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल हो गये।

क्या था उनका जीवन लक्ष्य और कैसे उन्होंने इसे प्राप्त किया। यह जानने के लिए उनका जीवन आद्योपान्त ही जानना आवश्यक है। दक्षिणी फ्रान्स के नाइस नगर में ज्यीसैप सन् १८०७ में जन्मे। उनके पिता एक निर्धनमल्लाह थे जो दिन भर खून पसीना एक कर किसी प्रकार अपने परिवार का भरण पोषण करते थे। चूँकि परिवार तो निर्धन था ही अतः पढ़ने लिखने और शिक्षा दीक्षा प्राप्त कर योग्य बनने की सुविधा तो कहाँ मिल सकती थी। वचपन से ही उन्हें अपने तथा अपने परिवार के व्यवसाय में जुट जाना पड़ा। इसलिए उन्हें नावें चलाने और समुद्र की छाती चीर कर उस पर चढ़ दौड़ने में विशेष दक्षता प्राप्त होने लगी। गरीब परिवार और वचपन से ही कठोर जीवन का यथार्थ अनुभव कर चुकने के बावजूद भी ज्यीसैप मनस्वी साहसी और परिश्रमशील थे। यहाँ तक कि छोटी सी उम्र में ही उन्होंने एक छोटी मोटी समुद्री यात्रा भी कर ली थी।

इन कार्यों के अतिरिक्त सौभाग्य से गैरीवाल्डी को पढ़ लिखने का अवसर भी मिल गया था। अक्षर ज्ञान के साथ साथ उन्होंने गणित और भाषा का ज्ञान भी प्राप्त कर लिया। माता ने अपने पुत्र को इस प्रकार पढ़ते लिखते देखा तो स्वाभाविक ही उन्हें यह आशा होने लगी कि उनका बेटा पादरी बनेगा और यश कमायेगा। पर ज्यीसैप की तो नियति ही कुछ और थी। उन्हें मल्लाहों का जीवन बहुत भा रहा था। और उन्हीं के साथ काम करने लगे। इक्कीस वर्ष की अवस्था में वे ज्यो कोर्टिस नामक जहाज में कोई काम प्राप्त करने में सफल हो गये यह जहाज काला सागर की यात्रा करने के लिए जा रहा था। उस समय काला सागर में समुद्री डाकुओं का बड़ा आतंक छाया हुआ था तथ्य से गैरीवाल्डी भी भली भाँति परिचित थे पर उन्हें खतरों से खेलने का शौक सा था अतः निश्चित किया कि समुद्री डाकुओं से भी एक बार सामना तो किया ही जाना चाहिए। मूलतः इसी खतरे ने उन्हें एक प्रकार से इस अभियान में निमंत्रित किया था। काला सागर की यात्रा करते समय तीन बार जहाज पर समुद्री डाकुओं ने हमला किया। इस लूट में डाकु भोजन और वस्त्र तक ले गये।

हमले के समय नाविक और यात्री प्रायः छुप जाया करते थे। एक गैरीवाल्डी ही ऐसे थे जिन्होंने आवश्यक वस्तुओं को बचाने के लिए डाकुओं का यथा शक्ति सामना किया। जो कुछ भोजन बचाया जा सका था वह मार्ग में ही खतम हो गया। अतः जहाज को कुस्तुन्तुनियां बन्दर

पर रोका गया और वहीं मल्लाहों तथा जहाज पर सवार अन्य व्यक्तियों ने अपना जीवन आश्रय प्राप्त किया। यहाँ गैरीवाल्डी एक गम्भीर रोग के शिकार भी हुए। प्राणों तक पर आ बनी थी। उस स्थान के कुछ निवासियों ने उनकी सेवा सुश्रूषा की और जैसे तैसे बचाया। गैरीवाल्डी भी उनके उपकार ऋण से उऋण होने के लिए कुछ समय तक वहाँ रुके और निर्वासित इटालियनों के बच्चों को पढ़ाया।

अपने साहस, लगन, कर्मठता और दृढ़ता के बल पर गैरीवाल्डी सन् १८३४ ई० में उस जहाज के कप्तान बन गये। कप्तान बन जाने के बाद उन्होंने विश्व के कई देशों की यात्रा की। यात्रा के दौरान वहाँ के जन जीवन का अध्ययन भी हुआ और उससे अपने देश की जो तुलना की तो अनुभव हुआ कि हमारे देशवासी अन्य देशों की अपेक्षा काफी दीन हीन और दुर्दशा ग्रस्त स्थिति में पड़े हुए हैं। इसका एक कारण उनको यह भी समझ में आया कि राजतंत्र शासन व्यवस्था में परतंत्र लोग कभी भी स्वाधीन, समृद्ध और सुखी नहीं रह सकते। अतः उन्होंने अपने देश को स्वाधीन लोकतंत्र के अधीन प्रगति और विकास के पथ पर अग्रगामी बनाने का फैसला किया।

उस समय इटली यूरोप का रणांगण बना हुआ था और प्रबुद्ध तथा विचारशील व्यक्तियों में शक्ति शाली देशों की मनमानी के प्रति आक्रोश उभर रहा था। ऐसे ही एक क्रान्तिकारी प्रतिभाशाली नेता मेजिनी ने यंग इटली 'नामक समिति की स्थापना की जिसका उद्देश्य था इटली को गणराज्य बनाना। 'यंग इटली' के सदस्यों ने प्रस्तुत लक्ष्य के लिए अपना तन मन धन सब कुछ अर्पित करने के लिए तैयार रहने की शपथ ली। पार्टी का मुख्यालय जिनोआ था—जहाँ से क्रान्ति की गतिविधियों का संचालन होता था। गैरीवाल्डी के अन्तस् में जब क्रान्ति के बीज अंकुरित होने लगे तो वे भी इसके सदस्य बन गये इन्हीं दिनों 'यंग' इटली ने जिनोआ के शस्त्रागार पर कब्जा करने की योजना बनायी। गैरीवाल्डी को इस अभियान का अग्रणी नियुक्त किया गया। यह अभियान क्रियान्वयन की ओर अग्रसर ही था कि किसी प्रकार सरकार को पता चल गया। तुरन्त ही अभियान के सभी कार्यकर्ताओं को गिरफ्तार कर लिया गया और उन्हें फासी की सजा हो गयी।

परन्तु गैरी वाल्डी होशियारी से किसान के वेश में भाग निकले और नाइस होते हुए एक जहाज से दक्षिणी अमेरिका जा पहुँचे। जिस समय वे अमेरिका पहुँचे तब उनके पास एक भी पैसा नहीं था। लेकिन उन्हें पैसों और निर्वाहपयोगी साधनों की उतनी चिन्ता नहीं थी जितनी की अपना लक्ष्य प्राप्त करने की। संयोग से उसी समय उन्होंने अपने देशवासियों का एक दल देखा। यंग इटली के सदस्यों की गिरफ्तारी के बाद व क्रान्ति की प्रक्रिया पुनः आरम्भ करने के लिए पैसों की आवश्यकता थी अतः गैरी वाल्डी ने अपने देशवासियों के साथ मिल कर एक जहाज खरीदा और समुद्र तट से व्यापार आरंभ कर दिया। उन्ही दिनों रिओग्राण्ड ने ब्राजील के खिलाफ विद्रोह आरम्भ कर दिया। इस स्वर्ण अवसर को हाथ से न जाने देने के लिए गैरीवाल्डी ने एक छोटा सा जहाज खरीदा और उस पर सवार हो कर लड़ाई में भाग लेने लगे। पहली मुठभेड़ में ही गैरीवाल्डी ने शत्रु का मूल्यवान धातु से लदा एक जहाज पकड़ लिया। परन्तु दूसरी मुठभेड़ में उन्हें असफल होना पड़ा। इसमें अपने साथियों सहित गिरफ्तार हो गये कई महीनों तक कारावास और यातनायें भोग कर मुक्त पवन में साँस ली और फिर क्रान्तिकारी अभियान में जुट गये।

इन्हीं दिनों उनकी मुलाकात एक सम्पन्न परिवार की उत्साही युवती से हुई, जो इटली को स्वतंत्र कराने के लिए मन प्राण से लगी हुई थी। नाम था उसका अनिता संयोगवशात् वह गैरीवाल्डी के सम्पर्क में आयी। दोनों का लक्ष्य एक था, ध्येय एक था और पाथेय एक था अतः दोनों ने मिलकर परस्पर सहयोग द्वारा इस दिशा में और भी द्रुत गति से बढ़ने के लिए जीवन साथी बनने का निर्णय लिया और वे दम्पत्ति बन गये। अनिता गैरीवाल्डी की शौर्य गाथायें इटली के इतिहास में स्थान स्थान पर बिखरी पड़ी हैं। वस्तुतः उसने अपने पति को कदम कदम पर साथ दिया।

छः वर्षों तक दम्पत्ति दक्षिणी अमेरिका में रहते हुए क्रान्ति के लिए प्रयास करने लगे और प्रतीक्षा भी।

उन्हीं दिनों उरुगुए में स्वतंत्रता संग्राम छिड़ा गैरीवाल्डी पुनः इस युद्ध में कूद पड़े । इस समय न्याय का पलड़ा भारी रहा और विजय उरुगुए वासियों की हुई । जिन्हें गैरी वाल्डी का भी महत्व-पूर्ण योगदान मिला था । वहाँ के नागरिकों ने इस महान नेता के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए जमीन का टुकड़ा देना चाहा । तब गैरीवाल्डी ने गद् गद् कण्ठ से यह कहा—"आप लोगों ने इटालियन लोगों की स्वतंत्रता के पक्ष में ही शस्त्र उठाये थे । उनकी ओर से मैं आपका कृतज्ञ हूँ । कृपा कर मुझे और अधिक उपकारों से न लादें ।

वस्तुतः गैरीवाल्डी को अपने लक्ष्य का ध्यान था और उसे पूरा करने से पहले वे किसी भी माया मोह में बन्धना नहीं चाहते थे । दक्षिणी अमरीका में रहते हुए ही वे इटली में क्रान्ति की पृष्ठभूमि तैयार करने में संलग्न थे । अपने देश में रहकर काम करना इस लिए सम्भव नहीं था कि वहाँ जो कुछ भी किया जाता वह तत्काल उनकी उपस्थिति को व्यक्त कर देता और ऐसी परिस्थितिों में जरा कुछ भी हलचल उनके प्रयासों को असफल और लक्ष्य को धूमिल बना देती । अमेरिका में रहते हुए ही वे अपनी दृष्टि इटली पर ही केन्द्रित रखते । सन् १८४८ में उन्होंने अनुभव किया कि इटली को स्वतंत्र कराने के लिए अच्छे अवसर पैदा हो गये हैं अतः वें भी कमर कस कर तैयार हुए । सार्डीनिया के सम्राट चार्ल्स ऐल्बर्ट ने भी घोषणा कर दी थी कि वे इटली को स्वतंत्र होने वहाँ के निवासियों की नागरिक अधिकारों के लिए लड़ी जाने वाली लड़ाई में भरपूर सहयोग करेंगे । उन्होंने अपनी सेना में लगभग साठ व्यक्ति चुने और "एस प्रेंजा नामक जहाज से नाइस की ओर प्रस्थान किया । इस जहाज पर अनिता गैरीवाल्डी द्वारा तैयार किया ध्वज लहरा रहा था । वे चार्ल्स से सहायता प्राप्त करने के लिए गये परन्तु चार्ल्स ऐन वक्त पर अपने वायदों से मुकर गया ।

गैरीवाल्डी तथा उनके अन्य साथी इससे निराश नहीं हुए वरन् उन्होने अनुभव किया कि ऊँचे लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए अपनी ही सामर्थ्य का उपयोग करना चाहिए न कि अन्य लोगों के आश्वासनों पर निर्भर करना चाहिए । अब उन्होंने स्वतः ही वह सामर्थ्य अर्जित की । एक वर्ष बाद ही अप्रैल १८४६ में रोमने अपने आपको गणराज्य घोषित कर दिया । इस घोषणा की प्रति क्रिया यह हुई कि फ्रान्स के नेपोलियन लुई ने रोम पर आक्रमण कर दिया । घमासान युद्ध हुआ और गणराज्य के पक्ष-पातियों का बड़ी बुरी तरह दमन कर दिया गया । विद्रोह तो एक प्रकार से कुचल दिया गया पर गैरी-वाल्डी को नहीं झुकाया जा सका । वे शत्रु को चुनौती देते हुए अपने कुछ विश्वस्त साथियों के साथ इटली की ओर भागे । अधिक मेहनत करने के कारण थक जाने से अनिता गैरीवाल्डी रास्ते में ही बीमार पड़ी और उसका देहान्त भी हो गया । इस वीरांगना पत्नी का देहान्त गैरी-वाल्डी के लिए असहनीय आघात ही था परन्तु उसका ही शोक मनाते रहना युक्तिपूर्ण भी नहीं था । अतः गैरी-वाल्डी पुनः अपने अभियान में संलग्न हो गये । यों अनिता उनकी पत्नी तो थी परन्तु आम दृष्टिकोण से पत्नी की जो आवश्यकता होती है—घर परिवार बसाने की उस परिभाषा की सीमा में वे दोनों ही नहीं आते । वस्तुतः परिस्थितियों ने उन्हें एक महान लक्ष्य के लिए साथ साथ किया था ।

पत्नी के शोक को वहीं छोड़ कर वे अपने साथियों के साथ केप्रेरा के चट्टानी टापू पर पहुँचे । शत्रु सैनिक उनका पीछा कर रहे थे । जलमार्ग में जिन नावों का गैरीवाल्डी ने तथा उनके साथियों ने उपयोग किया था उनमें से दो तिहाई से भी ज्यादा नष्ट हो गयी थीं । स्थिति बड़ी विषम हो चली थी अतः पुनः शक्ति संचयन के लिए गैरीवाल्डी अमेरिका लौट गये । चार साल तक वहाँ रहने के बाद वे अपने देश लौटे । वहाँ उनकी माता का देहान्त हो गया था और तीन भाई बहनों की देखभाल करने वाला कोई नहीं रहा था ।

घर लौटना उनके लिए अनुकूल अवसर का आमंत्रण बन गया । सन् १८५६ में नैपोलियन तृतीय ने आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी । इटली के प्रसिद्ध राजनेता केवोर ने आह्वान किया कि अस्टिया की गुलामी से इटली को निकाल लेने का यह सबसे अच्छा अवसर है । और विद्रोह का नेतृत्व करने के लिए आये गैरीवाल्डी । वे इतालवी सेना के सेनाध्यक्ष बने ।

तुरन्त जोरों का प्रचार अभियान चलाया गया और इटली वासियों को संगठित किया गया। इस बार जन मानस में अच्छा उत्साह जागृत हुआ। फिर बजा युद्ध का शंखनाद। इस युद्ध में गैरीवाल्डी ने अपार वीरता, शौर्य और साहस का प्रदर्शन किया। आस्ट्रियाई सेनाओं के पाँव उखड़ने लगे—एक तो उनकी अधिकाँश शक्ति फ्रान्स के आक्रमण का मुकावला करन में लगी हुई थी। दूसरे गैरीवाल्डी के नेतृत्व में लड़ रही इटालियन सेनाओं के सामने लोहे के चने चवाने पड़ रहे थे इधर लुक्का, टसकनी, पर्मा तथा मोड़ना आदि पड़ोसी देशों ने भी घोषणा करदी कि वे लड़ाई में इटली का साथ देंगे। नेपोलियन तृतीय के आक्रमण में आस्ट्रिया का पतन होता जा रहा था तो इटालियन सेनाओं का उत्साह नित नयी मिलने वाली सफलतायें बढ़ा रही थी।

इसी लड़ाई में यह आवश्यक अनुभव किया जाने लगा कि दोनों इटली एकीकृत होकर एक राष्ट्र में मिल जांय। इसके लिए गैरीवाल्डी अपने चुने हुए सैनिकों को लेकर अभियान पर निकले। पहली लड़ाइ पालेर्मो नामक स्थान पर हुई। एक पहर से कुछ अधिक समय तक लड़ाई चली। कहना नहीं होगा देशभक्त वीर सैनिकों के सामने शत्रु सैनिकों जो अपेक्षाकृत अधिक संख्या में थे—टिक न सके। इस विजयश्री ने सिसली वासियों को भावाभिभूत कर दिया। और उन्होंने गैरीवाल्डी को अपने मुक्तिदाता के रूप में स्वीकार किया।

यह एक अवसर था जिसका लाभ उठा कर गैरीबाल्डी इटली के अधिनायक वन सकते थे। परन्तु उन्होंने इसने लिए तो यह लड़ाई लड़ी नहीं थी। वे जानते थे कि इस समय उनकी इटली वासियों में यह स्थिति है कि यदि वे चाहें तो अपने आपको इटली वासियों का एक मात्र शासक वना सकते हैं और इटालियनों पर उनका इतना प्रभाव है कि उनके अन्तःकरण के किसी भी कोने से अस्वीकार की आवाज नहीं उठेगी। पर इस अहसास से लाभ उठाने की वात भी उनके मन में नहीं आयी और उद्देश्य ही उनके लिए प्रमुख रहा। उसी का वरण भी किया और युद्ध समाप्त होते ही उन्होंने अपने अधिकारों का परित्याग कर दिया। इटली के स्वतंत्र हो जाने के वाद उपयुक्त व्यक्तियों को उन्होंने वहां की शासन व्यवस्था सम्हलवा दी। और स्वयं कैप्ररा में स्थित अपने निजी निवास स्थान पर जाकर रहने लगे।

इन्ही दिनों वहाँ के शासन प्रमुख विक्टर इमेनुअल ने निजी स्वार्थ के कारण गैरीवाल्डी को गिरफ्तार कर लिया। विक्टर इमेनुअल भले ही शासक हों परन्तु जनता के हृदय सम्राट तो गैरीवाल्डी ही थे। उनकी गिरफ्तारी का समाचार सुनकर इटली की जनता भड़क उठी। जनाक्रोश का साममा करने की सामर्थ्य किस में होती है हैं अतः विवश होकर गैरीवाल्डी को मुक्त करना पडा। इसके बाद उन्होंने रोम को फ्रान्स के शिकंजे मुक्त कराया।

जीवन के उत्तरार्द्ध काल में गैरीवाल्डी ने विदेशों का भ्रमण किया। विदेशी जनता ने उन्हें इटली के मुक्ति दाता के रूप में अभिनन्दित किया। जून १८८२ में उनका अपने निवास स्थान पर ही देहान्त हो गया। उनकी इच्छा के अनुसार उन्हें वहीं दफनाया गया। उन्हें प्रकृति की गोद से प्यार था और वे अपने देशवासियों को भी प्रकृति के अंचल में मुक्त साँस लेने के लिए आजीवन आहुत रहे। उनका यह स्वप्न उनके ही जीवन काल में चरितार्थ हुआ। इससे वड़ी उनकी जीवन सार्थकता और क्या हो सकती है। —○—

युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ शुरू होने को था। सबके लिये अपने अपने काम वांटे जा रहे थे ' श्रीकृष्ण ने भी अपने लिये काम माँगा लेकिन पाण्डवों ने कहा—"भगवन् ! आपके लिए तो हमारे पास कोई भी काम नहीं है।" वहुत ज्यादा जोर देने पर उनसे कह दिया कि वे अपनी पसन्द का काम स्वयम् ढूँढ़ लें। सभी ने देखा कि श्रीकृष्ण यज्ञ में आदि से अन्त तक अतिथियों के के चरण धोने, झूठी पत्तलें उठाने तथा सफाई रखने का काम स्वय करते रहे। भगवान ने कहा—कोई काम छोटा नहीं।

चिकित्सा क्षेत्र में नये युग के प्रवर्तक—मारियो पोजियो

अपने प्लोट में डाक्टर पोजिओ कुछ प्रतिष्ठित अतिथियों के साथ बैठे भोजन कर रहे थे। भोजन के साथ-साथ हास परिहास भी चल रहा था। पत्नी बच्चे और परिजनों के सम्मिलित अट्टहास से गूँजते उस कमरे में तो लगता था आनन्द और उल्लास की वृष्टि हो रही है। उस समय जो अतिथिगण आये हुए थे—उनसे बहुत वर्षों बाद मिलना हो सका था। आगन्तुक पुरुष अतिथि यद्यपि पोजियों के सहपाठी घनिष्ठ मित्र रह चुके थे। परन्तु पेशा दूसरा होने के कारण दोनों मित्रों को अलग-अलग शहरों में रहना पड़ा था। बड़ा जी तड़पता रहता दोनों का एक दूसरे से मिलने के लिए और जी की यह तड़पन वे पत्र व्यवहार के माध्यम से ही शांत कर संतोष कर लेते थे।

वर्षों के अन्तराल से ही दोनों का मिलना हो पाता। किसी भी मित्र को अवकाश का समय मिलता तो वह पहुँच जाता सपरिवार अपने मित्र के पास। तथा दो चार दिन स्नेह प्रेम और आतिथ्य का आदान प्रदान चलता रहता। आज आगन्तुक परिवार का अन्तिम दिन था। भोजन के बाद विदा के लिए जाना था पोजिओ को।

हास परिहास के इस दौर में पोजियो ने सुना बाहर कोई जोर जोर से बातें भी कर रहा है। डाक्टर के घर मरीजों के सिवा और कौन जोर जोर से बातें कर सकता है। यह सोच कर पोजिओ ने खाना अधूरा ही छोड़ दिया और उठ गये टेबल से। उन्हें उठते देख कर सभी को आश्चर्य हुआ कि क्या बात हो गई। पोजिओ दरवाजे की ओर बढ़े। उनके पीछे पत्नी भी उठ कर चल दी क्या कारण है यह जानने के लिए। पोजिओ ने बाहर आ कर देखा एक किसान जिसके साथ एक लड़की भी है और उस लड़की का मुँह अस्वाभाविक रूप से खुला हुआ है। वह दर्द से कराह रही है। और वह किसान चौकीदार से डाक्टर को दिखाने के लिए उलझ रहा था। पोजिओ कुछ कहे इससे पूर्व ही उनकी पत्नी ने किसान को डाँटते हुए कहा—क्यों जिद करते हो भाई। तुम नहीं जानते हो क्या कि डाक्टर साहब ड्यूटी इन्स्टीट्यूट भवन में ही दिया करते हैं।'

'मुझे तो मालुम है मैडम परन्तु मेरी बेटी की इस जिद्दी तकलीफ को नहीं मालूम है, लगता है। तभी तो उसने असमय में लड़की को परेशान किया'—किसान ने बड़े भोलेपन से उत्तर दिया।

उस उत्तर से सदा गम्भीर रहने वाले पोजिओ को भी हँसी आ गयी। और पत्नी को अन्दर जाने का निर्देश देते हुए वे किसान से बोले—'क्या तकलीफ है इस नन्हीं प्यारी बिटिया को।' स्वर में मधु की मिठास टपक रही थी। और किसान का क्षोभ प्रफुल्लता में बदल गया। 'लड़की का मुँह खुला का खुला ही रहता है। बड़ा दर्द होता है डाक्टर सा० इस बिचारी के मुँह से मवाद भी जाता है।'—किसान ने कहा।

और पोजिओ अपने घनिष्ठ मित्र अतिथि को भूल कर मरीज के साथ उस कमरे में आ गये जहाँ वे वक्त वेवक्त मरीजों को देखा करते थे। उन्होंने लड़की का मुआइना किया तो पता चला कि उसे कैंसर है जरूरी लगा—लड़की को इन्स्टीट्यूट ले जाना और वे अतिथियों से अन्तिम मुलाकात करने के लिए क्षमा माँगते हुए उन्होंने कहा—'अत्यन्त आवश्यक कार्य से मुझे जाना पड़ रहा है मित्र। क्षमा करना।'

कोई बात नहीं— अतिथि मित्र ने कहा। उसे इस बात का पता था कि मेरा दोस्त मारियो पोजिओ एक कर्तव्य निष्ठ चिकित्सक है और वह मानवीय हृदय भी रखता है। मस्तिष्क पर भी इसी हार्दिक करुणा का प्रभाव है। जो उन्हें दुखिओं और दरिद्रों के प्रति दयार्द्र बना देती है। उसी क्षण पोजिओ किसान को और उसकी लड़की को साथ लेकर इन्स्टीट्यूट भवन गये तथा वहाँ अपने खर्च के उपचार करवाया रोगिणी कन्या का। किसान तो निर्धन था—उसकी सामर्थ्य नहीं थी कि वह कैंसर जैसे रोग का इलाज करवा सके।

यह एक ही घटना नहीं है मारियो पोजिओ से

सम्वन्धित वल्कि उनकी सहज करुणा, दया और परदुख कातरता के संस्मरण इकट्ठे किये जाँय तो एक वृहद ग्रन्थ तैयार हो सकता है। चिकित्सा जगत् में मोरियो पोजिओ को युग प्रवर्तक के रूप में जाना और प्रतिष्ठित किया जाता है। सेवा, निष्ठा, पर दुख कातरता के साथ साथ उन्होंने चिकित्सा प्रणाली को नया आयाम देने के लिए जो त्याग वलिदान किये वह उनके महान् व्यक्तित्व का ही परिचायक है ।

डा० पोजिओ का जन्म इटली के एक समृद्ध परिवार में सन् १८८५ ई० में हुआ। परिवार में उनकी प्रतिभा को सुविकसित होने का अच्छा वातावरण मिला। परिणाम स्वरूप वे अपने विद्यार्थी जीवन में ही मेधावी और अनूठे जिज्ञासु छात्र सिद्ध हुए। सन् १९१० में जब उनकी आयु मात्र पच्चीस वर्ष ही थी उन्होंने डाक्टरी की डिग्री ली।

चिकित्सा उनका प्रिय क्षेत्र था। उन दिनों जहां वे रहा करते थे आसपास के लोग शोचनीय रूप से बीमार हुआ करते और देखते देखते काल कवलित हो जाया करते थे। करुणा तो उन्हें अपनी मां से जैसे विरासत के रूप में मिली थी। तथा उनकी माँ एक सुहृदय और सेवा परायण महिला थी। तथा वचपन में कथा कहानियों के माध्यम से उन्हें आदर्शवादी जीवन जीने की परमार्थ परायण वनने की प्रेरणा दिया करती। यही कारण था कि वचपन में मिली इस परमार्थ शिक्षा ने उन्हें किशोरावस्था में चिकित्सा जगत की ओर आकृष्ट किया। इस वय में वे अपने आस पास के लोगों को असाधारण रूप से बीमार देखते तो मन ही मन यह सङ्कल्प उठता कि मैं सारे मानव समाज को निरोग वनाने में ही अपना जीवन अर्पित करूंगा।

डाक्टरी कोर्स पूरा करते समय उनका ध्यान तव से दस पन्द्रह वर्ष पूर्व हुई एक नयी खोज की ओर गया। वह खोज थी एक्स-रे। क्ष किरणों का उपयोग तव अंदरुनी अङ्गों के सम्वन्ध में जानने में वड़ी सहायक सिद्ध हुआ करती थी। क्ष–किरणों की खोज से पूर्व डाक्टरों को प्रायः अनुभव और चीरफाड़ के आधार पर ही किसी निष्कर्ष तक पहुँचना होता था। अव इनकी खोज हो जाने से आन्तरिक अङ्गों की परख करने में पर्याप्त सुविधा हो गयी थी परन्तु इन किरणों से एक खतरा भी था। क्ष–किरणें माँस में घस जाती थीं और उसे जला कर नष्ट कर डालती थी। इस वात का कोई पूर्ण संकेत भी नहीं मिल पाता था कि क्ष–किरणें क्या प्रभाव डाल रही हैं शरीर के अङ्गों पर।

प्रमुख सहायक और घातक दोनों ही सिद्ध होने वाली एक्स–रे विद्या ने मारियो पोजिओं का ध्यान आकृष्ट किया और वे भी इस विद्या का अध्ययन करने लगे। प्रथम महायुद्ध के दौरान जव डाक्टरों की आवश्यकता हुई सेनाओं में जाने के लिए तो डा० पोजिओ डाक्टर और रेडियोलोजिस्ट की हैसियत से इटली की पर्वतीय सेना में भर्ती हो गये। उन्हें कैपोरेटो के युद्ध क्षेत्र में जाना पड़ा। और यह कार्यकाल उनके लिए अग्नि परिक्षा का समय सिद्ध हुआ। युद्ध क्षेत्र में लगाये गये हॉस्पीटल कैंप में गाड़ियाँ की गाड़ियों भर कर आहत सैनिक आने लगे। पोजिओ को उन सवकी परिचर्या देखभाल करनी पड़ती। वे कभी तो डाक्टर का काम करते और कभी रेडियोलोजिस्ट का। समय वहुत कम मिलता था उन्हें कार्य बदलने के वीच आवश्यक तैयारी करने का। आहत सैनिक इतनी संख्या में आते थे कि कई कई रातें उन्हें जागना पड़ता। कभी कभी तो भोजन भी नहीं हो पाता।

तब तक क्ष किरणों के आन्तरिक दाहक गुण का भी पता चल चुका था और एक विशेष प्रकार के दस्ताने वनाये गये थे एक्स–रे कक्ष में जाने से पूर्व पहनने के लिए जो क्ष किरणों के विषैले प्रभाव को अधिकांश मात्रा में कम कर देते थे। पोजिओ तो इतने व्यस्त रहते थे और फिर उन्हें दोनों ओर के ओपरेशन व एक्स–रे लेने के काम सम्हालना पड़ते थे। इस लिए वे एक्स–रे कक्ष में जाने से पूर्व दस्ताने पहनने का ध्यान ही चूक जाते और उसी धुन में भयानक क्ष किरणों के प्रवाह में हाथ डालते।

विष चाहे भूल से शरीरस्थ हो या जानवूझ कर देह के भीतर जाय वह तो अपना विषैला प्रभाव छोड़ेगा ही डा० पोजिओ के साथ भी यही हुआ और कुछ महीनों

बाद ही हाथ में फफोले उभर आये। पोजिओ जान तो गये थे कि यह क्ष किरणों का ही प्रभाव है। फिर भी उन्होंने अपने निर्धारित कर्तव्य से मुँह नहीं मोड़ा और हाथ की उपेक्षा करते हुए भी उसी प्रकार व्यस्त रहने लगे। कर्तव्य के सम्मुख व्यक्तिगत हितों की उपेक्षा करना उनके लिए स्वाभाविक ही था। इससे पूर्व अन्तःकरण में बसने वाली पर दुख कातरता के कारण मोरियो पोजिओ कई बार अपने सुखों और सुविधाओं को तिलाञ्जलि दे चुके थे।

हाथों की स्थिति निरन्तर बिगड़ती गयी और युद्ध समाप्त होने तक तो बड़ी बुरी दुर्दशा हो गयी उनकी। युद्धोपरान्त उन्हें सरकार की ओर से एक पदक दिया गया तथा इटली की जनता ने उनकी सेवाओं, सत्कार्यों, को सम्मानित किया सराहा। मारियो के हाथ क्ष किरणों के ही शिकार हुए थे। और उन्हें लगा कि मुझे खोज के लिए यही क्षेत्र चुनना चाहिए। युद्धोपरान्त उन्होंने एक रेडियोलोजिस्ट की हैसियत से इस क्षेत्र में खोज आरम्भ की। लम्बे प्रयोगों और दीर्घावधि साधनाओं के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मानव शरीर में रश्मियाँ प्रवेश करती हैं तो वे चमड़ी की तल से अन्दर घुसने पर प्रत्यावर्तित हो जाती हैं। इस सिद्धान्त को आसादृश्यता का सिद्धान्त कहते हैं। जिसका अभिप्राय है—शरीर में घुसती हुई रश्मियाँ पानी में प्रकाश की तरह अपनी गति परिवर्तित कर लेती हैं। अर्थात् एक्स–रे की पकड में आने वाली वस्तुएँ वहाँ नहीं होती जहाँ कि वे दिखाई देती हैं। इस अनुसंधान से चिकित्सा विज्ञान में क्ष–किरणों का उपयोग और अधिक सहायक सिद्ध हुआ।

अपने अनुभवों और निष्कर्षों को वे लेख बद्ध भी कर लिया करते थे। इस प्रकार उन्होंने ढाई सौ से भी अधिक लेखों और पुस्तकों की रचना की है।

उन दिनों इटली में धनी और गरीब सभी वर्ग के लोगों में असाधारण रूप से कैंसर फैल रहा था। डा० पोजिओ ने सोचा कि क्यों न रेडियम के द्वारा इस कैंसर के इलाज की सम्भावना को खोजा जाय। अब तक के प्राप्त निष्कर्षों और अनुभूत तथ्यों से उनका यह विश्वास बन गया था कि रेडियम से कैंसर का इलाज किया जा सकता है। क्ष–किरणों के घातक प्रभाव से मुक्त होने की ओर उनका ध्यान नहीं गया। क्योंकि यह उनकी भूलों से हुई एक व्यक्तिगत क्षति थी। वे चाहते तो अपनी प्रतिभा का उपयोग कर इस कष्टकर स्थिति से छुटकारा पा सकते थे। परन्तु नहीं समष्टिगत हितों के समक्ष उन्हें व्यक्तिगत हितों को महत्व नहीं देना था। सो वे एक्स–रे द्वारा कैंसर के इलाज की विधि ढूँढ़ लेने में ही लगे।

सन् १६२५ में बाँये हाथ में बढ़ते जा रहे फफोलों के कारण उन्हें एक अँगुली कटवा लेनी पड़ी। परन्तु रोग इससे थमा नहीं—वह बढ़ता ही गया। क्रमशः शेष अंगुलियाँ फिर हाथ का पन्जा, कोहनी तक का हिस्सा और बाद में पूरा हाथ ही कटवा देना पड़ा। एक हाथ पूरा का पूरा चला जाने के बाद भी उनकी कार्य क्षमता में कोई अन्तर नहीं आया। वे एक ही हाथ से दोनों हाथों का काम लेने लगे। बांया हाथ पूरा कट जाने के बाद उन्होंने कहा था—कोई बात नहीं एक ही हाथ काफी है।

परन्तु नियति को तो एक हाथ भी गलत लग रहा था। सन् ४७ में उन्हें दाँये हाथ की चौथी अंगुली कटवानी पड़ी। बांया हाथ कट जाने के बाद वे पूर्णतया स्वस्थ्य भी न हो पाये थे कि दाँया हाथ भी कटवाना पड़ा। अब वे अपने कार्यों के लिए दूसरों के मुँहताज हो गये थे। पत्नी और मित्रों की सहायता से उन्होंने अपना कार्य जारी रखा। चिकित्सा विज्ञान को अपने अङ्ग भेंट चढ़ाने वाले इस महान तपस्वी ने अङ्गहीन अवस्था में भी एक क्षण बेकार न खोया। उन्होंने अपना अनुसंधान जारी रखा।

सन् १६५५ में इटली के राष्ट्रपति ने उन्हें राष्ट्र का सर्वोच्च सम्मान (गोल्ड मेड फार सिविल वेलर) भेंट किया। उस समय वे पत्नी के साथ मञ्च पर चढ़े थे पदक लेने के लिए क्योंकि हाथ तो भेंट चढ़ चुके थे समाज के स्वास्थ्य की बलि वेदी पर। लोगों ने उन्हें इसस्तिथि में देखकर अविरल अश्रु बहाये। देश का सर्वोच्च सम्मान ग्रहण करने के बाद ८ सितम्बर १६५६ को लम्बी परीक्षाओं से गुजर कर उनका देहावसान हो गया। चिकित्सकों ने बहुत प्रयत्न किया उन्हें बचाने का, परन्तु उनके भाग्य में तो शहादत ही लिखी थी।"

अन्धविश्वासों की कालिमापूर्ण छाया



मनुष्य अपने विश्वासों की ही छाया है। जैसा मनुष्य का विश्वास होगा वैसे ही उसके संस्कार बनते जायेंगे। और उन्हीं के बल बूते पर वह अन्धेरे रास्तों पर चलने तथा खाई खड्डे तक में गिरने को तैयार होता जायगा। इसका वास्तविक कारण यह है जब मनुष्य एक ही दिशा में सोचता और विश्वास के अनुसार ही कार्य करता है तो उसी के अनुरूप उसके संस्कार बनते जाते हैं। और संस्कारों के विपरीत सोचने तथा उनके प्रतिकूल चलने में उसे पीड़ा परेशानी तथा बेचैनी होने लगती है। आत्म विश्वास, ईश्वर के प्रति विश्वास, आदर्शो के प्रति आस्था जहां अपनी सत्तामूलक शक्ति से लोगों को लाभन्वित करती है वहीं यह विश्वास की शक्ति भी उसके मूल में रहती है,

विश्वास जहां एक शक्ति है, मनुष्य को ऊँचा उठाती है वहीं अन्धविश्वास उस शक्ति का एक ऐसा विकृत रूप है जो उसे पतन के गर्त में गिराती है। हमारे समाज में इस शक्ति का विकृत रूप एक महामारी की तरह अपनी विनाशलीला मचाये हुए है। अन्य रोग तो केवल मनुष्य शरीर तक ही सीमित रहते हैं तथा सावधानी पूर्वक उपचार करने के बाद पीछा छोड़ देते हैं। किन्तु अन्धविश्वास की बीमारी एक ऐसा घृणित रोग है जो शरीर पर तो अपना प्रभाव डालती ही है मन, बुद्धि और आत्मा तक को अपना ग्रास बना कर उसे जड़ बना देती है। यही कारण है कि लोग अन्धविश्वासों के कारण प्रत्यक्षतः हानि उठा कर भी दोषी अन्धविश्वासों को नहीं समझते वरन् इसका कारण कोई भूल-चूक ही समझते हैं। तथा अन्धविश्वास को फिर भी नहीं छोड़ते, उसे छोड़ने से इसलिए डरते हैं कि उन्हें किसी और नये तथा बड़े अनिष्ट की आशंका होने लगती है। यह भी मानने लगते हैं कि इन विधि निषेधों का पालन करने पर तो यह हानि हुई, इनका पालन न किया जायगा तो आगे और न जाने क्या हानि होगी।

अन्धविश्वासों का शिकार केवल अशिक्षित जनता ही होती हो-ऐसा भी नहीं है। अशिक्षित और अनपढ़ लोगों के साथ-साथ कई एक शिक्षित व सुसंस्कृत व्यक्ति भी अन्धविश्वासों की गिरफ्त में फसे हुए दिखाई देते हैं। कई डॉक्टर और इंजीनियर शरीर के किसी अंग पर छिपकली गिर जाने से मृत्युभय की कल्पना करने लगते हैं तथा किसी भारी अनिष्ट की अशंका से कांपने लगते हैं।

इतिहास भी इस बात का साक्षी है कि भारतीय समाज के अधः पतन का कारण न हमारी कमजोरी रही है और न कायरता। शक्ति, साहस और शौर्य के मामले में दुर्दान्त से दुर्दान्त आक्रमण कारी भी भारतीय वीरों के आगे नहीं टिक सके हैं। पर अन्धविश्वास के कारण भारतीय वीर उचित समय पर निर्णय लेने से कतरा गये और इसी के कारण शताब्दियों तक बांधे रहने वाली दासता की बेड़ियाँ हमारे समाज के पैरों में पड़ी।

कई उदाहरण है जब हमने अन्धविश्वास या अतिविश्वास के कारण मुँह की खाई। इसका एक बड़ा प्रमाण इतिहास में सोमनाथ की हार के रूप में मिलता है। जब महमूद गजनवी ने गुजरात के इस मन्दिर पर आक्रमण किया था। उस समय सोमनाथ मन्दिर के प्रमुख प्रवन्धक और मुख्य पुजारी गंग सर्वज्ञ थे। गंग सर्वज्ञ एक ऐतिहासिक पात्र हैं और अपने समय के प्रकाण्ड विद्वान रहे है। सारे देश की जनता ही नहीं देश भर के विद्वानों सहित सभी राज गण भी उन्हें मानते थे। उनके व्यक्तित्व को महानतम समझा जाता था और जैसी कि उनके नाम के सामने उपाधि थी 'सर्वज्ञ' उसी रूप में उनकी बातों को देखकर समझ कर माना जाता था। किन्तु गंग सर्वज्ञ गजनवी के हमले से लेकर मन्दिर लुट जाने और सोमनाथ की मूर्ति के खण्ड खण्ड हो जाने तक यही कहते रहे कि भगवान अपनी रक्षा करने में स्वयं समर्थ हैं और मन्दिर की रक्षा के लिए वे अवश्य प्रकट होंगे तथा अपना तीसरा नेत्र खोल कर आक्रमण कारियों को भस्म कर देंगे।

गंग के इस आश्वासन और लोगों के उनके प्रति अतिविश्वास के कारण प्रतिरोध का प्रयत्न शिथिल पड़ता गया तथा लोग उस चमत्कार की प्रतीक्षा करने लगे। गजनवी आया और मन्दिर लूटकर तथा मूर्ति तोड़

कर चला गया। न भगवान शंकर प्रकट हुए और न उन्होंने अपने तृतीय नेत्र से आक्रान्तओं को भस्म किया। यह बात नहीं हो सकती है कि गंग का उद्देश्य देश को पथभ्रान्त करने का नहीं रहा हो। पर यह उनका अति विश्वास ही था।जो अन्धविश्वास बनकर इस रूप में बोला था। तथा लोगों ने उनके कथन पर आंखे मूंद कर विश्वास किया व चमत्कार देखने की प्रतीक्षा में अपने प्रयत्नों को शिथिल छोड़ कर जानते बूझते अपने आपको लुटने दिया।

पृथ्वीराज ने मौहम्मद गौरी को सत्रह वार हराया था। हर बार हार कर, अपनी क्षति पूर्ति कर गौरी वार वार चढ़ कर आता रहा तथा हार कर जाता और फिर आक्रमण करने आ जाता। अन्तिम वार उसे विजय मिली तो वह भी हमारी इसी कमजोरी के कारण कि हम उचित समय पर उचित निर्णय लेने में असमर्थ रहे। बताया जाता है कि गौरी ने जब आखरी वार आक्रमण किया जिसमें कि उसे विजय मिली तो उसने अपनी सेनाओं के आगे गायों की एक कतार खड़ी की। वह जानता था कि भारतीय जनता गायों को मां के समान मानती है और किन्ही भी परिस्थितियों में वह उन्हें नहीं मारेगी। गायों की रक्षा एक आदर्श था परन्तु इसे अन्धविश्वास ही कहा जाना चाहिए कि देश रक्षा के महान आदर्श की तुलना में कम महत्व के इस आदर्श को हमने अधिक महत्व दिया। गायों की पंक्ति को सामने देख कर पृथ्वी राज किंकर्तव्य विमूढ़ हो गया तथा उसने विना लड़े ही हथियार डाल दिये। यह अन्धविश्वास भारत के भाग्य को अन्धकार पूर्ण बनाने का कारण बना।

न जाने कितने अन्धविश्वास और न जाने कितने अपशकुन हैं जो इतिहास में पाये जाते हैं और सिद्ध करते हैं कि साहस, शौर्य, वीरता तथा साधनों का अभाव न होने पर भी लोग किस तरह हारे हैं। तलवार खुल जाना, कटार निकल पड़ना, जीन खिसक जाना, धनुष उत्तर जाना, पगड़ी बिगड़, जाना मुकुट मुड़जाना जैसी छोटी-छोटी बातों को पराजय की सूचक मान कर अन्धविश्वासी राजा और योद्धा अपनी मान्यताओं के कारण आधे तो उसी क्षण हार गये। उनके आत्म विश्वास में दरारें पड़ गयी और इस कारण इतिहास की धारायें ही बदल गयी। लाट-झुक जाने, मीनार मुड़ जाने, कंगूरा उखड़ जाने और गुम्बद दरक जाने को बादशाहों ने हुकूमत उखड़ जाने का संकेत माना। और वे पस्त हिम्मत हो कर बैठ गये फल स्वरूप बड़ी-बड़ी राजनैतिक हानियां हुई।

यह तो हुई राजा महाराजाओं के अतीत कालीन अन्धविश्वासों की कहानी। जनसाधारण उनसे भी आगे अपने चारों ओर असंख्ये, अन्धविश्वासों को बनाये रहा आज भी अन्धविश्वासों की कमी नहीं है। सुबह विस्तर पर से उठने से लेकर सोने तक का सारा क्रिया कलाप अन्धविश्वासों एवं शुभा शुभ मान्यताओं की शृंखलासी बनी हुई है। कौन सा पैर पहले जमीन पर रक्खे, जगते ही हथेली देखना, रेखायें चूमना, और को देखने से पहले दर्पण देखना आदि सब किसी न किसी अन्धविश्वास पर ही आधारित हैं। घर हाट, हाट बाट उठने बैठने, चलने फिरने और यात्रा करने में अन्धविश्वास पूर्ण विचार भरे पड़े हैं। आदमियों का मिलना, पशुओं का दिखाई देना, उनका खांसना छीकना और आवाज करना, सूंघना, मुंह उठाना, रास्ता काटना, दिशा बदलना, दाये बाये अथवा आगे पीछे चलना न जाने कितने प्रकार के अन्धविश्वासों के माता पिता है। घरों में बहू-बेटियों की जिन्दगी कदम-कदम पर अन्धविश्वासों की वंदिनी है, कहां पर बैठे, किस ओर पैर करें तथा किस ओर पीठ करें सिर किधर होना चाहिए कौन सी करवट से सोना चाहिए। आदि छोटी-बातों का निश्चय और नियमन परम्परागत अन्धविश्वासों के आधार पर किया जाता है।

इसी प्रकार व्यावसायिक जीवन में दुकानदार, दुकान खोलते समय कौन सा किवाड़ पहले खोले, कौन सा पैर पहले रक्खे, किस ग्राहक को कौन सी चीज बेचकर प्रथम-विक्री अर्थात् बोहनी करे, कितने पैसों की चीज बेचकर दुकानदारी की शुरु आत की जाय, कौनसी तराजू के कौने से पलड़े में क्या चीज तोल कर पहले पहल बेची जाय आदि बातों का निर्धारण किया जाता है। पलड़े का उलट जाना, जोत का चढ़ जाना, डोरी का टूट जाना, बांट का गिर-जाना डण्डी का टूट जाना आदि बातों को अपशकुन अर्थात् अशुभ चिन्ह समझा जाता है। और कहना नहीं होगा कि

इन मान्यताओं के पीछे कोई न कोई अन्धविश्वास अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है।

इन अन्धविश्वासों का पहला दुष्परिणाम मानसिक स्थिति के कमजोर कर देने, मनो बल गिरा लेने के रूप में होता है। छींक आ जाने पर यात्रा रोक देने, बिल्ली के रास्ता काट जाने, खाली घड़ा मिल जाने, काना व्यक्ति मिल जाने से लोग यात्रा पर निकलने अथवा किसी काम का आरम्भ करने से पूर्व ही अपनी असफलता का अनुमान कर लेते हैं। और मनोवल गिरा लेने के कारण असफलता की सम्भावना ५० प्रतिशत वैसे ही हो जाती है। फिर प्रयत्नों में आयी शिथिलता रही सही कमी और पूरी कर देती है। जैसे वैद्यों या डोक्टरों को लेने जाते समय कोई अपशकुन हो गया तो बीमार के मर जाने की न बचने की धारण निश्चिय कर ली जाती है और उपचार के प्रयत्नों को भी शिथिल कर दिया जाता है। फल स्वरूप वीमारी के उपचार और फायदे की रही सही सम्भावनायें भी जाती रहेंगी।

शुभ मुहूर्त और अच्छी घड़ी की तलाश में लोग अपना समय तो वर्वाद करते ही हैं। इस चक्कर में फंस कर अपनी भयंकर हानि भी कर लेते हैं। उदाहरण के लिए व्याह-शादी, संकार तथा व्रत आदि शुभ घड़ी में करने का प्रचलन है। जब कभी इस प्रकार का विधान किया गया होगा तो उसका उद्देश्य यही रहा था कि सुविधा जनक समय, अनुकूल ऋतु के उपयुक्त कोई दिन इसके लिए चुना जाय। लेकिन अब प्राय: हर छोटे बड़े कार्य के लिए शुभ मूहुर्त पूछने को लोग पण्डितों के पास दौड़ चले जाते हैं। नई दूकान खोलनी हो या नया मकान बनवाना हो वेटी को विदा करना हो या नौकरी पर जाना हो तो शुभ मूहुर्त तलाशा जाता है। अशुभ मूहुर्त का भय लोगों के मन में इस कदर सवार है कि इसके कारण लोग नितान्त आवश्यक कार्यो में भी शुभ मूहुर्त के लिए विलम्ब हो जाता है और कई वार भयंकर हानियाँ तक उठानी पड़ती हैं। कितने ही लोगों को अपनी नौकरी से हाथ धोना पड़ता है तथा कितनों को ही अन्य दूसरे तरह की हानियाँ उठानी पड़ती हैं।

यहां तक कि रोग वीमारी तथा स्वास्थ्य जैसी शारीरिक स्थितियों तक हम लोगों ने अन्धविश्वासों को विस्तृत कर लिया। मन्त्र तन्त्र और झाड़ फूक तथा नजर गुजर के दौर अशिक्षित और पिछड़े लोगों तथा स्त्रियों में खूब जोर से चलते हैं। स्त्रियां "शीतला माता" और 'मोती झरा' जैसे रोगों को भी देवी देवता का प्रकोप समझती हैं और उनके लिए कोई उपचार कराने के स्थान पर कल्पित देवी देवताओं के आलयों में धूप-दीप जला कर अपने बच्चों की आरोग्य कामना करती हैं। उनके ममत्व और वात्सल्य पर अंगुली नहीं उठाई जा सकती पर अपने अन्धविश्वासों के कारण, अज्ञान और लकीर की फकीरी के कारण उनका व्यवहार बच्चों के प्रति शत्रुतापूर्ण स्तर का ही हो जाता है। ममता और वात्सल्य की कमी नहीं है पर अन्धविश्वास का जहर उसे भी विषैला बना देता है।

जिन अन्धविश्वासों का पालन करते हुए हमने अव तक बड़ी हानियां उठाई, जिनके कारण हम लगभग दो हजार वर्ष तक गुलाम रहे तथा जिन विश्वासों का पालन करते हुए हम आज भी अपने व्यक्तिगत और पारि वारिक जीवन में दुख और क्लान्ति के वीज वो रहे है, उन्हें ढोते रहने से क्या फायदा पिछले अनुभवों से सीख कर हम अव भी इन अन्धविश्वासों से चिपटे रहे तो हमसा मूर्ख और कौन होगा।

—★—

टामस जेफरसन—जो उस समय अमरीका के उप-राष्ट्रपति थे—किसी अन्य नगर के एक होटल में गये और ठहरने के लिये स्थान की याचना की। वे उस समय साधारण किसान की वेषभूषा में थे। होटल के मालिक ने कहा—'हमारे यहाँ कोई स्थान रिक्त नहीं है।'

वे चले गये। बाद को मैनेजर को किसी ने बताया कि ये तो अमेरिका के उप राष्ट्रपति थे। तव तत्काल ही उसने एक व्यक्ति को भेजा कि वह उन्हें क्षमा याचना करते हुए वापस ले आये।

जब वह व्यक्ति पहुँचा और उसने मैनेजर का सन्देश जेफरसन से कहा तो उन्होंने यही कहा—"जिस होटल में एक किसान के लिये स्थान नहीं हो—उसमें अमरीका का उप राष्ट्रपति कैसे ठहर सकता है?"

गिनि बिसाऊ का स्वातंत्र्य सृष्टा—एमिलकार कब्राल

पुर्तगाल के भूतपूर्व तानाशाह सालाजार के रिश्तेदार जनरल एंटोनियो स्पिनोला—गिनी विसाऊ राज्य के अन्तिम उपनिवेशवादी प्रशासक ने गिनी विसाऊ के राष्ट्र वादियों का दमन करने के लिये दोहरी चाल चली। एक ओर तो उसने राष्ट्रवादियों के विरुद्ध सरगर्मियाँ तेज कीं, दूसरी ओर सुधारों का ढकोसला रचा। किन्तु उसे कोई विशेष सफलता नहीं मिली। तव उसने दूसरी ही चाल चली गिनी विसाऊ के स्वतंत्रता सेनानी, सिद्धान्त शास्त्री व मार्ग दर्शक एमिलकार कब्राल की हत्या कराने की। वह समझता था कि कब्राल की हत्या के वाद स्वतन्त्रता पाने के लिये गठित की गयी सेना, जो अव पुर्तगाली साम्राज्यवादियों के लिये सरदर्द वन चुकी थी, की गति विधियाँ कमजोर पड़ जाएंगी और पुर्तगाली शासन सुदृढ़ हो जाएगा। अधिक न सही तो कम से कम दस वीस वर्ष तक तो वे गिनि विसाऊ में वने रह सकेंगे।

जनरल स्पिनोला एमिलकार कब्राल की हत्या करने में तो सफल हो गया पर जिस प्रयोजन से उसने कब्राल की हत्या करवायी थी वह पूरा न हो सका। क्रान्ति के सेना नायक के मरने से क्रान्ति रुकी नहीं। २० जनवरी १९७३ को कब्राल की हत्या हुई और उसके ठीक आठ महीने बाद ही राष्ट्रवादियों ने गिनी विसाऊ से पुर्तगालियों को भगा दिया। सितम्बर १९७३ के अन्तिम सप्ताह में पाँच सौ वर्ष पुराने पुर्तगाली उपनिवेश की समाप्ति हुई और एक स्वतंत्र राष्ट्र का उदय हुआ। कब्राल का स्वप्न साकार होकर रहा।

देश की इस आजादी के इक्कीस वर्ष पूर्व एमिलकार कब्राल लिस्वन विश्व विद्यालय से कृषि शास्त्र का स्नातक वन कर स्वदेश लौटा था तव वह राष्ट्रवादी आन्दोलन का सेनानी नहीं वरन् उपनिवेशी शासन का एक साधारण कर्म चारी था। उसे कार्य सौंपा गया था जन गणना करने का।

मध्यम वर्ग के एक अफ्रीकी परिवार में जन्में एमिलकार कब्राल को छात्र वृत्ति के सहारे पुर्तगाल जाकर लिस्वन विश्व विद्यालय में पढने का अवसर मिला था। एक सामान्य मध्यवित्त परिवार के युवक को योरोपीय विश्व विद्यालय की डिग्री और तत्पश्चात अच्छी सरकारी नौकरी के वाद और क्या चाहिए था। यह स्थिति किसी सामान्य युवक के लिये संतोष जनक सिद्ध हो सकती थी। पर कब्राल कुछ दूसरे ही ढंग से सोचने वाला युवक था। उसे अपनी ही सुख सुविधाओं और उन्नति की कामना नहीं थी। वह इतना स्वार्थी और संकीर्ण मना कैसे वन सकता था।

"जन गणना का कार्य करते हुए उसे अपने देशवासियों की दयनीय दशा देखने को मिली तो फिर उसके लिये सरकारी नौकरी करते रहना सम्भव न हो सका। उसने अपने वारे में लिखा है—अव मैंने अपनी आखों से जनता का शोषण देखा। मैंने देखा कि मेरे देश के ग्राम वासियों को विवाह मृत्यु आदि पर ही नहीं पारस्परिक उत्सवों पर भी सरकार को कर देना पड़ता है, लेकिन देश के प्रशासन राजनीति और अर्थ व्यवस्था में उनके लिये छोटा से छोटा स्थान भी नहीं है।"

अपने देशवासियों की इस दशा पर उसे वड़ा दुख हुआ। चौदह हजार वर्ग मील क्षेत्रफल वाले गिनी विसाऊ में न तो कोई रेल मार्ग था और न ही कोई वड़ा कल-कारखाना। केवल राजधानी विसाऊ में एक कारखाना था जिसमें केवल ३०० श्रमिक काम करते थे। मुंगफली और ताल के तेल के निर्यात व्यापार पर ४,००० पुर्तगाली अधिकार किये हुए थे। ये मुट्ठी भर पुर्तगाली गोरे सात लाख अफ्रीकियों का शोषण कर रहे थे। इन लोगों के लिये खेती और मजदूरी के अतिरिक्त और कोई काम नहीं था।

सर्वत्र निरक्षरता का साम्राज्य छाया हुआ था। ९० प्रतिशत लोग निरक्षर थे। पूरे राज्य में केवल एक हाई स्कूल तथा चार पांच प्राइमरी स्कूल थे। पुर्तगाली सरकार नाम मात्र को सुधार और कल्याण का ढकोसला रचदिया करती थीं वाकी तो उनका जो शोषण क्रम चलता

था वह चल ही रहा था।

कब्राल ने सोचा उसकी पढ़ाई, उसकी जवानी और उसका यह जीवन यदि अपने देश के लिये नहीं लग सका तो उसकी सार्थकता क्या होगी ? लाखों लोग पुर्तगाली शोषण की चक्की में पिसते रहें और वह भी उन्हीं शोषकों की गुलामी करके कुत्ते की तरह उनके सामने दुम हिलाता रहे यह तो पशु से भी बदतर जीवन होगा। नहीं वह अपने देशवासी भाईयों में जागरण का शंख फूंकेगा। चाहे उसे सारा जीवन ही क्यों न बलिदान करना पड़े वह अपने देश की स्वतंत्रता के लिये काम करेगा।

१९५६ में कब्राल ने थोड़े से उत्साही नवयुवकों का एक राष्ट्रवादी दल गठित किया। उसका नाम रखा गया गिनी और केपवर्ड की स्वाधीनता के लिये अफ्रीकी दल जिसका संक्षिप्त नाम है पी० ए० आई० जी० सी० आरम्भ में इसका कार्य छुटपुट श्रमिक आन्दोलनों व हड़तालों के माध्यम से जन-जागरण करना था। आगे चलकर यही दल गिनी बिसाऊ का समर्थ राष्ट्रवादी दल बना और उसने पुर्तगालियों को गिनी बिसाऊ से बाहर खदेड़ने में सफलता पायी।

दल के गठित हुए कुछ ही वर्ष हुए थे कि गोदी कर्मचारियों की हड़ताल के सिलसिले में गोरी सरकार ने ५० अफ्रीकियों को गोलियों से भून कर रख दिया। इस घटना से कब्राल ने शिक्षा ली। नगरों से नहीं गांवों से, जहां पुर्तगाली सरकार की पहुँच कम है। निर्जन जंगलों में जहाँ आत्मरक्षा सम्भव है अपनी क्रान्ति के गढ़ बनाए जाय।

यह काम कोई हँसी खेल नहीं था। किसानों को क्रान्ति में साझीदार बनाना सहज कार्य नहीं था और फिर ऐसी स्थिति में तो यह और भी कठिन था जब पुर्तगाली दमन चक्र तेजी से चल रहा हो। कब्राल और उसके साथियों को बड़े दुख सहने पड़े। कई वर्षों तक वह पड़ोसी देश गिनी की राजधानी कोनाक्री में राजनैतिक कार्यकर्ताओं के लिये स्कूल चलाता रहा। स्कूल क्या था नगर के बाहर दो कमरों की एक छोटी सी कुटिया जहां बैठ कर कब्राल ने गिनी बिसाऊ को स्वतन्त्र कराने की सारी योजना गढ़ी, कार्यकर्ता तैयार किये थे। ये कार्यकर्ता गिनी बिसाऊ के ग्रामीण अंचलों में जाकर स्वतन्त्रता की अग्नि जलाया करते थे।

उसकी युद्ध पद्धति छापामार पद्धति थी। शठे शाठ्यम समाचेत् की रीति नीति अपनाने वाले कब्राल ने पुर्तगालियों की राज्य लिप्सा को पूरी तरह समझा था। वे खुले आन्दोलनों और असहयोग आन्दोलन की भाषा नहीं समझते थे। उन्हें तो शस्त्रों की भाषा में ही समझाना पड़ता था। इसलिये कब्राल ने विदेशी सरकारों से शस्त्रास्त्रों की सहायता भी ली। साम्यवादियों से भी उसे हथियार मिले थे। इसीकारण पुर्तगाली उसे साम्यवादियों का दलाल भी कहा करते पर वह था वस्तुतः राष्ट्रवादी—विशुद्ध राष्ट्रवादी।

पुर्तगालियों के विरुद्ध लड़ते हुए भी उसे पुर्तगालियों से कोई घृणा नहीं थी। छापामार संगठन का सेनानी होते हुए भी वह लुकाछिपी के इस खेल को सामयिक आवश्यकता से अधिक महत्व नहीं देता था। उसने अपने दल को निर्देश दे रखे थे—अपने देश की जनता से कुछ भी मत छिपाओ, उससे झूठ मत बोलो, अपनी असफलताओं पर पर्दा मत डालो और यह दावा भी मत करो कि चुटकी बजाते ही विजयी हो जाओगे।

एक वीर राष्ट्रवादी में जो गुण और जो सूझ बूझ होनी चाहिए, कब्राल उसका धनी था। पुर्तगाली शोषण ने जनता में वह माद्दा तो उत्पन्न कर ही रखा था कि कोई सेनानी आगे आये तो वे उसके पीछे चल कर स्वतंत्र हो जांय। फिर भी एक सशक्त उपनिवेश वादी सरकार से टक्कर लेना कोई हँसी खेल नहीं था। सत्ता अपने आपमें एक सामर्थ्य होती है। और फिर गिनि बिसाऊ वासी अशिक्षा और गरीबी से घिरे हुए जो थे।

गिनी की राजधानी के बाहर कुटिया बनाकर चार वर्ष तक राष्ट्र देवता की साधना करते हुए तपस्वी कब्राल ने पुर्तगाली सरकार के विरुद्ध सशस्त्र क्रान्ति करने की शक्ति संगठित करली। १९६२ में यह दल छापामार युद्ध के लिये तैयार हो गया। १९६७-६८ में इस संगठन ने गिनी बिसाऊ और केपवर्ड द्वीप समूह के आधे से भी अधिक भाग पर कब्ज़ा कर लिया। पुर्तगाली सरकार को इसकी आशंका ही नहीं थी। वे तो अफ्रीकियों

को निरे मिट्टी के माधो समझते थे। अब उसे पता चला कि कब्राल ने उनमें प्राण प्रतिष्ठा कर दी है।

पी० ए० आई० जी० सी के पास अब सात सौ से भी अधिक राष्ट्र भक्त नव युवक सैनिक तैयार हो गये थे। कब्राल के नेतृत्व में इस संगठन ने सरकार के समानान्तर शिक्षा प्रसार का कार्य अपने हाथ में लिया। गाँव-गाँव में स्कूल खोले गये जहां अक्षर ज्ञान के साथ गुरिल्ला युद्ध का प्रशिक्षण भी दिया जाता था। छापामार सेना की वृद्धि में ये स्कूल बड़े उपयोगी सिद्ध हुए।

स्कूलों के साथ ही नयी न्याय व्यवस्था भी लागू की गयी ताकि क्रान्ति की सफलता के पश्चात अराजकता न उत्पन्न हो जाय। एमिलकार कब्राल गिनि विसाऊ के इस स्वतंत्रता आंदोलन का सेनानी ही नहीं सिद्धान्त शास्त्री व मार्ग दर्शक भी था। यह उसके त्याग बलिदान से परिपूर्ण जीवन और कुशल नेतृत्व का ही सुपरिणाम था कि उसकी हत्या के बाद भी दल में कोई फूट न पड़ी न कार्य में किसी प्रकार शिथिलता आने पायी और वह अपने उद्देश्य में सफल हो गया।

उपनिवेश वादी पुर्तगाली सरकार कब्राल के संगठन की बढ़ती हुई छापा मार गतिविधियों को चुपचाप देखती नही रही। उसने भी कम जोर नहीं लगाया। सात हजार छापामारों को कुचलने के लिये उसने तीस हजार सैनिक गिनि विसाऊ भेजे। थल, जल और वायु सेना तीनों का उपयोग किया गया। अमेरिका से मिले एफ-८४ और बी-२६ बम वर्षकों से नापाम बम गिराकर पुर्तगाली वायुसेना ने गाँव के गाँव भूनकर रख दिये। कब्राल और उसके सहयोगी इस भयंकर गोलाबारी के बीच विमान भेदी तोपें साधे ईंट का प्रतिउत्तर पत्थर से देते रहे।

जो भू भाग छापामार राष्ट्रवादियों के हाथ आगया था वहां प्रशासन और नागरिक व्यवस्था जमाने की ओर भी कब्राल ने पूरा ध्यान दिया। गिनि बिसाऊ के निवासियों के लिये यह सुख सूर्य के उदय जैसा सुहाना अनुभव था। अब तक वे पुर्तगाली व्यापारियों द्वारा लूटे जाते रहे थे। अब उन्हें अपने खेतों में उपजायी फसल का पूरा मूल्य मिलने लगा था।

ग्रामीण क्षेत्रों को छापा मार राष्ट्रवादियों के कब्जे से मुक्त कराने के लिये नये प्रशासक जनरल स्पिनोला की नियुक्ति हुई। उसने ही कब्राल की हत्या करवायी। कब्राल की हत्या के लिये कुछ भाड़े के टट्टू स्वातंत्र्य सेना में भर्ती कराए गये। उन्होंने मौका देखकर २० जनवरी १९७३ को उसकी हत्या कर दी। हत्यारे पी० ए० आई० जी० सी० द्वारा पकड़ लिये गये उन्हें बाद में मृत्यु दण्ड दिया गया।

कब्राल देश हित बलिदान हो गया पर उसका अपना स्वप्न भी साकार होकर रहा। देश की स्वाधीनता के लिये समर्पित यह जीवन विश्व इतिहास की एक अमूल्य निधि है। कब्राल का यह जीवन हर देश के हर नव युवक के लिये एक आदर्श प्रस्तुत करता है।



लङ्का पर चढ़ाई के लिए समुद्र बाँधा जाने लगा। नल और नील की सहायता से सारे वन्दर-भालू लग गये। पहाड़ के पहाड़ लगाकर वन्दरों ने समुद्र पाटना प्रारम्भ कर दिया। एक गिलहरी धूल में जाती और थोड़ी सी धूल शरीर में ले जाकर समुद्र में डाल आती। राम ने पूछा—गिलहरी तेरे इस काम से समुद्र कैसे पट सकेगा? गिलहरी बोली भगवान! शुभ काम में अपनी जितनी सामर्थ्य है उसी से सहयोग देना भी पर्याप्त होता है. भगवान बड़े प्रसन्न हुए स्नेह से उसकी पीठ पर हाथ फेरा। कहते हैं गिलहरी की पीठ पर आज भी भगवान की अँगुलियों के निशान बने हैं।

सामर्थ्य कम है तो भी सत्कार्य में उसे पूरी तरह लगा देने वाला भगवान के प्यार एवं यश का भागीदार होता है।

पाब्लो नेरुदा—

जिनको कवितायें स्याही से अधिक लोहू से लिखी गयी हैं

सन् १६३६ की बात है। तब स्पेन में गृहयुद्ध छिड़ा हुआ था। एक ओर थी निहत्थी, निर्धन और शोषित जनता तथा दूसरी ओर थी सशस्त्र, समर्थ एवं बर्बर फासिस्ट सरकार। यों जनता सामान्यतः शासन की गतिविधियों क्रिया कलापों तथा नीतियों से इतना सरोकार नहीं रखती जितना कि अपने व्यक्तिगत और पारिवारिक जीवन तथा सुविधाओं से। सरकार चाहे जिन कारणों से जनता पर कर भार तथा दूसरे बोझ डालती रहे, वह बिना कुछ कहे सहती उठाती जीती जाती है। इसे जनता की विशेषता कहलें या दोष पर इतना अवश्य कहना पड़ता है कि वह बहुत सहनशील होती है।

लेकिन फिर भी सहनशीलता की एक सीमा होती है और वह सीमा जब पार कर जाती है वहाँ की सरकारी नीतियों और लादे गये बोझों से तो जन आक्रोश फूट पड़ता है। फिर भले ही सरकार राष्ट्रीय हो या विदेशी जनता के क्रोध से उसका बचपाना मुश्किल क्या असंभव ही रहता है। जनता के पास मनोबल होता है, ऊब होती है, विद्रोही भावनायें तथा शक्ति होती है और वह भले ही निहत्थी हो सरकार से टकरा जाती है। ऐसी दशा में विद्रोह को कुचलने के लिए सरकारी भी कुछ बाकी नहीं रखती। अपनी सैनिक शक्ति और शस्त्र बल को जो जनता के पैसे और खून पसीने से ही अर्जित होता है उसी को दमित करने में लगा देती हैं। स्पष्टतः यह जन कल्याण और स्वार्थ लिप्सा के बीच का संघर्ष है। जीत किसी भी पक्ष की हो, बुद्धिजीवी और सहृदय विचारशील व्यक्तियों का समर्थन तो जनता के पक्ष में ही जाता है।

परन्तु वे देश, जो आततायी शासन से सम्बन्ध रखते हैं अपने कुछ स्वार्थ साधने के लिए उस शासन की हर रीति नीति को आँख मूद कर समर्थन दिए चले जाते हैं। ऐसा ही एक देश चिली स्पेन के इस गृह युद्ध में वहाँ की सरकार के पक्ष में बोल रहा था। चिली की सरकार नहीं चाहती थी कि वहां का कोई नागरिक भी स्पेन की जनता का पक्ष ले। कोई ले भी नहीं रहा था परन्तु संसार उस समय हक्का बक्का रह गया जब चिली के राजानयिक अधिकारी पाब्लो नेरुदा ने जो उन दिनों स्पेन में ही थे अपनी सहानुभूति स्पेन की जनता के साथ होने की बात कही। दूसरे राष्ट्रों के मामले में राजनायिक अधिकारी का कुछ कहना उस देश की जिसका कि वह प्रतिनिधित्व कर रहा है अन्तिम राय मानी जाती है।

हांलाकि चिली का रुख इस सम्बन्ध में स्पष्ट था फिर भी जब नेरुदा ने यह कहा कि मेरी सहानुभूति निहत्थी इस्पहानी जनता के साथ है, यहाँ के फासिस्ट फौजी ताना शाह के साथ तो यह समझा जाने लगा कि चिली और स्पेन की तत्कालीन सरकार में कोई गम्भीर मत भेद हो गये हैं, जिससे चिली ने अपनी राय बदल दी है। परन्तु चिली सरकार को तो इस बात का अनुमान भी नहीं था कि नेरुदा यह कह जायेंगे। उसे जब यह पता चला तो स्पेन से नेरुदा को वापस बुला लिया गया। इसके पूर्व ही वे स्पेन छोड़ चुके थे—"यह कह कर कि जब तक स्पेन में जनता का शासन कायम नहीं हो जाता तब तक मैं यहाँ नहीं आऊँगा।

स्पष्ट है कि यह बात नेरुदा ने अपने आपको सर्वप्रथम मनुष्य होने के नाते से कही थी किसी देश विशेष के प्रति निधि होने के नाते नहीं। जिस पद और दायित्व पर रहकर वे अपने देश का प्रतिनिधि कर रहे थे उस पद से कोई व्यक्ति अपने मानवीय कर्तव्य बोध को इतने खरे पन और स्पष्टता से कह कर प्रकट करदे यह बहुत बड़े दुस्साहस की बात है। नेरुदा चिली के राजदूत थे, इस लिए उन्हें ऐसी कोई बात नहीं कहना चाहिए थी। यह बात ठीक है। परन्तु नेरुदा ने अपने आपको किसी भी बढे पद पर होने के बावजूद भी सर्वप्रथम मनुष्य माना। मनुष्य होने की यह गहरी अनुभूति ही उन्हें रा॰नयिक

औपचारिकता के कृत्रिम और अप्राकृतिक सीमा बन्धनों को तोड़ने के लिए विवश कर गयी।

स्वयं को मात्र मनुष्य समझते रहने के कारण उन्होंने ऐसे दायित्वों से भी स्वयं को सर्वथा विलग रखा जिन्हें ओढ़ने पर उन्हें यह लगता था कि उनका मनुष्य पंगु परतन्त्र और विवश हो जायगा। सन् १६७० की बात है चिली में राष्ट्र पति का चुनाव होने जा रहा था। वहाँ के राष्ट्रध्यक्ष पद हेतु नेरुदा का नाम प्रस्तावित किया गया। बड़ी ननुनच के बाद वे इसके लिए राजी हुए। परन्तु जब सुना कि उनके योग्य प्रतिभाशाली और अच्छे मित्र आयेंदे भी राष्ट्रपति बनने के लिए उत्सुक हैं तो उन्होंने अपना नाम वापस ले लिया। पहला कारण तो यह कि उन्हें राष्ट्रपति बनना रुचा नहीं और दूसरा कारण मित्रता का था। सहृदयता मैत्री और विश्वास को उन्होंने सब बन्धनों से परे कर दिया और अपने योग्य मित्र को अवसर देने के लिए अलग हट गये।

राजनीति में सक्रिय भाग लेने से पाब्लो नेरुदा क्यों उपराम हुए? यह एक दम अलग बात है। उनके व्यक्तिगत विषयों से सम्बन्धित है। फिर भी इतना तो कहा जा सकता है कि उस स्थिति में रहते हुए आगत भविष्य के लिए नेरुदा को यह अंदेशा था कि वे इन उत्तरदायित्वों का निर्वाह करते हुए अपने मूल व्यक्तित्व को खो देंगे। वे मूलतः कवि थे और एक ऐसे कवि जिसने अपनी कविताओं को स्याही से अधिक लोहू से लिखा था। उनकी कवितायें उस वर्ग के प्रति सहानुभूति और करुणा जाग्रत करती थी जो शताब्दियों से समाज के अभिजात कुलों द्वारा पैरों तले रौंदा जाता रहा है।

गरीबों और दीन दुखियों के प्रति उनकी कविताओं में सहानुभूति ही नहीं आक्रोश भी उभरता स्वस्थ आक्रोश जो उस व्यवस्था को तहस नहस कर देने के लिए उत्सुक है। जिसमें गरीब और श्रमजीवी वर्ग शोपण की चक्की में पिसते जाते हैं। पाब्लो नेरुदा की रचनायें इस दृष्टि से जीवन्त और प्राणवान् रही हैं। सरकार ने उन्हें सरकारी आदेश की अवहेलना के अपराध में वापस चिली तो बुला लिया परन्तु बाद में इस्पहानी शरणार्थियों की सहायता के लिए उन्हें पेरिस भी भेजना पड़ा। क्योंकि सरकार यह अच्छी तरह जानती थी कि इस काम को नेरुदा जितनी कुशलता से कर सकेंगे उतनी दक्षता से शायद ही कोई और कर पाये। व्यक्ति के हृदय में सेव्य के प्रति जितनी गहन करुणा आत्मीयता और निष्ठा होगी वह उतनी ही अच्छी सेवा भी कर सकेगा।

नेरुदा का जन्म स्पेन के ही एक मजदूर परिवार में हुआ था। उस समय पश्चिम के श्रमजीवियों की माली हालत इतनी बदतर थी कि लोगों को आश्चर्य होता वे ऐसी दशा में किस प्रकार जी रहे हैं। बचपन और यौवन ही नहीं उन्हें अपना सारा जीवन बड़ी आर्थिक तंगियों में गुजारना पड़ा। शायद इसी कारण उन्हें इस वर्ग की कठिनाईयों और समस्याओं का अच्छा ज्ञान था। और उनकी दृष्टि में इसके लिए जिम्मेदार था वह वर्ग जो श्रमिकों और किसानों के पसीने की मेहनत पर अपनी विशाल अट्टालिकायें खड़ी करता था।

उनके क्रान्तिदर्शी विचारों के कारण ही सम कालीन कवियों ने उन्हें कवि के रूप में मान्यता नहीं दी। कोई मान्यता दे या न दे कलाकार इसकी चिन्ता कहाँ करता है। उनकी कविताओं में गरीब और शोपितों का स्वर जितनी तीव्रता से मुखरित हुआ है उसी ने उन्हें स्टालिन पुरस्कार से सम्मानित करवाया।

सन् १६४७ में वे चिली की संसद के सदस्य भी चुने गये। जनप्रति निधि के रूप में उन्होंने चुन कर भेजने वाली जनता का जिस निर्भीकता से पक्ष लिया वह चिली के संसदीय इतिहास में गौरव का विषय बना है। लेकिन उन्हें अपनी निर्भयता के कारण ही बड़े बड़े खतरे झेलना पड़े। संसद सदस्य के रूप में उन्होंने तत्कालीन राष्ट्रपति गैब्रियल विडेला पर जब यह आरोप लगाया कि उन्होंने देश को अमेरिका के हाथों बेच दिया है। सरकार ने उन पर देशद्रोह का आरोप लगया। फलतः उन्हें देश छोड़ देना पड़ा। सरकार ने उन्हें सन् १६५३ में वापस चिली बुला लिया। वह उनको निर्दोप मानने लगी थी। वस्तुतः वे थे तो निर्दोप ही। सितम्बर ७३ में उनका देहान्त हो गया।



अनावश्यक वस्त्रों से सभ्यता और स्वास्थ्य को न मारें

वस्त्र इसीलिए पहने जाते हैं कि मनुष्य उनसे सभ्य दिखाई दे और गरमी के प्रभाव से भी शरीर को बचाये रखा जा सके। जिस समय सभ्यता का विकास आरम्भ नहीं हुआ था और मनुष्य अन्य प्राणियों की तरह जंगलों में ही रहता था। तब वह नग्न ही रहता था पेड़ों और वृक्षों पर कूदने फुदकने से लेकर गुफाओं में रहने तक मनुष्य का रहन सहन आदिम ढङ्ग का ही कहा जाता है। उस युग में मनुष्य सर्दी से बचने के लिए आग के आसपास ही अपनी रात गुजारता था और गर्मी के समय पानी में पड़ा रहता या रात को खुले आकाश के तले रहता।

फिर जैसे जैसे उसने सोचना शुरू किया वह पेड़ के पत्तों, तने की छाल और पशुओं के चर्म से अपने शरीर को ढकने लगा। उसी स्थिति से सीढ़ीदर सीढ़ी चढ़ते हुए हम आज नाइलोन, टेरीलिन, टेरीकाट, और रेशमी कपड़ों का प्रयोग करने लगे हैं। पहले तो जब मनुष्य अधिक सोच विचार नहीं कर सकता था तब कपड़ों का उपयोग केवल मौसम के प्रतिकूल प्रभाव से शरीर को बचाये रखने के लिए ही किया जाता था। पर जब से सोच विचार आरम्भ हुआ मौसम के प्रतिकूल प्रभाव से शरीर को बचाये रखने के साथ रहन सहन तथा जीवन पद्धति में 'सभ्यता' के स्तर का भी निर्माण हुआ तो वस्त्रों को विशेष आकार प्रकार दिया जाने लगा। वस्त्र व्यक्ति की सभ्यता के साथ साथ उसके स्तर का भी प्रतीक बने। मसलन राजा महाराजा और प्रतिष्ठित परिवारों के सदस्य ऐसे कपड़े पहनने लगे जिन्हें पहन कर कोई श्रम प्रधान कार्य न किया जा सके। चलने पर नीचे जमीन पर घिसटने वाले ढीले ढाले कपड़े उसी धारणा की देन हैं, जिसके अनुसार यह समझा जाता है कि वस्त्र व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा के परिचायक हैं।

उस समय प्रत्येक व्यक्ति की औकात उसके वस्त्रों से ही पहचानी जाती थी। कीमती, ढीले ढाले और पूरे शरीर को ढांपने के बाद भी फालतू पड़ने वाले कपड़े जहाँ व्यक्ति के अभिजात घराने का सदस्य होने का परिचय देते थे। वहीं कमर तक पहने गये मामूली से कपड़े और शेष शरीर का निवारण होना व्यक्ति के निर्धन तथा श्रम जीवी होने का परिचय प्रतीक था।

कपड़ों को विशेष ढङ्ग से तैयार कराने का एक कारण यह भी है कि प्रत्येक मनुष्य सुन्दर और शालीन दीखना चाहता है। यह अस्वाभाविक नहीं है। सुन्दर दीखने की आकांक्षा बुरी नहीं कही जा सकती। क्योंकि स्वाभाविक सौंदर्य में अपना एक आकर्षण होता है। जिसे देख कर हृदय में आनन्द और उल्लास का संचार होता है। प्रकृति की सुन्दरता और उसकी लुभावनी दृश्यावली मानवमन को सदा से नवीन स्फूर्ति देती आयी है। छोटे बच्चों का भोलापन और उनकी बाल सुलभ क्रीडायें कितनी प्यारी लगती हैं। फूलों के गुलदस्ते और उपवन—लगता है ईश्वर ने मनुष्य को उपहार स्वरूप रच कर भेंट किये हैं। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपने को आकर्षक दूसरों की दृष्टि का केन्द्र बनाये, दूसरों का ध्यान अपनी ओर खिंचने का प्रयत्न करे यह उचित ही है।

औचित्य के इस ऐहसास से प्रेरित होकर ही मनुष्य ने बालों में तेल डालकर कंघा करने और उन्हें संवारने, डाढ़ी बनाने से लेकर हँसने खेलने का स्वभाव व्यक्त करना सीखा। इसी शृंखला में कपड़ों को सुविधा जनक और विशेष ढङ्ग से तैयार करने का क्रम भी चला। साथ ही सभ्यता और शालीनता की रक्षा को भी महत्व दिया जाने लगा। वस्त्र पहन कर ही किसी के सामने जाया जाय, शरीर के गुह्य अङ्ग वस्त्रों से ढके रहें, वस्त्र साफ सुथरे और धुले हुए हों, भड़कीले न हों, आदि शिष्टाचार भी बरता जाने लगा।

मनुष्य की मान्यतायें निरन्तर गतिमान हैं। वे हमेशा बदलती रहती हैं। एक चीज कभी अच्छी समझी जाती है तो एक समय में उसकी उपयोगिता नष्ट होने के कारण व्यर्थ भी हो जाती है और ज्यादा रूढ़ होने पर हानिप्रद बन जाने से कुरीति भी बन जाती है। पर भौतिक आस्थायें—जिन्हें आदर्श भी कह सकते हैं—

सनातन ही रहते हैं। जैसे किसी काल में विवाह के समय दहेज देना उचित समझा गया हो पर आज वह अनुचित है। यह तो हुआ मान्यताओं का परिवर्तित होने वाला स्वरूप लेकिन अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य जैसे आदर्श सनातन महत्व रखते हैं। किसी को कष्ट देना हर काल में निंदित कर्म रहा है, झूठ बोलना हमेशा बुरा समझा जाता है। चोरी करने को कभी प्रशंसनीय कृत्य नहीं समझा गया। इसी प्रकार मनुष्यों के वस्त्रों का ढंग और उन्हें पहनने ओढ़ने का तरीका भले ही बदलता रहा हो पर एक मौलिकता उनमें सदा से रही है। वह यह कि वस्त्र शरीर की सुरक्षा के साधन बनें और उनसे सभ्यता का भी निर्वाह होता चले।

इन दिनों चुस्त पोशाक का जो फैशन चल पड़ा है उससे न तो सभ्यता का समुचित निर्वाह होता है और न ही शरीर की सुरक्षा सम्बन्धी आवश्यकता पूरी होती है। वस्त्रों का चुनाव करते समय जहाँ शरीर रक्षा, सुसज्जा, सुरुचिपूर्णता और शालीनता का दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिए वहाँ केवल फैशन का दृष्टिकोण प्रधान बन गया है। फैशन का सीधा अर्थ शौकिया तौर पर अपनाये जाने वाले रङ्ग ढङ्ग से है। और शौक केवल पूरा करने के लिए किया जाता है। उसका उन्माद न लाभ देखता है और न हानि। जैसे किसी जमाने में नाक छिदाकर नथ पहनने का रिवाज था। स्त्रियों में यह शौक आज भी खूब प्रचलित है। जबकि इससे लाभ कुछ नहीं है। अगर कोई प्रभाव होता भी है तो केवल हानि कारक ही है। फैशनेबल लोग इस पुराने ढर्रे का खूब मखौल उड़ाते हैं और अपने को आधुनिक तथा प्रगतिशील कहते हैं। पर उनकी वेशभूषा को लाभ हानि और औचित्य—अनौचित्य की कसौटी पर कसा जाय तो वजन हानि और अनौचित्य के पलड़े में ही ज्यादा रहेगा।

फैशन के तौर पर केवल शौक पूरा करने के लिए ऊलजलूल ढंग से कपड़े पहनना हमारे शारीरिक, मानसिक और सामाजिक स्वास्थ्य को किस बुरी तरह प्रभावित करता है—यह हम आगे चलकर देखेंगे। आजकल स्त्री-पुरुषों में खास तौर से युवक युवतीयों में चुस्त पोशाक पहनने की खब्त सी सवार है। तंग कपड़े पहनने से पहली हानि तो यह होती है इससे चलने फिरने और उठने बैठने की सुविधा जाती रहती है। तंग कपड़े पहन कर चलते समय पैरों को आसानी से उठाया और आगे बढ़ाया जाना असुविधाजनक हो जाता है। ऐसी कई घटनायें आये दिन सुनने में आती रहती हैं कि साईकिल का धक्का लग जाने पर या पैर फिसल कर गिर जाने से चुस्त पोशाक पहने युवक युवतियाँ उठकर खड़े होने में बड़ी कठिनाई महसूस करते हैं। कई अवसरों पर तो ऐसे युवक युवती बड़ी हास्यास्पद स्थिति में आ जाते है। हाल ही की घटना है। सिटी बस में सवार होते समय इसी तरह के वस्त्र पहने एक युवक हड़बड़ी में गिरपड़ा। जब वह उठने लगा तो पैण्ट बहुत तंग था और पैरों पर जोर डाल कर उठने से बड़ी बुरी तरह पीछे से उधड़ गया। लोगों को अपने पर हँसाता हुआ लुकता छिपता बेचारा बड़ी मुश्किल से घर पहुँचा।

इन व्यवहारिक कठिनाईयों के अतिरिक्त हमारे शरीर को हवा की भी आवश्यकता है। हमारा देश चूँकि गर्म जलवायु का है। इसलिए यहाँ के निवासियों को और ठण्डे देशों की अपेक्षा पसीना भी खूब आता है। उसे सूखने देने के लिए यह जरूरी है कि पर्याप्त हवा लगती रहे। हवा का प्रवेश ढीले वस्त्रों में ही सम्भव है। तंग कपड़ों में तो पसीना और गर्मी अन्दर ही अन्दर घुटती रहती है जो कई तरह की बीमारियाँ भी पैदा करती है। अमेरिका के एक डाक्टर ने चुस्त कपड़ों से होने वाले स्वास्थ्य सम्बन्धी हानियों का विश्लेषण करते हुए बताया है कि—'कसे हुए चुस्त कपड़े हमारे शरीर के रक्त परिभ्रमण कार्य में बाधा पहुँचाते हैं और इनसे दाद, खाज, खुजली, छाछन, जैसे चर्म रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

कस कर बँधे हुए कपड़ों से सम्बन्धित अङ्गों पर दाग पड़ते हुए भी देखे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त हमारे कोमल अङ्गों पर अनावश्यक घर्षण भी हानिकारक होता है। मनुष्य के गुप्तांग ऐसे ही अंग हैं। तंग कपड़ों से इन पर घर्षण और दबाव होता है। यही नहीं रक्त-संचार व्यवस्था रुकने के कारण फेफड़ों तथा हृदय जैसे महत्वपूर्ण अंगों पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है।

चुस्त और तंग पोशाक पहनकर व्यक्ति अपने स्वास्थ्य को हानि पहुँचाता है अपने अज्ञान का प्रदर्शन भी कराता

है। जान बूझ कर सही गयी असुविधा जो कोई मजबूरी नहीं है—अज्ञानता नहीं तो क्या है। पहले कैदियों को सँकरी कोठरियों में रहने और तंग कपड़े पहनने की सजा दी जाती थी। जिससे उनका मस्तिष्क प्रभावित हुए विना नहीं रहता था। कैदियों को इससे वड़ी घुटन और पीड़ा होती थी। अब उसी तरह की घुटन और पीड़ा स्वेच्छया वर्दाश्त की जाती है तो वह अज्ञानता नहीं तो क्या है।

फैशन के रूप में चुस्त और तंग कपड़ों के अलावा एक और अनर्थ यह हो रहा है कि उसके लिए लोग अपने अंगों को अधिक से अधिक उघाड़ा रखने में शान समझते हैं। शरीर के कुछ अङ्ग ऐसे हैं जिन्हें ढक कर रखा जाता है। ये अंग मनुष्य ने उसी समय से ढक कर रखना आरम्भ किया जब वह आदिम मानव से सभ्य मानव बनने की ओर अग्रसर हुआ ही था। ढका तो अब भी जाता है पर इस तरह कि वे और अधिक उभर कर दिखाई देने लगें। चुस्त और तग कपढ़ों के साथ शरीर की लज्जा ढके रखना स्वयं के और दूसरों के मानसिक स्वास्थ्य को वनाये रखने के लिए जरूरी है। पर जब वस्त्रों का उपयोग इस ढङ्ग से किया जाय कि वे उन अङ्गों को आवृत रखने के स्थान पर भौण्डे ढङ्ग से उभारें तो शर्मनाक परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। छेड़छाड़ और आवारागर्दी बढ़ाने के लिए लड़कों को ही दोषी ठहराया जाता है। पर लड़कियाँ भी कम दोषी नहीं हैं। वे भी इतनी ही दोषी हैं जितने कि लड़के। क्योंकि अशोभनीय और उच्छृंखलता को आमन्त्रित करने वाली पोशाक पहन कर वे एक तरह से इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करती हैं।

चालू पहनावे की तुलना में भारतीय परिधान निजित्व को वास्त्रावृत करने के लिए श्रेष्ठ है। महिलाओं को सिर से पैर त० सभ्य और शालीन ढङ्ग से ढक लेने वाली साड़ी तथा पुरुषों के लिए धोती कुर्ता इस प्रयोजन को पूरा करने के साथ मौसम और ऋतु के अनुकूल शरीर रक्षा में भी समर्थ हैं।

इसलिए आवश्यक है कि वस्त्रों का चुनाव करते समय इन दो वातों का ध्यान रखा जाय। पहला यह कि उनसे शरीर का वचाव हो और दूसरी यह कि सभ्य और शालीन दीखें। वस्त्रों का चुनाव व्यक्तित्व की गरिमा बढ़ाने के लिए किया जाय तो पहनने वाले के प्रति देखने वालों के मन में सम्मान जागता है। और यदि वे शालीनता की परिधि लाँघ कर चुस्त, अङ्गों का उभार जताने वाले हों तो आकर्षण को भड़काते हैं और कामुकता को उत्तेजित करते हैं।

सभी जानते हैं कि स्त्री के प्रति पुरुष का और पुरुष के प्रति स्त्री का अतिरेक पूर्ण आकर्षण मन पर बुरा प्रभाव उत्पन्न करने के साथ सामाजिक मर्यादाओं को तोड़ फेंकने के लिए भी उत्तेजित करता है। प्रतिलिंगी का निरन्तर चिन्तन शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक शक्तियों को क्षरित करता है। यों कोई भी यह पसन्द नहीं करेगा कि कि वह विषय लोलुप दीखे। पवित्रता की प्रतिभा नारियाँ और पौरुष के प्रतीक नर कोई भी अपनी अपनी गरिमा से गिरना नहीं चाहेंगे : किन्तु वस्तुस्थिति से परिचित न होने और परिचित होने पर भी तथ्य को स्वीकार न करने के कारण लोग फैशन का अन्धानुकरण करने लगते हैं।

> माता शारदामणि के सत्सङ्ग में एक महिला आती थी जिसका चरित्र अच्छा न था। इस पर अन्य भक्तों ने आपत्ति की कि इसे सत्सङ्ग में नहीं आने देना चाहिए। माताजी ने कहा—पुत्रो! क्या गङ्गा किसी से यह कहती है कि तुम बहुत मैले कुचैले हो मेरे जल में प्रवेश न करो? अपने को किसी से अधिक पवित्र मानना मुझे तो दम्भ ही लगता है। किसी के सङ्ग से कोई उठता गिरता नहीं। अपनी आत्मिक भावनाओं से ही मनुष्य का कल्याण और अधःपतन होता है।

इस अन्धानुकरण के दुष्परिणाम से न व्यक्ति बच सकता है और न समाज। इसलिए गम्भीरता के साथ यह वात स्वीकार की जानी चाहिए कि हमारे देश में तंग कपड़े पहनने का अर्थ है स्वास्थ्य के सामान्य ज्ञान का अज्ञान, शिष्ट और शालीन आचरण से पलायन तथा लोगों के मन और मस्तिष्क पर आक्रमण। तीनों ही परिणाम अहितकर हैं। इसलिए जिनमें थोड़ा सा भी विवेक है वे चुस्त कपड़ों का वहिष्कार करें और मानसिक शारीरिक स्वास्थ्य तथा सभ्य व शालीन बनने की राह पर अग्रसर हों।



स्वर्ग का अवतरण

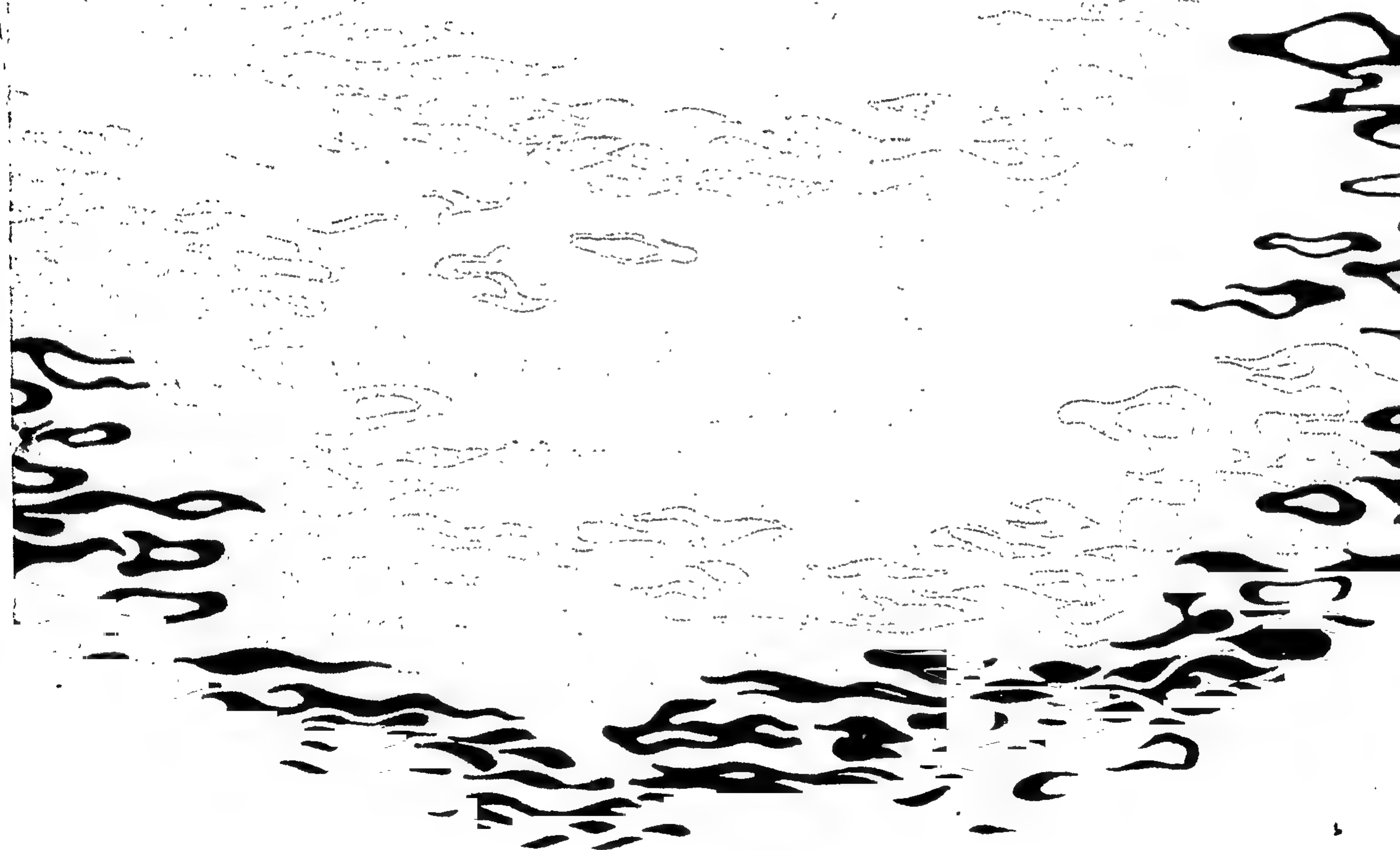
है जरूरत जिस अनूठे स्वर्ग-सुख के अवतरण की।
कर रहे हैं सृष्टि हम सब, आज उस वातावरण की॥
आज हम "ममता" करुणिमा सभी पर बरसा रहे हैं।
रो रहे-दुखिया जनों को, कर प्रयत्न हँसा रहे हैं॥
प्यार से सहला रहे है, दर्द से दुखती रगों को।
दे रहे हल्की थपक, पथ के थके-हारे पगों को॥
हम चले—पीछे चली हैं शृंखलाएँ अनुसरण की।
कर रहे हैं सृष्टि हम सब आज उस वातावरण की॥
हैं हमारे हित बराबर-आज गोरे और काले।
मात्र मानव सब—न ऊंची या कि नीची जात वाले॥
हम न करते भेद अब धनवान या निर्धन जनों में।
जन्मती गुण-कर्म के आधार पर श्रद्धा मनों में॥
भाषणों की हैन—"समता" बात है अब आचरण की।
कर रहे हैं सृष्टि हम सब आज उस वातावरण की॥
स्वच्छता केवल न तनकी—आज मन की कर रहे हैं।
त्यागकर कापाय-कलमप, भव्यता नव भर रहे हैं॥
मोह-मद-लोभादिकों की, जंग मन पर से हटायी।
अमित पावनता, अलौकिक दिव्यता मन में समायी॥
आज "शुचिता" ही बनी, सुषमाहृदय के आभरण की॥
कर रहे हैं सृष्टि हम सब आज उस वातावरण की॥
दे रहे विस्तार हम सद्भावनाओं को—मनुज की।
कर रहे चिंता स्वयं अग्रज यहाँ पहले अनुज की॥
वैमनस्य कहीं नहीं है—नीतियां ऐसी बनी हैं।
भावनाएँ अब सभी की प्रीति के मधु में सनी हैं॥
"एकता" की भूमि ही आधार—हर वढ़ते चरण की।
कर रहे हैं सृष्टि हम सब आज उस वातावरण की।
दे रहे सौहार्द्य की गंगा—हृदय के मरु थलों को।
त्याग सेवा-साधना-सौजन्य, नय रूठे पलों को॥
लक्ष्य सहृदयता हमारा—प्राणियों में स्नेह भरना।
पुर्नजन्म ममत्व को दे, सर्व व्यापी उसे करना॥
आ गयी वेला गहन "आत्मीयता" के शुभ वरण की॥
कर रहे हैं सृष्टि हम उस स्वर्ग सुख के अवतरण की॥

—माया वर्मा

सम्पादक—भगवती देवी शर्मा सह सम्पादक—रमेश ज्योतिर्मय, प्रकाशक, मुद्रक—लीलापत शर्मा
स्वामी—युग-निर्माण योजना ट्रस्ट मथुरा द्वारा युग-निर्माण प्रेस, मथुरा।

अखण्ड ज्योति

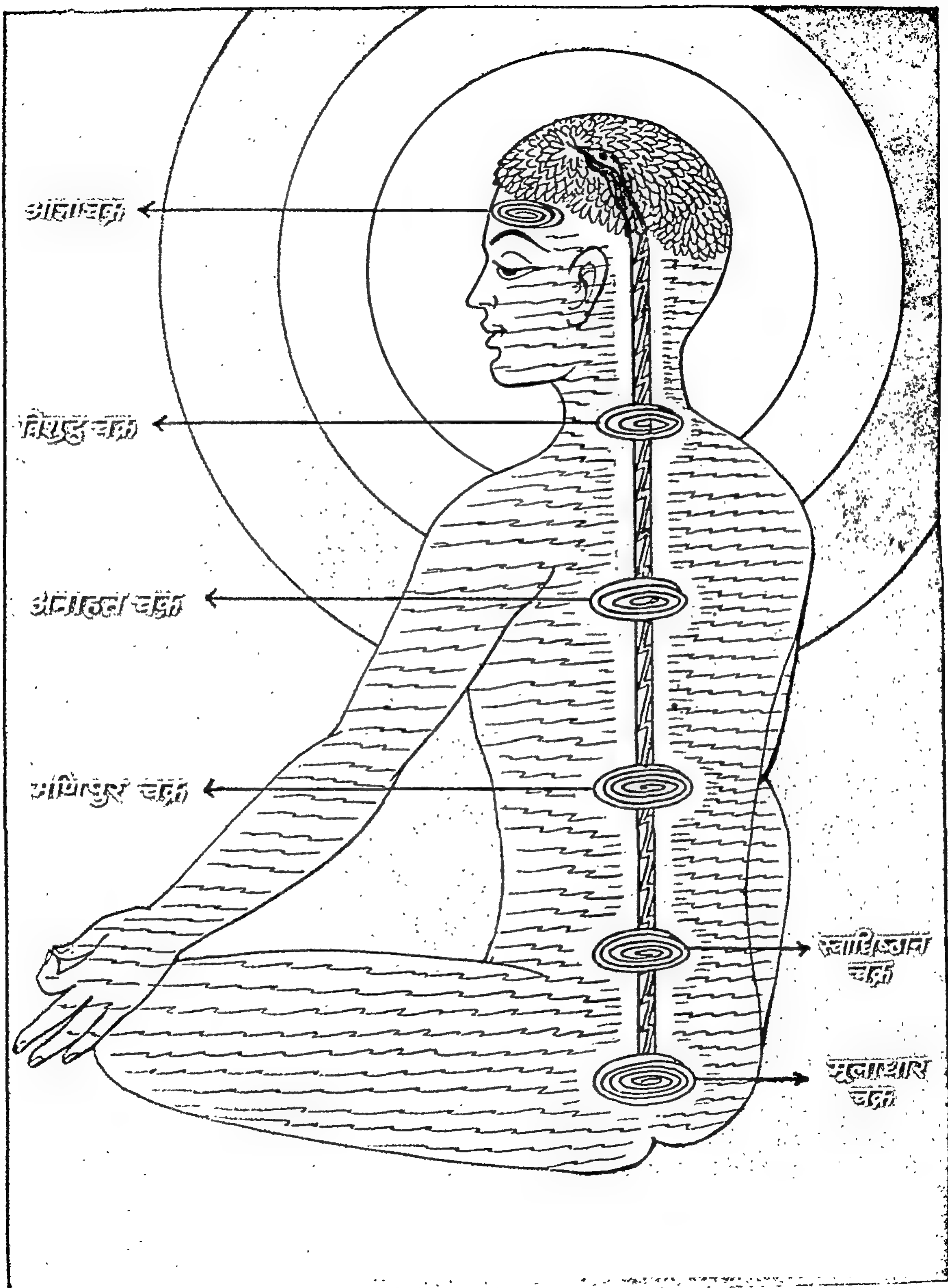
V. ...



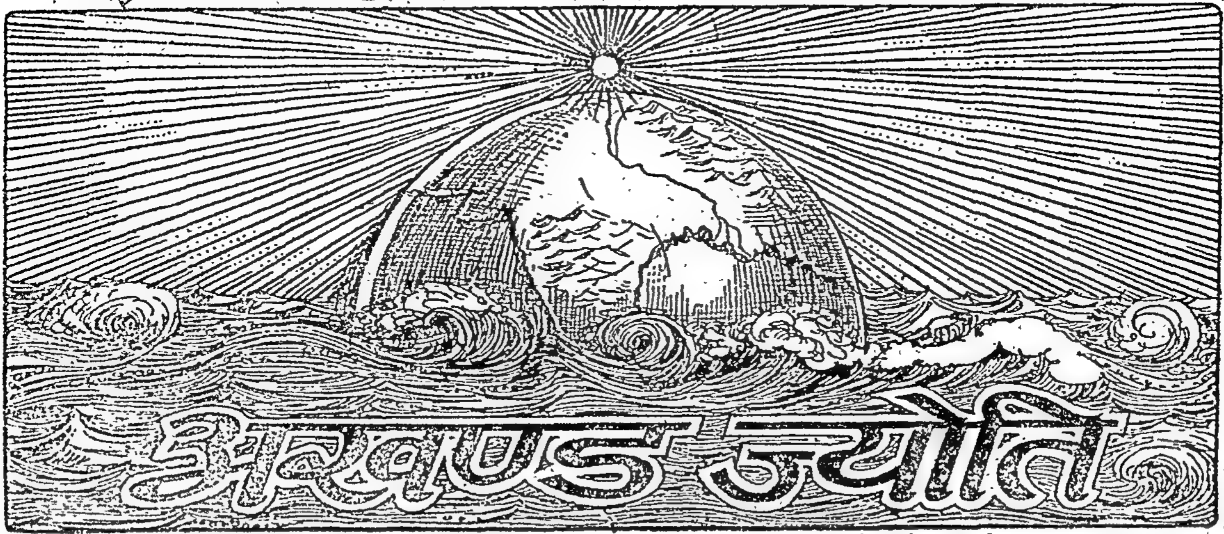
कहाँ क्या है ?

सर्वतोमुखी प्रगति के दो आधार—
अध्यात्म और विज्ञान १
आत्मिक प्रगति के लिए साधना की आवश्यकता २
आत्म-परिष्कार की साधना दूरदर्शी बुद्धिमत्ता ५
सद्ज्ञान और सत्सामर्थ्य की समन्वित साधना ७
ब्रह्म विद्या का उद्देश्य—श्रद्धा का सम्वर्धन ९
वर्चस् की साधना आत्म-बल उभारने के लिए ११
ब्रह्म वर्चस् के ज्ञान-विज्ञान की तात्विक पृष्ठभूमि १५
गायत्री का धियः तत्व ब्रह्म—विज्ञान १७
गायत्री का भर्ग तत्व ब्रह्म वर्चस् २१
गायत्री का प्राणवान ब्रह्म-तेज २७
सावित्री शक्ति का महाप्राण सविता ३०
पाँच कोशों की स्थिति और प्रतिक्रिया ३३
पांच कोश और उनका अनावरण ३६
नाभि-चक्र अन्नमय कोश का प्रवेश द्वार ३९
प्राणायाम से प्राणमय कोश का परिष्कार ४३
मनोमय कोश और आज्ञाचक्र ४८
विज्ञानमय कोश का केन्द्र संस्थान हृदय-चक्र ५२
आनन्दमय कोश का अमृत कलश ५८
कुण्डलिनी महाशक्ति का स्वरूप और रहस्य ६४
कुण्डलिनी जागरण से आत्मिक
और भौतिक सिद्धियाँ ७०
आत्मशोधन और प्रायश्चित्त प्रक्रिया ७४
अपनों से अपनी बात ७६
साधना स्वर्ण जयन्ती वर्ष और उसकी पूर्णाहुति ७९
नई पीढ़ी को सुसंस्कृत बनाने की एक वर्षीय शिक्षा ८०
गायत्री विद्या के अमूल्य ग्रन्थरत्न ८१

पता—अखण्ड-ज्योति संस्थान, मथुरा।


आज्ञाचक्र
विशुद्ध चक्र
अनाहत चक्र
मणिपुर चक्र
स्वाधिष्ठान चक्र
मूलाधार चक्र

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।



वर्ष ४०
अङ्क ४

अप्रैल १९७७

वार्षिक चन्दा १२)
दस वर्ष का चन्दा १००)

* सर्वतोमुखी प्रगति के दो आधार—अध्यात्म और विज्ञान *

अध्यात्म और विज्ञान का युग्म है। एक के विना दूसरे का निर्वाह नहीं। भोजन पकाने की विधि विदित न हो तो खाद्य सामग्री सामने रहने पर भी सामान की बर्वादी होती रहेगी, किन्तु पेट न भर सकेगा। इसी प्रकार पाक विद्या में निष्णात व्यक्ति भी पदार्थों के अभाव में अपने को असहाय अनुभव करेगा और भूखा मरेगा।

भौतिक जगत के हर क्षेत्र में ज्ञान और विज्ञान को साथ लेकर चलना पड़ता है। जानकारी और सामग्री का समन्वय ही गति चक्र को अग्रगामी बनाता है। आत्मिक जगत में भी यही तथ्य सुनिश्चित है। चिन्तन में उत्कृष्टता और कर्तृत्व में कुशलता का समावेश हुए बिना परिष्कृत जीवन-क्रम का आधार बन ही नहीं सकता। प्रगति चाहे भौतिक हो, चाहे आत्मिक दोनों के ही लिए अपने-अपने स्तर के ज्ञान और विज्ञान की—अनुभव और साधन की आवश्यकता रहेगी ही।

आत्मिक प्रगति के लिए भावनाओं में दिव्य सम्वेदनाओं और उच्चस्तरीय आस्थाओं को विकसित करना होता है। इसी को श्रद्धा और भक्ति कहते हैं। आदर्शवादी—अध्यात्मवादी उत्कृष्ट प्रतिपादनों के प्रति प्रगाढ़ आस्था परिपक्व करना यही अन्तःजगत का ज्ञान पक्ष है। इसे तत्व दर्शन एवं ब्रह्म ज्ञान कहते हैं। इसे उपलब्ध करने के लिए काम-काजी 'अकल' काम नहीं करती, वरन् ऋतम्भरा, प्रज्ञा का आश्रय लेना पड़ता है।

आत्मिक जगत का विज्ञान पक्ष है—आत्मबल-ब्रह्म तेज। सङ्कल्प की प्रखरता और सघन आत्म-विश्वास के आधार पर विकसित प्रचण्ड साहसिकता से उस प्रसुप्त क्षमता को जागृत होने का अवसर मिलता है जिसे इस विश्व की सर्वोपरि सामर्थ्य और सम्पत्ति कहा जा सकता है। आत्मज्ञान और आत्म तेज के समन्वय से ही समग्र अध्यात्म बनता है। दोनों को साथ लेकर चलने से ही सर्वतोमुखी आत्मिक प्रगति का लाभ मिलता है।

आत्मिक प्रगति के लिए साधना की आवश्यकता

यह शरीर जिसे अज्ञानवश सब कुछ मान लिया गया है, आत्मा का वाहन उपकरण मात्र है। पदार्थों के सम्पर्क से उपलब्ध होने वाली सम्वेदनाएँ भी चेतना की सजगता से ही सम्भव होती हैं। चेतना ही इच्छा, विचारणा और क्रिया के माध्यम से जीवन की विभिन्न गतिविधियों का संचार संचालन करती है। यों जीवित शरीर रहता है, पर जीवन तत्व का समस्त आधार चेतना के—आत्मा के—साथ जुड़ा हुआ है।

मनुष्यों की काया संरचना में कोई बहुत बड़ा अन्तर नहीं होता। मनः संस्थान भी लगभग एक जैसे होते हैं। साधनों और परिस्थितियों में थोड़ा बहुत अन्तर तो रहता है, पर यह सब भिन्नताएँ ऐसी नहीं हैं, जिनके कारण मनुष्य-मनुष्य के बीच आकाश-पाताल जैसा अन्तर दिखाई पड़े। रुग्ण, अपङ्गों एवं बाल-वृद्धों की बात छोड़ दें और मध्यवर्ती लोगों की स्थिति का तुलनात्मक अध्ययन करें तो विदित होगा कि उनमें से कुछ बुरी तरह पिछड़े हुए, अभावग्रस्त और संक्षोभों में जकड़े हुए दुःखित, असन्तुष्ट और विपन्न स्थिति में रह रहे हैं। कुछ ऐसे हैं जो न दुःखी हैं, न सुखी। न पतित हैं, न समुन्नत। किसी प्रकार यन्त्रवत् जी रहे हैं। कुछ ऐसे हैं जिनकी प्रतिभा चमकती है। वे ऊँचा सोचते और ऊँचा करते हैं। अपनी साहसिकता के बल पर वे जिधर भी चलते हैं सफलताएँ छाया की तरह पीछे चलती हैं। स्वयं श्रेय, सम्मान पाते हैं और अपने प्रभाव क्षेत्र को समुन्नत बनाने की महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ऐतिहासिक महामानवों की श्रेणी में गिने जाते हैं, और दिवंगत हो जाने पर भी अपनी ऐसी अनुकरणीय परम्पराएँ छोड़ जाते हैं, जिनका अनुगमन करते हुए चिरकाल तक असंख्य लोग प्रगति पथ पर अग्रसर होते हैं।

पतित, यान्त्रिक और समुन्नत स्तर के मनुष्यों के बीच पाये जाने वाले अन्तर का एकमात्र कारण चेतना की स्थिति में भिन्नता होना ही है। प्रयत्न करने पर शरीर और पदार्थ का सुखद संयोग मिलता है और भौतिक स्थिति समृद्ध बनती है। यही प्रयत्न चेतना को सुसंस्कृत बनाने के लिए किया गया होता, तो निश्चय ही वहाँ भी प्रगतिशीलता दृष्टिगोचर होती—बलिष्ठता और सम्पन्नता का लाभ मिलता। दुर्भाग्य से चेतना के सम्बन्ध में नितांत उपेक्षा बरती जाती है, उस पर छाई हुई तमिस्रा को निरस्त करने का प्रयत्न किया गया होता तो स्थिति कुछ दूसरी ही होती। दैन्य, उद्वेग और सन्ताप निश्चित रूप से आन्तरिक पिछड़ेपन के ही चिह्न हैं। उसी के कारण ईश्वर के सर्वश्रेष्ठ उपहार—मानव जीवन का लाभ नहीं मिल पाता। जिस शरीर के लिए समस्त जीवधारी तरसते हैं उसे पाकर भी यदि मनुष्य दयनीय दुर्दशा का अभिशाप सहता है तो उसे परले सिरे का दुर्भाग्य ही कहना चाहिए।

चेतना का महत्व समझा जा सके, उसकी प्रगति और परिष्कृति को जीवन का सच्चा लाभ, उपलब्धियों का आधार और आनन्द का उद्गम समझा जा सके तो प्रतीत होगा कि दूरदर्शिता इसी में है कि आत्मिक प्रगति के उस स्वार्थ साधन पर ध्यान दिया जाय जिसे परमार्थ कहा जाता है। आन्तरिक प्रगति में आत्मिक और भौतिक दोनों ही प्रकार के लाभ मिलते हैं जब कि चेतना को, गई-गुजरी स्थिति में पड़े रहने देने पर, मात्र भौतिक सम्पन्नता की बात सोचते रहने पर—व्यक्तित्व के घटिया रहने के कारण पग-पग पर असफलताएँ ही मिलती हैं और असन्तोष, विक्षोभ ही पल्ले बँधता रहता है।

जीवन तत्व के स्वरूप और साफल्य पर विचार किया जा सके तो एक ही निष्कर्ष निकलेगा कि सर्वतोमुखी प्रगति और सुस्थिर प्रसन्नता के लिए चेतना को परिष्कृत एवं परिपुष्ट बनाना—भौतिक सम्पन्नता के लिए की जाने वाली चेष्टाओं से भी अधिक महत्वपूर्ण है। उस दिशा में ध्यान देने और प्रयत्न करने से दोनों लोक सधते हैं जब कि उपेक्षा बरतने से छाया हुआ अन्धकार केवल भटकाव ही देता है और ठोकरों पर ठोकरें खाने—रोने-कलपने के लिए एकाकी छोड़ देता है। समझदारी इसी में है कि इस

स्थिति का अन्त किया जाय। दूरदर्शिता इसी में है कि जीवन सम्पदा का श्रेष्ठतम सदुपयोग कर सकने योग्य चेतना का स्तर ऊँचा उठाने में अत्यन्त प्रयत्न किया जाय। जिसने ऐसा सोचा और किया समझना चाहिए कि वही जीवन क्षेत्र का सच्चा कलाकार है। इसी कलाकारिता को आत्म-साधना कहते हैं।

मानवीसत्ता एक छोटी इकाई है। उसका प्रत्यक्ष और परिचित स्वरूप इतना ही छोटा है जिसे श्रमिक, कृषक, शिल्पी, व्यवसायी, बुद्धिजीवी आदि कहा जा सके। उस स्तर का भरपूर उपयोग कर लेने पर भी मात्र सुख-सुविधा के थोड़े से साधन जुटाये जा सकते हैं। दर्प प्रदर्शित करने का थोड़ा बहुत अवसर मिल सकता है और सस्ती वाहवाही की यत्किंचित गुदगुदी गुदगुदाई जा सकती है। इतना भी नीतिपूर्वक और औचित्य के आधार पर नहीं बन पड़ता। उसके लिए भी निरन्तर कुचक्र रचने और कुकर्म करने पड़ते हैं। इतने प्रयत्न का यदि आधा-चौथाई भी आत्मोत्कर्ष के लिए—चेतनात्मक परिष्कार के लिए किया जा सके तो उसका प्रतिफल कोयले बीनने की तुलना में मोती ढूँढ़ने जैसा उच्चस्तरीय हो सकता है।

आध्यात्म विज्ञान की गरिमा भौतिक विज्ञान से कम नहीं अधिक महत्व की ही है। दोनों के लाभों को देखते हुए एक को महान दूसरे को तुच्छ कहा जा सकता है। शरीर और चेतना की तुलना में श्रेष्ठता आत्मा की ही है। इसी प्रकार लाभों की दृष्टि से भी भौतिक समृद्धि की तुलना में आत्मिक विभूतियों को ही गरीयसी कहा जायगा। अस्तु विचारणीय यह है कि हम एकांगी प्रगति की बात न सोचें। भौतिक सुविधाओं के साथ-साथ आत्मिक गरिमा बढ़ाने का भी प्रयत्न करें। शरीर की भूख बुझाना उचित है, पर आत्मा को भी क्षुधा, पिपासा से ग्रस्त-त्रस्त नहीं रहने देना चाहिए। इसी सन्तुलित विवेकशीलता का नाम आध्यात्मिकता है। इस अवलम्बन को अपनाकर हम खोते कुछ नहीं, वरन् उभय-पक्षीय लाभ उठाते हैं। भौतिक समृद्धियों और आत्मिक विभूतियों का लाभ उठाना ऐसी बुद्धिमत्ता है जिसे मानवी गरिमा के उपयुक्त ही कहा जा सकता है।

स्पष्ट है कि पंच भूतों से बने शरीर की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए भौतिक साधनों और शरीरों का सघन सहयोग इकट्ठा करना पड़ता है। ठीक इसी प्रकार आत्मिक प्रगति के लिए उसी स्तर की सम्वेदनाओं, विचारणाओं और शक्ति साधनों से सम्बन्ध बनाना पड़ता है जो विश्व-व्यापी चेतना क्षेत्र में बिखरी पड़ी हैं। जड़ और चेतन की दो सत्ताओं का अस्तित्व सर्वमान्य है। जड़ इन्द्रिय गम्य हैं और चेतना इन्द्रियातीत। एक को स्थूल, दूसरे को सूक्ष्म कहते हैं। सूक्ष्म का अर्थ है वह क्षेत्र जो बुद्धि और अन्तःकरण से तो जाना जा सकता है, पर उसकी सिद्धि प्रयोगशाला में नहीं हो सकती। विज्ञानवेत्ता जानते हैं कि इस विश्वमें पदार्थ की मूलसत्ता परमाणुओं के रूप में है और शक्ति रूप एवं व्यापक है। यह अपरा प्रकृति है। ताप, ध्वनि, विद्युत की क्षमताएँ सघन होकर पदार्थों के रूप में सामने आती हैं। भाप, द्रव और ठोस परिस्थितियों पर पदार्थों का रूपान्तरण होता रहता है। उत्पादन अभि-वर्धन और परिवर्तन की प्रक्रिया इस प्रत्यक्ष संसार को गतिशील बनाये रहती है। आत्म-विज्ञानी मानते हैं कि इस निखिल विश्व-ब्रह्माण्ड में चेतना का महासागर भरा पड़ा है। जीवसत्ताएँ उसी की लहरें हैं। जीव के पास जो कुछ है वह व्यापक ब्रह्मतत्व का एक छोटा-सा अंश है। बल्व में बिजली घर के विपुल शक्ति भण्डार का एक नगण्य-सा अंश ही चमकता है। ठीक इसी प्रकार व्यापक ब्रह्माण्डीय चेतना का एक अति स्वल्प भाग ही मनुष्य अपने उपयोग में ला पाता है। आत्मा की अणुसत्ता परमात्मा की विभुसत्ता का स्वल्पांश है। इसलिए उसकी चेतना शरीर निर्वाह, परिवार पोषण एवं यत्किंचित सामाजिक प्रभाव उत्पन्न करने तक ही सीमाबद्ध बनी रहती है। इतना होते हुए भी यह सम्भावना विद्यमान है कि प्रयत्न पूर्वक उस ससीम को असीम किया जा सके।

बीज देखने में तुच्छ है, पर उसमें सूक्ष्म रूप से विशाल वृक्ष की समस्त सम्भावनाएँ विद्यमान हैं। शुक्राणु तनिक-सा होता है, पर उसमें एक पूरे मनुष्य का शारीरिक, मानसिक ढाँचा सुरक्षित एवं सुनिश्चित रहता है, परमाणु की स्थिति एक प्रचण्ड सूर्य जैसी है। उपयोग में न आने पर तो तिजोरी में धन भरा रहने पर भी दरिद्रता का दुःख उठाना पड़ सकता है। सुयोग्य व्यक्ति भी

अयोग्यों जैसे दुर्दशाग्रस्त पाये जाते हैं। पर यदि उपलब्ध क्षमता का श्रेष्ठ उपयोग हो सके तो लघु में भी महान का अवतरण हो सकता है। जीव उस ब्रह्म से सम्बन्ध मिला कर यदि आदान-प्रदान का द्वार खोल सके तो वर्तमान की अपेक्षा अगले ही दिन उसकी स्थिति में भारी सुधार परिष्कार सम्भव हो सकता है। उसकी क्षमता असंख्य गुनी बढ़ सकती है। जीरो नम्बर का बल्व तनिक-सी रोशनी देता है, पर यदि उसी 'होल्डर' में हजार वाट का बल्व लगा हो तो तार में चलने वाली बिजली उसी अनुपात से अपना करेन्ट देना आरम्भ कर देगी। व्यक्तित्व का स्तर बढ़ा लेने पर व्यष्टि चेतना को समष्टि चेतना के अजस्र अनुदान मिल सकते हैं। भौतिक योग्यता बढ़ने पर पारिश्रमिक और पद की वृद्धि होती है। आत्मिक क्षमता बढ़ने पर ब्रह्माण्डीय चेतना के समुद्र से व्यक्ति चेतना को बहुमूल्य उपहार मिलते रहने का क्रम चल पड़ता है। छोटे बैंक यदि रिजर्व बैंक से सम्बद्ध हैं तो आवश्यकतानुसार अपनी क्षमता के आधार पर भारी आदान-प्रदान का लाभ उठा सकते हैं। इसी प्रकार यदि व्यक्ति की आन्तरिक पात्रता एवं क्षमता बढ़ सके तो उसे संव्याप्त ब्रह्म तत्व से ऐसे अनुदान मिल सकते हैं जो उसके स्तर को असंख्य गुना सुसम्पन्न बना सकें। अध्यात्म विज्ञान के अन्तर्गत साधना विधान की संरचना इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए की गई है।

आत्म-साधना का तात्पर्य है—व्यक्ति चेतना के स्तर को इतना परिष्कृत करना कि उस पर ब्रह्म चेतना के अनुग्रह का अवतरण सहज सम्भव हो सके। यह मान्यता सही नहीं है कि देवता का मनुहार करने पर वे प्रसन्न होते हैं और भक्त को—याचक को कृपापूर्वक मनोवाञ्छित वरदानों से लाद देते हैं। सचाई यह है कि आत्म-साधक अपनी पात्रता विकसित करता है और तद्नुरूप पद वृद्धि के साथ जुड़े रहने वाले अनेकों लाभ प्राप्त करता है। नहर जितनी चौड़ी गहरी होती है उसी अनुपात से नदी का जल उसे उपलब्ध होता है। आत्मिक वरिष्ठता बढ़ाने के प्रयास में जितनी सफलता मिलती है उसी आधार पर दैवी अनुदान बरसने आरम्भ हो जाते हैं। वृक्षों का चुम्बकत्व वर्षा के बादलों को बरसने के लिए विवश कर देता है। व्यक्ति चेतना का चुम्बकत्व सूक्ष्म जगत से ऐसी विभूतियाँ पकड़ लेता है जिनके आधार पर वह सामान्य से असामान्य बन सके। नर-पशु के स्तर का जीवनयापन करने वाले लोग जब नर-नारायण के रूप में परिवर्तित हो रहे हों तो उसका कारण आन्तरिक परिवर्तन को ही समझा जाना चाहिए। अध्यात्म साधनाओं का उद्देश्य आत्म-परिष्कार ही है।

कृषि कर्म के लिए खाद, पानी, श्रम, औजार आदि का प्रबन्ध करना पड़ता है। व्यवसाय आदि सभी प्रयोजनों के लिए तद्नुरूप साधन जुटाने पड़ते हैं। आत्म-परिष्कार एवं आत्म-विकास के लिए भी साधनों की जरूरत पड़ती है। बिजली घर की बिजली—हमारे घर के पंखे तक ऐसे ही उछल कर नहीं आ जाती, पर इस फासले में सम्बन्ध सूत्र जोड़ने वाले तार बिछाने पड़ते हैं। ब्रह्माण्डीय चेतना से उपयुक्त अनुदान व्यक्ति चेतना को मिल सके इसके लिए दोनों के क्षेत्रों के बीच आदान-प्रदान सम्भव बनाने वाले सूत्र जोड़ने पड़ते हैं। साधना इसी को कहते हैं। आत्मिक सिद्धियों की उपलब्धि साधना के सहारे ही सम्भव होती है।

यह किसी ने कभी नहीं कहा कि शरीर निर्वाह और सांसारिक उत्तरदायित्व के निर्वाह की उपेक्षा की जाय। उसे निबाहने के बिना तो गति ही नहीं। उसे करते हुए आत्मिक प्रगति के लिए बहुत कुछ किया जा सकता है। कठिनाई एक ही है कि अपनी दृष्टि में हम मात्र शरीर हैं। अतएव इच्छाएँ, विचारणाएँ एवं क्रियाएँ भी उसी स्तर तक सीमित रखते हैं जो शरीर सुख प्रदान कर सकें। इस असन्तुलन को सन्तुलन में बदला जाना चाहिए और सोचा जाना चाहिए कि शरीर में आत्मा का भी अस्तित्व है। प्रगति का अवसर आत्मा को भी मिलना चाहिए। बाह्य सुविधाओं की तरह यदि आन्तरिक गरिमा का महत्व समझा जा सके तो निश्चित रूप से हम आत्मिक प्रगति की उपयोगिता समझेंगे और उसके लाभों को समझते हुए अपना ध्यान और प्रयास उस दिशा में ही नियोजित करने का प्रयत्न करेंगे। जीवन दर्शन पर जितनी गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय उतना ही आत्म-साधना का महत्व स्पष्ट होता चला जाता है।

❖

आत्म-परिष्कार की साधना-दूरदर्शी बुद्धिमत्ता

परिष्कार की प्रवृत्ति सामाजिक क्षेत्र में सभ्यता और आन्तरिक क्षेत्र में संस्कृति कहलाती है। शिल्पी, कलाकार, चिकित्सक, शिक्षक, विज्ञानी, माली आदि वर्गों के लोग अपने श्रम और मनोयोग का उपयोग सृजनात्मक प्रयोजनों के लिए करते हैं। अनगढ़ को सुगढ़ बनाते हैं। यह धरती जिस पर हम रहते हैं, अपने जन्म काल में ऐसी न थी। इसे प्रयत्नपूर्वक वह रूप दिया गया है, जिसमें कि आजकल रह रहे हैं। प्राणियों के जन्म और जीवन की व्यवस्था बन जाने के समय भी यह धरती खार-खड्डों से, झाड़-झंखाड़ों से, जलाशयों, दलदलों और दुर्लघ्य अवरोधों से पटी पड़ी थी। उस पर किसी तरह वन्य जीवन ही जिया जा सकता था। मनुष्य ने अपने सङ्कल्प, श्रम एवं कौशल के आधार पर उसे समतल किया, रास्ते बनाये, कृषि, पशु पालन, औजार, अग्नि, वाहन आदि के उपाय ढूँढे और क्रमशः सामाजिकता, शासन, शिक्षा, चिकित्सा, व्यवसाय, सुरक्षा एवं सुविधा-साधनों के आधार खड़े कर दिये। मनुष्य को सृष्टि का मुकुट-मणि होने का लाभ इसी मार्ग पर चलते हुए मिल सका है। यह परिष्कार की प्रवृत्ति ही मानवी गरिमा और प्रगति का सार तत्व कही जा सकती है। पशुओं को प्रशिक्षित करके उन्हें अनुपयोगी से उपयोगी बनाया जाता है। सिंह, रीछ, सर्प जैसे हिंस्र प्राणी भी सधा लिए जाने पर सरकसों में आश्चर्यजनक करतब दिखाते हैं। वे दर्शकों के लिए मनोरंजन का और मालिकों के लिए आजीविका का साधन बनते हैं जब कि वे मूलतः सर्वथा हानिकारक ही होते हैं। विषों को रसायन बना लेने की कला ने आरोग्य क्षेत्र में नये अध्याय जोड़े हैं। होम्योपैथी, आयुर्वेद, ऐलोपैथी आदि चिकित्सा प्रणालियों में विषों से अमृत जैसे लाभ उठाने का प्रयत्न किया गया है। इसे संस्कार साधन ही कह सकते हैं।

मानवीसत्ता इस सृष्टि की सबसे महत्वपूर्ण इकाई है। उसे ईश्वर के बाद दूसरा नम्बर दिया जा सकता है। उसका परिष्कार कर सकना इतना बड़ा प्रयोग है जिसे भौतिक प्रगति के लिए खड़े किये गये आधारों से कम नहीं अधिक ही महत्व दिया जा सकता है। प्रकृति जड़ है। पदार्थों में अपनी-अपनी विशेषताएँ तो हैं, पर वे निर्जीव होने के कारण यथास्थिति ही पड़े रह सकते हैं। उनकी सामर्थ्य एवं उपयोगिता को समुन्नत बनाना मानवी प्रयत्नों से ही सम्भव होता है। अस्तु भौतिक साधनों की प्रगति का श्रेय भी अन्ततः मानवी सत्ता को ही जाता है। सुख-सुविधा की साधन सामग्री के अतिरिक्त—पारस्परिक सम्बन्धों में सहयोग एवं सद्भाव का होना भी प्रगति तथा सन्तोष का बहुत बड़ा कारण है। यह सभी कार्य मनुष्य की व्यक्तिगत मनःस्थिति पर निर्भर है। कुसंस्कारी मनुष्य उपलब्ध पदार्थों का अपव्यय और दुरुपयोग करके लाभ के स्थान पर हानि उठाते हैं। सम्पर्क क्षेत्र में मनुष्यों से द्वेष दुर्भाव बढ़ाते और कलह के बीज बोते हैं। ऐसी दशा में दुःख-दारिद्रय और शोक-सन्ताप ही गले बँध सकता है। मनुष्य की निजी कुसंस्कारिता उसके लिए पग-पग पर अवरोध खड़े करती है—असहयोग और आक्रोश बटोरती है, विकृत चिन्तन के कारण शारीरिक, मानसिक स्वास्थ्य भी चौपट हो जाता है। ऐसे लोग पिछड़े, असफल, असंतुष्ट और उद्विग्न ही देखे जाते हैं। मनःस्थिति के अनुरूप परिस्थितियाँ बनती हैं, इस तथ्य को अमान्य नहीं ठहराया जा सकता। इसके विपरीत जो आत्मसत्ता को जितना परिष्कृत कर लेते हैं वे अपने सुधरे हुए दृष्टिकोण तथा व्यवस्थित क्रिया-कलाप के आधार पर प्रखरता का परिचय देते हैं। सफलताएँ उनकी ओर खिचती चली आती हैं। सहयोग और सम्मान उन पर बरसता है। स्तर की ऊँचाई के अनुरूप सन्तोष और उल्लास से उनका अन्तःक्षेत्र महँकता रहता है जिसकी सुगन्ध से वातावरण में उमंगें भरती चली जाती हैं।

बाह्य जगत से उपयुक्त सम्वेदनाएँ उपलब्ध कर सकना अन्तःजगत के चुम्बकत्व पर निर्भर है। पदार्थों की उपलब्धि ही समृद्धि नहीं है। इसके लिए सदुपयोग का

होना भी चाहिए। सम्पर्क क्षेत्र में वंश का—रिश्ते का और स्वार्थों के आदान-प्रदान का उतना महत्व नहीं जितना सद्-व्यवहार का। बाह्य जीवन में कितनी ही अनुकूलता क्यों न हो, यदि अन्तःजीवन विकृत स्तर का होगा तो दुःखद परिस्थितियों की काली घटाएँ ही सिर पर घुमड़ती रहेंगी। सुखी जीवन के लिए साधनों की आवश्यकता समझी जाती है और सहयोग की अपेक्षा की जाती है, पर यह भुला दिया जाता है कि इन दोनों ही आकांक्षाओं की पूर्ति आन्तरिक उत्कृष्टता के बिना सम्भव नहीं। भीतर ओछापन भरा हो तो समुन्नत परिस्थितियाँ मिल न सकेंगी। यदि संयोगवश अथवा दुष्ट प्रयासों से मिल भी जाय तो भीतर का पिछड़ापन उनका सदुपयोग न कर सकेगा। दुरुपयोग से तो अमृत भी विष बनता है। सुसम्पन्न लोग सुखी दीखते भर हैं, पर वास्तविक समृद्धि तो सुसंस्कृत लोगों के भीतर ही देखी जा सकती है। हँसता-हँसाता और हलका-फुलका जीवन जी सकना केवल उन्हीं के लिए सम्भव होता है। आनन्द भोगते और आनन्द बाँटते केवल वही पाये जायेंगे जिन्होंने अपनी अन्तःस्थिति को परिष्कृत बनाने में सफलता प्राप्त की है।

भौतिक विज्ञान का कार्य, बाह्य जगत में बिखरी पड़ी पदार्थ सम्पदा को तथा अनुकूलता को बढ़ाना है। इस प्रयास की उपयोगिता सहज ही समझी जा सकती है। उसे समुचित श्रेय भी मिला है। प्रगति का कौशल प्राप्त करने की इच्छा भी सभी को रहती है और जिससे जितना बनता है उतना प्रयास भी करता है। यह उचित है और बुद्धिमत्ता पूर्ण भी। यहाँ एक ही कमी अखरती है कि आत्म-चेतना का महत्व क्यों नहीं समझा जाता? आन्तरिक उत्कृष्टता के कारण उत्पन्न होने वाले लाभों पर विचार क्यों नहीं किया जाता? आत्म-परिष्कार की उपेक्षा क्यों होती है? प्रगति की बात बाह्य जीवन एवं बाह्य जगत तक ही क्यों सीमित रखी जा रही है? यह क्यों नहीं विचारा जाता कि जड़ से चेतन महत्वपूर्ण है। मनःस्थिति ही परिस्थितियों का निर्माण करती है। प्रगति के आधार बाहर तो दीखते भर हैं वस्तुतः उसकी जड़ें व्यक्तित्व के अन्तःक्षेत्र से जुड़ी होती है। मनुष्य अपने भाग्य का निर्माण और भविष्य के निर्धारण करने के लिए स्वयं ही उत्तरदायी है। यह मोटे तथ्य भी यदि समझे न जा सकें और आत्म-निर्माण के प्रति उपेक्षा—अन्यमनस्कता छाई रहे तो इसे दुर्भाग्य ही कहा जा सकता है।

भौतिक विज्ञान ने आश्चर्यजनक प्रगति की है। किन्तु आत्म-विज्ञान बेतरह पिछड़ गया है। इससे सन्तुलन बना नहीं बिगड़ा है। वैभव के साथ-साथ उत्तरदायी दृष्टिकोण भी विकसित होना चाहिए। अन्यथा बन्दर के हाथ तलवार पड़ने पर अनर्थ ही हो सकता है।

आत्म-विज्ञान का महत्व प्राचीन काल में समझा गया था। व्यक्ति चेतना में उत्कृष्ट चिन्तन और आदर्शवादी कर्तृत्व की सघन स्थापना की गई थी। उत्कृष्ट चिन्तन की पृष्ठभूमि बनाने वाले तत्व ज्ञान का नाम है—अध्यात्म और आदर्श कर्तृत्व में निष्ठा उत्पन्न करने की प्रक्रिया धर्म कहलाती है। किसी समय अध्यात्म की—श्रद्धा और

> जो अपने आराम, अपने खून, अपनी दौलत का कुछ हिस्सा दूसरों के भले के लिए नहीं देता, वह कंगाल, कठोर व कमीना है।
>
> —जोना बेली

धर्म की निष्ठा का गहरा आरोपण जन-मानस में करने के ऋषि प्रयास सफल हुए थे और अपने देश के नागरिक देवोपम जीवन जीने और अपनी सम्पर्क भूमि को 'स्वर्गादपि गरीयसी' बनाने में समर्थ हुए थे। आज एकांगी प्रगति की ललक गगनचुम्बी हो चली है, पदार्थ ही सब कुछ बन गया है। आदर्शवादी आस्थाओं के आधार पर चेतनात्मक परिष्कार की उपेक्षा की जा रही है। इस असन्तुलन से कुरूपता बढ़ रही है और समस्याएँ उलझ रही हैं। इस विषमता का अन्त होना चाहिए। भौतिक विज्ञान की ही तरह आत्म-विज्ञान को भी महत्व मिलना चाहिए।

साधना प्रकृति की की जा रही है सो ठीक है, पर चेतन पुरुष को भी परिष्कृत प्रगतिशील बनाने की उपयोगिता पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। इसके बिना उज्ज्वल भविष्य का निर्माण हो नहीं सकेगा। इस तथ्य को जितनी जल्दी समझ लिया जाय उतना ही उत्तम है। ×

सद्ज्ञान और सत्सामर्थ्य की समन्वित साधना

अपनी आगामी आध्यात्मिक शिक्षा एवं साधना की प्रक्रिया को 'ब्रह्म वर्चस्' नाम दिया गया है।

० शरीर-बल, शास्त्र-बल, बुद्धि-बल, धन-बल, पद-बल, संघ-बल, प्रतिभा-बल आदि से सभी परिचित हैं। उनके उपार्जन एवं उपयोग के सम्बन्ध में लोग बहुत कुछ जानते हैं, पर आन्तरिक बल की गरिमा का आभास किसी-किसी को ही होता है। इस तथ्य पर तो इन दिनों कदाचित ही कोई विश्वास करता है कि समस्त बल वैभवों की तुलना में बलवती आत्मा की—प्रखरता का मूल्य अत्यधिक है। जिसे यह समर्थता उपलब्ध है उसके लिए प्रगति के दसों द्वार खुले रहते हैं। उसके मार्ग में आने वाले किसी भी अवरोध को निरस्त ही होना पड़ता है।

'ब्रह्म' को ज्ञान, 'वर्चस्' को विज्ञान कह सकते हैं। ज्ञान और बल परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं। ज्ञान को पंगु और बल को अन्ध कहा जाता है, दोनों के संयोग से ही एक समर्थ इकाई बनती है। द्रोणाचार्य ने हाथों में रहने वाले वेद को 'ब्राह्म' और कन्धे पर रहने वाले धनुष को 'क्षात्र' कहा था और अपने इस धारण को ब्रह्मतेज की संज्ञा दी थी। विश्वामित्र ने राम लक्ष्मण को ब्रह्म विद्या और धनुष विद्या की समन्वयात्मक शिक्षा दी थी। प्राचीन गुरुकुलों की समग्र शिक्षा पद्धति में ज्ञान और बल की आत्मिक तथा भौतिक समर्थता प्राप्त करने का समन्वय रहा है।

एकाकीपन सदा अधूरा रहता है। गाड़ी एक पहिये से नहीं दो से चलती है। नर और नारी के संयोग से सृष्टि चल रही है। काम करने में दोनों हाथों की और चलने में दोनों पैरों की आवश्यकता पड़ती है। यों गुजारा तो लँगड़े-लूले भी करते हैं, पर पूरा प्रयोजन उभय-पक्षीय समर्थता ही सम्पन्न करती है। जीव चेतन है और शरीर जड़। एक ब्रह्म का प्रतिनिधि है दूसरा प्रकृति का प्रतीक। दोनों के संयोग से ही जीवन चलता है। वियोग होने पर दोनों की स्थिति लड़खड़ा जाती है। दोनों ही असमर्थ हो जाते हैं। कोई ज्ञानवान दुर्बलताग्रसित और कोई बलिष्ठ जड़ बुद्धि होकर रह रहा हो तो दोनों की सत्ता गई-गुजरी ही समझी जायगी। अस्तु ज्ञान और बल की उपयोगिता भिन्न-भिन्न प्रकार की होते हुए भी वे परस्पर एक दूसरे के पूरक ही माने जाते हैं।

भारतीय तत्वज्ञान के दो भाग हैं—एक निगम दूसरा आगम। 'निगम' को वेद पक्ष कहते हैं। आगम को तन्त्र पक्ष। निगम में भावना और विचारणा को परिष्कृत करने वाले तथ्य हैं। तन्त्र में समर्थता बढ़ाने और उसका विभिन्न उद्देश्यों के लिए प्रयोग करने की विधा समझाई गई है। भगवान् के अवतरण के दो उद्देश्य होते हैं—(१) धर्म संस्थापनार्थाय (२) विनाशायश्च दुष्कृताम्। धर्म की स्थापना ही नहीं अधर्म का नाश भी अवतारों का कार्य-क्रम रहता है। एक ही पक्ष को लेकर चलने से बात सर्वथा अधूरी रहेगी। मनुष्य में दैवी और आसुरी—सतोगुणी और तमोगुणी दोनों ही तत्व हैं। सतोगुण का सम्वर्धन धर्म धारणा से होता है। असुरता को—तमोगुण से मात्र सद्भाव से परिवर्तित नहीं किया जा सकता, उसे बदलने के लिए दण्ड नीति अपनाये बिना और कोई चारा नहीं। दुष्टता शक्ति की भाषा ही समझती है। विनय तो उसकी दृष्टि में उपहासास्पद दुर्बलता ही प्रतीत होती रहती है। अस्तु ज्ञान के साथ-साथ बल का उपार्जन भी आवश्यक माना गया है।

आत्म-बल और भौतिक बल दोनों ही अपनी-अपनी आवश्यकताएँ पूरी करते हैं। शरीर निर्वाह के लिए भौतिक साधन चाहिए। आत्मोत्कर्ष के लिए भाव सम्वेदनाओं को विकसित होने का अवसर मिलना चाहिए। न तो भूखा भजन कर सकता है और न पेटू को आत्म शान्ति मिल सकती है। रात और दिन की तरह, सर्दी-गर्मी की तरह, नमक-शकर की तरह, अन्न-जल की तरह ज्ञान और बल का युग्म है। एक की सार्थकता दूसरे के बिना हो नहीं सकती। मध्य काल में अहिंसा का अतिवाद गगनचुम्बी

बना, फलतः मध्य एशिया से दस्युओं का एक दल भारत पर चढ़ दौड़ा और देखते-देखते इस विशाल देश को पैरों तले रौंद डाला। यदि प्राचीन काल की तरह ज्ञान और कर्म का—दया और पराक्रम का समन्वय संजोकर रखा गया होता तो वैसी दुर्दशा देखने को न मिलती। माली को पौधों में खाद, पानी लगाने के अतिरिक्त वन्य पशुओं से बगीचे की रखवाली का प्रवन्ध करना पड़ता है। पौधों की वृद्धि अक्षुण्ण बनी रहे इसके लिए वह खरपतवार को उखाड़ता भी तो रहता है। उद्यान को सुरम्य बनाने के लिए कुशल माली को बेतुकी टहनियों की काट-छाँट भी करनी पड़ती है। अध्यापक एक आँख प्यार की और दूसरी सुधार की रखता है। इस परस्पर विरोधी किन्तु साथ ही पूरक नीति को अपनाकर ही विद्यालय में अनुशासन बनाये रख सकना सम्भव होता है।

ब्रह्म वर्चस् की शिक्षा एवं साधना उभय-पक्षीय है उसमें आत्मिक और भौतिक प्रगति के लिए समग्र साधन पद्धति को प्रश्रय दिया गया है। भक्ति की अपनी महत्ता है, पर शक्ति की भी तो उपेक्षा नहीं की जा सकती। शक्ति शिव पत्नी है। कहा गया है कि शक्ति के बिना शिव 'शव' मात्र रह जाते हैं, प्रकृति के बिना पुरुष के अस्तित्व का प्रकटीकरण ही नहीं हो सकता।

पिछले दिनों यह समन्वयात्मक ताल-मेल भौतिक और आत्मिक दोनों ही क्षेत्र में बिगड़ गया। न वैभव पर विवेक का अंकुश रहा और न धर्म ने अपनी सुरक्षा के लिए सामर्थ्य का सम्पादन किया। न भावना पर विवेक का नियन्त्रण रहा और न बुद्धि ने भावनाओं का वर्चस्व स्वीकार किया।

ब्रह्म वर्चस् प्रशिक्षण का दृष्टिकोण एवं कार्यक्षेत्र व्यापक है, व्यक्ति और समाज का समग्र विकास उसे अपेक्षित है। चिन्तन में उत्कृष्टता और कर्तृत्व में आदर्शवादिता के समन्वय के लिए तत्परतापूर्वक प्रयत्न किये जाने चाहिए। श्रद्धा और विवेक का जोडा ही उस यथार्थवादी सत्य का सृजन करता है जिसमें 'हजार हाथी का बल होने' की लोकोक्ति है। अपनी शिक्षण प्रक्रिया के अनुसार न संसार को मिथ्या या स्वप्न बताकर अकर्मण्य शुष्क वेदान्ती बनने की आवश्यकता अनुभव होगी और न वासना, तृष्णा, अहंता में डूबे हुए नर-पामरों के स्तर का जीवनस्वरूप स्वीकार किया जायगा। हर व्यक्ति कर्मयोगी बनने का प्रयत्न करेगा। उसे भक्ति और शक्ति की उपयोगिता समान रूप से प्रतीत होगी। दया और करुणा की भाव भरी ममता को सम्वेदनाओं में परिपूर्ण स्थान देते हुए उस शौर्य, साहस को शिथिल न होने देगा जो कर्त्तव्य-पालन के रूप में प्रबल पुरुषार्थ और दुष्टता को निरस्त करने में प्रचण्ड पराक्रम के रूप में अनिवार्य रूप से आवश्यक है। तत्व दर्शन को व्यावहारिक जीवन में उतारने की कुशलता—सामान्य व्यवहार में कलाकार की सौन्दर्य साधना का समावेश कैसे सम्भव है इस जटिलता को सरलता के रूप में प्रस्तुत कर सकने की शिक्षण शैली ब्रह्म वर्चस् द्वारा अपनाई जायगी। उसे भौतिक अध्यात्मवाद अथवा आध्यात्मिक भौतिकवाद कहा जाय तो इसमें कुछ भी अत्युक्ति न होगी। सन्त विनोबा के मतानुसार भविष्य में अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय ही जीवित रहेगा। गुरु गोविंदसिंह ने अपने शिष्यों को एक हाथ में माला और दूसरे में भाला लेकर रहने की शिक्षा दी थी। सिख धर्मानुयायियों ने उस परम्परा को अपनाकर युग धर्म का ही निर्वाह किया है। औचित्य के अभिवर्धन परिपोषण की आवश्यकता समझते हुए अनौचित्य का मुँह मोड़ने के लिए साहसिक संघर्ष की भी आवश्यकता है। सरकार को अपनी प्रजा को सुशिक्षित, सुविकसित, सुसंस्कृत बनाने के लिए बड़ा बजट और कार्य-क्रम बनाना पड़ता है, साथ ही सुरक्षा के लिए सैन्य—साधन से लेकर पुलिस, कचहरी, जेल जैसे प्रबन्ध भी करने पड़ते हैं। कोई सरकार इन उभय-पक्षीय उपायों की आवश्यकता न समझे और एक को ही पर्याप्त मान बैठे तो उसे असफल ही रहना पड़ेगा। व्यक्ति और समाज की सुसन्तुलित प्रगति के लिए भी ज्ञान और बल की समान रूप से आवश्यकता है। दोनों ही नीति युक्त हों, औचित्य के सम्वर्धन संरक्षण में इनका प्रयोग हो तो इससे मानवी गरिमा बढ़ेगी ही विश्व शान्ति का—उज्ज्वल भविष्य का—आधार बनेगा ही। ब्रह्म वर्चस् की अध्यात्म शिक्षा एवं साधना इसी स्तर की होगी। उससे खतरा असुरता के अतिरिक्त और किसी को नहीं है।

बुद्धि विवेक का उद्देश्य—श्रद्धा का संवर्धन

जीवन के दो पक्ष हैं। एक वहिरंग शरीर। दूसरा अन्तरङ्ग-चेतन। आत्म-परिष्कार के लिए इन दोनों को ही श्रेष्ठ एवं समुन्नत वनाने की आवश्यकता है। व्यक्ति की मूल सत्ता आस्थाओं के आधार पर अपनी दिशा धारा निर्धारित करती है।

मस्तिष्क की विचारणा और शरीर की क्रिया-पद्धति को न तो दोष दिया जा सकता है और न श्रेय। यह दोनों ही पहिये गाड़ी खींचने वाले वैल की इच्छानुरूप लुढ़कते हैं। शरीर जड़ है, उसकी अपनी न कोई इच्छा है और न गति। उसे मन की मर्जी पर चलना होता है। जिस काम को करने के लिए मन निर्देश देता है, उसी के अनुरूप ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ काम करने लगती हैं। मस्तिष्क में सोचने, समझने, जानने, ग्रहण करने की क्षमता तो है, पर दिशा निर्धारण कर सकना उसकी सामर्थ्य से बाहर है। सूत्र संचालन तो आस्थाओं के गहन अन्तराल से होता है। नीति निर्धारण करना 'हाईकमान' का—अन्तःकरण का काम है। जीवन सत्ता पर पूरा शासन श्रद्धा रूपी राज्याध्यक्ष का छाया रहता है।

आस्था कामुकता की सरसता को स्वीकार कर चुकी हो तो बुद्धि उसी के अवसर तलाश करेगी, मस्तिष्क में उसी उपलब्धि के लिए ताना-वाना बुना जा रहा होगा और उपाय ढूंढ़े जा रहे होंगे। जिधर आशा और सम्भावना दृष्टिगोचर होगी, उधर ही पैर चल पड़ेंगे। आँखें खोज खबर लेंगी। सारा शरीर तन्त्र और मनःसंस्थान अपनी क्षमता को उसी प्रयोजन में लगा रहा होगा। इसके विपरीत यदि आस्था क्षेत्र में कामुकता को अहित कर होने की मान्यता दे चुकी होंगी उधर अरुचि एवं घृणा की स्थिति वन गई होगी तो बुद्धि का प्रवाह उधर वहेगा ही नहीं—मन उधर चलेगा ही नहीं। इन्द्रियों से वैसी हरकत करने की आशंका रह नहीं सकती। यही वात अन्यान्य वातों के सम्बन्ध में भी है। लोग वाहर से आदर्शवादिता की वक झक करते रहते हैं, पर अवसर मिलते ही ठीक अपने ही कथन के विपरीत आचरण करने लगते हैं।

संसार में कितने ही आदर्शवादी ऐसे हुए हैं जिन्हें भय और प्रलोभनों के बड़े-चढ़े अवसर आने पर भी किसी प्रकार डिगाया नहीं जा सका है। उन्होंने सिद्धान्तों की रक्षा के लिए वड़े से वड़े कष्ट सहे और त्याग किये हैं। यह अन्तःक्षेत्र में जमी हुई उच्चस्तरीय श्रद्धा का ही चमत्कार है। जिस प्रकार निष्कृष्ट आस्थाओं से प्रभावित व्यक्ति वड़े-वड़े खतरे उठा कर भी अपने दुष्ट मनोरथ पूरे करते हैं उसी प्रकार उत्कृष्ट आस्थाएँ भी आदर्शों की रक्षा करने में वड़ी से बड़ी वाजी लगाती देखी जाती हैं। ऐसे ही लोगों को महामानव कहते हैं। परीक्षा की हर कसौटी पर वे खरे सोने की तरह सही उतरते जाते हैं। इसके विपरीत आस्था क्षेत्र की निष्कृष्टता वनी रहने पर अनैतिक आचरण के कुकृत्य तथा कथित आदर्शवादी उपदेशकों द्वारा भी प्रस्तुत किये देखे जा सकते हैं।

अपने धर्म सम्प्रदायों के सम्वन्ध में प्रायः गहरी आस्था होती है। तर्कों द्वारा उन्हें उस मान्यता के विपरीत कितना ही समझाया जाय, वे निरुत्तर हो जाने पर भी अपने पूर्वाग्रह को वदलने के लिए तैयार नहीं होते। तर्क, तथ्य, प्रमाण, उदाहरणों से मस्तिष्क को कुछ समय के लिए प्रभावित किया जा सकता है। सहमति प्राप्त की जा सकती है, इतने पर भी यह आशा नहीं की जा सकती है कि नये विचार कार्य रूप में परिणत हो सकेंगे या उस प्रकार का परिवर्तन सम्भव हो सकेगा। कथा प्रवचनों में रुचि लेने वाले प्रायः धर्म-चर्चा सुनते रहते हैं। विचारों की दृष्टि से वे उन वातों से सहमति भी व्यक्त करते हैं, कभी-कभी तो वे उन वातों का दूसरों को भी उपदेश देते हैं। इतने पर भी उनके आचरण ज्यों के त्यों विपरीत वने रहते हैं। धर्म चर्चा और धर्माचरण की इस विसंगति का कारण खोजने पर एक ही तथ्य सामने आता है कि अन्तःकरण की गहराई तक धर्म आस्था का निर्माण न

हो गया। मस्तिष्क की ऊपरी सतह तक वे आदर्शवादी प्रतिपादन सैंको भर रह गये। जिनकी आस्थाएँ परिपक्व होती हैं वे जटायु, शबरी, रीछ, वानर, गिलहरी आदि की तरह अनपढ़-अनगढ़ होने पर भी आदर्शों के लिए सर्वस्व निछावर कर देने से भी पीछे नहीं हटते। व्यक्ति का वास्तविक स्वरूप उसकी श्रद्धा है। गीताकार ने सच ही कहा है—"श्रद्धामयोयं पुरुष यो यच्छ्रद्धस एव सा स" अर्थात् यह पुरुष श्रद्धामय है जिसकी जैसी श्रद्धा है वह वस्तुतः वैसा ही है।

व्यक्तित्व से बढ़कर और कोई महानता इस संसार में है नहीं। उसके ऊपर कुबेर का वैभव और इन्द्र का वर्चस्व निछावर किया जा सकता है। सप्त ऋषियों के व्यक्तित्व की तुलना में सात द्वीपों और सात समुद्रों की सम्पदा हलकी पड़ती है। उनके प्रतीक अभी भी आसमान में चमकते हैं। ध्रुव, प्रह्लाद, हरिश्चन्द्र, दधीचि, व्यास, चरक, बुद्ध, गांधी जैसे व्यक्तित्वों पर सिकन्दर की सम्पदा सौ बार निछावर की जा सकती है। देवता और भगवान के दर्शन हम ऐसे ही महामानवों में करते हैं। उन्हीं के आधार पर देश, समाज और युग धन्य बनते हैं। ऐसे महामानवों का निर्माण मात्र आस्थाओं की उत्कृष्टता के आधार पर ही सम्भव होता है। उनकी शिक्षा, सम्पन्नता प्रतिभा एवं परिस्थिति छोटी हो तो भी वे आन्तरिक गरिमा के कारण जन-मानस पर असाधारण छाप छोड़ते हैं। उनके वचन ऋचाएँ बनते और संस्मरणों का गुणानुवाद लोग प्रभातियों की तरह गाते हैं। स्वयं में तो देवोपम स्वर्गीय आनन्द में विभोर रहते ही हैं, भले ही उनके पास साधन स्वल्प मात्रा में ही क्यों न हों।

हमें आस्थाओं का मूल्य समझना चाहिए। उनकी प्रतिक्रिया से परिचित होना चाहिए और यह जानना चाहिए कि अन्तःकरण का स्तर समुन्नत बनाने के उपरान्त आत्म-सन्तोष और लोक-सम्मान का कितना उच्चस्तरीय लाभ मिल सकता है। इस सफलता के सहारे लोग उन्नति के उस उच्च शिखर पर पहुँच सकते हैं, जिसके लिए चतुर और समर्थ कहलाने वाले लोग भी तरसते ही रह जाते हैं। वस्तुतः अन्तःकरण में उत्कृष्ट आस्थाओं की—सुसंस्कृत आकांक्षाओं की स्थापना कर लेना जीवन का वह लाभ है जिसे पुरातन भाषा में ईश्वर प्राप्ति—आत्म साक्षात्कार, बन्धन मुक्ति, साधना सिद्धि, स्वर्गानुभूति आदि नामों से कहा जाता रहा है।

ब्रह्म विद्या का उद्देश्य उच्चस्तरीय आस्थाओं का निर्माण करना है। अध्यात्म का विशालकाय तत्व-दर्शन इसी प्रयोजन के लिए महामनीषियों ने विनिर्मित किया है। उपनिषदों में उस गूढ़ ज्ञान का निरूपण है जिन्हें हृदयङ्गम करने के उपरान्त व्यक्तित्व में देवत्व का आत्मा के उभरने का अवसर मिलता है। परिष्कृत दृष्टिकोण ही गुण कर्म स्वभाव की श्रेष्ठता बनकर सामने आता है। सज्जनता दुर्बलता नहीं उसमें प्रचण्ड बलशाली तत्व भरे पड़े हैं। समझा जाता है कि सज्जनता के साथ जुड़ी हुई नम्रता में कायरता और भोलेपन के तत्व होते हैं। अतएव दुष्ट दुर्जन उन्हें ठगने और सताने में सफल होते रहते हैं। यह मान्यता उथली सज्जनता पर ही लागू हो सकती है। ब्रह्म विद्या की आस्थाओं में न्याय निष्ठा के प्रति

> अगर तुम चाहते हो कि लोग तुम्हारी प्रशंसा करें तो आत्म-प्रशंसा कभी न करो।
>
> —पास्कल

अडिग रहने और औचित्य के आग्रह में चट्टान की तरह अडिग रहने के ही नहीं वज्र के समान टूट पड़ने वाले आदर्श भी पूरी तरह भरे पड़े हैं। किसी भी मूल्य पर झन्झट से बचने और अनीति सहते हुए भी शान्ति का लबादा ओढ़े रहने की गुन्जायश उस अध्यात्मवाद में रत्ती भर भी नहीं है, जिसे ब्रह्म विद्या के आधार पर विकसित किया जाता है। उत्कृष्टता में आत्म संयम और उदारता की जितनी मात्रा है उतनी ही न्यायनिष्ठ साहसिकता का भी समावेश है।

अध्यात्म विज्ञान का तत्व-दर्शन, उच्चस्तरीय आस्थाओं को अन्तरात्मा में अति गहन स्तर तक प्रतिष्ठापित करने के लिए है। इसे अपना कर व्यक्तित्व की गरिमा सामान्य नर-पशुओं की तुलना में हजारों लाखों गुनी बढ़ जाती है। उसकी उपलब्धियाँ भी असाधारण होती हैं। ब्रह्म-विद्या के सहारे आत्म परिष्कार का जो लाभ मिलता है उसी में मानव जीवन की सच्ची सार्थकता है। ×



वर्चस् की साधना आत्मबल उभारने के लिये

उपनिषद् का ऋषि कहता है—"नायमात्मा वल हीचेन लभ्यः" यह आत्मा दुर्वलों को मिल ही नहीं सकता।

विभिन्न वलों की साधना विभिन्न क्षेत्रों में अपने-अपने ढङ्ग से की भी जाती है। साधन वल भी एक वल है। प्रगति और सुख-सुविधा के लिए साधनों का संचय भी प्रकारान्तर से शक्ति-साधना का ही एक रूप है। पर अभाव एक ही वात का रह जाता है कि यह सब उथली ऊपरी सतह पर ही किया जाता है। उसमें क्रिया और वुद्धि का ही समन्वय रहता है। यदि इसमें उच्चस्तरीय भाव सम्वेदनाओं का भी समावेश रहा होता तो निश्चित रूप से यही प्रयत्न आकाश में टँगे रवि-शशि और तारक मण्डल की तरह चमचमाते-जगमगाते दृष्टिगोचर होते।

ऊपरी सतह पर जो हलचलें होती हैं वे अपने प्रयास साधनों के अनुरूप स्वल्प परिणाम ही उत्पन्न करती हैं। मोटर का इन्जन खराव हो—पैट्रोल की टंकी खाली हो तो भी उसे धक्के लगाते हुए कुछ दूर ले जाया जा सकता है। सवारियाँ उसके भीतर छाया का लाभ ले सकती है, पर उस गाड़ी की द्रुतगति का लाभ तो सही इन्जन और आवश्यक पैट्रोल होने पर ही सम्भव हो सकता है। शरीर और मन के समन्वित प्रयत्नों से निर्वाह प्रक्रिया तो पूरी होती रह सकती है, पर किसी दिशा में महत्वपूर्ण प्रगति करने के लिए उसमें गहन अन्तराल का सङ्कल्प-शक्ति का, आत्म-विश्वास का, अटूट तत्परता का समावेश होना चाहिए। यह सभी उच्चस्तरीय तत्व शरीर और मन के क्षेत्र से ऊपर हैं, वे अन्तःकरण की गहरी परतों में ही भरे हैं और वहीं से उभर कर ऊपर आते हैं। यदि वह मर्मस्थल प्रसुप्त स्थिति में पड़ा हो तो फिर हर पराक्रम वहुत ही उथले स्तर का रहेगा और उस प्रयास का परिणाम भी अति स्वल्प निकलेगा।

पैनी तलवार से युद्ध मैदान में लड़ा जाता है और शिर भी उसी से कटते हैं। इस प्रत्यक्ष तथ्य से कोई इनकार नहीं कर सकता। पर इतना ही मान वैठना नासमझी होगी। तलवार चलाने के लिए कलाई की मजवूती और मस्तिष्क की अभ्यस्त क्रिया-कुशलता आवश्यक है। इसके विना वढ़िया तलवार भी कुछ काम न कर सकेगी। दुर्वल भुजाएँ न तो उसका भार सँभाल सकेंगी और न प्रहार कर सकेंगी। इतना ही नहीं यदि चलाने की कुशलता और सूझ-वूझ अभ्यास में नहीं उतारी गई है तो भी वह शस्त्र निरर्थक ही सिद्ध होगा।

ऊपर की पंक्तियों में तलवार रूप साधन और हाथ रूप मस्तिष्क की मजवूती से युद्ध में सफलता मिलने की वात कही गई है, पर थोड़ा और विचार करने पर एक नया तथ्य और भी उभर कर आता है कि सैनिकों चित्त शौर्य, साहस का अभाव रहा, अन्तःकरण में भीरुता छाई रही, उत्कट देश-भक्ति का स्थान उदासीनता ने ले लिया तो अन्तराल की स्थिति खोखली रह जायगी। ऐसी दशा में वह दुर्वलता अपने आप में एक सङ्कट वन जायगी और उसके रहते तलवार की अच्छाई और हाथों की मजवूती भी कारगर सिद्ध न होगी। भीतर से हड़वड़ाया हुआ—डरता, काँपता सैनिक युद्ध में विजयी होकर नहीं लौट सकता।

शक्ति का स्रोत अन्तराल है। समर्थता और दुर्वलता का वास्तविक मूल्याङ्कन इसी स्तर की स्थिति को देखकर किया जा सकता है। वलवान वही है जिसका अन्तरात्मा वलिष्ठ है। इतिहास साक्षी है कि आश्चर्यचकित कर देने वाली अति महत्वपूर्ण सफलताएँ न तो साधनों के सहारे मिली हैं और न वुद्धि कौशल का ही उसमें वहुत वड़ा हाथ रहा है। चमत्कार सङ्कल्प-शक्ति ही उत्पन्न करती है और यह सङ्कल्प-वल उच्चस्तरीय आदर्शों का समन्वय हुए विना उत्पन्न हो ही नहीं सकता। ललक-लिप्सा के

वशीभूत होकर भी लोग उन्नति की दौड़-धूप करते हैं, पर वह न तो स्थिर होती है और न गहरी। अधिक लाभ, बहुत जल्दी मिलने का उत्साह जब तक रहता है तभी तक वे प्रयत्न चलते हैं जैसे ही सफलता श्रम-साध्य, समय-साध्य एवं धूमिल दिखाई दी वैसे ही हाथ-पैर फूल जाते हैं। उत्साह ठण्डा होने पर काम को छोड़ बैठने के अतिरिक्त और कोई चारा ही नहीं रह जाता। हर अवरोध से जूझते हुए—विना थके रुके—प्रयत्नरत रहने की स्थिति अन्तराल की आस्थावान् सङ्कल्प-शक्ति के सहारे ही सम्भव होती है। महत्वपूर्ण कार्यों की सफलता पूर्णतया उसी आन्तरिक प्रखरता के—आत्म-वल के—ऊपर निर्भर रहती है। शक्ति का उद्गम स्रोत अन्तःकरण से ही उमड़ता है। शरीर और मस्तिष्क में तो उसका प्रवाह भर चलता दीखता है।

गांधी जी का शरीर बहुत दुर्बल था। वे मात्र ९६ पौंड के थे। शारीरिक दृष्टि से उनकी सामर्थ्य उपहासास्पद ही गिनी जायगी। उन्हें तो कोई किशोर भी दौड़ने या लड़ने की चुनौती दे सकता था, पर उनकी शक्ति का मूल्यांकन जिनने किया है वे जानते हैं कि पर्वत से ऊँचा और समुद्र से विस्तृत उनका व्यक्तित्व था। उनकी प्रचण्ड सामर्थ्य की टक्कर अँग्रेज सरकार से हुई और इस कुश्ती में वे ही जीते। इतनी बड़ी कुश्ती तो बड़े से बड़ा पहलवान भी नहीं लड़ सकता था। साधन वल से भी यह युद्ध जीतना कठिन था। आत्म-वल ने भारत के स्वतन्त्रता संग्राम में जो भूमिका निवाही उसे देखते हुए स्पष्ट है कि संसार की सबसे बड़ी सामर्थ्य यही है। आत्म-वल से बढ़कर और कोई वल इस संसार में है नहीं।

व्यक्तिगत जीवन की गरिमा उस आत्म-वल पर आधारित है जिसमें आदर्श और सङ्कल्प का समान रूप से समन्वय होता है। सदुद्देश्य में भाव-भरी श्रद्धा और कर्तव्य पालन में प्रचण्ड निष्ठा का समन्वय होने से इस आत्म-शक्ति का उदय होता है। इसी के सहारे लोभ और भय के अवरोधों को हटाते हुए उच्चस्तरीय आदर्शों को पूरा कर सकना सम्भव होता है। समाज सेवा की परमार्थ परायणता से ही कोई व्यक्ति यशस्वी होता है। लोक-सम्मान और जन-सहयोग पाकर लोग ऊँचे उठते और सफल बनते हैं। यशस्वी और जन-नायक बनने की आकांक्षा भी विना आत्म-वल के पूर्ण नहीं हो सकती। परमार्थ प्रवृत्ति गहरी और उच्चस्तरीय होनी चाहिए तभी उसका चिरस्थायी सत्परिणाम निकलेगा। हथकण्डेबाजी से कुछ समय के लिए सस्ती वाहवाही की लूट-खसोट हो सकती है, पर उतने भर से कोई काम बन नहीं सकता। धूर्तता के बल पर समेटी गई प्रशंसा में स्थायित्व कहाँ होता है? काठ की हांड़ी में खिचड़ी कहाँ पक पाती है?

अपने अनुकरणीय आदर्श छोड़ जाने वाले—कुछ महत्वपूर्ण कार्य कर गुजरने वाले—व्यक्तित्वों का विश्लेषण किया जाय तो उनमें सभी में सङ्कल्प-वल की विशेषता पाई जायगी। कहना न होगा कि ओछे, दुष्ट, स्वार्थी, मन भूमि में वह सङ्कल्प-शक्ति विकसित हो ही नहीं सकती जिसकी गर्मी से पर्वत गलने और पानी की तरह बहने लगते हैं।

आतंकवादी दुष्ट, दुरात्मा भी बलिष्ठता का डङ्का बजाते और ढिंढोरा पीटते देखे गये हैं। उद्दण्डता से डर कर कई दुर्बल प्रकृति के व्यक्ति डरते, घबराते और उनका लोहा मानते भी देखे गये हैं। इस दुष्ट और दुर्बल संयोग से उत्पन्न अवांछनीय प्रतिक्रिया को प्रायः उद्दण्डता की शक्ति के रूप में माना समझा जाने लगा है। वह दुःखद और अवास्तविक मान्यता है। अनैतिक आतंक में यदि कुछ सामर्थ्य है भी तो वह यत्किंचित विनाश कर सकने भर की है। सृजन का कोई तत्व उसमें रत्ती भर भी नहीं है। उपलब्धियाँ तो सृजन की होती हैं। लाभ तो उन्हीं का मिलता है। व्यक्तित्व और कर्तृत्व तो उन्हीं के सहारे निखरता है। ध्वंस को शस्त्र बनाकर चलने वाले वैसा कुछ पा नहीं सकते। वे दूसरों को हानि पहुँचा सकते हैं। प्रथम आक्रमण करने वाला सदा लाभ में रहता है। पर वह लाभ न स्थायी होता है और न फलदायक। अन्ततः वह आक्रमणकारी के लिए ही अभिशाप सिद्ध होता है। माचिस की तीली का अस्तित्व नगण्य है, पर अग्निकाण्ड तो वही रच सकती है। लोहे की एक छोटी-सी कील भी किसी का प्राण हरण कर सकती है। इस ध्वंस सामर्थ्य से आक्रमणकारी का कोई लाभ नहीं होता। तीली अग्नि-

काण्ड तो करती है, पर उसी आग में जलकर उसे स्वयं भी समाप्त होना पड़ता है। पागल कुत्ता कइयों को काट सकता है, पर खैर उसकी भी नहीं है। प्रकृति दण्ड अर्थात् दुष्टता के विरुद्ध उभरे आक्रोश से उसे मृत्यु मुख में ही जाना पड़ता है जब कि काटे हुए लोग दवादारू के सहारे अच्छे भी हो जाते हैं।

यहाँ चर्चा वास्तविक और अवास्तविक बलिष्ठता की हो रही थी। आतंक, अनीति और धूर्तता का प्रश्रय लेकर भी यत्किंचित बलिष्ठता उपार्जित करते हुए लोग देखे गये हैं। इसमें कइयों का मन इस सस्ती उपलब्धि के लिए मचलता है और वे दुष्टता के सहारे बलिष्ठ बनने का प्रयत्न करते हैं। यहाँ यह हजार बार समझ लिया जाना चाहिए कि यह अवलम्बन न तो सरल होता है और न सफल। दुष्टता अपनाकर सम्मान भी गँवाया जाता है और सहयोग भी। घृणा, तिरस्कार का ताना-बाना अपने चारों ओर बुन डालने वाला व्यक्ति मित्र विहीन बनता चला जायगा। घिनौने व्यक्ति के दो ही साथी होते हैं एक पतन दूसरा विनाश। आतंकवादी बलिष्ठता के दुष्परिणामों को जितनी जल्दी समझ लिया जाय उतना ही उत्तम है।

कुटिलता के बल पर नहीं, प्रगति-सदाशयता और सज्जनता की नीति अपनाने से ही सम्भव होती है। सृजन की सामर्थ्य ही वास्तव शक्ति है। उसी को विकसित करके मनुष्य गुण, कर्म, स्वभाव की उत्कृष्टता प्राप्त करता है। व्यक्तित्व को निखारने और सुसंस्कृत बनाने के प्रयत्न ही किसी मनुष्य में समर्थ सशक्तता उत्पन्न करते हैं। उसी से गरिमा बढ़ती है। सृजनात्मक प्रयोजनों में यही क्षमता काम आती है। लोकहित उसी से सम्भव होता है। सेवा साधना उसी के सहारे बन पड़ती है। लोक-सम्मान से लेकर आत्म-सन्तोष तक के अनेकानेक वरदान उसी के सहारे उपलब्ध होते हैं भविष्य निर्माण का एकमात्र उपाय आत्म-निर्माण ही माना गया है। संचित कुसंस्कारों से जूझना—उन्हें उखाड़ फेंकना प्रबल पुरुषार्थ कहा जाता है। दूसरों से लड़ने की अपेक्षा अपने से लड़ना—आन्तरिक शत्रुओं को परास्त करना अधिक कठिन है। आत्म-शोधन के मोर्चे पर लड़ना और विजय प्राप्त करना—बाह्य जगत की किसी भी सफलता की तुलना में अधिक श्रेयस्कर है। यह लड़ाई प्रचण्ड आत्म-बल के सहारे ही लड़ी जा सकती है। ब्रह्म वर्चस् को उपार्जित करके मनुष्य सामान्य से असामान्य और नर से नारायण बनने का पथ-प्रशस्त करता है।

बाह्य जीवन में श्रेय, सहयोग पाने के लिए बीज रूप से स्वयं गलना पड़ता है। परमार्थ प्रयोजनों में सच्चे मन से लग सकना उसी के लिए सम्भव हो सकता है जो अपनी तृष्णाओं पर अंकुश लगा सके। महत्वाकांक्षाओं का दमन करने वाला, अपनी क्षमताओं को आदर्शों की साधना में लगा सकता है। जो स्वयं ही आकांक्षाओं की आग में जल रहा है उसे तो दूसरों को ईंधन की तरह उपलब्ध करने का ही मन रहेगा। जो अपने को बादल की तरह निचोड़ सके, वही किसी के कुम्हलाये पौधे को नव-जीवन दे सकने में समर्थ हो सकता है। स्वार्थों पर अंकुश लगा सकना—साधु, ब्राह्मण जैसा मितव्ययी जीवन-क्रम अपना सकना इस अहंलिप्सा के युग में कितना कठिन है यह किसी से छिपा नहीं। नदी प्रवाह से ठीक उलटी दिशा में केवल साहसी मछली ही छरछराती हुई चल सकती है। हाथी जैसे विशालकाय प्राणी तक उसमें बहते चले जाते हैं। मछली जैसी प्रवाह के विपरीत चलने की साहसिकता निस्सन्देह असाधारण ही कही जा सकती है। ऐसा अद्भुत शौर्य, साहस प्रदर्शित कर सकने वाले ही ऐतिहासिक महा मानव कहलाते और युग समस्याओं को सुलझाते हैं। यह गौरव प्राप्त करने की मनःस्थिति और परिस्थिति बना सकना केवल उन्हीं के लिए सम्भव होता है जो आत्म-बल का महत्व समझते और उसे उपलब्ध करने का प्रयत्न करते हैं। आदर्शवादिता के मार्ग पर चलना, लोक-मान्यता के अनुसार घाटे का काम है। इसलिए तथाकथित स्वजन सम्बन्धी एक स्वर से उधर कदम बढ़ाने से चित्र-विचित्र तर्क गढ़कर रोकते हैं। शत्रुओं का प्रतिरोध सरल है, पर स्वजनों के आग्रह को अनसुना करने वाली एकाग्र आदर्श-निष्ठा का परिचय दे सकना अति दुस्तर है। इस अग्नि परीक्षा में सफल हो सकना आत्म-बल के बिना सम्भव ही नहीं हो सकता। आन्तरिक प्रलोभनों और परिजनों के आग्रहों की उपेक्षा कर सकना जिस प्रचण्ड आदर्शवादिता के सहारे सम्भव होता है वह आत्म-बल

का ही दूसरा रूप है।

व्यक्तित्व के परिष्कार और देवात्माओं जैसा लोक-व्यवहार ही मानव जीवन की सफलता का एकमात्र आधार है। वह उत्कृष्टता के प्रति असीम श्रद्धा रख सकने पर ही सम्भव होता है। आये दिन के आँधी-तूफानों से—ज्वार-भाटों से आत्मवादी दृष्टिकोण के दीपक को बुझने न देना भँवर से नाव खेकर ले जाने की तरह कठिन है। यह भव-बन्धनों को—लोह शृङ्खला को अपने ही नाखूनों से काटने जैसी कठिन प्रक्रिया है। इसे अटूट धैर्य और असीम साहस के सहारे ही सम्पन्न किया जा सकता है। मानवी गरिमा को प्राप्त कर सकने की ललक तो बहुतों को रहती है, पर उसे पा सकने में आत्म-बल सम्पन्न शूर-वीर ही सफल होते हैं।

भौतिक जीवन में चिरस्थायी सफलताएँ प्राप्त करने के लिए भी आत्म-बल की, सङ्कल्प-बल की आवश्यकता पड़ती है। विद्यार्थियों में से अनेकों को अरुचि और आवारागर्दी की आदत मूर्खता और पिछड़ेपन के गर्त में फेंक देती है। साधन रहते हुए भी कितने ही लड़के पढ़ नहीं पाते और बेकार के बहाने बनाकर शिक्षा लाभ से वंचित रह जाते हैं। इस दुर्भाग्य से जूझ सकना मनस्वी और दूरदर्शी छात्रों के लिए ही सम्भव होता है। व्यायामशाला में क्षणिक उत्साह लेकर कितने ही प्रवेश करते हैं किन्तु उस कठिन कार्य से खिन्न होकर जल्दी ही छोड़ भी बैठते हैं। नित नये कार्य आरम्भ करने वाले और कुछ ही समय में उसे छोड़ बैठने वाले नर-वानरों की बहुत बड़ी मण्डली सर्वत्र विचरती देखी जा सकती है।

कृषि, व्यवसाय, शिल्प, कला आदि के सभी क्षेत्रों में अथक परिश्रम, प्रचण्ड-साहस, सन्तुलित विवेक और समुचित धैर्य की आवश्यकता होती है। आलसी, प्रमादी, अधीर और आशङ्काग्रस्त मनुष्य सामान्य सांसारिक प्रयोजनों तक में सफल नहीं हो पाते। आन्तरिक दुर्बलताएँ अपनी सहेली असफलताओं को निमन्त्रण दे देकर बुला लाती हैं। व्यक्तित्व का परिष्कार न सही—लोक-श्रद्धा और आत्म-सन्तोष देने वाली महानता न सही—स्वार्थ साधन की दृष्टि से सम्पन्नता और सफलता तो हर किसी को अभीष्ट है ही। उसका आधार भी मनोबल बिना नहीं बनता। जहाँ इसका अभाव होगा वहाँ न स्वार्थ सधेगा और न परमार्थ। आन्तरिक अशक्ति तो बाह्य जीवन में अभिशाप ही बरसाती है। ऐसे व्यक्ति अपङ्ग, असहाय की तरह जीते और रोते-कलपते बेमौत मरते हैं। आत्म-बल का अभाव इतना बड़ा दुर्भाग्य है कि इसके कारण पग-पग पर खिन्नता, उद्विग्नता की व्यथा सहन करनी पड़ती है। ऐसे लोगों का न लोक सधता है, न परलोक। उनका न स्वार्थ सिद्ध होता है न परमार्थ बनता है।

परिस्थितियों का अपना कोई अस्तित्व नहीं, वे मनः-स्थिति के अनुरूप बनती हैं। अप्रत्याशित कोई प्रतिकूलता सामने आ खड़ी हो तो भी वह देर तक ठहरती नहीं। रोग कीटाणु अशुद्ध रक्त में ही अपना अड्डा जमा पाते हैं। शुद्ध रक्त तो उन्हें बात की बात में खदेड़ कर बाहर कर देता है। प्रतिकूल परिस्थितियाँ—मन:स्थिति के वृक्ष पर ही अमरबेल की तरह छाई और फलती-फूलती रहती हैं। महामानवों की जीवन-गाथाओं पर दृष्टि डालने से प्रतीत होता है कि उनमें से कोई भी जन्म-जात एवं परम्परागत अनुकूलता लेकर नहीं जन्मा। हर एक को अपना रास्ता आप बनाना पड़ता है। लोगों ने उनको कन्धे पर नहीं चढ़ाया, वरन् वे स्वयं ही अपनी विशेषताओं के आधार पर हर किसी की आँखों के तारे बने और हृदयों में जा विराजे हैं। अनुकूलताएँ बरसी नहीं, वरन् अपने हाथों उनने उन्हें गढ़ा है। चलना अपने ही पैरों पड़ता है, दूसरों के कन्धों पर लद कर चल सकना किसके लिए कब तक सम्भव हो सकता है?

आत्म-बल की आवश्यकता हर क्षेत्र में है। आत्म-बल उसकी प्रेरणा से उसी तरह उभरते हैं जैसे सौर-मंडल के ग्रह-उपग्रह सूर्य की आभा से प्रकाशवान् दीखते हैं। जीवन को जीवितों की तरह जीना हो—उसमें कुछ रस और आनन्द लेना हो तो आत्म-बल सम्पादित करने की उपेक्षा की नहीं जा सकती। बलिष्ठता की अनुगामिनी ही सम्पन्नता है। अस्तु बलों में परम बल, आत्म-बल के उपार्जन को ही प्राथमिकता दी जानी चाहिए। हम 'वर्चस्' की उपासना करें—आत्म-बल सम्पादित करने में जुट जाएँ, इसी में दूरदर्शिता है।

—※—



व्यक्तित्व का वृक्ष जैसा भी कुछ वाहर से दीखता है, उसकी निर्मात्री जड़ें अन्तःकरण में जमी रहती हैं। विभिन्न कार्यों को किस प्रकार सम्पन्न किया जाता है और उसका लाभ किस प्रकार मिलता है, इस प्रश्न का आधार-भूत उत्तर व्यक्ति की अन्तःचेतना ही दे सकती है। वहिरङ्ग प्रयत्नों की निन्दा, प्रशंसा जो कुछ भी होती है वस्तुतः वह कर्त्ता के अन्तरङ्ग की प्रतिक्रिया मात्र होती है।

अन्तरंग न तो पदार्थों से वना है और न वौद्धिक प्रशिक्षण का उस पर अधिक प्रभाव रहता है। यदि ऐसा होता तो अमुक आहार खिला कर अथवा अमुक पुस्तकें पढ़ाकर किसी को समुन्नत स्तर का वना सकना सम्भव हो गया होता। मानवी सत्ता का उद्गम मर्मस्थल उसका अन्तःकरण है। यह आस्थाओं का वना है। अचेतन मस्तिष्क तक तर्कों से प्रभावित नहीं होता और समझाने वुझाने वालों को अँगूठा दिखाकर अपने अभ्यस्त ढर्रे को अपनाये रहता है फिर भावों का सम्वेदना संस्थान, जिसे कारण शरीर एवं अन्तःकरण कहते हैं—उससे वहुत ऊपर की वस्तु है। उस पर चढ़े जन्म जन्मान्तरों के पशु संस्कारों को छुड़ा सकना अति कठिन कार्य है। इसके लिए कांटे से कांटा निकालने की नीति अपनानी पड़ती है। आस्थाओं को काटने के लिए आस्थाएँ ही समर्थ हो सकती हैं। लोहे से ही लोहा कटेगा। भावनाओं से ही भावनाओं के क्षेत्र में परिष्कार परिवर्तन का प्रयोजन सिद्ध होगा।

मनुष्य की सत्ता तीन भागों में विभक्त है। (१) स्थूल शरीर (२) सूक्ष्म शरीर (३) कारण शरीर। प्रथम को पंच तत्वों से वनी काया—दूसरे को मन और वुद्धि का विचार संस्थान और तीसरे को आस्थाओं, भावनाओं एवं सम्वेदनाओं से विनिर्मित अन्तःकरण कह सकते हैं। भौतिक मनोविज्ञान चिन्तन को चेतन और आदतों को अचेतन के नाम से व्याख्या करता है। उसकी दृष्टि से कारण शरीर—भाव संस्थान—अचेतन की ही एक गहरी परत है जिसे सुपर चेतन—ईगो आदि नाम दिये जाते हैं। आध्यात्मिक मनोविज्ञान की दृष्टि से कारण शरीर ही जीव चेतना का केन्द्र है। आस्थाओं की जैसी परतें उस पर चढ़ी होती हैं वैसी ही गतिविधियों का संचालन मन और शरीर द्वारा सम्पन्न होता रहता है।

जीवन क्रमिक गति से आगे वढ़ता और ऊँचा उठता हुआ मनुष्य स्तर तक पहुँचा है। उसकी यह सफलता सराहनीय है, फिर भी एक कठिनाई वनी ही हुई है कि जीवन के आरम्भ से लेकर अव तक की लम्बी यात्रा में जिन स्वभाव संस्कारों के सहारे काम चलता रहा, अव वे ओछे पड़ते हैं। छोटे वच्चे के लिए जो कपड़े उपयुक्त थे, वे ही वड़ी आयु में निरर्थक वन जाते हैं। अस्तु संचित संस्कारों को मानवी गरिमा को ध्यान में रखते हुए छोटा ओछा या खोटा ही कहा जा सकता है। इन्हें अपनाया नहीं जा सकता। अभी तो मनुष्य से आगे की स्थिति तक वढ़ना है। आत्मा को—महानात्मा, देवात्मा एवं परमात्मा स्तर तक विकसित होना है।

अन्तस्तल में परिष्कृत परिवर्तन कैसे सम्पन्न किया जाय? इसका उत्तर एक ही है—आस्थाओं के सहारे आस्थाओं को सुधारा जाय। दलदल में फँसे हाथी को दूसरे सुशिक्षित हाथी ही चतुरता पूर्वक वाहर निकाल कर लाते हैं। पशु-प्रवृत्तियों के दलदल से जीव चेतना को निकाल सकना मात्र उन उच्चस्तरीय आस्थाओं के लिए ही सम्भव है—जो अध्यात्मवाद के ढाँचे में समाहित की गई हैं। जीव चेतना को उत्कृष्टता की दिशा में अग्रसर करने में इन आदर्शवादी आस्थाओं को हृदयङ्गम कराने के अतिरिक्त और कोई मार्ग हो ही नहीं सकता।

समाज निष्ठा के अनुरूप व्यक्ति निष्ठा को ढालने के

लिए भौतिकवादी दर्शन खड़ा तो किया गया है, पर उसमें उपयोगिता के नाम पर प्रतिपादित सिद्धान्तों के खण्डन का भी विधान है। ऐसी दशा में वे नीति मात्र बनकर रह जाते हैं—आदर्श नहीं। आदर्शों के प्रति आस्था को जब उपयोगिता के नाम पर निरस्त किया जाता है तो आस्थाएँ सामाजिक उपयोग की भले ही रह जाँय, उनसे अन्तःस्थिति को प्रभावित नहीं किया जा सकता। फिर भी श्रद्धा विश्वास स्तर की नहीं रह जाती। यही कारण है कि भौतिकवादी समाज निष्ठा दर्शन के उद्घोषक ही आये-दिन कलामुण्डी खाते और समाजद्रोही घोषित किये जाते रहते हैं।

व्यक्तित्व के मर्मस्थल को स्पर्श कर सकने वाली एक मात्र तत्व श्रद्धा है। पशु योनियों में जो आस्थाएँ परिस्थिति वश जम गई हैं, वे अभी भी उखड़ने को तैयार नहीं, इससे उनकी समर्थता का पता चलता है। प्रगति के लिए परिवर्तन आवश्यक है। अन्तःश्रद्धा को परिष्कृत किये बिना व्यक्ति चेतना सुसंस्कृत हो नहीं सकेगी और इसके बिना उच्चस्तरीय प्रगति की कोई सम्भावना नहीं है। इस धर्म सङ्कट का समाधान तत्व-दर्शियों ने देव स्तर की आस्थाओं का ढाँचा खड़ा करके किया है। यही अध्यात्मवाद है। इसी को अपनाने से अन्तःकरण का उच्चस्तरीय बन सकना सम्भव बताया गया है। चिरकालीन अनुभव ने इस प्रतिपादन को सही भी प्रमाणित किया है।

मनुष्य में घुसी हुई पशुता के निराकरण और देवत्व के समावेश का आधार जिस तत्व दर्शन को—अध्यात्मवाद को बताया गया है। वह चिन्तन और क्रिया के दो भागों में विभक्त है। चिन्तन में उत्कृष्टता का समावेश करने वाले प्रतिपादन को ब्रह्म विद्या कहते हैं। इसमें ईश्वरीय निर्देश देव सन्देश—ऋषि अनुभव के तत्व इस प्रकार जोड़े गये हैं कि मानवी भाव सम्वेदना उसे श्रद्धापूर्वक स्वीकार कर लें। मान्यताओं को मान्यताओं से काटने के लिए शास्त्र चिन्तन का स्वाध्याय सत्संग का चिन्तन, मनन का विधान है। अध्यात्म दर्शन की यही पृष्ठभूमि है।

अध्यात्म का दूसरा पक्ष है—साधना। इसे भौतिक मनोवैज्ञानिक भाषा में स्व संकेत—स्व शिक्षण—आत्म निर्देश आदि कह सकते है। आध्यात्मिक मनोविज्ञान की दृष्टि से यह सूक्ष्म जगत से—ब्रह्म चेतना से सम्पर्क स्थापित करके उपयुक्त आदान-प्रदान का द्वार खोलना है। इस प्रयास को उपासना साधना के नाम से जाना जाता है। भक्ति-भावना के साथ अध्यात्म साधनाओं में निरत रहने की प्रक्रिया अभिनव और उपयोगी आस्थाओं की प्रतिष्ठापना अन्त'करण के मर्मस्थल में कर सकना सम्भव हो जाता है। स्पष्ट है यह स्थापना पुरानी अनुपयुक्तता का उन्मूलन भी करती है। सुसंस्कारों की अभिवृद्धि से कुसंस्कारों का निरस्त होते जाना स्वाभाविक है। मात्र अवांछनीयता के उन्मूलन का प्रयास सफल नहीं हो सकता उस स्थान पर परिष्कृत स्थापना की नितान्त आवश्यकता रहती है। साधनात्मक क्रिया-कलापों से श्रेष्ठता के प्रतिश्रद्धा विकसित करने के साथ-साथ निकृष्टता के उन्मूलन का प्रयोजन भी साथ-साथ सिद्ध होता चलता है।

यह तो समीक्षक का विश्लेपण हुआ। तथ्यों की दृष्टि से अध्यात्म विज्ञान के दोनों पक्ष—(१) चिन्तन परक ब्रह्म-विद्या और (२) साधना परक तपश्चर्या—दोनों ही हर दृष्टि से तथ्यपूर्ण हैं। वे आस्था की दृष्टि से ही उपयोगी नहीं है वरन् तर्क, तथ्य और प्रमाणों की दृष्टि से भी स्वीकार करने योग्य हैं। उनके समर्थन में इतना कुछ कहा जा सकता है कि अनास्था के लिए कम ही गुंजायश रह जायगी। अनुभवों की कसौटी पर कस कर इसके प्रभाव की स्वयं परीक्षा की जा सकती है। दूसरों से प्रमाण पूछने की अपेक्षा यह आत्म-साक्षी और भी अधिक समाधान कारक हो सकती है।

ब्रह्म शब्द से ब्रह्म विद्या का ज्ञान भाग और वर्चस शब्द से साधना का विज्ञान भाग जाना जा सकता है। उच्चस्तरीय आस्थाओं को स्वीकार कर सकने की कोमलता जिसमें हो सके उसे ऋतम्भरा प्रज्ञा कहते हैं। साधना की सफलता भी उसी स्तर की मनोभूमि में सम्भव होती है। ऋतम्भरा भाव-भूमिका को अध्यात्म विज्ञान में 'गायत्री' कहा गया है। अस्तु गायत्री महाविद्या की पृष्ठभूमि पर ही ब्रह्म वर्चस् विज्ञान का भवन खड़ा किया गया है।



कामधेनुः तत्व ब्रह्म-विज्ञान

गायत्री विद्या का तत्वज्ञान मनुष्य की अन्तरङ्ग स्थिति को सुसंस्कृत बनाने में समर्थ है। उसका साधना विज्ञान बहिरंग परिस्थितियों को समुन्नत बनाने की भूमिका प्रस्तुत कर सकता है। दोनों ही दृष्टियों से उसकी गरिमा एवं उपयोगिता को देखते हुए अध्यात्म वेत्ताओं ने उसे 'परम'—सर्वोपरि-सर्वोत्कृष्ट ऐसा आधार बताया है जिसके सहारे सर्वतोमुखी प्रगति के पथ पर अग्रसर हो सकना सम्भव बनता है। यों अपने-अपने स्थान पर सभी तत्व-ज्ञान एवं उपासनात्मक विधि-विधान महत्वपूर्ण हैं, पर तुलनात्मक अध्ययन करने के उपरान्त जिन ब्रह्म-वेत्ताओं ने वरिष्ठता के निष्कर्ष निकाले हैं, उन्होंने गायत्री को 'परम' कहा है और बताया है कि इसकी सार्थकता एवं समर्थता पर सन्देह करने की आवश्यकता नहीं है। शास्त्र-कार कहते हैं—

न गायत्र्याः परंपरम्। (भारद्वाजस्मृति १२।४२)
गायत्री परमो मन्त्रः। (अग्निपुराण २८४।२)
गायत्र्यास्तु परं नास्ति। (सम्वर्तस्मृति १।१४)
सावित्र्यास्तु परं नास्ति। (मनुस्मृति २।८३)
सावित्र्यास्तु परं नास्ति। (वृहद्योगि वा०स्मृ०२।६३
गायत्र्यतिगरीयसी। (व्रहत्पारासर स्मृति ४।१६)
न गायत्री समो मन्त्रः। (स्कन्दपुराण काशीखण्ड९।५२
गायत्र्या न परं जप्यम्। (पद्मपुराण स्व० ५३।५८)
न गायत्र्याः परं जप्यम्। (कूर्मपुराण,उत्तरार्ध१४।५८)
न गायत्र्याः परं जाप्यम्। (कुशनः संहिता ३।५४)
न गायत्र्याः सगं जाप्यम्। (पद्मपुराण पा० ६४।५०)
न गायत्र्यी समो जपः। (व्याघ्रपादस्मृति ३६९)

इन अभिवचनों में गायत्री विद्या की उत्कृष्टता का संकेत किया गया है। अन्य ऋषियों ने भी ऐसा ही कुछ कहा है—

एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामः परं तपः।
सावित्र्यास्तु परं नास्ति पावनं परमं स्मृतम्॥
—अग्नि पुराण

ॐ कार एकाक्षर पर ब्रह्म है। प्राणायाम परम तप है। गायत्री से बढ़कर पवित्र करने वाला साधन और कोई इस संसार में नहीं है।

यद्क्षरैकसंसिद्धेः स्पर्धते ब्राह्मणोत्तमः।
हरिशंकरकंजोत्थ सूर्यचन्द्रहुताशनैः॥
—गायत्री तंत्र

"जो सच्चा साधक गायत्री के एक अक्षर की भी सिद्धि कर लेता है, उसकी स्पर्धा हरि, शंकर, ब्रह्मा, सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि से होने लगती है।

ऐहिकामुष्मिकं सर्वं गायत्री जपतो भवेत्।
—अग्नि पुराण

इह लोक और परलोक के समस्त इष्ट फलों की प्राप्ति गायत्री जप से होती है।

गायत्र्येव तपोयोगः साधनं ध्यान मुच्यते।
सिद्धानां सामता माता नातः किंचिद् वृहत्तरम्॥
—स्कन्द पुराण

गायत्री ही तप है। गायत्री ही योग है। गायत्री ही सबसे बड़ा ध्यान और साधन है। इससे बढ़कर सिद्धि दायक साधन और कोई नहीं है।

परांसिद्धिमवाप्नोति गायत्री मुत्तमां पठेत्।
—शक्ति समुच्चय

गायत्री का जप करने से परा सिद्धि प्राप्त होती है।

यतः साक्षात् सर्व देवतात्मनः सर्वात्म द्योतकः सर्वात्म प्रतिपादकोऽयं गायत्री मन्त्रः।
—कौडन्य

यह गायत्री मन्त्र साक्षात् देव रूप, सर्व शक्तिमान,

सबको प्रकाश देने वाला और सर्वात्म ज्ञान का प्रतिपादक है।

गायत्री को ब्राह्मी शक्ति कहा गया है। यह ब्रह्माण्डीय चेतना का वह भाग है जो मानवी सत्ता को समुन्नत, समृद्ध एवं समर्थ बनाने की दृष्टि से अतीव महत्वपूर्ण है। गायत्री विद्या का उद्देश्य आत्मा और परमात्मा के बीच सम्भव हो सकने वाले आदान-प्रदानों के सन्दर्भ में अभीष्ट जानकारी प्रदान करना है। इसी प्रकार गायत्री उपासना का प्रयोजन यह है कि मानवी कलेवर के तीनों स्तर-स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर—इस योग्य बन सकें कि उन पर दिव्य अवतरण सम्भव हो सके और स्थिर रह सके। तथ्य को ध्यान में रखते हुए गायत्री को ब्राह्मी कहा गया है। उसे ब्रह्म तत्व माना गया है। ब्रह्म और गायत्री की एकता के अनेकों प्रतिपादन शास्त्रों में मिलते हैं—

ब्रह्म हि गायत्री। ताण्ड्य ११।११।६
ब्रह्म उ गायत्री। जै, उ० १।१।८
ब्रह्म वै गायत्री। ऐत ४।११ कौ० ३।५
ब्रह्म गायत्री। शत० १।३।५८

अर्थात् निश्चित रूप से गायत्री ब्रह्म ही है।

देवी दात्री च भोक्त्री च देवी सर्वमिदं जगत्।
देवी जयति सर्वत्र या देवी साऽहमेवच।
सर्वात्मना हि सा देवी सर्व भूतेषु संस्थिता।
गायत्री मोक्ष हेतुर्वे मोक्ष स्थान म लक्षणम्।

—ऋषि शृंग

दिव्य, देने वाली, भोक्ता, सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त, जिसकी सर्वत्र जय ही जय है। ऐसी गायत्री परब्रह्म है। वही मोक्ष का आधार है, वही मोक्ष का स्थान है।

जीव और ब्रह्म के बीच आदान-प्रदान की शृंखला रहने के कारण इस दिव्य-चेतना को 'ब्रह्म विद्या कहते हैं। उसके माध्यम से मनुष्य के अन्तःकरण में ऐसे उच्चस्तरीय आस्था प्रवाह का संचार होता है जिसे ब्रह्म ज्ञान, तत्वज्ञान आदि नाम दिये जाते हैं। व्यक्ति में गायत्री शक्ति के समावेश होने का परिचय इस सद्ज्ञान की अभिवृद्धि से ही मिलता है।

सर्वे देवा देवी मुपतस्तुः कासित्वं महादेवि। साब्रवीदहं ब्रह्म रूपिणी॥

—देवी उपनिषद

सब देवताओं ने महादेवि के सम्मुख जाकर पूछा—आप कौन हैं? तो उनने उत्तर दिया, मैं ब्रह्म रूपिणी हूँ।

स ब्रह्म विद्यां सर्व विद्या प्रतिष्ठितम्।

—मुण्डक

सम्पूर्ण विद्याओं में ब्रह्म विद्या ही श्रेष्ठ है।

पौराणिक-गाथाओं के अनुसार ब्रह्माजी ने गायत्री के चार चरणों की व्याख्या चार मुखों से, चार वेदों के रूप में की है। गायत्री का प्राकट्य आकाशवाणी के, ब्रह्म निर्देश के, अन्तःप्रेरणा के रूप में हुआ माना जाता है। जीवन की हर समस्या का समाधान और प्रगति के हर क्षेत्र का मार्ग-दर्शन हम इस महामन्त्र में सन्निहित संकेतों के आधार पर प्राप्त कर सकते हैं। भारतीय तत्वज्ञान को और भी अधिक सुबोध रीति से कथा प्रमाणों के आधार पर प्रस्तुत करने के लिए अन्यान्य धर्म ग्रन्थों की रचना हुई है। यह विशाल वाङ्मय फलतः वेदों का ही सुबोध भाष्य है। वेद ज्ञान की जन्मदात्री होने के कारण गायत्री को सर्वत्र 'वेद मातरम्' के नाम से सम्बोधन किया जाता रहा है।

वेदानां मातरं सावित्रा सम्पदमुपनिषद मुपास्ते।

गो० ब्रा० १।१।३२

सावित्री वेदों की माता है। उस दिव्य विभूति की उपासना की जाती है।

सर्व वेद सारभूता गायत्र्यास्तु समर्थना। ब्रह्मादयोपि संध्या यां तां ध्यायन्ति जपन्ति च।

देवी भागवत १६।१६।१५

गायत्री उपासना वेदों का सारभूत तत्व है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि सभी देव सन्ध्या सहित गायत्री की आराधना करते हैं।

विद्यात्वमेव ननु बुद्धिमतां नराणांशक्तिस्त्वमेव किल शक्ति मतां सदैव। त्वं कीर्ति कान्ति कमलामल तुष्टि रूपा मुक्ति प्रदा विरति रेव मनुष्य लोके। गायत्र्यसि प्रथम वेदकला त्वमेव स्वाहा स्वाधा

भगवती सगुणार्धमात्रा। आम्नाय एव विहितो निगमो भवत्या संजीवनाय सततं सुरपूर्व जान्तम्।

हे गायत्री, आप ही बुद्धिमानों में प्रज्ञा, शक्तिवानों में शक्ति बनकर निवास करती हैं। आप ही कीर्ति, कान्ति, तुष्टि एवं मुक्ति दायिनी हैं। आप ही वेदों का सार हैं। यज्ञ कर्मों में स्वाहा स्वधा हैं। आपका ही विस्तार आगम और निगम में हुआ है। आप ही देव पूजित संजीवनी हैं।

गायत्री सद्ज्ञान की गंगोत्री है। उसे अपनाने से अन्तःकरण में सद्ज्ञान का, ब्रह्म विद्या का, अवतरण होता है। ऐसा ब्रह्म चेता मनुष्य ब्राह्मण कहलाता है। ब्राह्मण अपने ब्रह्म तेज से स्व पर कल्याण कर सकने में समर्थ होता है। उसकी ब्रह्म तेजस्विता का स्तर ब्रह्म तुल्य हो जाता है।

ब्रह्म ब्राह्मणे ब्रह्मविदि प्रतिष्ठितम्।

"वह ब्रह्म ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण पर प्रतिष्ठित है।"

यो ह वाएवं वित्स ब्रह्मवित् पुण्यांच कीर्ति लभते सुरभींश्च गन्धान्। सोऽपहत् पाप्मानन्तां श्रियमश्नुते य एवं वेद। यश्चैवं विद्वनेवमेतां वेदानां-मातरं सावित्री सम्पदमुपनिषद मुपास्त इति ब्राह्मणम्।

—गायत्री उपनिषद

"जो इस प्रकार जानता है, वह ब्रह्म-वेत्ता ब्रह्मज्ञानी पुण्य-कीर्ति और सुरभि-गन्ध को प्राप्त करता है। उसके समस्त पाप दूर हो जाते हैं। वह अनन्त श्री—ऐश्वर्य वैभव का उपभोग करता है। जो इस प्रकार जानता है और जो इस प्रकार ज्ञान सम्पादन करके समस्त वेदों की माता सावित्री के इस उत्तम सम्पत्प्रद उपनिषद् की उपासना करता है वही ब्राह्मण है।

परब्रह्म स्वरूपा च निर्वाण पद दायिनी।
ब्रह्म तेजो मयी शक्ति स्तधिष्ठातृ देवता॥

गायत्री परब्रह्म स्वरूप तथा निर्वाणपद देने वाली है। वह ब्रह्म तेज की अधिष्ठातृ देवी है।

परब्रह्म स्वरूपा च निर्गुण पद दायिनी।
ब्रह्म तेजोमयी शक्ति स्तदधिष्ठातृ देवता॥

—देवी भागवत ६।१।४२

वह ब्रह्म स्वरूप, निर्विकल्प पद देने वाली, ब्रह्म तेज यही परम शक्ति तथा अधिष्ठातृ देवी गायत्री ही है।

तस्मिस्तज्जने भेदाभावत्।
ब्रह्म विद् ब्रह्मैव भवति॥

"इस प्रकार सब भेद जाता रहता है। ब्रह्म का जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है।"

सावित्र्याश्चैव मंत्रार्थं ज्ञात्वा चैव यथार्थतः तस्यां ययुक्त चोपास्यं ब्रह्म भूयाय कल्पते।

—योगी याज्ञवल्क्य

गायत्री का गूढ़ मर्म और रहस्य जानकर जो उसकी उपयुक्त उपासना करता है वह ब्रह्म भूत ही हो जाता है।

यश्चैवं विद्वानेव मेता वेदानां मातरं सावित्री सम्पद मुपनिषद मुपास्ते इति।

—गोपथ

वेद माता गायत्री की उपासना करने वाले विद्वान और श्रद्धावान होते हैं।

ब्रह्म विद्या और ब्राह्मण दोनों अन्योन्याश्रित हैं। ब्रह्म विद्या का सही अवगाहन करने वाला सच्चा ब्राह्मण बन कर रहता है। इसी बात को यों भी कह सकते हैं कि ब्राह्मण को ही ब्रह्म विद्या प्राप्त होती है। यहाँ जाति वंश के आधार पर जाने वाले ब्राह्मण कुल की चर्चा नहीं है। ब्राह्मत्व तो एक मनोभूमि है। जिसमें आत्म-परिष्कार और लोक मंगल के तत्व कूट-कूट कर भरे होते हैं। ऐसे ही ब्रह्म परायणों की अवधारणा से ब्रह्म विद्या यशस्विनी होती है। दोनों एक-दूसरे के सहयोग से धन्य बनते हैं।

उपनिषद में वर्णित ब्रह्म विद्या और ब्राह्मण के बीच यह एक अलंकारिक सम्वाद इस तथ्य को और भी अधिक स्पष्ट करता है। उस सम्वाद में बताया गया है कि ब्रह्म परायण, उदात्त दृष्टिकोण युक्त व्यक्ति ही ब्रह्मचर्चा करे तो उत्तम है। वाचालता एवं छद्म उद्देश्यों के लिए उसे प्रयुक्त करने से तो न करना ही उपयुक्त है।

विद्या ब्राह्मण मेत्याह सेवधिस्तेऽसिप रक्षमाम्।
असूयकाय मां मादास्तथा स्यां वीर्यवित्तम्त॥

विद्या ब्राह्मण के समीप में आकर कहती है कि—'मैं तेरी धरोहर हूँ, तुझे मेरी भली-भाँति रक्षा करनी चाहिए। मुझे किसी भी निन्दक पुरुष को मत देना।

ऐसा तेरे करने पर मैं अधिक वीर्य-पराक्रम वाली हो जाऊँगी।

विद्या ह वै ब्राह्मण मा जगाम गोपाय मां शेवधि स्ते ऽ हमस्मि। असूय माया नृजवेऽयताय न मां ब्रू या वीर्यवती तथा स्याम्॥

ब्रह्म विद्या ब्राह्मण के समीप में आकर उससे कहती हैं कि मेरी रक्षा करो, मैं तुम्हारी निधि हूँ। जो असूया (निन्दा) करने वाला हो, कुटिल हो और संयम से शून्य हो ऐसे पुरुष को मुझे कभी मत देना, तभी मैं वीर्य वाली होऊँगी।

ब्रह्म विद्या की उपहासास्पद स्थिति तब बनती है जब उसका अवगाहन करने वाले व्यक्तित्व की उत्कृष्टता को आवश्यक न मान कर कर्मकाण्डों और विधि-विधानों को ही सब कुछ मान लेते हैं। अग्नि बिना ईंधन ज्वलनशील कहाँ होता है। ज्योति के अभाव में तेल बत्ती युक्त दीपक भी कहाँ प्रकाश दे पाता है उसी प्रकार व्यक्तित्व की निकृष्टता के रहते, उपासनात्मक कर्मकाण्ड भी कब सफल होते हैं। ब्राह्मण की दुर्दशा का—असफलता का एकमात्र कारण उसकी उत्कृष्टता का स्तर गया-गुजरा होना ही है, साधना विधानों मे अन्तर रहने की बात इस सन्दर्भ में कोई बड़ा व्यवधान प्रस्तुत नहीं करती। कहा भी है—

अनध्यापन शीलं च सदाचार विलंघनम्।
सालसं च दुरन्नादे ब्राह्मणं बाधते यमः॥

स्वाध्याय न करने से, आलस्य से और कुधान्य खाने से ब्राह्मण का पतन हो जाता है।

अनभ्यासेन वेदनामा चार स्य च वर्जनात।
आलस्यात् अन्न दोषाच्च मृत्युर्वि प्रान् जिथा सति॥
—मनु० ५-४

वेदों का अभ्यास न करने से, आचार छोड़ देने से, आलस्य से, कुधान्य खाने से ब्राह्मण की मृत्यु हो जाती है।

जिह्वादग्धा परान्नेव करौ दग्धौ प्रति ग्रहात्।
मनोदग्धं परस्त्री भिः कथं सिद्धि र्वरानने।
वादार्थं पठयते विद्या, परार्थं क्रियते जपः।
ख्यात्यर्थं दीपते दानं कथं सिद्धि र्वरानने।

पराया अन्न खाने से जिह्वा की शक्ति नष्ट हो गई। दान-दक्षिणा लेते रहने से हाथों की शक्ति चली गई, पर नारी की ओर मन डुलाने से मन नष्ट हो गया फिर हे पार्वती इन ब्राह्मणों को सिद्धि कैसे प्राप्त हो?

ब्रह्म विद्या परायण—गायत्री उपासक इस दिव्य साधना का आश्रय लेकर सब प्रकार धन्य बनता है इसे कल्प-वृक्ष, कामधेनु, अमृत, पारस आदि नामों से सम्बोधन किया गया है। परा विद्या यही है। कूर्म पुराण में उसका गुणानुवाद गाते हुए कहा गया है—

वाग्देवी वरदा वाच्या कीर्त्तिः सर्वार्थसाधिका।
योगीश्वरी ब्रह्मविद्या महाविद्या सुशोभना॥
गुह्यविद्याऽऽत्मविद्या च धर्म्मविद्यात्मभाविता।
स्वाहा विश्वम्भरा सिद्धिः स्वधा मेधा धृतिः श्रुति॥
—कूर्म पुराण

वाक् देवी, वरदात्री, सर्व अर्थों का साधन करने वाली गायत्री है। उसी को योगेश्वरी, ब्रह्म विद्या, महाविद्या, गुह्य विद्या, अध्यात्म विद्या, धर्म विद्या कहते हैं। वही स्वाहा, स्वधा, मेधा, धृति, श्रुति आदि है।

एवं विच्छान्तोदान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मनोवात्मानं पश्यति। सर्व्वमात्मानं पश्यति नैनं पाप्मातरति सर्व्वं पाप्मानं तरति नैनं पाप्मा तपति
सर्व्वं पाप्मान तपति विपापो विरजोऽविचिकित्सो ब्राह्मणो भवति॥
—बृहदा ४ अ ४।२३

अर्थ—इस प्रकार से जानने वाला शान्त, उपरत, तितिक्षु (और) समाहित होकर आत्मा में ही परमात्मा को देखता है, सब जीवों का जो अन्तरात्मा उसे देखता है। ऐसे ब्रह्म परायण को पाप दबा नहीं सकता। वह समस्त पापों का उल्लंघन कर जाता है। उसे पाप तपाता नहीं। वह उलटा पापों को ही तपाता है। पाप रहित—वासना रहित—व्यक्ति निस्सन्देह ब्राह्मण ही होता है।

—❀—

गायत्री का भर्गतत्व ब्रह्म-वर्चस्

गायत्री का एक पक्ष है—ब्रह्म विद्या—दृष्टिकोण एवं क्रिया-कलाप का परिष्कार। उसका दूसरा पक्ष है—प्रसुप्त अन्तःशक्तियों का जागरण—ब्रह्म तेज का सम्वर्धन। पौराणिक गाथाओं में ब्रह्मा जी की दो पत्नियाँ बताई गई हैं—एक गायत्री, दूसरी सावित्री। गायत्री को ब्रह्म विद्या और सावित्री को ब्रह्माग्नि नाम दिया गया है अग्नि की तेजस्विता सर्वविदित है। अग्नि ऊर्जा से कितने प्रयोजन सधते हैं यह सभी जानते हैं। आन्तरिक ब्रह्माग्नि भी अगणित भौतिक और आध्यात्मिक प्रयोजन सिद्ध कर सकने में समर्थ है।

साधना विज्ञान के दो पक्ष हैं—एक योग, दूसरा तप। योग कहते हैं जोड़ने-मिलाने को। जीव जब अपनी भौतिक महत्वाकांक्षाओं का परित्याग करके ईश्वरीय निर्देशों को—आत्म-संकेतों को स्वीकार करता है तब उसे समर्पित, शरणागत, भक्त अथवा योगी कहा जाता है। योग से आत्मा को देवात्मा-परमात्मा स्तर तक विकसित होने का अवसर मिलता है। तप से शक्ति उभरती है। अरणि मंथन से अग्नि उत्पन्न होती है तितीक्षा के कष्ट-कारक विधि-विधानों से—आत्म-संयम, मनोनिग्रह एवं उदात्त सेवा साधनों के लिए कष्ट उठाने से प्रसुप्त अन्तःक्षेत्र को प्रखर बनने का अवसर मिलता है इस प्रखरता के सहारे विभिन्न स्तर की उपलब्धियाँ प्राप्त कर सकना सम्भव होता है। तितीक्षा और साधना एक ही तथ्य के दो नाम रूप हैं। साधना से सिद्धि मिलने की मान्यता के पीछे शक्ति सम्पादन का रहस्य ही काम करता है। सशक्तता ही प्रगति, समृद्धि और विभूति के त्रिविधि सत्परिणाम उत्पन्न करती रहती है।

गायत्री से शान्ति का—मोक्ष का द्वार खुलता है और सावित्री से सर्वतोमुखी समर्थता उपलब्ध होती है। सर्वतोमुखी प्रगति के पथ पर सफल यात्रा तभी हो सकेगी जब यह दोनों ही रथ-चक्र समान रूप से लुढ़कते रह सकें। गायत्री और सावित्री दो पृथक सम्प्रदाय या मार्ग नहीं है। समग्र आत्मिक प्रगति के लिए दोनों को एक दूसरे का पूरक यहाँ तक कि अविच्छिन्न भी कहा जा सकता है। ज्ञान की ही तरह विज्ञान भी आवश्यक है। सुसंस्कारों के साथ-साथ पराक्रम की क्षमता भी रहनी चाहिए। अन्यथा एकांगी प्रगति का अधूरापन अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति न होने देगा।

गायत्री के ब्रह्म विद्या स्वरूप का संकेत 'धियः' शब्द में किया गया है। 'भर्गः' में उसके 'तेजस्' का प्रतिपादन है। दोनों के समन्वय से ही गायत्री तत्व के यथार्थ स्वरूप का प्रकटीकरण होता है। शास्त्रों में गायत्री की ज्ञान गरिमा के साथ-साथ उसके तेजस्वी पक्ष का भी उल्लेख किया गया है।

ब्रह्मत्वं चेदाप्तु कामोऽस्युयास्व गायत्रीं चेल्लोक कामोऽन्यदेवम्। बुद्धेः साक्षी बुद्धिगम्यो जयादौ गायत्र्यर्थः सोऽनद्यो वेदसारः तद ब्रह्मैव ब्रह्मतोपास-कस्या प्येवं मंत्रः कोऽस्ति तंत्रे पुराणे।

—देवी भागवत

ब्रह्म तेज प्राप्त करने की इच्छा हो तो वेदमाता गायत्री की ही उपासना करनी चाहिए। अन्य कामनाओं के लिए अन्य देवताओं को पूजे।

इसी से साक्षी बुद्धि—ऋतम्भरा प्रज्ञा का उदय होता है। यही वेदों का सार है। पापों से निवृत्ति और पवित्रता की सिद्धि इसी से मिलती है। ब्रह्मत्व की उपासना करने वाले के लिए यही साक्षात् ब्रह्म है। यह शिरोमणि मन्त्र है। इससे बढ़कर और कोई मन्त्र-तन्त्र आदि नहीं है।

यो वा अत्राग्निर्गायित्री स निदानेन।

शत० १।८।२।१५

गायत्री को ही निदान (ब्रह्म ज्ञान) और अग्नि (ब्रह्म शक्ति) का रूप समझना चाहिए।

गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदंकिञ्च।

छान्दोग्य ३।१२।१

इस जड़ चेतन जगत में गायत्री ही शक्ति रूप से विद्यमान है।

ब्रह्मण्य तेजो रूपा च सर्व संस्कार रूपिणी पवित्र रूपा सावित्री, वांछतिह्यात्म शुद्धये।

—देवी भागवत

गायत्री 'ब्रह्म तेज' रूप है। पवित्रता एवं संस्कार रूपिणी है। उससे आत्म-शुद्धि होती है।

गायत्री को सोम और सावित्री को अग्नि कहा गया है। यहाँ अग्नि से तात्पर्य है ब्रह्माग्नि, योगाग्नि। साधना क्षेत्र में इसी को जीवनी-शक्ति, प्राण-ऊर्जा, कुण्डलिनी शक्ति आदि नामों से पुकारते हैं। ब्रह्म तेज इसी ब्रह्माग्नि की प्रतिक्रिया है। ओजस्, तेजस् एवं वर्चस् इसी को कहते हैं। ब्रह्माग्नि और ब्रह्म वर्चस् शब्दों में लेखन उच्चारण का ही अन्तर है। तथ्यों की दृष्टि से दोनों को एक ही कहा जा सकता है। ब्राह्मी ऊर्जा उपार्जित कर लेने वाले तपस्वी अपने ढङ्ग के अनौखे शक्तिवान् होते हैं। उनकी समर्थता अन्य किसी सामर्थ्य के साथ आँकी नहीं जा सकती।

ब्रह्माग्नि की चर्चा शास्त्रों में स्थान-स्थान पर हुई है—

द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति। आर्द्रं चैव शुष्कं च यदार्द्रं तत् सौम्यं यच्छुष्कं तदाग्नेयम्।

—शतपथ

यह संसार दो पदार्थों से मिलकर बना है—(१) अग्नि, (२) सोम। इनके अतिरिक्त तीसरा कुछ नहीं है।

अग्नि र्वा अहः सोमारात्रिरथ यदन्तरेण तद् विष्णु।

श० प० ३।४।४।१५

अग्नि और सोम के मिलन को विष्णु कहते हैं।

इमौ तै पक्षावजरौ पतत्रिणौ याभ्यां रक्षांस्यपहंस्यग्ने। ताभ्यां पतेम सुकृतामु लोकं यत्र ऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः।

यजु० १८।५२

हे अग्नि! तेरे दोनों पंख फड़फड़ाते हैं। उनसे पाप और तम का हनन होता है। इन्हीं पंखों के सहारे हम उस पुण्य-लोक तक पहुँचते हैं जहाँ पूर्ववर्ती ऋषि पहुँचे थे।

इन्दुर्दक्षः श्येन ऋतावा हिरण्य पक्षः शकुनो भुरण्युः। महान्तसधस्थे ध्रुव आ निषतो नम ते अस्तु मा मा हिंसी।

—यजु० १८।५३

हे अग्नि तू सोम रस से परिपूर्ण है। तू दक्ष है। तू ही ऋत युक्त है। तेरे अमृत सिक्त पंख हैं। तू शक्तिशाली है, पोषक है, तू मस्तिष्क में ध्रुव केन्द्र बनकर विराजमान है। तुझे नमस्कार। तू हमें जलाना मत।

अग्निर्ललाटं यमः कृकाटम्। अथर्व ६।७।१

तुम्हारे ललाट में वह अग्नि उत्पन्न हो जो शिव रूप बनकर काम विकृतियों को भस्म कर सके।

ब्रह्म ह्यग्नि स्तस्मादाह ब्राह्मणेति।

शतपथ० १।४।२।८

मनुष्य शरीर में विद्यमान यह आत्मा रूपी अग्नि ब्रह्म ही है।

येन ऋषयस्तपसा सत्रमायन्निन्धाना अग्निं स्वराभरन्तः। तस्मिन्नह निदधे नाके अग्निं यमाहुर्मनवस्तीर्णवर्हिषम्।

यजु० १५।४६

इस आन्तरिक अग्नि को ऋषि लोग अपने तप बल से प्रदीप्त करते हैं और उसे स्वर्ग लोक तक पहुँचा कर मस्तिष्क को प्रकाश से भरते हैं। यही दिव्य अग्नि है।

अग्निः पूर्वेभि ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत। स देवां एह वक्षति। ऋ० १।१।२

प्राचीन और अर्वाचीन सभी ऋषि अग्नि का आश्रय लेते हैं क्योंकि वही देवताओं को धारण करती है।

तामग्ने अस्मे इषमेरयस्व वैश्वानर द्युमतीं जातवेदः। यया राधः पिन्वसि विश्ववार पृथुश्रवो दाशुषे मर्त्याय।

ऋ० ७।५।८

हे अग्नि, हमारे भीतर वे उदात्त आकांक्षाएँ पैदा करो जिनसे प्रभावित होकर तुम प्रसन्न होते हो और कीर्ति एवं सिद्धियाँ प्रदान करते हो।

अग्ने विवस्वदुषसश्चित्रं राधो अमर्त्य ।
आ दाशुषे जातवेदो वहात्वमद्या देवां उषर्बुधः ॥
ऋ० १।४४।१

हे अग्नि मेरे जीवन की ऊषा वनकर प्रकटो। अज्ञान के अन्धकार को दूर करो। ऐसा आत्म-वल प्रदान करो जिससे देवों का अनुग्रह खिचा चला आवे।

त्वदग्ने काव्यास्त्वन्मनीषास्त्वदुक्था जायंते राध्यानि।
त्वदेति द्रविणं वीरपेशा इत्थाधिये दाशुषे मर्त्याय ॥
ऋ० ४।११।३

हे अग्नि ! आप सत्य को धारण करने वाले उदार व्यक्ति के अन्तःकरण में कवित्व जैसी करुणा भर देते हो। तुम्हारी ऊष्मा से ही साहसी लोग सिद्धियाँ और सफलताएँ प्राप्त करते हैं।

अग्ने तवश्रवो वयो महि भ्राजन्ते अर्चयो विभावसो।
बृहद्भानो शवसा वाजमुक्थ्यं दधासि दाशुषे कवे ॥
ऋ० १०।१४०।१

हे अग्नि ! शरीर में संव्याप्त होकर आपकी प्रशंसनीय ज्वालाएँ हर दिशा में चमकती हैं। भाव-विभोर उदात्त व्यक्ति को आप ही उत्थान की प्रेरणा और प्रतिभा प्रदान करती हैं।

यत् ते पवित्रमर्चिषि, अग्ने विततमन्तरा।
ब्रह्म तेन पुनीहि नः ॥ ऋ० ९।६७।२३

हे अग्नि देव ! जो पवित्र और विशाल ब्रह्म तेरी ज्वाला में लस-लस कर रहा है, उससे हमें पवित्र करो।

इदं वर्चो अग्निना दत्तमागन्,
भर्गो यशः सहः ओजो वयो वलम्।
त्रयस्त्रिंशद्यानि च वीर्याणि,
तान्यग्निः प्र ददातु मे ॥
अथर्व० १९।३०।१

मुझे अग्नि द्वारा क्या कुछ नहीं मिल रहा ? प्रकाश तेज, यश, प्रभाव, पराक्रम और वल—सभी मेरे अन्दर आ रहे हैं। मुझ पर अग्नि की कृपा बनी रहे और मुझे तेंतीस प्रकार के सभी वीर्य प्राप्त होते रहें।

अग्नेऽभ्यावर्तिन्नभि मा निवर्तस्वायुषा वर्चसा प्रजया धनेन सन्या मेधया रय्या पोषेण।
यजु० १२।७

हे अग्नि तू आयु, वर्चस, प्रजा, धन, दान, मेधा, रयि, पुष्ट वनकर अपना अनुग्रह हमें प्रदान करे।

इस ब्रह्माग्नि के—योगाग्नि के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसे गायत्री का ही ब्रह्म तेजस् कहा गया है।

यो वा अत्राग्नि गायत्री। —शतपथ ८।२।१५

गायत्री दिव्य अग्नि है।

गायत्री के २४ अक्षरों में सन्निहित २४ शक्तियों की व्याख्या करते हुए शास्त्र कहता है—

आजश्शक्ति वल प्रभाव सुषमा तेजस्सु वीर्यप्रभा।
ज्ञानैश्वर्य महस्सहो जययशस्स्थैर्यं प्रतिष्ठाश्रियः ॥
विज्ञान प्रतिभा मतिस्मृतिधृति प्रज्ञाप्रथस्सु ज्वलाः।
वर्णास्त्वन्मानुगै स्त्रिरषभि रहो वर्ध्यन्त एवात्रमे ॥

"ओज, शक्ति, बल, महिमा, कान्ति, तेज, पराक्रम, प्रकाश, ज्ञान, ऐश्वर्य, विकास, सहनशक्ति, जय, कीर्ति, स्थिरता, प्रतिष्ठा, लक्ष्मी, विज्ञान, प्रतिभा, मति, स्मृति, धृति, प्रज्ञा, ख्याति—यह चौवीस गुण हे माता ! तुम्हारे मन्त्र में रहने वाले चौवीसों वर्णों द्वारा मुझमें अभिवृद्धि पा रहे हैं।"

इस सावित्री शक्ति की गरिमा को भगवान् मनु सशक्तता के क्षेत्र में सर्वोपरि मानते हैं।

सावित्र्यास्तु परान्नास्ति।
—मनु० २।८३

सावित्री से वढ़ कर श्रेष्ठ और कुछ नहीं है।

ज्ञान को ब्रह्म और विज्ञान को क्षत्र कहा गया है। भारतीय धर्म में दोनों को समान महत्व दिया गया है और दोनों के उपार्जन में समान प्रयत्न करने का निर्देश दिया गया है—

द्रोणाचार्य के शास्त्र और शस्त्र धारण का कारण—ब्रह्म और क्षत्र दोनों को समान उपयोगिता के रूप में वताया गया है—

अग्रतः चतुरो वेदा पृष्ठतः सशरं धनु।
इदं ब्राह्मं इदं क्षात्र शास्त्रादपि शरादपि ॥
—महाभारत

हम वेदों को आगे रखकर लोगों को समझाने और सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करते हैं। साथ ही पीठ पर धनुष वाण भी रखते हैं। यह धर्म शिक्षा 'ब्राह्म' है और

यह शस्त्र धारण 'क्षात्र' है। दोनों शक्तियों के समन्वय से ही समस्याएं सुलझती हैं।

नाब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्धते।
ब्रह्म क्षत्रं च संपृक्तमिह चामुत्र वर्धते ॥

ब्रह्म-शक्ति के बिना क्षत्र-शक्ति नहीं बढ़ती और क्षत्र-शक्ति के बिना ब्रह्म-शक्ति नहीं बढ़ती। परस्पर मिली हुई ब्रह्म-शक्ति और क्षत्र-शक्ति ही इस लोक और परलोक में वृद्धि को प्राप्त होती है।

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यंचौ चरतौ सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना ॥

—यजुर्वेद २०।२५

"जहाँ ब्रह्म-शक्ति और क्षात्र-शक्ति साथ-साथ रहती हैं, वही लोक पुण्यशाली होता है।" इस मन्त्र में आये हुए 'ब्रह्म' और 'क्षत्र' पद क्रमशः ज्ञान और कर्म के वाचक हैं। ये दोनों शक्तियाँ जहाँ होंगी वहीं प्रगति के आधार बनेंगे।

ब्रह्मणि खलु वै क्षत्रं प्रतिष्ठितम् क्षत्रे ब्रह्म।

—अथर्व० ८।१२

ब्रह्म में क्षत्र की स्थिति होती है और क्षत्र में ब्रह्म की।

ब्रह्म च क्षत्रं च संश्रिते।

—अथर्व० ३।११

ब्रह्म और क्षत्र परस्पराश्रित होते हैं।

नायमात्मा वलहीनेन लभ्यो न च
प्रमादात्तपसो वाप्यलिंगात्।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष
आत्मा विशते ब्रह्मधाम ॥

—मुण्डकोपनिषद ३।२।४

वह परमात्मा निर्वल मनुष्य से भी नहीं जाना जाता अथवा पाखण्ड रूप तप से भी वह नहीं मिलता। हाँ जो विद्वान्, वल, कर्म, अप्रमाद आदि उपायों का अभ्यास करता है उसी का आत्मा ब्रह्मलोक में प्रवेश करता है।

ज्ञान को शिव और वल को शक्ति का प्रतीक माना गया है। मात्र ज्ञान ही सम्पादित किया जाय और वल की उपेक्षा होती रहे तो उस एक पक्षीय प्रगति से कुछ काम चलने वाला नहीं है। शक्ति पक्ष की गरिमा वताते हुए कहा गया है—

शक्ति विना महेशानि सदाऽहंशव रूपकः।
शक्ति युक्तो महादेवि शिवोऽहं सर्व कामदः ॥

शक्ति के विना महादेव केवल शव मात्र है। शक्ति युक्त होने पर ही वे समर्थ शिव वनते है।

शववच्छक्ति हीन स्तु प्राणी भवति सर्वदा।

शक्ति हीन प्राणी तो मृतक तुल्य है।

रुद्र हीनं विष्णु हीनं न वदन्ति जनः किल।
शक्ति हीनं यथा सर्वे प्रवदन्ति नराधमम् ॥

किसी का तिरस्कार करना हो तो उसे रुद्र हीन, विष्णु हीन नहीं कहा जाता, वरन् उसे शक्ति हीन, अशक्त, निकम्मा कहकर ही तिरस्कृत किया जाता है।

प्रभावेणैव गायत्र्याः क्षत्रिय कौशिको वशी।
राजर्षित्वं परित्यज्य ब्रह्मर्षि पद मीयिवान् ॥
सामर्थ्यं प्रायचात्युच्चै रन्यद्भुवन सर्जने।
किं किं न दयात् गायत्री सम्यगेव मुपासिता ॥

—स्कन्द पुराण

क्षत्रिय विश्वामित्र ने राजर्षि पद से उन्नति करते हुए ब्रह्मर्षि पद गायत्री उपासना के वल पर ही प्राप्त किया। दूसरी नई सृष्टि रच डालने की शक्ति भी प्राप्त की थी। भली प्रकार साधना की हुई गायत्री से भला कौन-सा लाभ प्राप्त नहीं किया जा सकता।

आध्यात्मिक और भौतिक प्रगति गायत्री के ज्ञान और विज्ञान दोनों ही पक्षों को अपनाने से सम्भव होती हैं। अस्तु उसकी सावित्री तेजस्विता को भी उपलब्ध करने के लिए प्रयत्नशील रहा जाना चाहिए।

तस्या एष तृतीयः पादः स्वर्धियो यो नः प्रचोदयादिति स्त्री चैव पुरुषश्च प्रजयनतः।
यो वा एतां सावित्रीमेवं वेद स पुनर्मृत्युं जयति।

—सावित्र्युपनिषद् १२।१३।१४

इस सावित्री देवी की जो स्त्री, पुरुष, गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए उपासना करते हैं, वे श्रेष्ठ सन्तान उत्पन्न करते हैं उनकी वार-वार मृत्यु नहीं होती।

जो इस सावित्री विद्या को जानता है, वह विद्वान् कृत-कृत्य हो जाता है और सावित्री लोक को प्राप्त करता है। यह उपनिषद है।

यह आत्म-शक्ति दो प्रकार के प्रयोजन पूरे करती है। एक तो उसके सहारे सर्वतोमुखी प्रगति के आधार हस्तगत होते हैं, दूसरे दुष्टता को निरस्त करने के लिए ब्रह्म दण्ड के रूप में इसका प्रयोग हो सकता है। सुसम्पन्नता प्राप्त करने के लिए जिस आन्तरिक बलिष्ठता की आवश्यकता है वह सावित्री उपासनात्मक और साधनात्मक अवलम्बन गृहण करने से उपलब्ध हो सकती है। उपासना को व्यायाम और साधना को आहार-विहार की सुव्यवस्था के समतुल्य माना गया है। अन्तःशक्ति के सहारे व्यक्तित्व को परिष्कृत बनाया जाता है और उस आधार पर अनेकानेक सिद्धियाँ, सफलताएँ प्राप्त करने का पथ-प्रशस्त होता चला जाता है।

ब्रह्मण्य तेजो रूपा च सर्व संस्कार रूपिणी।
पवित्र रूपा सावित्री गायत्री ब्राह्मण प्रिया॥

—देवी भागवत

यह सावित्री ब्रह्म तेज रूप है। इस गायत्री को अपनाने से सुसंस्कारिता, पवित्रता एवं ब्रह्म परायणता प्राप्त होती है।

सावित्री प्रवेश पूर्वकमप्सु सर्व विद्यार्थ
स्वरूपां ब्राह्मण्या धारां वेदमातरम्।

—परमहंस परिव्राजकोपनिषद्

सर्व विद्याओं की अधिष्ठात्री, ब्रह्म धारा, वेदमाता गायत्री में प्रवेश करते हुए साधना करनी चाहिए।

तपः संपादिनी सद्यो भारतेषु तपस्विनाम्।

—देवी भागवत

तपस्वियों में तप शक्ति बनकर तुम्हीं विराजमान हो।

तपः स्वरूपा तपसां फलदात्री तपस्विनाम्।
सिद्धिविद्यास्वरूपा च सर्व सिद्धिप्रदा सदा।
यया विना तु विप्रौघो मूको मृतसमः सदाः।

—देवी भागवत

वह तप स्वरूपिनी है, तपस्वियों को फल प्रदान करती है। उसी को सिद्धि कहते हैं, उसी को विद्या। उसके अभाव में साधक मूक और मृतक तुल्य ही बना रहता है। समस्त सिद्धियों के देने वाली तो वह भगवती ही है।

सद्भावना का सम्वर्धन जिस प्रकार जीवन विकास का महत्वपूर्ण तथ्य है, उसी प्रकार दुष्टता का निराकरण भी उतना ही आवश्यक है। अन्यथा आसुरी तत्व उपार्जित सज्जनता को भी जीवित नहीं रहने दे सकते। शास्त्रकार ने अहङ्कार जन्य, क्रोध की निन्दा की है किन्तु अनीति के विरुद्ध तन कर खड़े हो जाने वाले 'मन्यु' की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा भी की है। वन्य पशुओं से रक्षा न की जाय तो न कृषि फलीभूत होगी और न उद्यान से कुछ उपार्जित किया जा सकेगा। सुरक्षा के अभाव में तो श्रम उपार्जित आजीविका भी दस्युओं के उदर में चली जायगी। न्याय की रक्षा के लिए अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करना ही होता है। देवत्व की रक्षा, असुरत्व के उन्मूलन बिना हो ही नहीं सकती। अस्तु अन्य सुरक्षा साधनों की तरह ब्रह्म शक्ति का उपयोग भी होता रहा है।

राजा विश्वामित्र का आक्रमण महर्षि वशिष्ठ पर हुआ तो उन्होंने प्रतिरोध के लिए अपनी नन्दिनी ब्रह्म-शक्ति का ही उपयोग किया। इस प्रतिरोध से विश्वामित्र का आक्रमण परास्त हो गया। तब उनने भौतिक और आत्मिक बल की तुलना करते हुए आत्म-बल की—ब्रह्म-बल की—गरिमा को ही श्रेष्ठ माना और राज-पाट छोड़ कर उसी के उपार्जन में जुट गये।

परास्त विश्वामित्र ने भौतिक बल को—क्षत्रिय बल को—धिक्-तुच्छ कहा और ब्रह्म-बल की गरिमा को बार-बार स्वीकार करते हुए, उसी को उपलब्ध करने की प्रतिज्ञा की। उनने कहा—

धिग्बलं क्षत्रिय बलं ब्रह्म तेजोबलं बलम्।
एकेन ब्रह्म दण्डेन सर्वास्त्राणि हतानि मे।

—महाभारत

राजा विश्वामित्र ने कहा—भौतिक बल तुच्छ है। ब्रह्म बल ही महान् बल है। एक ही ब्रह्म दण्ड ने मेरे समस्त शस्त्र बल को निरस्त कर दिया।

लिंग पुराण में राजा क्षुप और दधीचि के मध्य हुए एक कटु प्रसङ्ग का वर्णन आता है। क्षुप अपनी सामर्थ्य की धमकी देते हुए दधीचि से ब्रह्म तेज के सन्दर्भ में कुछ अपमानजनक शब्द कहने लगे। इस पर दधीचि ने ब्रह्म बल के गौरव का स्मरण राजा को दिलाया और बिना उत्तर

की प्रतीक्षा किये राजा की उपेक्षा करते हुए स्वाभिमान प्रदर्शित करते हुए राजा को जहाँ का तहाँ बैठा छोड़कर अपनी कुटिया में चले गये। इस प्रसङ्ग का उल्लेख इस प्रकार हुआ है—

देवैश्च पूज्या राजेन्द्र नृपैश्च विविधैर्गणैः।
ब्राह्मणा एव राजेन्द्र बलिनः प्रभविष्णुवः॥
इत्युक्त्वा स्वोटजं विप्रः प्रविवेश महाद्युतिः।
दधीचमभिवन्द्यैव जगाम स्वं नृपः क्षयम्॥

—लिंग पुराण

अर्थात्—"देवों के द्वारा, नृपों के द्वारा तथा अन्य सब व्यक्तियों के द्वारा ब्राह्मण सम्मान के योग्य और अधिक शक्तिशाली होता है। इतना कहकर वे महा तेजस्वी मुनि अपनी कुटिया में प्रवेश कर गये और राजा उनकी वन्दना करके अपने नगर को चला गया।"

शत्रु तो न भयं तस्य दस्युतो क्वान राजनः
न शस्त्रानल तो यौधा स्कदाचित्स भविष्यति।

ब्रह्म तेज सम्पन्न को न शत्रुओं का भय रहता है न दस्युओं का, न राजा का, न शस्त्र का, न अग्नि का। वह सब प्रकार के भयों से मुक्त होकर निर्भय बन जाता है।

शिव उमा सम्वाद में भी एक ऐसा ही उल्लेख है—

तक्षकेणापि दंष्टस्य प्रतीकारो हि तत्क्षणात्।
ब्रह्म शाप प्रसक्तस्य कल्पान्तेस्यात् प्रतिक्रिया।
नरकाग्निष्कृति नास्ति तस्या भावान्न संशयः।
एवं तद्वंशजाः सर्वे पीड्यन्तेऽहर्निशं प्रिये।

तक्षक सर्प के काटे का उपचार हो सकता है, पर ब्रह्म शाप पीड़ित का नहीं। उन अभिशप्तों को चिरकाल तक नारकीय अग्नि में जलना पड़ता है।

ब्रह्म-शक्ति के तीन अस्त्र गिनाये गये हैं—(१) ब्रह्मास्त्र (२) ब्रह्म दण्ड (३) ब्रह्मशीर्ष। इनका उल्लेख विश्वामित्र कल्प में इस प्रकार हुआ है।

ब्रह्मास्त्रं ब्रह्म दण्डं च ब्रह्मशीर्षं च संयुतम्।
अर्घ्यं त्रियं प्रयोगार्थं एक मेवा युदाहृतम्।

—विश्वामित्र कल्प

तन्त्र ग्रन्थों में गायत्री की ब्रह्मास्त्र शक्ति का वर्णन ब्रह्म शाप आदि के रूप में आता है। इस सन्दर्भ में कितने ही प्रयोगों की भी चर्चा है। एक गायत्री स्तवन में आता है—

ब्रह्मास्त्रं ब्रह्मशापं च ब्रह्म विद्या सनातनी।

हे गायत्री माता आप ब्रह्म विद्या की ही तरह ब्रह्मास्त्र और ब्रह्म शाप भी हैं।

ब्रह्मास्त्रमिति विख्यातं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम्।
सत्पात्राय दातव्यं न देयं यस्य कस्य चित्।

यह ब्रह्मास्त्र परम प्रचण्ड है। इसका विधान केवल सत्पात्रों को ही बताया जाय। जिस-तिस को न सिखाया जाय।

ब्रह्मास्त्राख्यो मनुः पातु सर्वांगे सर्व सन्धिषु।

यह ब्रह्मास्त्र समस्त मर्मस्थलों की सुरक्षा रख सकने में समर्थ है।

ब्रह्म शक्ति ने अपनी असुर संहारिणी शक्ति का परिचय देते हुए कहा है—

अहं रूद्राय धनुरातनेमि ब्रह्मद्विषे शर वे हन्तवा उ
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आविवेश

"मैं ब्रह्म ज्ञान विरोधी विनाश योग्य रुद्र (एकादश इन्द्रियों) को हनन करने के लिए धनु में शर का संधान करती हूँ। इस प्रकार मनुष्यों के लिए संघर्ष करती हूँ और स्वर्ग तथा मृत्यलोक में आविर्भूत होती हूँ।"

मोक्षार्थिभिर्मुनिभिरस्त समस्त दोषै।
विद्यासि सा भगवती परमा हि देवी॥

—महर्षि मार्कण्डेय

"वीतराग योगीजन मोक्ष प्राप्ति के लिए तेरे ब्रह्म विद्या रूप की ही उपासना करते हैं।"

ऋषयो ऋग्यजुः सामाथर्व च्छन्दासि नारद
ब्रह्म रूपा देवतोक्ता गायत्री परमा कला।
तद्वीज भर्ग इत्येषा शक्ति रूपा मनीषिभीः
कीलकं च धियः प्रोक्तं मोक्षाये विनियोजनं

—देवी भागवत

अर्थात्—ऋषि तत्वमयी, ऋग्, यजु, अथर्व, साम स्वरूप, ब्रह्म रूप, परम कला गायत्री ही हैं। उसका बीज भर्ग है, मेधा शक्ति वही है, धियः उसका कीलक है, मोक्ष के लिए उसका विनियोग होता है।

—❀—

गायत्री का प्राणवान

जीवन समस्या के साथ उल्लखित सभी प्रश्न अविच्छिन्न रूप से जुड़े हुए हैं। (१) पतनोन्मुख कुसंस्कारों को निरस्त करना (२) व्यक्तित्व को सशक्त बनाने वाली सत् प्रवृत्तियों को व्यवहार में उतारना (३) प्रगति के लिए, आवश्यक पुरुषार्थ के लिए अभीष्ट साहस संचय करना (४) आगत अवरोधों से जूझने के लिये जीवट का परिचय देना, इन चारों ही प्रयोजनों के लिए मनोवल, संकल्प वल, शौर्य साहस होना चाहिए। अशक्तता, अधीरता और कायरता की मिली जुली प्रतिक्रिया तो आत्मघाती ही होती है इसके कारण मनुष्य अपने पैरों आप कुल्हाड़ी मारता है। दुखद परिस्थितियों को निरस्त करते हुए कुछ महत्वपूर्ण उपलब्ध कर सकने की दिशा में वढ़ सकना उस जीवट के सहारे ही सम्भव होता है जिसे अध्यात्म की भाषा में आत्मवल एवं ब्रह्म वर्चस् कहते हैं। सांसारिक सहयोग साधन इसी चुम्कत्व से खिच कर समीप आते और उपलब्ध होते हैं।

ईश्वर उपासना की तरह वल की उपासना भी आवश्यक है। शास्त्रकार ने 'वल उपास्व' का निर्देश दिया है और कहा है कि आत्मोत्कर्ष का लाभ वल हीनों को नहीं मिल सकता "नायमात्मा वल हीनेन लभ्य:" सच है वल हीनों को न आत्मा मिल सकेगा और न परमात्मा। भौतिक जीवन में भी उनके पल्ले कुछ नहीं पड़ता। इस संसार के वाजार में सम्पदाएँ-विभूतियाँ और उपलव्धियाँ, समर्थता के मूल्य पर ही खरीदी जाती हैं।

जीवन की सार्थकता 'जीवट' के साथ ही है। जीवनी शक्तियुक्त को ही जीवित कहा जा सकता है। इसके अभाव में मनुष्य को जीवित मृतक ही कहा जा सकता है। खोने सोने की प्रक्रिया तो पेड़ पौधे भी पूरी करते हैं। जीवाणुओं में भी गतिशीलता होती है पर उन्हें जीवितों का श्रेय सम्मान तो नहीं मिलता।

चेतना की वलिष्ठता को अध्यात्म शास्त्र में 'प्राण' के नाम से पुकारा गया है। प्राणवान् होने के कारण ही 'प्राणी' कहा जाता है। प्राण निकलते ही शरीर मृत घोषित कर दिया जाता है। यों जीवन तत्व की एक स्वल्प मात्रा तो उन पदार्थों में भी है, जिन्हें जड़ कहा जाता है। प्राण से तात्पर्य जीवात्मा की उस आन्तरिक क्षमता से है जो शरीर में ओजस्, चिन्तन में 'तेजस्' और आस्थाओं में 'वर्चस्' के नाम से जानी जाती है। इस अन्तः क्षमता को—आत्म शक्ति को—प्राण तत्व को अधिकाधिक मात्रा में संचय करने वाला ही जीवन का आनन्द लेता और उसे सार्थक वनाता है।

गायत्री विद्या को प्राण तत्व के अभिवर्धन का आधार भूत साधन माना गया है। उसका तत्व दर्शन और उपासना प्रकरण दोनों ही इस आवश्यकता की पूर्ति करते हैं। भौतिक विज्ञान के सहारे भौतिक साधन वढ़ते हैं। आत्म विज्ञान के सहारे आत्मिक विशिष्टताओं को उभारा और सुदृढ़ किया जा सकता है। आत्मिक क्षेत्र में प्राण शक्ति भर देने की विद्या को गायत्री कहा गया है।

गायत्री शब्द के नामकरण पर दृष्टिपात करने से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका आविर्भाव किस प्रयोजन के लिए हुआ है। 'गय' और 'त्री' शब्दों से मिल कर यह शब्द बना है। इसका अर्थ प्राण क्षमता का रक्षण सम्वर्धन करने वाली प्रक्रिया ही होता है।

'गै-शब्दे', इस धातु से 'शतृ' प्रत्यय करने पर 'गायत्' शब्द वनता है। 'गायत्' शब्द 'त्रैङ् पालने' धातु से जुड़ने पर स्त्री—प्रत्ययान्त 'गायत्री' शब्द वनता है।

शतपथ ब्राह्मण में गायत्री शब्द का अर्थ इस प्रकार बतलाया गया है—

"सा हैषा गयांस्तत्रे। प्राणा वै गयास्तत् प्राणांस्तत्रे तद् गयांस्तत्रे तस्माद् गायत्री नाम।"

(शतपथ ब्राह्मण १४।८।१५।७)

५ अर्थात्—उसने गयों की रक्षा की। प्राण ही 'गय' हैं, उन प्राणों यानी गयों का त्राण करने वाली का नाम गायत्री है।

यही निरूपण, इन्हीं शब्दों में वृहदारण्यक उपनिषद् (५।१४।४) में भी किया गया है।

निरुक्तकार का कहना है—

"गायत्री गायतेः स्तुतिकर्मणः"

(निरुक्त ७।१२।५)

अर्थात्—स्तुति-कर्म द्योतक गायन के अर्थ में गायत्री नाम पड़ा।

गायन्तं त्रायते इति गायत्री'—

० जो गान करने वाले का त्राण करती है, वह गायत्री है। गान का अर्थ सम्पूर्ण अन्तश्चेतना में मन्त्र का झंकृत हो उठना—उसमें तन्मय हो जाना है, वैखरी वाणी से हवा में कुछ सतही हलचलें उत्पन्न करना मात्र नहीं।

गायत्री शब्द की ऐसी ही प्राण शक्ति संवर्धक व्याख्या विवेचनाएं अन्यत्र भी हुई हैं।

'गा' चेति सर्वगा शक्ति, 'यत्री' तत्र नियंत्रिका।

० 'गा' अर्थात् सर्वव्यापी शक्ति उसे नियंत्रित करने की विधा 'यत्री' अर्थात् सर्वव्यापी चेतना शक्ति को अभीष्ट प्रयोजन के लिए नियंत्रित नियोजित करने की कला 'गायत्री'।

साहैषा गयांस्तत्रे प्राणाः वै गयास्त्प्राणां स्तत्रे। तद्यद गयांस्तत्रे तस्माद् गायत्री नाम।

—शतपथ १४।८।१५।७

अर्थात् गय कहते हैं प्राण को। 'त्री' अर्थात् त्राण-रक्षण करने वाली। जो प्राण की रक्षा करे उसका नाम गायत्री हुआ।

गयाः प्राणा उच्यंते। गयान् प्राणान् त्रायते सा गायत्री।

—सन्ध्या भाष्य

गायन्ते त्रायते इति वा गायत्री प्रोच्यते तस्मात् गायन्तं त्रायते यतः।

—याज्ञवल्क्य

० प्राणों का संरक्षण करने वाली होने से उसे गायत्री कहा जाता है।

प्राणो गायत्रः। —ताण्ड्य ७।१।६

प्राण ही गायत्री है।०

प्राणो वै गायत्र्यः। —कौ० १५।२

प्राण का गायत्री रूप होना निश्चित है।०

प्राणो वै गायत्री।

—शतपथ ६।४।३।५

प्राणो गायत्री प्रजननम्। तां० १६।१४।५, १६।१६।७ १६।५।६, १६।७।७

तत्प्राणो वै गायत्रम्। जैं० उ० १।३७।७

प्राणो वै गायत्र्यः। कौ० १५।२, १६।३, १७।२

प्राणो वै गायत्री। श० ६।४।२।५, ष० ३।७

प्राणो गायत्री। श० ६।२।१।२४, ६।६।२।७, १०।३।१।१, तां० ७।३।८, १६।३।६

यो वै स प्राण एषा सा गायत्री। ५।१।२१

गायत्री वै प्राणः। श० १।३।५।१५

स एषा गायत्री प्राणः अतो गायत्र्यां जगत्प्रतिष्ठितम्। यस्मिन् प्राणे सर्व देवा एकं भवन्ति। सर्वे वेदाः कर्माणि तत्फलं च, सैव गायत्री प्राण रूपा सती जगत आत्मा सा हैषा गयांस्तत्रे-त्रातवती, के पुनर्गयाः ? प्राणाः—वागादयो वैभवाः''''''गयत्राणाद् गायत्रीति प्रथिता।

—वृहदारण्यक ५।१४।४

० यह गायत्री ही प्राण है। अतः वही समस्त विश्व में व्याप्त है। इस प्राण में ही समस्त देवता सन्निहित हैं। सब वेद और समस्त कर्मों का फल उससे प्राप्त होता है। यह प्राण रूपा गायत्री ही जगत की आत्मा है। वाणी नेत्र आदि समस्त इन्द्रियों में समाविष्ट प्राण की संरक्षक होने के कारण उसे गायत्री कहा जाता है।

प्राणो वै वलं। यत्प्राणे प्रतिष्ठितं तस्मादाहु र्वलं। सत्यादोजीयः इत्येवम्वैषा गायत्र्यध्यात्मं प्रतिष्ठिता। सा ह्यैषा गयांस्तत्रे। प्राणा वै गयास्तत्प्राणांस्तत्रे। तद्यद् गयांस्तत्रे गायत्री नाम्।

—शतपथ ब्राह्मण

० प्राण ही वल है। वल और प्राण एक ही है। परब्रह्म प्राणों का भी प्राण है। गायत्री का अध्यात्म यह प्राण

ही है। प्राणों का परिष्कार करने की शक्ति सम्पन्न होने के कारण उसे गायत्री नाम दिया गया है।

प्राण शक्ति की आत्म बल की—अभिवृद्धि सामान्य मनुष्य में असामान्य क्षमताएँ विकसित करती है। उसे मूर्छित से जागृत बनाती है। आन्तरिक समर्थता से सम्पन्न मनुष्य भौतिक और आत्मिक दोनों ही क्षेत्रों में सर्वतोमुखी प्रगति कर सकने में सफल बन सकता है। इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए शास्त्र कहता है—

तदाहुः कोऽस्वप्नुमर्हति, यद्वाव प्राणो जागार तदेव जागरितम् इति।

—ताण्ड्य १०।४।४

कौन सोता है? कौन जागता है? जिसका प्राण जागता है, वस्तुतः वही जागता है।

य एवं विद्वान् प्राणं वेद रहस्या प्रजा
हीयतेऽमृतो भवति तयेव श्लोकः।

—प्रश्नोपनिषद् ३।११

जो बुद्धिमान् इस प्राण रहस्य को जान लेता है वह अमर बन जाता है उसकी परम्परा नष्ट नहीं होती।

प्राणाग्नय एवास्मिन् ब्रह्मपुरे जागृति।

—प्रश्नोपनिषद

इस ब्रह्म पुरी में प्राण की अग्नियाँ ही सदा जलती रहती हैं।

प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्या। तं मामायुरमृत भित्युपास्वायुः प्राणः प्राणोवा आयुः। प्राणेन हि एवास्मिन् लोकेऽमृतत्व माप्नोति।

—सांख्यायन, आरण्यक ५।२

मैं ही प्राण रूप प्रज्ञा हूँ। मुझे ही आयु और अमृत मान कर उपासना करो। प्राण ही जीवन है। इस लोक में अमृत की प्राप्ति का आधार प्राण ही है।

यो वै प्राणः सा प्रज्ञा, या वा प्रज्ञा स प्राणः।

—सांख्यायन

जो प्राण है वही प्रज्ञा है। जो प्रज्ञा है वही प्राण है।

प्राण ब्रह्मबल है। इसलिए उसे प्रत्यक्ष ब्रह्म भी कहा गया है। अप्रत्यक्ष ब्रह्म की सत्ता किसी प्राणी पर कितनी मात्रा में अवतरित हुई इसका परिचय उसमें दृष्टिगोचर होने वाले प्राण तत्व को देख कर ही लगाया जा सकता है। गायत्री को प्राण और प्राण को ब्रह्म कहा गया है। इस तरह एक प्रकार से गायत्री साक्षात् ब्रह्म भी कही जा सकती है।

कतम एको देव इति। प्राण इति स ब्रह्म तदिव्या वक्षते।

—वृहदारण्यक

वह एकमात्र देव कौन है? वह प्राण है। उसे ही ब्रह्म कहा जाता है।

वप्राणा ब्रह्म इति हस्याह कौषीतकिः।

—ब्रह्म संहिता

प्राण ही ब्रह्म है। ऐसा कौषीतकि ऋषि ने कहा है।

स एव वैश्वानरो विश्व रूपः प्राणोदऽग्नि रुदयते।

—पिप्पलाद

यह प्राण ही समस्त विश्व में वैश्वानर रूप से उदय होता है।

'गा' कारो गतिदः प्रोक्त, 'य' कारो शक्ति दायिनी। 'त्र' त्राता च, 'ई' कार स्वयं परम्।

'गा' अर्थात् 'गति'। 'य' अर्थात् 'शक्ति'। 'त्र' अर्थात् त्राता। 'ई' अर्थात् परब्रह्म।

गायत्री विद्या की उच्च स्तरीय साधना से प्राण शक्ति की अभिवृद्धि होती है। अस्तु उसके प्रभाव, परिणाम को ब्रह्म वर्चस् कहा जाता है। गायत्री के वरदान ब्रह्म वर्चस् को प्राप्त कर सकने वाला हर क्षेत्र में विभूतिवान बनता है। इस तथ्य का प्रतिपादन छान्दोग्य उपनिषद में इस प्रकार मिलता है—

स य एवमेतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतं वेद प्राणी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या महामनः स्यात्तद्व्रतम्॥

—छान्दोग्य २।१०।२

यह 'गायत्र' तत्व समस्त प्राणों में विद्यमान है। जो उसकी उपासना करता है वह विद्वान्, प्राणवान्, दीर्घजीवी, यशस्वी, सुसम्पन्न, उदार और महा मनस्वी बनता है।

—✿—



सावित्री शक्ति का महाप्राण सविता

गायत्री का दूसरा नाम सावित्री है। उसका देवता सविता है। सविता और सावित्री का युग्म माना गया है। प्राथमिक उपासना में गायत्री को मातृ सत्ता के दिव्य शक्ति के रूप में नारी कलेवर का निर्धारण हुआ है। मानवी आकृति में उसे देवी की प्रतीक प्रतिमा के रूप में प्रतिष्ठापित किया गया है। यह उचित भी है। इसमें पवित्रता, सहृदयता, उत्कृष्टता, सद्भावना, सेवा साधना जैसे मातृ शक्ति में विशिष्ट रूप से पाये जाने वाले गुणों का साधक को अनुदान मिलता है। इस प्रतीक पूजा से नारी तत्व के प्रति पूज्य भाव की सहज श्रद्धा उत्पन्न होती है। सद्बुद्धि, ऋतम्भरा, प्रज्ञा, विवेकशीलता, दूरदर्शिता जैसी सत्प्रवृत्तियों को साहित्य में स्त्री लिंग माना गया है। अस्तु इस चिन्तन के इस दिव्य प्रवाह को यदि अलंकारिक रूप से नारी प्रतीक के रूप में चित्रित किया गया है तो उसे उचित ही कहा जा सकता है।

इस प्राथमिक प्रतिपादन के रूप में प्रस्तुत किये गये नारी विग्रह से भी गायत्री महाशक्ति के उच्च स्तरीय स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। गायत्री मन्त्र के विनियोग में उसका ऋषि विश्वामित्र और देवता 'सविता' होने का उल्लेख है। सविता का मोटा अर्थ 'सूर्य' है। सूर्य मण्डल की आभा को गायत्री के प्रतीक में ध्यान में अनिवार्य रूप से प्रयुक्त किया जाता है। उसे 'सूर्य मण्डल मध्यस्या' कहा गया है। अस्तु गायत्री माता के नारी स्वरूप को सूर्य मण्डल के बीच में प्रतिष्ठापित चित्रित किया जाता है। उसके चेहरे पर तेजोवलय के रूप में सूर्य मण्डल का संयुक्त किया जाना तो अनिवार्य रूप से आवश्यक होता है। गायत्री माता का ऐसा चित्र कदाचित ही किसी ने बनाने की भूल की होगी जिसमें सूर्य के तेजो मंडल का उसमें समावेश न किया गया हो। गायत्री उपासना के अन्त में 'सूर्यार्घदान' के रूप में जप की पूर्णाहुति की जाती है। अनुष्ठान काल में दीपक की—अगरबत्ती की—अग्नि स्थापना की आवश्यकता भी सूर्य शक्ति का प्रतिनिधित्व रखने के रूप में ही की जाती है। यज्ञाग्नि में आहुति देने का विधान पुरश्चरणों का अंग है। इसमें भी दूरस्थ सूर्य की निकटस्थ प्रतिनिधि अग्नि की प्रतिष्ठा करने की भावना है। सूर्य तो गायत्री का देव-प्राण- मान कर "यन्मंडलं दीप्ति करं विशालं......" "पुनातु मां तत्सवितुर्वरेण्यम्।" के आठ स्तवन मन्त्रों में सूर्य के साथ-साथ गायत्री को संयुक्त किया गया है।

सविता और सावित्री की युग्म भावना एक कल्पना पर नहीं तथ्यों पर आधारित है। अग्नि तत्व से बना दृश्यमान सूर्य तो चेतन सविता देव का स्थूल प्रतीक भर है। प्रतीक पूजा का स्वरूप ही यह है कि जड़ पदार्थों के माध्यम से चेतनात्मक प्रशिक्षण की आवश्यकता पूरी कराई जाय। सविता—चेतन ब्रह्मतेज को कहते हैं। वह अदृश्य है। ब्रह्माण्डीय चेतना के रूप में दिव्य प्रखरता के रूप में सर्वत्र व्यापक और विद्यमान है। उसी के साथ आत्म चेतना की घनिष्ठता बढ़ाने के लिए प्रतीक रूप से सूर्य का अग्नि पिण्ड, ध्यान साधना में प्रयुक्त किया जाता है। प्रकारान्तर से सूर्य उपासना का तात्पर्य ब्रह्म तेज का अवतरण आत्म चेतना की पृष्ठ भूमि पर सम्पन्न कराना है। आत्मा को पृथ्वी और ब्रह्म तेज को सूर्य की उपमा दी जा सकती है। पृथ्वी पर जो जीवन दृष्टिगोचर होता है वह सूर्य का ही अनुदान है। 'सूर्य आत्मा जगतस्थुश्च' सूर्य को जगत की आत्मा बताया गया है। पृथ्वी पर जिस तरह सूर्य केन्द्र से जीवन बरसता है उसी प्रकार आत्मा रूपी पृथ्वी पर ब्रह्म सत्ता के प्राण तेज की वर्षा होती है। इसी से अन्तः भूमि पर विभूतियों की हरितमा

उगती और फूलती फलती है। गायत्री के साथ उसके देवता सविता का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध इसी आधार पर जुड़ा हुआ है। गायत्री का दूसरा नाम सावित्री सविता की शक्ति-ब्रह्मशक्ति होने के कारण ही रखा गया है।

ब्रह्म वर्चस् साधना में उपासनात्मक इष्ट देव सविता रखा गया है। कलेवर की प्रतीक पूजा नारी रूप में करने के साथ ही उच्च स्तरीय ध्यान में स्थापना भी प्राण की करनी पड़ेगी। गायत्री का प्राण सविता है। शरीर को देख लेने के बाद किसी की वस्तु स्थिति उसके आन्तरिक स्तर को समझने में ही विदिति होती है। सविता सम्पर्क के लिये अग्रिम कदम बढ़ाने के पीछे भी यही कारण है। इसमें विरोध विग्रह एवं सामंजस्य जैसी कोई बात नहीं है। इसे क्रमिक प्रगति के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझा जाना चाहिए।

गायत्री को प्राण—प्राण को सविता कहा गया है। इस त्रिकोण विवेचन से गायत्री के सवितामय होने का ही निष्कर्ष निकलता है। गायत्री सद्बुद्धि की ऋतुम्भरा प्रज्ञा की देवी है। प्राण और सविता को भी इन्हीं प्रयोजनों की पूर्ति करने वाला बताया गया है। शास्त्र वचनों में इस त्रिकोण को रेखा गणित के त्रिभुज की तरह एक दूसरे के साथ जुड़ा हुआ समझा जा सकता है। गायत्री का देवता सविता होने के संदर्भ में कुछ उक्तियाँ इस प्रकार हैं—

दैवतं सविताप्यस्यां गायत्रं छन्द एव च।
विश्वामित्र ऋषिश्चैव प्रोच्यते ऋषिसत्तम ॥

हे ऋषि श्रेष्ठ! इसका देवता सविता है—गायत्र छन्द है और विश्वामित्र इसका ऋषि कहा जाता है।

सवितुश्चाधिदेवो या मन्त्राधिष्ठातृदेवता।
सावित्री ह्यपि वेदानां सावित्री तेन कीर्तिता ॥

—देवी भागवत

इस सावित्री मन्त्र का देवता सविता (सूर्य) है। वेद मन्त्रों की अधिष्ठात्री देवी वही है। इसी से उसे सावित्री कहते हैं।

यो देवः सवितास्माकं धियो धर्मादिगोचरः।
प्रेरयेत् तस्य यद् भर्गः तं वरेण्यमुपास्महे ॥

"जो सविता देव हमारी बुद्धि को धर्म में प्रेरित करता है उसके श्रेष्ठ भर्ग (तेज) की हम उपासना करते हैं।"

सर्व लोकप्रसवनात् सविता स तु कीर्त्यते।
यतस्तद् देवता देवी सावित्रीत्युच्यते ततः ॥

—अमरकोश

"वे सूर्य भगवान समस्त जगत को जन्म देते हैं इस लिए 'सविता' कहे जाते हैं। गायत्री मन्त्र के देवता 'सविता' हैं इसलिए उसकी दैवी-शक्ति को 'सावित्री' कहते हैं।"

मनो वै सविता। प्राणधियः।

—शतपथ ३।६।१।१३

प्राण एव सविता, विद्यु रेव सविता।

—शतपथ ७।७।६

यो देवः सविताऽस्माकं धियो धर्मादिगोचरः।
प्रेरयत्तस्य तद्भर्गस्तध्वरेण्यमुपास्महे ॥

"जो देव सविता सूर्य मण्डल के रूप में प्रत्यक्ष होकर धर्माधर्म संस्कारों को देखता हुआ हमारी बुद्धि को प्रेरणा देता है, उसका प्रसिद्ध भर्ग (स्वप्रकाश चेतन रूप तेज) स्पृहा करने योग्य है, उसी की हम उपासना, ध्यान करते हैं।"

यो व स प्राण एषा सा गायत्री।

—शत० १।३।५।१५

जो प्राण है उसे ही निश्चित रूप से गायत्री जानना।

गायत्री को प्राण कहा गया है और प्राण ही सूर्य है। श्रुति कहती है—'प्राण प्रजानां उदयत्येष सूर्यः" अर्थात् यह उदीयमान सूर्य ही जीवधारियों में प्राण शक्ति के रूप में प्रकट होता है।

यह सूर्य ही तेज कहा जाता है। ब्रह्म तेज और सविता एक ही है। गायत्री को तेजस्विनी कहा गया है। सविता तेज का प्रतीक है। अस्तु सविता का तेज और गायत्री के भर्ग को एक ही समझा जाना चाहिए। कहा गया है—

तेजसा वै गायत्री प्रथमं त्रिरात्रं दाधार
पदैर्द्वितीयमक्षरैस्तृतीयम्। तां० १०।५।३
तेजो वै गायत्री। गो० उ० ५।३
ज्योतिर्वै गायत्री चन्दसाम्। तां० १३।७।२

ज्योतिर्वै गायत्री । कौ० १७।६
दविद्यु तती वै गायत्री । तां० १२।१।२
गायत्र्येव भर्गः । गो० पू० ५।१५
गायत्री वै रथन्तरस्य योनिः ॥

तां० ब्रा० १५।१०।५

तेजो वै गायत्री ।

—कपि० सं० ३०।२

सविता तेज के सम्बन्ध में किसी प्रकार का भ्रम न रह जाय उसे भौतिक अग्नि प्रकाश न मान लिया जाय इसलिए यह स्पष्टीकरण आवश्यक समझा गया कि यह 'तेजस' विशुद्ध रूप से ब्रह्म तत्व का है। सविता तेज के ब्रह्म तेज के अतिरिक्त और कुछ समझ बैठने की भूल किसी अध्यात्म विद्या के छात्र को नहीं ही करनी चाहिए। कहा है—

सविता सर्वभूतानां सर्वभावान् प्रसूयते ।
सवनात् पावनाच्चैव सवितानेन चेच्यते ॥

सकल भूतों के उत्पादक तथा पावन कर्ता होने से परमात्मा सविता कहलाते हैं।

आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशस्तस्योपव्याख्यानम् ।

—छान्दोग्योपनिषद्—३ प्र० १९।१

सूर्य ही ब्रह्म है, वह महर्षियों का आदेश है, सूर्य में परमेश्वर की सत्ता को समझने का उपदेश है।

यद्वै तद् ब्रह्मेतीदं वाव तद्योऽयं बहिर्धा पुरुषा-दाकाशो यो वै स बहिर्धा पुरुषादाकाशः ॥७॥

—छान्दोग्योपनिषद्—३ प्र० १२।७

जो ही वह ब्रह्म है। यह ही वह गायत्री वर्णित सविता है जो वह पुरुष से बाहर 'आकाश' प्रकाशमान है, जो ही वह पुरुष से बाहर 'आकाश' प्रकाशमान है।

यौ असौ आदित्य पुरुषः सो असौ अहम् ।

—यजु० ४०।१७

सूर्यमण्डल में जो पुरुष है, वही मैं हूँ।

ब्रह्म सूर्य समं ज्योतिः ।

—यजु० २३।४८

ब्रह्म सूर्य ज्योति के समतुल्य है।

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो
विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक
इन्मही देवस्य सवितु परिष्टुतिः ॥

—श्वेताश्वतर २।४

जिस सविता देवता में विद्वान अपने मन को बुद्धि को लगाते हैं और यज्ञादि शुभ कर्म करते हैं। वह सर्व ज्ञाता एक है। उस सर्व व्यापक सर्व देव की हम स्तुति करते हैं।

तदित्यवाङ् मनोगम्यं ध्येयं यत्सूर्य मंडले ।

उस पर ब्रह्म का ध्यान सूर्य मण्डल में वाक् और मन द्वारा किया जाता है।

गायत्री उपनिषद् से अनेकों उदाहरण देकर यह समझाने का प्रयत्न किया गया है कि वे दोनों परस्पर काया और प्राण की तरह एक दूसरे के साथ सुसम्बद्ध हैं। दोनों को दो योनि एक मिथुन की संज्ञा दी गई है।

गायत्री के भर्ग तेज की उपासना करने से साधक तेजस्वी बनता है। जो तेजवान है वस्तुतः वही बलवान है। मोटी काया बना लेने भर से कोई तेज रहित दुर्बल मनः स्थिति का व्यक्ति बलवान नहीं कहला सकता।

तेजोयस्य विराजते स बलवान्
स्थूलेषु कः प्रत्ययः । —नीति

जिसमें तेज है वही बलवान । स्थूल काया के पुष्ट होने से क्या प्रयोजन सधता है।

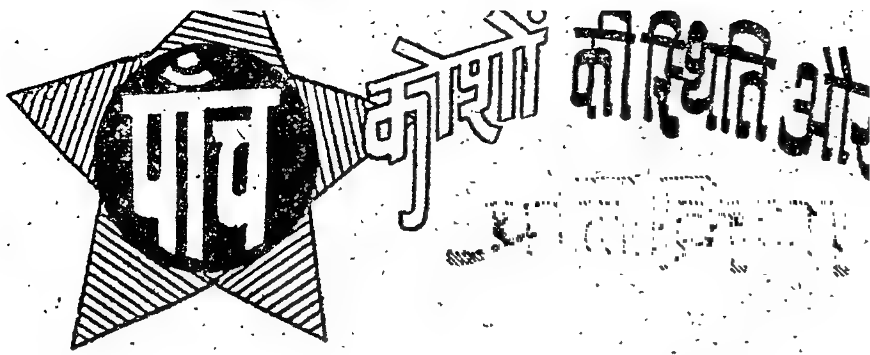
गायत्री साधना वस्तुतः तेजस्विता की—प्राण शक्ति की ब्रह्मबल की उपासना। इसी से उसकी उच्च स्तरीय साधन प्रक्रिया को 'ब्रह्म वर्चस्' विद्या कहा जाता है। इस उपार्जन में संलग्न व्यक्ति को सर्वतोमुखी प्रगति के पथ पर अग्रसर होने का अवसर मिलता है। श्रुति कहती है—

यो हवा एवंवित् ब्रह्मवित् पुण्यां च कीर्ति लभते । सुरभीञ्च गन्धान् । सोऽपहृतपास्मा अनन्ताश्रिय न श्रुते । य एवं वेद यश्चैव विद्वान् एवमेतां वेदानां मातरम् । सावित्री सपदमुपनिषद् मुपास्ते ।

—गोपथ ब्राह्मण

जो गायत्री के गहन तत्व को जानता है, वह पुण्य, कीर्ति, लक्ष्मी आदि को प्राप्त करता हुआ परम श्रेय को प्राप्त करता है।

—※—



गायत्री की उच्च स्तरीय साधना के लिए उसका अलंकारिक स्वरूप पांच मुख वाला बनाया गया है। इस चित्रण में सूक्ष्म शरीर के पाँच कोशों की प्रसुप्त क्षमता को जागृत करने और इस महाविज्ञान का समुचित लाभ उठाने का संकेत है। ब्रह्म विद्या पंचमुखी है। जीवात्मा का काय कलेवर पाँच भागों में विभक्त माना गया है (१) अन्नमय कोश (२) प्राणमय कोश (३) मनोमय कोश (४) विज्ञानमय कोश (५) आनंदमय कोश। कोश का अर्थ है भण्डार-खजाना। इन कोशों के माध्यम से व्यक्तित्व को समृद्धियों और विभूतियों से सुसज्जित कर सकने वाली दिव्य सम्पदायें उपलब्ध की जा सकती हैं और चेतना क्षेत्र में कुवेर जैसा सुसम्पन्न बना जा सकता है। कोश का एक अर्थ आवरण एवं पर्दा भी होता है। परतें उतारतें—आवरण हटाते चलने पर वस्तु का असली स्वरूप सामने आजाता है। पंचकोशों के जागरण से अनावरण से कषाय कल्मषों के वे अवरोध हटते हैं जिनके कारण जीवात्मा को अपने ईश्वर प्रदत्त उत्तराधिकार से वंचित रहकर दुर्दशाग्रस्त परिस्थितियों में गुजारा करना पड़ता है।

पाँच कोशों के विभाजन को तीन के वर्गीकरण में भी प्रस्तुत किया गया है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण यह तीन शरीर बताये गये हैं। उन्हें त्रिपदा गायत्री कहा जाता है। स्थूल शरीर में अन्नमय और प्राणमय कोश आते हैं। पंच तत्वों और पाँच प्राणों का इसमें समावेश है। सूक्ष्म शरीर में मनोमय कोश और विज्ञानमय कोश सन्निहित हैं। इन दोनों को चेतन मस्तिष्क और अचेतन मानस कह सकते हैं। कारण शरीर में आनंदमय कोश आता है। विज्ञजनों ने इस विवेचन में यत्किंचित मतभेद भी व्यक्त किया है पर वस्तु स्थिति लगभग जहाँ की तहाँ रहती है। चेतनात्मक परिष्कार के लिए इन पांच संस्कारों की आवश्यकता होती है जिन्हें पंचकोशी गायत्री साधना के नाम से जाना जाता है। इसे 'ब्रह्म विद्या' पक्ष कहना चाहिए। ऋतम्भरा प्रज्ञा तत्व दृष्टि विकसित करने के लिए इस आधार का अवलम्बन करना होता है।

सूक्ष्म शरीर में अवस्थित पाँच कोशों की विवेचना शास्त्रकारों ने स्थान स्थान पर की है और उनकी गरिमा उपयोगिता से सर्व साधारण को परिचित कराने का प्रयत्न किया है। ऋग्वेद में इन पांच कोशों को पांच ऋषियों की संज्ञा दी है और कहा है कि वे जीवन्त स्थिति में ही सारे जीवन उद्यान को पवित्र सुरम्य बना सकते हैं।

अग्निर्ऋषिः पवमानः पांचजन्यः पुरोहितः। तमीमहे महागयम्।

ऋग्वेद ९।६६।२०

यह अग्निऋषि है। पवित्र करने वाली है। पांच कोशों की मार्ग दर्शक है। इस महाप्राण की हम शरण जाते हैं।

देवताओं की दिव्य शक्तियों की उपासना-आराधना करके अभीष्ट वरदान प्राप्त करने की आकांक्षा तभी पूरी हो पाती है जब अन्तरंग में अवस्थित दिव्य शक्तियों, वृत्तियों और प्रवृत्तियों को परिष्कृत करने की साधना की जाय। वस्तुतः इन्हीं अन्तः क्षमताओं को अलंकार रूप से दिव्य लोक में निवास करने वाली सत्ता कहा गया है। यह दिव्य लोक अपना ही अन्तः प्रदेश समझा जाना चाहिए और देवी देवताओं के रूप में अन्तः क्षमताओं को

मान्यता देनी चाहिए।

हृदये व्योममध्ये तु अनन्ताद्यास्तु वासुकिः ॥
उदये व्योम मध्ये तु परे नागा वसन्ति हि ।
गन्धर्वाः किन्नरा रक्षा विद्याधराप्सरादयः ॥
अनेकतीर्थ वर्णाश्च गुह्यकाश्च वसन्ति हि ।
प्रकृतिः पुरुषो देहे ब्रह्मा विष्णुः शिवस्तथा ॥
अनन्तसिद्धयो बुद्ध्या प्रकाशो वर्त्तते हृदि ।
ब्रह्माण्डे ये गुणाः सन्ति ते तिष्ठन्ति कलेवरे ॥
ब्रह्माण्डे यानि वै सन्ति तानि सन्ति कलेवरे ॥
ते सर्वे प्राण संलग्नाः प्राणातीतो निरञ्जनः ।

—महायोग विज्ञान

इसी शरीर में पांच प्राण, अनन्त शक्तियाँ, महा सर्प, गन्धर्व, किन्नर, राक्षस, विद्याधर, अप्सराएँ, अनेक तीर्थ, वर्ण, गुह्यक, निवास करते हैं। प्रकृति, पुरुष, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, अनन्त सिद्धियाँ, अनन्त ज्ञान, अनन्त प्रकाश इसी में विराजमान हैं और प्रकाश प्रकाशित होते हैं। वाह्य ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी है सो सब कुछ सूक्ष्म रूप से इस शरीर पिण्ड में विद्यमान है।

शरीर पंच तत्वों से बना है। इन्हें पांच देवता कहा गया है। व्यक्ति सत्ता को इन्हीं पंच देवताओं द्वारा विनिर्मित की गई सृष्टि माना गया है। इन पांच देवताओं को विकृत दुर्दशा से निकाल कर परिष्कृत स्थिति तक पहुँचाने की प्रक्रिया को पंचीकरण विद्या एवं पंच कोशों की साधना कहते हैं।

कपिलतन्त्र में लिखा है—"आकाशस्याधिपो विष्णु रग्नेश्चैव महेश्वरी।

वायोः सूर्यः क्षितेरीशो जीवनस्य गणाधिपः"

अर्थात् आकाश के अधिपति हैं विष्णु, अग्नि की अधिपति महेश्वरी शक्ति है, वायु अधिपति सूर्य हैं और पृथ्वी के अधिपति हैं शिव। इस प्रकार पंचदेव शरीर के पंचतत्वों की ही अधिपति सत्ताएँ हैं। उपासना तत्व (परिच्छेद तीन) के अनुसार आदित्य, गणेश, देवी, रुद्र और विष्णु ये पंचदेव ही समस्त कर्मों में पूजनीय हैं। जो इन पांचों का बुद्धिपूर्वक भजन—स्मरण करते हैं, वे कभी भी मलिन नहीं होते—

"आदित्यं गणनाथं च देवीं रुद्रं च केशवम्।
पंच दैवतमित्युक्तं सर्वकर्मसु पूजयेत् ॥
एवं यो भजते विष्णुं रुद्रं दुर्गाम् गणाधिपम्।
भास्करं च धिया नित्यं स कदाचिन्न सीदति ॥"

पांच देवताओं के नाम, तथा स्वरूप अन्यत्र दूसरी तरह ही बताये गये हैं। पर इससे उनके मूल स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। दिव्य शक्तियों की गरिमा पांच कोशों के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई ही मानी जायगी।

प्रश्नोपनिषद में जिज्ञासु नचिकेता को यमाचार्य ने पंचाग्नि विद्या का रहस्यमय उपदेश दिया है। यह पांच अग्नियाँ अग्निहोत्र के लिए काम आती हैं। अन्तः क्षेत्र में इन्हीं को पांच कोशों के जागरण का विज्ञान कह सकते हैं।

प्राणाग्नय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति। गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो व्यानोऽन्वाहार्यपचनो यद्गार्हपत्यात् प्रणीयते प्रणयमादाहवनीयः प्राणः ॥३

यदुच्छ्वासनिःश्वासा वेतावावाहुतो समं नयतीति स समानः।

मनो ह वाव यजमानः इष्टफलमेवोदानः। स एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति ॥४

—प्रश्नोपनिषद ४।३-४

इस काया नगरी में पांच अग्नियों का निवास है। यह पांच प्राणों के रूप में प्रज्वलित रहती हैं। अपान गार्हपत्य अग्नि है। व्यान आहवनीय। इन गार्हपत्य और आहवनीय अग्नियों का समन्वय ही प्राण है। श्वांसों का आवागमन ही आहुतियों का अविच्छिन्न क्रम है। वायु ऋत्वक् है। मन यजमान् और इच्छा फल उदान। यही मन और हृदय में ब्रह्म को स्थिर करते हैं।

पांच कोशों को स्वर्गलोक के पांच द्वारपाल बताया गया है। इनको अनुकूल बना लेने पर ही उस दिव्य क्षेत्र में प्रवेश कर सकना बन पड़ता है।

तेषाएते पञ्च ब्रह्म पुरुषा, स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपालस्य एतानेकं पंच ब्रह्म पुरुषात्।

—छान्दोग्य

यह पांच ब्रह्म पुरुष स्वर्गलोक के द्वारपाल हैं। इनको प्रसन्न करके ब्रह्म पुरुष तक पहुँचना संभव होता है।

तैत्तरीयोपनिषद में इन पांच कोशों का कई पंचकों के रूप में वर्णन किया गया है। स्थूल, सूक्ष्म कारण—आध्यात्मिक, आधि दैविक, आधि भौतिक क्षेत्रों में भी इन्हीं पांच शक्तियों का समावेश बताया गया है।

पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशाः। अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणि। आप ओषधयो वनस्पतय आकाश आत्मा। इत्यधिभूतम्। अथाध्यात्मम्। प्राणो व्यानोऽपान उदानः समानः। चक्षुः श्रोत्रं मनो वाक् त्वक् चर्म माँसँस्नावास्थिमज्जा। एतदधिविधाय ऋषिरवोचत् पांक्तं वा इदँ सर्वम्। पांक्त नैव पांक्तँस्पृणोतीति ॥१॥ (सर्वमेकं च) ॥

—(तैत्तरीयोपनिषद—सप्तम अनुवाक-१)

पृथिवी, अन्तरिक्ष, सूर्य लोक, दिशाएँ तथा अवान्तर दिशाएँ यह ५ लोकों का समूह है। अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा और नक्षत्र यह ज्योतिपञ्चक है। जल, औषधियाँ, वनस्पतियाँ, आकाश, आत्मा यह पञ्चभूतों का समूह है। ये ऊपर के ३ पांक्त समूह भूतों के सम्बन्ध में हैं। अब अध्यात्म वर्णन करते हैं। प्राण, व्यान, अपान, उदान, समान यह प्राण पञ्चक है। आँख, कान, मन, वाणी तथा त्वचा यह इन्द्रिय पाँच (पञ्चक) है। चर्म, मांस, नाड़ी, हड्डी, मज्जा यह धातु पञ्चक है। इस प्रकार ५-५ चीजों का समूह कह कर ऋषि कहने लगे कि यह जो कुछ चराचर जगत् है सब पांक्त है, पाँच पाँच में विभक्त है, पांक्त से ही पांक्त की पुष्टि होती है, अर्थात् इन ५-५ पांक्तों को जानकर ही मनुष्य आत्म ज्ञानी होता है।

पाँच कोशों की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए सर्व सारोपनिषद में कहा गया है—

अन्नकार्याणां कोशानां समूहोऽन्नमयकोश इत्युच्यते प्राणादि चतुर्दश वायुभेदा अन्नमय कोशे यदा वर्तन्ते तदा प्राणमय-कोश इत्युच्यते। एतत्कोश द्वय संसक्त मन आदि चतुर्दशकरणैरात्मा शब्दादि विषय संकल्पादिधर्मान् यदा करोति तदा मनोमय कोश इत्युच्यते। एतत्कोशत्रयसंसक्त तद्गत विशेषज्ञो यदा भासते तदा विज्ञानमय कोश इत्युच्यते। एतत्कोश चतुष्टय संसक्तं स्वाकारणा-ज्ञाने वटकनिकायामिव वृक्षो यदा वर्तते तदा आनन्दमय कोश इत्युच्यते।

—सर्वसारोपनिषत्

अन्न से, अन्न के स्वरूप एवं शक्तिमत्ता से, प्रत्यक्षतः विनिर्मित कोशों को अन्नमय कोश कहते हैं। इस अन्नमय कोश में संचरित प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान इन पंच प्राणों, पंच उपप्राणों आदि प्राणवायु के सभी शरीरस्थ रूपों का समुच्चय प्राणमय कोश है। मन समेत समस्त इन्द्रियों द्वारा किए जाने और किए जा सकने वाले सूक्ष्म कार्य-क्षेत्र का नाम मनोमय कोश है। इन तीनों कोशों के संयुक्त स्वरूप से आत्मा बुद्धि द्वारा जो कुछ, ज्ञानात्मक क्रिया-व्यापार करती है, उसे विज्ञानमय कोश कहते हैं। इन चारों कोशों से संसक्त आत्मा जब अपने कारण रूप के प्रति अनभिज्ञ रहती है और स्वतः में ही रमती है, जैसे वटबीज में वृक्ष रहता है, तब उसे आनन्दमय कोश कहते हैं।

अन्य आप्त वचनों में पंच कोशों की जो व्याख्याएँ की गई हैं जो स्वरूप और कार्य बताये गये हैं वे भी तैत्तरीयोपनिषद के प्रतिपादन से मिलते जुलते ही हैं।

पंच कोशेषु शक्तिर्मे तथा तिष्ठति नित्यशः।
न पश्यति तु तां शक्ति मज्ञानोपहता नराः।

—शिवार्णय

पांच कोशों में शिवशक्ति की प्रचंडता सन्निहित है। अज्ञानी लोग उसे देख समझ नहीं पाते।

सूक्ष्मेण दिव्य लोकेन स्थूल लोकस्य देहिनः।
संबंध कारको ज्ञेयः कोषः प्राणमयश्वरः॥

स्थूल देह धारियों का संबंध सूक्ष्म दिव्य लोक के साथ जोड़ने का कार्य प्राणमय कोश करता है।

अहन्तां ममतां देहे गेहादौ च करोतियः।
कामाद्यवस्थया भ्रान्तो नासावात्मा मनोमयः ।६

जो देह में "मैं" रूप 'अहन्ता' बनकर विद्यमान है। जो वस्तुओं और प्राणियों में ममता रखता है। जो अनेक कामनाएँ करता है और उनकी पूर्ति के लिए भटकता है वह मन है—मनोमय कोश है।

लीना सुप्तौ वयुर्वोधे व्याप्नुयादान खाग्रगा।
चिच्छायापेतधीर्नात्मा विज्ञानमय शब्द भाक्।

जो सुषुप्ति में विलीन हो जाता है। जो समस्त शरीर में

संव्याप्त है। उस चिदाभास युक्त विवेक बुद्धि को विज्ञान मय कोश कहा गया है।

मनोमयोऽयं पुरुषो भा: सत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये
तथा व्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्वस्येशानः
सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किंच ॥

वृहदारण्यकोपनिषद् (५,६,१)

यह मनोमय पुरुष प्रकाशमान सत्य स्वरूप है, वह अन्तर्हृदय में धान अथवा जौ के सदृश चमकता है। वह सबका ईश्वर, सबका अधिपति इस जगत में जो कुछ है सब पर शासन करता है।

या कर्मविषया बुद्धिर्वेदशास्त्रार्थनिश्चिता ॥
सा तु ज्ञानेन्द्रियैः सार्धं विज्ञानमयकोशतः ॥

जो कर्म विषयणी बुद्धि और वेदशास्त्र से निश्चित की गई है वह ज्ञान इन्द्रियों के सहित विज्ञानमय कोश में स्थित रहती है।

काचिदन्तर्मुखी वृत्तिकानन्द प्रतिविम्ब भाक्।
पुण्य भोगे भोग शान्तौ निद्रा रूपेण लीयते।८

काया के भीतर एक अन्तर्मुखी वृत्ति है। जो ब्रह्म के प्रति विम्ब को अपने भीतर भास मान देखती है। वही पुण्य भोगती है। शान्ति प्राप्त करती है। और योग निद्रा में लय होजाती है। उसी का नाम आनंदमय कोश है।

उपनिषद का तत्वदर्शी ऋषि पंच कोश संबंधी जिज्ञासा का समाधान इस प्रकार करता है—

पञ्चकोशाः के ?
अन्नमयः, प्राणमयः, मनोमयः
विज्ञानमयः, आनन्दमयश्चेति।

पांच कोश कौन कौन हैं ?

उत्तर—अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश, और आनंदमय कोश,।

अन्नमयः कः ?

अन्न रसे नैव भूत्वा, अन्न रसे नैव वृद्धि प्राप्यान्न रूप पृथिव्यां यद्विलीयते तदन्नमयः कोशः स्थूल शरीरम्।

—अन्न मय कोश किसे कहते हैं ?

—जो अन्न के रस से उत्पन्न होता है। जो अन्न रस से ही बढ़ता है, और जो अन्न रूप पृथ्वी में ही लीन हो जाता है उसे अन्नमय कोश एवं स्थूल शरीर कहते हैं।

प्राणमयः कोशः कः ?

प्राणादि पञ्च वायवो वागादीन्द्रिय पञ्चकं प्राणमयः कोशः।

—प्राण मय कोश किसे कहते हैं ?

—प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान इन पाँच प्राण वायुओं के समूह और कर्मेन्द्रिय पंचक के समूह को प्राण मय कोश कहते हैं संक्षेप में यही क्रिया शक्ति है।

मनो मयः कोशः कः ?

मनश्च ज्ञानेन्द्रिय पञ्चकं मिलित्वा भवति स मनोमयः कोशः।

—मनोमय कोश क्या है ?

—मन और पांच ज्ञानेन्द्रियों के समूह के मिलने से मनोमय कोश बनता है। इसे इच्छाशक्ति कह सकते हैं।

विज्ञान मयः कोशः कः ?

बुद्धिर्ज्ञानेन्द्रिय पंचकं मिलित्वा यो भवति स विज्ञान मयः कोशः।

—विज्ञान मय कोश क्या है ?

—बुद्धि और पांच ज्ञानेन्द्रियों का समन्वय विज्ञान मय कोश है। यह ज्ञान शक्ति है।

आनन्दमयः कः ?

एवमेव कारण शरीर भूताविद्यास्थ मलिन सत्वं प्रियादि वृत्ति सहितं सदानन्दमयः कोशः।

—आनन्द मय कोश क्या है ?

—इसी प्रकार कारण रूप अविद्या में रहने वाला, रज और तम के संयोग से मलिन, सत्व के कारण मुदित वृत्ति वाला आनन्देच्छुक कोश आनन्द मय कोश है।

ब्रह्म विद्या समर्थित पंच कोशों के जागरण से उत्पन्न ब्राह्मी शक्ति की पराशक्ति के रूप में अभ्यर्थना की गई है। देवी भागवत में कहा गया है—

पंचप्राणाधिदेवी या पंचप्राणस्वरूपिणी।
प्राणाधिकप्रियतमा सर्वाभ्यः सुन्दरी परा।३६

—देवी भागवत

पाँच प्राण उसी पंच कोश सम्पदा के पांच स्वरूप हैं। प्राणों की अधिष्ठात्री देवी वे ही हैं। सर्वाङ्ग सुन्दरी है। परा शक्ति है। भगवान की प्राणों से प्यारी है।

पाँच कोश और उनका अनावरण

मानवी चेतना को पाँच भागों में विभक्त किया गया है। इस विभाजन को पाँच कोश कहा जाता है। अन्नमय कोश का अर्थ है इन्द्रिय चेतना। प्राणमय कोश अर्थात् जीवनी शक्ति। मनोमय कोश-विचार बुद्धि। विज्ञानमय कोश अचेतन सत्ता एवं भाव प्रवाह। आनन्दमय कोश-आत्म बोध-आत्म जागृति।

प्राणियों का स्तर इन चेतनात्मक परतों के अनुरूप ही विकसित होता है। कृमि कीटकों की चेतना इन्द्रियों की प्रेरणा के इर्द गिर्द ही घूमती रहती है। शरीर ही उनका सर्वस्व होता है। उनका 'स्व' काया की परिधि में ही सीमित रहता है। इससे आगे की न उनकी इच्छा होती है, न विचारणा न क्रिया। इस वर्ग के प्राणियों को अन्नमय कह सकते हैं। आहार ही उनका जीवन है। पेट तथा अन्य इन्द्रियों का समाधान हो जाने पर वे संतुष्ट रहते हैं।

प्राणमय कोश की क्षमता जीवनी शक्ति के रूप में प्रकट होती है। संकल्प बल, साहस आदि स्थिरता और दृढ़ता बोधक गुणों में इसे जाना जा सकता है। जिजीविषा के आधार पर ऐसे प्राण मनोबल का सहारा लेकर भी अभावों और कठिनाइयों से जूझते हुए जीवित रहते हैं। जबकि कृमि कीटक ऋतु प्रभाव जैसी प्रतिकूलताओं से प्रभावित होकर बिना संघर्ष किये प्राण त्याग देते हैं। सामान्य पशु-पक्षी इसी स्तर के होते हैं। इसलिए साहसिकता के अनुरूप उन्हें प्राणी कहा जाता हैं। निजी उत्साह पराक्रम करने के अभ्यास को प्राण शक्ति कहते हैं। यह विशेषता होने के कारण कृमि कीटकों की तुलना में बड़े आकार के पुरुषार्थी जीव प्राणधारियों की संज्ञा में गिने जाते हैं। यों जीवन तो कृमि कीटकों में भी होता है पर वे प्रकृति प्रेरणा की कठपुतली भर होते हैं। निजी संकल्प विकसित होने की स्थिति बनने पर प्राणतत्व का आभास मिलता है। यह कृमि कीटकों से ऊँची स्थिति है।

मनोमय स्थिति विचारशील प्राणियों की होती है। यह और भी ऊँची स्थिति है। मननात्-मनुष्यः। मनुष्य नाम इसलिए पड़ा कि वह मनन कर सकता है। मनन अर्थात् चिन्तन। यह पशु-पक्षियों से ऊँचा स्तर है। इस पर पहुँचे हुए जीव को मनुष्य संज्ञा में गिना जाता है। कल्पना, तर्क, विवेचना, दूरदर्शिता जैसी चिन्तनात्मक विशेषताओं के सहारे औचित्य-अनौचित्य का अन्तर करना संभव होता है। स्थिति के साथ तालमेल बिठाने के लिए इच्छाओं पर अंकुश रख सकना इसी आधार पर संभव होता है।

विज्ञानमय कोश इससे भी ऊँची स्थिति है। इसे भाव संवेदना का स्तर कह सकते हैं। दूसरों के सुख दुख में भागीदार बनने की सहानुभूति के आधार पर इसका परिचय प्राप्त किया जा सकता है। आत्मभाव का आत्मीयता का विस्तार इसी स्थिति में होता है। अन्तःकरण विज्ञानमय कोश का ही नाम है। दयालु, उदार, सज्जन, सहृदय, संयमी, शालीन और परोपकार परायण व्यक्तियों का अन्तराल ही विकसित होता है। उत्कृष्ट दृष्टिकोण और आदर्श क्रियाकलाप अपनाने की महानता इसी क्षेत्र में विकसित होती हैं। महामानवों का यही स्तर समुन्नत रहता है।

चेतना का यह परिष्कृत स्तर, सुपर ईगो, उच्च अचेतन आदि नामों से जाना जाता है। इसकी गति सूक्ष्म जगत में होती है। वह ब्रह्माण्डीय सूक्ष्म चेतना के साथ अपना सम्पर्क साध सकती है। अदृश्य आत्माओं, अविज्ञात हलचलों और अपरिचित संभावनाओं का आभास इसी स्थिति में मिलता है। अचेतन ही वस्तुतः व्यक्तित्व का मूलभूत आधार होता है। इस अचेतना का अभीष्ट उपयोग कर

सकना परिष्कृत विज्ञानमय कोश के लिए ही संभव होता है।

O आनंदमय कोश आत्मा की उस मूलभूत स्थिति की अनुभूति है जिसे आत्मा का वास्तविक स्वरूप कह सकते हैं। सामान्य जीवधारी यहाँ तक कि अधिकांश मनुष्य भी अपने आपको शरीर मात्र मानते हैं और उसी के सुखदुख में सफलता असफलता अनुभव करते रहते हैं। आकांक्षाएँ विचारणायें एवं क्रियाएँ इसी छोटे क्षेत्र तक सीमा बद्ध रहती हैं। यही भव बंधन है। इसी कुचक्र में जीव को विविध-विधि त्रास सहने पड़ते हैं। आनंदमय कोश जागृत होने पर जीव अपने को अविनाशी ईश्वर अंश, सत्य, शिव सुन्दर, मानता है। शरीर, मन और साधन एवं सम्पर्क परिकर को मात्र जीवनोदेश्य के उपकरण मानता है। यह स्थिति ही आत्मज्ञान कहलाती है। यह उपलब्ध होने पर मनुष्य हर घड़ी सन्तुष्ट एवं उल्लसित पाया जाता है। जीवन मंच पर वह अपना अभिनय करता रहता है। उसकी संवेदनाएँ भक्तियोग, विचारणायें, ज्ञान और क्रियाएँ कर्म योग जैसी उच्च स्तरीय बन जाती हैं।

ईश्वर मानवी सम्पर्क में आनंद की अनुभूति बन कर आता है। रसो वै सः श्रुति में उस परब्रह्म की उच्चस्तरीय सरसता के रूप में व्याख्या की है। सत्, चित्, आनन्द की संवेदनाएँ ही ईश्वर प्राप्ति कहलाती हैं, अपना और संसार का वास्तविक संबंध और प्रयोजन समझ में बिठा देने वाला तत्व दर्शन हृदयंगम होने पर ब्रह्मज्ञानी की स्थिति बनती है। इसी को जीवन मुक्ति, देवत्व की प्राप्ति, आत्म साक्षात्कार, ईश्वर दर्शन आदि नामों से पुकारते हैं। आत्म परिष्कार के इस उच्च स्तर पर पहुँच जाने के उपरान्त अभावों, उद्वेगों से छुटकारा मिल जाता है। परम सन्तोष का परम आनंद का लाभ मिलने लगने की स्थिति आनंदमय कोश की जागृति कहलाती है। ऐसी ब्रह्मवेत्ता अस्थि मांस के शरीर में रहते हुए भी ऋषि, तत्वदर्शी, देवात्मा एवं परमात्मा स्तर तक उठा हुआ सर्व साधारण को प्रतीत होता है। उसकी चेतना का, व्यक्तित्व का, स्वरूप, सामान्य नर वानरों की तुलना में अत्यधिक परिष्कृत होता है तदनुसार वे अपने में आनंदित रहते और दूसरों को प्रकाश बाँटते हैं।

पंचकोशों का जागरण जीवन चेतना के क्रमिक विकास की प्रक्रिया है। यह सृष्टि क्रम के साथ मंथर गति से चल रही है। यह भौतिक विकासवाद है। मनुष्य प्रयत्नपूर्वक इस विकास क्रम को अपने पुरुषार्थ से साधनात्मक पराक्रम करके अधिक तीव्र कर सकता है और उत्कर्ष के अन्तिम लक्ष्य तक इसी जीवन में पहुँच सकता है। यही पंचकोशी साधना है। कोशों के जागृत होने पर व्यक्तित्व का स्तर कैसा होता है इसकी जानकारी शिव गीता में इस प्रकार दी गई है।

कामक्रोधस्तथा लोभो मोहो मात्सर्यमेव च ॥
मदश्चेत्यरिषड्वर्गो ममतेच्छादयोऽपि च ॥
मनोमयस्य कोशस्य धर्मा एतस्य तत्र तु ॥१४
एवं मनः समाधाय संयतो मनसि द्विजः ॥
अथ प्रवर्तयेच्चित्तं निराकारे परात्मनि ॥३०

O काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य यह छै शत्रु और ममता, तृष्णा आदि दुष्प्रवृत्तियाँ मनोमय कोश में छिपी रहती हैं। कोश साधना से उन सब का निराकरण होता है। मानसिक स्थिरता आने पर चित्त परब्रह्म परमात्मा में लग जाता है।

पांच कोश आत्मा पर चढ़े हुए आवरण हैं। प्याज की, केले के तने की परतें जिस प्रकार एक के ऊपर एक होती हैं उसी प्रकार आत्मा के प्रकाशवान स्वरूप को अज्ञान आवरण से ढके रहने वाले यह पांच कोश हैं। उन्हें उतारते चलने पर कषाय कल्मष नष्ट होते हैं और आत्म साक्षात्कार का ईश्वर प्राप्ति का परम लक्ष्य प्राप्त होता है। शिव गीता कहती है—

एवं शान्त्यादियुक्तः सन्नुपास्ते यः सदा द्विजः ॥
उद्घाट्योद्घाट्यमेकैकं यथैव कदलीतरोः ॥
वल्कलानि ततः पश्चाल्लभते सारमुत्तमम् ॥
तथैव पञ्चभूतेषु मनः संक्रमते क्रमात् ॥
तेषां मध्ये ततः सारमात्मानमपि विन्दति ॥

O इस प्रकार जो साधक चित्त को समाहित करके पंच कोशों की उपासना करता है—उसके अन्तःकरण पर से केले के तने जैसी—कषाय कल्मषों की परतें उतरती चली जाती हैं। उसे ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है और सार तत्व आत्मा की उपलब्धि संभव होती है।



नाभिचक्र : अन्नमय कोश का प्रवेश द्वार

गर्भाशय में भ्रूण का पोषण माता के शरीर की सामिग्री से होता है। आरंभ में भ्रूण, मात्र एक बुलबुले की तरह होता है। तदुपरान्त वह तेजी से बढ़ना आरंभ करता है। इस अभिवृद्धि के लिए पोषण सामिग्री चाहिए। उसे प्राप्त करने का उस कोंटर में और कोई आधार नहीं है। मात्र माता का शरीर ही वह भण्डार है जहाँ से गर्भस्थ बालक को अपने निर्वाह एवं अभिवर्धन के लिए आवश्यक आहार मिल सकता है। वह मिलता भी है। यह अनुदान शिशु को अपनी नाभि के मुख से प्राप्त होता है। तब न मुँह खुला होता है और न पाचन यंत्र ही सक्षम होते हैं। पका हुआ, पचा हुआ आहार उस स्थिति में उसे अपनी नाभि द्वारा ही उपलब्ध होता है।

प्रसव के समय जब बालक बाहर आता है तो देखा जाता है कि उसकी नाभि में एक नाल रज्जु बँधी है और वह माता की गर्भ स्थली के साथ जुड़ी है। उसे काटना पड़ता है तब दोनों अलग होते हैं। यह नाल ही वह द्वार है जिसके द्वारा माता के शरीर से निकल कर आवश्यक रस द्रव्य बालक के शरीर में निरन्तर पहुँचते रहते हैं। इस दृष्टि से प्रथम मुख नाभि को ही कहा जा सकता है। दांत, जीभ, कंठ, तालु वाला मुँह तो जन्म ले चुकने के बाद खुलता है। तब तक नौ मास की अवधि में बालक बहुत कुछ प्राप्त कर चुका होता है। गर्भ काल में बच्चा जितनी तेजी से बढ़ता है वह आश्चर्यजनक है। उसे अपने शरीर के अनुपात से इतनी अधिक खुराक की जरूरत पड़ती है जितनी जन्म लेने के उपरान्त फिर कभी नहीं पड़ती। उन सारी आवश्यकताओं की पूर्ति नाभि मार्ग से ही होती रहती है।

भ्रूण के फेफड़े गर्भावस्था के नौ महीने प्रायः निष्क्रिय ही रहते हैं। श्वांस प्रश्वांस की आवश्यकता माता और भ्रूण के दो जुड़े हुए अवयव पूरी करते हैं। माता के 'यूटेरस' गर्भाशय में स्थित जरायु बच्चे के "प्लेसेन्टा" ही फेफड़े का भी काम करते है। जन्म के उपरान्त जैसे ही बालक रोता, हाथ पैर चलाता और साँस लेता है वैसे ही रक्त संचार आरंभ होजाता है। हृदय से बड़ी धमनी में होकर रक्त फेफड़ों में पहुँचता है और वे अपना काम आरंभ कर देते हैं। नाल काटने पर बच्चे का 'अम्ब्र कार्ड' माता के 'प्लेसेन्टा' से कट कर अलग होजाता है। तब फिर दोनों के बीच बने हुए सम्बन्ध सूत्र का विच्छेद होजाता है और इस कार्य के सम्पन्न करती रहने वाली 'अम्ब वेन' निष्क्रिय हो जाती है बच्चे की कार्य वाहिनी सामर्थ्य अपने बल बूते अपना काम चलाने लगती है। फेफड़े हृदय आदि ठीक तरह अपना काम करने लगते हैं और उस स्व संचालित प्रक्रिया के सहारे नवजात शिशु की जीवन यात्रा स्वावलम्बनपूर्वक अपने ढर्रे पर लुढ़कने लगती है। माता का सहयोग समाप्त होजाता है। तब उस केन्द्र की उपयोगिता भी समाप्त होजाती है।

इसके बाद उस महत्वपूर्ण प्रक्रिया का केन्द्र नाभि बाह्य दृष्टि से एक सामान्य गड्ढे के रूप में रह जाती है। स्थूल विज्ञान के अनुसार अन्दर उस स्थान से कुछ सूत्र जिगर से जुड़े रहते हैं। वर्तमान जीवशास्त्री इसे निरर्थक निष्क्रिय सूत्र मानते हैं और उन्हें 'लीगामैन्ट टेरीस आफ लीवर' कहते हैं। किन्तु यह सूत्र एकदम निष्प्राण नहीं होते बल्कि स्थूल दृष्टि से सुप्त जैसी स्थिति में पड़े रहते हैं। जब जिगर रोग ग्रस्त हो जाता है तो उस पर पड़ने वाले रक्त के दबाव को कम करने के लिए यह सूत्र पुनः सक्रिय हो उठते हैं। जिगर पर पड़ने वाले रक्त के दबाव से उसे बचाने के लिए रक्त को नाभि क्षेत्र में फैला देते हैं। उस समय नाभि क्षेत्र फूला हुआ, उसमें रक्त शिरायें

उभरी हुई स्पष्ट दिखाई देती हैं स्पष्ट है कि स्थूल दृष्टि से सुप्त, यह तंतु सूक्ष्म दृष्टि से सतत सक्रिय रहते हैं।

शरीर के विकास की दृष्टि से नाभि की भूमिका समाप्त हो जाती है यह एक दृष्टि से उचित भी है। नाभि द्वारा पोषित भ्रूण गर्भ में जिस तीव्र गति से बढ़ता है वह गति अत्यधिक तीव्र होती है। नाभि की पोषण क्षमता सक्रिय रहे और यदि जन्म लेने के बाद भी उसी क्रम से शरीर की वृद्धि का क्रम चलता रहता तो फिर कदाचित मनुष्य साल वृक्ष जितना ऊँचा, हाथी जितना विशालकाय बन सकता था और उसकी खुराक जुटाने के लिए दस हाथियों जितने आहार की आवश्यकता पड़ सकती थी। ईश्वर को धन्यवाद है कि भ्रूण की वृद्धि और आवश्यकता की तीव्रता को गर्भ काल तक ही सीमित रखा।

वर्तमान शरीर शास्त्र की दृष्टि से जन्म के बाद मनुष्य के लिए नाभिचक्र निरर्थक कहा भी जा सकता है, किन्तु अध्यात्म विज्ञान की मान्यता इससे भिन्न है। उसने नाभि को 'नाभिकीय' केन्द्र माना है। जिस प्रकार परमाणु के नाभिक का महत्व सर्वोपरि है, जिस प्रकार सौर मंडल का सूत्र संचालन सूर्य द्वारा—होता है उसी प्रकार शरीर का मध्य बिन्दु नाभि है और उसमें नाभिकीय क्षमता विद्यमान है। मस्तिष्क का—सूक्ष्म शरीर का नाभिक आज्ञाचक्र है। स्थूल शरीर की स्थिति उससे भिन्न है। उसका नाभिक-न्यूक्लियस-नाभि है। उसकी क्षमता अपने समीपवर्ती अवयवों को प्राणबल देती है और वे अपना काम ठीक तरह कर सकने में समर्थ बनते हैं। प्राकृतिक चिकित्सा तथा योग चिकित्सा के अंतर्गत नाभि को इसी लिए बहुत महत्व दिया जाता है। शरीर के अनेक गंभीर रोगों के उपचार की एक रहस्यमय पद्धति अपने देश में बहुत समय से चली आरही है। उसमें शरीर के कुछ विशिष्ट केन्द्रों को दबाने, सहलाने, बाँधने मलने आदि क्रियाओं द्वारा रोगों का सफल उपचार कर दिया जाता है। यह पद्धति आजकल 'जोन थैरेपी' के नाम से एक सुनिश्चित चिकित्सा पद्धति के रूप में विकसित की जा रही है। उसमें भी नाभि को बहुत अधिक महत्व दिया जाता है।

शरीर शास्त्र की दृष्टि से भी नाभि के आसपास नौ महत्वपूर्ण अंतःस्रावी ग्रंथियाँ (गैंग्लियान) हैं। गैंग्लियान—स्वायत्त नाड़ी संस्थान (आटोनॉमस नर्वस सिस्टम) के वह केन्द्र हैं जो शरीर के प्रमुख संस्थानों की गतिविधियों; उनके रक्त संचरण, हारमोन, एन्जाइम आदि अंतः रसों के निस्सरण आदि का नियमन-संचालन करते हैं। नाभि के आसपास चार लम्बर गैंग्लियान, उन्हीं से लगे हुए चार सेक्रल गैंग्लियान तथा उससे नीचे एक क्रावसीजियल गैंग्लियान कुल नौ गैंग्लियान होते हैं। स्थूल शरीर के पोषण एवं विकास से सम्बन्धित लगभग सभी स्थूल संस्थानों से इनका सम्बन्ध होता है। आमाशय तथा पाचन संस्थान, गुर्दे तिल्ली, जिगर आदि के महत्व सर्व विदित हैं। इनका सबका नियंत्रण—सुसंचालन इन्हीं गैंग्लियान केन्द्रों से होता है। नये शरीर निर्माण की प्रणाली, प्रजनन संस्थान भी अपनी अद्भुत क्षमताओं सहित इन्हीं केन्द्रों के नियंत्रण में कार्य करती है। नाभि क्षेत्र के लम्बर गैंग्लियानों का हस्तक्षेप हृदय क्षेत्र में भी है। हृदय क्षेत्र में ग्यारह 'थोरेसिक' गैंग्लियान होते हैं। कई क्षेत्रों में 'लम्बर' और 'थोरेसिक' दोनों मिलकर भी कार्य करते हैं।

शरीर के महत्वपूर्ण संस्थानों का नाभि से सम्बन्ध शरीर शास्त्रियों के लिए रहस्य हो सकता है किन्तु आत्म विज्ञान से विदित है कि नाभिचक्र का वह चुम्बकत्व आजीवन बना रहता है जिसके आधार पर माता के शरीर से आवश्यक अनुदान खींचने में गर्भस्थ शिशु समर्थ रह सका था। ट्रांजिस्टर में छोटासा 'क्रिस्टल' लगा रहता है। उस यंत्र की सारी मशीनरी अपना काम तभी ठीक तरह कर पाती है जब यह 'क्रिस्टल' सही स्थिति में हो। नाभि केन्द्र के चुम्बकत्व को भी यही संज्ञा दी जा सकती है। उसमें आदान प्रदान की उभय पक्षीय क्षमता विद्यमान है। अनन्त अन्तरिक्ष से आवश्यक शक्ति खींचने और धारण करने और समीपवर्ती अवयवों से लेकर दूरस्थ अंगों तक को वह अदृश्य एवं अविज्ञात सामर्थ्य प्रदान करने का कार्य इस चुम्बकत्व का ही है।

शरीर को अनेक प्रकार की ऊर्जाएँ चाहिएँ; जिन्हें वह अपनी चुम्बक शक्ति के द्वारा खींचता है। वातावरण का कितना प्रभाव शरीर पर पड़ता है इसे हर कोई जानता है। कहाँ का जलवायु शरीर पर क्या प्रभाव डालता है

इसे हम प्रत्यक्षतः देखते हैं। बहुमूल्य आहार प्राप्त होते रहने पर भी घटिया जलवायु के क्षेत्र में रहने वाले रुग्ण दुर्बल रहते हैं और स्वल्पकाल में ही जीवन समाप्त कर देते हैं। इसके विपरीत, जहाँ का वातावरण सशक्त है वहाँ के निवासी घटिया भोजन मिलने पर भी बलिष्ठ बने रहते हैं।

मोटा तगड़ा शरीर भी सामान्य सा भार वहन करने और दौड़-धूप में संलग्न रहने के अतिरिक्त, और कुछ महत्व पूर्ण कार्य न कर सकेगा। प्रगतिशील मनुष्यों के शरीर में स्फूर्ति पाई जाती है। उनका प्रत्येक अवयव प्रशिक्षित कलाकारों की तरह अपना काम करने में कुशल होता है। इन्द्रियाँ काबू में रहती हैं और नियत निर्धारित क्रम से अपने सुव्यवस्थित क्रिया कौशल का परिचय देती हैं। यही कारण है कि वे सामान्य मनुष्यों की तुलना में कई गुने परिमाण में उत्कृष्ट स्तर का काम कर पाते हैं। यही उनकी सफलता का बहुत बड़ा कारण होता है।

शरीर के लिए आवश्यक इस प्रकार की सूक्ष्म शक्तियाँ, मात्र अन्न, जल, वायु से प्राप्त नहीं हो सकतीं, उसकी पूर्ति ब्रह्माण्ड व्यापी उन शक्ति स्रोतों से भी होती है जो दृश्य रूप में अनुभव में तो नहीं आते पर अपनी महत्ता सिद्ध करते रहते पृथ्वी का काम अपने भीतरी उत्पादनों से ही नहीं चल जाता, वरन् सूर्य से आने वाली गर्मी और रोशनी से उसे जीवन संचार का लाभ मिलता है। न केवल सूर्य से वरन् वह अन्य ग्रहों से भी बहुत कुछ प्राप्त करती है। ग्रहों से ही क्यों उसका अपना उपग्रह चन्द्रमा तक ज्वार-भाटा से लेकर और भी न जाने क्या-क्या सहायता देकर धरती की सजीवता बनाये रहने में सहायता देता है। यदि वे अन्तर्ग्रही अनुदान न मिलें तो पृथ्वी निर्जीव, निस्तब्ध ही नहीं बन जायगी वरन् अपना अस्तित्व बनाये रहने में भी समर्थ न हो सकेगी। ठीक यही बात मनुष्य शरीर के सम्बन्ध में भी लागू होती है।

नाभि स्थल का शारीरिक दृष्टि से कोई विशेष महत्व भले ही न हो पर आध्यात्मिक दृष्टि से उसकी उपयोगिता आजीवन वैसी ही बनी रहती है जैसी कि भ्रूण काल में थी। पृथ्वी ध्रुव क्षेत्र में सन्निहित अपनी चुम्बकीय शक्ति से अन्तर्ग्रही ऊर्जा को आकर्षित करती और उससे अपनी महत्वपूर्ण आवश्यकताएँ पूरी करती है। ठीक इसी प्रकार नाभि चक्र का ध्रुव प्रदेश शरीर को समर्थ एवं सुव्यवस्थित बनाये रहने वाली विशिष्ट ऊर्जा को आकाश से खींचता है। यदि यह चक्र प्रसुप्त स्थिति में है तो उसकी आकर्षण शक्ति न्यून होगी और मात्र आहार पर ही निर्वाह चलाना पड़ेगा। किन्तु यदि नाभि चक्र के चुम्बकत्व को साधना योग द्वारा जाग्रत किया जा सके तो उसकी आकर्षण क्षमता सहज ही बढ़ जायगी और उसकी प्रखरता के आधार पर इतना कुछ अदृश्य अनुदान प्राप्त किया जा सकेगा जो रक्त माँस आदि स्थूल सम्बन्धों की अपेक्षा कम नहीं वरन् कुछ अधिक ही उपयोगी है।

अन्नमय कोश का प्रवेश द्वार नाभि चक्र है। इस केन्द्र की समर्थता एवं उपयोगिता सदा बनी रहती है। दिव्य शक्तियों का शरीर में प्रवेश इसी मार्ग से होता है। इस सन्दर्भ में योग ग्रन्थों में कितने ही उल्लेख मिलते हैं। यथा—

पातंजलि योग दर्शन में नाभि चक्र की साधना से काया की भीतरी स्थिति की सूक्ष्म जानकारी मिलने का वर्णन है।

नाभिचक्रे काय व्यूह ज्ञानम्।

—पातंजलि योग सूत्र

नाभि चक्र से संयम करने से काय के चक्र व्यूह का ज्ञान होता है।

ऐसा ही उल्लेख योग रसायन ग्रंथ में भी है—

नाभिचक्रे यदा कुर्याद्धारणां योगविद्यदि।
शरीराभ्यन्तरे सर्वसंस्थानं तु विलोकयेत्॥

—योग रसायन

जिस काल में योगी नाभि चक्र में धारण करता है, उस समय वह शरीर के सम्पूर्ण अभ्यन्तर शरीर संस्थान को देख लेता है।

केचित्तद्योगतः पिण्डा भूतेभ्यः स भवा क्वचित्।
तस्मिन्नन्नमय; पिण्डो नाभिमण्डलसंस्थितः॥

त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषद्

(सप्त, रक्त, मांस, मेद, अस्थिमज्जा, वीर्य आदि सप्त) धातुओं के योग से प्राणी के पिण्डों की उत्पत्ति होती है। उनमें से नाभिमण्डल में अन्नमय पिण्ड हैं।

तृतीयं नाभिचक्रं स्यात्तन्मध्ये तु जगत् स्थितम्।
पंचावर्तां मध्यशक्तिं चिन्तयेद्विद्यु दाकृति॥
तां ध्यात्वा सर्वसिद्धीनां भाजनं जायते बुधः।
—योगराजोपनिषद्

नाभि चक्र में यह भौतिक जगत अवस्थित है। पंचा वृत्त—पाँच तत्वों से विनिर्मित विद्युत शक्ति का इससे ध्यान करना चाहिए। ऐसा ध्यान करने से साधक सभी भौतिक सिद्धयाँ प्राप्त कर लेता है।

नाभिकन्दादधः स्थानं कुण्डल्या द्वय गुलं मुने।
अष्टप्रकृतिरूपा सा कुण्डली मुनिसत्तम॥
—जगत दर्शनोपनिषद्

नाभि कन्द के नीचे कुण्डलिनी शक्ति का निवास है। अष्ट प्रकृति की प्रतीक अष्ट सिद्धियाँ उसमें कुण्डली मारकर बैठी हुई हैं।

रावण किसी शस्त्र से मर नहीं सकता था क्योंकि उसकी नाभि में अमृत का कुण्ड था। उसे सुखाये बिना यह असुर वध संभव नहीं है। यह भेद राम को विभीषण ने बताया। राम ने वह कुण्ड सुखा कर रावण मारा। इससे प्रकट है कि शरीर की स्थिति सुदृढ़ बनाने के लिए नाभि चक्र के माध्यम से कितनी बड़ी सफलता प्राप्त की जा सकती है। अध्यात्म रामायण में यह प्रसंग इस प्रकार आता है—

नाभि देशेऽमृतं तस्य कुण्डलाकार संस्थितम्।
तच्छोषयान अस्त्रेण तस्य मृत्युस्ततो भवेत्॥
विभीषण वचः श्रुत्वा रामः शीघ्र पराक्रमः।
पावकास्त्रैण संयोज्यं नाभिं विव्याध राक्षसः॥
—अध्यात्म रामायण

यह विभीषण की उक्ति है—संकेत है कि रावण की नाभि में कुण्डलाकार स्थित अमृत को अग्निवाण से सुखा दें, तभी उसकी मृत्यु होगी तब राम ने बड़ी फुर्ती से अपने पावकास्त्र से रावण की नाभि को वेध डाला।

यह अमृतत्व पतनोन्मुख करके फुलझड़ी की तरह जलाकर तनिक सा विनोद भी खरीदा जा सकता है। उसे मधुमक्खी की तरह संचित करके अपना श्रेय और दूसरों का सुख बढ़ाया जा सकता है। प्रजनन संस्थान के इर्द-गिर्द अनेकानेक क्षमताओं के दिव्य केन्द्र बिखरे हुए हैं। इनमें शरीर शास्त्री कुछ हारमोन ग्रन्थि स्रावों तथा उत्तेजना परक विद्युत प्रवाहों के संबंध में ही थोड़ी सी जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। इतने से भी वे मानते हैं कि मस्तिष्क के बाद अवयवों की दृष्टि से हृदय और स्फुरण की दृष्टि से काम संस्थान की महत्ता है। आत्म-विद्या के अनुसार नाभिचक्र प्राण सत्ता का—साहसिक पराक्रम शीलता एवं प्रतिभा को केन्द्र माना गया है। इस स्थान की ध्यान साधना करते हुए इस प्राण-शक्ति को निग्रहीत और दिशा नियोजित किया जाता है। फलतः उसके सत्परिणाम भी ओजस्विता की वृद्धि के रूप में सामने आते हैं।

—❀—

खेचर्या मुद्रया येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः। न तस्य क्षरते विन्दुः कामिन्यालिङ्गितस्य च॥
यावद्विन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्योर्भयं कुतः। यावद्बद्धा नभोमुद्रा तावद्विन्दुर्न गच्छति॥
चलितोऽपि यदा विन्दुः संप्राप्तश्च हुताशनम्। व्रजत्यूर्ध्वं हृते शक्त्या निरुद्धो योनि मुद्रया॥
— गोरक्ष पद्धति

खेचरी मुद्रा द्वारा जो चन्द्रामृत को छिद्राकाश से ही खींच लेता है उसका काम समागम में भी विन्दुपात नहीं होता।६८।

जब तक खेचरी मुद्रा दृढ़ है तब तक शुक्र व्योम चक्र से नीचे नहीं गिरता वह स्व स्थान में ही अवस्थित बना रहता है।६९।

कदाचित वह नाभि से नीचे उतर कर जननेन्द्रिय में चला भी जाय तो भी उसे योनिमुद्रा द्वारा ऊपर उठाकर पुनः अपने ऊर्ध्व स्थान पर लाया जा सकता है।७०।



प्राणायाम से प्राणमय कोश का परिष्कार

प्राणमय कोश आत्मा पर चढ़ा हुआ दूसरा आवरण है। अन्नमय कलेवर खाने-सोने, काम करने जैसे प्रयोजन पूरे करता है। इसके भीतर जो ऊर्जा, स्फूर्ति, उमंग काम करती है वह प्राण है। प्राण से ही शरीर चलता और जीवित रहता है। जिसका यह कोश जितना समर्थ है वह उतना ही प्रतापी, पराक्रमी, शूर, साहसी प्रतीत होगा। उसका बढ़ा-चढ़ा चुम्बकत्व दूसरों का सहयोग, सद्भाव अनायास ही आकर्षित करता रहेगा। ओजस्वी, तेजस्वी, मनस्वी व्यक्तियों में यही प्राण प्रखरता आलोकित रहती है।

स्थूल अन्नमय कोश के कण-कण में प्राण ऊर्जा संव्याप्त है, पर उसका केन्द्र संस्थान प्रवेश द्वार जननेन्द्रिय मूल में अवस्थित मूलाधार चक्र है। इसकी उमंगें कामेच्छा के रूप में मन को और रति कर्म की ललक बनकर शरीर को उत्तेजित करती रहती हैं। इसी केन्द्र के रस—रज वीर्य के अन्तर्गत छोटे-छोटे कीटाणुओं में समूचे मनुष्य की आकृति-प्रकृति बीज रूप से विद्यमान रहती है। सरसता की विविध-विधि उमंगें यहीं से उठती हैं। कला केन्द्र इसी को कहा जाता है। सौन्दर्य बोध से लेकर उल्लास भरे भविष्य की आशा यहीं से निसृत होती है। डार्विन के अनुसार विकासवाद के मूल तत्व कामुकता के विविध रूपों में प्राणी को प्रेरित प्रभावित करते हैं। निस्तेज, निरुत्साही व्यक्ति को 'नपुंसक' कहा जाता है यह एक गाली है। जिसका अर्थ मनुष्य को नीरस निराश बनकर रहना होता है।

मूलाधार चक्र की विशेष व्याख्या कुण्डलिनी जागरण के सन्दर्भ में की जायगी। यहाँ तो इतना ही कहा जा सकता है कि शारीरिक और मानसिक ब्रह्मचर्य की साधना करते हुए इस प्रचण्ड शक्ति को निग्रहीत किया जा सकता है और उसे भक्ति भावना में—कला सम्वेदना में, लोक साधना में तथा अन्यान्य उल्लास वर्धक सत्प्रयोजनों में लगाया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त प्राणायाम साधना का अपना महत्व है। दैनिक कृत्यों में उसे ऐसे ही रेचक, कुम्भक, पूरक के नित्य कर्म में संयुक्त रखा जाता है। फेफड़ों के व्यायाम के लिए—डीप ब्रीदिंग—लम्बी साँस लेने की कई पद्धतियाँ देश-विदेश में इन दिनों बहुत लोकप्रिय और लाभप्रद सिद्ध हो रही हैं। शिथिलासन के साथ किया जाने वाला प्राणाकर्षण प्राणायाम अपनी उपयोगिता के लिए प्रख्यात है। चौरासी सामान्य और उनमें से चुने हुए आठ विशिष्टों की चर्चा साधना ग्रन्थों में मिलती है। नाड़ी शोधन, लोम विलोम, सूर्यभेदन साधनाएँ भी प्राण विद्या के अन्तर्गत ही आती हैं। इनमें से पंचकोशी साधना के अन्तर्गत प्राणमय कोश के परिष्कार के लिए किसे कौन-सा प्राणायाम करना चाहिए, उसका विधान साधकों की शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक स्थिति को परख करके ही बताया जा सकता है। कोश साधना में सभी को एक लाठी से नहीं हाँका जा सकता।

इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना तीन प्राण नाड़ियाँ प्रधान हैं। इसके अतिरिक्त दश विशिष्ट हैं। सामान्यों की संख्या बहुत अधिक है। इन्हें किस प्रयोजन के लिए किस प्रकार उपयोग में लाकर प्राणमय कोश का कौन-सा पक्ष तीव्र एवं मन्द किया जाना चाहिए इसका उल्लेख यहाँ न करके इन पंक्तियों में इतना ही कहा जा सकता है कि प्राण विद्या के अन्तर्गत प्राणायाम प्रक्रिया का सहारा लेकर प्राणमय कोश की समग्र एवं आंशिक साधना की जा सकती है। प्राणायाम दीखने में ही सामान्य लगता है, पर यदि उच्चस्तरीय विधान के आधार पर साधा जाय तो शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक प्रगति के लिए उससे महत्वपूर्ण लाभ उठाया जा सकता है।

प्राण तत्व का मनःसंस्थान से घनिष्ट सम्बन्ध है। साहसिकता के अभाव में मन दुर्बल पड़ता है, उसकी चिंतनशीलता व सक्रियता शिथिल पड़ जाती है। शरीर से दुर्बल होने पर भी मनस्वी व्यक्ति सुदृढ़ होता है इसके विपरीत काया की दृष्टि से सुदृढ़ व्यक्ति भी मनोवल के अभाव में दीन-हीन, अकर्मण्य, निराश, भयभीत वना रहता है। प्राण-शक्ति ही साहस वनकर उभरती और मनोवल का आधार वनती हैं।

मन पर नियन्त्रण कर सकने वाला अंकुश उसके साथी प्राण के ही हाथ में है। मन की चंचलता प्रसिद्ध है, वह क्षण-क्षण में अस्त-व्यस्त वना इतस्ततः उड़ता रहता है। एक स्थान पर न टिक पाने से किसी महत्वपूर्ण दिशा में गम्भीरतापूर्वक सोच सकना और तन्मयतापूर्वक प्रस्तुत कार्य कर सकना संभव नहीं होता। एकाग्रता और तत्परता विना किसी भी कार्य में सफलता नहीं मिल सकती। जीवन के सभी महत्वपूर्ण कार्य दत्त-चित्त होकर करने से ही सम्पन्न होते हैं। चंचलता प्रगति पथ की सवसे वड़ी वाधा है। इसके रहते हुए सुयोग्य व्यक्ति भी पग-पग पर ठोकरें खाते और असफल रहते देखे जाते हैं। भौतिक क्षेत्र की भाँति आत्मिक क्षेत्र की सफलताएँ भी—चंचलता के निरोध पर निर्भर हैं। योग का परिभाषा करते हुए महर्षि पांतजलि ने उसे चित्त-वृत्तियों का निरोध वताया है। इस चित्त-प्रवृत्ति को दो रूपों में देखा जाता है—एक तो अस्थिर चंचलता, दूसरे पाशविक कुसंस्कारों की ओर रुझान। इन दोनों ही अवांछनीयताओं पर नियन्त्रण स्थापित करने से चित्त-वृत्ति निरोध की योग-साधना सम्भव होती है।

मन पर नियन्त्रण करने के लिए शास्त्रकारों ने प्राणायाम साधना पर वहुत वल दिया है। दोनों की परस्पर घनिष्टता वताते हुए कहा गया है कि यदि प्राण पर नियन्त्रण स्थापित किया जा सके तो मनोनिग्रह जैसा कठिन कार्य सरल वन जायगा।

पवनो वध्यते येन मनस्तेनैव वध्यते।
मनश्च वध्यते येन पवनस्तेन वध्यते॥
हेतुद्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरणः।
तयोर्विनष्ट एकस्मिस्तौ द्वावपि विनश्यतः॥

—हठ्योग प्रदीपिका ४।२१

जिसने प्राण वायु को जीता उसने मन जीत लिया। जिसने मन जीता उसने प्राण जीत लिया। चित्त की—चंचलता के दो ही कारण हैं—एक वासना का दूसरा प्राण वायु का चञ्चल होना। इनमें से एक के नष्ट हो जाने पर दोनों का नाश हो जाता है।

चले वाते चलो विन्दुर्निश्चले निश्चलो भवेत्।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायु निरुधयेत्॥

—गोरक्ष प० १।६०

प्राण वायु चलायमान रहने से विन्दु चलायमान रहता है। प्राण निश्चल हो जाने से वीर्य भी निश्चल हो जाता है। समर्थ स्थिरता प्राप्त करने के लिए योगी प्राणायाम करे।

मनो यत्न विलीयते पवनस्तत्र लीयते।
पवनो लीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते॥

—ह० प्र० ४।२३

अर्थ—जिस जगह मन विलीन हो जाता है उस जगह प्राण वायु लीन हो जाता है और जहाँ वायु विलीन हो जाती है वहाँ मन लीन हो जाता है।

दुग्धाम्बुवत्स मिलितावुभौ तौ तुल्य क्रियौ—
मानस मारुतौ हि।
यतो मरुचत्र मनः प्रवृत्तिर्यतो मनस्तत्र—
मरुत्प्रवृत्तिः॥

हठ० प्रदी० ४।२४

अर्थ—एक क्रिया वाले दोनों मन एवं वायु, दूध और पानी के समान मिले हुए हैं, इसी से जहाँ वायु है वहाँ मन की प्रवृत्ति होती है और जहाँ मन है वहाँ वायु की प्रवृत्ति होती है।

याव द्वायुः स्थिरो देहे तावज्जीवन मुच्यते।
मरणं तस्यनिष्क्रांतिस्ततो वायु निरोधयेत्॥

—ह० प्र० २।३

अर्थ—जव तक शरीर में प्राण वायु विद्यमान है, तव तक ही वह जीवित है और शरीर से प्राण वायु का निकलना ही मृत्यु है इसलिए प्राण वायु का निरोध करना चाहिए।

स यथा शकुनिः सूत्रे प्रवद्धो दिशं दिशं पतित्वा-ऽन्यत्रायतनमलव्ध्वा वन्धनमेवोपश्रयते, एवमेव खलु

सोम्यैतन्मनो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा- प्राणमेवोपश्रयते, प्राणबन्धनं हि सोम्य मन इति ।

—छान्दो० ६।८।२

जिस प्रकार डोरी से बँधा हुआ पक्षी घूमघाम कर अपने मूल आश्रय पर ही आ जाता है, उसी तरह हे सौम्य मन कहीं दूसरी जगह आश्रय न पाने पर घूमघाम कर प्राण का ही आश्रय लेता है। क्योंकि मन प्राण से ही बँधा हुआ है।

नानाविधैर्विचारैस्तु न साध्यं जायते मनः।
तस्मात्तस्य जयः प्रायः प्राणस्य जय एव हि ॥

—योग बीज

अनेकों प्रकार के विचारों से मन साध्य नहीं होता है इससे प्राण वायु के जीतने से ही मन जीता जाता है।

चित्तं न साध्यं विविधैर्विचारै—
वितर्कवादैरपि वेदवादिभिः।
तस्मात् तस्यैव हि केवलं जयः—
प्राणो हि विद्येत न कश्चिदन्यः ॥

—योग रहस्य

विविध विचारों, तर्कों और अध्ययन श्रवण आदि से चित्त का समाधान नहीं होता, मनोनिग्रह तो प्राणायाम से ही सम्भव है।

हठिनामधिकस्त्वेकः प्राणायाम परिश्रमः।
प्राणायामे मनः स्थैर्यं स तु कस्य न सम्मतः ॥

—बोधसार

हठयोगियों का मुख्य साधन श्रम-साध्य प्राणायाम है। यह अन्यान्य योगियों की साधना से अधिक है। परन्तु वह प्राणायाम सिद्ध हो जाने पर मन स्थिर हो जाता है, यह कौन स्वीकार नहीं करेगा।

इन्द्रिय विकार—अनियन्त्रित वासना प्रवाह का कारण शारीरिक नहीं मानसिक ही होता है। इन्द्रियों पर मन का नियन्त्रण है। मन विकारग्रस्त होगा तो इन्द्रियों की चंचलता भी उभरेगी और वे कुकृत्य कर सकेंगी। यदि मन पर नियन्त्रण स्थापित किया जा सके तो वासना पर अंकुश स्वयमेव लग जाता है। प्राणायाम से मनोनिग्रह—मनोनिग्रह से वासनाजन्य विकारों की रोक-थाम सम्भव होती । असंयम के लिए उत्तेजित करने वाले विकृत मन को कुमार्ग त्यागने के लिए सहमत करना प्राणायाम की सुनियोजित साधना-पद्धति अपनाने से सम्भव हो सकता है। इस सम्बन्ध में साधना विज्ञान का मन्तव्य इस प्रकार है—

प्राणायामो भवेदेवं पातकेन्धनपावकः।
भवोदधिमहासेतुः प्रोच्यते योगिभि सदा ॥

—योग चूड़ामणि उप० १०८।१०९

प्राणायाम की अग्नि पाप रूपी ईंधन को जलाकर पार कर देती है और वह सेतु के समान संसार सागर से पार होने का मार्ग खोलता है।

रसस्य मनसश्चैव चंचलत्वं स्वभावतः।
रसो बद्धो मनो बद्धं किं न सिद्ध्यति भूतले ॥
मूर्च्छितो हरते व्याधीन् मृतो जीवयति स्वयम्।
बद्धः खेचरतां धत्ते रसो वायुश्च पार्वति ॥
मनःस्थैर्ये स्थिरो वायुस्ततो बिन्दुः स्थिरो भवेत्।
बिन्दुस्थैर्यात्सदा सत्वं पिण्डस्थैर्यं प्रजायते ॥

हठ० यो० प्रदी० ४।२६ से २८

रस और मन यह दोनों ही स्वभावतः चंचल हैं। रस के बँध जाने से मन बँध जाता है। इनके बँध जाने पर भला क्या सिद्धि नहीं मिल सकती।२६।

यह रस और प्राण मूर्च्छित होने पर समस्त रोगों को हर लेते हैं, मरने पर दूसरों को जला देते हैं, बँधने पर आकाश में गमन करने लगते हैं।२७।

मन के स्थिर हो जाने पर प्राण स्थिर हो जाता है और प्राण के स्थिर होने से वीर्य स्थिर होता है। वीर्य के स्थिर होने से शरीर में सदा सत्व स्थिर रहता है।२८।

इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः।
मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः ॥

ह० प्र० ४।२९

अर्थ—इन्द्रियों का प्रवर्तक मन है और मन का प्रवर्तक वायु है और प्राण का नाथ मन का लय है और वह मन का लय नाद के आश्रित है।

हेतु द्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरणः।
तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तौ द्वावपि विनश्यतः ॥

—ह० प्र० ४।२२

अर्थ—चित्त की प्रवृत्ति में दो कारण हैं—एक वासना, दूसरी प्राण वायु। उन दोनों में से एक के नष्ट हो जाने पर दोनों ही नष्ट हो जाते हैं।

अध्यात्म साधना में प्राणायाम को योगाभ्यास का महत्वपूर्ण अङ्ग माना गया है। उससे मात्र मनोनिग्रह का लाभ ही नहीं मिलता अन्य सूक्ष्म संस्थानों का भी परिशोधन होता है। शारीरिक आरोग्य का लाभ सर्वविदित है। फेंफड़े सुदृढ़ होने अधिक मात्रा में प्राण वायु के शरीर में प्रवेश करने से जीवन तत्व भी अधिक मिलते हैं और परिशोधन की गति भी तीव्र होती है। स्थूल और सूक्ष्म शरीरों पर—स्वास्थ्य सम्वर्धन और मानसिक परिष्कार का प्राणायाम का प्रत्यक्ष प्रभाव होता है। कारण शरीर के भाव संस्थान पर भी इस साधना की उपयुक्त प्रतिक्रिया होती है। कुसंस्कारों, दोष-दुर्गुणों का निराकरण होता है। आत्मिक पवित्रता बढ़ती है। अन्तःकरण में श्रेष्ठ संस्कारों का उभार होने लगता है। ऐसी स्थिति बनती चले तो आत्मिक प्रगति में किसी प्रकार का सन्देह न रह जायगा। कहा भी है—

दह्यन्ते ध्यायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥

—मनु

जैसे अग्नि में डालने से धातुओं के मल जल जाते हैं। वैसे ही प्राणायाम करने से इन्द्रियों के विकार दूर हो जाते हैं।

यथा पर्वतधातूनां दह्यन्ते धर्मनान्मलाः।
तथेन्द्रियकृता दोषः दह्यन्ते प्राणधारणात्॥

—अमृतनादोपनिषद्

जिस प्रकार सोने को तपाने से उसके खोट जल जाते हैं उसी प्रकार इन्द्रियों के विकार प्राणायाम से जल कर नष्ट होते हैं।

प्राणायामेन युक्तस्य विप्रस्य नियतात्मनः।
सर्वे दोषाः प्रणश्यन्ति सत्वस्थश्चैव जायते॥
तपांसि यानि तप्यन्ते व्रतानि नियमाश्च ये।
सर्वयज्ञफलश्चैव प्राणायामश्च तत्समः॥

—वायु पुराण

प्राणायाम से युक्त नियत आत्मा वाले विप्र के समस्त दोष नष्ट हो जाया करते हैं और फिर वह केवल सत्वगुण में ही स्थित रहा करता है। जो भी तपस्यायें तपी जाती हैं, व्रत लिए जाते हैं और नियम ग्रहण किये जाते हैं तथा समस्त यज्ञों के करने का जो भी कुछ फल होता है वह सब प्राणायाम के समान होता है।

तस्माद्युक्तः सदा योगी प्राणायामपरो भवेत्।
सर्व पापविशुद्धात्मा परं ब्रह्माधिगच्छति॥

—वायु पुराण

इसलिए योगी को सर्वदा युक्त होकर प्राणायाम में परायण होना चाहिए। वह फिर समस्त पापों से विशुद्ध आत्मा वाला होकर परब्रह्म को प्राप्त कर लिया करता है।

प्राणायामो भवत्येवं पातकेन्धनपावकः।
भवोदधिमहासेतुः प्रोच्यते योगिभिः सदा॥

—योग सन्ध्या

प्राणायाम करने से जैसे पातक रूपी काष्ठ को भस्म करने वाला अग्नि होता है तैसे ही संसार रूपी समुद्र से तारने वाला बड़ा पुल योगियों ने प्राणायाम को कहा है।

तपो न परं प्राणायामात् ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य।

—पञ्च शिखाचार्य

प्राणायाम से बढ़कर और कोई तप नहीं। उससे मलों की शुद्धि होती है और ज्ञान का प्रकाश प्रदीप्त होता है।

सुषुम्नायां सदेवायं वहेत् प्राणसमीरणः।
एतद् विज्ञान मात्रेण सर्व पापैः प्रमुच्यते॥

—गोरखनाथ

यह प्राण वायु सुषुम्ना नाड़ी में सर्वदा ही प्रवाहित होता है। परन्तु जो योगी इसे जान जाते हैं वे समस्त पापों से मुक्त हो जाते हैं।

प्राणायामेन चित्तं शुद्धं भवति सुव्रत।
चित्ते शुद्धे शुचिः साक्षात्प्रत्यग्ज्योतिर्व्यवस्थितः॥
सर्वपापविनिर्मुक्तः सम्यग्ज्ञानमवाप्नुयात्।
मनोजवत्वमाप्नोति पलितादि च नश्यति॥

—जावाल दर्शनोपनिषद् ६।१६।१९

प्राणायाम से चित्त की शुद्धि होती है। चित्त शुद्ध

होने से अन्तःकरण में प्रकाश होता है और उस प्रकाश में आत्म-साक्षात्कार होता है।

प्राणायाम का साधक श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त करता है। मनस्वी और मनोजयी बनता है।

मारकण्डेय पुराण में प्राणायाम के चार स्तर बताये गये हैं और उनके द्वारा उच्चस्तीय उद्देश्यों की पूर्ति होने का प्रतिपादन किया गया है—

तस्माद्युक्तः सदा योगी प्राणायाम परो भवेत्।
श्रूयतां मुक्ति फलद तस्यावस्था चतुष्टयम्॥
ध्वस्तिः प्राप्ति स्तथा संवित् प्रसादश्च महीयते।
स्वरूपं श्रृणुचेतषां कथ्यमान मनु क्रमात्॥

कर्म्मणामिष्टदुष्टानांजायतेफलसंक्षयः।
चेतसोऽपकषायत्वंयत्रसाध्वस्तिरुच्यते॥
ऐहिकामुष्मिकान्कामांल्लोभोहात्मकान्स्वयम्।
निरुध्यास्तेसदायोगीप्राप्तिःसासार्वकालिकी॥
अतीतानागतानर्थान्विप्रकृष्टतिरोहितान्।
विजानातीन्दुसूर्य्यर्क्षग्रहाणांज्ञानसम्पदा॥
तुल्यप्रभावस्तुयदायोगीप्राप्नोतिसंविदम्।
तदासम्विदितिख्याताप्राणायामस्यसास्थितिः॥
यान्तिप्रसादंयेनास्यमनःपंचचवायवः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाश्चसप्रसादइतिस्मृतः॥

जैसे सिंह, व्याघ्र और हाथी को सिखा सधा कर नम्र बना लिया जाता है, वैसे ही प्राणायाम से प्राण वश में होते हैं।

जैसे महावत हाथी को अंकुश के बल पर इच्छानुसार चलाता है, वैसे ही योगीजन प्राण से इच्छानुसार काम लेते हैं।

जैसे पाला हुआ चीता मृगों को ही मारता है, पालने वाले को नहीं। उसी प्रकार प्राणायाम से सँभाला हुआ प्राण पापों को नष्ट करता है, जीवन को नहीं।

प्राणायाम की चार स्थिति हैं—(१) ध्वस्ति (२) प्राप्ति (३) संवित् (४) प्रसाद।

जिससे दूषित कर्मों और मनोविकारों का शमन होता है, उसे ध्वस्ति कहते हैं।

जिससे लोभ, मोह आदि से भरी कामनाएँ समाप्त हो जाती हैं उसे प्राप्ति कहते हैं।

जिससे ग्रह-नक्षत्र और सूक्ष्म लोकों से सम्बन्ध जुड़ जाता है तथा दिव्य ज्ञान की ज्योति दीप्तिमान होती है। अतीत अनागत और तिरोहित जान लिया जाता हैं उसे संवित कहते हैं।

जिस स्थिति में पाँचों प्राण तथा दशों इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं, चित्त में आनन्द, उल्लास अनुभव होता है उसे प्रसाद कहते हैं।

प्राणायाम की पहुँच अध्यात्म क्षेत्र के अति महत्वपूर्ण परतों तक है। उसे शारीरिक, मानसिक व्यायामों का उपचार मात्र नहीं समझना चाहिए। वरन् उसे उच्च-स्तरीय योग साधन ही मानकर चलना चाहिए। पुरश्चरण अनुष्ठानों की सफलता के लिए पूर्व भूमिका के रूप में प्राणायाम विज्ञान की विशेष साधनाएँ कराई जाती हैं। कहा गया है—

विना प्राणं यथा देहः सर्व कर्मसु न क्षमः।
विना प्राणं तथा मंत्रः पुरश्चर्याशतैरपि॥

प्राण रहित होने पर जैसे शरीर में काम करने की कुछ भी क्षमता नहीं रहती, उसी तरह मन्त्र की प्राण शक्ति को जब तक जागृत नहीं कर लिया जाता तब तक सैकड़ों पुरश्चरण करने पर भी मन्त्र शक्ति से अभीष्ट लाभ की आशा नहीं की जा सकती।

या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि।
या च मनसि सन्तता शिवा तां कुरु मोत्क्रमीः॥
प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्।
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति।

—प्रश्नोपनिषद् २।१२।१३

हे प्राण, तेरा ही रूप वाणी में निहित है तू ही श्रोत, नेत्र, मन में विद्यमान है। तू उन्हें कल्याणकारी बना। इस शरीर में ही विद्यमान रह। इस ब्रह्माण्ड में जो कुछ है सो सब तुझ प्राण के ही आश्रित है। तू माता-पिता के समान हमारी रक्षा कर और हमें सम्पदाओं तथा विभूतियों से सम्पन्न कर।

—❀—

मनोमय कोश और आज्ञा चक्र

मस्तिष्कीय क्षमता के चमत्कार सामान्य लोक व्यवहार में पग-पग पर दृष्टि गोचर होते हैं। सूझ-बूझ वाले बुद्धिमान मनुष्य हर क्षेत्र में आगे बढ़ते और सफलता पाते हैं। इसके विपरीत मूढ़ मति और मन्द बुद्धि लोग अनुकूल परिस्थितियाँ रहने पर भी पिछड़ी स्थिति में ही पड़े रहते हैं। जीवन की गहन समस्याओं को सुलझाने में, आत्मोत्कर्ष का लाभ प्राप्त करने में भी मनःस्थिति की प्रखरता ही लाभ देती है।

ज्ञान तन्तुओं के माध्यम से यह विकार तत्व समस्त शरीर में फैला हुआ है। मस्तिष्क उसका केन्द्रीय कार्यालय है। यह सुविस्तृत ज्ञान—विस्तार अध्यात्म की भाषा में मनोमय कोश कहलाता है। बौद्धिक प्रगति के लिए सामान्यतया प्रशिक्षण के स्कूली तथा दूसरी तरह के उपाय काम में लाये जाते हैं। मनः चेतना के आध्यात्मिक उपचार साधनात्मक हैं। उनके माध्यम से मनःशक्ति विकसित और परिष्कृत की जाती है। मनः क्षेत्र में प्रवेश का द्वार आज्ञा चक्र माना गया है। इस संस्थान को जागृत करने से चेतना की उन गहरी परतों से सक्रियता उत्पन्न होती है, जो व्यक्तित्व के समग्र विकास की भूमिका बनती है। आज्ञा चक्र का जागरण प्रकारान्तर से मस्तिष्कीय संस्थान की चेतन और अचेतन दोनों ही परतों को प्रभावित करता है। उन्हें इस योग्य बनाता है कि भौतिक सफलताओं और आत्मिक विभूतियों के उपलब्ध होने की सम्भावना बन सके। मनोमय कोश को परिपुष्ट बनाने के लिए आज्ञा चक्र की साधना का विधान आत्म विज्ञान के मनीषियों ने बताया है।

दोनों भवों के मध्य एक तीसरा नेत्र है। जिसे दिव्य दृष्टि का केन्द्र माना जाता है। योग शास्त्र में इसे आज्ञा चक्र एवं दिव्य नेत्र कहा गया है। पौराणिक अलंकारिक चित्रण में इसे तृतीय नेत्र चित्रित किया गया है। शिव तथा दुर्गा की आकृतियों में उनके तीन नेत्र दिखाये जाते हैं। यह तीसरा नेत्र दोनों भवों के बीच है। यह तिरछा न होकर सीधा है। दोनों आँखें तो दाँये बाँये चौड़ाई में होती हैं, पर यह तीसरा नेत्र ऊपर से नीचे की ओर ऊँचे से नीचे की दिशा में है। इसे दीपक की लौ के सदृश दर्शाया गया है।

आज्ञाचक्र को दूर दर्शन के उपयुक्त 'टेलीविजन' स्तर का सूक्ष्म यन्त्र कह सकते हैं। महाभारत के सारे दृश्य संजय ने इसी माध्यम से देखे और धृतराष्ट्र को सुनाये थे। चित्र लेखा द्वारा प्रद्युम्न प्रणय इस दिव्य दर्शन शक्ति के माध्यम से ही सम्भव हुआ था। ऐसे और भी कितने ही कथानक बिना नेत्रों की सहायता के देखे जाने के सम्बन्ध में कथा पुराणों में भरे पड़े हैं। यह तीसरा नेत्र न केवल दूरदर्शन को वरन् अदृश्य एवं अप्रत्यक्ष को भी देख सकने में पूरी तरह समर्थ है। जिस प्रकार 'एक्सरेज' ठोस पदार्थों में होकर पार चली जाती है और आँखों से न दीख पड़ने वाली वस्तुओं के भी चित्र खींचती है उसी प्रकार आज्ञा चक्र के कैमरे का शक्तिशाली लेंस अदृश्य को देख और अविज्ञात को जान सकता है। न केवल पदार्थों की स्थिति वरन् जीवधारियों की मनः स्थिति को भी देख जान सकना इस यन्त्र के माध्यम से सम्भव हो सकता है। मैस्मरेजम, हिप्नोटिज्म में जिस वेधक दृष्टि से दूसरों को प्रभावित किया जाता है वह स्थूल नेत्रों की नहीं वरन् आज्ञा चक्र की—सूक्ष्म नेत्र की ही क्षमता होती है।

मस्तिष्कीय चेतना में यों अन्य कितने ही शक्तिशाली केन्द्र संस्थानों का अस्तित्व विद्यमान है पर उनमें अधिक सरलता पूर्वक जगाया जा सकने वाला और अति महत्वपूर्ण जानकारियाँ देने वाला केन्द्र आज्ञा चक्र ही है। इसमें पाई जाने वाली दिव्य दृष्टि-क्षमता के सम्बन्ध का कई महत्वपूर्ण ग्रन्थों में विवेचन हुआ है। टीन लोवसग रम्पा की "थर्ड आई" सुग्न अल जहीर की दि आकल्ट जर्नी—डेनियल वारे की—दी मैका आफ हैवनली ट्राउजर्स पुस्तकों में आज्ञाचक्र की दिव्य क्षमता की विस्तृत विवेचना है। उनमें अनेक उदाहरणों का उल्लेख है जिनसे सिद्ध होता है कि इन दिव्य संस्थानों की सहायता से ऐसी महत्वपूर्ण जानकारियाँ प्राप्त हो सकती हैं जो सर्वसाधारण

के लिए तो अज्ञात ही रहती है, पर जो उनका आभास प्राप्त कर लेते हैं वे अपना तथा दूसरों का बहुत हित साधन कर सकते हैं।

नव ग्रहों और उपग्रहों के केन्द्र सूर्य हैं। पृथ्वी का केन्द्र ध्रुव प्रदेश है। परमाणु का शक्ति केन्द्र उसका मध्यवर्ती केन्द्र 'नाभिक' न्यूक्लियस कहलाता है। मस्तिष्क मानवी चेतना का केन्द्र है और उसका मध्य बिन्दु 'आज्ञा-चक्र' कहलाता है। इस तनिक से केन्द्र को मस्तिष्क रूपी ताले की ताली कह सकते हैं। उसे जीवन दुर्ग का प्रवेश द्वार कह सकते हैं।

भ्रूमध्य—जहाँ आज्ञा चक्र की स्थिति मानी जाती है, उसी सीध में कपाल के अन्दर एक अस्थि का नुकीला सा भाग है, इसे 'ग्लेविला' कहते हैं। इसका कुछ स्पष्ट उद्देश्य स्थूल क्रिया कलापों के अन्तर्गत नहीं मिलता है, किन्तु उस स्थान विशेष पर एक विशेष आकार की स्थिति कुछ सोचने समझने को बाध्य करती है। विज्ञान का नियम है कि नुकीले स्थल विद्युत चुम्बकीय सूक्ष्म तरंगों के संचारण एवं संग्रहण के लिए उपयोगी होते हैं। रेडियो संकेतों के लिए एरियल-एन्टीना और आकाशीय विद्युत से विशाल भवनों की रक्षा के लिए 'तड़ित चालक' (लाइटनिंग कन्डक्टर) इसी सिद्धान्त पर बनाये जाते हैं। इस दृष्टि से नुकीले अस्थि भाग की उपस्थिति उस स्थल में शक्ति संचरण संग्रहण की क्षमता होने का स्पष्ट संकेत करती है।

उसी सीध में दृष्टि संस्थान का एक महत्वपूर्ण घटक आता है। जिसे 'ऑप्टिक चियाज्मा' कहते हैं। आँख से दृष्टि संकेतों का संवहन करने वाले विशेष रज्जु (ट्रैक्ट) इसी स्थल पर एक दूसरे का क्रास करके, मुड़ कर मस्तिष्क के दृष्टि केन्द्रों की ओर बढ़ जाते हैं। दो भिन्न-भिन्न नेत्र गोलकों में अंकित भिन्न-भिन्न दृश्यों को एक सन्तुलित प्रामाणिक स्वरूप में बदलने में इस स्थल की प्रत्यक्ष भूमिका रहती है। यह स्थल दृष्टि संस्थान का एक सूक्ष्म नियंत्रक कहला सकता है।

इसी 'आप्टिक चियाज्मा' से लगी हुई ही एक अति महत्वपूर्ण ग्रन्थि 'पिट्यूटरी' होती है। अब तक जो खोजें हुई हैं उनके अनुसार इस ग्रन्थि को अति महत्वपूर्ण ग्रन्थि माना जाता है। किन्तु वैज्ञानिकों का मत है कि इसके सम्बन्ध में जैसे-जैसे जाना जा सकेगा, इस ग्रन्थि की महत्ता अब की अपेक्षा अनेक गुनी अधिक सिद्ध होगी। इसमें चमत्कारी सम्भावनायें सन्निहित हैं।

मनोवैज्ञानिक आधार पर शरीर विज्ञान का अध्ययन करने वाले वैज्ञानिकों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि पिट्यूटरी ग्रन्थि को प्रभावित करके कामेन्द्रियों की सक्रियता को समाप्त प्राय किया जा सकता है। यह निष्कर्ष शिव के तृतीय नेत्र खोलने से कामदहन के उपाख्यान के सर्वथा अनुरूप है। जागृत आज्ञा चक्र से कामवासना का शमन-दमन सर्वथा सम्भव है।

इस केन्द्र का महत्व प्रदर्शित करने वाला एक और तथ्य शरीर विज्ञान के अन्तर्गत मिलता है। मस्तिष्क के महत्वपूर्ण भागों के चारों ओर तथा मेरुदण्ड (स्पाइनल कार्ड) के अन्दर तथा बाहर एक विशेष द्रव भरा रहता है। इसे 'सैरिबो स्पाइनल फ्ल्यूड' कहते हैं। वैज्ञानिक मान्यता है कि यह द्रव इस सारे संस्थान के संरक्षण एवं पोषण का कार्य करता है। इस द्रव की संचार प्रणाली का एक ध्रुव ठीक भ्रूमध्य की सीध में स्थित है।

मोटी दृष्टि से अन्न भी शरीर को पोषण मात्र देता है किन्तु थोड़ी सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो अन्न के सूक्ष्म संस्कारों का सीधा प्रभाव शरीर पर पड़ने की बात भी स्पष्ट रूप से सामने आती है। इस मस्तिष्कीय द्रव में भी मस्तिष्क एवं मेरुदण्ड संस्थान को पोषण देने की क्षमता के साथ-साथ सूक्ष्म संस्कार एवं शक्तियों के संचरण की क्षमता का होना इस दृष्टि से नितान्त स्वाभाविक है। फ्रांसिस ल्यूकेल ने अपनी पुस्तक 'इन्ट्रोडक्शन टु साइकोलॉजिकल फिजियालॉजी' में यह स्वीकार किया है कि मस्तिष्क के 'हाइपोथैलेमस' जैसे महत्वपूर्ण भाग की सक्रियता पर इस द्रव की आन्तरिक स्थिति का उल्लेखनीय प्रभाव पड़ता है।

स्पष्ट है कि यदि इस पोषक द्रव्य को किन्हीं शक्तियों से प्रभावित किया जा सके तो मस्तिष्क एवं सारे स्नायु संस्थान को संस्कार विशेष प्रदान किए जा सकते हैं। भ्रूमध्य तक उपर्युक्त द्रव की नलिका को पहुँचाने के पीछे प्रकृति का सुनिश्चित उद्देश्य अवश्य है।

पिनिपल ग्रन्थि में दृश्यांकन क्षमता है, स्थूल प्रकाश उस तक नहीं जा सकता। किन्तु एक्सरे जैसी सूक्ष्म किरणें तो उस तक सीधी पहुँच ही सकती हैं तथा वह ग्रन्थि उनके प्रति सम्वेदनशील होने से उनके आधार पर स्थूल आँख से न दीखने वाले तथ्यों का भी बोध करा सकती है।

चर्म चक्षुओं से बहुत ही मोटी वस्तुएँ देखी जा सकती हैं। जीवाणुओं एवं परमाणुओं तक को उनके द्वारा देखा नहीं जाता। उसके लिए माइस्क्रोप का प्रयोग करना पड़ता है। दूरी की दृष्टि से भी सीमित परिधि की वस्तुएँ ही दिखाई देती हैं। दूरवर्ती वस्तुएँ देखने के लिए दुर्बीनों के बिना काम नहीं चलता। जब प्रत्यक्ष पदार्थों के सामने होने पर भी इन आँखों से उन्हें देखा जा सकना सम्भव नहीं होता तब सूक्ष्म जगत की परोक्ष हलचलों की जानकारी दे सकने में इन नेत्र गोलकों के सहारे कैसे काम चल सकता है। विशेषतया आत्मिक-चेतनात्मक तत्त्वों की जानकारी तो इनसे मिल ही नहीं सकती। आत्म साक्षात्कार ब्रह्म दर्शन जैसे प्रयोजनों के लिए तो अतिरिक्त दृष्टि ही चाहिए। सूक्ष्म दृष्टि इसी को कहते हैं यह दिव्य चक्षु में ही सन्निहित रहती है।

भगवान कृष्ण ने अर्जुन को अपना विराट् रूप इन्हीं दिव्य चक्षुओं से दिव्य दृष्टि द्वारा दिखाया था। उनने स्पष्ट कहा है—चर्म चक्षुओं से यह प्रयोजन पूरा नहीं हो सकता। इसके लिए जिन दिव्य चक्षुओं की आवश्यकता है, उन्हें तुम्हें देते है—

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥
—गीता ११।८

'परन्तु मुझको तू अपने इन प्राकृत नेत्रों द्वारा देखने में निःसन्देह समर्थ नहीं है, इसी से मैं तुझे दिव्य—अलौकिक चक्षु देता हूँ, उससे तू मेरी ईश्वरीय योगशक्ति को देख।'

शिव गीता में भी ऐसा ही वर्णन आता है। भगवान शिव अपना दर्शन कराने के लिए साधक को दिव्य चक्षुओं में सन्निहित इसा दिव्य दृष्टि का अनुग्रह प्रदान करते हैं—

दिव्यं चक्षुः प्रदास्यामि तुभ्यं दशरथात्मज।
तेन पश्य भयं त्यक्त्वा मत्तेजोमण्डलं ध्रुवम् ॥

इस कारण उसके देखने को मैं तुम्हें दिव्य नेत्र देता हूँ उन नेत्रों से भय त्याग कर तुम मेरा दिव्य स्वरूप देखो।

न चर्मचक्षुषा द्रष्टुं शक्यते मामकं महः।
नरेण वा सुरेणापि तन्ममानुग्रहं विना ॥

नरेन्द्र वा देवता इस मेरे तेज स्वरूप को मेरे अनुग्रह बिना चर्म चक्षु से नहीं देख सकते।

दिव्य दृष्टि के केन्द्र यह दिव्य चक्षु भ्रूमध्य भाग में अवस्थित है। इस संस्थान को आज्ञा चक्र कहते हैं। इस तथ्य का प्रतिपादन साधना शास्त्र में स्थान-स्थान पर हुआ है। यथा—

आज्ञाचक्रं तदूर्ध्वे च आत्मनाधिष्ठितं परम्।
आज्ञासंक्रमणं तत्र गुरोराज्ञेति कीर्तितम् ॥
—रुद्रयामल २७।८

"तालू के ऊर्ध्व में आज्ञाचक्र है। वहीं आत्मा का परम अधिष्ठान है। इस स्थान में गुरुदेव की आज्ञा संक्रमित होती है।

भ्रुवोर्मध्ये ललाटे तु नासिकायास्तु मूलतः।
जानीयादमृतं स्थानं तद्ब्रह्मायतनं महत् ॥
—ध्यानबिन्दु

ललाट में भ्रूयुगल और नासामूल का संयोग स्थल ही अमृत स्थान है। वही विश्व का आधार है। इस स्थान पर मन संयोग होने पर जगत् के सब विषयों का ज्ञान हो जाता है।

भ्रूमध्यनिलयो बिन्दुः शुद्धस्फटिकसंनिभः।
महाविष्णोश्च देवस्य तत्सूक्ष्मं रूपमुच्यते ॥
—योग० शि० ५।३४

समाधिक अभ्यास करते समय भ्रूयुगल के मध्य में ललाट के अभ्यान्तर जो शुभ्र बिन्दु देखा जाता है, वही महाविष्णु का सूक्ष्म रूप है।

मानुषं बिन्दुतीर्थं च कालीकुण्डं कलात्मकम्।
अज्ञाचक्रं सदा ध्यात्वा स्नाति निर्वाजसिद्धये ॥
—रुद्रयामके

मोक्ष का इच्छुक साधक, मनुष्य के शरीर रूपी तीर्थ में स्थित आज्ञाचक्र के ध्यानरूपी काली कुण्ड का स्नान नित्य करता है।

आज्ञाचक्र में दिव्य दृष्टि की अवस्थिति मानी गई है। शिव और दुर्गा के चित्रों में इस स्थान पर तीसरा नेत्र दिखाया गया है जो दाँये-बाँये नहीं—ऊपर नीचे की ओर बना हुआ है। इस नेत्र का एक प्रयोजन उस कथा में बताया गया है जिसमें कामदेव पर कुपित होकर शिवजी ने तीसरा नेत्र खोला था और उससे निकलने वाली ज्वाला में उनका शत्रु कामदेव देखते-देखते जलकर भस्म हो गया था। दमयन्ती के कोप से व्याध के जल मरने की कथा में भी ऐसा ही वर्णन है। इससे प्रतीत होता है कि शाप देने जैसी—नष्ट करने के लिए उपयुक्त कोई विशेष शक्ति इस स्थान पर विद्यमान है।

यह एकाङ्गी वर्णन हुआ। दिव्य दृष्टि में वरदान की भी क्षमता है। वह विनाश और सृजन दोनों ही प्रयोजनों में सामान्य विद्युत शक्ति की तरह काम आती है। तृतीय नेत्र को सामान्य जीवन में दूरदर्शिता का केन्द्र माना जा सकता है। अदूरदर्शी व्यक्ति तात्कालिक लाभ भर को देखते सोचते हैं, उस कदम की भावी प्रतिक्रिया क्या होगी यह उन्हें सूझ ही नहीं पड़ता। असंयमी, आलसी, अपव्ययी, अनाचारी, उच्छृंखल प्रकृति के व्यक्ति मानसिक दृष्टि से परखे जाने पर 'अदूरदर्शिता' मनोरोग से ग्रसित माने जायेंगे। भविष्य की कल्पना न कर सकने अथवा उसे महत्व न दे पाने के कारण ही लोग ऐसे काम करते हैं जिनमें तत्काल तो थोड़ा लाभ दीखता है पर अन्ततः पश्चात्ताप करते रहने के अतिरिक्त और कुछ पल्ले नहीं पड़ता।

आयरलैण्ड के प्रो० बैरेट इस बात के लिए प्रसिद्ध थे कि वे भूमिगत जल स्रोतों तथा धातु खदानों का पता अपनी अन्तःचेतना से देख कर बता देते थे। विकली पहाड़ी क्षेत्र में दूर-दूर तक कहीं पानी का नाम भी नहीं था। जमीन कड़ी और पथरीली थी। उत्खलन विशेषज्ञों के सामने कई घण्टे वे उस क्षेत्र में घूमे अन्ततः वे एक स्थान पर रुके और कहा—मात्र १४ फुट गहराई पर यहाँ एक अच्छा जल स्रोत है। खोदने पर १५ फुट नीचे पानी का जोरदार सोता निकला उसने उस समूचे क्षेत्र की जल आवश्यकता को पूरा कर दिया।

फौज के साथ टैलिस्कोप रहते हैं और शत्रु की गति-विधियों को उसी के सहारे ऊँचे चढ़ कर देखा जाता है। ग्रह नक्षत्रों की चाल देखने के लिए खगोल विज्ञानी भी ऐसी ही दुर्बीन रखते हैं। जहाजों पर भी यह यन्त्र लगा रहता है अन्य महत्वपूर्ण कार्यों में भी दूरदर्शन के उपकरणों की आवश्यकता पड़ती है। इसी प्रकार जीवन समस्याओं के समाधान में भी दूरदर्शिता के आधार पर हल निकालने और समाधान खोजने की आवश्यकता पड़ती है। भ्रूमध्य भाग में अवस्थित आज्ञा चक्र को इसी विशेष क्षमता का केन्द्र माना गया है।

आज्ञा चक्र को सूर्य चक्र भी कहा गया है। प्रकाश का केन्द्र सूर्य है। संसार में जितना भी प्रकाश है वह विभिन्न मार्गों से सूर्य देवता द्वारा ही धरती पर अवतरित होता है। मनुष्य के नेत्र प्रकाश में ही कुछ देख पाते हैं अन्धकार रहने पर तो पलक खुले रहने पर भी वे असहाय ही सिद्ध होते हैं। नेत्रों की ज्योति प्रकारान्तर से सूर्य की ज्योति से प्रभावित और परिचालित है। सूक्ष्म शरीर का तृतीय नेत्र ज्योतिर्मय होने पर प्रत्यक्ष और परोक्ष क्षेत्र को अपनी दिव्य दृष्टि से सुखी समुन्नत बनाता है।

स्थूल नेत्रों की दृष्टि सीमित है। बढ़ी-चढ़ी क्षमता वाले यन्त्रों की सहायता से दूरवर्ती वस्तुओं को बिना किसी कठिनाई के देखा जाना सम्भव है। राडार यन्त्र से आकाश में उड़ने वाले वायुयानों की हलचलों का ठीक तरह पता चलता रहता है। रेडियो-दुर्बीनें, आकाशीय, ग्रह नक्षत्रों की चाल तथा स्थिति की सही जानकारी देती हैं। वेध-शालाएँ अपना काम इन्हीं यन्त्रों के सहारे चलाती हैं।

दिव्य दृष्टि को जगा सकना—दिव्य चक्षु को खोल सकना मानव जीवन का बहुत बड़ा पुरुषार्थ है। आज्ञा चक्र साधना में व्यावहारिक जीवन में काम आने वाली दूरदर्शिता और सूक्ष्म जगत के अन्तर्गत हो रही हलचलों को समझ सकना उसी उपलब्धि के सहारे सम्भव होता है। इतना ही नहीं उस जागृत दिव्य क्षमता से व्यक्तियों को—पदार्थों को—परिस्थितियों को प्रभावित कर सकना भी सम्भव होता है। आज्ञा चक्र को जागृत कर सकना एक बहुत बड़ी उपलब्धि है।

विज्ञानमय कोश का केन्द्र संस्थान
हृदय चक्र

विज्ञानमयकोश आस्थाओं, आकाक्षाओं और संवेदनाओं का केन्द्र माना गया है। व्यक्तित्व वहीं बढ़ता और ढलता है। जीवन प्रवाह की दिशा धारा उसी उद्गम स्रोत से निर्धारित, नियंत्रित होती है। अस्तु उत्कृष्टता के अनुपात से उसे अन्नमय कोश से—प्राण मय कोश से—मनोमय कोश से ऊपर स्थान दिया गया है। इस स्तर की साधना करने से स्थूल और सूक्ष्म जगत पर समान रूप से अधिकार मिलता है। भौतिक और आत्मिक सिद्धियों का दिव्य सस्थान इस विज्ञानमय कोश को ही माना गया है।

अन्य कोशों की तरह विज्ञान मय कोश की सत्ता भी समूचे कार्य कलेवर में संव्याप्त है। किन्तु उसका प्रवेश द्वार हृदय संस्थान माना गया है। इसी को ब्रह्म-चक्र कहते हैं।

थोड़ी गहराई से देखने पर शरीर विज्ञान के अनुसार भी हृदय केन्द्र की महत्व पूर्ण स्थिति सिद्ध हो जाती है। यह केन्द्र हृदय के दायें भाग में स्थित पेस मेकर कहा जा सकता है। यह स्थूल हृदय के दायें भाग में अवस्थित है। अतः वक्ष के मध्य में ही इसका स्थान आ पड़ता है। पेस मेकर क्या है ? इसे समझने के लिए हृदय की रचना तथा कार्य पद्धति पर थोड़ा सा ध्यान केन्द्रित करना होगा।

मान्यता यह है कि रक्त संचार हृदय से होता है और उसके कारण शरीर का अस्तित्व बना रहता है। हृदय के आकुञ्चन एवं प्रसारण की क्रिया के कारण उसके द्वारा सारे शरीर में रक्त पम्प किया जाना सम्भव होता है। सामान्य भाषा में इस क्रिया को हृदय की धड़कन कहते हैं। हृदय की धड़कनों एवं रक्त को संचारित करते रहने के लिए २० वाट विद्युत शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। यह विद्युत शक्ति हृदय में ही पैदा होती है, तथा यही हृदय की धड़कन का कारण बनती है। विद्युत स्पन्दन (इलैक्ट्रिक इम्पल्स) हृदय के जिस भाग से पैदा होता है वह हिस्सा ही हृदय का मुख्य पेस मेकर कहलाता है।

पेस मेकर हृदय के दायें एवं ऊपरी प्रकोष्ठ के मध्य में होता है। इसमें से जैसे ही विद्युत स्पन्दन पैदा होता है उसे संचरित करने वाले विशेष तन्तु उसे हृदय में संचरित करते हैं। पूरे हृदय में उस स्पन्दन को संचरित होने में औसतन ०·८ सैकिंड का समय लगता है। इतने ही समय में हृदय की एक धड़कन पूरी होती है। अस्तु मनुष्य के जीवन का मुख्य आधार हृदय की धड़कन नहीं उसे पैदा करने वाला यह विद्युत स्पन्दन कहा जा सकता है। इसे ही कारण शरीर का अथवा विज्ञानमय कोश का केन्द्र कहा जा सकता है। शास्त्रीय परिभाषाओं की अनेक संगतियाँ इसके साथ बैठ जाती हैं।

कारण शरीर के केन्द्र के रूप में इसकी व्याख्या के अन्तर्गत कहा गया है कि वह अंगुष्ठ मात्र आकार वाला प्रकाशमान अङ्ग है। इसी प्रकार विज्ञान मय कोश के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह ब्रह्माण्ड व्यापी चेतना से जुड़ा है तथा उससे सीधा आदान-प्रदान करने में समर्थ है। यह दोनों संगतियाँ भी इस केन्द्र के साथ ठीक बैठ जाती हैं।

योगियों ने 'कारण शरीर' को हृदय स्थित प्रकाश-मान अंगुष्ठमात्र देह भी कहा है। स्वप्रकाशित वस्तु में से प्रकाश तरंगें नियमित रूप से विकीरित होती रहती हैं। प्रकाशमान का अर्थ यहाँ रोशनी देने वाला नहीं है। कारण शरीर से 'जैवीय विद्युत स्पन्दन' पैदा होकर सारे शरीर में जीवन संचार करते रहते हैं, यही उसके प्रकाशमान कहलाने का कारण है। योगियों ने जीवन स्पन्दनों के मुख्य 'कारण' को जब अपनी योग दृष्टि से खोजा होगा तो उन्हें मुख्य पेस मेकर के स्व स्पन्दित क्षेत्र का बोध हुआ होगा।

वैज्ञानिक मान्यतानुसार भी वह क्षेत्र आकार में ९ मि.मी. ×२० मि. मी. का है। इसे अँगूठे के बराबर कहना सर्वथा उचित है। 'अंगुष्ठ मात्र' प्रकाशमान शरीर की घोषणा योगियों ने इस स्वस्पन्दित क्षेत्र को देखकर ही की होगी।

यह केन्द्र किसी सूक्ष्म चेतना से संचालित है यह तथ्य वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं। पेस मेकर में विद्युत स्पंदन कैसे, कहाँ से उत्पन्न होते हैं यह वैज्ञानिकों को पता नहीं। इसे वे विश्व नियन्त्रक सत्ता के ही स्पन्दन मानते हैं। पेस मेकर के विद्युत स्पन्दन जिन विशेष तन्तुओं द्वारा हृदय में फैलते हैं वह प्रारम्भ में एक समूह (वण्डल) के रूप में निकलते हैं। वैज्ञानिकों ने इस तन्तु समूह का नाम, 'वण्डल आफ हिज' रखा है। इसका अर्थ होता है 'उसके' तन्तु समूह। उल्लेखनीय यह है कि इस नाम में 'हिज' (अँग्रेजी में) जब 'हिज' कैपिटल अक्षरों से लिखा जाय तो उसे ईश्वर के लिए किया गया सम्बोधन माना जाता है। पेस मेकर के विद्युत स्पन्दन को लेकर चलने वाले तन्तु समूह को ईश्वर के तन्तु समूह कहने का सीधा अर्थ यही होता है कि इस केन्द्र को महत—चेतना द्वारा संचालित स्वीकार कर लिया गया है।

यह विद्युत स्पन्दन पैदा करने वाली, सत्ता, उस स्थल को बनाने वाले स्थूल तन्तुओं से भिन्न है यह तथ्य भी चिकित्सा विज्ञान के अन्तर्गत प्रमाणित हो जाता है। यदि उस स्थल विशेष के तन्तुओं का यह सहज गुण होता तो या तो स्पन्दन वहीं से पैदा होते अथवा एकदम समाप्त हो जाते। लेकिन देखा यह जाता है कि कई वार स्पन्दन पैदा होने का केन्द्र बदल जाता है। जब मुख्य पेस मेकर के तन्तु पैदा करने में किसी कारण अक्षम हो जाते हैं तो वह संचालक शक्ति उसी के सहयोगी निकटतम तन्तु समूह के किसी भाग से उन स्पन्दनों का संचरण करने लगती है। मुख्य पेस मेकर में व्यवधान आ जाने पर उसके थोड़े नीचे अवस्थित सहायक पेस मेकर अथवा 'वण्डल आफ हिज' के किसी भाग से यह कार्य लिया जाने लगता है। चिकित्सा शास्त्री इस प्रक्रिया को 'ट्रांसफर आफ पेस मेकर एक्टिविटी' (पेसमेकर प्रक्रिया का स्थानान्तरण) कहते हैं। इसे यों भी समझा जा सकता है कि यदि किसी विद्युत मोटर का स्टार्टर खराब हो जाय तो कुशल मिस्त्री उसे छोड़ कर लाइन के तार मेन स्विच से सीधे मोटर के तारों से जोड़ देता है। और भी मोटा उदाहरण लिया जाय तो यदि साइकिल की सीट टूट जाय तो कुशल चालक पीछे कैरियर या आगे डन्डे पर बैठ कर भी साइकिल को गतिशील बनाये रखता है। दोनों ही स्थितियों में काम तो किसी प्रकार चलता रहता है किन्तु सन्तुलन बिगड़ने का भय हमेशा बना रहता है। किसी भिन्न स्थान से जब हृदय के स्पन्दन संचरित होने लगते हैं तो दिल की गति में गड़बड़ी पैदा होने लगती है।

चिकित्सा की दृष्टि से वह स्थिति क्या होती है यह बात भिन्न है। परन्तु उपर्युक्त दोनों तथ्यों से यह सिद्ध हो जाता है कि हृदय में विद्युत स्पन्दन पैदा करने वाली चेतनसत्ता उसके स्थूल घटकों से भिन्न है जो कुशल आपरेटर की तरह उनका उपयोग करती रहती है। उसके संकेत पर ही स्थूल शरीर के उपकरण जीर्ण शीर्ण हो जाने पर भी हृदय स्पन्दित होता रहता है। दूसरी ओर शरीर के सारे अवयव ठीक रहने पर भी जब वह चेतना अपना कार्यालय समेट लेती है तो शरीर निष्प्राण हो जाता है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अदृश्य चेतना द्वारा संचालित यह विद्युत स्पन्दन शरीर में रक्त परिभ्रमण संस्थान से परे भी अस्तित्व रखते हैं। कहा गया है कि हृदय विज्ञानमय कोश का केन्द्र तो है किन्तु उसकी सत्ता उसका अस्तित्व सारे शरीर में फैला है। पेस मेकर द्वारा संचरित विद्युत स्पन्दन हृदय में धड़कन तो पैदा करता ही है, किन्तु उसके अस्तित्व के प्रमाण सारे शरीर में भी मिलते हैं। शरीर रचना की दृष्टि से तो उस विद्युत स्पन्दन के संवाहक तन्तु केवल हृदय में ही फैले हैं, उसके वाहर शरीर में वे नहीं हैं। किन्तु हृदय रोगों का अङ्कन करने वाले यन्त्र ई. सी. जी. पर कायिक विद्युत का जो वोल्टेज हृदय के आस-पास अंकित होता है वही कंधों, हाथ की कलाइयों तथा पैर के टखनों तक पर भी अंकित होता है। स्पष्ट है कि हृदय केंद्र में उस महत् सत्ता से सीधे संपर्क रखने की क्षमता तो है ही, उससे प्राप्त संकेतों-स्पन्दनों

को सारे शरीर में संचरित करने की क्षमता तथा उसके लिए व्यवस्थित तन्त्र भी अवश्य है।

यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि स्थूल विज्ञान के आधारों पर यौगिक सूक्ष्म सिद्धान्तों की शत प्रतिशत व्याख्या नहीं की जा सकती। चूँकि सूक्ष्म सीधा हमारे पकड़ में नहीं आता इसलिए उसे स्थूल के माध्यम से प्राथमिक स्तर पर समझने समझाने का प्रयास भर किया जा सकता है। विज्ञानमय कोश की अतीन्द्रिय क्षमताओं तथा इसके केन्द्र की अद्भुत महत्ता की झलकमात्र—स्थूल विज्ञान के आधार पर पायी जा सकती है। चिकित्सा विज्ञान ने तो केवल रोगों के कारण और निवारण का लक्ष्य रखकर ही अध्ययन एवं शोध क्रम आगे बढ़ाया है फिर उसके आधार पर हृदय केन्द्र में विशिष्ट क्षमताओं तथा उससे सम्बद्ध शरीर व्यापी एक तन्त्र का होना तो सिद्ध हो ही जाता है। ईश्वर प्रदत्त इस सुविधा का लाभ कैसे उठाया जाय, इस क्षमता को किस सीमा तक बढ़ाया जा सकता है। उसका परिमार्जन आदि कैसे किया जा सकता है, यह सब विषय अभी स्थूल विज्ञान के कार्य क्षेत्र के बाहर हैं। योगियों ने इन प्रकरणों में पर्याप्त गहराई से खोज एवं उपलब्धियाँ की हैं। विज्ञानमय कोश को अतिशय सक्रिय करने से लेकर समाधिस्थिति में उसे एकदम शान्ति बना देने तक की सफलताएँ वे पा सके हैं। इस सफलता के साथ वे उपलब्धियाँ भी जुड़ी हुई हैं जिन्हें साधना की सिद्धि के रूप में जाना जाता है।

हृदय चक्र को गुफा या गुहा भी कहा गया है। जिस प्रकार योगीजन विशिष्ट साधनाओं के लिए गुफा में प्रवेश करके सिद्धियाँ प्राप्त करते हैं। उसी प्रकार इस हृदय गुफा में प्रवेश करके दिव्य उपलब्धियाँ प्राप्त की जाती हैं। बोलचाल की भाषा में हृदय शब्द का उपयोग संवेदनाओं के लिए किया जाता है। सहृदय, का अर्थ कोमल भावनाओं वाला। हृदयहीन अर्थ निष्ठुर। यह रक्त फेंकने वाली थैली के गुण नहीं वरन् उस सचेतन हृदय तत्व के गुण हैं जिसे अध्यात्म की भाषा में हृदय चक्र, ब्रह्म चक्र कहा जाता है। यह विज्ञानमय कोश का प्रवेश द्वार है। इसी केन्द्र को ध्यान धारणा के सहारे जागृत करके अति मानस जगाया जाता है। अतीन्द्रिय क्षमता की दिव्य सिद्धियाँ प्राप्त करने के लिए साधना की आधारशिला यही है। अन्तःकरण एवं अन्तरात्मा का केन्द्र संस्थान भी यही माना गया है। आत्म परिचय देते हुए प्रायः लोग छाती ठोक कर अपने वर्चस्व का परिचय देते हैं और वे क्या करने जा रहे हैं इस संकल्प का परिचय देते हैं।

हृदय गुहा में प्रवेश करके आत्म साधना करने का निर्देश साधना शास्त्रों में इस प्रकार मिलता है—

संत्यज्य हृद्गुहेशान देवमन्यं प्रयान्तिये।
ते रत्नमभिवाँछन्ति त्यक्त हस्तस्थ कौस्तुभा॥
—योग वशिष्ठ

हृदय रूपी गुफा में निवास करने वाले भगवान को छोड़कर अन्यत्र ढूँढ़ता फिरता है वह हाथ की कौस्तुभमणि छोड़कर काँच ढूँढ़ते फिरने वाले मूर्ख के समान है।

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिकस्यमध्ये विश्वस्य स्रष्टा रमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वाशिवं शान्ति मत्यन्तमेति॥
—श्वेताश्वतरोपनिषद्

जो सूक्ष्म से भी अत्यन्त सूक्ष्म, हृदय गुहा रूप गुह्य स्थान के भीतर स्थित सम्पूर्ण विश्व की रचना करने वाला, अनेक रूप धारण करने वाला तथा समस्त जगत् को सब ओर से घेरे रखने वाला है; उस एक अद्वितीय करुणास्वरूप महेश्वर को जानकर मनुष्य सदा रहने वाली शान्ति को प्राप्त होता है।

एष देवो विश्वकर्म्मा महात्मा
सदा जनानाँ हृदये सन्निविष्टः।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥
—श्वेताश्वतर ४।१७

यह देवता विश्व के बनाने वाले और महात्मा हैं, सदा लोगों के हृदय में सन्निविष्ट हैं। हृदय, बुद्धि और मन के द्वारा पहिचाने जाते हैं, जो इसे जानते हैं वे अमृत होते हैं।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमेन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चितेति।
—तैत्तरीय

जो हृदय गुहा में अवस्थित, ज्ञानस्वरूप व्यापक परमेश्वर को जानता है वह ब्रह्म के साथ ही सब भोगों का उपभोग करता है।

निहितं गुहायाममृतं विभ्राजमानमानन्दं त
पश्यन्ति विद्वांसस्तेन लयेन पश्यन्ति ॥

—सुबालोपनिषद्

परब्रह्म हृदय रूपी गुफा में रहने वाला है, वह अविनाशी और प्रकाश स्वरूप है। ज्ञानी उसे 'आनन्द रूप में अनुभव करते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं।

पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्।
एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थि
विकिरतीह सोम्य ॥

—मुण्डकोपनिषद्

महर्षि अङ्गिरा ने कहा कि हे प्यारे शौनक! क्रिया, ज्ञान और नित्य वेद तथा सारा जगत् उसी परब्रह्म के आधार से ठहरा हुआ है। बस जो मनुष्य उस ब्रह्म को अपनी हृदय-रूपी गुहा में स्थित जानता है वह अज्ञान की गाँठ को काट देता है, अर्थात् मुक्त हो जाता है।

न पातालं न च विवरं गिरीणां
नैवान्धकारं कुक्षयो नोदधीनाम्।
गुहा यस्यां निहितं ब्रह्म शाश्वतं
बुद्धिवृत्तिमविशिष्टां कवयो वेदयन्ते ॥

—व्यास भाष्य

जिस गुफा में ब्रह्म का निवास है वह न तो पाताल है, न पर्वतों की कन्दरा, न अन्धकार है, न समुद्र की खाड़ी। चेतन से अभिन्न जो चित्त वृत्ति है, ज्ञानवान् लोग उसे ही 'ब्रह्म गुहा' कहते हैं।

ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥
तमेव शारणं गच्छ सर्व भावेन भारत!
तत्प्रसादात् परां शान्ति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।

—गीता १८।६१, ६२

ईश्वर सब प्राणियों के हृद् देश में रहता है। वह अपने कौशल से सब प्राणियों को चलाता है। सर्व प्रकार से उसी की उपासना करो। उसकी कृपा से परम शान्ति, परम पद मिलता है।

हृदय चक्र की उपमा कमल पुष्प से दी गई है। इसे हृदय कमल भी कहते हैं। कमल का तात्पर्य यहाँ आकृति से कम और संवेदना से अधिक है। कमल-कोमलता का, सौन्दर्य का, सुगन्ध का, सात्विकता का प्रतीक है। उसे पुष्पों में सर्वश्रेष्ठ माना गया है। अस्तु चक्र को कमल की संज्ञा भी दी गई है।

आविः संनिहितं गुहाचरन्नाम महत्पदमत्रैतत्सर्मापितम्।

—मुण्डकोपनिषद्

वह ज्ञानियों के हृदय रूपी गुफा में प्रकट है, सदा सब के समीप रहता है, ज्ञानियों की बुद्धि में वर्त्तमान रहता है, वह सबसे बड़ा परम धाम है।

हृदिस्था देवताः सर्वा हृदि प्राणाः प्रतिष्ठिताः।
हृदि ज्योतींषि भूयश्च हृदि सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥

—शंख संहिता

हृदय में सब देवताओं का, सब प्राणों का निवास है। हृदय में ही परम ज्योति है। सब कुछ उसी में विद्यमान है।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥

—कठोपनिषद्

जब मनुष्य के हृदय की सारी कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं तब यह मरणधर्मा मनुष्य मुक्त हो जाता है और मुक्ति दशा में ब्रह्म को प्राप्त करता है।

दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥

—मुण्डकोपनिषद्

वह दूर से भी दूर है तो भी वह बहुत पास है, ज्ञानी योगियों के लिए वह यही हृदय गुफा में विराजमान है।

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सत एतद्वै तत ॥

—कठोपनिषद्

वह सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मा शरीर के हृदय स्थान में भी जहाँ अंगुष्ठमात्र स्थान में लिङ्ग शरीर सहित आत्मा रहता है। योगी जन उसकी प्राप्ति के लिए इसी स्थान पर ध्यान लगाते हैं। वह ईश्वर भूत और भविष्य

सबका स्वामी है, जो मनुष्य उसको वहाँ जान लेता है वह फिर ग्लानि को प्राप्त नहीं होता।

हृत्पद्मकर्णिकामध्ये स्थिरदीपनिभाकृतिम्।
अंगुष्ठमात्रमचलं ध्यायेदोंकारमीश्वरम् ॥

—विन्दूपनिषद

अर्थात् 'हृदयकमल की कर्णिका में जो स्थिर दीप शिखा के समान ज्योतिर्मान अंगुष्ठमात्र आकार वाला ओंकार रूप ईश्वर है, उसका ध्यान करें।'

हृदय चक्र में ध्यान करते समय अंगुष्ठ आकार की प्रकाश ज्योति का दर्शन साधकों को होता है। दीप शिखा जैसी जलती प्रतीत होती है। इस दिव्य दर्शन को आत्म साक्षात्कार एवं ब्रह्म दर्शन का प्रतीक माना गया है। चक्रों की स्थिति सामान्यतया नदी में पड़ने वाले भँवरों की तरह है। ग्रीष्म ऋतु में उठने वाले भँवरों—चक्रवातों के समतुल्य भी उन्हें माना जाता है। इस स्थिति को कमल पुष्पवत् चित्रित करने में भी कोई विसंगति नहीं है। विज्ञानमय कोश के आधार केन्द्र ब्रह्म चक्र—हृदय चक्र के सम्बन्ध में साधना शास्त्र में कहीं कमल पुष्प तुल्य और कहीं अंगुष्ठ आकार की प्रकाश ज्योति के सूक्ष्म दर्शन का उल्लेख है। कहा गया है—

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः एतद्वै तत् ॥

—कठोपनिषद

हृदय स्थान में विशेष रूप से जानने के योग्य वह व्यापक आत्मा धूम रहित प्रकाश के समान निर्मल है। वही भूत भविष्यत् का स्वामी है, वही आज मालिक है वही कल रहेगा, यही वह ब्रह्म है जिसकी जिज्ञासा तूने की थी।

विश्वरूपस्यदेवस्य रूपं यत्किंचिदेव हि।
स्थवीयः सूक्ष्ममन्यद्वा पश्यन्हृदयपंकजे ॥
ध्यायतो योगिनो यस्तु साक्षादेव प्रकाशते।

—शिवस्वरोदय

विश्वरूप देव का जो कुछ भी स्थूल सूक्ष्म रूप मान कर अपने हृदय कमल में ध्यान करने वाला साधक उन्हीं देव स्वरूप जैसा दिखाई पड़ता है।

हृत्पुंडरीकमध्ये तु भावयेत् परमेश्वरम्।
साक्षिणं बुद्धिवृत्तस्य परम प्रेम गोचरम् ॥

—मैत्रेयुपनिषद

हृदय कमल पर विराजमान परमेश्वर को साक्षी बुद्धि के सहारे भाव पूर्वक ध्यान धारणा करे।

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।
तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण ॥
तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥

—श्वेताश्वरोपनिषद

हृदय के अंगुष्ठ मात्र स्थानों में रहने वाला जीवात्मा है। योगी को चाहिए कि प्रयाण काल में धैर्य के साथ उसे अपने शरीर से ऐसे निकाले जैसे मूँज के पूले में से सींक खींची जाती है। उस आत्मा को शुद्ध पवित्र और अमृत जाने।

तस्ये मध्यं महानर्चिविश्वर्चिविश्वतोमुखम्।
तस्य मध्ये वह्नि शिखा अणीयोर्ध्वा व्यवस्थिता।
तस्याः शिखाया मध्ये पुरुषः परमात्मा व्यवस्थितः
स ब्रह्मा स ईशानः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट ॥

—महोपनिषद १।१३, १४

उस हृदय के मध्य में ही एक ज्वाला प्रदीप्त है। वही ज्वाला दीप शिखा के समान दसों दिशाओं में प्रकाश को बाँट कर विश्व को प्रकाशित करती है। उसी ज्वाला के मध्य में कुछ ऊपर उठी हुई एक क्षीण वह्नि शिखा है। उसी कक्षा में परमात्मा निवास करते है। वही परमात्मा ब्रह्मा, ईशान, इन्द्र है तथा वे अविनाशी एवम् परम स्वराट् हैं।

अंगुष्ठ मात्र मात्मानमधूम ज्योति रूपकम्।
प्रकाशयन्तमन्तस्थं ध्यायेत्कूटस्थं भव्ययेम् ॥

—योग कुण्डल्युपनिषद

धूम्र रहित शुभ्र प्रकाश ज्योति अंगुष्ठ आकार की हृदय में दीप्तिमान है। उसी का ध्यान करना चाहिए।

हृदयकुहरमध्ये केवलं ब्रह्ममात्रं।
ह्यहमहमिति साक्षादात्मरूपेण भाति ॥
हृदि विश मनसा स्वं चिन्वता मज्जता वा।
पवन चलन रोधादात्मनिष्ठो भव त्वम् ॥

—श्रीरमणगीता

"हृदय की गुफा के भीतर केवल मात्र ब्रह्म ही है, जो 'अहम्' इस साक्षात् आत्म रूप से प्रकाशित होता है। इस हृदय में मन में प्रवेश करो, अपने आपको ढूंढ़ो या गहरे में गोता लगाओ या प्राण निरोध करके आत्मा में स्थित हो जाओ।"

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्क सदाशुचिः।
सतु तत्पदमास्नोति यस्माद् भूयो न जायते॥

—कठ

विज्ञान साधना सम्पन्न सदा पवित्र रहता है। मनस्वी वनता है। उसे परम पद मिलता है। पुनर्जन्म नहीं होता।

तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुष-विध एव। —तैतरीयोपनिषद्

मनोमय कोश के पश्चात् विज्ञानमय कोश है। उसी में पूर्ण पुरुष का निवास है।

स यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते विज्ञानवतो वै स लोकाञ्ज्ञानवतोऽभिसिद्धयति यावद्विज्ञानस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो विज्ञान ब्रह्मेत्युपास्ते।

—छान्दोग्योपनिषद

जो जन विज्ञानमय कोश को महान् जान कर उपासना करता है, वह विज्ञान वाले और ज्ञान वाले लोकों को सिद्ध कर लेता है।

हृदय चक्र के विकसित परिष्कृत होने का प्रत्यक्ष प्रति फल सहृदयता संवर्धन के रूप में सामने आता है। यह कोमलता दया, करुणा, ममता, श्रद्धा, सद्भावना, उदारता के रूप में उभरती और सम्पर्क क्षेत्र पर वरसती देखी जा सकती है। इस अमृत वर्षा से शुष्क मरुस्थल हरे भरे होते हैं। साथियों को स्नेह-सद्भाव और सहयोग का लाभ मिलने से वे उच्चस्तरीय अनुदान पाने का आनन्द लेते हैं और उस आधार पर अपनी सर्वतोमुखी प्रगति का पथ प्रशस्त करते हैं। यह सद्भाव सम्पदा बाँटने वाला स्वयं अपने आप में उत्कृष्ट कलाकारिता का गर्व गौरव और सन्तोष अनुभव करता है। सहृदयता को देवत्व का पर्याय-वाची ही मानना चाहिए। सज्जनता और शालीनता इसी अन्तःस्थिति की परिचायक है। महामानवों में यही विशेषता उभरी होती है।

हृदय की परिपुष्टि उच्चस्तरीय आदर्शों में अगाध आस्था के रूप मे दृष्टिगोचर होती है। क्षणिक उत्साही तो पानी के वबूले की तरह कई ऊँची कल्पनाएँ करते हैं किन्तु अन्तः परिपक्वता के अभाव में झाग की तरह उनके बैंठ जाने में भी देर नहीं लगती। हृदय चक्र को जागृत किया जा सके तो आदर्शवादी उमंगें चिरस्थायी वन सकती हैं और उस प्रेरणा के सहारे उत्कर्ष के पथ पर अनवरत गति से वढ़ते चलना सम्भव हो सकता है।

भगवान् हृदय में विराजते हैं। "दिल के आईने में है तस्वीरे यार" के अनुसार हृदयवान व्यक्ति अपने ही मन मन्दिर में हर घड़ी भगवान के दर्शन करते हैं और उनके अजस्र अनुदान अपने ऊपर वरसने का अनुभव करते आनन्द लेते हैं।

—※—

देवता वरदान बाँटने धरती पर आये तो झुण्ड के झुण्ड लोग अपनी मनोकामना पूर्ति की प्रार्थनाएँ लेकर जमा हो गये।

किसी ने यश माँगा, किसी ने धन, किसी ने कुछ किसी ने कुछ। देवता सवकी वांछाएँ पूरी करते चले गये।

एक व्यक्ति हाथ जोड़े कोने में खड़ा था। देवता ने पास बुला कर कहा -'तात! तुम्हें भी जो माँगना हो माँग लो।"

उसने कहा—"मेरी याचना छोटी सी है। जिन लोगों ने धन माँगा है, उनके पते मुझे वता दीजिये। फिर मैं अपनी मनोवांछा स्वयं पूरी कर लूँगा।"

देवता ने आश्चर्य से पूछा—आखिर तुम हो कौन? उस व्यक्ति ने कहा 'चोर'। अनावश्यक धन को विकेन्द्रित करने में संलग्न आपका अनन्य भक्त।

आनन्दमय कोश जीवात्मा पर चढ़ा अन्तिम आवरण है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय के उपरान्त इसी एक की साधना करनी शेष रह जाती है। इस आवरण के हटते ही आत्मा को परमात्मा रूप में परिष्कृत होने का अवसर मिल जाता है। तब उसकी स्थिति वैसी हो जाती है जैसी कि वेदान्त में 'अयमात्मा ब्रह्म' 'तत्वमसि' सोहमस्मि, सच्चिदानन्दो हम्, शिवोहम् आदि उद्घोषों के अन्तर्गत प्रतिपादित की गई है।

शिर विवर को दो दिव्य सत्ताओं का निवास दुर्ग माना गया है। उसका चेतन-अचेतन, मनःसंस्थान मनोमय कोश कहलाता है। इसका सूत्र संचालन भ्रू-मध्य भाग में अवस्थित आज्ञाचक्र से होता है। दूसरा चेतना का सर्वोच्च आनन्दमय कोश है। मस्तिष्क में जानकारियों और आदतों का समन्वय है इसलिए उसे इन्द्रिय वर्ग में गिना जाता और भौतिक तत्वों से घिरा माना जाता है। तात्विक विवेचना में मन को ग्यारहवीं इन्द्रिय माना गया है। इन्द्रियाँ अपने-अपने छोटे क्षेत्रों को सँभालती हैं। मन उन पर मानीटर जैसा अनुशासन बनाये रखने में सहायता करता है। यों है उसकी भी गणना छात्र वर्ग में ही। मनोमय कोश की साधना से इसी मस्तिष्कीय क्षमता की मनोविज्ञान और परा मनोविज्ञान क्षमताओं की चर्चा विवेचना होती है। आनन्दमय कोश की स्थिति भिन्न है उसमें जीव और ब्रह्म के मिलने का सम्पर्क साधने वाले अति उच्चस्तरीय सूत्र हैं। शरीर क्षेत्र में ईश्वर का निवास कहाँ है? इसका उत्तर साधारणतया समूची सत्ता में संव्याप्त कहा जा सकता है, पर यदि उसका अन्य कोशों जैसा प्रवेश द्वार या केन्द्र संस्थान पूछना हो तो उसे ब्रह्मरंध्र में अवस्थित सहस्रार चक्र कहना पड़ेगा।



ब्रह्मरंध्र मस्तिष्क का मध्य भाग है। परमाणु के मध्य भाग को 'नाभिक' या 'न्यूक्लियस' कहते हैं। अणु सत्ता का उद्गम केन्द्र वही है। शेष भाग में तो उसका सहायक संरक्षक सरजाम भरा पड़ा है। जीवाणु से लेकर ग्रह-नक्षत्रों तक में यह न्यूक्लियस ही सार भाग और शक्ति स्रोत होता है। मस्तिष्कीय राष्ट्र की राजधानी इस मध्य केन्द्र ब्रह्मरंध्र में है। ब्रह्मसत्ता का अवतरण इसी स्थान पर होता है। वायुयान हवाई अड्डे पर ही उतरते हैं।

मनःसंस्थान का सारा नियन्त्रण संचालन मस्तिष्कीय विद्युत के माध्यम से होता है। यह विद्युत संकेत नाड़ी संस्थान द्वारा विभिन्न अङ्गों तक भेजे जाते हैं। यह विलग-विलग केन्द्र भी परस्पर जुड़े हुए हैं। उनमें भी परस्पर आदान-प्रदान होता है। जैसे आँख के सामने स्वादिष्ट वस्तु आई तो आँख का नियन्त्रक केन्द्र तुरन्त जीभ के केन्द्र को सूचना दे देता है। और वह जीभ 'लार' प्रवाहित करने लगती है।

मस्तिष्कीय संचार सूत्रों का भी एक मध्य केन्द्र है। वहीं से अगणित धारा प्रवाह उठते हैं और उनके द्वारा अनेक विद्युत उन्मेष सक्रिय होते देखे जाते हैं। उन्हीं के द्वारा विभिन्न महत्वपूर्ण मस्तिष्कीय केन्द्रों को उत्तेजना मिलती है। सक्रियता इसी उत्तेजना से उत्पन्न होती है। यदि मस्तिष्क की इस प्रक्रिया को सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो मस्तिष्क के मध्य भाग से सहस्रों विद्युत स्पन्दन सतत प्रस्फुटित होते दीख सकते हैं। इसी को

अलङ्कारिक रूप से सहस्र धारों वाले चक्र अथवा सहस्र पंखुड़ियों वाले कमल के नाम से सम्बोन्धित किया जाता है।

स्थूल विज्ञान चूँकि स्थूल की सीमा में ही सारे हल खोजना चाहता है इसलिए उसकी गति यहाँ आकर रुक जाती है। मस्तिष्क के मध्य से यह विद्युत स्पन्दन कैसे उत्पन्न होते? कैसे इन्हें बढ़ाया या नियन्त्रित किया जा सकता है, यह सब वर्तमान वैज्ञानिकों के लिए रहस्य ही है। फिर भी उन्होंने इन विद्युत उन्मेषों को 'रैटिकुल एक्टिवेटिंग सिस्टम' 'स्पैसिफिक थैलैमिक प्रोजैक्शन सिस्टम' डिफ्यूज थैलैमिक प्रोजैक्शन सिस्टम जैसे नाम दिये हैं। यह भी स्वीकार किया है कि इन स्पन्दनों को इच्छानुकूल नियन्त्रित किया जा सके तो उसके प्रभाव से मस्तिष्क के किसी भी नियन्त्रण केन्द्र को इच्छानुरूप सक्रियता अथवा शिथिलता की स्थिति में लाना तथा असम्भव जैसी उपलब्धियों को भी सम्भव बनाया जा सकता है।

योग विज्ञान सहस्रार चक्र के सम्बन्ध में विशिष्ट साधनाओं को आवश्यक मानता है। उसके जागरण का अर्थ केवल उसकी तीक्ष्णता तथा सक्रियता को बढ़ा देना नहीं है, उसे व्यवस्थित, सुनियन्त्रित तथा सुनियोजित भी करना आवश्यक है। वर्तमान वैज्ञानिक उसके विधेयात्मक पक्ष को भले ही न समझ सके हों किन्तु निषेधात्मक पक्ष का अध्ययन रोगों के अन्तर्गत अवश्य कर सके हैं। हिस्टीरिया तथा इपीलिप्सी जैसे विभिन्न प्रकार के रोगों की तह में मस्तिष्कीय विद्युत का ही खेल पाया जाता है। जब कोई भाग अस्वाभाविक अथवा अवांछनीय रूप से विद्युत स्पन्दन छोड़ने लगता है तो वह किन्हीं केन्द्रों की स्वाभाविक संचार व्यवस्था में व्यतिक्रम ला देते हैं। उसी के फलस्वरूप तरह-तरह के मानसिक तथा शारीरिक रोग पैदा हो जाते हैं। कहाँ क्या गड़बड़ी है? इसका अन्दाज वैज्ञानिक लोग ई० ई० जी० नामक यन्त्र द्वारा विभिन्न स्थानों पर मिलने वाले विद्युतीय कपनों को नाप कर ही लगाते हैं। इससे भी निषेधात्मक पक्ष में ही सही यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि इन विद्युतीय धाराओं द्वारा असाधारण शारीरिक एवं मानसिक क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करना कराना सम्भव है।

मन:संस्थान के केन्द्र बिन्दु विद्युतीय भाण्डागार को अध्यात्म की भाषा में सहस्रार चक्र या सहस्र दल कमल कहा गया है उस तक पहुँच मानसिक उपचारों की नहीं है किन्तु योग विद्या के अन्तर्गत ध्यान धारणा द्वारा उसे अभीष्ट दिशा में मोड़ा, सुधारा एवं अभ्यस्त किया जा सकता है। इस प्रकार व्यक्तित्व के सर्वोच्च शक्ति केन्द्र पर अधिकार प्राप्त करके मनुष्य अभीष्ट आत्म निर्माण में सफल हो सकता है। कहना न होगा कि यह आत्म-विजय अपने लिए तो विश्व विजय के समान ही लाभदायक सिद्ध हो सकती है।

ब्रह्मरंध्र की रासायनिक संरचना को देखते हुए उसे कमल पुष्प की आकृति से मिलता-जुलता देखा जाता है। शरीर शास्त्र के अनुसार भी उस स्थान पर एक अणु गुच्छक पाया जाता है। सूक्ष्म दृष्टि से—सूक्ष्म शरीर में उसकी स्थिति और भी अधिक स्पष्ट होती है। वहाँ कमल पुष्प की आकृति में प्रायः हजार या हजारों पखुरियाँ बिखरी दीखती हैं, साथ ही प्रकाश-ज्योति का आभास भी होता है। इस स्थान में उठने वाली भाव सम्वेदना को कमल पुष्प और ज्ञान प्रखरता को प्रकाश-ज्योति नाम दिया गया है। इस स्थिति का चित्रण कमल पुष्प के दीपक में जलने वाली प्रकाश-ज्योति के रूप में किया गया है। इस ब्राह्मी स्थिति की प्रतीक प्रतिमा अखण्ड-ज्योति के रूप में की गई है। निरन्तर जलने वाला घृत दीप इस ब्रह्मरंध्र का—ब्रह्मलोक का प्रतीक प्रतिनिधि मानकर पूजा उपचार में प्रतिष्ठापित किया जाता है।

देव सम्प्रदायों ने इस केन्द्र का चित्रण अपने-अपने ढङ्ग से किया है। विष्णु उपासकों की ब्रह्मलोक व्याख्या में विस्तृत क्षीर सागर—सहस्र फन वाले शेषनाग की शैया उस पर भगवान विष्णु का शयन का वर्णन है। क्षीर सागर मस्तिष्क गह्वर में विद्यमान मज्जा पदार्थ—ग्रेमैटर है। सहस्रार कमल सहस्रार चक्र है। उस पर अवस्थित ब्रह्म चेतना भगवान विष्णु है। साधारणतया यह सारा क्षेत्र प्रसुप्त स्थिति में निष्क्रिय पड़ा रहता है इसलिए विष्णु भगवान सोते हुए दर्शाये गये हैं। शिव भक्तों ने इसी ब्रह्मरंध्र को शिवलोक कहा है। मानसरोवर

य में कैलाश, उस पर समाधिस्थ शिव—गले में महा यह चित्रण में प्रकारान्तर से विष्णु व्याख्या के सम-य ही है। ग्रेमैटर, मानसरोवर, सहस्रार-कैलाश। ाश ज्योति शिव। शिर पर चन्द्र-प्रकाश किरणें। गले सर्प-शेषनागवत्। शिव के मस्तिष्क में गङ्गा का गम—ब्रह्मज्ञान का अवतरण। विष्णु के चरणों में से ङ्गा निकलती हैं शिव के मस्तक में से। दोनों ही स्थिति उस केन्द्र को दिव्य ज्ञान का गोमुख कहा जा सकता है।

गुरु भक्तों ने सहस्रार कमल पर गुरु तत्व की स्थापना रके अपनी ध्यान आवश्यकता के अनुरूप प्रतीक प्रतिष्ठा है। शक्ति उपासक इसी सहस्रार कमल को अपनी-नी इष्ट देवियों के साथ जोड़ते हैं। लक्ष्मी कमलासन विराजमान हैं। ब्रह्मा जी की भाँति ही गायत्री भी मलासन पर विराजती हैं। सरस्वती, दुर्गा आदि अन्य वियों में से किसी के हाथ में, किसी के गले में कमल प जोड़ने की चेष्टा की गई है।

सहस्रार चक्र कनपटियों की सीध में भ्रू मध्य भाग के छे मस्तिष्क के मध्य केन्द्र में माना गया है। तन्त्र ग्रंथों इसे 'महाविवर' की संज्ञा दी गई है। यही लययोग का ग्ररंध्र है। निराकार उपासना में इसे दशम द्वार माना या है। नौ द्वार तो इन्द्रिय छिद्र हैं ही। उन्हें दो नथुने, कान, दो आँखें, एक मुख, दो मल-मूत्र छिद्र इस प्रकार नकी गणना सर्वविदित है। दशवाँ द्वार यह ब्रह्मरंध्र है, सी झरोखे में होकर आत्मा और परमात्मा की मिलन ाँकी—प्रणय केलि एवं समर्पण पाणिग्रहण का सरस ाृङ्गारिक वर्णन मिलता है। योगी लोग इसी केन्द्र प्राण को अवस्थित करके ब्रह्माण्ड का विचरण एवं ायन्त्रण करने जैसी सफलताएँ प्राप्त करते हैं। शरीर ाग के समय प्राण इस दशम द्वार से निकलें तो प्राणी ो पूर्णता का लक्ष्य प्राप्त हुआ समझा जाता है।

सहस्रार की स्थिति का वर्णन अनेक ग्रथों में हुआ । उनका स्वरूप और विवरण प्रायः एक दूसरे से मलता-जुलता ही है। उल्लेख इस प्रकार मिलते हैं—

स्व मूर्धनि सहस्रार पंकजा सीन मव्ययम्।
शुद्ध स्फटिक संकाशं शरच्चन्द्र निभाननम्।
—शक्ति बीज

अपनी मूर्धा में सहस्रार कमल के मध्य शुद्ध स्फटिक वत् शरतचन्द्र जैसे प्रकाश का ध्यान करना चाहिए।

ब्रह्मज्योतिर्वसुधा मा ब्रह्मास्थानीय उच्यते।
ततो यः पावको नाम्ना यः सद्भिर्योग उच्यते॥
—मत्स्य पुराण

ब्रह्म-ज्योति अग्नि ब्रह्मरंध्र स्थान में निवास करती है। यह साधकों को पवित्र करने वाली है। यही योगाग्नि है।

सहस्र दल पङ्कजां सकल शीतरस्मि प्रभां।
वराभय कराम्वुजां वितुल गन्ध पुष्पाम्बराम्॥
—विश्वामित्र कल्प

गायत्री महाशक्ति का चित्रण सहस्र दल-कमल पर विराजमान हाथ में कमल, गले में कमलमाला धारण किये हुए रूप का ध्यान करने का विश्वामित्र कल्प में निर्देश है।

सहस्र दल मध्यस्थ मन्तरात्मान मुत्तपम्।
तस्योपरि नादविन्दोर्मध्ये सिंहासनो ज्वलम्।
तास्मिन् निज गुरु नित्य शुद्ध बुद्ध अवस्थितम्।
—कङ्काल भगवती तन्त्र

सहस्र दल कमल में स्थिति अन्तरात्मा के ऊपर नाद विंद के बीच में नित्य शुद्ध-बुद्ध सद्गुरु (शिव) अवस्थित हैं।

शिरः पद्मे महादेव स्तथैव परमोगुरुः।
तत्समो नास्ति देवेशि पूज्यो हि भुवनत्रये।
—निर्वाण तन्त्र

शिर पद्म (सहस्रार कमल) में परम गुरु महान देव अवस्थित है। उसके समान तीनों लोकों में और कोई पूज्य नहीं।

शिरः पद्मे शुक्लं दश शत दले केसर गते।
ततः त्रीण कल्पे परम शिव रूपं निभगुरुम्।
—निर्वाण तन्त्र

सहस्र दल शिर पद्म के बीच शिव रूप परम गुरु का निवास है।

अत ऊर्ध्वं दिव्य रूपं सहस्रारं सरोरुहम्।
ब्रह्माण्डारव्यस्य देहस्य वाह्ये तिष्ठति मुक्तिदम्।

कैलाशो नाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति ।

—शिव संहिता ५।१८६।१८७

(तालु के) ऊपरी भाग रूपी सरोवर में दिव्य स्वरूप वाला सहस्रार है, यह इस ब्रह्माण्ड रूपी देह के बाहर विद्यमान रहता है। इसी सहस्रार स्थान का नाम कैलाश है। महेश यहीं निवास करते हैं।

शिर: कपाल विवरे ध्यायेद् दुग्ध महोदधिम् ।
तत्र स्थित्वा सहस्रारे पद्मे चन्द्र विचित्त येत् ।

—शिव संहिता

शिर के कपाल विवर में क्षीर सागर भरा हुआ है। उस पर सहस्रार कमल चन्द्रमा की तरह प्रकाशवान होने का ध्यान करें।

श्रुति में इस परम पुरुष को 'सहस्र शीर्षा पुरुष' कहा गया है। उसे सहस्र आँख, पाँव, भुजा वाला बताया गया है। परब्रह्म को सहस्र संख्या के साथ सम्बन्धित किया है। यह सहस्रार चक्र की ओर ही अँगुल निर्देश है—

येन देवा: पवित्रेण आत्मानं पुनते सदा ।
तेन सहस्र धारेण पावमान्य: पुनन्तु मा ।।

प्राण-शक्ति की जिस पवित्रता से देवगण अपनी आत्मा को सदा पवित्र करते रहते हैं, वही पावमान प्राण हजार धाराओं से मुझे शुद्ध करे।

अग्ने सहस्राक्ष शतमूर्धन्छतं ते प्राण:
सहस्रं व्याना ।
त्वं साहस्रस्य राय ईशिषे तस्मै ते विधेम-
वाजाय स्वाहा ।।

—वा० य० १७।७१

हे सहस्र नेत्र वाले अग्ने! तेरे सैकड़ों प्राण, सैकड़ों उदान और सहस्र व्यान हैं। सहस्रों धनों पर तेरा प्रभुत्व है। इसलिए शक्ति के लिए हम तेरी प्रशंसा करते हैं।

पुरुषो वै सहस्रस्य प्रतिमा ।

—शत ७।५।२।१७

यह पुरुष सहस्र (चक्र) की प्रतिमा है।

सहस्रार साधना का प्रतिफल उस आत्म-ज्ञान की—ब्रह्मबोध की उपलब्धि बताया है जिसे प्राप्त करने के उपरान्त समस्त सांसारिक क्लेशों से छुटकारा मिलता है और अन्त:क्षेत्र के भव-बन्धनों से मुक्ति मिलती है। मोक्ष की प्राप्ति, ब्रह्म प्राप्ति, दिव्य समाधि, जीवन-मुक्ति जैसी परम सिद्धि इस सहस्रार महाकेन्द्र से ही उपलब्ध होती है। यथा—

स्थाने परं हंस निवास भूते कैलाशनाम्नी ह निविष्टचेता: । योगी हृतव्याधिरध: कृताधि-र्वायुश्चिरं जीवति मृत्युमुक्त: ।।

—शिव सं० ५।१८९

अर्थ—इस कैलाश नामक स्थान में परमहंस का निवास है जो साधक सहस्र दल कमल में मन को स्थिर करता है, उसकी सकल व्याधि नाश हो जाती है और मृत्यु से छूट कर अमर हो जाता है।

आनन्दमय कोश का तात्पर्य है—आनन्द का भण्डार। सहस्रार कमल उसका केन्द्र संस्थान है। इसे अमृत कलश भी कहते हैं। यह जागृत स्थिति में हो तो उससे अपने को आनन्दित रखने वाला और दूसरों में पुलकन उत्पन्न करने वाला प्रवाह निसृत होता रहेगा। यह ज्ञानमय है। आत्म-बोध एवं तत्वबोध की ज्ञान धारा जीवन के हर क्षेत्र का सिंचन करती और उसे हरितमा, शोभा, सुषमा युक्त बनाती है। इस आनन्द को आत्म-विस्तार को सर-सता के रूप में अनुभव किया जाता है। परमेश्वर की विवेचना 'रसो वै स:' के रूप में का गई है। यह 'रस' इन्द्रिय उत्तेजना से मिलने वाले उन्माद जैसा नहीं, वरन् 'प्रेम' जैसा सौम्य एवं सात्विक है। इसे भक्ति-रस भी कहा जा सकता है। व्यवहार में इसे आत्म-भाव का विस्तार कह सकते हैं। दया, करुणा, ममता, उदारता, सेवा आदि सुकुमार सम्वेदनाएँ इसी आत्म-विस्तार वृत्ति के सहारे उठती, उमँगती और पनपती हैं। इस सरसता को अध्यात्म शास्त्रों में 'सोम-रस' के नाम से पुकारा गया है। देवताओं का अमृत पान यही है। इसका रसा-स्वादन ब्रह्मानन्द कहलाता है। इसी विशेषता के कारण परमात्मा को 'सच्चिदानन्द' कहा जाता है।

सहस्रार कमल में परिपूर्ण अमृत कलश से उपलब्ध होने वाले सुधारस, सोमरस की चर्चा इस प्रकार मिलती है—

तन्निर्गतामृतरसै रभिषिच्य गात्र-
मार्गेण तेन विलयं पुनरण्य वाप्ता ।

येषां हृदि स्फुरति जातु न ते भवेयु-
र्म्मातर्महेश्वर कुटुम्बिनि गर्भभाजः ॥

—तन्त्र सार

हे माता ! तुम सहस्र दल कमल से निकलते हुए सुधारस से देह को अभिषिक्त करती हुई सुषुम्ना के मार्ग में जाकर लीन हो जाती हो। जिस मनुष्य के हृदय-पद्म में तुम्हारा उदय नहीं होता, वह मनुष्य बारम्बार गर्भ धारण का दुःख उठाता है।

व्योम पंकजानिष्यन्द सुधापानरतो भवेत्।
मद्यपानमिदं प्रोक्तमितरे मद्यपायिनः ॥

ब्रह्मरंध्र में स्थित सहस्रार कमल से जो रस टपकता है वही मद्य-पान है। नशा पीने वाले तो शराबी मात्र हैं।

नूनव्य से नवीय से सूक्ताय साधया पथः।
प्रत्नवद्रोचया रुचः ॥
पवमान महिश्रवो गामश्वं रासि वीरवत्।
सना मेधां सना स्वः ॥

ऋ० ६।६।८-६

यह सोम जिसके अन्तःकरण में प्रतिष्ठित होता है उसे आत्म-विकास और सुख समुन्नति की अलौकिक प्रेरणाएँ अन्तःकरण से स्वतः प्रस्फुटित होती हैं।

पुमन् सोम नः तमांसि योध्या।
तानि पुनान जंघनः ॥

—ऋ० ६।६।७

यह सोम पाप और अन्धकार से लड़ने की प्रेरणा देते हैं और अपने साधक को वीर बनाते हैं।

सोमेन पूर्ण कलशं विभर्षि।

—अथर्व ६।४।६

सोम से भरा शीर्ष कलश इसी शरीर में है।

दिवः पीयूषमुत्तमं सोमं।

—अथर्व १४।१।१

यह सोम द्युलोक में रहता है।

प्रत आश्विनीः पवमान धीजुवो दिव्या।
असृग्रन् पयसा धरीमणि। प्रान्तर्ऋ पयः।
स्थावरी रसृक्षत येत्वा मृजन्त्यृषिपाण वेधसः।

—ऋग्वेद ६।८६।४

हे सोम तेरी दिव्य धाराएँ मस्तिष्क में दिव्य रस को प्रवाहित करती हैं। ऋषित्व को प्रदान करती है। जो उसे अपने में धारण कर लेता है वह निरन्तर भाव प्रवाहों से भरा रहता है।

शिर एवास्य हविर्धानं वैष्णवं देवतयाथ यद-
स्मिन् सोमो भवति हविर्वै देवानां सोमस्तस्माद्ध-
विर्धानं नाम।

—शतपथ ३।५।३।२

यह मस्तिष्क ही देवलोक है। जहाँ इन्द्रिय संचालक केन्द्रों के रूप में देवता विराजते हैं। यहीं सोम को हवि दी जाती है। यहीं देवता सोमपान करते हैं।

स्पष्ट है कि यह सारे संकेत सहस्रार चक्र स्थित अमृत कलश की ओर ही है। वहाँ से निकलने वाली ज्ञान गङ्गा जीवात्मा को पवित्र और परितृप्त करती है। आत्मिक आनन्द इसी स्थिति में मिलता है। आनन्दमय कोश की सार्थकता इसी अमृत की अधिकाधिक मात्रा में वर्षा कर सकने में है।

सहस्रार चक्र की साधना के लिए दो मार्ग हैं—एक ब्रह्मरंध्र में प्रकाश-ज्योति का ध्यान, दूसरा खेचरी मुद्रा द्वारा तालु दंश से जिह्वा मूल को लगाकर इस अमृत रस का पान करना। खेचरी मुद्रा के स्वरूप, सन्दर्भ एवं प्रतिफल के सम्बन्ध में मिलने वाले उल्लेखों में से कुछ इस प्रकार हैं—

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥
न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा।
न च मूर्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥
पीड्यते न च रागेण लिप्यते न स कर्मभिः।
वध्यते न च केनापि यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥

—योग चूडामण्युपनिषद्

जिह्वा को उलट कर कपालकुहर में प्रविष्ट कराने तथा भ्रूमध्य में दृष्टि स्थिर रखने से खेचरी मुद्रा सिद्ध होती है। जो खेचरी मुद्रा जानता है, वह रोग, मृत्यु, निद्रा, भूख-प्यास व मूर्च्छना से मुक्त रहता है। उसे रोग पीड़ा नहीं पहुँचा पाते, कर्म लिप्त नहीं कर पाते और कोई भी विवश नहीं कर पाता।

यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमूर्धान्तरस्थं ।
तस्मिन्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्गानाम् ।।
चंद्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां ।
तद्वध्नीयात्सुकरणमथो नान्यथा कार्य सिद्धिः ।।

मेरु पर्वत जैसी सुषुम्ना नाड़ी के ऊर्ध्व भाग में चन्द्रामृत स्थित है। उसी में आत्म तत्व का निवास है। तालु के छिद्राकाश में जो गङ्गा-यमुना, सरस्वती, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना आदि नाड़ियों का मुख है। यहीं चन्द्रसार टपकता है। इसका खेचरी मुद्रा द्वारा जो पान करता है उसकी काया लावण्य युक्त वज्र जैसी बलवान हो जाती है। इस साधना के बिना कार्य सिद्धि कैसे हो?

खेचरी योग तो योगी शिरश्चंद्रादुपागतम् ।
रसं दिव्यं पिबेन्नित्यं सर्व व्याधि विनाशनम् ।।
—योग रसायन

खेचरी-साधना में योगी शिरश्चन्द्र से झरने वाले उस दिव्य रस को पीता है जो सब व्यधियों का नाश करने वाला है।

चित्तं चलति नो यस्माज्जिह्वा चरति खेचरी ।
तेनेयं खेचरी सिद्धा सर्व सिद्धैर्नमस्कृता ।।
—गोरक्ष सहिता १।६५

जिस योगी का चित्त चंचल नहीं होता और जिसकी जिह्वा खेचरी मे रमण करती है, उनके लिए यह सभी सिद्धों द्वारा नमस्कार की हुई खेचरी मुद्रा सिद्ध हो जाती है।

पीड्यते न च शोकेन न च लिप्यते कर्मणा ।
वाध्यते न स केनापि यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ।।
—गोरक्ष संहिता १।६४

जो खेचरी मुद्रा को सिद्ध कर लेता है, उसे भव-बन्धन में नहीं पड़ना होता। न तो उसे शोक होता है और न वह कर्म में ही लिप्त होता है।

अपवित्रो पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा ।
खेचरी यस्य सिद्धा तु स शुद्धो नात्र संशयः ।।
—शिव संहिता ४।५५

जिसे खेचरी मुद्रा सिद्ध है वह अपवित्र या पवित्र कैसी भी परिस्थिति में स्वयं शुद्ध, स्वस्थ, प्रफुल्ल ही रहता है।

खेचरी मुद्रिकाभ्यासादनंदः स्याद्दिनेदिने ।
सर्व सङ्कल्प संत्यागाज्जगद्विस्मरणं भवेत् ।।
—योग रसायनम्

खेचरी मुद्रा के अभ्यास से दिन-प्रतिदिन आनन्द बढ़ता है, विश्व प्रपंच का मोहपूर्ण स्मरण फिर नहीं होता तथा उससे सम्बद्ध सभी सङ्कल्प भी छूट जाते हैं।

मृत्यु व्याधि जराग्रस्तो दृष्ट्वा विद्यामिमाँ मुने ।
बुद्धिं दृढतरां कृत्वा खेचरीं तु समभ्यसेत् ।।
—कुण्डल्युपनिषद् २।२

मनुष्य को मृत्यु, व्याधि और बुढ़ापे से ग्रस्त देखकर मननशील साधक को सुदृढ़ बुद्धि से इस खेचरी विद्या का अभ्यास करना चाहिए।

सिद्धीनां जननी ह्येषा मम प्राणाधिकप्रिया ।
निरन्तर कृताभ्यासात् पीयूषं प्रत्यहं पिवेत् ।।
—शिव संहिता

यह खेचरी मुद्रा मुझ शिव को प्राण प्रिय है। यह सिद्धियों की जननी है। इसका निरन्तर अभ्यास करने वाला अमृत पान का लाभ प्राप्त करता है। ❀

मिलर कहते थे संसार जिन्हें दुश्चरित्र कहता रहा समीप जाकर मैंने देखा उनमें भी कितनी ही अच्छाइयाँ थीं। लोग जिन्हें सच्चरित्र कहते रहे उनके पास से परख कर मैंने पाया उनमें भी ढेरों कमजोरियाँ थीं। इसलिए मैंने लोगों को सच्चरित्र और दुश्चरित्र के रूप में वर्गीकरण करना बन्द कर दिया है और सोचता हूँ आदमी न देवता है न दैत्य। वह एक मध्यवर्ती सत्ता है जिसमें नेकी और वदी दोनों ही मौजूद हैं। यह परिस्थितियों पर निर्भर है कि किस का क्या पक्ष उठा और किसका गिरा? समय-समय पर उस उठाव और गिराव में भी परिवर्तन आते रहते हैं। इसलिए किसको क्या माना जाय यह कहते नहीं बनता? तो भी एक कसौटी तो रखी है कि मूर्खों को पिछड़े लोगों के साथ कौन किस प्रकार व्यवहार करता है? इसे देखकर उसके श्रेष्ठ और निकृष्ट होने का किसी हद तक पता लगाया जा सकता है।

कुण्डलिनी महाशक्ति का स्वरूप और रहस्य

योग साधनाओं के अन्तर्गत कुण्डलिनी जागरण की फल श्रुतियों के सम्बन्ध में—समस्त संसार में लगभग एक जैसी ही मान्यताएँ प्रचलित हैं। इस साधना की सफलता से साधक में अनेकों दिव्य क्षमताएँ विकसित होने का विश्वास किया जाता हैं। समझा जाता है कि ऐसा व्यक्ति सामान्य स्थिति से ऊँचा उठकर विशिष्ट सिद्ध पुरुषों की स्थिति में जा पहुँचता है। शरीरबल और मनोबल से भी ऊँची शक्ति आत्मबल की है। इसके आधार पर स्व पर कल्याण की अति महत्वपूर्ण दिव्य उपलब्धियाँ करतलगत होती हैं। इस विशेषता से दैवी शक्तियाँ आकर्षित होती हैं और साधक की पात्रता के अनुरूप अपनी अनुकम्पा बरसती है। आत्मतेज सम्पन्न मनुष्य का व्यक्तित्व ऐसा होता है जिससे दूसरों की मनःस्थिति को प्रभावित और परिस्थिति में भी परिवर्तन कर सकना सम्भव हो सकता है।

कुण्डलिनी जागरण के महत्वों की योगशास्त्रों में जितनी चर्चा हुई है उतनी और किसी साधना के सम्बन्ध में सार्वभौम स्तर पर नहीं मिलती। उसके विधानों और विवरणों में तो थोड़ा बहुत अन्तर है, पर यह मान्यता सर्वविदित है किन्तु आन्तरिक आत्मिक शक्तियों को प्रसुप्ति से जागृति में बदलने—जागृत को प्रचण्ड बनाने में कुण्डलिनी जागरण प्रक्रिया से असाधरण सहायता मिलती है।

कुण्डलिनी साधक की जागृत होती है, पर यह नहीं कहा जाता कि वह साधक की अपनी उपार्जित पूँजी है। यह एक प्रचण्ड विश्व-व्यापी शक्ति है जिसे उपयुक्त सत्पात्र अपनी साधना प्रक्रिया द्वारा आकर्षित करके अपनी आत्मिक सम्पदा सशक्तता बढ़ाते हैं। इस उपार्जित सम्पदा के आधार पर सांसारिक वैभव और आत्मिक वर्चस्व का दुहरा लाभ मिलता है।

कुण्डलिनी क्या है? इसके सम्बन्ध में शास्त्रों और तत्वदर्शियों ने अपने-अपने अनुभव के आधार पर कई अभिमत व्यक्त किये हैं। ज्ञानार्णव तन्त्र में कुण्डलिनी को विश्व जननी और सृष्टि संचालिनी शक्ति कहा गया है—"शक्तिः कुण्डलिनी विश्व जननी व्यापार बद्धोद्यता।" विश्व व्यापार एक घुमावदार उपक्रम के साथ चलता है। परमाणु से लेकर ग्रह-नक्षत्रों और आकाश गङ्गाओं तक की गति परिभ्रमण परक है। हमारे विचार और शब्द जिस स्थान से उद्भूत होते हैं—व्यापक परिभ्रमण करके वे अपने उद्गम केन्द्र पर ही लौट आते हैं। यही गतिचक्र भगवान के चार आयुधों में से एक है। महाकाल की परिवर्तन प्रक्रिया इसी को कहा जा सकता है। जीव को चक्रारूढ़ मृतिका पिण्ड की तरह यही घुमाती है और कुम्हार जैसे अपनी मिट्टी से तरह-तरह के पात्र उपकरण बनाता है, उसी प्रकार आत्मा की स्थिति को उठाने, गिराने की भूमिका भी वही निभाती है। कुण्डलिनी सृष्टि सन्दर्भ में समष्टि और जीव सन्दर्भ में—व्यष्टि में शक्ति संचार करती है।

अध्यात्म ग्रन्थों में—विशेषता उपनिषदों में कुण्डलिनी शक्ति की चर्चा हुई है। पर उतने को ही पूर्ण पक्ष नहीं मान लेना चाहिए। उतने से आगे एवं अधिक भी बहुत कुछ कहने, जानने और खोजने योग्य शेष रह जाता है। इन अपूर्ण घटकों को मिलाकर हमें वस्तुस्थिति समझने—अधिक जानने के लिए अपना मस्तिष्क खुला रखना चाहिए।

कठोपनिषद के यम नचिकेता सम्वाद में जिस पंचाग्नि विद्या की चर्चा हुई है। उसे कुण्डलिनी शक्ति की पंच विधि विवेचना कहा जा सकता है। श्वेताश्वर उपनिषद में उसे 'योगाग्नि' कहा गया है—

न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः
प्राप्तस्य योगाग्नि मयं शरीरम्।

चैनिक योग प्रदीपिका में उसे 'स्पिरिट फायर' नाम

दिया गया है। जानवुडरफ सरीखे तन्त्रान्वेषी उसे 'सर्पवत् वलयान्विता सर्पेन्ट पावर' नाम देते रहे हैं।

ऋषि शिष्या मैडम ब्लैवेटस्की ने उसे विश्व-व्यापी विद्युत शक्ति—'कास्मिक इलैक्ट्रिसिटी' नाम दिया है। वे उसकी विवेचना विश्व विद्युत के समतुल्य चेतनात्मक प्रचण्ड प्रवाह के रूप में करती थीं। उन्होंने 'वायस आव दि साइलेन्स' ग्रन्थ में अपना अभिप्राय इस प्रकार व्यक्त किया है—सर्पवत् या वलयान्विता गति अपनाने के कारण इस दिव्य शक्ति को कुण्डलिनी कहते हैं। इस सामान्य गति को योग साधक अपने शरीर में चक्राकार बना लेता है। इस अभ्यास से उसकी वैयक्तिक शक्ति वढ़ती है। कुण्डलिनी विद्युतीय अग्नियुक्त गुप्त शक्ति है। यह वह प्राकृत शक्ति है जो सेन्द्रिय एवं निरीन्द्रिय प्राणियों एवं पदार्थों के मूल में विद्यमान है।

ब्रह्माण्ड में दो प्रकार की शक्तियाँ काम करती हैं—एक लौकिक सेकुलर, दूसरी आध्यात्मिक स्प्रिचुअल। इन्हें फिजीकल और मैटाफिजीकल भी कहते हैं। लोग प्रत्यक्ष शक्तियों का प्रमाण प्रत्यक्ष उपकरणों से प्राप्त कर लेते हैं, अस्तु उन्हीं की सत्ता स्वीकार करते हैं। जो उपकरणों की पकड़ में नहीं आती उनकी सत्ता अस्वीकार करना अतिवाद है। सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य से—प्रकृति से वहुत ही स्वल्प काम चलाऊ परिचय था। वन्य पशु जितने ज्ञान और जितने साधनों से शरीर यात्रा चलाते हैं प्रायः उतना ही मनुष्य को भी उपलब्ध था। प्रकृति के रहस्यों का परिचय और उस जानकारी का लाभदायक उपयोग क्रमशः ही सम्भव हुआ है। अग्नि को प्रकट करना और उसका उपयोग जानना, मनुष्य की उससे भी वड़ी उपलब्धि है जो आज विजली जैसी शक्तियों के सहारे सम्भव हुई है। ज्ञान और विज्ञान का क्षेत्र क्रमशः ही वढ़ा है। आदिम मनुष्य अपनी उन दिनों की जानकारियों को ही समग्र मानता और कहता कि जो कुछ उसने जान पाया है उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उसका वह दुराग्रह आज की स्थिति में,उपहासास्पद ही माना जाता है। ठीक इसी प्रकार प्रत्यक्ष भर को अन्तिम मान लेने से शोध और प्रगति का मार्ग ही वन्द हो जायगा। दुराग्रह के कारण ही सव कुछ भौतिक ही है मानकर चेतना की सत्ता को भी भौतिक स्फुरण मात्र कहने लगते हैं। विकास पर आगे वढ़ते हुए अव यह अनुभव किया जा रहा है कि चेतना की स्वतन्त्र सत्ता है और उसकी क्षमता एवं सम्भावना भौतिक पदार्थों और सामर्थ्यों से न्यून नहीं, अधिक ही है।

पिछले दिनों कुण्डलिनी दिव्य शक्ति की सत्ता तो स्वीकार की गई, पर वैज्ञानिक क्षेत्रों में उसे किन्हीं शारीरिक क्षमताओं का एक रूप देने का प्रयत्न किया है शरीर विज्ञानियों ने उसे नाड़ी संस्थान से उद्भूत—नर्वस् फोर्स कहा है। डा० रेले ने अपने वहुचर्चित ग्रंथ 'मिस्ट्रीरियस कुण्डलिनी' में उसकी वेगस नर्व' के रूप में व्याख्या की है। मांस-पेशियों और नाड़ी संस्थान के संचालन में काम आनी सामर्थ्य को ही अध्यात्म प्रयोजनों में काम करने पर कुण्डलिनी संरक्षक बनने का वे प्रतिपादन करते हैं। उनके मतानुसार यह शक्ति जव नियंत्रण में आ जाती है तो उसके सहारे शरीर की ऐच्छिक और अनैच्छिक गतिविधियों पर इच्छानुसार नियन्त्रण प्राप्त किया जा सकता है। यह आत्म-नियन्त्रण बहुत वड़ी वात है। इसे प्रकारान्तर से व्यक्तित्व के अभीष्ट निर्माण की तदनुसार भाग्य निर्माण की सामर्थ्य कह सकते हैं। वे इसी रूप में कुण्डलिनी का गुण-गान करते और उसकी उपयोगिता वताते हुए उसके जागरण का परामर्श देते हैं।

डाक्टर रेले की उपरोक्त पुस्तक 'रहस्यमयी कुण्डलिनी' की भूमिका तन्त्र मर्मज्ञ सर जानवुडरफ ने लिखी है। जिसमें उन्होंने रेले के इस अभिमत से असहमति प्रकट की है कि वह शरीर संस्थान की विद्युत धारा मात्र है। उन्होंने लिखा है—"वह एक चेतन और महान सामर्थ्यवान शक्ति—'ग्रान्ड पोटेन्शियल' है जिसकी तुलना अन्य किसी पदार्थ या प्रवाह से नहीं की जा सकती। मेरी राय में नाड़ी शक्ति कुण्डलिनी का एक स्थूल रूप ही है, वह मूलतः नाड़ी संस्थान या उसका उत्पादन नहीं है। वह न कोई भौतिक पदार्थ है और न मानसिक शक्ति। वह स्वयं ही इन दोनों प्रवाहों को उत्पन्न करती है। स्थिर सत्य (स्टेटिक-रियल) गतिशील सत्य (फैनामिक रियल) एवं अवशेष शक्ति (रैजीडुअल पावर) के समन्वित प्रवाह की तरह इस सृष्टि में काम करती है। व्यक्ति की चेतना

में वह प्रसुप्त पड़ी रहती है। इसे प्रयत्नपूर्वक जगाने वाला विशिष्ट सामर्थ्यवान बन सकता है।"

विज्ञान की भाषा में कुण्डलिनी को जीवन शक्ति अथवा चुम्बकीय विद्युत कहते हैं। इसका केन्द्र मस्तिष्क माना गया है तो भी यह रहस्य अभी स्पष्ट नहीं हुआ कि मस्तिष्क को अपनी गतिविधियों के संचालन की क्षमता कहाँ से मिलती है। योगशास्त्र इसका उत्तर उस काम शक्ति की ओर संकेत करते हुए देता है और बताता है कि अव्यक्त मानवी सत्ता को व्यक्त होने का अवसर इसी केन्द्र से मिलता है। वही कामतन्त्र के विभिन्न क्रिया-कलापों के लिए आवश्यक प्रेरणा भी देती है। यही वह चुम्बकीय 'क्रिस्टल' है जो काया के 'ट्रांजिस्टर' को चलाने वाले आधार खड़े करता है। काम-शक्ति के प्रकटीकरण का अवसर जननेन्द्रिय के माध्यम से मिलता है, अस्तु उस स्थान पर अवस्थित मूलाधार चक्र को कुण्डलिनी केन्द्र एवं संक्षेप में 'कुण्ड' कहते हैं।

हठयोग के व्याख्याकारों ने वस्ति क्षेत्र के गह्वर में अण्डे की आकृति वाले 'कन्द' के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ा है। कइयों ने उसे मांस-पेशी, कुछ ने जननेन्द्रिय और कुछ ने उसे पौरुष ग्रन्थियों के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया है। रीढ़ की हड्डी के निचले तिकोने भाग को ढकने वाले आवरण को भी किसी-किसी ने कुण्डलिनी का स्थान एवं उद्गम कहा है। एक व्याख्याकार ने 'गैंग्लियन इम्पार' को कुण्डलिनी का स्थान माना है। ऐसी ही भ्रान्तियों के कारण कतिपय शारीरिक व्यायाम, आसन, बन्ध, मुद्रा आदि को कुण्डलिनी जागरण की प्रक्रिया के साथ जोड़ा गया है। नाड़ी संस्थान के उत्तेजित होने पर जो शक्ति उत्पन्न होती है वह सामयिक एवं क्षणिक ही अपने प्रभाव का परिचय दे सकती है। किन्तु कुण्डलिनी चिरस्थायी है। ऐसी दशा में उसे स्नायविक या नाड़ी शक्ति की संज्ञा देना उपयुक्त नहीं हो सकता।

कुण्डलिनी चेतनात्मक शक्ति है। उसे जीवनी शक्ति के—जिजीविषा के रूप में, शरीर में, अन्तःकरण चतुष्टय के रूप में सामान्य काम करने में संलग्न देखा जा सकता है। उससे आगे के स्तर प्रसुप्त स्थिति में पड़े रहते हैं। यह विद्युत शक्ति तो है, पर जनरेटर, डायनेमो, बैटरी, चुम्बक आदि के सहारे काम करने वाली भौतिक बिजली से उसकी कोई तुलना नहीं हो सकती। जिसके कारण आत्म-स्वरूप के सम्बन्ध में आस्था—आकांक्षाओं का केन्द्र—लोक-व्यवहार का दृष्टिकोण काया-कल्प की तरह बदल जाता हो उसे भौतिक सामर्थ्य नहीं कह सकते। आत्मा और परमात्मा के एकीकरण—आनन्द, उल्लास के अभिवर्धन एवं चमत्कारी दिव्य क्षमताओं के उत्पादन में जिसकी असाधारण भूमिका प्रस्तुत होती है वह कुण्डलिनी भौतिकी नहीं, आत्मिकी ही मानी जायगी।

कुण्डलिनी महाशक्ति की चर्चा विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार से हुई है। इनमें लगती तो भिन्नता है, पर वस्तुतः उसे परस्पर पूरक ही समझा जाना चाहिए। ईश्वर का भी समस्त वर्णन नहीं हो सका, उसके असंख्य पक्षों में से आत्म-प्रगति के लिए उपयोगी अंशों की ही चर्चा ब्रह्म विद्या के अन्तर्गत की जाती है। उसे समग्र नहीं माना जा सकता। ईश्वर का प्रकृति पक्ष भी तो है। पदार्थ विज्ञानी अपने ढङ्ग से ईश्वर के उसी पक्ष का अनुसन्धान करते हैं। प्रत्येक प्राणी और पदार्थ पर जो चेतन तत्व की प्रतिक्रिया होती है उसका वर्णन किया जाने लगे तो असंख्यों अनुसन्धान शास्त्र विनिर्मित करने पड़ेंगे। ईश्वर की भाँति ही जीवसत्ता और प्रकृति सत्ता का सूक्ष्म-अतिसूक्ष्म स्थूल-अतिस्थूल विस्तार-विवेचन हो सकता है। अणोरणीयान् महतो महीयान् की उक्ति सर्वथा सत्य है। जो हम जानते हैं वह किसी भी प्राणी, पदार्थ या परिस्थिति के सम्बन्ध में एक अत्यन्त तुच्छ भाग है। हमारा अविज्ञात अज्ञान ज्ञान-विज्ञान से कहीं अधिक बड़ा है। हम ज्ञानोपार्जन की दिशा में क्रमशः बढ़ रहे हैं।

प्रो० हडसन का कथन है कि आमतौर से जीवन शक्ति का प्रयोग, मात्र शरीर साधना में ही होता रहता है, पर यदि उसके प्रसुप्त पक्ष को जागृत किया जा सके और उस जागरण को महत्वपूर्ण आत्मिक उद्देश्यों में लगाया जा सके तो चेतना क्षेत्र की चमत्कारी शक्तियाँ हस्तगत हो सकती हैं।

कुण्डलिनी को 'सार्वभौमिक जीवन तत्व' भी कहते हैं। इसके भीतर आकर्षण (अट्रैक्शन) और विकर्षण (रिपल्शन) की दोनों ही धाराएँ विद्यमान हैं। भौतिक

विज्ञान की दृष्टि से उन प्रवाहों को जैवीय विद्युत एवं चुम्बकत्व वायो 'इलेक्ट्रिसिटी एण्ड मैगनेटिज्म' कह सकते हैं। दार्शनिक हर्बर्ट स्पेन्सर के अनुसार इसे जीवन सार—'ऐसेन्स आफ लाइफ' कहा जा सकता है। बाइबिल के अनुसार यही तत्व महान सर्प है।

अध्यात्म शास्त्र इसे ब्रह्माग्नि कहते हैं और उसका केन्द्र सस्थान ब्रह्मरंध्र को मानते हैं। वहाँ से वह मूलाधार की ओर दौड़ती और वापिस आती है। सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्माजी को अपने आसन से नीचे की जल राशि तक कमल नाल के सहारे असंख्य बार चढ़ना-उतरना पड़ा तब यह सृष्टि बनी। इस गाथा में सहस्रार शक्ति को मूलाधार तक आते-जाते रहने का संकेत समझा जा सकता है।

आर्थर एवलन ने भी कुण्डलिनी को संग्रहीत शक्ति बताया है। उनका कथन है कि—"जो महत् ब्रह्म सत्ता (ग्रेट कास्मिक पावर्स) ब्रह्माण्ड का सृजन एवं धारण करती है उसकी व्यक्ति देह में अवस्थित प्रतिनिधि सत्ता का नाम कुण्डलिनी शक्ति है।"

स्वामी विवेकानन्द ने अपनी पुस्तक राजयोग में लिखा है—"वह केन्द्र, जहाँ समस्त अवशिष्ट सम्वेदनाएं (रेजिडुअल सेन्सेशन्स) संचित संग्रहीत हैं, मूलाधार चक्र कहलाता है। वहाँ पर कुण्डलित क्रिया शक्ति (क्वाइल्ड अप एनर्जी आफ एक्शन्स) को कुण्डलिनी शक्ति कहा जाता है।

अवशिष्ट सम्वेदनाओं (रेजिडुअल सेन्सेशन्स) को सामान्य बची-खुची शक्ति नहीं समझनी चाहिए। वस्तुतः यह महाशक्ति के उद्भव का मूलकारण बीज है। यह क्या है तथा कैसे इसके द्वारा महाशक्ति का उद्भव हो सकता है? इसके लिए विद्युत शक्ति उत्पादक यन्त्र (इलैक्ट्रिक जैनरेटर) के सिद्धान्त से समझा जा सकता है।

जैनरेटर में चुम्बकीय क्षेत्र में सुचालक धातु के तारों की कुण्डली (क्वाइल्स) घुमाने से उनमें विद्युत संवाहक शक्ति (ई० एम० एफ० अर्थात् इलैक्ट्रोमोटिव फोर्स) पैदा होती है। चुम्बकीय क्षेत्र बनाने के लिए अच्छे जैनरेटरों में स्थाई चुम्बकों का प्रयोग नहीं किया जाता, उनमें विद्युत चुम्बक (इलैक्ट्रो मैगनेट) प्रयुक्त होते हैं। चालू जैनरेटर में उत्पादित विद्युत शक्ति का एक अंश इन विद्युत चुम्बकों को सशक्त बनाये रखने के लिए प्रयुक्त किया जाता रहता है। किन्तु जब जैनरेटर बन्द होता है तो उससे कोई विद्युत प्रवाह प्राप्त नहीं किया जा सकता। समस्या उठती है कि विद्युत प्रवाह उपलब्ध न हो तो विद्युत चुम्बक कैसे कार्य करे? और चुम्बकीय क्षेत्र के अभाव में विद्युत उत्पादन कैसे हो? इस समस्या का समाधान 'रैजिडुअल मैगनेटिज्म' (अवशिष्ट चुम्बकत्व) से ही निकलता है। लोहे का गुण है कि उसके चारों ओर एक बार विद्युत प्रवाह पैदा किया जाय तो विद्युत प्रवाह की सबलता के अनुपात में उसके अन्दर चुम्बकत्व पैदा होता है। किन्तु यदि विद्युत प्रवाह रोक दिया जाय तो भी चुम्बकत्व एकदम समाप्त नहीं होता—थोड़ी मात्रा में बना ही रहता है। जब जैनरेटर चालू किया जाता है तो यही नाम मात्र का अवशिष्ट चुम्बकत्व थोड़ी-सी विद्युत शक्ति पैदा करता है। उसे बाहरी उपयोग की ओर न ले जाकर चुम्बकीय क्षेत्र बनाने वाली कुण्डलियों (क्वाइल्स) में ही प्रवाहित करते हैं। इससे चुम्बकीय क्षेत्र सबल होता चलता है तथा उसके प्रभाव से विद्युत शक्ति भी अधिक मात्रा में पैदा होने लगती है। यही क्रम थोड़े समय तक चलने से विद्युत को चुम्बक तथा चुम्बक को विद्युत क्रमशः अधिकाधिक सशक्त बनाते हुए—जैनरेटर को पूर्ण समर्थ उत्पादन की स्थिति में पहुँचा देते हैं।

मूलाधार स्थित अवशिष्ट सम्वेदनाएं जैनरेटर के 'रैजिडुअल मैगनेटिज्म' के समकक्ष कही जा सकती हैं तथा कुण्डलित क्रिया शक्ति—कुण्डलिनी शक्ति तार की कुण्डलियों क्वाइल्स में उत्पादित हो सकने वाली ई० एम० एफ० (विद्युत संवाहक शक्ति) के रूप में समझी जा सकती है। योग साधनाओं को जैनरेटर चलाने की क्रिया विधि कहा जाना युक्ति संगत है। इनका सम्यक प्रयोग मूलाधार क्षेत्र में सन्निहित शक्ति बीज को प्रचण्ड कुण्डलिनी ऊर्जा के रूप में विकसित कर सकता है।

प्राण शक्ति की व्याख्या कई रूपों में की जाती है। विभिन्न मनीषियों एवं संशोधकों द्वारा उसे (१) मानव विद्युदाकर्षण—ह्यूमनमैगनेटिज्म (२) जीव शक्ति—मैटाबॉलिज्म (३) जीवन रस—प्रोटोप्लाज्म (४) जीवन रस एक्लोप्लाज्म (५) ब्रह्माण्डीय चेतना—कास्मिक एनर्जी

ादि नाम दिये गये हैं। वस्तुतः यह सभी व्याख्याएँ प्राण ाक्ति द्वारा उत्पन्न होने वाली प्रतिक्रियाओं की हैं—स्वयं ाण की नहीं।

ीवन क्षार—एनिमो ऐसिड के परमाणुओं का एक सेरा ऋण विद्युत और दूसरा धन विद्युत के आवेशों युक्त होता है। इनके द्वारा जो आकर्षण पुञ्ज बनता है ससे नये विद्युद अणु निकलते हैं। उन्हीं के आधार पर ानव शरीर में पाई जाने वाली विद्युत शक्ति का संचार ोता है। एनिमो ऐसिड की मूल प्रकृति में सन्निहित, हस्यमयी क्षमता को वैज्ञानिक परिभाषा में 'प्राण' कहा या है।

डा० हेनरी लिंडाल के अनुसार ब्रह्माण्ड में काम रने वाली अनेकों शक्तियों के मूल में प्राण शक्ति की रणा काम कर रही है। ईथर के परमाणुओं की अपेक्षा ाण परमाणु कहीं अधिक सूक्ष्म हैं। विश्वव्यापी त्वाष्ट्र-निवर्सल ईथर की क्षमता को क्रियाशील करने का योजन प्राणशक्ति पूरा करती है।

डा० कारिंगटन के ग्रन्थ 'आधुनिक मनोविज्ञान और श्य' में तथ्यों समेत यह बताया है कि मानवी चेतना का वरस्थायी रूप 'प्राण परमाणुओं से बना है और वह मरने वाद भी बना रहता है। हेग के डा० माल्थ की शोधों में स प्राणमय शरीर की जानकारियों पर और भी अधिक काश पड़ता है।

सिलवान जे मुलडोन और हेरेवार्ड फैरिंगटन द्वारा युक्त रूप से लिखित 'दि प्रोजेक्शन आफ एस्ट्रल बाडी' प्राणमय शरीर और उसके स्वरूप एवं गतिविधियों का र्णन करते हुए कहा गया है कि वह भी पूर्ण सत्ता सम्पन्न । 'चाइनाज बुक आवदि डेय' में उस देश की प्राचीन ान्यताओं एवं आधुनिक पर्यवेक्षणों का विवरण प्रस्तुत रते हुए बताया गया है कि स्थूल शरीर ही नहीं प्राण-य शरीर का भी आवरण जीवात्मा को उपलब्ध है। ा० मैकड्गल ने प्राणमय शरीर का भार और विस्तार ापने में भी एक सीमा तक सफलता प्राप्त की है। ान्सीसी विज्ञान वेत्ता डुराविल ने अपने ग्रन्थ में ऐसे चित्र छापे हैं जिनमें प्राणमय शरीर की स्थिति का अच्छा ासा परिचय प्राप्त होता है। प्रो० मुलडोन द्वारा लिखित ग्रन्थ 'प्रोजक्शन आफ एस्ट्रल बाडी' ग्रन्थ में प्राण सत्ता के अस्तित्व के विश्वस्त और अकाट्य प्रमाणों की भरमार है।

शरीर शास्त्र के अनुसार सुषुम्ना और इड़ा, पिंगला की संगति कुछ प्रत्यक्ष नाड़ियों के साथ बिठाने का प्रयत्न किया गया है। मेरुदण्ड की पोल में सुषुम्ना संचार है। सुषुम्ना के दोनों ओर स्नायु कोषों की जंजीर ऊपर से नीचे तक फैली हुई है। दाहिनी ओर की जंजीर—राइट सिम्पैथिक कार्ड का पिंगला और बाँये ओर की जंजीर लैफ्ट सिम्पैथिक कार्ड को इड़ा कहा गया है।

डा० राखाल दास राय की अपनी पुस्तक "रीजनल एक्स पोजिशन आव भारतीय योग दर्शन" में सुषुम्ना को उन्होंने—'स्पाइनल कार्ड' बताया है। पिंगला को 'राइट नर्वस् टर्मिनेल और इड़ा को लेफ्ट नर्वस् टर्मिनेल नाम दिया है।

डा० ब्रजेन्द्र नाथ सील ने अपनी पुस्तक 'दि पॉजिटिव सांइसेज् आव एनसियेन्ट हिन्दूज' में प्राचीन और अर्वाचीन शरीर शास्त्र की विसंगतियों पर प्रकाश डालते हुए बताया है कि दोनों प्रतिपादन शैलियों में ही अन्तर है। तथ्य लगभग मिलते जुलते ही हैं। उसमें उनने बताया है कि योग शास्त्र के चक्र यद्यपि अदृश्य क्षमताओं के प्रतीक हैं तो भी उनका आधार स्थान प्रत्यक्ष नाड़ी गुच्छकों को मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिये। थियोसोफिस्ट पत्रिका में मेजर बी० डी० बसु का एक लेख प्रकाशित हुआ था। "एनाटोमी आव तंत्राज" उसमें उनने योग संस्थानों को शरीर में पाये जाने वाले प्रत्यक्ष अवयव ही सिद्ध किया है और कहा है उन्हें अदृश्य या सूक्ष्म मानने की आवश्यकता नहीं है। ये अवयव सामान्यतया शरीर यात्रा पूरी करते हैं पर असामान्य रूप से विकसित कर लिये जाने पर वे असाधारण कार्य भी कर सकते हैं जैसे कि मस्तिष्क और नेत्रों की परिष्कृत शक्ति से कई प्रकार के आश्चर्यजनक कार्य सम्पन्न किये जाते रहते हैं। महा महोपाध्याय गणनाथ सेन ने अपने ग्रन्थ प्रत्यक्ष शरीरम् तथा शरीर परिवेश में योग शास्त्र में वर्णित संस्थानों को इसी शरीर में विद्यमान बताया है।

सरजन वुडरफ ने तन्त्र ग्रन्थ 'पादुका पंचक' और

'षट चक्र निरूपण' की व्याख्या विवेचना पर एक विशद ग्रन्थ 'सर्पेन्ट पावर' लिखा है। इसमें चक्रों की उपस्थिति प्रस्तुत शरीर में प्रत्यक्ष ही बताई गई है। वुडरफ के इस ग्रन्थ के आधार पर एम० पी० पंडित ने एक छोटी पुस्तक कुण्डलिनी योग 'अंग्रेजी में लिखी थी इसमें वे चक्रों की उपस्थिति प्रत्यक्ष मानते हैं। थियोसोफी के आदि संचालकों में सी० डब्ल्यू' लेडबीटर का भी नाम है। उनके ग्रन्थ 'चक्राज' में चक्रों के अस्तित्व को मानवी काया में ही दृश्यमान बताया है। सूक्ष्म तो वे उनकी प्रसुप्त शक्तियों भर को कहते हैं।

कुण्डलिनी शक्ति को प्रायः जीवन अग्निफायर आफ लाइफ के रूप में ही प्रतिपादित किया गया है। उसकी अभिवृद्धि जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार से परिलक्षित होती है। शरीर क्षेत्र में उसके समर्थ आरोग्य के रूप में—मन में सन्तुलित विवेकशीलता के रूप में उसे देखा जा सकता है। काय कलेवर में वह बलिष्ठता-निरोगिता-स्फूर्ति, क्रियाशीलता, उत्साह, तत्परता के साथ दृष्टिगोचर होती है। मस्तिष्क में उसका परिचय तीव्र बुद्धि, दूरदर्शिता, स्मरण शक्ति, सूझ-बूझ कल्पना, निर्णय क्षमता, कुशलता, व्यवस्था आदि के रूप में देखा जा सकता है। भावना क्षेत्र में वही श्रद्धा, निष्ठा, आस्था—भाव सम्वेदना, करुणा, आत्मीयता, सौन्दर्यानुभूति के रूप में उभरती है। सब मिला कर उसे उच्चस्तरीय उत्कृष्टता की दिशा में जीव चेतना को धकेलते हुए देखा जा सकता है।

जब वर्षा ऋतु आती है तो सूखे बीहड़ भी हरियाली से भर जाते हैं। ग्रीष्म ऋतु में जिनका कोई अस्तित्व दृष्टिगोचर नहीं होता, ऐसे दबे हुए बीज तथा सूखी जड़ इस प्रकार हरी भरी हो जाती हैं मानो किसी चतुर माली ने प्रयत्न पूर्वक इस वनस्पति सम्पदा को उगाया हो। कुण्डलिनी साधना की सफलता को पावस का आगमन कह सकते हैं। मनुष्य शरीर एक विशाल उर्वर भूखण्ड कहा जा सकता है। इसमें एक से एक बहुमूल्य बीज दबे पड़े हैं। वर्षा न होने तक उनका अस्तित्व छिपा पड़ा रहता है किन्तु जैसे ही जागृत कुण्डलिनी का श्रावण बरसता है वैसे ही विशेषताओं और विभूतियों की सम्पदा अनायास ही अंकुरित और पल्लवित होने लगती है।

गृहस्थ साधक गुरु के पास पहुँचा। अपनी पीड़ा व्यक्त की। कष्ट यह था कि ध्यान का अभ्यास करते समय मन गुरु द्वारा उपदिष्ट-निर्दिष्ट दिशा में सक्रिय रहने के स्थान पर दिन भर की गतिविधियों के जाल-जंजाल में उलझ जाता था। गुरु ने साधक को १० दिन वहीं आश्रम में रहने को कहा और उसे एक कुत्ते को पालने का निर्देश दिया। साधक चकराया। कुत्ते के पालन-पोषण का भी साधना से कोई सम्बन्ध हो सकता है भला। किन्तु गुरु-आज्ञा थी।

साधक उस कुत्ते को रोज स्नेह पूर्वक रोटी खिलाता, पुचकारता। उस पर एक पट्टा भी बाँध दिया। एक सप्ताह बीत गया। आठवें दिन गुरु ने साधक को बुलाया। कहा—कुत्ते को ले जाकर आश्रम के बाहर छोड़ दो, भगा दो उसे। साधक कुत्ते को बाहर ले गया, पट्टा खोला और दुतकार कर भगाया। 'आश्रम वापिस पहुँचा।' थोड़ी देर में देखा—कुत्ता भी वहीं आ गया है। पुनः बाहर ले गया। थोड़ी देर में कुत्ता फिर हाजिर। बीसों बार यही क्रिया-प्रक्रिया दुहराई गई।

हार मानकर साधक गुरु के पास पहुँचा। स्थिति निवेदित की। गुरु मुस्कुरा उठे—"बेटे! अपने जिन विचारों रूपी कुत्तों का तेरा मन दिन भर खिलाता-पिलाता रहता है, जिनमें तादात्म्य-भाव स्थापित कर लेता है, उन्हें ही उपासना के समय भगाना चाहता है। यह कैसे हो सकता है। जो विचार और भाव-बोध तुझे अभीष्ट तथा श्रेष्ठ प्रतीत होते हैं, उनका दिन भर स्मरण रख। उसी भाव-भूमिका के साथ सभी काम कर। यही साधना है। ऐसा करने पर ही उपासना-काल में भी अभीष्ट भावभूमि बनी रह सकती है। जीवन-साधना के अभाव में उपासना भी सार्थक बन पड़ेगी।

कुण्डलिनी जागरण से आत्मिक और भौतिक सिद्धियाँ

कुण्डलिनी आत्म शक्ति की प्रकट और प्रखर स्फुरणा है। यह जीव को ईश्वर प्रदत्त मौलिक शक्ति है। प्रसुप्त स्थिति में वह अविज्ञात बनी और मृत तुल्य पड़ी रहती है। वैसी स्थिति में उससे कोई लाभ उठाना संभव नहीं हो पाता। यदि उसकी स्थिति को समझा जा सके तो प्रतीत होगा कि अपने ही भीतर वह भण्डार भरा पड़ा है जिसकी तलाशमें जहाँ-तहाँ भटकना पड़ता है। वह ब्राह्मी शक्ति अपने ही अन्तराल में छिपी पड़ी है, जिसे कामधेनु कहा गया है। आत्मसत्ता में सन्निहित इस महाशक्ति का परिचय कराते हुए साधना शास्त्रों ने यह बताने का प्रयत्न किया है कि अपने ही भीतर विद्यमान इस महती क्षमता का ज्ञान प्राप्त किया जाय और उससे सम्पर्क साधने का प्रयत्न किया जाय। कुण्डलिनी परिचय के कुछ उद्धरण इस प्रकार हैं—

मल-मूत्र छिद्रों के मध्य मूलाधार चक्र में कुण्डलिनी का निवास माना गया है। उसे प्रचंड शक्ति स्वरूप समझा जाय। यह विद्युतीय प्रकृति की है। ध्यान से वह कौंधती बिजली के समान प्रकाशवान दृष्टिगोचर होती है। कुण्डलाकार है। उसका स्वरूप प्रसुप्त सर्पिणी के समान है।

यह उसका स्थानीय परिचय हुआ। अब उसका आधार, कारण, स्वरूप एवं प्रभाव समझने की आवश्यकता पड़ेगी। बताया गया है कि यह ब्राह्मी शक्ति है। स्वर्ग से गंगा अवतरित होकर पृथ्वी पर आई थी और इस लोक को धन्य बनाया था। इसी प्रकार यह ब्राह्मी शक्ति सत्पात्र साधकों की आत्म सत्ता पर अवतरित होती है और उसे हर दृष्टि से सुसम्पन्न बनाती है। कहा गया है कि—

ज्ञेयाशक्तिरियं विष्णोर्निर्भया स्वर्णभास्वरा।
सत्वं रजस्तमश्चेति गुणत्रय प्रसूतिका॥
मूलाधारस्थ वन्ह्यात्मतेजो मध्ये व्यवस्थिता।
जीवशक्तिः कुण्डलाख्या प्राणाकाराथ तेजसी॥
महाकुण्डलिनीप्रोक्ता परब्रह्मस्वरूपिणी।
शब्दब्रह्ममयी देवी एकानेकाक्षराकृतिः॥
शक्ति कुण्डलिनी नाम बिसतन्तु निभा शुभा।

—महायोग विज्ञान

यह स्वर्ण समान आभा वाली महा शक्ति कुण्डलिनी निर्भयता प्रदान करने वाली है। वही वैष्णवी है। सत, रज, तम तत्वों को उत्पन्न करने वाली है। मूलाधार के मध्य में आत्म तेज रूपी अग्नि पुञ्ज होकर विराज मान है जीवनी शक्ति वही है। तेजस्वी प्राण ही उसका आकार है। यह परब्रह्म स्वरूपिणी है। यह शब्द ब्रह्म मय है। इसकी अनेक आकृतियाँ हैं। इन शुभ कामनाओं को पूर्ण करने वाली शक्ति का नाम कुण्डलिनी है।

स्वयं भू शिवलिंग में तीन लपेटे लगाकर सुप्त सर्पिणी की तरह पड़े होने की उपमा में यह संकेत है कि उसमें वे तीनों ही क्षमताएँ विद्यमान हैं जो मानवी अस्तित्व को विकसित करने के लिए मूल भूत कारण समझी जाती हैं। आकांक्षा विचारणा, क्रिया एवं साधन सामिग्री के आधार पर ही मनुष्य आगे बढ़ता, सफलता पाता और प्रसन्न होता है। इन तीनों के बीज अन्तरंग में कुण्डलिनी शक्ति के रूपमें विद्यमान हैं। इन्हें विकसित करने पर यह तीनों क्षमताएँ भीतर से उमँगती हैं तो बाहर के स्वल्प साधन मिलने पर भी उनको समुन्नत बनने का सहज अवसर मिल जाता है तो अन्तः क्षमता प्रसुप्त हो तो बाहर के विकास उपचार सफल नहीं होते किन्तु भीतर के स्रोत उमँगों का बाह्य क्षेत्र में उभरना कठिन नहीं हैं। गायत्री के तीन चरण कुण्डलिनी के तीन लपेटे हैं और उन्हें मानव जीवन की मूल-भूत क्षमताओं के रूप में माना गया है।

प्रकृतिः निश्चला परावाग्रूपिणी परप्राणवात्मिका कुण्डलिनी शक्तिः। —प्रपंच सार तन्त्र

यह कुण्डलिनी महाशक्ति, अविचल प्रकृति और परावाणी है। यह पर ब्रह्म है।

इच्छाशक्तिरच भूःकारः क्रिया शक्तिर्भुवस्तथा।
स्वःकारः ज्ञान शक्तिश्च भूर्भुवः स्वः स्वरूपकम।

भूः—इच्छा शक्ति; भुवः—क्रिया शक्ति; स्वः—ज्ञान शक्ति, यह तीन व्याहृतियों का स्वरूप है।

सात्विकस्य ज्ञान शक्ति राजसस्य क्रियात्मिका।
द्रव्य शक्तिस्तामसस्य तिस्रश्चामाथिताभव।

—देवी भागवती

सात्विक ज्ञान शक्ति, राजस क्रिया शक्ति और तामस द्रव्य शक्ति यह तीन शक्तियाँ कही गई हैं।

ज्ञानेच्छाक्रियाणां तिमृणां व्यष्टीनां महा-
सरस्वती महाकाली महालक्ष्मीरित।

ज्ञान शक्ति इच्छा शक्ति और क्रिया शक्ति यह तीन ही शक्ति की प्रकृति है। इन्हें ही महा सरस्वती, महा कला और महा लक्ष्मी कहते हैं।

केचित्तां तप इत्याहुस्तमः केचिज्जडं परे।
ज्ञानं मायां प्रधानं च प्रकृतिं शक्तिमप्यजाम्।
आनन्दरूपता चास्याः परप्रेमास्पदत्वतः।

—देवी भागवत

कोई मुझे तपः—शक्ति कहते हैं। कोई-जड़। कोई ज्ञान कहते हैं कोई माया कोई प्रकृति। मैं ही परम प्रेमास्पद तथा आनन्द रूपा हूँ।

अहमेव स्वयमिदं वदामि
जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
य यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि
तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥ ऋ० १०।१२५।५

देवताओं और मनुष्यों को अभीष्ट-प्राप्ति का मार्ग मैं ही बतलाती हूँ। जो मेरी (विवेक-शक्ति, की) उपासना कर मुझे प्रसन्न करता है, उसे ही मैं प्रखर बनाती हूँ। ब्राह्मण, ऋषी तथा मेधावी बनाती हूँ।

अपने में ही विद्यमान परम वैभव के सम्बन्ध में अपरिचित रहना यही अध्यात्म की भाषा में अज्ञान या अन्धकार है। इसकी निवृत्ति को ही आत्म ज्ञान की आत्म साक्षात्कार की महान उपलब्धि कहा गया है। प्रसुप्ति को जागृति में बदल देना खोये को तलाश कर लेना यही परम पुरुषार्थ है। आत्म साधनाओं को परम पुरुषार्थ कहा गया है। सामान्य पुरुषार्थों से धन, बल, थोड़ी सी भौतिक उपलब्धियां स्वल्प मात्रा में उपार्जित की जा सकती हैं। वे भी अस्थिर होती हैं और मिलने के बाद उलटी अतृप्ति भड़काती चलती हैं। किन्तु आत्मिक विभूतियों को उपार्जित करने की दिशा में बढ़ने पर प्रत्येक चरण क्रमशः अधिक उच्चस्तरीय प्रस्तुत करता चलता है। वे स्थायी भी होते हैं और तृप्ति कारक भी। उनसे अपना भी कल्याण होता है और दूसरों का भी। इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखते हुए आत्म साधना को परम पुरुषार्थ कहा गया है।

सोता हुआ मनुष्य मृत तुल्य निष्क्रिय पड़ा रहता है। जागृति होते ही उसकी समस्त क्षमतायें जाग पड़ती हैं प्राण शक्ति कुण्डलिनी शक्ति के सम्बन्ध में भी यही बात है। जिसकी अन्तः शक्ति मूर्छित है समझना चाहिए कि वह तत्वतः सोया हुआ ही है। जिसका अन्तराल जग पड़ा उसकी महान सक्रियता को कार्यान्वित होते हुए देखा जा सकता है। सोने की, जागृति की, स्थिति में जितना अन्तर होता है उतना ही आत्म शक्ति के प्रसुप्त और जागृत होने की स्थिति में समझा जा सकता है। इसी प्रसुप्ति और जागृति के अन्तर की चर्चा ताण्ड्य ब्राह्मण में इस प्रकार हुई है—

कुण्डलिनी की प्रसुप्ति को जागृति में बदलने के लिए 'साधना' का उपाय अपनाना पड़ता है। इस जागरण प्रयास में लगने के लिए जो साहस करते हैं वे भौतिक और आत्मिक दोनों ही क्षेत्रों में समुन्नत स्थिति प्राप्त करते चले जाते हैं। इस महान जागरण के लिए प्रोत्साहित करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

तदाहुः कोऽस्वप्नु यर्हतिः यद्वाव प्राण जागार्त् देव जागरिम् इति।

—ताण्ड्य

कौन सोता है? कौन जागता है? जिसका प्राण जागता है, वस्तुतः वही जागता है?।

मूलाधारे आत्मशक्तिः कुण्डलिनी परदेवता।
शायिता भुजगाकारा सार्द्ध त्रय वलयान्विता॥
यावत्सा निद्रिता देहे तावज्जीवः पशुर्यथा।
ज्ञानं न जायते तावत् कोटियोग विधेरपि॥
आधार शक्ति निद्रायां विश्वं भवति निद्रया।
तस्यां शक्तिप्रबोधेन त्रैलोक्यं प्रति बुध्यते॥

—महायोग विज्ञान

आत्म शक्ति कुंडलिनी मूलाधार चक्र में साढ़े तीन कुण्डलिनी लगाये हुए सर्पिणी की तरह शयन करती है। जब तक वह सोती है तब तक जीव पशुवत् बना रहता है। बहुत प्रयत्न करने पर भी तब तक उसे ज्ञान नहीं हो पाता। जिसकी यह आधार शक्ति सो रही है उसका सारा संसार ही सो रहा है, पर जब वह जागती है तो उसका भाग्य और संसार ही जाग पड़ता है,

विद्युल्लता परा जाता पंचानांमातृ रूपिणी ।
अभ्यासां मार्ग योगात् सैका षोढा प्रजायते ।
पराचेत्तथा ज्ञानाक्रिया कुण्डलिनि नीतिं च ।

बिजली जैसी चमक वाली, पंचतत्वों एवं पंच प्राणों की माता, परम चेतना ज्ञान शक्ति तथा क्रिया शक्ति कुण्डलिनी, योग साधना से उपलब्ध होती है।

प्रत्येककर्मसाफल्यं यत्प्रबोधे प्रजायते ।
अतस्तस्याः प्रबोधाय शक्तेर्यत्नवान भवेत् ॥

—महायोग विज्ञान

प्रत्येक कर्म की सफलता उस कुण्डलिनी के जागने से प्राप्त होती हैं। अतएव उस महाशक्ति को जगाने के लिए प्रबल प्रयत्न करना चाहिए।

मूलाधारे कुण्डलिनी भुजंगाकार रूपिणी ।
जीवात्मा तिष्ठति तत्र प्रदीप कलिकाकृतिः ।
बहुभाग्यवशाद्यस्य कुण्डली जागृता भवेत् ॥

घरेण्ड संहिता ६।१६।१८

मूलाधार चक्र में सर्पिणी आकार की कुण्डलिनी शक्ति है जो दीपक की लौ जैसी दीप्तिमान है। वहीं जीवात्मा का निवास है।

हे चण्ड, जिसकी कुण्डलिनी शक्ति जागृत हो जाए उसे बड़ा भाग्यशाली मानना चाहिए।

सुप्ता नागोपमाह्येष स्फुरन्ती प्रभवा स्वया ।
अहिवत् संधि संस्थाना वाग्देवी बीज संज्ञका ।
ज्ञेया शक्तिरियं विष्णोर्निभया स्वर्ण भास्करा ॥

—शिव संहिता

यह कुण्डलिनी शक्ति सुप्त सर्पिणी के समान है। वही स्फुरणा, गति, ज्योति एवं वाक् है। यह विष्णु शक्ति है। स्वर्णिम सूर्य के समान दीप्तिवान है।

सा यथा योज्यते यत्र तेन् निर्यात्यलं तथा ॥

संवित्तिः सेव यात्यङ्ग रसाद्यन्तं यथाक्रमम् ।
रसेनापूर्णतामेति तंत्रीभार इवाम्बुना ॥
रसापूर्णा यमाकारं भावयत्याशु तत्तथा ।
धत्ते चित्रकृतो बुद्धौ रेखा राम यथा कृतिम् ॥

—योग वशिष्ठ

यह कुण्डलिनी शक्ति रस भावना से ओत प्रोत है। उसके जागृत होने पर मनुष्य रस भावनाओं से ऐसे भर जाता है जैसे पानी भरनेसे चमड़े का चरस। यह रसिकता अनेक कलाओं के रूप में विकसित होते हुए जीवन को रससिक्त बना देती है।

इच्छा-ज्ञान-क्रियात्मासौ तेजोरूपा गुणात्मिका ।
क्रमेणानेन सृजति कुण्डली वर्णमालिकाम् ॥
गुणिता सर्वगात्रेषु कुण्डली पर देवता ।
विश्वात्मना प्रबुद्धा सा सूते मंत्रमयं जगत् ॥
एकधा गुणिता शक्तिः सर्व विश्वप्रवर्तिनी ।

—महायोग विज्ञान

तेजस्वरूप कुण्डलिनी जागृत होने पर इच्छा शक्ति, ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति को प्रखर बनाती है। सम्पूर्ण शरीर पर उसका प्रभाव दीखने लगता है। प्रसुप्त मन्त्रमय जगत जागृत हो उठता है। विश्वात्म ज्ञान जागृत होता है। विश्व का प्रवर्तन करने वाली कुण्डलिनी साधक को अनेक गुण शक्ति सम्पन्न बना देती है।

कुण्डलिनी जागरण के प्रतिफल से परिचित होने पर साधक उसके लिए साधना प्रयास आरम्भ करता है और उस परम पुरुषार्थ का समुचित लाभ प्राप्त करता है कहा गया है कि—

शक्ति कुण्डलिनीति विश्व जनन व्यापार बद्धोद्यमा
ज्ञात्वे यं न तुनर्वशान्ति जननागर्मकत्वं नराः ।

—शक्ति तंत्र

कुण्डलिनी महा शक्ति के प्रयत्न से ही यह सारा संसार व्यापार चल रहा है जो इस तथ्य को जान लेता है। वह शोक संतप्त भरे बंधनों से बँधा नहीं रहता।

योग के आधार पर आध्यात्मिक और तन्त्र के आधार पर भौतिक उन्नति का पथ प्रशस्त होता है।

कुण्डलिनी जागरण में उभय पक्षीय संभावनाएँ सन्निहित हैं। यह दोनों ही प्रयोजन उससे सिद्ध होते हैं। गाड़ी के दो पहिये—पक्षी के दो पंख, मनुष्य के दो हाथ मिलकर जिस तरह उनकी क्षमता को मूर्तिमान बनाते हैं; उसी प्रकार कुण्डलिनी जागरण की प्रतिक्रिया जीवन के दोनों पक्षों को समुन्नत बनाती है ! हठ योग प्रदीपिका में इसी तथ्य को इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है।

सशैलवन धात्रीणां यथाधीराऽहिनायकः।
सर्वेषां योगतन्त्राणां तथा धारोहि कुण्डली॥
सप्ता गुरुप्रसादेन यथा जागर्ति कुण्डली।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रंथयोऽपि च॥

—हठ योग प्रदीपिका

जिस प्रकार सम्पूर्ण वनों सहित जितनी भूमि है, उसका आधार शेष नाग है उसी प्रकार समस्त योग साधनाओं का आधार भी कुण्डली ही है, जब गुरु की कृपा से सोयी हुई कुण्डली जागती है, तब सम्पूर्ण पद्म (षट् चक्र) और ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं।

योगिनां हृदयाम्बुजे नृत्यन्ती नृत्यमज्जसा।
आधारे सर्व भूतानां स्फुरन्ति विद्युताकृति॥

अर्थात्—'योगियों के हृदय देश में वह नृत्य करती रहती है। यही सर्वदा प्रस्फुटित होने वाली विद्युत रूप महाशक्ति सब प्राणियों का आधार है।

सुप्ता सर्वोपमा मौला पाति साधकमीश्वरी॥
चैतन्या कुण्डलीशक्तिर्वायवी बलतेजसा।
चैतन्या सिद्धिहेतुस्था ज्ञानमात्रं ददाति सा॥
ज्ञानमत्रेण मोक्षः स्याद्वायवी ज्ञानमाश्रयेत्।

—महायोग सूत्र

अनन्त शक्तियों की भण्डार सुप्त सर्पिणी कुण्डलिनी अपने साधक का पालन और रक्षण करती है सो मुक्ति के आकांक्षी उसी की साधना करते हैं। प्राण वायु के द्वारा जागृत हुई यह कुण्डलिनी साधकके लिए सिद्धियों का आधार बनती है और उसे परम ज्ञान प्रदान करती है।

वेदाधीनं महायोगं योगाधीनो च कुण्डली।
कुण्डल्यधीनं चित्तंतुचित्ताधीनं चराचरम्॥
मनसः सिद्धि मात्रेण शक्तिसिद्धिर्भवेद् ध्रुवम्।
यदि शक्तिवशीभूता त्रैलोक्यं स्यात्तदा वशे॥

वेद के आधीन योग है। योग के आधीन कुण्डलिनी। कुण्डलिनी के आधीन चित्त है और चित्त के आधीन चराचर जगत।

मन की सिद्धि होने से शक्ति की सिद्धि हो जाती है और जिसने शक्ति को वश में कर लिया तीनों लोक उसके वश में होते हैं। —महायोग विज्ञान

उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात्।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत्॥
येन मार्गेण गंतव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम्।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी॥
कंदोर्ध्वं कुण्डली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम्।
बंधनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित्॥

—हठ योग प्रदीपिका ३।१०५ से १०७

अर्थात् जिस प्रकार कुंजी से किवाड़ खोले जाते हैं, वैसे ही योगी कुण्डलिनी द्वारा मोक्ष द्वार को खोलते हैं।

निरामय ब्रह्म स्थान को जाने वाले मार्ग को अपने मुख से ढाँके कुण्डलिनी परमेश्वरी सोती रहती है। कन्द के ऊर्ध्व में सोयी पड़ी यह कुण्डलिनी ही (जागने पर) योगियों के मोक्ष का साधन बनती है और (सोती रहने पर) मूढ़ों के बन्धन का कारण बनी रहती है। इस रहस्य को जानने वाला ही योगी होता है।

नमस्ते देवदेवेशि योगीश प्राणवल्लभे।
सिद्धिदे वरदे मातः स्वयम्भूलिंगवेष्टिते॥
प्रसुप्तभुजगाकारे सर्वदा कारणप्रिये।
कामकलान्विते देवि ! मनोऽभीष्टं कुरुष्व च॥
असारे घोरसंसारे भवरोगान्महेश्वरि।
सर्वदा रक्ष मां देवि ! जन्मसंसाररूपकात्॥
इति कुण्डलिनीस्तोत्रं ध्यात्वा यः प्रपठेत्सुधीः।

—योग सार

योगियों की प्राण वल्लभा सिद्धि दायनी, वरदायनी, स्वयं भू लिंग के साथ लिपटी हुई, सोई सर्पिणी के रूप वाली, काम कलान्वित, अभीष्ट फल दायक हे। हे देव देवेशि आपको नमस्कार। इस सार रहित घोर कष्ट दायक भव रोगों से घिरे, जन्म मरण रूपी संसार में हे देवि,मेरी रक्षा कीजिए। इन भावनाओं के साथ प्रज्ञावान साधक कुण्डलिनी महा शक्ति का ध्यान एवं स्तवन करें।

आत्मशोधन और प्रायश्चित प्रक्रिया

आत्मिक प्रगति में सबसे बड़ी बाधा कुसंस्कारों की है। इन्हीं की प्रेरणा से मनुष्य कुकर्म करते हैं। यह विश्व कर्म और कर्म फल के अकाट्य सिद्धान्त की धुरी पर परिभ्रमण कर रहा है। प्राणी कर्म करते और उसका फल भोगते हैं। सत्कर्म सुख-शान्ति लाते हैं और दुष्कर्मों का प्रतिफल शोक सन्तापों के रूप में सामने आता है। कर्मों को फलित होने में थोड़ा बहुत समय लग जाता है, इसी से भ्रमित होकर लोग यह सोचने लगते हैं कि अपनी चतुरता के सहारे शासन, समाज और भगवान को चकमा दे सकने में वे सफल हो गये।

कर्म फल पर अविश्वास करना ही विश्व व्यवस्था पर, ईश्वर पर अविश्वास करना है। इसी को नास्तिकता कहते हैं। तत्काल कर्म फल नहीं मिलते, इसी से लोग पाप कर्मों को करने में निर्भय बनते और सत्कर्मों में उपेक्षा उदासीनता बरतते हैं। यही है वह प्रमुख अवरोध जिस चट्टान से टकरा कर आत्मिक प्रगति चूर-चूर होती रहती है। उपासना की कमाई इन्हीं कुसंस्कारों और कुकर्मों के गर्त में गिर कर नष्ट हो जाती है।

साधना के मार्ग पर चलने का साहस करने वालों को चरित्र-निष्ठ और समाज-निष्ठ बनना पड़ता है। उर्वर भूमि में ही बीज उगते हैं। खाद पानी के सहारे ही पौधे बढ़ते और फलते फूलते हैं। साधना के बीज अंकुर निर्मल चरित्र और उदार व्यवहार का पोषण प्राप्त कर सकें तो ही वे समुन्नत और फलित होते हैं। निकृष्ट चिन्तन और घृणित कर्तृत्व बना रहे तो किसी भी पूजा पाठ से दैवी अनुग्रह प्राप्त नहीं हो सकता। उपासना कपड़े को रंगने के समान है। इससे पूर्व धुलाई होनी चाहिए। मैले कपड़े पर रंग कहाँ चढ़ता है। दुर्बुद्धि और दुष्प्रवृत्ति अपनाये रहने पर साधना फलवती नहीं होती। साधक को जितना श्रम उपासनात्मक उपचारों में करना पड़ता है उससे अधिक प्रयत्न आत्म परिष्कार के लिए—आत्मशोधन के लिए करना पड़ता है।

आत्मोत्कर्ष के लिए आत्मशोधन की अनिवार्य आवश्यकता रहती है। इसके लिए वर्तमान और भावी जीवन को चरित्र निष्ठ एवं समाज निष्ठ बनाने की—पवित्र और परिष्कृत रखने की सुव्यवस्थित योजना बनानी पड़ती है। लोक मंगल के लिए सत्प्रवृत्तियों का विकास विस्तार करने के लिए उदार अनुदान प्रस्तुत करने पड़ते हैं। साधु ब्राह्मण की परम्परा को जितना सम्भव हो उतना जीवन क्रम में उतारना पड़ता है। भौतिक महत्वाकांक्षाओं को जितना घटाया जा सके और अपनी क्षमता का जितना अधिक उपयोग परमार्थ प्रयोजनों में किया जा सके समझना चाहिए कि साधना के फलित होने का उतना ही सुनिश्चित आधार उपलब्ध हो गया। उपासना के विधि-विधान भले ही गायत्री की उच्चस्तरीय साधना जैसे ही क्यों न हों। भले ही पंच कोशों को ज्योतिर्मय बनाने की—कुण्डलिनी जागरण की—महान साधनाओं का सुअवसर मिल रहा हो—हर हालत में व्यावहारिक जीवन का परिष्कार-परिशोधन तो अनिवार्य रहेगा ही।

वर्तमान और भावी गतिविधियों का परिष्कृत निर्धारण साधना का अविच्छिन्न अंग माना जाना चाहिए और जितना महत्व विधि विधानों को, साधनात्मक कर्मकाण्डों को दिया जाता है उतनी ही जीवन क्रम के सर्वाङ्गीण परिष्कार की क्रमबद्ध योजना बनानी चाहिए। और निश्चयात्मक बुद्धि से उसी सन्मार्ग पर अनवरत गति से बढ़ना चाहिए।

यहाँ एक तथ्य और भी विचारणीय है कि अभ्यस्त कुसंस्कारों और इस जीवन में किये गये दुष्कर्मों का परिशोधन भी किया जाय। जो अवांछनीय बन पड़ा हो उसके निराकरण के लिए उसका बदला चुकाया जाना आवश्यक है। इसे धर्मशास्त्रों में प्रायश्चित्त प्रक्रिया कहा गया है। गायत्री की उच्चस्तरीय साधना आरम्भ करते हुए—पंच कोशों के परिष्कार एवं कुण्डलिनी जागरण की महान साहसिकता का परिचय देते हुए—सर्व प्रथम पाप परिमार्जन

की प्रायश्चित्त प्रक्रिया सम्पन्न की जानी चाहिए।

साधक को अब तक के जीवन में बन पड़े पाप कर्मों की सूची तैयार करनी चाहिए। उनका प्रायश्चित्त क्या हो सकता है? इसके लिए किसी तत्वदर्शी मनीषि से परामर्श करना चाहिए। ब्रह्म वर्चस साधना के शिक्षार्थियों को इस संदर्भ में हमारा परामर्श, मार्ग दर्शन प्राप्त हो सकता है। प्रायश्चित्त का प्रथम चरण जी खोल कर बिना लाग लपेट और दुराव के दुष्कर्मों के समय की मनः स्थिति एवं परिस्थिति का विवरण बताना चाहिए। यह विवरण थोड़ा बड़ा हो जाय तो हर्ज नहीं। संक्षेप में घटना तो बताई जा सकती है पर पाप के वजन का मूल्यांकन करने के लिए इसकी पृष्ठ भूमि समझाई जानी आवश्यक है। जी खेल कर अपने दुष्कर्मों को किसी ऐसे व्यक्ति के सम्मुख कहा जा सकता है, जिससे उसके प्रकटीकरण की—प्रतिष्ठा नष्ट किये जाने या किसी प्रकार की हानि पहुँचाये जाने की आशंका न हो। इस प्रकार के प्रकटीकरण से मन की गाँठें खुलती हैं। चित्त हलका होता है और मनः संस्थान में अड़े हुए अवरोध टूटते हैं।

प्रकटीकरण के साथ-साथ उन दुष्कर्मों के प्रति लज्जित और दुखी होने की वृत्ति का उभरना 'पश्चात्ताप' है। पश्चात्ताप में भविष्य में वैसा न करने का संकल्प भी रहता है। अन्यथा 'कह देने और फिर करने लगने' से तो बात ही क्या बनेगी। निश्चय किया जाना चाहिए कि जिस प्रकार के पाप बन पड़े हैं वैसे अथवा अन्य प्रकार के दुष्कर्मों का साहस पूर्वक परित्याग किया जा रहा है। भविष्य में पवित्र और परिष्कृत जीवन ही जीना है।

जो दुष्कर्म बन पड़े हैं, उनका बदला चुकाया जाना आवश्यक है। इसी को प्रायश्चित्त कहते हैं। कर्म का फल अनिवार्य रूप से भुगता जाना है। मात्र क्षमा प्रार्थना—गंगा स्नान, व्रत उपवास जैसे छुट-पुट कर्मकाण्डों को प्रायश्चित्त का प्रतीक कह सकते हैं—आधार नहीं। प्रतीकों से प्रेरणा मिलती है। भार तो उतारने और चुकाने से ही उतरता है। शासन या समाज की ओर से पापों के दंड दिये जाते हैं। यदि उन्हें स्वेच्छा पूर्वक स्वीकार किया जाय और दंड भुगतने का साहस दिखाया जाय तो उसे सचाई का प्रमाण और सच्चा प्रायश्चित्त कहा जायगा। गड्ढा खोद कर दूसरों को गिराने का उपक्रम किया गया तो उसे भरने का, समतल बनाने का नया परिश्रम करने से ही प्रायश्चित्त होगा। प्रत्येक पाप कर्म की एक श्रृंखला होती है। तालाब में उठने वाली लहरें पूरी सतह तक दौड़ती हैं। पापों की श्रृंखला पूरे समाज को परोक्ष रूप से प्रभावित करती है। प्रायश्चित्त का स्वरूप यही है कि जितने वजन की समाज को हानि पहुँचाई है उतने ही मूल्य का लाभ दिया जाय। पाप के समतुल्य पुण्य कर्म किये जाँय। इसमें जो समय, श्रम, धन, आदि लगा, इसमें जो हानि उठानी पड़ी, उसे पाप का दंड कहा जा सकता है। पुण्य को समतुल्य करने पर ही पाप कटते हैं।

ब्रह्म वर्चस् सत्र के साधकों को अपने दुष्कर्मों का विस्तार पूर्वक विवरण देना पड़ता है। यह जानकारी तीसरे तक प्रकट न होगी। यह निश्चित आश्वासन सूत्र संचालक देते हैं। अस्तु लाग लपेट की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। प्रायश्चित्तों में ऐसे विधान चुनने होते हैं जिससे अपराधी को क्षति उठाने का दंड तो मिल जाय, पर वह निरर्थक न जाय।

सभी क्षेत्रों में फैली मूढ़ताओं और विडम्बनाओं की तरह तीर्थ यात्रा का महात्म्य भी किन्हीं क्षेत्रों, प्रतिमाओं नदी, सरोवरों में पहुँचने देखने, नहाने आदि तक सीमित हो गया है। इससे तो मात्र पर्यटन विनोद का उद्देश्य पूरा होता है। वास्तविक तीर्थ यात्रा धर्म प्रचार के लिए पदयात्रा के रूप में होती है। यही उनका ऋषि प्रणीत सनातन स्वरूप था। जन मानस का परिष्कार धर्म प्रेरक लोकशिक्षण ही तीर्थ यात्रा का उद्देश्य है। मंडलियाँ बना कर नियत समय तक नियत क्षेत्र में योजनाबद्ध धर्म प्रचार के लिए निकला जाना यही युग निर्माण योजना द्वारा प्रतिष्ठापित तीर्थ यात्रा है।

ब्रह्म वर्चस् साधना के साधकों को प्रायः ऐसी ही तीर्थ यात्राओं के रूप में प्रायश्चित्त कराये जाते हैं। इसमें पाप निवारण और पुण्य सम्पादन के दोनों ही तत्व प्रचुर परिमाण में सन्निहित रहते हैं। इसे भी साधना में ही सम्मिलित रखा गया है। यह करने पर आत्मिक प्रगति द्रुत गति से होने लगती है।

—※—

शान्ति-कुञ्ज की प्रशिक्षण प्रक्रिया का प्रथम पाँच वर्षीय कार्य-क्रम सम्पन्न हो गया। उसमें प्रत्यावर्तन सत्र और जीवन साधना सत्र चले। उनमें प्रायः १० हजार शिक्षार्थी सम्मिलित और लाभान्वित हुए। अब द्वितीय पंच वर्षीय प्रशिक्षण योजना आरम्भ होती है। इसे गायत्री की उच्चस्तरीय साधना समझा जाना चाहिए।

आरम्भिक छात्रों की, कालेज स्नातकों की शिक्षा का उद्देश्य तो समान रहता है, पर उसकी व्यवहार पद्धति के स्वरूप में भारी अन्तर रहता है। गायत्री महामन्त्र की साधना का पूर्वार्ध आत्मिक है। उसमें वाचिक, मानसिक, उपांशु पद्धति के अनुष्ठान पुरश्चरण करने पड़ते हैं। उनकी पूर्णाहुति होमात्मक होती है। ब्रह्मभोज, कन्याभोज जैसे दान-पुण्य भी साथ में जुड़ते हैं। इन साधनाओं में उपवास ब्रह्मचर्य आदि की तितीक्षाएँ भी करनी पड़ती हैं। जो इतना सब नहीं कर सकते उनके लिए भी द्वार बन्द नहीं हैं। वे किसी भी स्थिति में—रास्ता चलते—चारपाई पर पड़े—बिना स्नान किये भी गायत्री का मानसिक जप कर सकते हैं। गायत्री के २४ अक्षरों में सन्निहित शिक्षाओं का अवगाहन करते हुए धर्म-शास्त्र और अध्यात्म विज्ञान के सारतत्व को हृदयंगम कर सकते हैं। यह सुलभ मार्ग सदा ही आरम्भिक साधकों के लिए खुला रहेगा।

स्नातक शिक्षा उनके लिए उपयुक्त है जिन्होंने प्रारम्भिक कक्षाओं में गति प्राप्त कर ली है। पहला प्रवेश कालेज में नहीं मिलता, प्रवेशिका की योग्यता प्राप्त कर लेने के उपरान्त ही उसमें स्थान मिलता है। गायत्री की उच्चस्तरीय साधना उन्हीं के लिए अभीष्ट है जो पहले से ही गायत्री उपासना करते रहे हैं अथवा अन्य प्रकार से अपनी आत्मिक स्थिति को ऊँची उठा चुके हैं। गायत्री विद्या का उच्चस्तरीय स्वरूप ब्रह्म वर्चस् है। उसमें ब्रह्म विद्या का योग पक्ष और ब्रह्म तेज का तपश्चर्या पक्ष दोनों ही समन्वित हैं। सविता का भर्ग तत्व ब्रह्म तेज है और धियः तत्व की प्रेरणा ब्रह्म विद्या कहलाती है। इन दोनों का समन्वय ब्रह्म वर्चस् है।

उच्चस्तरीय साधना के लिए उपयुक्त वातावरण एवं साधन जुटाने की आवश्यकता पड़ती है। ब्रह्म वर्चस् आरण्यक नाम से जो नया आश्रम इन दिनों बन रहा है उसमें इसी प्रकार की व्यवस्था की गई है। यह स्थान बिलकुल गङ्गा तट पर है। कुछ ही गज दूरी पर भगवती जाह्नवी की पुनीत धारा बहती है। उसी में स्नान, उसी का जल-पान। सातों ऋषियों ने जिस भूमि पर बैठकर तप किया था, गङ्गा ने उनके व्यक्तित्व और प्रयोजन को ध्यान में रखते हुए स्वयं ही मार्ग छोड़ दिया था और सात धाराओं में बहने लगी थीं। इस आख्यायिका का कई पुराणों में वर्णन है। अभी भी ऋषियों के वे तप स्थान छोटे-छोटे टापुओं के रूप में गङ्गा के मध्य विद्यमान हैं। उन पर वृक्ष भी हैं। प्रयत्न यह किया जायगा कि साधकों को उन द्वीपों में जाकर साधनाएँ करने का अवसर मिले। इसके लिए एक नाव का प्रबन्ध भी किया जायगा जो साधकों को उनमें पहुँचाने और लाने के काम आती रहे। सप्त ऋषियों से लेकर अन्यान्य अध्यात्म साधक चिरकाल से इसी दिव्य वातावरण का लाभ लेते और लक्ष्य में सफल होते रहे हैं। देवताओं, ऋषियों और

* ब्रह्म वर्चस् की प्रशिक्षण प्रक्रिया *

महामानवों ने इस भूमि से महत्वपूर्ण अनुदान पाये हैं। ब्रह्म वर्चस् आरण्य का निर्माण भी ऐसे ही श्रेष्ठतम स्थान पर किया गया है। संस्कारवान भूमि का प्रभाव साधना की प्रगति में दृष्टिगोचर होकर रहता है। जिस दिव्य संरक्षण, मार्ग-दर्शन, प्रकाश और अनुदान की इसमें व्यवस्था रहेगी उससे इस साधना स्थल का महत्व और भी बढ़ा है।

ब्रह्म वर्चस् आरण्यक का निर्माण कार्य इन दिनों चल रहा है। आर्थिक तङ्गी के कारण निर्माण की गति धीमी है। सुविधा होती तो निर्माण और भी जल्दी हो सकता था। जैसे जितने साधन हैं उस क्रम से काम हो रहा है। आशा की गई है कि जून के अन्त तक एक सीमित संख्या में साधकों के निवास का प्रबन्ध वहाँ हो जायगा और क्रमबद्ध 'ब्रह्म वर्चस्' प्रशिक्षण १ जुलाई ७७ से उसी भूमि से चल पड़ेगा। तब तक के सत्र शान्ति-कुञ्ज में ही चलते रहेंगे। इनमें साधना प्रशिक्षण और अनुदान की त्रिविध धाराएँ बहेंगी। हर साधक को निर्धारित साधना करनी पड़ेगी। मार्ग-दर्शन प्रशिक्षण की कक्षाएँ चलेंगी। साथ ही अतिरिक्त सहयोग के रूप में आध्यात्मिक अनुदानों का भी समन्वय रहेगा। इस प्रकार इस ब्रह्म वर्चस् प्रक्रिया को तीन धाराओं के संगम की त्रिवेणी ही कहना चाहिए। यह अपने ढङ्ग का अनोखा अवसर है।

एक समय में १०० साधकों की साधना चलती रह सके ऐसी व्यवस्था बनाई जा रही है। गत साधना स्वर्ण जयन्ती वर्ष के साधक एक लाख हैं। इसके अतिरिक्त भी अन्य अधिकारी सत्पात्र हैं जिन्हें इस साधना का लाभ उठाने का अवसर दिया जाना है। स्थान और संख्या का सन्तुलन मिलाते हुए यह व्यवस्था बनाई गई है कि व्यस्त व्यक्तियों के लिए दस-दस दिन के और थोड़ी अधिक सुविधा वालों के लिए एक-एक महीने के सत्र चलें। इसके लिए सन् ७७ के शेष ६ महीनों का कार्य-क्रम अभी घोषित किया जा रहा है। सन् ७८ के लिए स्थिति के अनुरूप कार्य-क्रम निर्धारित किया जायगा।

सन् ७७ में अप्रैल, मई, जून के लिए पूर्व घोषित कार्य-क्रम शान्ति-कुञ्ज में ही चलेंगे। अप्रैल में १ से १०, ११ से २०, २१ से ३० तक के दस-दस दिवसीय सत्र हैं। मई, जून में एक-एक महीने के वानप्रस्थ सत्र हैं। उन्हें भी ब्रह्म वर्चस् साधना युक्त कर दिया गया है। सभी शिक्षार्थियों को सचेत कर दिया गया है कि अपने साथ दर्शनार्थियों, पर्यटकों, सैलानियों, आशीर्वाद-इच्छुकों, बाल-बच्चों को लेकर न चलें। इस प्रकार के साधना महत्व से अपरिचित लोग यहाँ धर्मशाला की तरह आ ठहरते हैं और वे थोड़े से व्यक्ति ही यहाँ के अनुशासन एवं वातावरण का सर्वनाश कर देते हैं। पिछले दिनों हर सत्र में दो-चार व्यक्ति ऐसी गड़बड़ी उत्पन्न करते रहे हैं। अब की बार अत्यन्त कठोरतापूर्वक इस प्रकार की घुस-पैठ को रोक दिया गया है। स्पष्ट कर दिया गया है कि जो मात्र कठोर साधना की दृष्टि से आना चाहें वे ही पूर्व स्वीकृति प्राप्त करने का प्रयत्न करें। अन्य लोग अन्यत्र ठहरें और दोपहर बाद जैसा कि सामान्यतः मिलने-जुलने का समय निर्धारित हो, मिलकर चले जाँय। धर्मशाला और होटल की सुविधा पाने की दृष्टि से इन सत्रों में घुस-पैठ करने वालों को इस बार निश्चित रूप से रोक दिया जायगा। भले ही नाराजी या वापिस लौटाने का कटु प्रसङ्ग ही क्यों न आ जाय। वातावरण को विशुद्ध साधनात्मक बनाये रहने की दृष्टि से परिजनों की नाराजी की जोखिम उठाते हुए भी इस बार यह कठोर व्यवस्था बनादी गई है और भविष्य में भी वह बनी ही रहेगी।

जुलाई ७७ में दस-दस द्विवसीय सत्र चलेंगे। (१) १ से १० तक (२) ११ से २० तक (३) २१ से ३० तक। अगस्त और सितम्बर में एक-एक महीने के सत्र रहेंगे। अक्टूबर में फिर दस-दस दिन के सत्र रहेंगे। १ से १०, ११ से २०, २१ से ३०। नवम्बर और दिसम्बर फिर एक-एक महीने के सत्र हैं। वे पहली तारीख से लेकर तीस तक चला करेंगे। आगन्तुकों को सत्र आरंभ होने से एक दिन पूर्व सायंकाल तक शान्ति-कुञ्ज आ जाना चाहिए, ताकि रात्रि की गोष्ठी में सारे नियमोपनियम समझ सकें और दूसरे दिन प्रातः चार बजे से ही कार्यक्रम में सम्मिलित रह सकें। कई दिन पहले आ जाना अथवा साधना-क्रम चल पड़ने के बाद पहुँचना अनुपयुक्त है। इससे अनुशासन बिगड़ता है और साधना का महत्व घटता है। इन प्रतिबन्धों से परिजनों को थोड़ी असुविधा तो

रहेगी, पर साधना के उपयुक्त वातावरण भी और किसी प्रकार यहाँ बन नहीं सकेगा। व्यक्तिगत मैत्री के आधार पर अव्यवस्था फैलाने की छूट नहीं ही माँगी जानी चाहिए।

ब्रह्म वर्चस् साधना गायत्री पुरश्चरणों के साथ जुड़ी रहेगी। दस-दस दिन वालों को २४ हजार का एक पुरश्चरण करना होगा और एक-एक महीने वालों को २४-२४ हजार के तीन अनुष्ठान करने होंगे। सोहम् उपासना जप, ध्यान, खेचरी मुद्रा की चतुर्विधि उपासना की जो पद्धति गत वर्ष काम में लाई जाती रही है। वह तो यथावत् रहेगी ही। साथ ही त्राटक और प्राणायाम के दो प्रयोग अतिरिक्त रूप से सम्मिलित रहेंगे। पंचकोशों को प्रकाशवान् बनाने के लिए घृत दीप के माध्यम से त्राटक को और कुण्डलिनी जागरण के सन्दर्भ में अविलोम-विलोम सूर्य वेधन प्राणायाम की क्रिया कराई जायगी। एक घण्टे का विशेष ध्यान, विशेष निर्देशनों के साथ—साधक और शिक्षक साथ-साथ सम्पन्न करेंगे। अनुदान का आदान-प्रदान का माध्यम यह विशेष ध्यान होगा।

योगाभ्यास में नाड़ी शोधन प्रक्रिया प्रधान है। इसे आत्म-शोधन भी कहा जा सकता है। जीवन में अब तक हुए पाप कर्मों का विवरण बताना और तद्नुरूप प्रायश्चित्त का उपाय जानना ब्रह्म वर्चस् साधना का अविच्छिन्न अङ्ग है। धुलाई के बिना रँगाई कहाँ हो पाती है? साधना रँगाई है और प्रायश्चित्त प्रक्रिया धुलाई। यह सब व्यक्तिगत परामर्श के उपरान्त ही निर्धारित होगा। साधनाएँ भी सब की एक जैसी नहीं हो सकतीं। सभी मरीजों को एक दवा नहीं दी जा सकती उनकी स्थिति के अनुरूप ही साधना प्रक्रिया निर्धारित होती है। साधकों को शान्ति-कुन्ज बुलाने की आवश्यकता का एक कारण यह व्यक्तिगत पर्यवेक्षण भी है। वातावरण एवं संरक्षण की विशेषता वाली बात तो पहले ही कही जा चुकी है।

मन की स्थिरता—साधना का मूल आधार है। मन अन्न से बनता है। अस्तु ब्रह्म वर्चस् साधना काल में साधकों के आहार का विशेष निर्धारण रहेगा। वह उपवास स्तर का होगा। हमें भी जौ की रोटी और छाछ पर अपनी लम्बी उपासना अवधि पूरी करनी पड़ी है। ब्रह्म वर्चस् साधकों को भी इस प्रकार की तपश्चर्या के लिए तैयार होकर आना चाहिए। एक दिन दाल-चावल, शाक—दूसरे दिन दलिया, दाल-चावल। आँवला, शङ्खपुष्पी, ब्राह्मी, गोरखमुण्डी, वच, शतावरि की चटनी दोनों समय। यही सामान्य आहार रहेगा। प्रातःकाल पंचगव्य। उपरोक्त भोजन बनाने, पकाने का उत्तरदायित्व माता जी निबाहेंगी। ताकि आहार की सात्विकता का प्रभाव साधना काल में परिलक्षित होता रहे।

दिनचर्या प्रातः ४ बजे से आरम्भ होकर रात्रि के नौ बजे तक चलेगी। इसी बीच तीन घण्टे का मौन भी रहा करेगा। आश्रम से गङ्गा तट तक का ही आवागमन रहेगा। ऋषिकेश आदि देखने की—बाजार से खरीद फरोख्त की व्यवस्था साधना काल में नहीं बनेगी। इससे आगे या पीछे ही वह सब करना होगा। बाजार में कुछ भी चाटते पीते रहने की छूट किसी को भी न मिलेगी। इसलिए चटोरे, अनुशासन हीन व्यक्तियों को या तो नहीं ही आना चाहिए अन्यथा साधना काल में अपने ऊपर अंकुश रखे रहने की बात सोचनी चाहिए। तपश्चर्या का महत्व और गौरव जो समझ सके उसमें समुचित श्रद्धा श्रद्धा बनाये रह सके उन्हीं के लिए इस साधना की सार्थकता है। अव्यवस्था फैलाने में तो साधक, शिक्षक सब सभी निन्दित होते हैं।

जो लोग पिछले पाँच वर्षों में किसी सत्र में सम्मिलित हो चुके हैं। साधनारत रहे स्वर्ण जयन्ती वर्ष में सम्मिलित हुए हैं उन्हें ब्रह्म वर्चस् सत्रों में प्राथमिकता दी जायगी। यों प्रतिबन्ध किन्हीं भी सत्पात्रों पर नहीं है। हर हालत में—किस सत्र में आना है इसका आवेदन पत्र भेजते हुए पूर्व स्वीकृति अवश्य प्राप्त कर लेनी चाहिए। बिना स्वीकृति के कोई न आवे। आवेदन पत्र में (१) प्रवेशार्थी का पूरा नाम पता (२) आयु (३) जन्म जाति (४) शिक्षा (५) व्यवसाय (६) मिशन से परिचय एवं सम्बन्ध का विवरण (७) अब तक की साधनाओं का परिचय (८) शारीरिक, मानसिक दृष्टि से निरोग होने की घोषणा (९) साधना काल में अनुशासन पालन करने का आश्वासन इन सभी बातों का विस्तृत विवरण लिखकर भेजा जाना चाहिए।

साधना स्वर्ण-जयन्ती वर्ष और उसकी पूर्णाहुति

साधना का सही स्वरूप समझा जा सके और उसे सही ढङ्ग से सही व्यक्तियों द्वारा अपनाया जा सके तो उसके सत्परिणाम सुनिश्चित हैं। यह तथ्य साधना स्वर्ण जयन्ती वर्ष में सर्व साधारण को समझाने का प्रयत्न किया गया और उसमें समुचित सफलता भी मिली। वसन्त पर्व ७६ से वसन्त ७७ तक के एक वर्ष में प्रायः एक लाख साधकों का नियमित रूप से साधना-क्रम सङ्कल्पपूर्वक सपन्न हुआ। इसमें २४०० करोड़ सामूहिक गायत्री जप अनुष्ठान सम्पन्न हुआ।

साधना स्वर्ण जयन्ती वर्ष का पिछला वर्ष जपात्मक था। उसे पूर्वार्ध कहना चाहिए। पुरश्चरणों का उत्तरार्ध होमात्मक होता है। वर्तमान वर्ष में इस पक्ष को पूरा किया जा रहा है। हमारे २४ वर्ष के २४ गायत्री महापुरश्चरणों की पूर्णाहुति गायत्री तपोभूमि के सहस्र कुण्डी गायत्री महायज्ञ में सम्पन्न हुई थीं। उसकी आहुतियाँ उस महा-यज्ञ में सम्पन्न हुई थीं और शेष आधे देश के कोने-कोने में सम्पन्न हुए एक हजार यज्ञों में पूर्ण हुई थीं। तब २४ महापुरश्चरणों में प्रायः ६ करोड़ जप हुआ था। इस बार सामूहिक पुरश्चरण में २४०० करोड़ जप हुआ है। उसकी पूर्णाहुति के लिए भी आहुतियाँ आवश्यक हैं। यह आयो-जन एक स्थान पर नहीं होगा। जप जब विकेन्द्रित रूप में हुआ है तो उसकी आहुतियाँ भी उसी प्रकार होंगी। इस वर्ष गायत्री परिवार की समस्त शाखाओं, प्रतिभा-शाली व्यक्तियों द्वारा अपने-अपने स्थान पर पाँच कुण्डी, नौ कुण्डी छोटे गायत्री यज्ञ सम्पन्न होंगे। इनके साथ ज्ञान यज्ञ की आवश्यकता पूर्ण करने वाले युग-निर्माण सम्मेलन अनिवार्य रूप से जुड़े रहेंगे। इन आयोजनों द्वारा व्यक्ति, परिवार और समाज के परिष्कार की प्रेरणाएँ जन-मानस में उभारी जानी हैं। बौद्धिक, नैतिक और सामाजिक क्षेत्रों में प्रखरता उत्पन्न करने के लिए प्रबल प्रयत्न किये जाते हैं। मनुष्य का जीवन दर्शन उत्कृष्ट होने पर ही व्यक्ति और समाज की आये दिन उलझने वाली अगणित समस्याओं का समाधान हो सकता है। अध्यात्म क्षेत्रों की यही पृष्ठभूमि रही है। राजतन्त्र सामयिक विकृतियों के निराकरण एवं आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन जुटाते हैं। उनकी योजनाएँ सामयिक होती हैं। धर्म-तन्त्र स्थायी आधारों को हाथ में लेता है और स्थायित्व प्रदान करने वाले प्रयत्नों में जुटा रहता है। हमें विनम्र धर्म-सेवी के रूप में अपने उत्तरदायित्व निवाहने हैं। इसके लिए लोक-शिक्षण आवश्यक है। इस वर्ष जो १००० आयोजन होने हैं उन्हें छोटे गायत्री यज्ञों और बड़े युग-निर्माण आयोजनों का सम्मिलित स्वरूप ही समझना चाहिए। इससे सूक्ष्म वातावरण में दिव्य चेतना भरने और जन-मानस में सद्-भावना भरने के उभय-पक्षीय प्रयोजन पूर्ण होंगे। जहाँ जिसके लिए जिस प्रकार संभव हो रहा है अपने-अपने यहाँ इस साधना वर्ष की पूर्णाहुति उत्तरार्ध की तैयारी कर रहे हैं। यह हर्ष और सन्तोष की बात है। इन प्रयत्नों का इन पंक्तियों द्वारा अभिवादन और प्रोत्साहन किया जा रहा है। इस दिशा में प्रस्तुत किये गये अनुदान बीज के रूप में गलेंगे तो सही पर उनके प्रतिफल सुविकसित अक्षय वट के रूप में पल्लवित होंगे यह भी निश्चित है। इन आयोजनों की तिथियाँ निर्धारित करने एवं प्रचारक भेजने के सम्बन्ध में गायत्री तपोभूमि मथुरा से ही सम्पर्क स्थापित करें।

अपने जीवन का प्रायः समूचा भाग गायत्री मन्त्र के निखार एवं प्रसार में लग गया है जो बचा-खुचा है वह भी इसी के लिए समर्पित रहेगा। साधना स्वर्ण जयन्ती वर्ष में भूतकाल की समीक्षा और भविष्य की रूप-रेखा निर्धारित करने का अवसर मिला है। इससे हमारा उत्साह और प्रयास बढ़ना ही चाहिए। परिजनों का जो सहचरत्व सहगमन पिछले दिनों मिलता रहा है, भूतकाल की अपेक्षा भविष्य में उसकी अभिवृद्धि ही होगी ऐसी आशा और अपेक्षा की गई है।

—☙—

नई पीढ़ी को सुसंस्कृत बनाने की एक वर्षीय शिक्षा

नई पीढ़ी को सुयोग्य और सुसंस्कृत बनाने के उद्देश्य से छोटी प्रयोगशाला के रूप में कई वर्ष से एक प्रशिक्षण प्रक्रिया चलाई जा रही है। इस प्रयोग की सफलता पर हम सबको गर्व और सन्तोष ।

गायत्री तपोभूमि में युग निर्माण विद्यालय लगभग दस वर्ष से चल रहा है। उसमें किशोरों एवं युवकों को आजीविका उपार्जन की क्षमता के साथ साथ प्रतिभाशाली, व्यवहार कुशल एवं सुसंस्कृत व्यक्तित्व बनाने की शिक्षा दी जाती है। स्थान की कमी के कारण प्रायः पचास छात्रों को ही प्रवेश मिल पाता है। पर उतने ही जैसे कुछ बन कर निकलते हैं उसमें उन्हें स्वयं को, अपने अभिभावकों को, तथा शिक्षा व्यवस्था करने वालों को असाधारण सन्तोष रहता है। शिक्षण में लगा एक वर्ष हर दृष्टि से सार्थक हुआ माना जाता है।

युग निर्माण विद्यालय का एक वर्षीय पाठ्यक्रम १ जुलाई से आरम्भ होता है। उसमें १८ वर्ष से अधिक आयु के छात्र लिये जाते हैं शिक्षा मैट्रिक के समकक्ष होनी चाहिए। शारीरिक और मानसिक दृष्टि से निरोग, अनुशासन प्रिय एवं चरित्र निष्ठ छात्र ही लिये जाते हैं। शिक्षण में स्वास्थ्य रक्षा, मानसिक सन्तुलन, लोक व्यवहार, पारिवारिक उत्तरदायित्व, अर्थ व्यवस्था, सामाजिक कर्तव्य, धर्म, दर्शन और अध्यात्म जैसे जीवनोपयोगी अनेकों आवश्यक विषय पढ़ाये ही नहीं हृदयंगम भी कराये जाते हैं। कहना न होगा कि यह शिक्षा जीवन के सर्वतोमुखी विकास की दृष्टि से अतीव उपयोगी सिद्ध हुई है। अब तक निकले हुए छात्रों में से अधिकांश ने अपने क्षेत्र में असाधारण कर्मठता और सज्जनता का परिचय दिया है।

इस प्रशिक्षण में स्वतन्त्र आजीविका उपार्जन के कितने ही महत्वपूर्ण उद्योगों की शिक्षा सम्मिलित रखी गई है (१) रेडियो, ट्रांजिस्टर नये बनाना तथा पुरानों की मरम्मत करना (२) बिजली का फिटिंग, मोटरों की वाइंडिंग तथा पंखा, हीटर आदि यन्त्रों की मरम्मत (३) प्रेस उद्योग की कम्पोज, छपाई, बाइंडिंग, व्यवस्था संचालन, सम्बन्धित कानून आदि की समान जानकारी (४) लघु उद्योग–सर्फ, धूपबत्ती- मोमबत्ती, मंजन, रबड़ स्टाम्प तथा प्लाईवुड की तस्वीरें।

१ जुलाई से आरम्भ होने वाले सत्र में जिन्हें प्रवेश पाना हो वे युग निर्माण विद्यालय मथुरा के पते पर अपने आवेदन पत्र यथा सम्भव जल्दी ही भेज दें। स्थान पूरे हो जाने से देर में आवेदन करने वालों को प्रायः हर वर्ष निराश ही रहना पड़ता है।

शान्ति कुंज हरिद्वार की कन्या शिक्षण सत्र व्यवस्था भी एक वर्ष की है। उसमें १६ से अधिक आयु की, मैट्रिक के समकक्ष शिक्षा प्राप्त, निरोग एवं अनुशासन प्रिय लड़कियों को ही प्रवेश मिलता है। गृह प्रबन्ध, पारिवारिक सद्भावना बनाये रहने का ऐसा पाठ्यक्रम इस वर्ष में पूरा कराया जाता है जिससे वे भावी जीवन में सुयोग्य गृहलक्ष्मी की भूमिका सम्पन्न कर सकें। संगीत में कई वाद्य यन्त्रों की प्रवीणता—भाषण कला की कुशलता यह दो पाठ्यक्रम ऐसे हैं जिनके आधार पर छात्रा नारी जागरण एवं अन्य क्षेत्रों में सुयोग्य समाज सेविका सिद्ध हो सकती हैं। गृह उद्योगों में (१) कपड़े बुनना (२) सिलाई, कढ़ाई (३) स्वेटर, मोजे, बनियान आदि मशीनों से बुनना (४) प्रेस उद्योग की समग्र शिक्षा (५) टूट फूट की मरम्मत (६) शाक वाटिका (७) डबल रोटी, बिस्कुट आदि बनाना (८) खिलौना उद्योग (९) साबुन, सुगन्धित तेल, शरबत, मोमबत्ती तरह-तरह की स्याहियां (१०) रबड़ की मुहर बनाना। इनके अतिरिक्त भी अन्य कई उद्योग छात्राओं को एक वर्ष में ही सिखा दिये जाते हैं।

कन्याओं का एक वर्षीय शिक्षण १ जुलाई से ही आरम्भ होता है। आवेदन पत्र जल्दी ही शान्तिकुंज हरिद्वार के पते पर भेजे जायँ। सीमित स्थान भर जाने पर प्रवेश सम्भव न होगा।

गायत्री विद्या के अमूल्य ग्रन्थरत्न

हजारों ग्रन्थों की खोज, अगणित गायत्री उपासकों के सहयोग एवं तीस वर्ष की व्यक्तिगत साधना के फलस्वरूप विनिर्मित इन ग्रन्थों की एक-एक पंक्ति अनुभव के आधार पर लिखी गई है। गायत्री साधना से समुचित लाभ उठाने के इच्छुकों के लिए यह साहित्य अनुभवी गुरु के समान पथ-प्रदर्शन करता है। इस विषय की सभी जिज्ञासाओं तथा शङ्काओं का इन पुस्तकों में समुचित समाधान मौजूद है।

१. गायत्री महाविज्ञान तीनों भाग मू० १८)

प्रथम भाग—गायत्री विद्या का वैज्ञानिक आधार, गुप्त शक्तियों का रहस्य, नित्य उपासना, अनुष्ठान विधि, गायत्री सम्बन्धी शङ्काओं का समाधान, अनेक कष्टों का निवारण एवं अनेक कामनाओं की पूर्ति के लिए लगाये जाने वाले बीज मन्त्रों का साधन-विधान, आत्म-साक्षात्कार एवं ऋद्धि सिद्धियों का मार्ग, स्त्रियों की विशेष उपासना विधियाँ आदि अनेक महत्वपूर्ण विषयों का सुबोध ढङ्ग से प्रतिपादन। मू० ६)

द्वितीय भाग—गायत्री द्वारा वाममार्गीय तान्त्रिक विधान के अनुसार मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण, मुद्रा आदि के अनेक विधानों का वर्णन तथा गायत्री गीता, गायत्री-स्मृति गायत्री-संहिता, गायत्री-उपनिषद् गायत्री-पारायण, गायत्री-हृदय, गायत्री-पञ्जर, सहस्रनाम आदि का संग्रह। मू० ६)

तृतीय भाग—गायत्री महामन्त्र द्वारा २४ प्रकार के योगाभ्यासों के साधना विषयक विधान। जप-योग, प्राण-योग, शब्द योग, नाद-योग, हठ-योग, कुण्डलिनी-योग षट-चक्र वेधन की साधनाएँ तथा अन्नमय-कोश, मनोमय-कोश प्राणमय-कोश को सिद्ध करने के रहस्य-मार्ग का दिग्दर्शन। मू० ६)

२. गायत्री यज्ञ विधान दोनों भाग मू० ६)

प्रथम भाग—गायत्री यज्ञ का विधान, लाभ एवं महत्व का तर्क प्रमाण, शास्त्रीय विधान के आधार पर बहुत ही खोजपूर्ण वर्णन। मू० ३)

द्वितीय भाग—(सामूहिक गायत्री हवन)--गायत्री हवन करने की शास्त्रोक्त विधि, प्रक्रिया जलयात्रा, मण्डप-प्रवेश वेदी-पूजन, कुशकण्डिका, अग्निस्थापन, आहुति मन्त्र, पूर्णाहुति, वसोधरा, घृतावघ्राण, भस्मधारण, अभिसिंचन आदि का पूरा विधि-विधान समझकर बड़े यज्ञों का आचार्यत्व किया जा सकता है। मू० ३)

३. गायत्री चित्रावली—विविध प्रयोजनों के लिए गायत्री माता के ध्यान करने योग्य आर्ट पेपर पर छपे २४ तरंगे चित्र तथा सरल भाषा में उनका महत्व प्रतिपादन। मू० ३)

४. गायत्री मन्त्रार्थ—अनेक ग्रन्थों में अनेक ऋषियों द्वारा गायत्री महामन्त्र के अनेकों प्रकार के किये हुए अर्थों का संग्रह। राक्षसराज रावण का किया हुआ अर्थ भी इसमें है। मू० ३)

५. गायत्री सम्बन्धी छोटा प्रचार साहित्य

१. छोटा गायत्री ट्रैक्ट साहित्य सैट—तिरंगे कवरों वाले ३२-३२ पृष्ठ के गायत्री ट्रैक्ट जिनमें गायत्री उपासना तथा उसकी वैज्ञानिकता पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला गया है। प्रचार की दृष्टि से इन ट्रैक्टों का महत्व असाधारण है। प्रत्येक ट्रैक्ट का मूल्य ५० पैसा—१५ पुस्तकों के सैट का मूल्य ७)५०। ट्रैक्टों के नाम इस प्रकार हैं—

१—गायत्री का स्वरूप और रहस्य २—गायत्री की गुप्त शक्ति ३—सर्वसुलभ गायत्री साधना ४—गायत्री शक्ति का स्रोत-सविता देवता ५—गायत्री और उसकी प्राण प्रक्रिया ६—गायत्री पञ्चमुखी और एकमुखी ७—गायत्री की पंचविधि दैनिक साधना ८—गायत्री की विशेष साधना ९—गायत्री मन्त्र की विलक्षण शक्ति १०—गायत्री की असंख्य शक्तियाँ ११—गायत्री की सिद्धियां १२—गायत्री शक्ति का नारी स्वरूप १३—स्त्रियों का गायत्री अधिकार १४—गायत्री और यज्ञोपवीत १५--गायत्री और यज्ञ का सम्बन्ध।

२. संक्षिप्त गायत्री हवन—सामूहिक गायत्री हवन तथा पारिवारिक उत्सवों के अवसर पर किये जाने वाले एक घण्टे में पूरे होने वाले संक्षिप्त गायत्री हवन का विधान। मू० ४० पैसे।

३. दैनिक गायत्री साधना—नित्य के जप, हवन का सामान्य विधान। मू० ४० पैसे।

४. गायत्री चालीसा मू० १० पैसे।

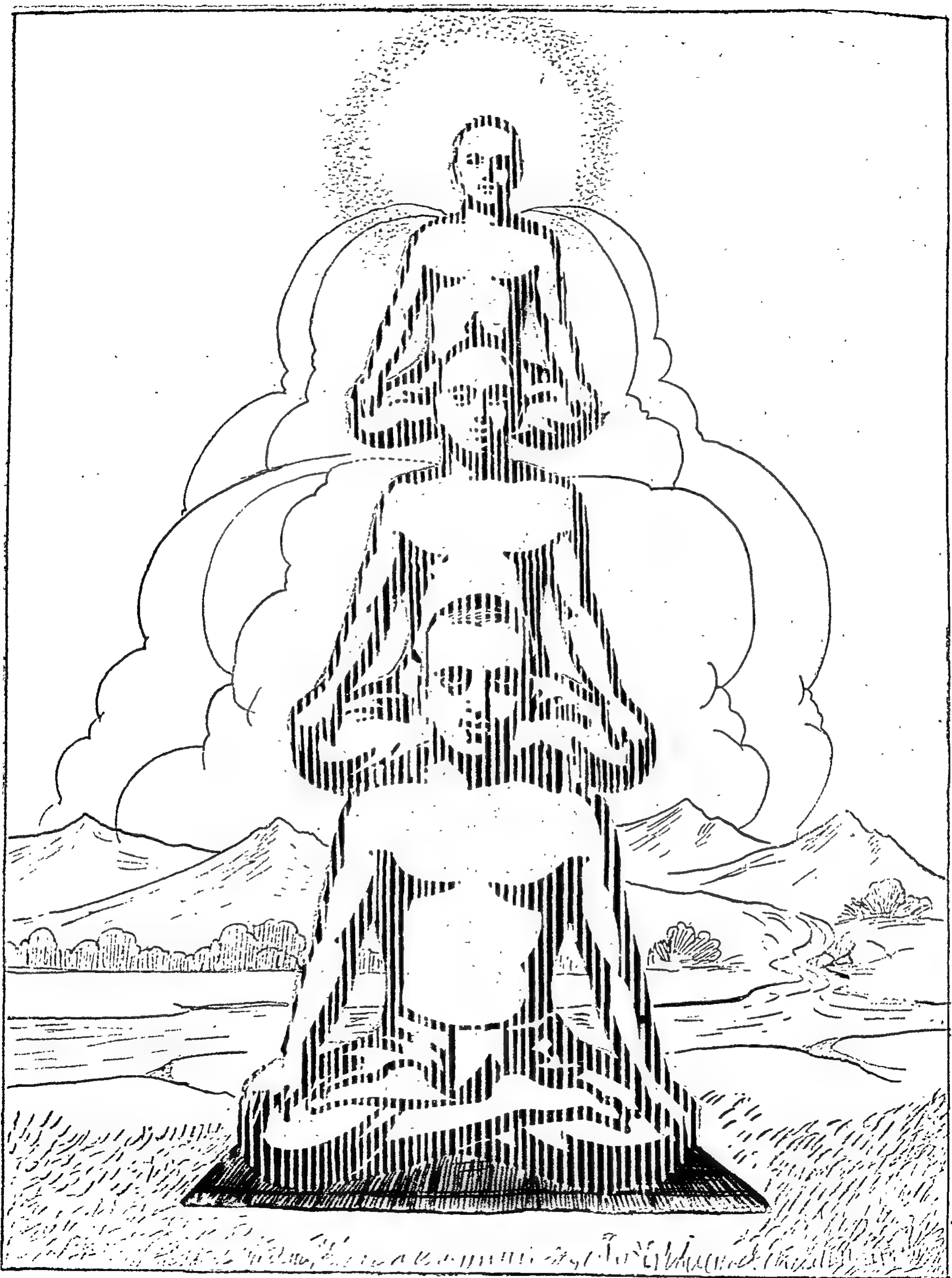
५. युग-निर्माण का सत्संकल्प—मू० ५ पैसे।

पुस्तकें मँगाने का पता—

पढ़ें और पायें

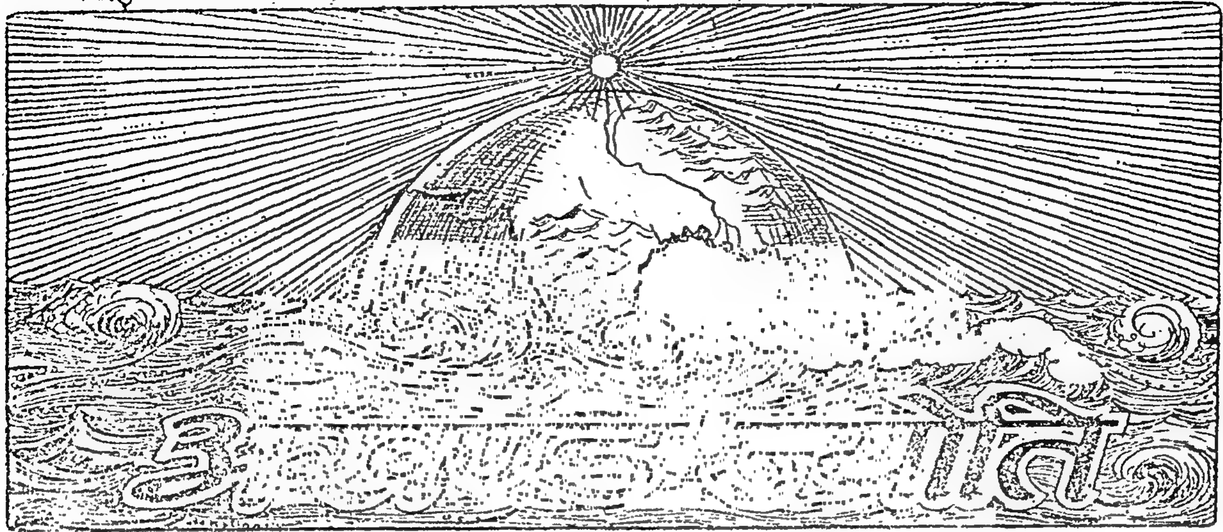
साधना पथ और अनन्त ऐश्वर्य १
आत्मिक प्रगति के लिए साधना की आवश्यकता.... २
गायत्री के पाँच मुख पाँच दिव्य कोश ५
अन्नमय कोश की जागृति और आत्म-शुद्धि ११
प्राणायाम कोश में सन्निहित प्रचंड जीवनी शक्ति.... १६
मनोमय कोश की साधना से सर्वार्थ सिद्धि २०
विज्ञानमय कोश सूक्ष्म सिद्धियों का केन्द्र २३
आनन्दमय कोश की तीन उपलब्धियाँ समाधि, स्वर्ग और मुक्ति २८
कुण्डलिनी और आध्यात्मिक काम विज्ञान ३४
मानवी सत्ता के दो ध्रुव प्रदेश मूलाधार, सहस्रार ४०
साधना के अवरोध दुष्कर्मों का निराकरण प्रायश्चित्त ४६
तीर्थयात्रा क्यों और कैसे ? ५२
समग्र प्रगति के लिए जिज्ञासा, समाधान और साधना विधान के दो चरण ५८
एकाग्रता अभ्यास के लिए त्राटक योग की साधना.... ६०
नादयोग और उसकी आर्ष परम्परा ६७
नादयोग से दिव्य क्षमताओं और दिव्य भावनाओं का विकास ७१
कुण्डलिनी का प्राणयोग-सूर्यवेधन प्राणायाम ७७
गायत्री विद्या के अमूल्य ग्रन्थरत्न ८१

पता—अखण्ड-ज्योति संस्थान, मथुरा ।



स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।



वर्ष ४०
अङ्क ५

मई १९७७

वार्षिक चन्दा १२)
दस वर्ष का चन्दा १००)

साधना पथ और अनन्त ऐश्वर्य

प्रकृति के रहस्यों को जितनी तत्परता से खोजा जा रहा है, उसी अनुपात से एक से एक बड़े रहस्यों और शक्ति स्रोतों का पता लगता चल रहा है। आदिम काल में मनुष्य भी अन्य पशुओं की तरह ही मात्र अपने शरीर पर निर्भर था। तत्परता पूर्ण शोधों ने अग्नि, विद्युत, अणु, ऊर्जा आदि अनेक शक्तियों को उसके वशवर्ती बना दिया। ज्ञान-विज्ञान की अभिनव उपलब्धियाँ ही उसे सशक्त और सुसम्पन्न बनाती चली जा रही हैं। यह सब तत्परता पूर्ण शोधों का ही परिणाम है। वैसा न कर पाने के कारण अन्य प्राणी असमर्थ एवं असहाय ही बने हुए हैं। यों प्रकृति का महान् भण्डार उनके सामने भी वैसे ही खुला पड़ा है, जैसा कि मनुष्य के सामने।

प्रकृति क्षेत्र में अधिक महत्वपूर्ण और रहस्य पूर्ण है—चेतना का समुद्र। वह सूक्ष्म जगत के रूप में इस समस्त ब्रह्माण्ड में हिलोरें ले रहा है। समुद्र को रत्नाकर, रत्न भण्डार कहा जाता है, पर वास्तविक सम्पदाएँ और शक्तियाँ चेतना के समुद्र में ही भरी पड़ी हैं। प्रकृति में तो उसी की कुछ तरगें लहराती दीखती हैं। बीज रूप से वह ब्रह्माण्डीय चेतना मनुष्य के कण-कण में भरी पड़ी है जो सम्पदाओं और विभूतियों का स्रोत, कारण और आधार है। हमारे भीतर और बाहर इतना कुछ है, जिसकी कल्पना करना तक अशक्य है। न तो ब्रह्माण्ड के विस्तार की कल्पना हो सकती है और न चेतना के अन्तरङ्ग बहिरङ्ग स्तरों की गरिमा का मूल्याङ्कन कर सकना सम्भव है। हम अनंत वैभव के भाण्डागार के बीचों-बीच ही तो निवास कर रहे हैं।

दरिद्रता, अतृप्ति और अशान्ति दूर करने के लिए जिस वैभव की आवश्यकता है, उसकी उपलब्धि के दो ही पुरुषार्थ करने पड़ेंगे एक तत्परतापूर्वक शोध और दूसरा विज्ञान शक्तियों का पराक्रम पूर्ण उपयोग। जो यह चरण उठा सका उसके लिए ऐश्वर्य और आनन्द की कोई कमी नहीं रह सकती। इसी दिशा में बढ़ चलने का राज-मार्ग साधना पथ कहलाता है।

आत्मिक प्रगति के लिये साधना की आवश्यकता

निम्न योनियों का गुजारा तो सामान्य शरीर-निर्वाह भर का होता है—उसमें सङ्कल्पित प्रगति तो कम ही दृष्टिगोचर होती है—पर खीज, असन्तोष जैसे कोई कारण नहीं होते। इस दृष्टि से विकसित समझा जाने वाला मनुष्य अविकसित कहे जाने वाले प्राणियों से भी अधिक घाटे में रहता है। अन्य प्राणी आत्म-ग्लानि एवं आत्म-प्रताड़ना जैसी पीड़ाएँ नहीं सहते, किन्तु मनुष्य इस जन्म में भी विक्षोभों और पीड़ाओं से संत्रस्त नारकीय जीवन जीता है और भविष्य भी अन्धकारमय बनाता है।

विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या मनुष्य को भगवान् ने ऐसी ही विडम्बना भरी स्थिति में उलझा कर भेजा है जिसमें वह एक ओर तो सृष्टि का मुकुट-मणि कहलाये और दूसरी ओर अविकसित कहे जाने वाले प्राणियों की तुलना में भी अधिक व्यथा-वेदनाएँ सहते हुए जीवन गुजारे?

खोजने पर एक ही उत्तर निखर कर सामने आता है कि ईश्वर के पास जो कुछ है वह सब कुछ उसने बीज रूप से मनुष्य को सौंप दिया है और यह स्वतन्त्रता दी है कि इन साधारण और असाधारण उपलब्धियों में से जो भी—जितनी भी चाहे उतनी प्रसन्नतापूर्वक बिना किसी रोक-टोक के प्राप्त कर सकता है। शर्त एक ही है कि अपनी पात्रता सिद्ध करे और उसी अनुपात से प्रगति पथ पर अग्रसर कराने वाले अनुदान प्राप्त करता चला जाय। सामान्य गृहस्थ में भी ऐसा ही होता है। साधन सम्पन्न पिता के मन में अपनी सम्पदा सन्तान को देने का निश्चय रहता है किन्तु उनमें विकसित होने और उत्तरदायित्व सम्भालने की क्षमता जैसे-जैसे बढ़ती है, उसी अनुपात से साधन एवं अधिकार हस्तांरित किये जाते लगते हैं। पागल, आवारा या ऐसी ही अन्य हीनताओं से ग्रसित सन्तान के प्रति समुचित ममता होते हुए भी ऐसा कुछ दिया सौंपा नहीं जाता जो महत्वपूर्ण कहा जा सके। इसमें पिता का पक्ष-पात या विद्वेष नहीं, विवेक ही काम कर रहा होता है। स्पष्ट है कि यदि पात्रता विकसित न होने पर भी निर्वाह से अधिक अनुदान दिये जायेंगे तो उनका दुरुपयोग होगा। इसमें प्राप्तकर्त्ता और दाता दोनों का ही अहित है। बारूद का थैला बच्चों के हाथ में सौंप दिया जाय तो बच्चे उससे फुलझड़ी छुड़ाने का लोभ संवरण कर नहीं सकेंगे और बेतरह जल मरेंगे। सौंपने वाला बदनाम होगा और अबोधों को न देने लायक वस्तु देकर उनके विनाश का निमित्त बनने पर पश्चात्ताप भी करेगा। बारूद तथा समीपवर्ती वस्तुएँ जल जाने की आर्थिक हानि तो स्पष्ट है ही।

भगवान ने मानवी सत्ता में अजस्र अनुदानों के भाण्डागार भर दिये हैं। साथ ही ऐसी स्वसंचालित व्यवस्था भी जोड़ दी है कि जो जितनी पात्रता का प्रमाण दे वह उतनी ही मात्रा में उतने ही स्तर के अनुदान प्राप्त कर सके। सरकारी नियुक्तियों और पदोन्नतियों में भी यही सिद्धान्त काम करता है। योग्यता का प्रमाण देने—कुशलता प्रकट करने और प्रतिस्पर्धा में सफल होने की कसौटियों पर कसे जाने के पश्चात् ही नियुक्तियाँ होती हैं। पदोन्नति में भी अनुभव काल और क्रिया कौशल को ध्यान में रखा जाता है। वेतन की न्यूनाधिकता—पद-सम्मान आदि का निर्धारण इसी पात्रता की कसौटी पर कसने के उपरान्त ही किया जाता है। कृपापूर्वक किसी को कुछ दिया जाने लगे तो इसमें पक्ष-पात का दोषारोपण किया जाने लगेगा। खुशामद पसन्द और रिश्वतखोर लोग जिस पर अनुपयुक्त कृपा बरसा देते हैं, उसके प्रति तथा अपने प्रति जन आक्रोश ही उभारते हैं। यहाँ न्याय और औचित्य की ही प्रतिष्ठा है। यदि भगवान भी अहैतुकी कृपा बरसाने लगें तो उतने उच्च पद पर बने रहने के अधिकार से उन्हें भी वंचित होना पड़ेगा। विश्व की स्वसंचालित औचित्य गरिमा उनके प्रभुत्व को भी चुनौती देने लगेगी। स्पष्ट है कि विश्व व्यवस्था बनाने वाले भगवान स्वयं ही अव्यवस्था फैलाने के दोषी नहीं बन सकते।

मनोयोग पर अध्ययन करने वाले छात्र ऊँची श्रेणी में उत्तीर्ण होते हैं, परिश्रमी किसान अच्छी फसल काटते हैं, कर्मठ शिल्पी यशस्वी बनते हैं। उत्साही व्यायाम परायण पहलवान कहलाते और कुश्ती पछाड़ते हैं। सूझ-बूझ और तत्परता के बल पर व्यापारिक सफलताएँ मिलती हैं, निष्ठावान साधकों को सिद्धियाँ उपलब्ध होती हैं। तन्मय कलाकार दर्शकों का मन मोहते हैं। साहसी योद्धा विजय श्री का वरण करते हैं। विभिन्न क्षेत्रों की सफलताएँ इस बात पर निर्भर रहती हैं कि प्रस्तुत प्रयोजनों के लिए कितनी तत्परता एवं तन्मयता बरती गई। कितने धैर्य, साहस और श्रम का नियोजन किया गया ?

भौतिक क्षेत्र के सभी पक्षों में योग्यता एवं दक्षता के मूल्य पर प्रगतिशील उपहार खरीदे जाते हैं। भिक्षुकों तक को दानी लोग इस आधार पर न्यूनाधिक देते हैं कि किस भिक्षुक को कितनी आवश्यकता है और किसे कितना देने पर उसका क्या उपयोग होगा ? सब भिक्षुकों को कोई अविवेकी दानी ही समान मात्रा में सहायता देगा। आमतौर से गिड़गिड़ाहट और आग्रह पर कम और याचक की स्थिति पर ही अधिक ध्यान दिया जाता है।

अध्यात्म क्षेत्र में भी यही सिद्धान्त काम करता है। भगवान् से या देवताओं से अनुनय-विनय के आधार पर वरदान प्राप्त होने की मान्यता भ्रमपूर्ण है। वे शक्तियाँ इतनी उदात्त हैं कि शब्द जंजाल से अथवा छुट-पुट उपहारों से उन्हें फुसलाना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं हो सकता। जो देव प्रकृति को इतनी घटिया मानते हैं वे परोक्ष रूप से उन्हें ऐसे अबोध बालकों की स्थिति में खड़ा कर देते हैं जिन्हें वस्तुस्थिति से—औचित्य से कोई वास्ता नहीं है। जो प्रार्थना मात्र से प्रभावित होकर मनोकामना पूर्ति का वरदान देने लगें वे पात्रता के सिद्धान्त को ही समाप्त करेंगे। देवता या भगवान् यदि मनुष्यों से अधिक बुद्धिमान और आदर्शवादी हैं, तो उनसे इस प्रकार के अँधेर की आशा नहीं ही करनी चाहिए।

आत्मिक क्षेत्र की ऐसी असंख्य उपलब्धियाँ हैं जिनके सहारे मानवी व्यक्तित्व असाधारण रूप से परिष्कृत होता है। उस उपलब्धि के सहारे उन्हें एक से एक बढ़ी-चढ़ी सांसारिक सफलताएँ मिलती हैं और गुण, कर्म, स्वभाव की विभूतियों से सुसम्पन्न होने के कारण उन्हें महामानवों के स्तर पर पहुँचने का सौभाग्य मिलता है। कहना न होगा कि पात्रता अपने अनुरूप सत्परिणाम सुनिश्चित विश्व-व्यवस्था के कारण सहज ही उपलब्ध करती चली जाती है।

पात्रता का विकास है—वह उपलब्धि जिसके लिए 'साधना' के आधार पर आत्म-परिष्कार के प्रबल प्रयत्न सम्पन्न किये जाते हैं। ईश्वर की प्रसन्नता इसी उपाय से सम्भव हो सकती है। उन्हें अभीष्ट वरदान देने के लिए एकमात्र इसी शर्त पर सहमत किया जा सकता है। साधना का स्वरूप—विधि-विधान—क्रिया कृत्य समझने से पहले हमें उसके उद्देश्य को समझना चाहिए। तथ्य से विपरीत स्तर की मान्यता बना लेने से नये-नये किस्म की भ्रान्तियाँ उत्पन्न होंगी और सफलता न मिलने पर तरह-तरह के संशयों और अविश्वासों के जंगलों में भटकना पड़ेगा।

साधना को बाजीगरों जैसी हाथ की सफाई वाली क्रिया करके तरह-तरह के अजूबे दिखाने, बनाने वाली कौतुक करतूत नहीं मानना चाहिए। आमतौर से लोग साधना के नाम पर प्रयुक्त होने वाले विधि-विधानों को ही सब कुछ समझते हैं और असफलता मिलने पर इन्हीं विधानों में कोई खोट रह जाने की बात सोचते हैं। यह तथ्य भुला दिया जाता है कि वाणी के उच्चारण, अङ्गों के संचालन एवं पूजा वस्तुओं के उपयोग भर से आध्यात्मिक क्षमताएँ विकसित होने तथा उनके सत्परिणाम सामने आने का लाभ नहीं मिल सकता है। क्रिया-कृत्यों का महत्व तो है, पर उनका उद्देश्य व्यक्तित्व के स्तर को उत्कृष्ट बनाने के लिए प्रेरणात्मक आधार खड़े करना है। यदि निकृष्ट चिन्तन और घृणित चरित्र की स्थिति में सुधार, परिवर्तन न हो तो फिर समझना चाहिए कि पूजा-पाठ के उपचार मात्र कौतुक कौतूहल ही बनकर रह गये। घिनौने व्यक्तित्व किसी दैवी शक्ति के प्रिय पात्र नहीं बन सकते। उनका कोई साधन विधान आत्म-शक्ति के अभिवर्धन में सहायक नहीं हो सकता। इसके बिना वे लाभ मिल ही नहीं सकते जो आध्यात्मिक उपलब्धियों के नाम से जाने जाते हैं। धूर्तता के आधार पर जादूगरों

जैसी विडम्वना खड़ी करने में पूजा-पाठ या देवी-देवता को भी कोई माध्यम वनाले उस आधार पर भोले लोगों को सरलतापूर्वक ठगलें यह वात दूसरी है।

व्यक्ति की अन्तरङ्ग सत्ता में ऐसे वीज तत्व मौजूद हैं जिन्हें विकसित करने पर प्रतिभाशाली वना जा सकता है। प्रयत्न और पुरुषार्थ के वल पर पिछड़ी परिस्थितियों में पड़े हुए व्यक्ति भी आगे वढ़े, ऊँचे चढ़े और उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँचे हैं। इन्हीं तत्वों को अध्यात्म प्रयोजनों के लिए भी प्रयुक्त किया जा सकता है। प्रतिभाशाली व्यक्तित्व जन-सहयोग और अभीष्ट साधनों को आकर्षित करते हैं। परिष्कृत अन्तःकरण का चुम्वकत्व निखिल ब्रह्माण्ड में संव्याप्त ब्रह्म चेतना के प्रवाह में से अभीष्ट धाराएँ अपनी ओर मोड़ सकता है। इस आन्तरिक आदान-प्रदान से साधक को आध्यात्मिक विभूतियों से धनी वनने का अवसर मिलता है। खिले फूल पर भौंरे, तितली, मधुमक्खी जैसे जीव-जन्तुओं से लेकर वाल-वृद्ध सभी का मन ललचाता है। अन्तःकरण को कषाय-कल्मषों से मुक्त कर लेने पर ही सात्विक सौन्दर्य उभरता है। उस पर दैवी शक्तियाँ सहयोग के लिए अनायास ही वरसने लगती हैं। भूमि में पड़े हुए वीज, खाद, पानी पाकर समयानुसार अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित होते चले जाते हैं। व्यक्ति के अन्तराल में छिपी ईश्वरीय क्षमताएँ भी जव जागृत और परिपक्व होती हैं तो लगता है सामान्य व्यक्ति असामान्य वन गया है। साधक के सिद्ध रूप में विकसित होने की प्रक्रिया भी यही है।

भूमि के मौलिक तत्व वीज सत्ता के साथ घुल-मिलकर पौधा वनते हैं। इसमें भूमि और वीज की ही भूमिका प्रधान है। जीव सत्ता अपने को परिष्कृत करके ब्रह्म सत्ता से आदान-प्रदान कर सकने की स्थिति में पहुँचादे सिद्ध यही है। इसी के फलस्वरूप साधारण को असाधारण बनने का अवसर मिलता है। किन्तु इसके लिए भी साधनों की आवश्यकता रहेगी ही। कृषक को वैल, हल, कुदाल, श्रम, खाद, पानी, रक्षण आदि के साधन जुटाने पड़ते हैं अन्यथा भूमि और वीज में उपयुक्त क्षमता रहते हुए भी पौधे का उत्पादन और विकास सम्भव न हो सकेगा। जीव और ब्रह्म के वीच आदान-प्रदान का पथ-प्रशस्त करने में साधनों की आवश्यकता पड़ती है। उन क्रिया-कृत्यों का महत्व कम नहीं किया जा सकता। अन्न से पेट भरता है यह सत्य है, पर सूखे अन्न को निगलना और पचाना भी सम्भव नहीं है। उसके लिए पाकशाला का पूरा सरंजाम इकट्ठा करना पड़ता है और पाक विद्या सीखनी पड़ती है। आत्मिक प्रगति के लिए कर्मकाण्डों की—साधना विधानों की भी अनिवार्य आवश्यकता रहेगी। युद्ध में आघात प्रतिघात-योद्धाओं के वीच होते हैं, पर उसमें अस्त्र-शस्त्र भी तो चाहिए। योग और तप-परक साधना विधानों की उपयोगिता इसी स्तर की है।

तथ्य समझ लेने से भ्रम जंजाल में भटकना नहीं पड़ता है। आत्मिक प्रगति की उपलब्धियाँ भौतिक सम्पदाओं की तुलना में हर दृष्टि से अत्यधिक हैं। इसके लिए एकमात्र उपाय कषाय-कल्मषों का परिशोधन एवं उत्कृष्ट सत्प्रवृत्तियों का अभिवर्धन ही है। जितनी जिसे इस दिशा में सफलता मिलेगी वह उतना ही आत्म-वल सम्पन्न होता चला जायगा और विभूतिवान् वनेगा। इसके लिए साधनात्मक उपचारों की जो आवश्यकता वताई गई है वह उचित भी है और उपयोगी भी।

—※—

सदेव सोऽग्रयेदमग्र आसीत्। तन्नित्यमुक्तमविक्रियं सत्य ज्ञानानन्द परिपूर्णं सनातनमेकमेवाद्वितीयं ब्रह्म॥ तस्मिन् मरुशुक्तिमस्थाणुस्फाटिकादौ जल पुरुष रेखाऽऽदिवल्लोहित शुक्ल कृष्णा गुणमयी गुण साम्या निर्वाच्या मूलप्रकृतिरासीत्। तत्प्रतिविम्वितं यत्तत् साक्षि चैतन्यमासीत्॥

हे पैंगल! पहले केवल एक ही तत्व था। वह नित्य मुक्त, अविकारी, ज्ञानरूप चैतन्य और आनन्द से परिपूर्ण था, वही ब्रह्म है। उससे लाल, श्वेत, कृष्ण वर्ण की तीन प्रकाश किरणों या गुण वाली प्रकृति उत्पन्न हुई। यह ऐसा था जैसे सीपी में मोती, स्थाणु में पुरुष और मणि में रेखायें होती हैं। तीन गुणों से वना हुआ साक्षी भी चैतन्य हुआ।



गायत्री के पाँच मुख पाँच दिव्य कोश

गायत्री महाशक्ति अपने ब्रह्म उद्गम हिमालय से निकल कर दो भागों में विभक्त होती है। इनमें से एक ज्ञान धारा है, दूसरी शक्ति धारा है। ज्ञान धारा को गंगा और शक्ति धारा को यमुना भी कहते हैं। इन्हीं दोनों को इड़ा, पिंगला भी कहा गया है।

ज्ञान के उपरान्त शक्ति के उपयोग का क्रम चलता है। मोटर चलानी हो तो पहले उसे चालक की विधि सीखनी पड़ती है इसके उपरान्त ही उसे चलाने की बात बनती है। आरम्भ में ही चलाने लग जाय और पीछे उसकी मशीन के बारे में समझा जाय तो दुर्घटना होने का भय रहेगा।

आरम्भिक साधना में गायत्री का उपासना पक्ष सिखाया जाता है। जप, अनुष्ठानों का विधान इसी प्रयोजन के लिए है। यह ज्ञान पक्ष है। इसे भूमि शोधन कहा जा सकता है। बीज बोने का अवसर तब आता है जब उसके उपयुक्त भूमि तैयार कर ली जाती है। घर में बिजली का फिटिंग ठीक हो जाने पर उस विभाग के अफसर उसकी जांच पड़ताल करते हैं और सही होने पर कनेक्शन जोड़ते हैं। गलत फिटिंग पर यदि बिजली की धारा जोड़ दी जाय तो उससे भयंकर हानि होने का डर रहेगा। ज्ञान उपासना सरल है इसलिए आरम्भिक शिक्षा उसी की दी जाती है। इंजीनियरिंग कालेज, मेडीकल कालेज आदि शिक्षा संस्थानों में प्रारम्भिक शिक्षण सिद्धान्तों का होता है। तदुपरान्त यन्त्रों पर काम करने का अवसर दिया जाता है। बिना शरीर विज्ञान सीखे कोई छात्र आरम्भ में ही आप्रेशन का चाकू उठा ले तो वह उस कार्य में अपयश ही अर्जित करेगा। आत्म विज्ञान में ज्ञान बीज का विकास उपासना द्वारा और शक्ति बीज का 'साधना' द्वारा सम्भव होता है। जप, ध्यान, पूजा उपचार के आधार पर भूमि-शोधन का कार्य सम्पन्न होता है। साधना योगाभ्यास और तपश्चर्या के सहारे विकसित होती है।

गायत्री विज्ञान का उच्चस्तरीय पक्ष कुण्डलिनी जागरण कहा गया है। इसमें योगाभ्यास प्रधान है। योग में एक ज्ञान पक्ष है। दूसरा विज्ञान पक्ष। ज्ञान पक्ष का केन्द्र ब्रह्म रन्ध्र है और शक्ति पक्ष का मूलाधार। साधारणतया दोनो स्थान की दृष्टि से ही नहीं स्थिति की दृष्टि से भी दूर हैं। क्रिया और ज्ञान का समन्वय प्रायः हो नहीं पाता। इसलिए प्रयत्नों में प्रखरता उत्पन्न न होने से सफलता भी स्वल्प मात्रा में मिलती है। दोनों का सुयोग होने से प्रचंड शक्ति धारा का प्रवाह उत्पन्न होता है और सफलता का पथ-प्रशस्त होता है।

गायत्री महाशक्ति का प्राण पक्ष—शक्ति पक्ष—कुण्डलिनी है। दोनों मूलतः एक ही हैं। विद्युत तत्व एक है। ऋण और धन उसके दो विभाग मात्र हैं। जीव सत्ता एक है शरीर और प्राण उसके दो घटक भर हैं। गायत्री और कुण्डलिनी को पृथक नहीं वरन् दो धाराओं का परस्पर पूरक स्वरूप समझा जाना चाहिए। कहा भी है—

कुण्डलिन्यां समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदवित्॥

—योगचूड़ामणि उपनिषद्

'कुण्डलिनी ही प्राणशक्तिमयी गायत्री का उत्पत्ति स्थान है। यह गायत्री ही प्राणविद्या रूपा महाविद्या है। जो व्यक्ति इस विद्या को जानते हैं, वे ही वेदवित् हैं।

अन्यान्य मन्त्रों की सिद्धि प्राप्त करने एवं देव सत्ताओं से लाभान्वित होने की अन्तः भूमि बनाने के लिए भी पहले गायत्री उपासना ही आवश्यक होती है। खेत में बोया उगाया कुछ भी जाय पर जोतने का कार्य तो

करना ही पड़ेगा। उपासनाओं की सार्थकता के लिए उर्वर मनोभूमि बनाने में गायत्री उपासना की तो असाधारण उपयोगिता है।

सा गायत्री समिद्धाऽन्यानि छन्दांसि समिन्धे।

—शतपथ १।३।४।६

गायत्री के जागृत होने पर अन्य मन्त्र जागृत होते हैं।

प्रारम्भ में हलके काम दिये जाते हैं और समर्थता बढ़ने पर बड़े एवं भारी काम सौंपे जाने लगते हैं। गायत्री की सरल जप प्रक्रिया-उपासनात्मक विधि-विधान के साथ जब ठीक प्रकार बन पड़ती है तो साधक को योगाभ्यास सहित उसे करने के लिए कहा जाता है। योग और तप का समन्वय हो जाने से गायत्री कुण्डलिनी बन जाती है। योग साधना सहित की गई गायत्री उपासना का विशेष महत्व है।

गायत्री संस्मरेद्योगात् स याति ब्रह्मणः परम्।
गायत्री जप निरतो मोक्षोपायञ्च विन्दति॥

वृद्ध पारासर ५।७८

योगाभ्यास सहित जो गायत्री उपासना करता है वह ब्रह्म पद को प्राप्त कर लेता है।

योग और तप के समन्वय से की गयी गायत्री साधना का—कुण्डलिनी साधना का—महत्व बताते हुए कहा गया है कि—

गायत्र्येव तपो योगः साधनं ध्यान मुच्यते।
सिद्धीनां सामना माता नात् किंचिद् ब्रह्मत्तरम्।
गायत्री साधना लोक न कस्यापि कदापि हि।
याति निष्फलता मेतन् ध्रुवं सत्यं भूतले।
योगिकानां समस्तानां साधनानां तु वरानने।

गायत्री मंजरी

शिवजी कहते हैं—हे पार्वती, गायत्री ही तप है, योग है, साधन है, ध्यान है। वही सिद्धियों की माता मानी गई है। इससे बढ़ कर श्रेष्ठ तत्व इस संसार में और कोई नहीं है। कभी किसी की गायत्री साधना निष्फल नहीं जाती। समस्त योग साधनाओं का आधार गायत्री ही है।

गायत्री की प्रखरता प्राण-शक्ति के समन्वय से प्रकट होती है। वस्तुतः गायत्री को प्राण-विद्या ही कहना चाहिए। प्रश्नोपनिषद् के यम नचिकेता संवाद में जिस पंचाग्नि प्राण-विद्या का उल्लेख किया गया है वह गायत्री महाशक्ति में सन्निहित पंच प्राणों के प्रखर बनाने का ही विज्ञान है। यही पंचमुख अथवा सूक्ष्म शरीर के पंच कोश हैं। गायत्री की प्राण-शक्ति को उभारने के लिए ही उच्चस्तरीय साधनाएँ की जाती हैं। योग चूड़ामणि उपनिषद् में इस तथ्य को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है।

कुण्डलिन्यां समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तांवेत्ति स वेदवित्॥

—योगचूडामणि उ० नि०

'कुण्डलिनी ही प्राणशक्तिमयी गायत्री का उत्पत्ति स्थान है। यह गायत्री ही प्राण विद्या रूपा महाविद्या है। जो व्यक्ति इस विद्या को जानते हैं, वे ही वेद वेत्ता हैं।

जीव सत्ता के साथ पाँच सशक्त देवता, उसके लक्ष्य प्रयोजनों को पूर्ण करने के लिए मिले हुए हैं। वे निद्रा ग्रस्त हो जाने के कारण मृततुल्य पड़े रहते हैं और किसी काम नहीं आते। फलतः जीव दीन दुर्बल बना रहता है। यदि इन सशक्त सहायकों को जगाया जा सके उसकी सामर्थ्य का उपयोग किया जा सके तो मनुष्य सामान्य न रह कर असामान्य बनेगा। दुर्दशाग्रस्त स्थिति से उबरने और अपने महान गौरव के अनुरूप जीवन-यापन का अवसर मिलेगा। शरीरगत पाँच तत्वों का उल्लेख पाँच देवताओं के रूप में इस प्रकार किया गया है—

"आकाशस्याधिपो विष्णुरग्नेश्चैव महेश्वरी।
वायोः सूर्यः क्षितेरीशो जीवनस्य गणाधिपः॥"

—कपिल तंत्र

आकाश के अधिपति हैं विष्णु। अग्नि की अधिपति महेश्वरी शक्ति हैं। वायु—अधिपति सूर्य हैं। पृथ्वी के स्वामी शिव हैं और जल के अधिपति गणपति गणेश जी हैं। इस प्रकार पंच देव शरीर के पंचतत्वों की ही अधिपति—सत्ताएँ हैं।

पाँच प्राणों को भी पाँच देव बताया गया है।

पंचदेव मयं जीव, पंचं प्राणमयं शिव।
कुण्डली शक्ति संयुक्त, शुभ्र विद्यु ल्लतोपमम्॥

—तंत्रार्णव

यह जीव पाँच देव सहित है। प्राणवान होने पर

शिव है। यह परिकर कुण्डलिनी शक्ति युक्त है। इनका आकार चमकती विजली के समान है।

कुण्डलिनी जागरण का परिचय पंच कोशों की जागृति के रूप में मिलता है।

कुण्डलिनी शक्तिराविर्भवति साधके।
तदा स पंच कोशे मत्तेजोऽनुभवति ध्रुवम्॥

—महायोग विज्ञान

जब कुण्डलिनी जाग्रत होती है तो साधक के पांचों कोश ज्योतिर्मय हो उठते हैं।

पाँच तत्वों से शरीर बना है। उनके सत्व गुण चेतना के पाँच उभारों के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। [१] मन, माइण्ड [२] बुद्धि, इन्टिलैक्ट [३] इच्छा, विल [४] चित्त, माइन्ड स्टफ [५] अहंकार, ईगो।

पाँच तत्वों (फाइव ऐलीमेंन्टस) के राजस तत्व से पाँच प्राण (वाइटल फोर्सेज) उत्पन्न होती हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ उन्हीं के आधार पर अपने विषयों का उत्तरदायित्व निवाहती हैं।

तत्वों के तमस भाग से काय कलेवर का निर्माण हुआ है। [१] रस [२] रक्त [३] मांस [४] अस्थि [५] मज्जा के रूप में उन्हें क्रिया निरत काया में देखा जा सकता है। मस्तिष्क, हृदय, आमाशय, फुफ्फुस और गुर्दे यह पाँचों विशिष्ट अवयव, तथा पाँच कर्मेन्द्रियों को उसी क्षेत्र का उत्पादन कह सकते हैं।

तैत्तरीय उपनिषद् में अन्नमय के भीतर प्राणमय का—प्राणमय के भीतर मनोमय का—मनोमय के भीतर विज्ञानमय का और विज्ञानमय के भीतर आनन्दमय कोश का वर्णन है। उनमें बहुत कुछ साम्य और बहुत कुछ अन्तर है। इसकी चर्चा इस प्रकार हुई है।

'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। तस्येदमेव शिरः। अयं दक्षिणः पक्षः। अयमुत्तरः पक्षः। अयमात्मा। इदं पुच्छं प्रतिष्ठा।'

—तै० उ० २।१।१

मनुष्य अन्न रसमय है। यही उसका शिर है। यही उसका दक्षिण पक्ष है। यही उसका उत्तर पक्ष है। यह आत्मा है। यह पुच्छ तंत्र मेरुदंड पर प्रतिष्ठित है।

'तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्राण एव शिरः। व्यानो दक्षिणः पक्षः। अपान उत्तरः पक्षः। आकाश आत्मा। पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा।'

—तै० उ० २।२।१

उपरोक्त अन्न रस आदि धातुओं से विनिर्मित अन्नमय कोश से प्रथक किन्तु भीतर रहने वाला आत्मा प्राणमय है। वह इतने में ही पूर्ण है। वह भी वैसी ही आकृति का है। वैसी ही उसकी गतिविधि है। उस प्राणमय कोश का प्राण ही शिर है। उसका व्यान दक्षिण पक्ष और अपान उत्तर पक्ष है। आकाश उसकी आत्मा है। पृथ्वी में उसकी पुच्छ प्रतिष्ठा है।

'तस्माद्वा एतस्मात् प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः। तस्य यजुरेव शिरः। ऋग्दक्षिणः पक्षः। सामोत्तरः पक्षः। आदेश आत्मा।'

—तै० उ० २।३।१

इस प्राणमय कोश से भिन्न मनोमय कोश है। प्राणमय कोश, मनोमय कोश से भरपूर है। वह उसी के समान है। जैसा प्राणमय कोश है वैसा ही मनोमय कोश है। यजु उसका शिर है। ऋग् दक्षिण पक्ष और साम उत्तर पक्ष है। आदेश उसका आत्मा है।

वेदों को यहाँ मनोमय कोश के साथ क्यों जोड़ा गया इसका समाधान शंकर भाष्य में संकल्प मंथन और भाव को यजु-ऋक् साम के रूप में किया है।

'तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः। तस्य श्रद्धैव शिरः। ऋतं दक्षिणः पक्षः। सत्यमुत्तरः पक्षः। योग आत्मा। महः पुच्छं प्रतिष्ठा।'

—तै० उ० २।४।१

मनोमय कोश से अलग विज्ञानमय कोश है। मनोमय कोश विज्ञानमय कोश से आच्छादित है। यह विज्ञानमय है पुरुष के समान ही है। वैसा ही है जैसा मनोमय कोश। श्रद्धा ही इसका शिर है। ऋतु दक्षिण पक्ष और

सत्य उत्तर पक्ष है। योग उसकी आत्मा है। महतत्व में उसकी पुच्छ प्रतिष्ठा है।

'तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा।'

—तै० उ० २।५।१

विज्ञानमय कोश से पृथक् किन्तु उसी के अभ्यन्तर आनन्दमय कोश है। विज्ञानमय कोश आनन्दमय कोश से परिपूर्ण है। यह भी पुरुष के ही समान है। वैसा ही है जैसा विज्ञानमय कोश। प्रिय ही उसका शिर है। मोद (भीतरी आनन्द) उसका दक्षिण पक्ष और प्रमोद (बाहरी आनन्द) उत्तर पक्ष है। आनन्द उसकी आत्मा है। ब्रह्म में उसकी पुच्छ प्रतिष्ठा है।

पंचदशी के तृतीय प्रकरण में ३, ५, ६, ७ और ८ वें श्लोकों में पाँच कोशों का विवरण इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है।

पितृभुक्तान्नजाद्वीर्याज्जातोऽन्नेनैव वर्धते।
देहः सोऽन्नमयो नात्मा प्राक् चोर्ध्वं तद्भावतः॥

पिता के खाये अन्न से बनने वाले वीर्य द्वारा उत्पन्न काया अन्नमय कोश है। जन्म मरण होते रहने के कारण यह काया आत्मा नहीं है। चेतन आत्मा उससे भिन्न है।

पूर्णो देहे बलं यच्छन्नक्षाणां यः प्रवर्तकः।
वायुः प्राणमयो नासावात्मा चैतन्य वर्जनात्॥

काया से भरा पूरा—उसे बल देने वाला—इन्द्रियों का प्रेरक प्राणमय कोश है। पर यह भी देह की तरह ही अचेतन होने के कारण आत्मा नहीं है—उससे भिन्न है।

पंच कोश क्या है? इनका परिचय देते हुए उपनिषदकार कहते हैं।

अन्नकार्याणां कोशानां समूहोऽन्नमयकोश इत्युच्यते। प्राणादिचतुर्दशवायुभेदा अन्नमयकोशे यदा वर्तन्ते तदा प्राणमयकोश इत्युच्यते। एतत्कोशद्वयसंसक्तं मनआदिचतुर्दशकरणैरात्मा शब्दादिविषयसङ्कल्पादिधर्मान् यदा करोति तदा मनोमय कोश इत्युच्यते। एतत्कोशत्रयसंसक्त- तद्गतविशेषज्ञो यदो भासते तदा विज्ञानमयकोश इत्युच्यते। एतत्कोशचतुष्टयसंसक्त स्वाकारणाज्ञाने वटकणिकायामिव वृक्षो यदा वर्तते तदा आनन्दमयकोश इत्युच्यते।

—सर्व सारोपनिषद्

अन्न के द्वारा उत्पन्न होने वाले कोशों के समूह इस प्रत्यक्ष शरीर को अन्नमय कोश कहते हैं। प्राण सहित चौदह तत्वों का समूह प्राणमय कोश कहलाता है। इन दोनों कोशों के भीतर इन्द्रियों तथा मन का समूह मनोमय कोश कहलाता है। बुद्धि और विवेक वाली भूमिका विज्ञानमय की है। इन सब कलेवरों के भीतर आत्मा का स्वाभाविक स्वरूप और स्थान आनन्दमय कोश कहलाता है।

इस पंच कोश विज्ञान का कई स्थानों पर कई प्रकार से अलंकारिक वर्णन है।

पञ्चस्रोतोऽम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां
पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम्।
पञ्चावर्तां पञ्चादुःखौघवेगां
पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः॥

—श्वेताश्वतर

हम पचास भेदों वाली एक ऐसी नदी को देख रहे हैं जो पाँच भँवरों वाली, पाँच घोर प्रवाह वाली, पाँच स्रोतों से प्राप्त जल वाली, पाँच स्थानों से उत्पन्न, पाँच प्राण-उर्मियों वाली, टेढ़े तिरछे प्रवाह वाली तथा पञ्च-ज्ञान रूप मन के मूल वाली है।

पंचारे चक्रे परिवर्तमाने
तस्मिन्ना तस्थुर्भुवनानि विश्वा।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः
सनादेव न शीर्यते सनाभिः॥

—प्र० उ० १, ११ तथा अथर्व० ११

पाँच अरे के उस चक्र में, घूमते रहने पर भी, सब भुवन प्रतिष्ठित हैं। उसकी अक्ष (धुरी) कभी तप्त नहीं होती और बड़े भारी बोझ से लदा अनादि काल से घूमते रहने पर भी वह नाभि सहित कभी टूटता ही नहीं।

तद्वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः।
तत्प्राणो अभिरक्षति शिरो अन्नमयो मनः॥

—अथर्व १०।२।२७

"वह भली प्रकार संस्कारित शिर देवों का खजाना है। प्राण, मन और अन्न उसकी रक्षा करते हैं।"

योग वशिष्ठ में ईश्वर को प्राप्त करने के लिए अन्तः गुहा में प्रवेश करने का निर्देश है। इस 'गुहा' तक पहुँचने के लिए पंचकोशों का अनावरण करना पड़ता है। इन द्वारों के खुलने पर उस दिव्य गुहा में पहुँच सकना सम्भव है जहाँ आत्म साक्षात्कार एवं ब्रह्म साक्षात्कार होता है।

गुहाहितं ब्रह्म यत्तत्पंचकोशविवेकतः।
बोद्धं शक्यं ततः कोशपंचकं प्रविविच्यते ॥

ब्रह्म पंचकोशों के भीतर 'गुहा' में विराजमान है। उस तक पहुँचने के लिए पंच कोशों का विधान विज्ञान जानना चाहिए।

देहादभ्यन्तरः प्राणः प्राणादभ्यन्तरं मनः।
ततः कर्ता ततो भोक्ता गुहा सेयं परम्परा ॥

—योग वशिष्ठ

देह के अन्तर्गत प्राण—प्राण के अन्तर्गत मन—मन के भीतर कर्ता—कर्ता के भीतर भोक्ता है। 'गुहा' तक पहुँचने की यही परम्परा है।

पांच प्राणों से प्रेरित होकर चित्त में पांच वृत्तियाँ उभरती हैं। इन पांचों के विशृंखलित होने पर जीवन में अस्तव्यस्तता बनी रहती है। यदि इन्हें सुसंतुलित किया जा सके तो पांच देवताओं की भूमिका निभाती है और व्यक्तित्व को हर दृष्टि से सुसम्पन्न कर देती है,

चित्त की वृत्तियां अनन्त हैं। किन्तु उन्हें पांच श्रेणियों में रखा जा सकता है। पातंजल योगदर्शन में कहा गया है—

'वृत्तयः पंचतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः।'

—यो० द० १।५

ये पांच वृत्तियाँ हैं—(१) प्रमाण (२) विपर्यय (३) विकल्प (४) निद्रा (५) स्मृति।

इन पांचों का सन्तुलन सम्वर्धन पांच कोश साधना से सम्भव होता है। इसी प्रकार पांच क्लेशों के समाधान में भी इस साधना का भारी महत्व है।

क्लेश पांच हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश। इन पांचों में प्रधान है—अविद्या। क्योंकि जब तक अविद्या है, तभी तक शेष चारों भी प्रभावी हैं। आत्मज्ञान द्वारा जब अविद्या नष्ट हो जाती है, तब समस्त क्लेश क्षीण हो जाते हैं।

क्लिष्ट वृत्तियाँ वे हैं, जो क्लेश से युक्त हों। क्लेश का अर्थ हुआ मोहपूर्ण प्रवृत्ति से उत्पन्न कष्ट। आत्म बोध के अभाव में, जब चंचल मनोभावों के अनुरूप व्यक्ति-सत्ता क्रियाशील बनी रहती है, तो उसे उस सक्रियता में वास्तविक आनन्द की अनुभूति नहीं हो पाती। अपितु क्षणिक हर्ष—विषाद की उत्तेजनाएँ ही उसे नचाती रहती हैं। यही क्लेश की स्थिति है।

बिन्दु योग की ध्यान साधना में पांच आकाशों और पांच ज्योतियों का वर्णन है। अन्तः क्षेत्र के विशाल ब्रह्माण्ड में पाँच आकाशों का अस्तित्व बताया गया है और उनमें सन्निहित दिव्य शक्तियों का दर्शन कराने वाली पांच दिव्य ज्योतियों का उल्लेख है। ध्यान योग में इन पांचों आकाशों के मध्य पांच ज्योतियों की धारणा की जाती है। यह भी पंच कोश जागरण की एक प्रक्रिया है। यह ज्योतियाँ आविर्भूत होने से दिव्य दृष्टि जागृत होने और उसके सहारे अनेक सिद्धियों के उपलब्ध होने की बात कही गई है।

आत्म स्थिति की पांच अवस्थाओं को [१] आकाश [२] पराकाश [३] महाकाश [४] सूर्याकाश [५] परमाकाश कहा जाता है। यही पंच-व्योम या पांच आकाश हैं।

आकाश—स्थिति वह है जब ध्यान के समय बाहर-भीतर नीलिमा-सी या अन्धकार-सा दिखता है। पराकाश स्थिति में भीतर लपटें जैसी याकि लाल रंग का प्रकाश कभी-कभी कौंध-सा जाता है। महाकाश स्थिति वह है जब यह प्रकाश बाहर-भीतर अधिकाधिक तेजपूर्ण दिखने लगे। सूर्याकाश स्थिति में बाहर सूर्य या सविता देवता का प्रकाश अपने अति समीप, चारों ओर परिव्याप्त दिखाई देता है और भीतर भी सविता-देवता का वही प्रकाश संव्याप्त दृष्टिगत होता है। अन्तर्बाह्य प्रकाशपूर्ण, ज्योतिर्मय हो गया दिखता है।

परमाकाश स्थिति में सर्वत्र सर्वव्यापी अनिर्वचनीय आनन्दमय ज्योति का निरतिशय विस्तार प्रत्यक्ष अनुभव

ं आता है। ब्रह्मसत्ता की एकमेव ज्योति सर्वत्र प्रसृत—रिव्याप्त दीखती है। सृष्टि के कण-कण में उसी एक रमज्योति के दर्शन होते हैं।

यह पांच ज्योतियाँ जो पांच आकाशों में चमकती हैं च प्राणों की—पांच कोशों के जागरण की भावात्मक नुभूतियाँ ही हैं। जागरण और प्रकाश पर्यायवाचक है। स्तु कोश जागरण का प्रकाश अनुभूति के रूप में उल्लखित क्या गया है।

ब्रह्मरन्ध्र सरसीरुहोदरे नित्य
लग्नमवदात् मद्भुतम्।
कुण्डली विवरकाण्ड मंडितं
द्वादशार्ण सरसीरुहं भजे॥

—पादुका पंचक

मस्तक के मध्य अधोमुख सहस्रार कमल है। उसके ध्य में अद्भुत पथ गामिनी शक्ति धारा है। उसे कुण्ड-नी कहते हैं।

या देवता भोगकरी सा मोक्षाय न कल्पते।
मोक्षदा नहि भोगाय त्रिपुरा तु द्वय प्रदा॥

—त्रिपुरा तंत्र

जो देवता भोग देते हैं, वे मोक्ष नहीं देते। जो मोक्ष हैं वे भोग नहीं देते। किन्तु यह त्रिपुरा-त्रिपदा—नों ही प्रदान करती है।

कहते हैं कि राजा विक्रमादित्य के पास पांच 'वीर'। वे इतने समर्थ थे कि आज्ञा पाते ही असम्भव को म्भव कर दिखाते थे। यह 'वीर' मनुष्य नहीं सूक्ष्म देह री देव स्तर के थे। अलादीन के चिराग से भी ऐसे ही न्न प्रकट होने और उसकी आज्ञानुसार काम करने की किम्वदन्ती है। छाया पुरुष सिद्ध होने पर वह अपना प्रेत चमत्कारी काम करता बताया जाता है। भूत-ों—यक्ष राक्षसों को सिद्ध कर लेने पर वे भी ऐसे काम र दिखाते हैं जो आज्ञा देने वाले के लिए स्वयं करना ठिन होता है। कहते हैं सुकरात के पास ऐसी ही एक ात्मा थी जो पग-पग पर उसका मार्ग दर्शन करती और ायता करती थी।

उपरोक्त कथनों में अतिशयोक्ति हो सकती है पर कोशों के जागृत होने पर साधक की विविध सहायताएं करना निश्चित है। उनकी सहायता से मनुष्य भौतिक और आत्मिक प्रगति का पथ-प्रशस्त कर सकता है। इन आन्तरिक मित्रों से बढ़ कर समस्त संसार में और कोई भी सुयोग्य सहयोगी हो नहीं सकता है। जीवन को सार्थकता के मार्ग पर चलाने वाले के लिए जागृत पांच कोश पांच तथा कथित 'वीरों' और 'जिन्नों' से अधिक सामर्थ्यशाली सिद्ध होते हैं।

जागृत अन्तःशक्ति जिसमें गायत्री और कुण्डलिनी का समन्वय है—कामधेनु कही गई है। कामधेनु से सर्वतोमुखी परितृप्ति दे सके। इस कामधेनु के उपयोग का आदेश जागृत प्राण सविता देव से मिलता है। पुण्यात्मा उसे दुह सकते हैं जो इस पय-पान को कर सकें वे परम तेजस्वी बनते हैं। इस तथ्य का अथर्ववेद में इस प्रकार उल्लेख है—

उपह्वये सुदुघां धेनुमेतां
सुहस्तो गोधु गुत दोहदेनाम्।
श्रेष्ठं सवं सविता साविषन्नोऽभीद्धो
धर्मस्तदुषु प्रवोचम्॥

—अथर्ववेद

इस सुन्दर दूध देने वाली गाय का मैं आह्वान करता हूँ। पवित्र अच्छे हाथों से युक्त दुहने वाला इसे दुहे। इसके लिए सविता अपनी श्रेष्ठ अनुज्ञा प्रदान करें। मेरा ताप बढ़ रहा है इसलिए बहुत प्रार्थना करता हूँ।

—❀—

> त्वमस्य पारे रजसो व्योमनः स्वभूत्योजाअवसे धृषन्मनः। चक्रषे भूमि प्रतिमान मोजसोऽपः स्वः परिभूरेष्या दिवम्॥
>
> —ऋग्वेद १।५२।१२,
>
> अर्थात् अन्तरिक्ष और आकाश से भी परे वह परमात्मा अनन्त धैर्य वाला है, पर वह अपने प्रभाव से बलशाली भी है। वह सबसे अधिक शक्तिशाली और सर्वव्यापक होकर भी निर्दोष की रक्षा और पापी को दण्ड भी देता है।

अन्नमय कोश की जागृति और परिशुद्धि

आत्मिक प्रगति का मुख्य माध्यम मन है। वही बंधन और मोक्ष का कारण है। मन की चंचलता एवं कुटिलता को नियन्त्रित करके ही अध्यात्म साधना के मार्ग से प्रगति होती और सफलता मिलती है। मन का स्तर खाये हुए अन्न के अनुरूप बनता है। अस्तु साधना पथ के पथिक को सर्व प्रथम अपने आहार पर ध्यान देना चाहिए। अन्न के स्तर में जितना सात्विकता का समावेश होगा, मन उसी अनुपात से निर्मल बनता जायगा। यह चिन्तन की पवित्रता ही वासना, तृष्णा, अहंता आदि दुष्प्रवृत्तियों का नियमन कर पाती है। अन्नमय कोश प्रथम और प्रत्यक्ष है। उसकी साधना के लिए अन्न की गरिमा को ध्यान में रखते हुए आगे बढ़ने का प्रयास करना चाहिए। शास्त्र अन्न की आध्यात्मिक गरिमा का इस प्रकार प्रतिपादन करता है—अन्नमय हि सोम्य मन।

—छान्दोग्योपनिषद् ६ प्र० ५।४

हे सोम्य ! यह मन अन्नमय है।

अन्न ब्रह्मेति व्यजानात्।.........तपसा ब्रह्म विजिसास्व। स तपस्तप्त्वा।

—तैत्तरीयोपनिषद् ३।२

महर्षि भृगु ने तप करके यह जाना कि यह अन्न ही ब्रह्म है, यह तप ब्रह्म से जाना जाता है। सो वे अन्न तप करने लगे।

एवमेव खलु सोम्यान्नस्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तन्मनोभवति ॥२॥ अपाꣳसोम्य पीयमानानां योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति स प्राणो भवति ॥३॥ तेजसः सोम्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति सा वाग्भवति ॥४॥

—छान्दोग्योपनिषद् ६ प्र० ६।२, ३, ४

हे सोम्य ! इस प्रकार ही खाये जाते अन्न का जो सूक्ष्म-भाग होता है वह ऊपर उठ जाता है वह मन तन्तु-जाल बनता है। ऐसे ही पिये जाते हुए जलों का जो सूक्ष्म अंश होता है वह ऊपर नितर आता है, वह प्राण-जीवन-हो जाता है। ऐसे ही खाये हुए तेज का जो सूक्ष्म अंश होता है वह ऊपर नितर आता है वह वाणी बन जाती है।

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्माꣳसं योणिष्ठा-स्तन्मनः ॥१॥

—छान्दोग्य ६।५।१

जो अन्न खाया जाता है वह तीन भागों में विभक्त हो जाता है। स्थूल अंश मल, मध्यम अंश रस, रक्त, माँस, आदि और सूक्ष्म अंश मन बन जाता है।

अन्नमयꣳहि सौम्यमनः।

—छान्दोग्य ६।५।४

अन्न की शुद्धता से मन की शुद्धि होती है।

यदन्नम् पुरुषो भवति तदन्ना स्तस्य देवताः।

—वाल्मीक रामायण

मनुष्य जैसा अन्न खाता है, वैसे ही उसके देवता भी बनते हैं।

अयं यज्ञो वेदेयु प्रतिष्ठितः। वेदा वाचि प्रतिष्ठिताः वाङ् मनसि प्रतिष्ठिता। मनः प्राणे प्रतिष्ठितम्। प्राणोऽन्ने प्रतिष्ठितः।

—गायत्री उपनिषद् ७

यह यज्ञ वेद पर निर्भर है। वेद वाक् पर निर्भर है। वाक् मन पर, मन प्राण पर, प्राण अन्न पर निर्भर है।

भुक्तं पीतं यदस्त्यत्र तद्रसादामवन्धनम्।
स्थूलदेहस्य लिंगस्य तेन जीवनधारणाम् ॥

—शिव गीता

इस स्थूल देह से जो कुछ भोजन किया जाता, पिया जाता है, उसी के कारण लिंग और स्थूल देह में सम्बन्ध उत्पन्न होता है, उसी से जीवन धारण होता है।

स योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽन्नवतो वै स लोकान्पान-वतोऽभिसिद्धयति यावदन्नस्य गतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्ते। अस्ति भगवोऽन्नाद्भूय इति।

—छान्दोग्योपनिषद् ७ प्र० ९।२

जो जन अन्न को महान् मानकर भगवान् की उपासना करता है, खाता पीता हुआ उसको नहीं भूलता, वह अमृतभोजी अन्न वाले और पान वाले लोकों को सिद्ध कर लेता है।

आहार शुद्धया नृपते, चित्त शुद्धिश्च जायते।
शुद्धे चित्ते प्रकाशः स्याद्धर्मस्य नृपसत्तम॥

—देवी भागवत

हे राजन ! आहार शुद्ध होने पर चित्त की शुद्धि होती है। इस निर्मल चित्त से ही धर्म का प्रकाश होता है।

अपनी स्थिति का विश्लेषण करते हुए महर्षि तैत्तरीय कहते हैं मैंने यह रहस्य भली प्रकार जान लिया कि मैंने जैसा खाया वैसा ही बन गया। मेरी स्थिति अन्न पर ही आधारित रही है।

हाइवु, हाइवु, हाइवु। असमन्नमहन्नमहन्नम्।

तैत्तरीयोपनिषद् ३।१०

आश्चर्य, महान् आश्चर्य, मैं अन्न ही हूँ, मैं अन्न ही हूँ।

अन्न के प्रति श्रद्धा रखी जाय। उसका महत्व न घटाया जाय। अन्न में जीवट, जीवनी शक्ति रहती है। वह प्राण स्वरूप है। उसका सेवन व्रत की तरह किया जाय। जो अन्न की गरिमा समझकर उसकी ब्रह्म समान उपासना करता है। वह कीर्तिवान, सम्पत्तिवान, बलिष्ठ और नेता बनता है। उसे ब्रह्म वर्चस की प्राप्ति होती है।

यह भाव तैत्तरीयोपनिषद् के निम्नलिखित श्रुति में इस प्रकार व्यक्त किये गये हैं—

अन्नं न निंद्यात्। तद्व्रतं। प्राणो वा अन्नम्। शरीरमन्नादम्। प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्। शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठिति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या॥१॥

—तैत्तरीयोपनिषद् ३-वल्ली ७

न केवल अन्न वरन् जल भी आहार है। खाने की तरह पीना भी महत्वपूर्ण है। उसका भी मनःस्थिति पर प्रभाव पड़ता है। जल भी अपने ढंग का खाद्य ही है। अस्तु आहार शुद्धि की तरह जल शुद्धि का भी पूरा-पूरा ध्यान रखा जाना चाहिए। साधना प्रयोजनों में पवित्र नदी सरोवरों के जल को इसी दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। कहा गया है—

आपो वा अन्नम्। ज्योतिरन्नादम्। अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम्।

—तैत्तरीय ३०

जल भी अन्न है। उसमें दिव्य ज्योति का निवास है।

आहार स्वाद के लिए औषधि रूप में सेवन किया जाय। उसकी अन्तःशक्ति को ध्यान में रखा जाय। वह जीवन है जीवन का आधार है। यह समझते हुए उसकी स्वादिष्टता को नहीं सात्विकता को ही महत्व दिया जाना चाहिए। अविधि पूर्वक सेवन किया गया—अभक्ष आहार उलटा प्राणी को ही खा जाता है। उसके लिए विपत्ति का कारण बनता है। इस भाव को उपनिषद्कार ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषध मुच्यते। जातान्यन्नेन वर्धन्ते। अद्यतेति च भूतानि।

—तैत्तरीय

प्राणियों में अन्न की ही श्रेष्ठता है। इसलिए उसे सर्वतोमुखी औषधि कहते हैं। अन्न से जीव जन्मते और बढ़ते हैं। जीवधारी अन्न को खाते हैं पर वह अन्न जीवों को भी खा जाता है।

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चाति भाजनम्।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत्॥

—मनु योग सध्या

अधिक भोजन करने से अनारोग्यता और आयुष्य का नाश होता है; वह स्वर्ग का विरोधी है अर्थात् यज्ञ, जप आदि में वायु के विकार से बैठा नहीं जाता है उपाधि करने से स्वर्ग का भी विरोधी है, अपवित्र और लोक में निंदित है इससे विशेष भोजन न करे।

मिताहारं विनायस्तु योगारम्भं तु कारयेत्।
नानारोग भवन्त्यस्यकिंचिद् योगो न सिधयति।

घेरंड संहिता ५।१६

जो व्यक्ति मिताहार के विना ही योगाभ्यास प्रारम्भ कर देता है, उसे अनेक रोग हो जाते हैं; योग की कुछ भी सिद्धि नहीं होती।

यादृशं अन्न मश्नाति सात्विकं राजसन्तु वा।
तादृशं गुण मानप्नोति गुणैः कर्मगंति तथा॥

मनुष्य जैसा भी सत्वगुणी, या तमोगुणी अन्न का सेवन करता है, वैसा ही उसे गुण प्राप्त होता है। अतएव सत्वादि गुणों के अनुसार ही कर्म तथा चेष्टा होती है।

आलस्यादन्नदोषाश्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति।

—मनु० ५।४

आलस्य और अन्न दोष से असामयिक अकाल मृत्यु होती है।

दीपो भक्ष्यते ध्वान्तं कज्जलं च प्रसूयते।
यदन्नं भक्षयेत् नित्य जायते तादृशी प्रजा॥

—चाणक्य

दीपक अँधेरा खाता है, इसलिए काजल को जन्म देता है। मनुष्य जैसा अन्न खाता है वैसी ही उसकी क्रिया एवं परम्परा उत्पन्न होती है।

आहार शुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृति लम्भे सर्वग्रन्थिनां विप्रमोक्षस्तस्मै मृदित काषा पाप तमसस्पा दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः।

—छान्दोग्य

जब आहार शुद्ध होता है, तब सत्व अर्थात् अन्तःकरण शुद्ध होता है। सत्व के शुद्ध होने पर ध्रुवास्मृति अर्थात् पूर्ण तत्व का निरन्तर स्थायी स्मरण रहता है। उससे सभी कषाय कल्मषों की कुसंस्कारी ग्रन्थियों का विनाश हो जाता है। इस प्रकार निष्पाप नारदजी को भगवान् सनत्कुमार ने अज्ञान को पार करने वाले परम तत्व का साक्षात्कार कराया।

साधक का आहार अनेक स्वादों का न हो। एक ही पदार्थ व एक ही स्वाद उत्तम है। योगी भिक्षा में मिले विभिन्न पदार्थों को इकट्ठा करके एक स्वाद बना लेते हैं। यह उत्तम प्रक्रिया है। इस दृष्टि से खिचड़ी, दलिया जैसे पदार्थ साधन काल में उत्तम रहते हैं। शाक आदि उसी में डाले जा सकते हैं। दही, घी आदि का मिश्रण भी उस एक पदार्थ में ही हो सकता है। इस संदर्भ में इस प्रकार के निर्देश मिलते हैं—

कणानां भक्षणे युक्तः पिण्याकस्य च भो द्विजाः।
स्नेहानां वर्जने युक्तो योगी वलमवाप्नुयात्॥
भुञ्जानो यावकं रूक्षं दीर्घकालं द्विजोत्तमाः।
एकाहारी विशुद्धात्मा योगी बलमवाप्नुयात्॥
अखण्डमपि वा मा / सततं मुनिसत्तमाः।
उपोष्य सम्यक्शुद्धात्मा योगी बलमवाप्नुयात्॥

—ब्रह्मपुराण

दलिया, सत्तू, जौ, खिचड़ी आदि रूखा घी रहित भोजन उपवास पूर्वक करता हुआ मनुष्य आत्म-शुद्धि कर लेता है और आत्म बल प्राप्त करता है।

तेषांनाशायकर्त्तव्यं योगिनां तन्निबोधमे।
स्निग्धांयवागूमत्युष्णां भुक्त्वा तत्रैवधारयेत्॥
वातगुल्म प्रशान्त्यथमुदावर्त्ते तथोदरे।
यवागूँ वापिपवनं वायुग्रन्थि प्रतिक्षिपेत्॥
नासतोदशर्नं योगेतस्मात्तत्परिवर्जयेत्।

—मार्कण्डेय पुराण

घी समेत खिचड़ी खाया करे। यह वात, गुल्म, अपच उदर रोग आदि रोगों को दूर करती है। योग साधक अपने आहार विहार को ठीक रखे निरर्थक, वातों में न उलझे।

आहाराभक्ष्य निवृत्ता विशुद्धं हृदयं भवेत
आहार शुद्धौचित्तस्य विशुद्धिर्भवति स्वतः
चित्ते शुद्धे क्रमाज ज्ञानं भिन्दयतेग्रन्थयः
स्फुरम्।

—पाशुपत ब्रह्मोपनिषद्

अभक्ष आहार त्याग देने से अन्तःकरण पवित्र होता है। चित्त की शुद्धि स्वयमेव होने लगती है। इस चित्त शुद्धि के आधार पर सद्‌ज्ञान का उदय होता है और अवरोधों की ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं।

भोजन प्रसन्न चित्त होकर किया जाय। उसे भगवान का प्रसाद मानकर खाया जाय। जो अनुपयोगी हो उसे खाने से पहले ही उठा दे। खाते समय नाक भों न सकोड़े। ठूँस-ठूँस कर न खाये। जल्दवाजी न करे। कड़ी भूख लगे विना न खाया जाय। वार-वार खाते रहने की आदत न डालें। साधक को इन तथ्यों पर ध्यान रखने

का निर्देश करने वाले कुछ शास्त्र वचन इस प्रकार हैं—

पूजयें दशनं नित्यमद्याच्चौत्तदकुत्सयन् ।
द्रष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च प्रतिनन्देश्च सर्वशः ।।
—मनु० २।५४

भोजन को नित्य आदर की द्रष्टि से देखे और अन्न की निन्दा न करते हुए प्रसन्नता पूर्वक भोजन करे तथा उसे देखकर प्रसन्न होवे और सर्वथा प्रशंसा करे ।

यच्छक्यं ग्रसितुं ग्रस्यं ग्रस्तं परिणमेच्च्यात् ।
हितं च परिणामे यत्तपाद्यं भूति मिच्छता ।।

जो ग्रास खाया जा सके, खाया हुआ पच जावे, तथा पचने पर हितकारी हो, उसी को कल्याण चाहने वाले मनुष्य को खाना चाहिए ।

अन्नेन पूरयेदर्धं तोयेन तु तृतीयकम् ।
उदरस्य तृतीयाशं संरक्षेद वायुचारणे ।।
—घे० सं० ५।१२

उदर के आधे भाग को अन्न से भरे, तीसरे भाग को जल से और चौथे भाग को वायु संचार के लिए रिक्त रखे ।

द्वौ भागौ पूरयेदन्नैस्तोयेनैकं प्रपूरयेत् ।
वायोः संचारणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत् ।।
—योग संध्या

उदर के दो भाग अन्न से पूर्ण करे और एक भाग को जल से पूर्ण करे और चौथे भाग को वायु के चलने के लिए शेष रखे ।

अन्न एक स्तर पर औषधि, दूसरे पर तृप्ति और तीसरे पर विष है । नारी एक स्तर पर माता, दूसरे पर वहिन या पुत्री और तीसरे पर विषय वासना से भरी हुई रमणी है ।

परिश्रम से उपार्जित अन्न खाकर साधना करने से ही उसकी सफलता होती है । पराया अन्न खाकर योगाभ्यास करने से कर्त्ता को मिलने वाला प्रतिफल उस अन्न दाता को चला जाता है । इसी प्रकार यदि वह पाप उपार्जित धन हुआ तो उस पाप से भी परान्न खाने वाले को पापी बनना पड़ता है । अस्तु साधक स्व उपार्जित अन्न पर निर्वाह करें । जिन कुटुम्बियों का भरण पोषण किया है उनसे अपना अनुदान वापस मांगें । यदि दान पर ही निर्वाह करना हो तो वदले में लोक सेवा के लिए परिश्रम करके उस ऋण से छुटकारा प्राप्त करे । भजन करने के नाम पर मुफ्त का माल खाते रहने वालों को साधना की सिद्धि नहीं मिलती । कहा भी है—

यस्यान्नेन तु पुष्टांगो जपं होमं समाचारेत् ।
अन्नदातु फलस्यार्धं चार्धं कर्तुर्न संशयः ।।
—कुलार्णव तंत्र

दूसरे के अन्न से पेट भरकर जप, हवन आदि करने वाले साधक का आधा फल उसके लिए चला जाता है जिसका अन्न खाया है ।

यो यस्यान्न समश्नाति स तस्याश्नाति किल्विषम्
—कूर्म पुराण

अर्थात् जो जिसके अन्न को खाता है वह उसके पापों को भी खा लिया करता है ।

ऋग्वेद १०।११७।६ में स्व उपार्जित धन का एक महत्वपूर्ण अंश परमार्थ प्रयोजनों में लगाने के उपरान्त ही शेष यज्ञावशिष्ठ को खाने का विधान है । जो अपनी कमाई आप ही खाता रहता है उसका अंश दान परमार्थ प्रयोजनों में नहीं लगता वह कृपण व्यक्ति एक प्रकार से पाप ही खाता है । भले ही वह स्व उपार्जित क्यों न हो ? कहा गया है—

जो अपनी कमाई आप ही खाता रहता है वह मूर्ख मनुष्य एक प्रकार से पाप ही खाता है ।

गाँधी जी ने सप्त महाव्रत लेख माला में प्रथम व्रत 'अस्वाद' को माना है । उनका कथन है कि जिह्वा इन्द्रिय की प्रवलता पर अंकुश लगाया जा सके तो कामेन्द्रिय आदि अन्य इन्द्रियों पर सहज ही नियन्त्रण हो सकता है ।

प्राचीन काल में योगाभ्यासी ऋषियों का भोजन परम सात्विक होता था । महर्षि कणाद अन्न के दाने वीन कर गुजारा करते थे । पिप्पलाद का आहार पीपल वृक्ष के फल थे । वन्य प्रदेशों में कन्द, मूल, फल उपलब्ध थे । इसलिए उनके निवास उसी क्षेत्र में होते थे । अतः वैसी स्थिति तो नहीं रही पर जितना कुछ संभव है आहार की सात्विकता और व्यवस्था पर अधिकाधिक अंकुश रखना साधना की सफलता के लिए नितान्त आवश्यक समझना चाहिए ।

इस सन्दर्भ में निम्नलिखित दिशा निर्देशों को ध्यान में रखते हुए साधना मार्ग पर चलने वालों को अपनी परिस्थिति एवं सुविधा का ध्यान रखते हुए कार्य पद्धति निर्धारित करनी चाहिए।

(१) सप्ताह में एक दिन उपवास रखा जाय। यदि मात्र जल पर रह सकना कठिन पड़े तो दूध, छाछ, दही, फलों का रस, शाक का रसा जैसे प्रवाही पदार्थों से काम चलाया जाय। इतने में भी कठिनाई पड़े तो एक समय अन्नाहार एक समय रसाहार की व्यवस्था बना ली जाय।

(२) समय-समय पर नियत अवधि के लिए अस्वाद व्रत का पालन करते रहा जाय। नमक और शकर दोनों को छोड़कर फीका भोजन करना ही अस्वाद व्रत है। आवश्यक नमक और शकर की पर्याप्त मात्रा हमारे स्वाभाविक आहार में रहती ही है। वाहर से नमक, शकर, मसाले आदि का प्रयोग स्वाद के लिए किया जाता है। इनमें स्वास्थ्य रक्षक कोई तत्व नहीं है। अस्तु अस्वाद व्रत पालन से स्वादेन्द्रिय को ही असुविधा होती है, स्वास्थ्य की दृष्टि से तो इस अवांछनीय दवाव के हटने पर लाभ ही रहता है।

(३) साधक को दो वार से अधिक भोजन तो नहीं ही करना चाहिए। वीच-वीच में खाते रहने की आदत न डाली जाय। प्रातः काल और तीसरे प्रहर दूध, छाछ क्वाथ, नीबू शहद जैसे द्रव पदार्थ भर लिये जा सकते हैं।

(४) एक समय अन्नाहार एक समय शाकाहार, फलाहार आदि पर रहा जा सके तो भी उत्तम है।

(५) अपने हाथ से भोजन वनाया जा सके तो सर्वोत्तम अन्यथा सुसंस्कारी, स्वजनों के हाथ का बना परोसा भोजन ही ग्रहण किया जाय। शारीरिक और मानसिक दृष्टि से रुग्ण, कुसंस्कारी लोगों का पकाया परोसा भोजन न लिया जाय। पात्रों की स्वच्छता का ध्यान भी रखा जाय। बाजार की वनी वस्तुओं से यथा सम्भव वचा जाय। वाहर जाना पड़े तो फल, सत्तू, चना जैसे चवैना पदार्थों पर गुजारा किया जाय जिन में व्यक्ति संस्कार अधिक न पड़े हों।

(६) मांस, अंडा, जीव शरीरों से वनी औषधियाँ, शराव, तमाकू आदि नशीली वस्तुएँ ग्रहण न की जायँ। मसालों की आदत जितनी घटाई जा सके घटानी चाहिए।

(७) पेट ठूँस-ठूँस कर न भरा जाय, उसे जल और वायु के लिए एक तिहाई खाली रहने दिया जाय। कड़ी भूख लगने पर ही कुछ खाया जाय। यदि भूख न लगी हो तो उस समय का भोजन टाल दिया जाय उतावली न की जाय ग्रास को पूरी तरह चवाने के वाद ही गले से नीचे उतरने दिया जाय।

(८) थाली में कटोरियों की संख्या न बढ़ने दी जाय। खाद्य पदार्थों की संख्या अधिक न हो। रोटी-शाक, दाल-चावल जैसे दो की सख्या तो खाद्य पदार्थों की संख्या रहे तो ठीक है। उन्हें अदलते वदलते रहा जा सकता है। अधिक जायके, अधिक पदार्थ भोजन में न बढ़ने पायें, यही उचित है।

(९) खिचड़ी या दलिया दाल शाक डालकर पकाया जाय और उसमें ही दही आदि मिला लिया जाय तो यह आहार साधक के उपयुक्त सस्ता, सात्विक, सरल और हर दृष्टि से उपयोगी हो सकता है। इस पर भली प्रकार गुजर हो सकती है।

(१०) हमारा आहार अनीति उपार्जित न हो। विना परिश्रम की कमाई भी साधक के लिए अभक्ष्य ही है। न्यायोपार्जित आजीविका में से भी लोक हित का एक महत्वपूर्ण अंश निकालने के उपरान्त ही यज्ञावशिष्ट खाया जाय। पंच महायज्ञों को नित्य कर्म में इसी का स्मरण रखने की दृष्टि से समावेश किया गया है।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यत्तचित्तस्य युञ्जयो योगात्मनः॥

"जिस प्रकार वायु रहित स्थान स्थित दीपक चलायमान नहीं होता, वही स्थिति परमात्मा के ध्यान द्वारा योगी के जीते हुए चित्त की होती है।"

प्राणमय कोश में सन्निहित प्रचण्ड जीवनी शक्ति

जीवन का सार तत्व प्राण है। यह प्राण ही प्रगति का आधार है। समृद्धि उसी के मूल्य पर खरीदी जाती है। सिद्धियों और विभूतियोंका उद्गम स्रोत वही है। यह प्राणतत्व अपने भीतर प्रचुर परिमाण में भरा पड़ा है। उसका चुम्बकत्व वढ़ा देने पर विश्व प्राण में भी उसे अभीष्ट मात्रा में उपलब्ध और धारण किया जा सकता है। मानवी सत्ता में सन्निहित इस प्राण भंडार को प्राणमय कोश कहते हैं। सामान्यतया यह प्रसुप्त स्थिति में पड़ा रहता है और उससे शरीर निर्वाह भर के काम हो पाते हैं। उसे साधना विज्ञान के आधार पर जागृत किया जा सके तो सामान्य में से असामान्य का प्रकटीकरण हो सकता है। प्राण की क्षमता असीम है। प्राण साधना से इस असीमता की दिशा में वढ़ चलना—प्रचुर सशक्तता प्राप्त कर सकना सम्भव हो जाता है।

अध्यात्मशास्त्र में प्राण तत्व की गरिमाका भाव भरा उल्लेख है। उसे ब्रह्म तुल्य माना और सर्वोपरि ब्राह्मी शक्ति का नाम दिया गया है। प्राण की उपासना करने आग्रह किया गया है यह प्राण आखिर है क्या? यह विचारणीय है।

विज्ञान वेत्ताओं ने इस संसार में ऐसी शक्ति का अस्तित्व पाया है जो पदार्थों की हलचल करने के लिए और प्राणियों के सोचने के लिए विवश करती है। कहा गया है कि यही वह मूल प्रेरक शक्ति है जिससे निःचेष्ट को सचेष्ट और निस्तव्ध को सक्रिय होने की सामर्थ्य मिलती है। वस्तुएँ शक्तियाँ और प्राणियों की विविधि विधि हलचलें इसी के प्रभाव से सम्भव हो रही हैं। समस्त अज्ञात और विज्ञात क्षेत्र के मूल में यही तत्व गतिशील है और अपनी गति से सव को अग्रगामी वनाता है। वैज्ञानिकों की दृष्टि में इसी जड़ चेतन स्तरों की समन्वित क्षमता का नाम प्राण होना चाहिए। पदार्थ को ही सव कुछ मानने वाले ग्रैविटी, ईथर, मैगनेट के रूप में उसकी व्याख्या करते हैं अथवा इन्हीं की उच्चस्तरीय स्थिति उसे वताते हैं। चेतना का स्वतन्त्र अस्तित्व मानने वाले विज्ञानी उसे साइकिक फोर्स लेटेन्ट हीट कहते हैं।

ऋषियों का अभिप्राय प्राण से क्या है, इसका परिचय उस शव्द के नामकरण के आधार पर प्राप्त होता है। प्राण शव्द की व्युत्पत्ति 'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'अन्' धातु से होती है। 'अन्' धातु जीवन, शक्ति, चेतनावाचक हैं। इस प्रकार उसका अर्थ प्राणियों की जीवनी शक्ति के रूप में किया जाता है।

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि चेतन की जीवनी शक्ति क्या हो सकती है। यहां उसका उत्तर 'सङ्कल्प' वल के रूप में दिया जा सकता है जिजीविषा से लेकर प्रगति शीलता ही तक उसके असंख्य रूप हैं। अन्तःकरण की काकांक्षा ही विचार शक्ति और क्रिया शक्ति की उत्तेजना एवं दिशा देती है। मात्र आकांक्षा रहने से काम नहीं चलेगा। उसे तो कल्पना या ललक मात्र कहा जा सकता है। आकांक्षा के साथ उसे पूरा करने की साहसिकता भी जुड़ी हुई हो तो उसे संकल्प कहा जा सकेगा। संकल्प में आकांक्षा, निष्कर्ष, योजना और अग्रगमन के लायक अभीष्ट साहसिकता जुटी रहती है। यह संकल्प ही मनुष्य जीवन का वास्तविक वल है उसी के सहारे पतन उत्थान के आधार वनते हैं। परिस्थितियाँ इसी संकल्प भरी मनः स्थिति के आधार पर खिचती चली आती है। इसी संकल्प तत्व को चेतन का प्राण कहा जा सकता है। इसी की उपासना करने के लिए अभिवर्धन के लिए तत्व दर्शियों ने निर्देश दिये हैं। प्रश्नोपनिषद ने प्राण की व्याख्या संकल्प रूप में की है।

यच्चित्तस्तेनैष प्राणामायाति प्राणस्तेजसा युक्तः
महात्मना यथा संकल्पितं लोकं नयति।

—प्रश्नोपनिषद् ३।१०

आत्मा का जैसा संकल्प होता है वैसा ही स्वरूप संकल्प इस प्राण का बन जाता है। यह प्राण ही जीव के संकल्प नुमार उसे विभिन्न योनियाँ प्राप्त कराता है।

विकासवाद के अनुसार सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुए एक कोशीय जीवाणु इसी संकल्प शक्ति की प्रेरणा से क्रमशः आगे बढ़े और विकसित हुए हैं। अध्यात्म शास्त्र के अनुसार ब्रह्म ने एक से बहुत होने की इच्छा की और ब्रह्म इच्छा शक्ति हो प्रकारान्तर से परा-अपरा प्रकृति बनकर जगत् बन गई। उसी का विस्तार पंचतत्वों और पंच प्राणों में होता चला गया है।

विश्व के अन्तराल में काम करने वाली समग्र सामर्थ्य को व्याख्या के रूप में प्राण कहा जाता है। वह जड़ और चेतन दोनों को ही प्रभावित करती है। उपासना उसके इस एक पक्ष की ही की जाती है। जो मनुष्य को सत्प्रयोजनों की स्थिति में अग्रसर करने के लिए प्रयुक्त होती है। चेतना की सामर्थ्य तो उभय पक्षीय है। वह दुष्टता के क्षेत्र में दुस्साहस बनकर भी काम करती है। इस निषिद्ध पक्ष को नहीं जीवन को उत्कृष्टता की ओर अग्रसर करने वाले सत्संकल्पों को उपास्य प्राण माना गया है। उसको जितना मात्र उपलब्ध होता है उसी अनुपात से प्रगतिशीलता का लाभ मिलता है। इन विशेषताओं को देखते हुए उसे ब्राह्मी शक्ति—ब्रह्म प्रेरणा एवं साक्षात् ब्रह्म कहा गया है। सुविधा के लिए इसे अन्तरात्मा की पुकार भी कह सकते हैं। शास्त्र की दृष्टि में प्राण तत्व की व्याख्या इस प्रकार होती है—

प्राणो ब्रह्मे ति ह स्माह कोषीतकिस्तस्य ह वा एतस्य प्राणस्य ब्रह्मणो मनो दूतं वाक्परिवेष्ट्री चक्षुर्गात्र श्रोत्रं संश्रावयितृ यो ह वा एतस्य प्राणस्य ब्रह्मणो मनो दूतं वेद दूतवान्भवति यश्चक्षु गोप्तृ गोप्तृमान्भवति यः श्रोत्रं संश्रावयितृ संश्रावयितृमान्भवति यो वाचं परिवेष्ट्री परिवेष्ट्रमान्भवति।

—कौषीतकि ब्राह्मणोपनिपद् २।१

यह प्राण ही ब्रह्म है। यह सम्राट है। वाणी उसकी रानी है। कान उसके द्वारपाल हैं। नेत्र अंग रक्षक, मन दूत, इन्द्रियाँ दासी, देवताओं द्वारा यह उपहार उस प्राण ब्रह्म को भेंट किये गये हैं।

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन् सर्वप्रतिष्ठितम्॥

—अथर्व० कां० ११

उस प्राण को मेरा नमस्कार है, जिसके अधीन यह सारा जगत है, जो सबका ईश्वर है, जिसमें यह सारा जगत् प्रतिष्ठित है।

प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्या। तं मामायुरमृत भित्युपमृत भित्युपास्स्वाऽऽयुः प्राणःप्राणोवा आयुः। यावदस्मिञ्छरीरे प्राणो वसति तावदायुः। प्राणेन हि एवगस्मिन् लोकेऽमृतत्व माप्नोति।

—शांखायन

मैं ही प्राण रूप प्रज्ञा हूँ। मुझे ही आयु और अमृत जानकर उपासना करो। जब तक प्राण है, तभी तक जीवन है। इस लोक में अमृतत्व प्राप्ति का आधार प्राण ही है।

स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्रोणोग्निरुदयते।

प्रश्नो १।७

वह प्राण रूपी तेजस सूर्य के उदय के साथ समस्त विश्व में फैलने लगता है।

प्राणो भवेत् परंब्रह्म जगत्कारणमव्ययम्।
प्राणो भवेत् यथामंत्र ज्ञानकोश गतोऽपिवा॥

—ब्रह्मोपनिषद्

प्राण ही जगत का कारण परमब्रह्म है। मन्त्र ज्ञान तथा पंच कोश प्राण पर आधारित है।

प्राण शक्ति का वही ब्रह्म तेज आँखों में वाणी में चिन्तन और क्रिया में चमकता है। यह चमक ही बौद्धिक क्षेत्र में तेजस्विता और क्रिया क्षेत्र में ओजस्विता कहलाती है। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में यही मनस्विता प्रतिभा बनकर दीप्तिवान होती है। प्राण शक्ति ही सर्वतोमुखी समर्थता कही जाती है।

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष।
एष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं चयत्॥

—प्रश्नो २।५

यह प्राण ही अग्निरूप धारण करके तपता है। यही सूर्य, मेघ, इन्द्र, वायु, पृथ्वी तथा भूत समुदाय है। सत्-असत् तथा अमृत स्वरूप ब्रह्म भी यही है।

अन्यत्र भी ऐसे ही उल्लेख हैं—

अमृत नु वै प्राण: ।

—शतपथ

यह प्राण ही निश्चित रूप से अमृत है ।

प्राणोवाव आशाया भूयान्यथा ।

— छान्दोग्य

इस प्राण शक्ति की सम्भावना आशा से अधिक है ।

प्राणो वै यशो बलम् ।

—वृहदारण्यक

प्राण ही यश और बल है ।

प्राणश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।

—यजुर्वेद

मेरी प्राण शक्ति सत्कर्मों में प्रवृत्त हो ।

प्राण को कई व्यक्ति वायु या सांस समझते हैं और श्वास प्रश्वास क्रिया के साथ वायु का जो आवागमन निरन्तर चलता रहता है उसके साथ प्राण की संगति बिठाते हैं । यह भूल इसलिए हो जाती है कि अक्सर प्राण के साथ 'वायु' शब्द और जोड़ दिया जाता है । यह समावेश सम्भवत: वायु के समान मिलते-जुलते गुण प्राण में होने के कारण उदाहरण की तरह हुआ हो । चूंकि प्राण भी अदृश्य है और वायु भी । प्राण भी गतिशील है और वायु भी । प्राण भी सारे शरीर एवं विश्व में व्याप्त है और वायु भी, इसलिए प्राण की स्थिति मोटे रूप में समझने के लिए उसे वायु के उदाहरण सहित प्रस्तुत किया गया है । किन्तु वास्तविक बात ऐसी नहीं है । वायु पंचतत्वों में से एक होने के कारण जड है, किन्तु प्राण तो चेतना का पक्ष होने से उनका वस्तुत: कोई सादृश्य हो नहीं सकता । प्राण को प्रकृति की उत्कृष्ट सूक्ष्म शक्तियों (नेचर्स फाइनर फोर्सेज) में से एक कह सकते हैं । भारतीय योगियों ने इसे मानसिक या इच्छा सम्बन्धी श्वास प्रक्रिया (रेशपाइरेशन) के रूप में लिया है । वास्तव में ऐसी ही दिव्य धारा के प्रभाव से उच्च कोटि की आत्मिक शक्तियाँ प्राप्त होनी सम्भव हैं । श्वास प्रश्वास क्रिया का प्रभाव तो फेफड़ों तक अधिक से अधिक भौतिक शरीर के बलवर्धन तक सीमित हो सकता है ।

प्राणोऽस्यास्तीति प्राणी ।

अर्थात् प्राणवान् को प्राणी कहते हैं । सांख्यकार ने प्राण को तत्व नहीं अन्त:करण का धर्म माना है । सांख्य सारिका में कहा गया है—

स्वालक्षण्यं वृत्तिस्त्रयस्य तैषा भवत्य सामान्या । सामान्यकरण वृत्ति: प्राणद्या वायव: पञ्च ।

अन्त:करण के चार पक्ष हैं । चारों का अपना अपना धर्म है । मन का सकल्प, बुद्धि का विवेक, चित्त का धारणा और अहं का अभिमान । इन चारों का सम्मिलित स्वरूप समग्र प्राण है । विभिन्न कार्यों में होने वाले उसके प्रयोगो को देखते हुए प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान भेद से उसे पाँच प्रकार का कहा गया है ।

न्याय दर्शन में प्राण को वायु अर्थ में प्रयुक्त किया गया है । सम्भवत: उनका तात्पर्य 'आक्सीजन' या वैसी ही किसी अन्य प्रकृति क्षमता से रहा हो । वैशेषिक के अनुसार—

शरीरान्त: संचारी वायु: प्राण: संचैकोऽपि उपाधि भेदात् प्राणायानादि संज्ञां लभते ।

शरीर के भीतर संचारित होने वाले वायु प्राण है । वह एक होने पर भी उपाधि भेद से पाँच प्रकार की है । योगदर्शन का अभिमत भी उसीसे मिलता जुलता प्रतीत होता है । वेदान्तकार ने इससे अपना मत भेद व्यक्त किया है । ब्रह्म सूत्र में कहा गया है—ना वायु क्रिये प्रथगुपरेशात् । अर्थात् वायु प्राण नहीं है, उनकी क्रिया और सत्ता में भेद है ।

छान्दोग्य और प्रश्नोपनिषद् में प्रजापति द्वारा इन्द्रियों की शक्ति परीक्षा के सम्बन्ध में आती है । वे समर्थ भर दीखती तो थीं पर प्राण शक्ति के विना कुछ भी कर सकने में समर्थ न हो सकीं । तब उन सब ने मिलकर प्राण की श्रेष्ठता स्वीकार की और उसे नमन किया ।

अधिकांश उपनिषद्कारों ने प्राण को आत्मसत्ता की क्रिया शक्ति माना है और उससे अविच्छिन्न कहा है । आत्मा को ब्रह्म भी कहा जाता है । दोनों की एकता बोधक कितने ही प्रतिपादन मिलते हैं । इस दृष्टि से प्राण को ब्राह्म शक्ति भी कहा गया है ।

प्रश्नोपनिषद् में प्राण को व्रात्य ऋषि कहा गया है—'व्रात्यस्त्वं प्राणैकर्षि' हे प्राण, तू (व्रात्य) कर्तव्य च्युत

सो रहता है फिर भी मूलतः ऋषि ही है। व्याख्याकारों ने अन्य कई ऋषियों के नामों पर प्राण का उल्लेख किया है। उसे 'गृत्समद' कहा गया है। 'गृत्स' कहते हैं नियंत्रण कर्त्ता को मद कहते हैं कामुकता एवं अहंकार को। जो इन पर नियन्त्रण कर सके वह 'गृत्स मद' सब का मित्र होने से उसे 'विश्वामित्र' कहा गया है। पापों से बचाने वाला—अत्रि। पोषक होने से भारद्वाज और विशिष्ट होने से उसकी संज्ञा वशिष्ठ बताई गई है।

कषाय कल्मषों और कुसंस्कारों का निराकरण, उन्मूलन इस प्रचण्ड संकल्प शक्ति के सहारे ही सम्भव होता है। ढीले पोले स्वभाव वाले आत्म परिष्कार की बात सोचते भर हैं, पर वैसा कुछ कर नहीं पाते। कल्पना जल्पनाओं में उलझे रहते हैं प्रचण्ड संकल्प के बल पर उत्पन्न आत्मिक साहस ही दुर्भावनाओं, दुष्प्रवृत्तियों और कुसंस्कारों से जूझता है। उत्कृष्टता की दिशा में बढ़ चलने के लिए प्रेरणा और अवरोधों से जूझने की क्षमता उसी आत्मबल से मिलती है जिसे प्राण कहा जाता है। प्राण देवता के अनुग्रह से मनोनिग्रह और विकृतियों के उन्मूलन होने की बात वृहदारण्यक उपनिषद् में इस प्रकार कही गई है—

सा वा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्य यत्रासां दिशामन्तस्तद्गमयांचकार तदासां पाप्मनो विन्यदधात् तस्मान्न जनमियान्नान्तमियान्ने-त्पाप्मानं मृत्युमन्ववायानीति।

वृ० उ० १।३।१०

प्राण देवता ने इन्द्रियों के पापों को दिगन्त तक पहुँचाकर विनष्ट कर दिया। क्योंकि वह पाप ही इन्द्रियों के मरण का कारण था। इन कल्मषों को इस निश्चय के साथ भगाया कि पुनः न लौट सकें।

अथ चक्षुरत्यवहत् तद् यदा
मृत्युमत्यमुच्यत स आदित्योऽभवत्।
सोऽसावादित्यः परेण
मृत्युमतिक्रान्तस्तपति।

—वृ० उ० १।३।१४

जब प्राण की प्रेरणा से चक्षु निष्पाप हुए तो वे आदित्य बनकर अमर हो गये और तपते हुए सूर्य की तरह अपने तप से ज्योतिर्मय हो उठे।

इसी प्राण शक्ति को गायत्री कहते हैं। यों वह क्षमता स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों के कण-कण में संव्याप्त है, पर उसका केन्द्र संस्थान मल मूत्र छिद्रों के मध्य मूलाधार चक्र गह्वर में माना गया है। प्राण-शक्ति के अभिवर्धन से इसी मूलाधार संस्थान का द्वार खटखटाना पड़ता है। दुर्ग में प्रवेश करने के लिए उसका फाटक खोलना या तोड़ना पड़ता है। मूलाधार चक्र की साधना से यही प्रयोजन पूरा होता है। गायत्री की प्राण शक्ति मूलाधार चक्र से सम्बन्धित होने का उल्लेख गायत्री मंजरी में मिलता है—

यौगिकानां समस्तानां साधनानां तु हे प्रिये।
गायत्र्येव मतालोके मूलाधारा विदो वरैः।।

गायत्री मंजरी

विद्वानों का मत है कि समस्त यौगिक साधनाओं का मूलाधार गायत्री ही हैं।

प्राणाग्नय एवास्मिन् ब्रह्मपुरे जाग्रति।

—प्रश्नोपनिषद्

इस ब्रह्मपुरी में प्राण की अग्नियाँ ही सदा जलती रहती हैं।

यद्वाव प्राणा जागरं तदेवं जागारितम् इति।

—ताण्डय०

प्राण को जागृत करना ही महान जागरण है।

प्राण का ज्ञान एवं जागरण ही अमृतत्व एवं मोक्ष प्राप्त करने का मार्ग है। उसी से यह लोक और परलोक सुधरता है। इसी से भौतिक और आध्यात्मिक विभूतियाँ प्राप्त होती है। इसलिए वेद ने कहा है—हे विचार शीलो प्राण की उपासना करो—गायत्री महामन्त्र का आश्रय लो और आत्म कल्याण का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए आगे बढ़ चलो।

य एषं विद्वान्प्राणं वेद रहस्य प्रज्ञा
हीयतेऽमृतो भवति तयेव श्लोकः।

—प्रश्नोपनिषद्

जो ज्ञानी इस प्राण के रहस्य को जानता है उसकी परम्परा कभी नष्ट नहीं होती वह अमर हो जाता है।



श्री साधना से सर्वार्थ सिद्धि

मनोदशा पर मनुष्य का स्वास्थ्य निर्भर है। मनोविकारग्रस्त मनुष्य अनेकानेक शारीरिक और मानसिक आधि-व्याधियों से ग्रसित होकर रुग्ण, दुर्बल बनता चला जाता है और अकाल मृत्यु का ग्रास बनता है। अस्त-व्यस्त मनःस्थिति के कारण कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों का निर्वाह कठिन हो जाता है। सामने प्रस्तुत कामों को ठीक तरह कर सकना बन नहीं पड़ता। फलतः पग-पग पर असफलताएँ सामने खड़ी दिखाई देती हैं। मधुर सम्बन्धों का निर्वाह सम्पर्क क्षेत्र के व्यक्तियों से शालीनतापूर्वक होता नहीं। अतएव असहयोग, उपेक्षा, खीज, खींचतान एवं विग्रह की स्थिति बनी रहती है। स्वजनों के बीच ऐसा असामंजस्य परिवार में तथा सम्पर्क क्षेत्र में आये दिन विसंगतियाँ उत्पन्न करता है। चिन्तन की दिशा धारा सही न होने पर अनुपयुक्त सूझ पड़ता है और उपयुक्त क्या हो सकता है? यह तथ्य पकड़ में ही नहीं आता। ऐसे लोगों को विकृत चिन्तन के दुष्परिणाम आये दिन सङ्कटों और विग्रहों के रूप में भुगतने पड़ते हैं।

मस्तिष्क की तीक्ष्णता और शिक्षा सम्पदा से कई तरह की सुविधा सफलता मिलती है, किन्तु व्यक्तित्व की समग्र प्रगति के लिए इतने से ही काम नहीं चलता, उसके लिए मनःक्षेत्र का सन्तुलन और सुसंस्कृत होना आवश्यक है। मनुष्यों के बीच निकृष्टता और वरिष्ठता का जो अन्तर दिखाई पड़ता है उसमें शरीर अथवा साधन कारण नहीं होते, चिन्तन का स्तर एवं दृष्टिकोण ही प्रधान भूमिका प्रस्तुत करता है। मानसिक विकास का मूल्याङ्कन इसी स्थिति को देखकर किया जाता है। उच्च शिक्षा-प्राप्त, क्रिया कुशल, तीक्ष्ण बुद्धि लोगों में से कितने ही कुमार्गगामी देखे जाते हैं, वे अपने और दूसरों के लिए अभिशाप सिद्ध होते हैं। महत्ता मस्तिष्कीय तीक्ष्णता की नहीं मानसिक स्तर के उत्कृष्ट होने की है। उसे परिष्कृत चिन्तन सुसंस्कृत दृष्टिकोण एवं सुसंयत क्रिया-कलाप के रूप में देखा जा सकता है।

मनःसंस्थान को सुविकसित करने के लिए स्वाध्याय, सत्सङ्ग एवं मनन-चिन्तन की आवश्यकता पड़ती है। इसके अतिरिक्त एक और भी कारगर उपाय है—मनोमय कोश की योग साधना। काम-काजी मस्तिष्क समेत मन-क्षेत्रीय की स्तरीय परतें मनोमय कोश की परिधि में आती हैं। जिस प्रकार वन्य पशुओं को सधाकर पालतू बनाया जाता है। उनसे अनेक प्रकार के लाभ लिये जाते हैं, उसी प्रकार मन के महादैत्य को यदि साधना द्वारा सधा लिया जाय, तो ऐसे लाभ मिल सकते हैं जिन्हें देवोपम उपलब्धियाँ प्राप्त करना, कहने में अत्युक्ति नहीं मानी जा सकती। मानसिक साधना ऐसे ही चमत्कार उत्पन्न करती है।

व्यक्तित्व और मनःसंस्थान की स्थिति को परस्पर अति घनिष्ठ माना गया है। मनः स्तर ही व्यक्तित्व है। व्यक्तित्व को समुन्नत बनाने के लिए मनःसंस्थान की स्थिति ऊँची उठाने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं। यह कार्य मात्र जानकारियाँ बढ़ाने या समझाने-बुझाने भर से पूरा नहीं हो जाता। इसके लिए ऐसे मनोवैज्ञानिक प्रयोग करने पड़ते हैं जो लोहे को गरम करके उसे घन की चोटों से उपयुक्त औजार बनाने जैसा कार्य कर सकें। इस प्रकार के प्रयोगों को मनोमय कोश की साधना कहा जा सकता है।

मस्तिष्क की ऊपरी परत जो व्यावहारिक जीवन में काम आती है, समग्र मनःसंस्थान का मात्र पाँचवा योग

है। मानसिक शास्त्रियों ने उसकी संरचना का स्वरूप तो जाना है, पर उसके भीतर काम करने वाली विलक्षण क्षमताओं को देखकर आश्चर्यचकित रह गये हैं। इन रहस्यमयी गतिविधियों की मात्र ७ प्रतिशत जानकारी अभी तक मिल सकी है। शेष का आभास मिलता है और सोचा जाता है कि यदि इस अद्भुत संयत्र की क्षमताओं का स्वरूप और उपयोग जाना जा सकता तो फिर मनुष्य की सामर्थ्य का वारापार न रहता।

सामान्य मान्यता यह है कि मन और बुद्धि का सम्मिश्रण ही मस्तिष्क है। ऐसा इसलिए समझा जाता है कि दैनिक जीवन के क्रिया-कलापों में उन्हीं का उपयोग होता है। जो इस क्षेत्र की गहराई में घुसे हैं उनने देखा है कि ऊपरी परत तो क्रिया कुशलता और सूझ-बूझ के प्रतिफल प्रस्तुत कर पाती है। व्यक्तित्व का निर्माण अचेतन मन की गहरी परतें ही सम्पन्न करती हैं। मनोविकार बुद्धि क्षेत्र में नहीं, वरन् स्वभाव के अन्तर्गत आदतें बनकर घुस बैठते हैं। मनुष्य उनकी बुराइयाँ समझता है और छोड़ना भी चाहता है किन्तु संचित अभ्यासों का दबाव इतना अधिक होता है कि अपने ही निर्णय के विरुद्ध रास्ते पर चलने के लिए बाध्य होना पड़ता है। इन आदतों के पीछे अचेतन मन ही काम करता है।

शरीर की अनवरत गतिविधियों में जागृत मस्तिष्क का नगण्य जितना अधिकार होता है। संचालन अचेतन की अभ्यस्त प्रवृत्तियाँ ही करती हैं। मांस-पेशियों का आकुंचन-प्रकुंचन पलकों का निमेष-उन्मेष फेफड़ों का श्वास-प्रश्वास, आहार का ग्रहण और मल का विसर्जन, निद्रा, जागृति असंख्य शारीरिक क्रिया-प्रक्रियाएँ अचेतन मन के नियंत्रण में ही चलती हैं। हारमोन ग्रन्थियों से लेकर—प्राणों के अवधारण तक पर अचेतन का ही प्रभाव है। मनोविकारों के कारण शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य चौपट हो जाना और सद्भावनाओं के आधार पर व्यक्तित्व के सभी पक्षों का समुन्नत होते चलना इसी संस्थान की सरचना के कारण सम्भव होता रहता है। उत्थान और पतन के बीज इसी क्षेत्र में उगते हैं। व्यक्तित्व की सुविस्तृत जड़ें इसी भूमि में घुसी होती हैं।

अचेतन को चित्त कहते हैं। वस्तुतः मस्तिष्क का प्रेरक केन्द्र यही है। यह गई-गुजरी स्थिति में पड़ा रहे तो सचेतन की बुद्धिमत्ता का उपयोग धूर्तता, दुष्टता जैसे निकृष्ट प्रयोजनों के अतिरिक्त किसी रचनात्मक कार्य में सम्भव न हो सकेगा और बुद्धिमान कहलाने वाला मनुष्य भी उज्ज्वल भविष्य का सृजन न कर सकेगा।

मन और बुद्धि को विकसित करने के लिए स्कूली साहित्यक सम्पर्क जन्य, अनुभव सम्पादन करने जैसी अनेकों विधि-व्यवस्थाएँ प्रचलित हैं। किन्तु, चित्त की चिकित्सा करने में उन्हीं उपचारों को काम में लाया जाता है जिन्हें मनोमय कोश की साधना कहते हैं। यों परामनोविज्ञान एवं मनोविज्ञान के अन्तर्गत भी अचेतन की क्षमता को समझने और उसमें अभीष्ट परिवर्तन करने के उपाय खोजे तथा सोचे जा रहे हैं किन्तु तत्वदर्शियों की अनुमत पद्धति मनः साधना के अतिरिक्त और कोई कारगर मार्ग अभी तक करतल गत हुआ नहीं है।

मानस शास्त्री सर ऐलेक्जेनण्डर केनन का कथन है—मनुष्य इस विश्व की सबसे विलक्षण सत्ता है। उसका सार तत्व मस्तिष्क है। मस्तिष्क का नवनीत अचेतन संस्थान है। दुर्भाग्य से इसी केन्द्र की न्यूनतम जानकारी हमें उपलब्ध है। यह नहीं जाना जा सका कि इस संस्थान को प्रभावित, परिवर्तित और परिष्कृत करने के लिए क्या किया जा सकता है? शरीर चिकित्सा में काम आने वाले उपचारों की पहुँच वहाँ तक है नहीं। लगता है स्वसंवेदन स्वसम्मोहन और स्वनिर्देशन जैसे उन्हीं उपायों को काम में लाना पड़ेगा जिन्हें पुरातन योगीजन अपने ढङ्ग से काम में लाते रहे हैं। जो हो संसार की सुख-शान्ति और मानवी प्रगति के मर्म केन्द्र तक हमें पहुँचना ही होगा। किसी उपाय से अचेतन को नियन्त्रित करने की विधि-व्यवस्था हस्तगत करनी ही होगी। इसके बिना समुन्नत व्यक्ति और समृद्ध विश्व की सम्भावना बन न सकेगी।

इस तथ्य को दूरदर्शी आत्म-विज्ञानियों ने चिरकाल पूर्व ही जान लिया था। उनने मानवी व्यक्तित्व का आधार केन्द्र मन को ही कहा है। जीवन की भली-बुरी स्थिति का उत्तरदायी उसी को माना है और इस बात पर बहुत बल दिया है कि समृद्धि के अन्यान्य आधारों पर जितना ध्यान दिया जाता है उससे कम नहीं, वरन् अधिक ही

मानसिक परिष्कार पर दिया जाय। इस क्षेत्र की प्रगति के बिना भौतिक एवं आत्मिक प्रगति की आशा पूरी हो नहीं सकेगी। तत्त्वदर्शियों का अभिमत इस सन्दर्भ में इस प्रकार है—

चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशदूषितम्।
तदेव तद्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते॥

—महोपनिषद् ४।६६

यह चित्त ही संसार है। चित्त रागादि दोषों से भर जाने पर क्लेश होते हैं। इन दूषणों से छुटकारे को ही मुक्ति कहते हैं।

पापासक्तं हि वन्धाय पुण्यासक्तं हि मुक्तये।
मन एव मनुष्याणां कारणं वन्धमोक्षयोः॥

—स्कन्द पुराण

पाप में आसक्त मन वन्धन का और पुण्य में संलग्न मन मोक्ष का कारण है। वस्तुतः मन ही मनुष्य को वन्धन में डालता और मुक्त करता है।

मन एव मनुष्याणां कारणं वंध मोक्षयो; वन्धाय विषाय सक्तं मुक्त्यै निर्विषायं स्मृतम्।

—योगवशिष्ठ

यह मन ही मनुष्यों को वन्धन में बाँधता है। इसके द्वारा मुक्ति भी मिलती है। विषयासक्त मन वन्धन का कारण है और उसकी निर्मलता से मुक्ति मिलती है।

दृढ़भावनया चेतो यद्यथा भावयत्यलम्।
तत्तफलं तदाकारं तावत्कालं प्रपश्यति॥

—योगवशिष्ठ ४।२१।५६-५७

हे राजन्! यह मन दृढ़ भावना वाला होकर जैसी कल्पना करता है उसको उसी आकार में उतने समय तक और उसी प्रकार का फल देने वाला अनुभव होता है।

गङ्गाद्वारञ्च केदारं सन्नि हत्यां तथैव च।
एतानि सर्वतीर्थानि कृत्वा पापैः प्रमुच्यते॥

—व्यास स्मृति

जिसने अपने मन को जीत लिया उसके लिये गङ्गा-द्वार, केदारनाथ आदि सभी तीर्थों का लाभ अपने पास ही मिल जाता है।

मनो निर्मलसत्त्वात्म यद्भावयतियादृशम्।
तत्तथाशु भवत्येव यथाऽवर्तो भवेत्यमः॥

—योग वशिष्ठ ४।१७।४,

मन यदि शुद्ध है तो जैसे जल भँवर का रूप धारण कर लेता है, वह जिस वस्तु की जैसी भावना करता है वह अविलम्ब वैसी ही हो जाती है और दूसरे की मन की वात अपने मन में उतर आती है।

मन क्षेत्र पर चढ़े संचित कुसंस्कारों को हटाना और उनके स्थान पर सत्प्रवृत्तियों की स्थापना कर सकना। मानव जीवन का सबसे प्रबल पुरुषार्थ है। इसके समान श्रेयस्कर सफलता और कोई हो नहीं सकती। इस महान् उपलब्धि को प्राप्त करने में मनोमय कोश की साधना से बढ़कर और कोई उपाय हो नहीं सकता। इसकी चर्चा शास्त्रकारों ने इस प्रकार की है—

इत्येवमादिभिर्यत्नैः संशुद्धः योगिनोमनः।
शक्तं स्यादति सूक्ष्माणां महता मपि भावने॥

—सर्व दर्शन सिद्धान्त

यत्नपूर्वक मन को शुद्ध करने से योगी सूक्ष्म और गम्भीर विषयों को समझने योग्य हो जाता है।

लयविक्षेप रहितं मनः कृत्वा सुनिश्चतम्।
एतज्ज्ञानं च मोक्षं च शेषास्तु ग्रन्थविस्तराः॥
एक एव मनोदेवो ज्ञेयः सर्वार्थसिद्धिदः।
अन्यत्र विफलाक्लेशाः सर्वेषां तज्जयं विना॥
विद्यमाने मनो यावत्तावद्दुःखक्षयः कुतः।

मन को विक्षेपों से मुक्त करके सदुद्देश्य में लय करके स्थिर बना लेना—यही वह उपाय है जिससे सर्वार्थों में सिद्धि मिलती है। मन देवता ही परम देव है। उसकी साधना किये विना क्लेशों और दुःखों की निवृत्ति नहीं हो सकती। मन को जीत लेना ही सबसे बड़ी विजय है।

यह मनोनिग्रह, अन्तः सन्तुलन, चित्त परिशोधन समग्र विकास का आधार भूत उपाय है। मनोमय कोश की साधना का सत्परिणाम मनोजय है। इसे प्राप्त कर लेने वाला आत्म विजय को विश्व विजय के लाभ से भी बढ़ कर आनन्ददायक अनुभव करता है।



सूक्ष्म सिद्धियों का केन्द्र

कुछ समय पहले आस्थाएँ, आकांक्षाएं एवं सम्वेदनाओं का प्रथक् अस्तित्व नहीं माना जाता था। उसे विचार पद्धति का ही एक रूप कहा गया था। अचेतन मन के पुराने अभ्यासों का उभार भर मनोविज्ञानी उसे मानते थे। पर अब उसका स्वतन्त्र अस्तित्व मान लिया गया है। संवेदनाएँ एवं आस्थाएं मात्र वातावरण में व्यक्तियों से प्रभावित नहीं होती वरन् उनका सम्बन्ध जीव चेतना की मूल सत्ता से है। परिष्कृत अन्तःकरण को देख कर ही आत्मा की उच्च स्थिति मानी जाती है। जीवात्मा के तीन गुण अध्यात्म शास्त्र के अनुसार गिनाये गये हैं। [१] सत् [२] शिव [३] सुन्दर। जीवन तत्व की व्याख्या 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के रूप में की गई है। विज्ञान की भाषा में—सत् को उत्कृष्टता के प्रति आस्था-श्रद्धा कहा गया है। शिव का तात्पर्य है विवेक युक्त दूर-दर्शी दृष्टिकोण तदनुरूप आकांक्षाओं का प्रवाह। सुन्दरम् सौन्दर्य बोध, कलात्मकता, सम्वेदना। आत्म भाव का जिस पर भी आरोपण होता है, वह सुन्दर लगने लगता है। कला दृष्टि से सौन्दर्य बन कर प्रतिबिम्बित होती है अन्यथा इस जड़ जगत के पदार्थों में सौन्दर्य जैसा कुछ दीखता नहीं।

आस्था, उमंग और सरसता के समन्वय को अन्तःकरण या अन्तरात्मा कहा जा सकता है। पुरानी परिभाषा में मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार को अन्तःकरण चतुष्ट्य कहा जाता रहा है। अस्तु यदि वस्तुस्थिति समझने में उस नामकरण में भ्रम उत्पन्न होता हो तो अन्तःकरण के स्थान पर अन्तरात्मा शब्द प्रयुक्त हो सकता है। मनःशास्त्र के अनुसार इसे चेतना की अत्यन्त परिष्कृत स्थिति कह सकते हैं। इसमें भौतिक तत्वों का कम और आत्मिक उत्कृष्टता का समावेश अधिक है। भौतिकता प्रधान मन पर वासना, तृष्णा अहंता ही छाई रहती है, उसमें स्वार्थ सिद्धि ही प्रधान आधार होती है। अन्तरात्मा का स्वार्थ विकसित होकर परमार्थ बन जाता है। उसकी आत्मीयता शरीर परिवार तक सीमित न रह कर सर्वजनीन बन जाती है। आस्थाएं वातावरण से सम्पर्क में नहीं—आदर्शों से प्रभावित होती हैं। आकांक्षाएं लाभ को दृष्टि में रख कर नहीं, उत्कृष्टता के समर्थन पर केन्द्रित होती रहती हैं। लाभ की दृष्टि से सौन्दर्य का आरोपण नहीं होता, वरन् पदार्थों के अन्तराल में थिरकने वाली कला का सूक्ष्म दर्शन ही अन्तरात्मा में हुलास उल्लास उत्पन्न करता है। संक्षेप में चेतना की वह उच्चस्तरीय परत जो आत्मा के अति समीप है, जो वातावरण से प्रभावित कम होती है और उस पर अपनी मौलिकता का प्रभाव अधिक छोड़ती है—अन्तरात्मा कही जायगी। किसी को आपत्ति न हो तो इसी को अन्तःकरण शब्द में भी सम्बोधित किया जा सकता है।

इच्छा शक्ति, ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति चेतना त्रिवेणी के ही त्रिविध प्रवाह हैं। इनका उद्गम स्रोत अन्तरात्मा है। वहाँ की उमंगें ही इच्छा को दिशा देती हैं, उसका सकेत पाकर मस्तिष्कीय ताना वाना बुना जाता है। वहाँ के निर्देशों का पालन बिना ननुनच किए शरीर स्वामिभक्त सेवक की तरह करता रहता है। इन तथ्यों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा और संसार का सम्पर्क-सूत्र इसी केन्द्र से जुड़ता है। जीवन का स्वरूप यहीं बनता है और उसका प्रवाह यहीं से निसृत होता है। मनोविज्ञान की भाषा में इसे 'सुपरचेतन' कह सकते हैं। दार्शनिकों ने इसे अति मानस माना है। यों अरविन्द, नीत्से आदि ने अतिमानस की व्याख्याएं परस्पर विरोधी की हैं। तो भी उनका तात्पर्य चेतना के उस स्तर से है जिसे व्यक्तित्व का उद्गम अथवा मर्म-स्थल कहा जा सके। प्रत्येक सूक्ष्मदर्शी व्यक्ति के अस्तित्व में मूल-भूत सत्ता इस अन्तरात्मा की ही काम करती पाई है और उसी की सर्वोपरि गरिमा स्वीकार की है।

साधना विज्ञान में इसी अन्तरात्मा को 'विज्ञानमय कोश' कहा है। उसके परिष्कृत प्रयासों को योगाभ्यास में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। आस्थाओं का परिमार्जन होने से जीवन के बहिरंग स्वरूप में कायाकल्प होते देर नहीं लगती। वाल्मीकि, अंगुलिमाल, अम्बपाल, अजामिल,

सूर, तुलसी आदि के जीवन परिवर्तन को एक प्रकार से आश्चर्यजनक कायाकल्प ही कह सकते हैं। सामान्य स्थिति के मनुष्य असामान्य स्तर के महामानव बने हैं। इनमें भी आस्थाओं का उन्नयन ही प्रधान भूमिका निभाता दृष्टिगोचर होता है। कबीर, दादू, रैदास, रामदास, रामकृष्ण, विवेकानन्द, शंकराचार्य, दयानन्द आदि महामानव परिस्थितियों के हिसाब से कुछ अच्छी स्थिति में नहीं जन्मे थे। लिंकन, वाशिंगटन आदि की प्रगति में उनकी परिस्थिति की नहीं मनःस्थिति की ही प्रधान भूमिका रही है। ध्रुव, प्रह्लाद, बुद्ध, महावीर आदि जन्मे तो राज परिवारों में थे, पर व्यक्तित्व को उच्चस्तरीय बनाने का कोई वातावरण उपलब्ध नहीं था। नारद आदि की प्रेरणा से अथवा स्व सम्वेदनाओं से प्रभावित होकर उनने अपनी आस्थाओं में परिवर्तन किया और उतने ऊँचे जा पहुँचे जितने की सामान्यतया कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। यही अन्तःकरण के परिवर्तन एवं परिष्कार का ही चमत्कार है। यह विज्ञानमय कोश किस प्रकार परिष्कृत होता है इसके कितने ही मार्ग एवं उपाय हो सकते हैं। अनायास संयोग, दैवी, अनुग्रह आदि अन्य कारण भी इस क्षेत्र के विकास परिष्कार के कारण हो सकते हैं पर प्रयत्न पुरुषार्थ पर क्रमिक गति से अन्तःकरण का स्तर ऊँचा उठाने की प्रक्रिया विज्ञानमय कोश की साधना ही मानी गई है।

विज्ञानमय कोश का यह बहिरंग जीवन पक्ष हुआ। उसकी एक दिशा धारा सूक्ष्म जगत की ओर भी प्रवाहित होती है। हिमालय की दो प्रधान धाराएँ गंगा और यमुना के रूप में प्रवाहित होती हैं। अन्तःकरण को हिमालय माना जाय तो उसकी एक प्रक्रिया सामान्य मनुष्य को महात्मा, देवात्मा, परमात्मा स्तर तक ऊँचा उठा ले जाने वाली कही जा सकती है। दूसरी वह है जो सूक्ष्म जगत के साथ जीव-सत्ता का सम्पर्क जोड़ती है। दोनों के बीच महत्वपूर्ण आदान-प्रदान सम्भव करती है।

हम जिस दुनिया के सम्पर्क में हैं, वह स्थूल जगत है। वह इन्द्रिय गम्य है। इसके भीतर प्रकृति की वह सत्ता है जो पदार्थ की तरह प्रत्यक्ष नहीं—शक्ति के रूप में विद्यमान है और बुद्धिगम्य है। इस स्थूल जगत का परिचय, इन्द्रियों से, बुद्धि से यन्त्र उपकरणों से मिलता है। पदार्थों और प्रकृति शक्तियों का लाभ उठा सकना भी उपरोक्त स्थूल साधनों से सम्भव हो जाता है। इससे आगे सूक्ष्म जगत का अस्तित्व आरम्भ होता है, जो इन्द्रिय-गम्य न होने से अतीन्द्रिय या इन्द्रियातीत कहा जाता है। प्रयोगशाला में उसे प्रमाणित नहीं किया जा सकता और बुद्धि ही उनका आधार एवं कारण समझ सकने में समर्थ होती है। इतने पर भी उस सूक्ष्म जगत का आधार अपने स्थान पर चट्टान की तरह अडिग है। उसका अस्तित्व स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं।

जहाँ तक मानवी बुद्धि का सम्बन्ध है वहाँ अतीन्द्रिय कही जाने वाली ऐसी हलचलों का पता लगता है जो विदित आधारों से सर्वथा भिन्न हैं। मनुष्य, मनुष्यों के बीच चलने वाले विचार, संचार को टैलीपैथी कहते हैं। दूरवर्ती घटनाओं का अनायास आभास मिलने के असंदिग्ध प्रमाण मिलते हैं। इसे दूर दर्शन कह सकते हैं। भविष्य में घटित होने वाली घटनाओं का पूर्वाभास मिलना ऐसा तथ्य है जिसे झुटलाया नहीं जा सकता। ऐसे घटनाक्रम यों सर्वदा सब पर प्रकट नहीं होते—फिर भी जब भी जिन्हें भी ऐसी अनुभूतियाँ हुई हैं, वे ऐसी हैं जिनके आधार पर किसी अविज्ञात सूक्ष्म जगत का परिचय मिलता है और विदित होता है कि उसमें भी अपनी ही दुनिया की तरह कुछ न कुछ हलचलें होती अवश्य हैं। मरणोत्तर जीवन को प्रमाणित करने में भूत प्रेतों के अस्तित्व और पुनर्जन्म के विवरण एक समस्या के रूप में सामने आते हैं। जीवन के उपरान्त जीवात्मा की सत्ता कहाँ रहती है? वहाँ उसका निवास निर्वाह कैसे होता है? इन प्रश्नों का समाधान सूक्ष्म जगत का अस्तित्व स्वीकार किये बिना और किसी तरह हो नहीं सकता। किन्हीं विशिष्ट व्यक्तियों में विचित्र प्रकार की अति मानवी क्षमताएँ देखी गई हैं। इन्हें चमत्कारी सिद्धियाँ कहा जाता है। शाप, वरदान से लेकर आश्चर्यजनक कृत्य उपस्थित कर देने तक की विचित्रिताएँ कैसे, कहाँ से, उत्पन्न होती हैं इसका उत्तर सूक्ष्म जगत की सत्ता स्वीकार किये बिना और किस प्रकार दिया जा सकता है?

जन्म जात रूप से किन्हीं बालकों में ऐसी विशेषताए पाई जाती हैं, जिनकी सामान्य विकास क्रम के साथ कोई संगति नहीं बैठती। किन्हीं की स्मृति, सूझ-बूझ ऐसी होती है जिसे विलक्षण कहा जा सकता है। भूमिगत जल स्रोतों को बना कर जल समस्या के समाधान के चमत्कार कितने ही सिद्ध पुरुषों ने दिखाये हैं। बिना अन्न जल के निर्वाह शरीर विज्ञान की दृष्टि से असम्भव है पर पोहारी बाबा जैसे व्यक्तियों ने उस असम्भव का सम्भव होना सिद्ध किया है। पंजाब महाराजा रणजीतसिंह की निगरानी में हरिदास नामक साधु ने कई महीने की लम्बी भूमि समाधि ली थी। ऐसे चमत्कार अन्यत्र भी दृष्टिगोचर होते रहते हैं। देवताओं का अनुग्रह–मृतात्मा के सहयोग–मन्त्र साधना के प्रतिफल आदि ऐसे अनेकों तथ्य हैं जिन्हें अन्ध-विश्वास कह कर टाला नहीं जा सकता। मिस्र के पिरामिडों की खोज बीन करने वाले शोधकर्त्ताओं पर विपत्तियों के पहाड़ टूटते रहे हैं, उन्हें संयोग मात्र कहने से काम नहीं चल सकता। योगियों में पाई जाने वाली कई तरह की विचित्रताएं अकारण नहीं हो सकतीं। ईश्वर भक्तों को जो विशिष्टताएं उपलब्ध होती रही हैं, वे मूढ़ मान्यताएं भर नहीं है, दन्त कथाएं उनसे जुड़ी तो हो सकती हैं पर वह पूरे का पूरा अन्ध-विश्वास भर है यह कह देना तथ्यों से आँखें मीच लेने जैसा होगा। बुद्धि की समझ में जो न आये वही अप्रामाणिक, वही अविश्वस्त यह दुराग्रह कुछ समय पहले तक तो प्रबल था, पर अब विचारशीलता ने सन्तुलन साधा है और यह गम्भीरता-पूर्वक सूक्ष्म जगत के अस्तित्व की शोध की जा रही है।

सूक्ष्म जगत की एक भौतिकवादी सत्ता ही ऐसी सामने आ खड़ी हुई है जो अध्यात्मवादियों के द्वारा प्रतिपादित सूक्ष्म जगत से भी विचित्र और सशक्त है। यह मान्यता प्रति पदार्थ की—प्रति विश्व की है। एन्टीमैटर-ऐन्टी यूनिवर्स–के तथ्य इस प्रकार सामने आये हैं कि उनके आधार पर एक अपने साथ सटे हुए विलक्षण विश्व का अस्तित्व जुड़ा देख कर हतप्रभ रह जाना पड़ता है।

तन्त्र विज्ञान में 'छाया पुरुष' साधना का उल्लेख है। कहा गया है कि मनुष्य की सूक्ष्म सत्ता का प्रतिनिधित्व करने वाला इक जीवित प्रेत होता है और वह साथ ही रहता है—इसकी देवता या भूत-प्रेत जैसी साधना करके उसे आज्ञानुवर्ती बनाया जा सकता है। स्थूल शरीर—स्थूल कार्य करता है और सूक्ष्म शरीर—सूक्ष्म स्तर के काम कर सकता है। छाया पुरुष की सिद्धि में अपना ही एक और शरीर अपने हाथ आ जाता है और इन दोनों शरीरों से दो प्रकार के काम एक साथ करना सम्भव हो जाता है। इस प्रतिपादन में एक 'प्रति मनुष्य का—छाया पुरुष का अस्तित्व और क्रिया-कलाप बताया गया है। देखा जाता है कि प्रकाश में अपनी ही एक और छाया उत्पन्न हो जाती है और वह साथ-साथ रहती है। सूक्ष्म शरीरधारी छाया पुरुष की स्थिति सजीव छाया जैसी समझी जा सकती है। यह नामकरण इसी आधार पर किया गया है।

मूर्धन्य वैज्ञानिकों के सामने ऐन्टी-एटम—एन्टी मैटर एन्टी युनिवर्स का अस्तित्व एक चुनौती के रूप में खड़ा है। उसे अस्वीकार करते नहीं बनता। यदि उस अस्तित्व के तथ्य स्पष्ट हो जाते हैं और उस प्रति-विश्व की गति-विधियों से मनुष्य का सम्बन्ध जुड़ जाता है तो निश्चित रूप से एक जादुई दैत्य युग में हम सब जा खड़े होंगे। प्रति परमाणु की शक्ति अपने जाने माने परमाणु की तुलना में अत्यधिक है। अपने परिचित संसार की तुलना में अपरिचित 'एन्टी युनिवर्स' की सम्पदा-क्षमता एवं विशालता बहुत बड़ी है। उसके सन्तुलन में अन्तर पड़ जाय तो देखते-देखते 'एन्टी युनिवर्स' का महादैत्य अपने प्रत्यक्ष संसार को निगल कर हजम कर सकता है और हिरण्याक्ष की उस पौराणिक कथा का एक प्रत्यक्ष दृश्य उपस्थित हो सकता है जिसमें वह महादैत्य, उस पृथ्वी को बगल में दबा कर पाताल लोक को भाग गया था।

छाया पुरुष और 'प्रतिविश्व' की चर्चा यहाँ यह समझने के लिए की गई है कि सूक्ष्म जगत के समतुल्य अपने ही इर्द गिर्द बिखरे हुए एक सूक्ष्म जगत के अस्तित्व को समझने में सुविधा है। इन्द्रियों की पकड़ में न आने वाली यह दुनिया इतनी विलक्षण है कि उसकी हलचलों का दृश्य संसार पर भारी प्रभाव पड़ता है। पदार्थों, प्राणियों और परिस्थितियों पर उस सूक्ष्म जगत की हलचलें आश्चर्यजनक प्रतिक्रिया उत्पन्न करती हैं। प्रयत्न

और पुरुषार्थ के महत्व से इन्कार नहीं किया जा सकता, पर यह भी एक तथ्य है कि अदृश्य जगत का अतिघनिष्ठ और अति प्रभावशाली सम्पर्क दृश्य जगत से है।

जीवधारी की चेतना ब्रह्माण्ड व्यापी महा चेतना का एक अंश है। अंश और अंशी के गुण, धर्म, समान होते हैं। अन्तर विस्तार के अनुरूप क्षमता का होता है। हम सब चेतना के महासमुद्र में छोटी बड़ी मछलियों की तरह जीवन-यापन करते हैं। महाप्राण—ब्रह्म की सत्ता में ही अल्पप्राण जीव-अनुप्राणित होता है।

मैटर का—सूक्ष्मतम स्वरूप अब परमाणु नहीं रहा। उसके भीतर भी अनेक घटक स्वतन्त्र इकाइयों के रूप में काम करते हैं। वे इलेक्ट्रोन आदि के भीतर भी सूक्ष्म तत्व हैं। पदार्थ अन्ततः तरंगें न रह कर 'ऊर्जा' मात्र रह जाता है। यह ऊर्जा 'इलालाजी' विज्ञान के अनुसार जड नहीं, विवेक युक्त चेतन है। विज्ञान में पदार्थ का सूक्ष्म तम स्वरूप इन दिनों 'क्वान्टा' के रूप में निर्धारित किया है इसे चेतन और जड़ का सम्मिश्रित रूप कह सकते हैं। उसकी व्याख्या विचारशील ऊर्जा के रूप में की जाती है। अध्यात्म की भाषा में इसे अर्ध नारी नरेश्वर कह सकते हैं—प्रकृति पुरुष का सम्मिश्रण इस क्वान्टा को कह सकते हैं। अनुमान है कि अगली पीढ़ी के वैज्ञानिक इस 'क्वान्टा' का विश्लेषण करते-करते शुद्ध ब्रह्म तक जा पहुँचेंगे और वेदान्त की तरह स्वीकार करेंगे कि सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म संव्याप्त है। चेतना का महासमुद्र हा सर्वत्र लहलहा सकता है। जड़ पदार्थ—दृश्य जगत तो उसकी हिलोरें मात्र हैं।

○ जीव और ब्रह्म के मध्य आदान-प्रदान के सुदृढ़ सूत्र विद्यमान हैं। उनमें अवरोध आत्मा पर चढ़े हुए कषाय कल्मषों के कारण उत्पन्न होता है। इन्हें हटाया जा सके तो ब्रह्माण्डीय चेतना और जीव चेतना के मध्य महत्वपूर्ण आदान-प्रदान चल पड़ते हैं। भौतिक अंश का भार बढ़ जाने से जीव प्रकृति परक हो जाता है उसकी प्रवृत्ति भौतिक आकांक्षाओं और उपलब्धियों में ही सीमित हो जाती है। फलतः वह स्वल्प, सीमित और दरिद्र दिखाई पड़ता है। यदि जीव सत्ता को निर्मल रखा जा सके तो उसकी सूक्ष्मता—ब्रह्म-तत्व से, सूक्ष्म जगत से अपना घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर सकती है। यह आदान-प्रदान जिसके लिए भी सम्भव हुआ है वह देवोपम स्तर की स्थिति बना सका है। ऐसे लोगों को स्थूल जगत की अपेक्षा सूक्ष्म जगत से अधिक महत्वपूर्ण अनुदान अधिक मात्रा में मिलने लगते हैं। वह सम्पदा व्यक्ति को सच्चे अर्थों में समुन्नत बनाती है। इस उपलब्धि के सहारे वह अपने सम्पर्क क्षेत्रों के असंख्यों का तथा समूचे संसार का महत्वपूर्ण हित साधन कर सकता है।

सूक्ष्म जगत का अस्तित्व स्वीकार न करने की बात कुछ शताब्दियों पूर्व अनास्थावादियों की आग्रह पूर्वक कह सकने की स्थिति थी। तब विज्ञान और बुद्धि वाद का इतना विकास नहीं हुआ था। आज की स्थिति भिन्न है। एक के बाद एक तथ्य उभरता हुआ सामने आया है और उसने सूक्ष्म जगत का—विश्व चेतना का प्रतिपादन किया है। तत्वदर्शी मनीषियों ने तो उसे दृश्य जगत की तरह ही प्रत्यक्ष माना था और उसके साथ सम्पर्क बनाने का विशालकाय अध्यात्मवादी ढांचा खड़ा किया था। लगता है वह दिन दूर नहीं जब अध्यात्म और विज्ञान सूक्ष्मता के क्षेत्र में मिल जुलकर प्रवेश करेंगे और जड़ चेतन के क्षेत्र को एकाकार करके सर्वतोमुखी प्रगति का पथ-प्रशस्त करेंगे।

छाया पुरुष साधना की तरह हम स्थूल के साथ-साथ सूक्ष्म जगत का भी, ज्ञान वृद्धि एवं सुविधा सम्पदा के लिए उपयोग कर सकते हैं। दृश्य प्राणियों की तरह अदृश्य जगत में विद्यमान अशरीरी समर्थ आत्माओं के साथ सम्पर्क साध सकते हैं। जमीन पर लड़ी जाने वाली लड़ाई की तुलना में वायु सेना द्वारा लड़े जाने वाले युद्ध के परिणाम अधिक दूरगामी होते हैं। श्रम से ज्ञान का महत्व अधिक है। परमाणु के दृश्य अस्तित्व का मूल्य नगण्य है किन्तु उसके विस्फोट से उत्पन्न ऊर्जा का मूल्य अत्यधिक ही आँका जायगा। दृश्य शरीर से अदृश्य आत्मा का महत्व कितना है—यह सर्वविदित है। स्थूल जगत को प्रभावित करने वाले सूक्ष्म जगत से सम्पर्क साध सकने की जो क्षमता विज्ञानमय कोश की साधना से मिलती है, उसे महत्वहीन नहीं कहा जा सकता।

विज्ञानमय कोश की प्रसुप्त स्थिति को हटा कर उसमें

जागृति उत्पन्न कर देने पर मनुष्य सामान्य न रह कर असामान्य बन जाता है। उसे अनेक प्रकार की असाधारण विशेषताएँ प्राप्त कर सकने का अवसर मिलता है। सूक्ष्म जगत का उपयोग कर सकने की सफलताओं को सिद्धियाँ कहा गया है। साधना से सिद्धि की प्रचलित उक्ति को विज्ञानमय कोश की सफलता कहा जाय तो कुछ अनुचित न होगा।

सिद्धियों का वर्णन साधना शास्त्र में स्थान-स्थान पर मिल सकता है। इस प्रकार की सफलता प्राप्त करने के लिए विज्ञानमय कोश के जागरण का प्रयत्न करना पड़ता है। इस सन्दर्भ में कुछ संकेत इस प्रकार मिलते हैं—

वपुषः कान्तिरुत्कृष्टा जठराग्निविवर्धनम्।
आरोग्यं च पटुत्वं च सर्वज्ञत्वं च जायते॥
भूतं भव्यं भविष्यच्च वेत्ति सर्वं सकारणम्।
अश्रुतान्यपि शास्त्राणि सरहस्यं वदेद् ध्रुवम्॥
वक्त्रे सरस्वती देवी सदा नृत्यति निर्भरम्।
मन्त्र सिद्धिर्भवेत्तस्य जपादेव न संशयः॥

—शिव संहिता ८७-८८-८९

आत्म साधना से शरीर में उत्तम कान्ति उत्पन्न होती है। जठराग्नि बढ़ती है, शरीर निरोग होता है, पटुता और सर्वज्ञता प्राप्त होती है तथा सब वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त होता है।

भूत, भविष्य और वर्तमान काल की सब वस्तुओं के कारण का ज्ञान होता है। जो शास्त्र सुने नहीं हैं उनके रहस्य जानने तथा व्याख्या करने की शक्ति प्राप्त होती है।

उस योग साधक की जिह्वा पर सरस्वती नृत्य करती और मन्त्र आदि सरलता पूर्वक सिद्ध होते हैं।

यथा वा चित्तसामार्थ्यं जायते योगिनो ध्रुवम्।
दूरश्रुतिर्दूरदृष्टिः अणाद्दूरागमस्तथा॥
वाक्सिद्धिः कामरूपत्वमदृश्यकरणी तथा।

—योग तत्वोपनिषद्

जैसे-जैसे चित्त की सामर्थ्य बढ़ती है, वैसे ही वैसे दूर श्रवण, दूर दर्शन, वाक् सिद्धि, कामना पूर्ति, आदि अनेकों दिव्य सिद्धियाँ मिलती चली जाती हैं।

आसनेन रुजो हन्ति प्राणायामेन पातकम्।
विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण सर्वदा॥
धारणाभिर्मनोधैर्यं ध्यानादैश्वर्यमुत्तमम्।
समाधौ मोक्षमाप्नोति त्यक्तकर्मशुभाशुभः॥

—वशिष्ठ संहिता

आसन से रोग, प्राणायाम से पातक, प्रत्याहार से मनोविकार दूर होते हैं और धारणा से धैर्य, ध्यान से ऐश्वर्य और समाधि से मोक्ष प्राप्त होता है। कर्म बंधन कटते हैं।

ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः॥

—सां० का० ५१

ऊह, शब्द, अध्ययन, सुहृद प्राप्ति, दान, आध्यात्मिक दुःख हीन, आधिदैविक दुख हीन यह आठ सिद्धियाँ हैं।

(१) ऊह सिद्धि अर्थात् पूर्व जन्म के स्वरूप का ज्ञान। (२) शब्द सिद्धि अर्थात्—शब्दों का ठीक तात्पर्य समझना। (३) अध्ययन सिद्धि—अध्ययन में अभिरुचि और उससे प्रकाश ग्रहण करने की क्षमता। (४) सुहृत्प्राप्ति अर्थात् भावनाशील मित्र की प्राप्ति। (५) दान सिद्धि—उदार स्वभाव एवं परमार्थ परायण प्रवृत्ति। (६) आध्यात्मिक दुःखों का नाश। (७) आधिदैविक दुःखों का नाश। (८) आधि भौतिक दुःखों का नाश जिससे हो सके ऐसी विवेक दृष्टि की प्राप्ति।

करामलकवद्विश्वं तेन योगी प्रपश्यति।
दूरतो दर्शनं दूरश्रवणं चापि जायते॥
भूतं भव्यं भविष्यं च वेत्ति सर्वं सकारणम्।
ध्यानमात्रेण सर्वेषां भूतानां च मनोगतम्॥
अंतर्लीनमना योगी जगत्सर्वं प्रपश्यति।
सर्वगुप्तपदार्थानां प्रत्यक्षत्वं च जायते॥

—योग रसायन

योगी को अदृश्य जगत दृश्यवत् दीखता है। उसे दूर दर्शन, दूर श्रवण आदि की सिद्धियाँ उपलब्ध रहती हैं। ध्यान मात्र से योगी भूत, भविष्य, वर्तमान तथा प्राणियों के मनोगत भाव जान लेता है।

अन्तर्लीन मन द्वारा योगी विश्व के गुप्त पदार्थों एवं रहस्यों को प्रत्यक्षवत् देख और जान लेता है। ★

आनन्दमय कोश की तीन उपलब्धियाँ समाधि स्वर्ग और मुक्ति

आनन्द जीवात्मा का लक्ष्य है। उसे प्यास इसी की है। कस्तूरी का हिरन जिस प्रकार सुगन्ध की खोज में चारों ओर मारा-मारा फिरता है, उसी प्रकार जीव आनन्द की खोज में विविध कल्पनाएँ करता—विभिन्न योजनाएँ बनाता और अगणित प्रयत्न करता है, पर हर सफलता अपर्याप्त और असमाधान कारक ही बनी रहती है। हिरन की नाभि में कस्तूरी होती है और आनन्द का अक्षय भण्डार अन्त:करण की गहरी परत आनन्दमय कोश में भरा रहता है। जो वस्तु जहाँ है उसे वहाँ तलाश न करके अन्यत्र ढूँढ़ा जाय तो उससे भटकाव और थकान के अतिरिक्त मिलता कुछ नहीं।

आनन्द का मिठास अत्यधिक गहरा है। उसकी प्रतिच्छाया वासना, तृष्णा, अहंता में परिलक्षित होती है और उसकी कल्पना मात्र से पुलकन उठती है। प्रतिध्वनि में जब इतनी मधुरता है तो ध्वनि में कितनी अधिक उत्कृष्टता होगी? आनन्दमय कोश में प्रवेश करके ही जीवात्मा को परम तृप्ति का सन्तोष मिल सकता है। यही जीवन का लक्ष्य है। इसी की आशा पर प्राणी जीवित है। इसी के लिए वह शरीर बन्धन में बँधने को तैयार हुआ है। कहा गया है—

'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।'

—वृहदारण्यक ४।३।३२.

इस आनन्द के प्राप्त होने की आशा से ही समस्त प्राणी जीवित रहते हैं।

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनंदाद्धयेव खाल्विमानि भूतानि जायंते। आनंदेन जातानि जीवंति। आनंद प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।

—तैत्तरीयोपनिषद्

आनन्द से सब प्राणी पैदा होते हैं और आनन्द में ही वे जीवित रहते हैं। अन्त में आनन्द में ही वे जय को प्राप्त होते हैं।

आनंदानुभवस्तत्र जायते योगिनो महान्।
स एव तं विजानाति मया वक्तुं न शक्यते॥

—योग रसायनम् ११४

उस समय योगी को महान् आनन्द का अनुभव होता है, जिसे वही जानता है, मैं वर्णन नहीं कर सकता।

मुच्यमानेषु सत्वेषु ये ते प्रापोद्यसागराः।
तैरेवननुपर्याप्तं मोक्षेणा रसिकेन किम्॥

—बोधिचर्यावतार ८।१०८

जीव जब दुःख बन्धन से मुक्त होते हैं, तब उससे बोधिसत्व के हृदय में जो आनन्द का समुद्र उमड़ पड़ता है, उतना ही तो पर्याप्त है। रस हीन शुष्क मोक्ष से क्या प्रयोजन?

रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। को ह्येवान्यात् कःप्राण्यात्? यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति॥

—केन २।७

भगवान् रसमय या रस-स्वरूप है। उसी रस को पाकर मनुष्य आनन्द का अनुभव करता है। यदि वह आकाश की भाँति सर्वत्र ओत प्रोत आनन्दमय मूलतत्व न होता, तो कौन अपान और प्राण-रूप क्रियाओं से युक्त जीवन-मात्र में आनन्द का अनुभव करता। वास्तव में वही तत्व प्रत्येक प्राणी के आनन्द का मूल स्रोत है।

परमेश्वर को रस कहा गया है। यह रस भौतिक नहीं आत्मिक है। उसे उल्लास, सन्तोष, तृप्ति,

शान्ति जैसी दिव्य सम्वेदनाओं में अनुभव किया जाता है। इसकी उपलब्धि आन्तरिक उत्कृष्टता के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई है। अंतरात्मा जितना पवित्र और उदात्त बनता जाता है, उसी अनुपात से यह आनन्द बढ़ता है। यह उत्कृष्ट दृष्टिकोण तथा उच्चस्तरीय कर्म-परायणता पर निर्भर है। निकृष्ट चिन्तन और भ्रष्ट क्रिया-कलाप के रहते अन्य किसी उपाय से इस आनन्द का दर्शन हो नहीं सकता। आनन्द की आकांक्षा करने वाले हर व्यक्ति को आनन्दमय कोश की गहराई में उतर कर उस उद्गम स्रोत तक पहुँचना पड़ता है जहाँ से दिव्य आनन्द की प्रकाश किरणें फूटती हैं।

आनन्द का स्वरूप, आधार और स्थान विदित हो जाने पर मान्यता स्थिर होती है। क्या करने से क्या मिलता है? यह निश्चित हो जाना ही भ्रान्ति का निवारण है वस्तु स्थिति का ज्ञान ही तत्वज्ञान है। आत्मिक समस्याएँ ही सबसे बड़ी समस्याएँ हैं। उन्हीं के समाधान से वास्तविक समाधान होता है। अस्तु अन्तरात्मा की उलझनों को सुलझा देने वाले ज्ञान को ही ब्रह्मज्ञान, तत्वज्ञान, आत्म-ज्ञान, सद्ज्ञान आदि के नाम से पुकारते हैं। आनन्द प्राप्ति के लिए सर्व प्रथम इसी आन्तरिक समाधान और दिशा निर्धारण का प्रयत्न करना पड़ता है। समाधि इसी स्थिति का नाम है। आनन्द की उपलब्धि में सर्व प्रथम इसी का प्रयत्न किया जाता है। समाधि से मतलब मूर्च्छित हो जाना माना जाता है। हठयोग के अन्तर्गत ऐसे प्रयोग भी हैं जिनमें श्वास क्रिया रुकती और हृदय की धड़कन घटती है। वैसी दशा में चेतना निःचेष्ट होकर बहुत समय तक पड़ी रहती है। चेतन और अचेतन को गहरी निद्रा में सुला कर पूर्वाग्रहों एवं पूर्व संस्कारों की उत्तेजना शान्त करना इसका उद्देश्य माना जाता है। ऐसा समय हर किसी के लिए सरल नहीं है। उसके लिए नाड़ी-शोधन, चक्र-वेधन, प्राण साधना जैसी अनेक कठिन मंजिलें पार करनी पड़ती हैं। वह विशेष लोगों का विशेष कृत्य है। सर्व साधारण की समाधि वह है जिसमें जीवन की दिशा-धारा अस्त-व्यस्त न रहने देकर एक सुनिश्चित मार्ग पर प्रवाहित की जाती है। वर्षा का पानी मारा-मारा फिरे तो उससे हानि ही होगी। नदी-नाले के माध्यम से उसके बहने में ही लाभ है। चिन्तन की दिशा निर्धारण हो जाना और आकांक्षाओं एवं विचारणाओं का उत्कृष्टता की दिशा में बहने लगना ही समाधि है। समाधि का अभ्यास होने पर बिखराव-भटकाव समाप्त होता है और चिन्तन तथा कर्म का समुचित लाभ मिल सकने की स्थिति बन जाती है इसलिए आनन्दमय कोश की साधना के प्रथम चरण में 'समाधि' परक प्रयोग किये जाते हैं। यह जागृत समाधि है। इसमें मूर्छित होने की आवश्यकता नहीं पड़ती; वरन् प्रलोभन एवं भय की उत्तेजनाओं को शान्त करना पड़ता है। ऐषणाओं के आवेश ठण्डे पड़ने पर मनुष्य अपना लक्ष्य देख पाता है। निर्धारित दिशा में चल पड़ने की बात इससे पूर्व बन ही नहीं पड़ती। आनन्दमय कोश के साधकों को जिस एकाग्रता की आवश्यकता बताई गई है, वह एक केन्द्र पर सोचते रहने की मानसिक विधि नहीं, वरन् लक्ष्य का सुनिश्चित निर्धारण और अभिगमन है। ऐसी मनःस्थिति को 'समाधिस्थ' कहा गया है।

'सम्यगाधीयत एकाग्री क्रियते
विक्षेपान्परिहृत्य मनो यत्र स समाधिः।' —भोज

जिसमें मन को विक्षेपों से हटाकर यथार्थ में एकाग्र किया जाता है, वह स्थिति समाधि है।

त्यक्त्वा विषयभोगांश्च मनोनिश्चलतां गतम्।
आत्मशक्तिस्वरूपेण समाधिः परिकीर्त्तितः ॥
—दक्षस्मृति ७।२१

विषय भोगों की चंचलता त्याग कर जिसने स्थिर मनःस्थिति प्राप्त करली, आत्म-बल प्राप्त कर लिया उसकी स्थिति 'समाधि' की ही है।

सलिले सैन्धवं यद्वत्साम्यं भजति योगतः।
तथाऽऽत्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते ॥
—हठ० प्र० ४।५

अर्थ—जैसे लवण जल में मिलने से जल के ही रूप को प्राप्त हो जाता है वैसे ही आत्मा एवं मन का एक रूप होना समाधि कहलाता है।

तत्समं च द्वयोरैक्यं जीवात्मपरमात्मनोः।
प्रनष्टसर्वसंकल्पः समाधिः सोऽभिधीयते ॥
—योग संध्या

जीवात्मा और परमात्मा इन दोनों की एकरूपता को ही समता कहते हैं और उस समय नष्ट हुए हैं सम्पूर्ण सङ्कल्प जिसमें उसको समाधि कहते हैं।

समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः।
संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः॥

—याज्ञवल्क्य

जीवात्मा और परमात्मा की इच्छा एवं दिशा जब एक जैसी होती है, वे वियोग से हटकर एकत्व स्थापित करते हैं तो उस स्थिति को समाधि कहते हैं।

यत्समत्वं तयोरत्र जीवात्मा परमात्मनोः।
समस्त नष्ट संकल्पः समाधिरभिधीयते॥
स्वयमुच्चलिते देहे देहीनित्य समाधिना।
निश्चलं तं विजानीयात् समाधिरभिधीयते॥

—सौभाग्य० उपनिषद्

ललक और लिप्साओं की आकांक्षाएँ नष्ट होने पर जब जीव और ब्रह्म के बीच एक दिशा का—एकता का—निर्धारण होता है तो उस स्थिति को समाधि कहते हैं। प्रलोभनों की चंचलता शिथिल होने पर जो आत्म स्थिरता प्राप्त होती है वही समाधि है।

आन्तरिक दिव्य क्षमताओं का विनाश तो तृष्णा जन्य चंचलता से होता है। यदि वह उद्विग्नता न रहे, लक्ष्य की ओर चलने का निश्चित सङ्कल्प बन जाय तो अपव्यय रुकने से आत्म-शक्ति का संग्रह और अभिवर्धन होता चलता है। फलतः कितनी-ही प्रकार की दिव्य क्षमताएँ उभरती चली जाती हैं। इन विभूतियों का परिचय कितने ही रूपों में मिलता रहता है। यथा—

समाध्यभ्यासतो नित्यं जायतेऽन्तर्मनोलयः।
अंतर्दृष्टिप्रकाशश्च तस्य संजायते क्रमात्॥

—योग रसायन

समाधि के नित्य अभ्यास से क्रमशः मन अन्तर्लीन हो जाता है और अन्तर्दृष्टि प्रकाशित होती है।

स्वप्नदृष्टपदार्थोघो मृषा भवति निश्चितम्।
समाधौ त्वमृषा सर्वं वस्तु कार्यकरं तथा॥

—योग रसायनम्

स्वप्न में देखे गये पदार्थ मिथ्या होते हैं, जबकि समाधिस्थिति में अनुभूत बातें सत्य होती हैं तथा उनके द्वारा समाधि के उपरान्त भी वास्तविक लाभ होता है।

समाधि की आन्तरिक स्थिरता प्राप्त होने पर साधक का दृष्टिकोण परिष्कृत होता है। वह विधेयात्मक और रचनात्मक गुणग्राही चिन्तन पद्धति का अभ्यास करता है। अपने सद्गुणों को बढ़ाता है और दूसरों का सद्गुण प्रधान पक्ष खोजता है। सृष्टि में यों कुरूपता भी विद्यमान है और मनुष्य में तामसिकता के अंश भी मौजूद है, बदलने और सुधारने के लिए रचनात्मक प्रवृत्ति की आवश्यकता है। असहयोग, विरोध और दण्ड जैसे कटुकृत्यों का निषेध नहीं है, पर वे द्वेष और घृणा से प्रेरित नहीं, सुधार की हित कामना से होने चाहिए। इस प्रकार संसार के अशुभ पक्ष से निपटते हुए भी आन्तरिक उत्कृष्टता स्थिर रखा जा सकती है। श्रेष्ठता का पक्ष तो अधिक मात्रा में है ही अन्धकार से प्रकाश इस संसार में अधिक है। दुष्टता की तुलना में श्रेष्ठता कम नहीं है। उसी को खोजा, अपनाया जाय, सम्पर्क सम्बन्ध उसी से साधा जाय और उसी के अभिवर्धन-परिपोषण में निरत रहा जाय तो मस्तिष्क में निरन्तर सात्विक उत्साह छाया रहेगा। सौन्दर्य दृष्टि विकसित होने पर विश्व-व्यापी सौन्दर्य का दर्शन होने लगेगा। पदार्थों और प्राणियों में पाई जाने वाली श्रेष्ठता के सम्पर्क में आने से शिवत्व की झाँकी मिलती है। इस विश्व के मूल में ब्रह्म सत्ता ही आलोकित है यह समझने वालों को 'सत्य' की प्राप्ति होती है। परिष्कृत दृष्टिकोण वालों को सत्यं शिवं सुन्दरम् का दर्शन हर घड़ी होता है और सर्वत्र स्वर्ग की उपस्थिति प्रतीत होती है।

सन्त इमर्सन कहा करते थे कि "मुझे" नरक में भेज दो मैं अपने लिए वहीं स्वर्ग बना लूँगा। इस कथन में परिपूर्ण तथ्य भरा पड़ा है। परिष्कृत दृष्टि से समीपवर्ती वातावरण में भी बहुत कुछ सुधारात्मक अनुकूलता उत्पन्न की जा सकती है, किन्तु स्थिति से अनुकूल प्रतिक्रिया उपलब्ध कर सकना तो पूर्णतया अपने हाथ की बात है। स्वर्ग इस दिव्य दर्शन का—उत्कृष्ट चिन्तन का नाम है। उसे कोई स्थान विशेष नहीं माना जाना चाहिए, वह वस्तुतः एक दृष्टिकोण भर है। नरक और स्वर्ग को निकृष्ट और उत्कृष्ट चिन्तन की अशुभ एवं शुभ प्रतिक्रिया ही समझा जाना चाहिए। हर व्यक्ति इमर्सन की तरह ही

अपने लिए अपने सुखद स्वर्ग का सृजन दृष्टिकोण को परिष्कृत करके सहज ही कर सकता है। समाधि से स्वर्ग की अनुभूति और प्राप्ति होना सुनिश्चित है। इसी का उल्लेख इस प्रकार मिलता है—

वाक् शौच कर्म शौचं च यंच शौच जलात्मकम्।
त्रिभिः शौचै रुपेतो यः स स्वर्गो नात्र संशयः॥
—महाभारत वन०

वाणी की पवित्रता, कर्मों की पवित्रता, जलात्मक पवित्रता, जो स्थान या अवस्था इन तीन पवित्रताओं से मुक्त हो। वही स्वर्ग है, इसमें संशय नहीं है।

स्वर्गिणोऽप्येतमिच्छन्ति लोकं निरयिणस्तथा।
साधकं ज्ञानभक्तिभ्यामुभयं तदसाधनम्॥
—योग संध्या

स्वर्ग के रहने वाले देवता भी इस मनुष्य देह में जन्म की अभिलाषा करते हैं क्योंकि वह मनुष्यलोक ज्ञान भक्ति द्वारा मोक्ष का साधन होने से श्रेष्ठ है।

किंचन द्वेष्टि तथा न किंचिदपि काङ्क्षति।
भुङ्क्तेयः प्रकृतान् भोगान् स जीवन्मुक्त उच्यते॥
—महोपनिषद २।६०

जो केवल प्राप्त भोगों का उपभोग करने वाला आकांक्षाओं से रहित तथा किसी के प्रति ईर्ष्या-द्वेष नहीं करता वह जीवन मुक्त है।

भूमौयावद्यस्य कीर्तिस्तावत्स्वर्गे स तिष्ठति।
अकीर्तिरेवनरको नान्योस्ति नरको दिवि॥
—शुक्रनीति

जिसकी कीर्ति जब तक भूमि में टिकती है तब तक वह स्वर्ग में रहता है, अपकीर्ति ही नरक है। दूसरा नरक परलोक में नहीं है।

पराङ्विवैस्वर्गो लोकः।
—शत० १३।१।२।३

स्वर्ग कहीं अन्यत्र नहीं, अपने ही भीतर है।

समाधि और स्वर्ग के उपरान्त आनन्दमय कोश की तीसरी उपलब्धि है—मोक्ष। मोक्ष अर्थात् बन्धन मुक्ति। बन्धन अर्थात् पिछड़ेपन के कुसंस्कार कषाय-कल्मष। जीव को बाँध सकने वाली संसार की और कोई शक्ति नहीं है। उसकी निज की दुर्बलताएँ और निकृष्टताएँ ही प्रगति के पथ पर बढ़ चलने से रोकने वाली सबसे बड़ी बाधाएँ हैं। मकड़ी अपना जाल आप बुनती और उसी में फँसी रहती है। रेशम के कीड़े भी अपना बन्दीग्रह आप बनाते हैं। मनुष्य के भव-बन्धन उसी ने अपने हाथों विनिर्मित किये हैं और स्वयं ने ही उन्हें हथकड़ी बेड़ी की तरह धारण किया है। भेड़ों के झुण्ड में पले सिंह, शावक की तरह ओछेपन का आवरण अपने ही अज्ञान से हमने ओढ़ा है। बन्धनों का कितना कष्ट होता है इसे पशु-पक्षी तक जानते हैं जो विवशता में तनिक भी कमी आने पर बेतरह भाग खड़े होते हैं, भले ही उन्हें कितने ही अभावों और संकटों का सामना क्यों न करना पड़े?

मनुष्य ईश्वर का सबसे बड़ा राजकुमार है। उसकी सम्भावनाएँ असीम हैं। उपलब्ध साधनों का सदुपयोग करके वह इसी जीवन में उतनी उच्चस्थिति में पहुँच सकता है जिसे देवात्मा-परमात्मा के समतुल्य कहा जा सके। इस प्रगति में परिस्थिति की नहीं मनःस्थिति की ही प्रधान बाधा है। यदि जीवन की सार्थकता के लिए जो करना है उसे समझ और अपना लिया जाय तो फिर वह स्थिति बन जायगी जिसे ईश्वर की समीपता कहते हैं। मोक्ष इसी का नाम है।

मोक्ष के सम्बन्ध में विचित्र मान्यताएँ प्रचलित हैं। कोई उसे जन्म-मरण से आवागमन से छुटकारा बताता है कोई इस संसार को छोड़कर किसी अन्य लोक में चले जाने की कल्पना करता है। किसी को काम न करने की—बैठे-ठाले हर इच्छा पूरी होते रहने की स्थिति मोक्ष प्रतीत होती है। किन्हीं-किन्हीं की उड़ान विचित्र है, वे भगवान् का कोई विशेष नगर, ग्राम, लोक मानते हैं और उनके पास दरबारियों की तरह जा विराजने की कल्पना करते हैं। सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य यह चार स्थिति मुक्ति में मिलने की बात बताई जाती है। सालोक्य का मतलब है भगवान के लोक में अपने लिए भी एक प्लॉट बन जाना। सामीप्य का मतलब है उनके दरबारी कर्मचारियों में नियुक्ति होना। सारूप्य का अर्थ है—भगवान जी की डमी कापी बनकर रहना। सुरक्षा के लिए डिक्टेटर लोग प्रायः अपनी ही शकल-सूरत का एक दूसरा आदमी रखते भी थे जिसे खतरे के स्थान पर भेज

कर वे स्वयं सुरक्षित रह सके। सायुज्य का तात्पर्य है साझेदारी। उनकी सम्पत्ति अथवा सत्ता में अपनी घुसपैठ बन पड़ना यह सायुज्य मुक्ति कही जायगी। यह सभी उपहासास्पद बाल कल्पनाएँ हैं। इन्हें अलङ्कारिक वर्णन के रूप में प्रस्तुत किया गया है, पर उदाहरणों को तथ्य मान लेने की भूल अपना ली गई।

मोक्ष का तात्पर्य है—आत्मसत्ता को भौतिक न मानकर विशुद्ध चेतन तत्व के रूप में अनुभव करने लगना। सुखानुभूति, प्रसन्नता एवं सफलता भौतिक साधनों से मिलने के स्थान पर आन्तरिक परिष्कार के आधार पर उपलब्ध होने के तथ्य पर विश्वास करना। पशु-प्रवृत्तियों की कुसंस्कारिता से छूटकर मानवी दैवी संस्कृति को व्यवहार में उतारना। उत्कृष्टता ही ईश्वर है। ईश्वर की समीपता अथवा प्राप्ति का मतलब है अपनी आकांक्षाओं, चेष्टाओं, दिशा-धाराओं को उत्कृष्टता के साथ अविच्छिन्न रूप से जोड़ देना। लोक-मानस, लोक-प्रवाह जिस स्वार्थ एवं पतन की दिशा में बहता चला जा रहा है उस विवशता से अपने को मुक्त कर लेना—मछली की तरह धार को चीरते हुए उलटे प्रवाह में तिर सकना। यह अन्तःस्थिति जिसे भी प्राप्त हो उसे बन्धन मुक्त कह सकते हैं। मोक्ष अथवा मुक्ति को जीवन का परम फल बताया गया है। उसका स्वरूप यही है।

मरने के बाद स्वर्ग या मुक्ति का लाभ मिल सकता है। ऐसा सोचना व्यर्थ है। यह उपलब्धियाँ इसी जीवन की हैं। इनका आनन्द इसी जीवन में—आज ही मिलना चाहिए। यह सब कुछ दृष्टिकोण के—आन्तरिक स्तर के—परिवर्तन पर निर्भर है। मुक्ति जीवित रहने पर ही मिलती है। मरने के बाद जो कुछ होता है वह जीवित स्थिति की प्रतिक्रिया भर कही जा सकती है। अस्तु आत्मिक प्रबल पुरुषार्थ की सुखद उपलब्धि इसी जीवन में मिलने की बात सोचनी चाहिए। जीवित रहते ही यह स्थिति मिलती है इसलिए उसे 'जीवन्मुक्ति' भी कहा जाता है। मुक्ति—जीवन मुक्ति का ही संक्षेप है। निष्कृष्टता से—ओछेपन से छुटकारा पाने वाला कोई भी व्यक्ति इसी जीवन में मुक्ति का आनन्द ले सकता है इस सन्दर्भ में शास्त्रकारों का अभिमत इस प्रकार है—

> उद्वेगानन्दरहितः समया: स्वच्छया धिया।
> न शोचते न चोदेति स जीवन्मुक्त उच्यते॥
> —महोपनिषद २।५७

जो उद्वेग और आनन्द से रहित, शोक अथवा हर्षोत्साह से ममत्व एवं स्वच्छ बुद्धि वाला है, वह जीवन मुक्त है।

> घृणा शंका भयं लज्जा जुगुप्सा चेति पंचमी
> कुलं शीलं च शक्ति श्चाष्टौ पाशाः प्रकीर्तिताः
> पाशबद्धः पशुः प्रोक्तो पाशमुक्तः सदा शिवः।
> —तन्त्र कौस्तुभ

घृणा, शङ्का, भय, लज्जा, जुगुप्सा कुल, शील, शक्ति यह आठ पाश हैं। जो इनमें बँधा है सो पशु है और जो मुक्त है सो शिव है।

> मौनवान् निरहभावो निर्मानो मुक्त मत्सरः।
> यः करोति गतोद्वेगः स जीवन्मुक्त उच्यते॥
> —महोपनिषद २।५०

जिसने अहङ्कार के भाव का परित्याग कर दिया है, मान-मत्सर के विकार से मुक्त हो गया है, जो उद्वेग रहित होकर कर्म में रत है, उसे ही ज्ञानीजन जीवन मुक्त कहते हैं।

> यः समस्तार्थ जालेषु व्यवहार्यपि निस्पृहः।
> परार्थेष्विव पूर्णात्मा स जीवन्मुक्त उच्यते॥
> —महोपनिषद २।६२

विश्व के सभी अर्थ—जालों के मध्य स्थिर होकर भी पराये धन से निस्पृह रहने वाले धर्मात्मा के समान जो पुरुष निस्पृह रहता है, वह आत्मा में ही पूर्णता का अनुभव करने वाला महात्मा जीवन्मुक्त है।

> द्वे पदे बन्धमोक्षाय निर्ममेति ममेति च।
> ममेति बध्यते जन्तुर्निर्ममेति विमुच्यते॥
> —महोपनिषद ४।७२

बन्धन और मोक्ष में केवल दो पद का अन्तर है। मेरा है यही बन्धन है। मेरा नहीं है, यही मुक्ति है।

> जरा मरणम पच्च राज्यं दारिद्यमेव च।
> रम्यमित्येव यो भुङ्क्ते स जीवन्मुक्त उच्यते॥
> —महोपनिषद २।५५

जो वृद्धावस्था, मृत्यु, विपत्ति, ऐश्वर्य-भोग एवं दारिद्र्य में समभाव रखता हुआ सब स्थितियों में सन्तुष्ट रहता है, वह जीवन मुक्त है।

उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः ।
तथैव ज्ञानकर्मभ्यां प्राप्यते शाश्वती गतिः ।।

—योग वशिष्ठ

जैसे पक्षी आकाश में दोनों पंखों से उड़ते हैं, इसी प्रकार ज्ञान और कर्म से मुक्ति प्राप्त होती है।

मोक्षस्य नहि वासोऽस्ति न ग्रामान्तरमेव वा ।
अज्ञानहृदयग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृतः ।।

—योग संध्या

किसी स्थान-विशेष में या लोकान्तर में निवास करने का नाम मोक्ष नहीं। अज्ञान रूपी हृदय ग्रंथि का नाश ही मोक्ष है।

समाहितो ब्रह्मपरोऽप्रमादी
शुचिस्तथैकान्तरतिर्यतेन्द्रियः ।
समाप्नुयाद्योगमिमं महात्मा
विमुक्तिमाप्नोति ततः स्वयोगतः ।।

—मार्कण्डेय पुराण

अप्रमादी, पवित्रात्मा, इन्द्रियजयी, सम्यक् बुद्धि, ब्रह्म परायण व्यक्ति अपने ही पुरुषार्थ से जीवन मुक्त बनते हैं।

नमोक्षो नभसः पृष्टे न पाताले न भूतले ।
सर्वाशा संक्षये चेतः क्षयो मोक्ष इतीर्यते ।।

—योग वशिष्ठ

मोक्ष का स्थान आकाश, पाताल या भूतल नहीं है। भ्रान्तियों और संशयों का नष्ट हो जाना ही मोक्ष है।

यस्तु शान्त्यादि युक्तः सन्मात्मत्वेन पश्यति ।
स जायते परं ज्योतिरद्वैतं ब्रह्म केवलम् ।
आत्म स्वरूपावस्थानं मुक्ति रित्यभिधीयते ।

—शिव गीता

जब अन्तरात्मा का समाधान हो जाता है, शान्ति और समता रहती है तो अपने भीतर आत्म-ज्योति का दर्शन होता है। इसी अन्त स्थिति को मुक्ति कहते हैं।

दुःख जन्म प्रवृत्ति दोष मिथ्याज्ञानाना—
मुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरा पायादपवर्गः ।

—न्याय सूत्र

दुःख, जन्य प्रवृत्ति, दोष, मिथ्या ज्ञान आदि अवरोधों से छुटकारा पाना ही मोक्ष है।

नित्याऽनित्य विचाराऽनित्य संसार सुख दुःख विषय समस्त क्षेत्र ममता वन्धक्षयो मोक्षः ।

—निरात्वोपनिषद

ममता, शाश्वत और नाशवान का—सुख और दुःख का—गलत, सही निर्धारण ही बन्धन और मोक्ष का कारण है।

आनन्दमय कोश अन्तरात्मा का उच्चतम स्तर है। उसमें पवित्रता एवं उत्कृष्टता की मात्रा बढ़ने से समाधि, स्वर्ग और मुक्ति का दिव्य रसास्वादन सम्भव होता है। इस ब्रह्मानन्द को ही परमानन्द कहा गया है। सच्चिदानन्द प्रभु की उपलब्धि अपने ही अन्तःकरण में इसी आन्तरिक प्रगति के आधार पर सम्भव होती है। आनन्द का वास्तविक स्वरूप यही है। आनन्दमय कोश की साधना से इसी चरम उपलब्धि की दिशा में बढ़ चलना सम्भव होता है।

—*—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् । ददामि बुद्धि योगं तं येन मामुपयान्ति ते ।।
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः । नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ।।

(गीता १०।१०-११)

जो प्रेम से मेरा सदैव भजन करते हैं उनको मैं ऐसी बुद्धि देता हूँ जिससे वे मुझे प्राप्त कर सकें, उन पर अनुग्रह करने के लिए मैं उनकी बुद्धि में वास कर ज्ञान-दीपक की सहायता से अज्ञान मूलक अन्धकार का नाश करता हूँ, ज्ञान भक्ति से अलग नहीं है, ऐसी बात को समझाने के लिए गीता कहती है।

कुण्डलिनी और आध्यात्मिक काम विज्ञान

कुण्डलिनी विज्ञान में मूलाधार को योनि और सहस्रार को लिंग कहा गया है। यह सूक्ष्म तत्वों की गहन चर्चा है। इस वर्णन में काम क्रीड़ा एवं शृङ्गारिकता का काव्य मय वर्णन तो किया गया है, पर क्रिया प्रसंग में वैसा कुछ नहीं है। तन्त्र ग्रंथों में उलट भाषियों की तरह मद्य, मांस, मीन, मुद्रा और पांचवा 'मैथुन' भी साधना प्रयोजनों में सम्मिलित किया गया है। यह दो मूल सत्ताओं के संभोग का संकेत है। शारीरिक रति कर्म से इसका सम्बन्ध नहीं जोड़ा गया है। यों यह सूक्ष्म अध्यात्म सिद्धान्त रति कर्म पर भी प्रयुक्त होते, दाम्पत्य स्थिति पर भी लागू होते हैं। दोनों के मध्य समता की, आदान-प्रदान की स्थिति जितनी ही संतुलित होगी उतना ही युग्म को अधिक सुखी, सन्तुष्ट समुन्नत पाया जायगा।

मूलाधार में कुण्डलिनी शक्ति शिव लिंग के साथ लिपटी हुई प्रसुप्त सर्पिणी की तरह पड़ी रहती है। समुन्नत स्थिति में इसी मूल स्थिति का विकास हो जाता है। मूलाधार मल मूत्र स्थानों के निष्कृष्ट स्थान से ऊँचा उठकर मस्तिष्क के सर्वोच्च स्थान पर जा विराजता है। छोटा सा शिव लिंग मस्तिष्क में कैलाश पर्वत बन जाता है। छोटे से कुण्ड को मान सरोवर रूप धारण करने का अवसर मिलता है। प्रसुप्त सर्पिणी जागृत होकर शिव कंठ से जा लिपटती है और शेषनाग के पराक्रमी रूप में दृष्टि गोचर होती है। मुँह बन्द कली खिलती है और खिले हुए शतदल कमल के सहस्रार के रूप में उसका विकास होता है। मूलाधार में तनिक सा स्थान था, पर ब्रह्मरंध्र का विस्तार तो उससे सौगुना अधिक है।

सहस्रार को स्वर्ग लोक का कल्पवृक्ष—प्रलय काल में बचा रहने वाला अक्षय वट—गीता का ऊर्ध्व मूल अधः शाखा वाला अश्वत्थ—भगवान् बुद्ध को महान बनाने वाला बोधि वृक्ष कहा जा सकता है। यह समस्त उपमाएँ ब्रह्मरंध्र में निवास करने वाले ब्रह्म बीज की ही हैं। वह अविकसित स्थिति में मन बुद्धि के छोटे मोटे प्रयोजन पूरे करता है, पर जब जागृत स्थिति में जा पहुँचता है तो सूर्य के समान दिव्य सत्ता सम्पन्न बनता है। उसके प्रभाव से व्यक्ति और उसका सम्पर्क क्षेत्र दिव्य आलोक से भरा पूरा बन जाता है।

ऊपर उठना पदार्थ और प्राणियों का धर्म है। ऊर्जा की ऊष्मा का स्वभाव ऊपर उठना और आगे बढ़ना है। प्रगति का द्वार बन्द रहे तो कुण्डलिनी शक्ति कामुकता के छिद्रों से रास्ता बनाती और पतनोन्मुख रहती है। किन्तु यदि ऊर्ध्वगमन का मार्ग मिल सके तो उसका प्रभाव परिणाम प्रयत्न कर्त्ता को परम तेजस्वी बनने और अन्धकार में प्रकाश उत्पन्न कर सकने की क्षमता के रूप में दृष्टिगोचर होता है।

कुण्डलिनी की प्रचण्ड क्षमता स्थूल शरीर में ओजस्—सूक्ष्म शरीर में तेजस और कारण शरीर में वर्चस् के रूप में प्रकट एवं परिलक्षित होती है। समग्र तेजस्विता को इन तीन भागों में दृष्टिगोचर होते देखा जा सकता है। इस अन्तःक्षमता का एक भोंड़ा सा उभार और कार्य काम-वासना के रूप में देखा जा सकता है। कामुकता अपने सहयोगी के प्रति कितना आकर्षण प्रेम, भाव उत्पन्न करती है। संभोग कर्म में सरसता अनुभव होती है। सन्तानोत्पादन जैसी आश्चर्यजनक उपलब्धि सामने आती है। यह एक छोटी सी इन्द्रिय पर इस अन्तः क्षमता का आवेश छा जाने पर उसका प्रभाव कितना अद्भुत होता है यह आँख पसारकर हर दिशा में देखा जा सकता है। मनुष्य का चित्त, श्रम, समय एवं उपार्जन का अधिकांश भाग इसी उभार को तृप्त करने का ताना बाना बुनने में बीतता है। उपभोग की प्रतिक्रिया सन्तानोत्पादन के उत्तरदायित्व निभाने के रूप में कितनी मँहगी और भारी पड़ती है यह प्रकट तथ्य किसी से छिपा नहीं है। यदि इसी सामर्थ्य को ऊर्ध्वगामी बनाया जा सके तो उसका प्रभाव देवोपम परिस्थितियाँ सामने लाकर खड़ी कर सकता है।

मेरी दृष्टि से जननेन्द्रियों को काम वासना एवं रति प्रवृत्ति के लिए उत्तर दायी माना जाता है। पर वैज्ञानिक गहन अन्वेषण से यह तथ्य सामने आता है कि नर-नारी

के प्रजनन केन्द्रों का सूत्र संचालन मेरुदण्ड के सुषुम्ना केन्द्र से होता है। यह केन्द्र नाभि की सीध में है। हैनरी आस्ले कृत 'नोट्स आन फिजयालोजी' ग्रन्थ में इस सन्दर्भ में विस्तृत प्रकाश डाला गया है। उसमें उल्लेख है कि—नर नारियों के प्रजनन अंगों के संकोच एवं उत्तेजना का नियन्त्रण मेरुदंड के 'लम्बर रीजन' (निचले क्षेत्र) में स्थित केन्द्रों से होता है। इस दृष्टि से कामोत्तेजना के प्रकटीकरण का उपकरण मात्र जननेन्द्रिय रह जाती है। उसका उद्गम तथा उद्भव केन्द्र सुषुम्ना संस्थान में होने से वह कुंडलिनी की ही एक लहर सिद्ध होती है। यह प्रवाह जननेन्द्रिय की ओर उच्च केन्द्रों को मोड़ देने की प्रक्रिया ही इस महा शक्ति की साधना के रूप में प्रयुक्त होती है।

नैपोलियन हिल ने अपनी पुस्तक 'थिंक एन्ड ग्रो रिच' में काम शक्ति के सम्बन्ध में महत्व पूर्ण प्रकाश डाला है। वे सैक्स एनर्जी को मस्तिष्क और शरीर दोनों को समान रूप से प्रभावित करने वाली एक विशेष शक्ति मानते हैं यह मनुष्य को प्रगति की दिशा में बढ़ चलने के लिए प्रेरणा देती है।

सामान्यतया उसका उभार इन्द्रिय मनोरंजन मात्र बनकर समाप्त होता रहता है। जमीन पर फैले हुए पानी की भाप भी ऐसे ही उड़ती और बिखरती भटकती रहती है, पर यदि उसका विवेकपूर्ण उपयोग किया जा सके तो भाप द्वारा भोजन पकाने से लेकर रेल का इञ्जन चलाने जैसे असंख्यों उपयोगी काम लिये जा सकते हैं। काम शक्ति के उच्चस्तरीय सृजनात्मक प्रयोजन अनेकों हैं। कलात्मक गतिविधियों में—काव्य जैसी कल्पना संवेदनाओं में—दया, करुणा एवं उदार आत्मीयता को साकार बनाने वाली सेवा साधना में—एकाग्र तन्मयता से सम्भव होने वाले शोध प्रयत्नों में प्रचंड पराक्रम के रूप में प्रकट होने वाले शौर्य साहस में गहन आध्यात्मिक क्षेत्र से उद्भूत श्रद्धा भक्ति में उसे नियोजित किया जा सकता है।

कामेच्छा एक आध्यात्मिक भूख है। वह मिटाई नहीं जा सकती। निरोध करने पर वह और भी उग्र होती है। बहते हुए पानी को रोकने से वह धक्का मारने की नई सामर्थ्य उत्पन्न करता है। आकाश में उड़ती हुई बन्दूक की गोली स्वयमेव शान्त होने की स्थिति तक पहुँचने से पहले जहाँ भी रोकी जायगी वहीं आघात लगावेगी और छेद कर देगी। काम शक्ति को बलपूर्वक रोकने से कई प्रकार के शारीरिक और मानसिक उपद्रव खड़े होते हैं इस तथ्य पर फ्रायड से लेकर आधुनिक मनोविज्ञानियों तक ने अपने-अपने ढंग से प्रकाश डाला है और उसे सृजनात्मक प्रयोजनों में नियोजित करने का परामर्श दिया है। एक ओर से मन हटकर दूसरी ओर चला जाय। एक का महत्व गिरा कर दूसरे की गरिमा पर विश्वास कर लिया जाय, आकांक्षा एवं अभिरुचि का प्रवाह मोड़ने में विशेष कठिनाई उत्पन्न नहीं होती। ब्रह्मचर्य का वैज्ञानिक स्वरूप यही है। अतृप्ति-जन्य अशान्ति से बचने तथा क्षमता का सदुपयोग करके सत्परिणामों का लाभ लेने का एक ही उपाय है कि कामेच्छा प्रवृत्ति को सृजनात्मक दिशा में मोडा जाय।

कलात्मक प्रयोजनों में संलग्न होने से उसके भौतिक लाभ मिल सकते हैं। अध्यात्म क्षेत्र में उसे भाव संवेदना के लिए 'भक्ति भावना के रूप में तथा प्रबल पुरुषार्थ की तरह तपोमयी योग साधना में लगाया जा सकता है। दोनों का समन्वय कुण्डलिनी जागरण प्रक्रिया में समन्वित पद्धति के रूप में किया जा सकता है। सहस्रार चक्र भक्ति भावना का और मूलाधार चक्र प्राण संधान का केन्द्र है। दोनों की प्रसुप्त स्थिति को समाप्त कर साहसिक संवेदना उभारना कुण्डलिनी जागरण प्रक्रिया अपनाने से सहज सम्भव हो सकता है।

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष यह जीवन के चार परम प्रयोजन हैं काम का अर्थ सामान्यतया रति कर्म समझा जाता है, पर परम प्रयोजनों में उसका अर्थ विनोद, उल्लास आनन्द माना जाता है। यह रसानुभूति दो पूरक तत्वों के मिलन द्वारा उपलब्ध होती है। ऋण और धन विद्युत प्रवाह मिलने से गति उत्पन्न होती है। रयि और प्राण तत्व के मिलन से सृष्टि के प्राणि उत्पादनों की सृष्टि होती है। प्रकृति पुरुष की तरह नर और नारी को भी परस्पर पूरक माना गया है। मानवी सत्ता में भी दो पूरक सत्ताएं काम करती हैं इन्हें नर और नारी का प्रतिनिधि

मानते हैं। नारी सत्ता मूलाधार में अवस्थित कुण्डलिनी है और नर तत्व सहस्रार स्थित परब्रह्म है। इन्हीं को शक्ति और शिव भी कहते हैं। इनका मिलन ही कुण्डलिनी जागरण का लक्ष्य है। इस संयोग से उत्पन्न दिव्य धारा को भौतिक क्षेत्र में ऋद्धि-सिद्धि और आत्मिक क्षेत्र में स्वर्ग मुक्ति कहते हैं। आत्म साक्षात्कार एव ब्रह्म निर्माण का लक्ष्य भी यही है।

अथर्व वेद में भगवान के काम रूप से जीवन में अवतरित होने की प्रार्थना की गई है।

यास्ते शिवास्तन्वः काम भद्रायाभिः सत्यं भवति यद्वृणीषे ताभिष्ट्वमस्मां अभि संविशस्वान्यत्रपापी रपवेशया धियः।

—अथर्व

हे परमेश्वर तेरा काम रूप भी श्रेष्ठ और कल्याण कारक है उसका चयन असत्य नहीं है। आप काम रूप से हमारे भीतर प्रवेश करें और पाप बुद्धि से छुड़ाकर हमें निष्पाप उल्लास की ओर ले चलें।

कुण्डलिनी महा शक्ति को प्रकृति का निरूपण करते हुए शास्त्रकारों ने उसे 'काम बीज' एवं 'काम कला' दोनों शब्दों का प्रयोग किया है। इन शब्दों का अर्थ कामकुता काम क्रीड़ा या काम शास्त्र जैसा तुच्छ अर्थ यहाँ नहीं लिया गया है। इस शक्ति को प्रकृति उत्साह एवं उल्लास उत्पन्न करना है। यह शरीर और मन की उभय-पक्षीय अग्रगामी स्फुरणाएँ हैं। यह एक मूल प्रकृति हुई। दूसरी पूरक प्रकृति। मूलाधार को काम बीज कहा गया है और सहस्रार को 'ज्ञान बीज'। दोनों के समन्वय से विवेक युक्त क्रिया बनती है। इसी पर जीवन का सर्वतोमुखी विकास निर्भर है। कुण्डलिनी साधना से इसी सुयोग संयोग की व्यवस्था बनाई जाती है।

प्रत्येक शरीर में नर और मादा दोनों ही तत्व विद्यमान हैं। शरीर शास्त्रियों के अनुसार प्रत्येक प्राणी में उभय-पक्षीय सत्ताएँ मौजूद हैं। इनमें से जो उभरी रहती हैं उसी के अनुसार शरीर की लिंग प्रकृति बनती है। संकल्प पूर्वक इस प्रकृति को बदला भी जा सकता है। छोटे प्राणियों में उभय लिंगी क्षमता रहती है। वह एक ही शरीर से समयानुसार दोनों प्रकार की आवश्यकताएँ पूरी कर लेता है।

मनुष्यों में ऐसे कितने ही पाये जाते हैं जिनकी आकृति जिस वर्ग की है, प्रकृति उससे भिन्न वर्ग की होती है। नर को नारी की और नारी को नर की भूमिका निवाहते हुए बहुत बार देखा जाता है। इसके अतिरिक्त लिंग परिवर्तन की घटनाएँ भी होती रहती हैं। शल्य क्रिया के विकास के साथ-साथ अब इस प्रकार के उलट-पुलट होने के समाचार संसार के कोने-कोने से मिलते रहते हैं। अमुक नर नारी बन गया और अमुक नारी ने नर के रूप में अपना गृहस्थ नये ढंग से चलाना आरम्भ कर दिया।

दोनों में एक तत्व प्रधान रहने से ढर्रा तो चलता रहता है, पर एकांगी पन बना रहता है। नारी कोमलता, सहृदयता, कलाकारिता जैसे भावात्मक तत्व का नर में जितना अभाव होगा उतना ही वह कठोर, नीरस, निष्ठुर रहेगा और अपनी बलिष्ठता, मनस्विता के पक्ष के सहारे क्रूर, कर्कश बन कर अपने और दूसरों के लिए अशान्ति ही उत्पन्न करता रहेगा। नारी में पौरुष का अभाव रहा तो वह आत्म हीनता की ग्रंथियों से ग्रसित अनावश्यक संकोच में डूबी, कठ-पुतली या गुड़िया बनकर रह जायगी। आवश्यकता इस बात की है कि दोनों ही पक्षों में सन्तुलित मात्रा में रयि और प्राण के तत्व बने रहें। कोई पूर्णतः एकांगी बनकर न रह जाय। जिस प्रकार बाह्य जीवन में नर-नारी सहयोग की आवश्यकता रहती है उसी प्रकार अन्तःक्षेत्र में भी दोनों तत्वों का समुचित विकास होना चाहिए। तभी एक पूर्ण व्यक्तित्व का विकास सम्भव हो सकेगा। कुण्डलिनी जागरण से उभय-पक्षीय विकास की पृष्ठभूमि बनती है।

मूलाधार चक्र में काम शक्ति को स्फूर्ति, उमंग एवं सरसता का स्थान माना गया है। इसलिए उसे काम संस्थान कहते हैं। जहाँ-तहाँ उसे योनि संज्ञा भी दी गई है। नामकरण जननेन्द्रि के आकार के आधार पर नहीं उस केन्द्र में सन्निहित 'रयि' शक्ति को ध्यान में रखकर किया गया है।

आधाराख्ये गुदास्थाने पंकजं च चतुर्दलम्।
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाख्या सिद्धवंदिता॥

—गोरक्ष पद्धति

गुदा के समीप मूलाधार कमल के मध्य 'योनि' है।

उसे कामख्या पीठ कहते हैं। सिद्ध योगी इसकी उपासना करते हैं।

अपाने मूल कन्दाख्यं काम रूपं च तज्जगु:।
तदेव वह्नि कुण्डंस्यात् तत्व कुण्डलिनी तथा॥

—योग राजोपनिषद्

मूलाधार चक्र में कन्द है। उसे काम रूप—काम वीज—अग्नि कुण्ड कहते हैं। यही कुण्डलिनी का स्थान है।

देवी ह्येकाऽग्र आसीत्। सैव जगदण्डमसृजत। कामकलेति विज्ञायते श्रृङ्गारकलेति विज्ञायते।

—वृहवृचोपनिषद् १

उसी दिव्य शक्ति से यह जगत् मंडल सृजा। वह उस सृजन से पूर्व भी थी वही काम कला है। सौन्दर्य कला भी उसी को कहते हैं।

यत्तद्गुह्यमिति प्रोक्तं देवयोनिस्तु सोच्यते।
अस्यां यो जायते वह्निः स कल्याण प्रदुच्यते॥

—कात्यायन स्मृति

गुह्य स्थान में देव योनि है। उससे जो अग्नि उत्पन्न होती है उसे परम कल्याणकारिणी समझना चाहिए।

आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम्।
योनि स्थानं द्वयोर्मध्ये काम रूपं निगद्यते॥

—गोरथ पद्धति

पहला चक्र मूलाधार है दूसरा स्वाधिष्ठान। दोनों के मध्य योनि स्थान है। उसे काम रूप भी कहते हैं।

कामी कलां काम रूपां चिक्रित्वा नरो जायते काम रूपश्च कामः।

—त्रिपुरोपनिषद्

यह महाशक्ति काम रूप है। उसे काम कला भी कहते हैं। जो उसकी उपासना करता है सो काम रूप हो जाता है। उसकी कामनाएं फलवती होती हैं।

सहस्रार को कुण्डलिनी विज्ञान में महालिंग की संज्ञा दी गई है। यहाँ भी जननेन्द्रिय आकार को नहीं वरन् उस केन्द्र में सन्निहित प्राण पौरुष का ही संकेत है।

तत्रस्थितो महालिंग स्वयं भुः सर्वदा सुखी
अधोमुखः क्रियावांश्च काम वीजो न चलितः।

—काली कुलामृत

ब्रह्मरंध्र में वह महालिंग अवस्थित है। वह स्वयं भू और सुख स्वरूप है। इसका मुख नीचे की ओर है। वह निरन्तर क्रियाशील है। काम वीज द्वारा उत्तेजित होता है।

स्वयंभु लिंग तन्मध्ये संरंध्र पश्चिमावलम्।
ध्यायेश्च परमेशक्ति शिवं श्यामलं सुन्दरम्॥

—शाक्तानन्द तरंगिणी

ब्रह्म रंध्र के मध्य स्वयंभु महालिंग है। इसका मुख नीचे की ओर है। वह श्यामल और सुन्दर है। उसका ध्यान करे।

काम बीज और ज्ञान वीज के मिलने से जो आनन्दमयी परम कल्याणकारी भूमिका बनती है उसमें मूलाधार और सहस्रार का मिलन संयोग ही आधार माना गया है। इसी मिलाप को साधना की सिद्धि कहा गया है। इस स्थिति को दिव्य मैथुन की संज्ञा भी दी गई है।

सहस्रारो परिविन्दौ कुण्डल्या मेलनं शिवे।
मैथुनं शयनं दिव्यं यतीनां परिकीर्तितम्॥

—योगिनी तन्त्र

पार्वती, सहस्रार में जो कुन और कुण्डलिनी का मिलन होता है, उसी को यतियों ने दिव्य मैथुन कहा है।

परं शक्त्यात्म मिथुन संयोगानंद निर्भराः।
मुक्तात्म मिथुनंतत् स्त्यादितर स्त्री निवेषकाः।

—तन्त्र सार

आत्मा को—परमात्मा को प्रगाढ़ आलिंगन में आबद्ध करके परम रस का आस्वादन करना यही यतियों का मैथुन है।

सुषम्नाशक्ति सुदिष्टा जीवोऽयं तु परः शिवः।
तयोस्तु संगमे देवैः सुरतं नाम कीर्तितम्॥

—तन्त्र सार

सुषुम्ना शक्ति और ब्रह्मरंध्र शिव है। दोनों के समागम को मैथुन कहते हैं।

यह संयोग आत्मा और परमात्मा के मिलन एकाकार की स्थिति भी उत्पन्न करता है। जीव को योनि और ब्रह्म को वीर्य संज्ञा देकर उनका संयोग भी परमानन्द-दायक कहा गया है—

एष बीजी भवान् बीज महं योनिः सनातनः ।
—वायु पुराण

जीव ने ब्रह्म से कहा—आप बीज हैं। मैं योनि हूँ। यही क्रम सनातन से चला आ रहा है।

शिव और शक्ति के संयोग का रूपक भी इस सन्दर्भ में दिया जाता है। शक्ति को रज और शिव को बिन्दु की उपमा दी गई है। दोनों के मिलन के महत्वपूर्ण सत्परिणाम बताये गये हैं।

बिन्दुः शिवो रजः शक्ति श्चन्द्रोबिन्दु रजोरविः ।
अनयोः संगमा देव प्राप्यते परमं पद्‌म् ॥
—गोरक्ष पद्धति

बिन्दु शिव और रज शक्ति। यही सूर्य, चन्द्र हैं। इनका संयोग होने पर परम पद प्राप्त होता है।

बिन्दुः शिवो रजः शक्तिरुभयोर्मिलनात् स्वयम् ।
—शिव संहिता १।१००

बिन्दु शिव रूप और रज शक्ति रूप है। दोनों का मिलन स्वयं महाशक्ति का सृजन है।

योनि वेदी उमादेवी लिंग पीठ महेश्वर।
—लिंग पुराण

योनि वेदी उमा है और लिंग पीठ महेश्वर।

जातवेदाः स्वयं रुद्रः स्वाहा शर्वार्धकायिनी ।
पुरुषाख्यो मनुः शंभुः शतरूपा शिवप्रिया॥
—लिंग पुराण

जातवेदा अग्नि स्वयं रुद्र है और स्वाहा अग्नि वे महाशक्ति हैं। उत्पादक परम पुरुष शिव हैं और श्रेष्ठ उत्पादनकर्त्री शतरूपा एवं शिवा हैं।

अहं बिन्दू रजः शक्तिरुभयोर्मेलनं यदा।
योगिनां साधनावस्था भवेद्दिव्यं वपुस्तदा ॥
शिव संहिता ४।८७

शिव रूपी बिन्दु, शक्ति रूपी रज इन दोनों का मिलन होने से योग साधक को दिव्यता प्राप्त होती है।

ब्रह्म का प्रत्यक्ष रूप प्रकृति और अप्रत्यक्ष भाग पुरुष है। दोनों के मिलने से ही द्वैत का अद्वैत में विलय होता है। शरीरगत दो चेतन धाराएँ रयि और प्राण कहलाती हैं। इनके मिलन संयोग से सामान्य प्राणियों को उस विषयानन्द की प्राप्ति होती है जिसे प्रत्यक्ष जगत की सर्वोपरि सुखद अनुभूति कहा जाता है। ऋण और धन विद्युत घटकों के मिलन से चिनगारियाँ निकलती और शक्ति धारा बहती है। पूरक घटकों की दूरी समाप्त होने पर सरसता और सशक्तता की अनुभूति प्रायः होती रहती है। चेतना के उच्चस्तरीय घटक मूलाधार और सहस्रार के रूप में बिलग पड़े रहें तभी तक अन्धकार की—नीरस गति हीनता की स्थिति रहेगी। मिलन का प्रतिफल सम्पदाओं और विभूतियों के—ऋद्धि और सिद्धि के रूप में सहज ही देखा जा सकता है। इन उपलब्धियों की अनुभूति में आत्मा-परमात्मा का मिलन होता है और उसकी सम्वेदना ब्रह्मानन्द के रूप में होती है, इस आनन्द को विषयानन्द से असंख्य गुने उच्चस्तर का माना गया है।

शिव पार्वती विवाह का प्रतिफल दो पुत्रों के रूप में उपस्थित हुआ था। एक का नाम गणेश, दूसरे का कार्तिकेय। गणेश को 'प्रज्ञा' का देवता माना गया है और स्कन्द को शक्ति का। दुर्दान्त, दस्यु असुरों को निरस्त करने के लिए कार्तिकेय का अवतरण हुआ था। उनके इस पराक्रम ने संत्रस्त देव समाज का परित्राण किया। गणेश ने मांस पिण्ड मनुष्य को सद्ज्ञान, अनुदान देकर उसे सृष्टि का मुकट-मणि बनाया। दोनों ब्रह्मकुमार शिव शक्ति के—समन्वय के प्रतिफल हैं। शक्ति कुण्डलिनी—शिव सहस्रार दोनों का संयोग कुण्डलिनी जागरण कहलाता है। यह पुण्य-प्रक्रिया सम्पन्न होने पर अन्तरङ्ग ऋतम्भरा प्रज्ञा से और बहिरङ्ग प्रखरता से भर जाता है। प्रगति के पथ पर इन्हीं दो चरणों के सहारे जीवन यात्रा पूरी होती है और चरम लक्ष्य की पूर्ति सम्भव बनती है।

गणेश जन्म के समय शिव जी ने उनका परिचय पार्वती को कराया और उसे उन्हीं हाथों में सौंप दिया। इसका विवरण वामन पुराण में इस प्रकार आया है—

यस्माज्जातस्ततो नाम्ना भविष्यति विनायकः ।
एष विघ्नसहस्राणि देवादीनां हनिष्यति ॥
पूजयिष्यन्ति देवाश्च देवि लोकाश्चराचराः ।
इत्येवमुक्त्वा देव्यास्तु दत्तवांस्तनयं स हि ॥
— वामन पुराण

इस पुत्र ज्ञान पुत्र का नाम विनायक गणेश ही होगा यह देवों के सहस्रों विघ्नों का हनन करेगा। हे देवि! सब चर-अचर, लोक और देवगण इसकी पूजा करेंगे। इतना कह कर शिव ने वह पुत्र देवी को दे दिया था।

स्कन्दोऽथवदनाद्वह्नेः शुभ्रात्षड्वदनोऽरिहा।
निश्चक्रामोद्भुतो वालो रोगशोक विनाशनः॥
—पद्म पुराण

तब छै मुख वाले कुमार स्कन्द उत्पन्न हुए। वे अद्भुत और शोक-सन्ताप विनाशक थे।

आद्य शङ्कराचार्य कृत 'सौंदर्य लहरी' में षट्चक्रों एवं सातवें सहस्रार का वर्णन है और उस परिकर को कुण्डलिनी क्षेत्र बताया है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत और विशुद्ध चक्रों को पाँच तत्वों का प्रतीक माना है और आज्ञाचक्र तथा सहस्रार को ब्रह्म चेतना का प्रतिनिधि बताया है। पाँच तत्वों का वेधन करने पर किस प्रकार कुण्डलिनी शक्ति की पहुँच ब्रह्मलोक तक होती है और परब्रह्म के साथ 'विहार' करती है इसका वर्णन ९ वें श्लोक में इस प्रकार है—

मही मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुतवहं,
स्थितं स्वधिष्ठाने हृदि मरुत माकाशमुपरि।
मनोअपि भ्रू मध्ये सकलमपिभित्वा कुल पथं,
सहस्रारे पद्मे सहरहसि पत्या विहरसि॥

अर्थात्—हे कुण्डलिनी, तुम मूलाधार में पृथ्वी को, स्वाधिष्ठान में अग्नि को, मणिपूर में जल को, अनाहत में वायु को, विशुद्ध में आकाश को वेधन करती हुई आज्ञाचक्र में मन को प्रकाश देती हो, तदुपरान्त सहस्रार कमल में परब्रह्म के साथ विहार करती हो।

अवाप्य स्वां भूमि, भुजगनिभमध्युष्ट वलयं।
स्वमात्मानं कृत्वा,स्वपिषि कुल कुण्डे कुहरिणि।
—सौन्दर्य लहरी १०

सर्पिणी की तरह कुण्डली मार कर तुम्हीं मूलाधार चक्र के 'कुल कुण्ड' में शयन करती हो।

अविद्या नामत्त, स्तिमिरमिहिरोद्दीपन करी।
जडानां चैतन्य, स्तवक मकरन्द स्रुति शिरा॥
दरिद्राणां चिन्ता,मणि गुणनिका जन्य जलधौ।
निमग्नानां दष्ट्रा,मुररि पुवराहस्य भवती॥
—सौन्दर्य लहरी

अज्ञानियों के अन्धकार का नाश करने के लिए तुम सूर्य रूप हो, तुम्ही बुद्धि हीनों में चैतन्यता का अमृत बहाने वाली निर्झरिणी हो, तुम दरिद्री के लिए चिन्तामणि माला और भव-सागर में डूबने वालों का सहारा देने वाली नाव हो, दुष्टों के संहार करने में तुम वाराह भगवान् के पैने दाँतों जैसी हो।

सौन्दर्य लहरी के ३६ से ४१ वें श्लोकों में षट्चक्रों के जागरण और कुण्डलिनी उत्थान की प्रतिक्रिया का वर्णन है। इन श्लोकों में कहा गया है कि मूलाधार में 'विश्व वैभव'—स्वाधिष्ठान में 'शान्ति शीतलता'—मणिपूर में 'अमृत वर्षा'—अनाहत में 'ऋतम्भरा प्रज्ञा और अठारहों विद्या'—विशुद्ध में 'आनन्ददायिनी दिव्य ज्योति' की सिद्धियाँ भरी हैं। आज्ञाचक्र में शिवत्व और सहस्रार में महा मिलन का संकेत है। इन उपलब्धियों का समन्वय इतना महान् है जिसे ऋषित्व एवं देवत्व भी कहा जा सकता है। अपूर्णता से आगे चलकर पूर्णता प्राप्त कर सकना इसी मार्ग का आश्रय लेने से सम्भव होने की बात इन श्लोकों में कही गई है।

कुण्डलिनी महाशक्ति के अनुग्रह से स्वयं आद्य शङ्कराचार्य किस प्रकार सामान्य द्रविड़ बालक से महामानव बन सके इसका उल्लेख करते हुए उन्होंने स्वानुभूति इस प्रकार व्यक्त की है—

तवस्तन्यं मन्ये धरणि धरकन्ये हृदयतः।
पथः पारावारः परिवहति सारस्वतमिव।
दयावत्या दत्तं द्रविड शिशुरास्वाद्य तवयत्।
कवीनां प्रौढानामजनि कमनीयः कवयिता॥
—सौन्दर्य लहरी

तेरे स्तनों से बहने वाले ज्ञानामृत रूपी पय-पान करके यह द्रविण शिशु (शङ्कराचार्य) प्रौढ़ कवियों जैसी कमनीय काव्य रचना में समर्थ हो गया।

—❀—

मानवी सत्ता के दो ध्रुव प्रदेश

ब्रह्माण्ड की व्यवस्था के अनुरूप असंख्यों सौर मंडल अपने-अपने काम करते हैं। सौर मण्डल की आचार संहिता का पालन अपनी पृथ्वी करती है। भूलोक के क्रिया-कलाप प्रतीक रूप से जीव सत्ता को प्रभावित एवं सचालित करते हैं। मानवी काया को एक प्रकार से भूलोक माना जा सकता है। उसमें दो महत्वपूर्ण केन्द्रों का—ध्रुव प्रदेशों का अस्तित्व समान रूप से है। मस्तिष्क के नाभिकन्यूक्लियस-सहस्रार चक्र को सूर्य का प्रतीक कह सकते हैं और पृथ्वी जिस सर्प सत्ता के आधार पर खड़ी है उसे मूलाधार कह सकते हैं। इन दोनों अति महत्वपूर्ण केन्द्रों की तुलना पृथ्वी के दो ध्रुव प्रदेशों से भी की जा सकती है। दोनों के अन्तर्ग्रही सम्बन्ध हैं और परस्पर पूरक होकर ही रह रहे हैं। ठीक इसी प्रकार मानवी मस्तिष्क ब्रह्म सूर्य से भी सम्बन्ध बनाये हुए है और काय केन्द्र को आवश्यक अनुदान भी प्रदान करता रहता है।

सूर्य को धन (पाजेटिव) और पृथ्वी को ऋण (नेगेटिव) धारा का प्रतीक माना गया है। दोनों स्वभावतः एक दूसरे की ओर दौड़ते हैं। मिलन से शक्ति धारा प्रवाहित होती है। नर और नारी के आकर्षण की तरह ध्रुवों में भी परस्पर आकर्षण क्रम चलता रहता है। दोनों के मध्यवर्ती सम्बन्ध सूत्र को शक्ति दण्ड कहते हैं। विज्ञान की भाषा में इसे 'कड्मस' कहा जाता है। यह सूत्र जिन दिनों प्रखर रहता है उन दिनों प्राणियों तथा पदार्थों की हर दृष्टि से उन्नति होती है किन्तु यदि कारण वश उस शक्तिदण्ड में क्षीणता आ जाय तो फिर पदार्थों, वनस्पतियों, जीवधारियों, परिस्थितियों में भारी अन्तर उत्पन्न हो जाता है। सबमें उदासी छाई रहती है और सब कुछ घटोतरी की ओर चलता है। शरीर में मूलाधार को पृथ्वी, सहस्रार को सूर्य एवं शक्तिदण्ड को मेरुदण्ड में सन्निहित माना गया है।

पुरानी पीढ़ी के वैज्ञानिक मानते रहे हैं कि पृथ्वी में अपना निज का गुरुत्वाकर्षण ताप तथा जीवन है। नई पीढ़ी के अन्वेषणकर्ताओं ने उस मान्यता को बदल दिया है। वे कहते हैं पृथ्वी अपेक्षाकृत अधिक परावलम्बी है। उसकी भौतिक सम्पदा तो आकर्षण भर की है। बाकी तो उसने वेश्या की तरह जिधर-तिधर से जोड़ बटोर कर ही अपनी पूँजी बढ़ाई है। कैलीफोर्नियाँ विश्व विद्यालय—सैन्त्र दिगो—के खगोल विज्ञानी डवल्यू० एक्सफर्ड ने पृथ्वी की शक्ति को सूर्य का अनुदान भर कहा है। उन्होंने वाशिंगटन की इन्टर नेशनल मैगमेटोस्फियर कान्फ्रेन्स में अपना शोध निबन्ध पढ़ते हुए कहा कि सूर्य का अजस्र शक्ति प्रवाह धरती पर उतरता है पर वह सारे भू-मण्डल पर समान रूप से नहीं बरसता। उत्तरी ध्रुव क्षेत्र के एक विशेष स्थल पर वह बन्दूक की गोली की तरह टूटता है वहाँ से वह पृथ्वी के वायु मण्डल में—रेडियो प्रवाह में सम्मिलित होकर पृथ्वी की भीतरी और बाहरी क्षमताओं को अनुदान देता है। वे कहते हैं उत्तरी ध्रुव पर खुली आँख से दृष्टिगोचर होने वाली 'ध्रुव प्रभा' कोई चमत्कार कौतूहल नहीं वरन् पृथ्वी और सूर्य के आदान-प्रदान का परिचय भर है। अनुदान की मात्रा का सन्तुलित रहना पृथ्वी की आवश्यकता भर के लिए ही उसे ग्रहण किया जाना यही वह तथ्य है जिसके आधार पर 'सब कुछ ठीक' ओ. के. चल रहा है। इसमें असन्तुलन उत्पन्न होते ही ठंड से ठप्प हो जाने अथवा गर्मी से भस्म हो जाने का संकट सामने आ खड़ा होगा।

उत्तरी ध्रुव क्षेत्र का प्रायः १० हजार वर्ग मील क्षेत्र और दक्षिणी ध्रुव का प्रायः ३० हजार वर्ग मील क्षेत्र ऐसा है जहाँ सूर्य की किरणें दर्पण पर टकराने वाले प्रकाश प्रतिबिम्ब की तरह अवतरित होती हैं और सीमित आदान-प्रदान करके वापिस लौट जाती हैं। अनुदान का एक बहुत छोटा अंश ही ध्रुव क्षेत्र ग्रहण करते हैं उतने से ही धरती की गरिमा बनी रहती है।

मानवी सत्ता के मौलिक शक्ति स्रोतों के सम्बन्ध में भी यही बात है। सूक्ष्म जगत एवं निखिल ब्रह्माण्ड में अनन्त वैभव भरा पड़ा है। उसमें से उत्तरी ध्रुव के

प्रतीक सहस्रार चक्र पर अनुदान बरसते हैं इस पूँजी से वह सूर्य की भूमिका निभाता है। अपना सूर्य भी तो पृथ्वी को देने वाली सामर्थ्य महा सूर्य से ही धरती की ही भाँति माँग कर लाता है। सहस्रार का सूर्य—मूलाधार रूपी पृथ्वी को अपने अनुदान प्रदान करता है, वहाँ से वह शक्ति छोटे केन्द्रों को—चक्रों को—उपलब्ध होती है। उसी का वितरण क्रिया और ज्ञान क्षेत्र के विभिन्न केन्द्रों को समर्थ सक्रिय बनाता है।

सूर्य और पृथ्वी का संयोग सुचारु रूप से चलाने का उत्तरदायित्व ध्रुव प्रदेश सम्भालते हैं। मूलाधार और सहस्रार में भी इसी प्रक्रिया का सुसचालन आवश्यक होता है। इस दिशा में कोई अवरोध उत्पन्न होते हों तो उन्हें हटाया जाना चाहिए। सुसंचालन और परिशोधन की भूमिका कुण्डलिनी जागरण से सम्भव होती है। दोनों केन्द्रों का प्रखर सहयोग होने पर ही भूलोक की सर्वतोमुखी सुव्यवस्था सम्भव है और उसी आधार पर जीव सत्ता का विकास क्रम अग्रगामी बनते-बनते पूर्णता के लक्ष्य तक जा पहुँचता है।

उत्तरी ध्रुव पर अन्तर्ग्रही विशेषतया सौर ऊर्जा के टकराव को एक विलक्षण प्रकार के ऊर्जा कम्पनों के रूप में देखा जा सकता है। इसकी प्रत्यक्ष चमक उस क्षेत्र में फैली रहने वाली ध्रुव प्रभा या मेरु प्रकाश के रूप में छाई रहती है यह प्रकाश दोनों ध्रुवों पर अपने-अपने निराले रूपों में दृष्टिगोचर होता है। जिन्होंने उसे आरम्भ में देखा वे आश्चर्यचकित रह गये और हतप्रभ रह कर सोचते रहे, अपनी ही धरती पर यह जादुई दुनिया किस प्रकार बस रही है।

ध्रुव प्रकाश सर्च लाइट की तरह होता है। यह उत्तर की अपेक्षा दक्षिण में अधिक तेज है। जीवन दोनों पर है। उत्तरी ध्रुव पर 'एस्किमो' मनुष्य जाति रहती है। कई प्रकार के रीछ, कुत्ते, मछली जैसे जीव तथा कई तरह की वनस्पति पाई जाती है। दक्षिण ध्रुव पर पेनगुइन पक्षी और बिना पंख वाला मच्छर भर पाया जाता है। पेन गुइन की प्रकृति में असीम प्यार भरा है। एस्किमो अत्यधिक साहसी होते हैं। इसे भी नर के पौरुष और नारी के भाव सम्वेदन के समतुल्य माना जा सकता है।

दक्षिणी ध्रुव पर महीनों अन्धकार छाया रहता है जबकि उत्तरी ध्रुव पर छै महीने की रात में भी मेरु प्रकाश का अस्तित्व बना रहता है। ध्रुवों पर सूर्य किरणों की अनेकों विचित्रताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। ध्रुव यात्री वायर्ड ने एक बार सूर्य को बिलकुल हरे रंग का देखा। सूर्य किरणों की वक्रता के कारण वहाँ ऐसे ही विचित्र दृश्य देखने को मिलते रहते हैं। दूर की वस्तुएँ हवा में लटकती जान पड़ती हैं। टीले जितने होते हैं उससे कई गुने बड़े लगते हैं। कई बार अनेक सूर्य एक साथ उगे हुए दीखते हैं। इसी प्रकार चन्द्रमा भी आकाश में—बर्फ में—हवा में अलग-अलग निकले हुए दीखते हैं। यह कृत्रिम सूर्य और चन्द्र भी देखने में वास्तविक जैसे ही प्रतीत होते हैं। उत्तरी ध्रुव पर दिन-रात का क्रम भी विचित्र है। रात-दिन छै-छै महीने के भी नहीं होते। ८० दिन की भी रातें होती हैं और सूर्य वर्ष भर में १६ दिन तक ही चमक पाता है, चन्द्रमा कई बार इतना चमकता है कि उसके प्रकाश से सूर्य की रोशनी जितना ही काम हो सके। मेरु प्रकाश कभी-कभी तो शान्त रहता है। पर कभी-कभी वह किरणों की लम्बाई के रूप में—कभी ज्योति या ज्वाला के रूप में प्रचण्ड रहता है। उसके भी दृश्य बदलते रहते हैं। प्रकाश के गुच्छों के रूप में एवं सर्च लाइट की लम्बी फेंक रोशनी की तरह ही वहाँ दृश्य बदलते रहते हैं।

यह प्रकाश परिवर्तन क्यों होते हैं? इसके कारण सूर्य की स्थिति में परिवर्तन और उसकी प्रतिक्रिया का धरती पर अवतरण माना गया है। सूर्य से तेज चमक बढ़ते ही एक दो दिन में मेरु प्रकाश भी बढ़ जाता है सूर्य में उठने वाले तूफान धरती पर चुम्बकीय विकिरण बखेरते हैं और पृथ्वी की सामान्य गतिविधियों के हर क्षेत्र में भारी उथल-पुथल उपस्थित हो जाती है।

पृथ्वी में चुम्बकीय शक्ति है जिसके कारण वह अपनी आवश्यक वस्तुएँ अनन्त आकाश में से पकड़ घसीट कर ले आती है। ध्रुव प्रदेश के मेरु प्रकाश में होने वाली हलचलों को इसी पकड़-धकड़ का—उखाड़-पछाड़ का दृश्य समझा जा सकता है। बिल्ली, चूहे की—हिरन चीते की शिकार-

प्रक्रिया एवं पहलवानों की कुश्ती में प्रयुक्त होने वाले दाव पेचों के समतुल्य माना जा सकता है।

ध्रुव प्रकाश का दृश्यमान जितना अद्भुत है उससे भी अधिक रहस्यमय उसका अदृश्य प्रभाव है। यह प्रभाव स्थानीय ही नहीं होता, वरन् समस्त भूतल को प्रभावित करता है। भू गर्भ में—समुद्र तल में—वायु मंडल में—ईथर के महासागर में जो विभिन्न प्रकार की हलचलें होती रहती हैं—चढ़ाव-उतार आते रहते हैं। उनका बहुत कुछ सम्बन्ध इस ध्रुव प्रभा से होता है। इतना ही नहीं उसकी हलचलें प्राणधारियों की शारीरिक एवं मानसिक स्थिति को भी प्रभावित करती हैं। मनुष्यों पर तो उसका प्रभाव विशेष रूप से होता है। पृथ्वी का चुम्बकत्व जो उसके कण-कण में संव्याप्त है और जिसके कारण जीवन तत्व गतिशील है—वह पृथ्वी की मौलिक सम्पदा प्रतीत भर होती है वस्तुतः वैसा है नहीं। यह चुम्बकत्व भी अन्तर्ग्रही अनुदान है। मिलों की पूँजी में बैंकों के सहयोग का बड़ा भाग रहता है। इसी प्रकार पृथ्वी रूप मिल भी अन्तर्राष्ट्रीय-अन्तर्ग्रही--बैंकों के उधार अनुदान से अपना काम चलाती है। उसकी मूल पूँजी तो वह साख भर है जिसके कारण उपयुक्त मात्रा में अनुदान दाता तत्व उसकी सीमित सहायता करते हैं।

0 यहाँ पृथ्वी की स्थिति से जीव सत्ता की तुलना की जा सकती है। उसे ब्रह्माण्ड-व्यापी ब्रह्मसत्ता से अभीष्ट अनुदान मिलते हैं। आवश्यकतानुसार वे बढ़ सकते हैं, पर इसके लिए अपनी साख बढ़नी चाहिए, प्रामाणिकता सिद्ध की जानी चाहिए। यह बताया जाना चाहिए कि जो नये अनुदान माँगे जा रहे हैं उन्हें सम्भाल कर रखने एवं सदुपयोग करने की प्रामाणिकता पात्रता बढ़ा ली गई है या नहीं? इस सम्बन्ध में आश्वस्त हुए बिना कोई बैंक या ऋण दाता अपनी पूँजी नहीं फँसाता यहाँ तक कि भिक्षुकों के सम्बन्ध में भी यह सोचा जाता है कि दान मिलने पर वे उसका क्या उपयोग करेंगे? उनकी मान्यता में औचित्य है या नहीं? इतना भर सिद्ध कर देने पर अनुदानों का द्वार खुल जाता है और अभाव-ग्रस्तता की शिकायत करने का कोई कारण शेष नहीं रह जाता। साधना का पूरा नाम आत्म साधना है। देव साधना का तात्पर्य किसी बाहरी सत्ता को रिझाना नहीं, अपनी ही दिव्य विशेषताओं को जागृत एवं परिष्कृत करना है। इस दिशा में जो जितनी सफलता प्राप्त कर सका, उसे विश्व विभूतियों में से उतने ही अनुपात से दिव्य उपलब्धियाँ-सिद्धियाँ—मिलती चली जाती हैं।

0 सूर्य से आने वाला शक्ति प्रवाह उत्तरी ध्रुव पर अवतरित होता है। टकराने पर उसमें उछाल आता है। जैसे रबड़ की गेंद पूरे वेग से टकराने पर उछल जाती है। उसी प्रकार यह शक्ति प्रवाह भी उछल कर उस स्थान पर जा गिरता है जिसे दक्षिण ध्रुव कहते हैं। उछाल के आकाश मार्ग को हम चाहें तो अपने काय विश्व का उछाल मेरुदण्ड कह सकते हैं। ब्रह्म रन्ध्र से टकरा कर सविता के दिव्य प्राण उछल कर जिस मार्ग से संचय भण्डार में स्थिर होता है उसे मूलाधार कहा गया है। मस्तिष्क गत ऊष्मा को जननेन्द्रिय मूल के काम बीज तक पहुँचाना मेरुदण्ड का काम है।

0 एक ध्रुव गहरा है दूसरा उभरा लगता है, किसी फल को चीरते समय मध्य भाग में कुछ भूल रह गई है। दोनों टुकड़ों को मिला दिया जाय तो वे फिर एक समूचा फल दिखाई देंगे।

0 सहस्रार और मूलाधार की भी यह स्थिति है। मूलाधार एक गह्वर है। उसे समुद्र की, सरोवर की, कुण्ड की-उपमा दी जाती है। योनि भी उसका नाम है। इन आकृतियों से गड्ढे का बोध होता है। सहस्रार की उपमा कमल पुष्प से-कैलाश पर्वत से—दी गई है। शिव लिंग के रूप में भी उसका उल्लेख है। यह उभार है। गड्ढा और उभार रहने से एक ओर खाई दूसरी ओर टीला रहेगा। दोनों को समन्वित कर दिया जाय तो समतल स्थिति बन सकती है और समस्वरता आ सकती है। इस सम-स्वरता को ही समाधि कहा गया है। समाधि रस को ब्रह्मानन्द कहा गया है। इसका थोड़ा-सा परिचय संभोग रस से मिलता है। आत्मा और परमात्मा के बीच चलने वाले आकर्षण को भक्ति, सम्वेदना कहते हैं। मूलाधार और सहस्रार के बीच चलने वाला आकर्षण इसी स्तर का है।

आत्मा और परमात्मा की दिशा धारा एक ही रहने

पर परम शान्ति की अनुभूति होती है। जब तक वे दोनों पृथक् रहते हैं दोनों का आमुख प्रतिकूल रहता है तब तक न तो स्थिरता आती है और न शान्ति मिलती है। मूलाधार स्थिति भौतिक सामर्थ्य और सहस्रार स्थिति आत्म सम्पदा जब मिल जुलकर एक ही दिशा में चलने लगते हैं तो जीवन का लक्ष्य पूरा होता है। आत्म-सत्ता में अन्तरंग बहिरंग की प्रतिकूलता को अनुकूलता में परिणत करने की प्रक्रियां कुण्डलिनी साधना में सम्पन्न होती है।

पृथ्वी के इर्द-गिर्द एक छलनी जैसा सूक्ष्म कवच चढ़ा हुआ है। उसी में से छन कर आवश्यकतानुरूप अन्तर्ग्रही क्षमताएँ भीतर प्रवेश करती हैं। इसी विशेषता के कारण धरती की अद्भुत स्थिति बन सकी और उस पर जीवन सत्ता विकसित हो सकी। अन्य ग्रहों पर यह कवच नहीं चढ़ा है, इसलिए उन पर अन्तरिक्षीय ऊर्जाएँ मन माने ढंग से उतरती हैं। चन्द्रमा का शरीर उल्काओं के आघात से कितना कुरूप बन गया है। उसकी सतह पर जो गहरे खड्ड हैं वे उल्काओं के आघात से बने हैं। अन्य ग्रहों को अन्तरिक्षीय विकरण प्रभावित करते रहते हैं। इन्हीं आक्रमणों ने उन्हें निष्प्राण बना रखा है। यदि उन्हें भी धरती जैसा कवच मिला होता तो वे भी पृथ्वी की तरह सुन्दर, सुविकसित और सजीव स्थिति में बने हुए होते।

मनुष्य का सौभाग्य है कि उसकी सत्ता के इर्द-गिर्द संकल्प शक्ति का—प्राण शक्ति का—एक कवच चढ़ा हुआ है। उसकी छलनी में होकर वह आवश्यकतानुसार ब्रह्माण्डीय ऊर्जा का प्रवेश होने देता है। अविकसित चेतना की इस छलनी में बहुत छोटे और थोड़े छिद्र होते हैं। तदनुरूप उसे ब्राह्मी अनुग्रह स्वल्प मात्रा में मिलता है। इतने से वह निर्वाह के साधन भर जुटा पाता है। पेट प्रजनन की आवश्यकता पूरी करने के लिए शारीरिक और मानसिक क्षुधाएँ दबाव डालती हैं। जितना भर साधन मिल सके प्रायः उतने ही बड़े छिद्र सर्वसाधारण की छलनी में होते हैं। इससे अधिक की अधिक महत्वपूर्ण उपलब्धियों की आकांक्षा हो तो संकल्प कवच के छिद्र अधिक चौड़े करने पड़ेंगे और उनकी संख्या भी बढ़ानी पड़ेगी। इसी के लिए साधना विज्ञान का आश्रय लिया जाता है। दैवी अनुदान अभीष्ट मात्रा में सहज ही प्राप्त किये जा सकते हैं। उस भण्डार में कोई घाटा नहीं, जहाँ से कि प्राप्त किया जाना है। उपलब्धियों के उपयोग का क्षेत्र भी सुविस्तृत पड़ा है। ऊँचा उठने और आगे बढ़ने के लिए भौतिक और आत्मिक क्षेत्र में अनेकों आधार खाली पड़े हैं। भूमि को जल की आवश्यकता है समुद्र में असीम जल राशि भरी पड़ी है। भूमि प्यासी-समुद्र पर भार। दोनों का सन्तुलन मिलाने के लिए वर्षा करने वाले व दलों की आवश्यकता पड़ती है। बादलों की व्यवस्था चल पड़े तो धरती का भी भला और समुद्र का भी। बादलों का प्रबन्ध करने वाली व्यवस्था साधना उपचार से बनती है। आवरण के छिद्रों की संख्या बढ़ाना और चौड़ी करना ही वह कार्य है जिसके आधार पर साधना को सिद्धि में परिणत होते देखा जा सकता है। जो इस परम पुरुषार्थ के लिए साहस जुटा सके, उसने मनुष्य जन्म का सच्चा लाभ पा लिया ऐसा समझा जा सकता है।

ध्रुव क्षेत्र में सूर्य के अस्त हो जाने पर भी एक विशेष प्रभा मण्डल, विद्यमान रहता है। सूर्य चन्द्र के बिना भी यह प्रकाश बहुत आश्चर्यजनक लगता है। यह चुम्बकीय विद्युत कणों की प्रकीर्णता ही है। यह प्रकाश जैसा दीखने वाला, विद्युतीय परिमण्डल एक लम्बी रज्जु जैसा होता है। उसमें कई रंग की ज्योतियाँ झिलमिलाती सी दीखती हैं। यह रंग तेजी से उद्भूत परिवर्तित और तिरोहित होते रहते हैं। अलास्का विश्व विद्यालय के शोध कर्त्ता जब इस रंगीन झिलमिल के चित्र खींच कर लाये और लोगों को उन्हें दिखाया तो रंग-बिरंगी प्राकृत फुलझड़ी की बात पर सभी ने भारी आश्चर्य व्यक्त किया। कुण्डलिनी जागरण के लिए किये जाने वाले ध्यानों में मस्तिष्कीय क्षेत्र में, आकाश में ऐसे ही रंग-बिरंगे प्रवाह, गोलक एवं स्फुलिंग गतिशील दिखाई पड़ते हैं।

कुण्डलिनी उपासना काल में प्रकाश अनुभूतियाँ प्रायः होती रहती हैं। आग की उड़ती हुई चिनगारियों से लेकर ज्योति ज्वालाओं तक प्रकाश गोलकों से लेकर तन्तु धाराओं तक की अनुभूतियाँ ध्यानावस्था में होती

है। आरम्भ में यह कौतुक कौतूहल जैसा ही प्रतीत होता है किन्तु पीछे इस प्रकाश के आलोक में आत्म-बोध, ब्रह्म बोध से लेकर अदृश्य दर्शन तक के कितने ही ऐसे आधार सामने आते हैं, जिनसे आत्म कल्याण का पथ-प्रशस्त हो सके और जीवन को समुन्नत एवं सर्वोपयोगी बनाने का सौभाग्य मिल सके।

प्रतिभा, सौन्दर्य, माधुर्य एवं कौशल का आकर्षण सर्व विदित है। इन चुम्बकीय क्षमताओं के आधार पर लोग व्यक्तित्ववान बनते हैं और उससे दूसरों का मन मोह कर उन्हें उपयुक्त मार्ग पर चलाते हैं। आध्यात्मिक आकर्षण इससे अत्यधिक शक्तिशाली है। उससे अपना प्रभाव क्षेत्र विकसित होता है। उसके आधार पर दूसरों का सहयोग पा सकना—सद्भाव सम्पादन करके उन्हें ऊँचा उठाने में सफल होना सम्भव हो सकता है, साथ ही उस चुम्बकत्व के सहारे दैवी शक्तियों को आकर्षित कर सकने में भी सफलता मिल सकती है। गुण, कर्म, स्वभाव में उत्कृष्टता उत्पन्न करने वाले दिव्य तत्व इस निखिल ब्रह्माण्ड में भरे पड़े हैं। उन्हें सहायता के लिए कुण्डलिनी साधना के आधार पर चुम्बकत्व के आधार पर आकर्षित करने में सफलता मिल सकती है। ध्रुवीय चुम्बक ज्योति से साधक का व्यक्तित्व भी ज्योतिर्मय एवं विशिष्ट आकपण युक्त बन सकता है।

पहली बार जब ध्रुव प्रदेश के अन्वेषक उस प्रदेश में गये तो उन्होंने अनेक ऐसी विचित्रताएँ देखीं जिनकी उन्हें कल्पना भी न थी। वहाँ एक मील दूर बैठे मनुष्य से भी उसी तरह बात-चीत की जा सकती है मानो वह बिलकुल पास बैठा हो। छोटे विद्युत जनरेटर चलाने पर उसकी आवाज बीस मील तक पहुँचती थी। चलते समय बर्फ पर चरमराते जूते तक की आवाज एक मील दूर से सुनाई पड़ती थी। लेकिन यह सब होता तभी था जब तापमान शून्य से नीचे होता। मस्तिष्कीय संस्थान का ध्रुव केन्द्र सहस्रार उद्वलितताओं से रहित, शान्त एवं शीतल हो तो दूर श्रवण ही नहीं दूरदर्शन भी सम्भव हो सकता है। अपनी पृथ्वी पर, उसके नीचे, ऊपर क्या हो रहा है? सूक्ष्म जगत में क्या हलचलें उभर रही हैं? इसकी जानकारी सामान्य न रह कर असामान्य स्तर की बन जाती हैं। सिद्ध पुरुषों जैसी वह विशेषता उत्पन्न करने के लिए साधना द्वारा उत्तरी ध्रुव जैसी शान्ति मस्तिष्कीय क्षेत्र में उत्पन्न करनी पड़ती है। सहस्रार साधना से यह सम्भव हो सकता है।

कुण्डलिनी साधना की सहस्रार चक्र पर असाधारण प्रतिक्रिया होती है। अतीन्द्रिय क्षमताओं के दिव्य संस्थान अपनी मूर्छना छोड़ कर सक्रिय बनते हैं और वह देखने सुनने, जानने लगते हैं जो साधारण स्थिति में असम्भव ही लगता है। दूरदर्शन, दूर श्रवण, अविज्ञात का परिचय, भविष्य का आभास, प्रभाव परिवेषण, जैसी सिद्धियाँ उनके लिए सरल हैं जिनने अपनी मन स्थिति, ध्रुव प्रदेश की तरह शान्त और शीतल बना ली हैं। अन्तरिक्ष की असख्य हलचलों को—ध्वनियों एव प्रकाश किरणों को हमारी भोंड़ी इन्द्रिय क्षमता देख समझ नहीं पाती। काम चलाऊ मोटी जानकारियाँ दे सकने के स्तर पर ही उनका निर्माण हुआ है। यदि अतीन्द्रिय क्षमता विकसित की जा सके तो सृष्टि के रहस्यों को—अविज्ञात को समझ सकना योगाभ्यासी सिद्ध पुरुषों की भाँति ही सम्भव हो सकता है।

ध्रुव प्रदेश में कभी-कभी इससे ठीक विपरीत स्थिति भी उत्पन्न होती देखी जाती है। जब हवा की परतें आकाश में सघन हो जाती है तो शिर पर उड़ते वायुयान की आवाज भी कानों तक नहीं पहुँचती। यदि अपना मन क्षेत्र तपश्चर्या की-योगाग्नि की गरम पट्टी विनिर्मित कर ले तो सांसारिक आकर्षण, प्रलोभन, कौतूहल, भय, मनोविकार आदि के ढोल ही क्यों न बजते रहें, उनका एक भी शब्द कान में नहीं आता। घोर कोलाहल भरे वातावरण में रहते हुए भी चित्त को समाधिस्थ जैसा बना कर रखा जा सकता है। कहने सुनने में तो यह सामान्य सी बात लगती हैं, पर है इतनी महत्वपूर्ण कि उस आधार पर हर घड़ी आनन्द मग्न रहने और लक्ष्य की दिशा द्रुतगति से आगे बढ़ चलने के उभय पक्षीय महान प्रयोजन पूरे हो सकते हैं।

लकड़ी के जहाज लेकर जब सर्वप्रथम ध्रुव प्रदेशों के शोधकर्त्ता वहाँ गये तो जहाजों में लगी मजबूत कीलें भी उनमें से अपने आप उखड़ कर आकाश में उड़ गईं।

मस्तिष्कीय ध्रुव केन्द्रों का चुम्बकत्व व्यक्ति की वर्तमान आन्तरिक और वाह्य परिस्थितियों में भारी अन्तर उपस्थित कर सकते हैं। अवांछनियताएँ कीलों की तरह उखड़ती उड़ती दृष्टिगोचर हो सकती हैं। नवोदित चुम्बकत्व से पुराने ढर्रे में परिवर्तन होने और नई गति चल पड़ने की सम्भावना साकार हो सकती है। सहस्रार चक्र की साधना का प्रभाव मात्र ईश्वर उपासना का आनन्द देने भर के लिए नहीं, वरन् मनःस्थिति परिस्थिति एवं अस्तित्व स्थिति में इस विकास परिवर्तन का आश्चर्यजनक परिणाम दृष्टिगोचर हो सकता है। उससे कुसंस्कारों की वे कीलें उखड़ सकती हैं, जो साधारणतया वहुत गहरी और मजवूत मालूम पड़ती हैं।

ध्रुव केन्द्रों की परिस्थितियों में अन्तर पडने से इस पृथ्वी पर भयकर परिवर्तन प्रस्तुत होते रहे हैं। हजारों वर्षों तक चलने वाले 'हिमियुग' एक प्रकार से खण्ड प्रलय जैसी स्थिति उत्पन्न करते रहे हैं। चुम्वकीय तूफानों से लेकर ज्वालामुखी फटने और भूकम्प आने की वड़ी घटनाओं के सम्वन्ध सूत्र ध्रुव प्रदेशों में पाये गये हैं। आज से कोई दो करोड़ वर्ष पूर्व 'रेडियो लारिया' नामक जीव अस्तित्व में आया है, पीछे वह ध्रुवीय संचार में परिवर्तन आने पर इस धरती से ही तिरोहित हो गया। ऋतुओं के प्रभाव एव समय में भी अन्तर होता रहा है। ध्रुवों पर जो ब्रह्माण्डीय किरणों की वौछार होती है यदि उनकी मात्रा भू-लोक में न्यूनाधिक मात्रा में होने लगे तो इससे प्राणियों की आकृति प्रकृति में और पदार्थों की सरचना एवं उपयोगिता में भारी उलट-पुलट हो सकता है। शक्ति संचार वढ़ जाने से लाभदायक और घट जाने से हानिकारक परिणाम सामने आते हैं।

यह तो हुई इस धरातल पर काम करने वाली व्यापक कुण्डलिनी की वात। व्यक्तिगत मानवी सत्त में इसे मूलाधार और सहस्रार के अन्तर्गत काम करने वाली, मेरुदंड मार्ग से दौड़ने वाली दिव्य विद्युत की संज्ञा दी जाती है और उसे कुण्डलिनी कहा जाता है। इस ऊर्जा में शिथिलता एवं विकृति आने पर शरीर दुर्वल एवं अशक्त वनता है। मनोवल गिरता है। सन्तुलन विगड़ा रहता है। अवसाद, आवेश छाये रहते हैं। भटकाव और असन्तोष का दौर चलता रहता है। दूसरों के प्रति विरक्ति उपेक्षा, ईर्षा के भाव उठते हैं। आत्म ग्लानि, निराशा, खीज, आशंका की वढ़ी हुई मात्रा चित्त को खिन्न रखती हैं। डाँवाडोल स्थिति में कोई स्पष्ट निर्णय ले सकना कठिन पड़ता है। तनिक से अवरोध पर्वत जैसे भारी लगते हैं। विपत्ति अब तव सिर पर टूटती ही प्रतीत होती है। भविष्य अन्धकारमय दीखता है। विश्वास न अपने पर होता है और न स्वजनों पर, यह सर्वतोमुखी असमर्थता कुण्डलिनी शक्ति में कमी पड़ जाने के ही चिन्ह हैं।

> आदौ लवणं क्षारञ्च ततस्तिक्त कषायकम्।
> नवनीत घृतं क्षीरं दधितक्र मधूनिच ॥
> द्राक्षारसञ्च पीयूषं जायते रसनोदकम्।
> मनोलयं यदा याति भ्रूमध्ये योगिनां नृणाम्।
> जिह्वामूलेऽमृतस्रावो भ्रूमध्ये चात्मदर्शनम् ॥
>
> —महायोग विज्ञान
>
> खेचरी मुद्रा द्वारा जिह्वा को तालु में लगा कर जो चन्द्रामृत पान किया जाता है उसमें आरम्भ में नमक, खारी, खट्टा, तीखा, कषैला, रस प्रतीत होता है। मध्य काल में मक्खन, घी, दूध, दही, छाछ जैसा और साधना आगे वढ़ने पर अन्त में मधु, द्राक्ष, रस जैसा अमृत सरीखा यह रसास्वादन होता है। साथ ही आज्ञा-चक्र में आत्म दर्शन भी होता है।

भगवान द्वारा मनुष्य को मिलने वाले अनुदानों में से वह एक वहुत स्वल्प अंश ही प्रयोग में लाता है। ध्रुवीय केन्द्र संस्थान भी शरीर के सहस्रार की ही भाँति है। उसकी संग्राहक शक्ति स्वल्प ही रहती है। फलतः ब्रह्म के अनुदानों में से नगण्य सा भाग ही पल्ले पड़ता है। शेष तो वापिस ही लौट जाता है। याचक अपनी आवश्यकताएँ पूरी न होने का रोना रोता है और देने वाला मन मसोस कर अपने अनुदान भारी मन से वापिस लौटाता है। इस स्थिति को दुर्भाग्यपूर्ण विडम्वना ही कहना चाहिए। इस अवरोध को हटाने और आदान-प्रदान का पथ-प्रशस्त करने की क्रिया-प्रक्रिया को कुण्डलिनी जागरण साधना कहा जा सकता है।

❖

साधना के अवरोध दुष्कर्मों का निराकरण
प्रायश्चित

उपासना का प्रथम चरण है—आत्म-शोधन। कोई भी धर्म-कृत्य करने से पूर्व पवित्रीकरण, आचमन, प्राणायाम न्यास आदि कृत्य करने होते हैं। इनका उद्देश्य आत्मिक पवित्रता की आवश्यकता को प्राथमिकता देने के तथ्य पर ध्यान आकर्षित करना है। गन्दे नाले में थोड़ा-सा गङ्गा-जल डाल देने पर उसकी शुद्धि नहीं होती है। अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग जीवन में निकृष्टता भरी रहे तो उपासना साधना का लक्ष्य पूरा न हो सकेगा। आत्म-परिष्कार कपड़े की धुलाई और साधना रँगाई है। बिना धुले कपड़े पर ठीक तरह रंग कहाँ चढ़ता है? आत्म-शोधन के बिना उच्चकोटि की साधनाएँ भी निष्फल चली जाती हैं। अतएव सर्व प्रथम वर्तमान और भावी जीवन को पवित्र परिष्कृत बनाने की योजना बनानी चाहिए और पिछले पापों के कारण आत्मिक प्रगति पथ पर अवरोधों की तरह अड़े रहने वाले दुष्कृतों का परिमार्जन प्रायश्चित्त प्रक्रिया द्वारा करना चाहिए।

यही साधना की सुव्यवस्थित प्रक्रिया है। प्रारम्भ आत्म-शोधन एवं आत्म-परिष्कार से होना चाहिए। साथ ही गायत्री की सामान्य साधना तथा उच्चस्तरीय साधना का नियोजन करना चाहिए। उज्ज्वल चरित्र ही वह भूमि है जिस पर साधना के बीज उगते और पल्लवित होते हैं। अच्छी बन्दूक ही कारतूसों का लक्ष्य पूरा करती है। घटिया व्यक्तित्व घटिया बन्दूक की तरह है, जिनमें बढ़िया उपासना के बढ़िया कारतूस भी समुचित प्रतिफल उत्पन्न नहीं कर सकते।

ब्रह्म वर्चस् की उच्चस्तरीय उपासनाओं में पंचकोशों का अनावरण तथा कुण्डलिनी जागरण मुख्य है इनकी तैयारी करते समय सर्व प्रथम पाप परिमार्जन और आत्म-शोधन के लिए साहसपूर्वक कदम बढ़ाने चाहिए। इस आधार पर खड़ी की गई साधना तपश्चर्या के सफल होने में कोई अड़चन शेष नहीं रह जाती।

आस्तिकता—साधना विज्ञान का प्राण है। आस्तिकता को कर्मफल के प्रति अटूट विश्वास ही कह सकते हैं। धार्मिक कर्मकाण्डों और पूजा विधानों का महत्व इसी दृष्टि से है कि मनुष्य ईश्वर के प्रति—उसकी कर्म व्यवस्था के प्रति गहरी आस्था बनाये रखे। चिन्तन का स्तर उत्कृष्ट रखे और क्रिया-कलाप में आदर्शवादिता के समावेश का अधिकाधिक प्रयत्न करे। धर्म और अध्यात्म का ढाँचा इसी लिए खड़ा किया गया है। आज तो इन चरित्र निर्माण और सामाजिक सहयोग के आधार भूत तन्त्र का उपयोग ठीक उलटे प्रयोजनों में हो रहा है। सत्कर्मों से जो फल मिलता है उसे छुट-पुट कर्मकाण्डों से ही सम्भव बना कर उस दिशा में कष्ट सहने और त्याग करने की उमंग को ही मटियामेट किया जा रहा है। इसी प्रकार दुष्कर्मों के प्रति निर्भयता उत्पन्न करने के लिए सस्ते पाप नाशक उपायों का प्रतिपादन किया जा रहा है। यह आस्तिकता के नाम पर प्रच्छन्न नास्तिकता का प्रतिपादन है। धर्म और अध्यात्म की आत्मा को जीवित रखने के लिए इन प्रचलित भ्रान्तियों को निरस्त ही किया जाना चाहिए।

कर्मफल की सुनिश्चितता के सम्बन्ध में शास्त्रकारों ने पग-पग पर जन-साधारण को प्रशिक्षित और सचेत किया है। स्पष्ट शब्दों में यह कहा है कि दुराचरण से बचा जाय और सदाचरण की मर्यादाओं का पालन करने में तत्परता का परिचय दिया जाय। कर्मफल सुनिश्चित है। फलित होने में थोड़ा विलम्ब हो जाय तो भी उस सम्बन्ध में अनास्था अपनाने की आवश्यकता नहीं है। 'कर्म रेख मिटनी नहीं' उक्ति का तात्पर्य इतना ही है भले या बुरे कर्मों की प्रतिक्रिया सम्मुख आने में किसी प्रकार का सन्देह करने की गुञ्जायश नहीं है। शास्त्रकार कहते हैं—

स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयन्तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्रमति संसारे स्वयन्तस्माद्विमुच्यते॥

—चाणक्य

जीव आप ही कर्म करता है, उसका फल भी आप ही भोगता है, आप ही संसार में भ्रमण करता है और आप ही उससे मुक्त भी होता है इसमें उसका कोई साझी नहीं।

न तेऽत्र प्राणिनः संति ये न यांति यमक्षयम्।
अवश्यं हि कृतं भोक्तव्यं तद्विधारितम्॥

—भाष्य

यहाँ पर ऐसे कोई भी प्राणी नहीं हैं जो यमराज के घर में नहीं जाते हैं अर्थात् एक बार तो वहाँ सभी प्राणियों को जाना ही पड़ता है। उनका जो कुछ भी किया हुआ कर्म है वह अवश्य ही उन्हें भोगना ही पड़ता है।

कर्मफल अकाट्य है, पर उनका परिमार्जन स्वेच्छापूर्वक किये गये प्रायश्चित्त से हो सकता है। इसमें सदाशयता, साहसिकता तो है ही सरलता भी है। चोर को राज दण्ड कड़ा मिलता है। पर यदि वह अपने दोष स्वीकार करने और चुराई वस्तु लौटाने का साहस कर सके तो राजदण्ड की अपेक्षा कम त्याग करने में काम चल जायगा, साथ ही निन्दा और घृणा के स्थान पर दूसरों का सद्भाव, सम्मान भी मिल सकेगा। जो पाप बन पड़ा वह छोड़े हुए तीर की तरह वापिस लौट नहीं सकता। किन्तु यह उपाय पीछे भी सम्भव रहता है कि प्रायश्चित्त करके उस दंड भार को काफी हलका कर लिया जाय। इसका एक लाभ तो प्रत्यक्ष ही है कि अन्तःकरण पर चढ़ा हुआ दुराव और आत्म-धिक्कार का भार हलका हो जाता है। पाप कृत्यों के फलस्वरूप उत्पन्न आत्म-ग्लानि और आत्म-प्रताड़ना से छुटकारा पा सकना प्रायश्चित्त के अतिरिक्त और किसी प्रकार सम्भव नहीं हो सकता। भारतीय धर्म शास्त्रों में पाप निवारण का एकमात्र उपाय प्रायश्चित्त ही है।

प्रायश्चित्त का प्रथम चरण है—पश्चात्ताप। दुष्कर्मों के फलस्वरूप अपनी आत्मा को—अनीति पीड़ित को—तथा परोक्ष रूप में जो क्षति पहुँचती है उस पर विचार करने से हर विवेकशील के मन में दुःख होता है। यह दुःख ही पश्चात्ताप है। यदि ऐसा दुःख नहीं उपजा। उलटे पाप के समर्थन की धृष्टता बरती जाती रही—अनुचित को उचित सिद्ध किया जाता रहा तो समझना चाहिए ऊपर से ही लीपापोती की जा रही है। पाप की जड़ें जहाँ की तहाँ हैं। वे अवसर पाते ही फिर फलेंगी-फूलेंगी और पुनरावृत्ति होती रहेगी।

पश्चात्ताप का स्वरूप है सच्चे मन से दुःखी होना। भूल की भयङ्करता का अनुभव करना और भविष्य में इस प्रकार के आचरण न करने के लिए सच्चा सङ्कल्प करना और उसे कठोरतापूर्वक निवाहना। इतना कर चुकने पर ही प्रायश्चित्त की यथार्थता सामने आती है।

प्रायश्चित्त का अगला चरण है—पाप का प्रकटीकरण। इससे कई लाभ होते हैं। मन के भीतर जो दुराव की गाँठें बँधी रहती हैं वे खुलती हैं। मनोविज्ञान शास्त्र का सुनिश्चित मत है कि मनोविकारों के—दुष्कर्मों के—दुराव से मानसिक ग्रन्थियाँ बनती हैं और वे अनेकों शारीरिक और मानसिक रोगों के रूप में उभरती रहती हैं। मनः चिकित्सा शास्त्री, मानसिक रोगियों से उसके पिछले जीवन के घटना-क्रम को विस्तारपूर्वक बताने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। इसमें अप्रकट दुरावों का यदि प्रकटीकरण हो गया तो रोग का निराकरण सरल हो जाता है। आरोग्य शास्त्र की नवीनतम शोधों ने बताया है कि रोग का कष्ट तो शरीर को अनुभव होता है, पर उनकी जड़ें मानसिक विकृतियों के रूप में जमी रहती हैं। चिकित्सा में औषधि उपचार का जितना महत्व है उससे कहीं अधिक मानसिक परिशोधन का है। मनः शुद्धि के बिना आहार-विहार ठीक रखने पर भी स्वास्थ्य रक्षा का उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता। रोगों की जड़ें काटने के लिए मानसिक चिकित्सा के रूप में आन्तरिक अन्तः शुद्धि भी आवश्यक है। यह कार्य पिछले किये हुए—दुष्कर्मों की जड़ें काटने के रूप में प्रायश्चित्त की 'प्रकटीकरण' प्रक्रिया के सहारे ही सम्भव हो सकते हैं।

ईसाई धर्म में दो अवसरों पर 'पापों का प्रकटीकरण' आवश्यक माना गया है। एक ईसाई धर्म की दीक्षा—बपतिस्मा लेते समय। दूसरे मरण काल के पूर्व। मृत्यु की सम्भावना निश्चित होने पर पादरी बुलाया जाता है रोगी और पादरी दो ही होते हैं। एकान्त में वह जीवन के प्रमुख पाप कर्मों को प्रकट करता है। पादरी उसके समाधान की प्रार्थना करता है। इस प्रकार जी हलका

करके मरने का निश्चित रूप से सत्परिणाम होगा और उससे आत्मा को शान्ति, सद्गति मिलेगी। हिन्दू धर्म में भी श्रावणी पर्व पर हेमाद्रि सङ्कल्प के साथ इसी प्रकार का प्रकटीकरण हर साल करते रहने का विधान है। इसके अतिरिक्त जब कभी पाप बने, तभी उसके प्रकटीकरण एवं प्रायश्चित्त का विधान सम्पन्न करने की परम्परा है। उन्हें जितने समय तक छिपाये रखा जाता है उतना ही चक्रवृद्धि दर से उसका भार बढ़ता चला जाता है।

'प्रकटीकरण' में पुरातन काल में कोई कठिनाई नहीं थी। उन दिनों सभी लोग सद्भाव सम्पन्न थे। प्रकटकर्त्ता के भूत कालीन पाप की तुलना में वर्तमान की प्रकटीकरण सद्भावना को अधिक महत्वपूर्ण मानते थे और जो हो चुका उस पर धूलि डाल कर आगे का सद्भाव सम्पन्न मार्ग-दर्शन करते थे। आज स्थिति ठीक उलटी है। मीठी बातें करके—तरह-तरह के आश्वासन देकर—पूछ तो लेते हैं, फिर उन बातों के आधार पर उससे घृणा करते, निन्दा फैलाते, हानि पहुँचाते हैं। पत्नियाँ अपने पिछले जीवन की घटनाएँ पतियों को सद्भावनापूर्वक बता देने के उपरान्त कितने अधिक घाटे में रहती हैं। इसके असंख्यों उदाहरण सामने आते रहते हैं। वे पछताती हैं और सोचती हैं कि इस कहने की अपेक्षा न कहना अधिक श्रेयस्कर रहता। आज का सामान्य मनुष्य इतना ही ओछा है कि उसके सामने नंगे होने में जोखिम ही जोखिम है। अस्तु प्रकटीकरण के लिए सत्पात्र तलाश करना नितान्त आवश्यक है। इसके लिए तथाकथित मित्र नहीं सद्भाव सम्पन्न, उदार हृदय तत्वदर्शी ही उपयुक्त हो सकते हैं। सुधार सद्भावना—उदार क्षमाशीलता और चिकित्सक जैसी उदार सहृदयता जिनके भीतर हो मात्र वे ही पाप प्रकटीकरण के अधिकारी हो सकते हैं। वे ही पिछली दुःखद घटनाओं की उचित समीक्षा कर सकते हैं। उन्हीं से प्रायश्चित्त का स्वरूप निर्धारित करने में भी सहायता मिल सकती है।

प्राचीन काल में पाप विवरण अधिक लोगों को बताये जाते थे ताकि उन सबको बताने वाले की दुर्बलता का ध्यान रहे। भविष्य में वैसी पुनरावृत्ति न होने पाये इसके लिए कड़ी दृष्टि रखें। संदिग्ध चरित्र वाले पर सहज ही अन्य लोग सतर्कता की दृष्टि रखते हैं। वह व्यक्ति स्वयं भी दूसरों की सतर्कता का ध्यान रखते हुए पकड़े जाने का डर करता है। छिपे पाप तो तब चलते हैं जब बाहर से मनुष्य विश्वस्त बना रहता है और भीतर से अप्रामाणिकता बरतता रहता है। इस स्थिति का अन्त वास्तविकता के व्यापक क्षेत्र में प्रकट हो जाने पर ही हो सकता है। इसलिए प्राचीन काल में पाप का प्रकटीकरण अधिकाधिक लोगों की जानकारी में होता था। आज की स्थिति में घटना-क्रम तो उच्चस्तरीय मनीषियों को ही प्रायश्चित्त पूछने के लिए बताये जायँ किन्तु स्वभाव की दुर्बलता और बन पड़े पापों की मोटी जानकारी अधिक विश्वस्त लोगों को बनी रहे तो इससे दूसरों को सतर्कता और अपने में पकड़े जाने की आशङ्का बनी रहेगी। मन की ग्रन्थियाँ खुलना और उससे शारीरिक, मानसिक आत्मिक स्वास्थ्य का सुधार तो उससे निश्चित ही है। प्रकटीकरण की महत्ता बताते हुए शास्त्र कहता है—

तस्मात् पापं गूहेत गुहमानं विवर्धयेत्।
कृत्वा तत् साधुव्वखमेयं ते तत् शंसयन्त्युत॥

—महा० अनु०

अतः अपने पाप को छिपायें न, छिपाया हुआ पाप बढ़ता है, यदि कभी पाप बन गया हो तो उसे साधु पुरुषों से कह देना चाहिए वे उसकी शान्ति कर देते हैं।

"तद् यदिह पुरुषस्य पापं कृतम्भवति तदाविष्करोति यदि हैनदपि रहसीव कुर्वन्मन्यतेऽथहैनदाविरेव करोति। तस्माद्वाव पाप न कुर्यात्।"

—जैमिनीयोपनिषद ब्राह्मण

जब मनुष्य में दिव्य वाणी प्रकट होती है तब वह अपने पाप प्रकटती है। मनुष्य ने जो पाप नितान्त गोपनीय रखे थे उन्हें भी वह प्रकट कर देता है।

प्रकटीकरण के उपरान्त प्रतीकात्मक दण्ड व्यवस्था का चरण है। यह सांकेतिक है। बच्चे के गलती करने पर उसे कान पकड़ने, कोने में खड़ा होने, बैठक करने आदि के हलके दण्ड दिये जाते हैं यह लाक्षणिक हैं। उनका महत्व इतना भर है कि इस प्रताड़ना की स्मृति-गलती की भयङ्करता और उसकी पुनरावृत्ति न करने की आवश्यकता की छाप अन्तःचेतना पर अधिक अच्छी तरह

छोड़ सके। वास्तविक समाधान तो कान पकड़ने पर कहाँ होता है? चोरी करना कान पकड़ना—चोरी करना कान पकड़ना—यदि यही क्रम चलने लगे तो बात उपहासास्पद बन जायगी। यदि बच्चा किसी की कापी चुरा लाया है तो कान पकड़ने भर से उसका प्रायश्चित्त नहीं हुआ वह तो स्मृति को झकझोरना भर है। जिसकी कापी चुराई गई थी, उसकी क्षति पूर्ति इतने भर से कहाँ हुई? उसकी तो कापी वापिस मिलनी चाहिए। जो हानि हुई उसकी भरपाई का प्रबन्ध होना चाहिए, प्रायश्चित्त का असली भाग वही है जिसमें ऋण मोचन किया जाता है।

प्रायश्चित्त का तीसरा चरण है—तप तितीक्षा। इसमें अपने को शारीरिक, मानसिक यत्किंचित कष्ट देकर स्मृति पटल पर दुघटना का स्वरूप और दुष्परिणाम अङ्कित किया जाता है। इससे भावी पुनरावृत्ति की आशङ्का बहुत हद तक घट जाती है। ऐसी तितीक्षाओं में कई तरह के व्रत-उपवास सम्मिलित हैं। चान्द्रायण, कृच्छ चान्द्रायण, सन्तापन व्रत, पञ्चगव्य प्राशन, अस्वाद व्रत आदि इसी प्रकार के हैं। मौन, ब्रह्मचर्य, भूमिशयन, शीतसहन, ग्रीष्मसहन जैसी तितीक्षाएँ भी अमुक समय तक करने का विधान बनाया जाता है। केश मुण्डन, तीर्थ स्नान जैसे उपचार भी ऐसे ही हैं, जिनमें शारीरिक, मानसिक कष्ट सहने पड़ते हैं। इस सन्दर्भ में शास्त्रकारों के अनेकों परामर्श, उपचार भरे पड़े हैं—

प्रतिग्रह को भी पातकों की श्रेणी में गिना गया है। प्रतिग्रह का अर्थ है—मुफ्त का माल। जिसका बदला न चुकाया गया हो, ऐसे समस्त अनुदान प्रतिग्रह हैं। बाप-दादों के उत्तराधिकार से मिला धन—जुआ, सट्टा, लाटरी, हरामखोरी का उपार्जन इसी श्रेणी का है। चोरी, रिश्वत, मुनाफाखोरी, करचोरी, बेईमानी आदि से कमाया हुआ भी प्रतिग्रह है। ईमानदारी, औचित्य और परिश्रम का समुचित समावेश करने पर जो कुछ मिलता है वही फलता-फूलता है अन्यथा मुफ्त का धन पाप बनकर शिर पर छाया रहता है और व्यक्तित्व के परिष्कार एवं आत्मोत्कर्ष के मार्ग में भारी अवरोध उत्पन्न करता है। साधु-ब्राह्मणों को मिलने वाली दान-दक्षिणा तभी उचित है जब वे लोग उसका प्रतिदान लोकसेवा के रूप में—उपलब्धि की तुलना में अत्यधिक करते रहें। अन्यथा भजन करने के बहाने दान-दक्षिणा बटोरते रहना—मुफ्त में खाते रहना—पाप बन कर रहेगा और उस स्थिति में की गई साधना निष्फल चली जायगी। साथ ही अन्तरात्मा भी पाप भार से लदता, बोझिल होता चला जायगा।

साधु-ब्राह्मणों में से किसी ने यदि मुफ्त का धन—प्रतिग्रह लिया हो। बदले में समुचित सेवा श्रम न किया हो तो उसका भी प्रायश्चित्त किया जाना चाहिए।

प्रति ग्रहेण विप्राणां ब्रह्म तेजः प्रणस्यति।
अतः प्रतिग्रहे कृत्वा प्रायश्चित्तं समाचरेत्।

—अरुण स्मृति

प्रतिग्रह लेने वाले का ब्रह्मतेज नष्ट हो जाता है। ऐसा ग्रहण करने वाले को प्रायश्चित्त करना चाहिए।

सद्वृत्तात्कारणाद् विप्राः प्रायश्चित्त भयात् खग।
प्रतिग्रहे कृते चैव प्रायश्चित्तं समाचरेत् ॥

—अरुण स्मृति

सद्वृत्तियों के उपार्जन में लगा हुआ व्यक्ति भी इस भय से प्रतिग्रह न ले कि उसका प्रायश्चित्त करना पड़ेगा। यदि कभी ले ही लिया गया हो तो उसका प्रायश्चित्त करना चाहिए।

यह बात मात्र ब्राह्मण, साधु के दान-दक्षिणा लेने तक सीमित नहीं है। वरन् उन सब पर लागू होती है जो बिना परिश्रम का धन ग्रहण करते हैं। न्यायपूर्वक समुचित परिश्रम के साथ कमाये हुए धन के अतिरिक्त अन्य सभी उपार्जनों को प्रतिग्रह माना गया है, भले ही वे उत्तराधिकार रूप में ही प्राप्त क्यों न हुए हों? जिन्हें इस प्रकार की उपलब्धियाँ हस्तगत हुई हों उन्हें उनका जितना सम्भव हो उतना लोकहित के लिए वापिस लौटाने से अपनी सदाशयता का परिचय देना चाहिए। यही बात दूसरों से मिले स्नेह, सहयोग आदि के सम्बन्ध में भी है। यह धन भले ही न हों, पर अनुदान तो है ही। हर अनुदान ऋण रूप में मिलता है और सृष्टि क्रम के अनुसार उसे वापिस लौटाने का स्मरण रखा जाना चाहिए। यह स्मृति उपकारी के प्रति मन में सघन कृतज्ञता भरे रहने के रूप में तो होनी ही चाहिए। प्रतिदान चुकाने की बात सोचते रहना भी आवश्यक है।

प्रायश्चित का अन्तिम चरण है—ऋण विमोचन। जो लिया है उसे वापिस लौटाना। बैंक से धन लेकर कोई खजान्ची भाग खड़ा हो, तो मात्र कान पकड़ने, गिड़गिड़ाने, क्षमा मांगने, उपवास करने से काम नहीं चलेगा। इतना तो करना ही चाहिए। इसके अतिरिक्त जो धन लिया गया था उसमें से जो बचा हो उसे तो तत्काल वापिस जमा करना ही चाहिए। बैंक अफसरों और पुलिस का रुख उदार बनाने—कड़े दण्ड से बचने के लिए यह वापिसी आवश्यक है। जो कमाया वह हजम—गिड़गिड़ाहट कर छुटकारा। ऐसा कहाँ होता है? पातकों के दण्ड से—निवृत्त होने में भी ऐसी धाँधली नहीं चल सकती कि व्रत, उपवास, मौन आदि के प्रतीकों से छुटकारा मिल जाय और अवांछनीय लाभ की क्षति पूर्ति कराने वाली बात गोल कर दी जाय। वापिसी ही प्रायश्चित्त का प्राण है। उसका जितना पूरा-अधूरा अंश सम्भव हो उसके लिए साहस जुटाया ही जाना चाहिए।

यहाँ यह स्मरणीय है कि सारा समाज एक शरीर है। उसके किसी भी अङ्ग को क्षति पहुँचाई गई हो पूरे शरीर की हानि मानी जायगी। आवश्यक नहीं कि हानि जिस रूप में पहुँचाई गई हो उसे उसी रूप में वापिस लौटाई जाय। लोकहित के किसी भी श्रेष्ठ काम में उस 'वापिसी' को लगाया जा सकता है। जिसका लिया उसे उसी रूप में वापिस कर सकना कई बार तो सर्वथा अशक्य और अव्यावहारिक भी होता है। रास्ते में पैसा पड़ा मिला—किसी की जेब कटी—अब उसी व्यक्ति को ढूँढ़ निकालना कैसे सम्भव हो सकता है? किसी का शील नष्ट किया अब उसे उसकी क्षति कैसे पूरी की जाय? कई बार तो इसमें उलटी नई समस्याएँ खड़ी हो सकती हैं। जो लोग साथी, सहयोगी रहे वे भी लपेट में आते हैं और सद्भावना उत्पन्न करने का उद्देश्य भयङ्कर विग्रह का रूप धारण कर सकता है।

अनीति से उपार्जित उपलब्धियों को जिस-तिस रूप में लोक-मङ्गल के—सत्प्रवृत्ति सम्वर्धन के किसी श्रेष्ठ काम में लगा दिया जाना चाहिए। अशोक, अँगुलिमाल अम्बपाली आदि ने अपना अनीति उपार्जन बौद्ध धर्म के प्रसार-विस्तार में समर्पित कर दिया था। जिसकी जो हानि की उसी को तलाश करना और उसी रूप में वापिस करना उनके लिए सम्भव भी न था।

धन या श्रम के रूप में अनीति मार्ग से उपार्जित की गई समस्त उपलब्धियों की वापिसी की बात सोची जा सकती है। प्रायश्चित्त प्रकरण में अनेक प्रकार के दानों का उल्लेख हुआ है। उस समय साधु-ब्राह्मण दान और उसके श्रेष्ठतम सदुपयोग की प्रामाणिक ऐजेन्सी थे। उन पर अविश्वास करने का कोई कारण भी न था। ऐसी दशा में साधु-ब्राह्मण को प्रायश्चित्त दान देने का उल्लेख है आज तो वैसी स्थिति नहीं रही। सत्प्रवृत्ति सम्वर्धन कर सकने वाले श्रेष्ठ कर्मों में ही ऐसे प्रायश्चित्त दान नियोजित किये जाने चाहिए।

धन का स्थानापन्न श्रम भी हो सकता है। वस्तुतः श्रम ही धन है। यों धन से श्रम भी खरीदा जा सकता है। पर मूल आधार श्रम है। व्यक्ति की यही मौलिक सम्पदा है और यह सभी को समान रूप से उपलब्ध है। अस्तु प्रायश्चित्त प्रयोजनों में धन लौटाने की ही तरह श्रम के द्वारा उसकी क्षति पूर्ति करने का भी विधान है। पाप कर्मों के द्वारा समाज की नैतिक, आर्थिक एवं अन्य प्रकार की क्षति हुई है उसकी भरपाई सत्प्रवृत्ति सम्वर्धन से उतना ही श्रम लगाकर की जा सकती है। दूसरों के गिराने के लिए जो खाई खोदी गई थी; उसे पाटने के लिए—समतल बनाने वाला श्रम नये सिरे से लगाने पर ही सन्तुलन बनेगा और प्रायश्चित्त सम्भव होगा।

प्रायश्चित्त की आवश्यकता और उसके लिए उठाये जाने योग्य चरण क्या होने चाहिए? इसकी चर्चा तत्वदर्शियों ने इस प्रकार की है—

अकृत्वा विहितं कर्म्म कृत्वा निन्दितमेव च।
दोषमाप्नोतिः पुरुषः प्रायश्चित्तं विशोधनम्॥
प्रायश्चित्तमकृत्वा तु न तिष्ठेद् ब्राह्मणः क्वचित्
यद्ब्रूयुर्ब्राह्मणाः शान्ताः विद्वांसस्तत्समाचरेत्।

—कूर्म पुराण

निन्दित हेय कुकर्म करने पर मनुष्य को पाप लगता है। उसका शोधन प्रायश्चित्त द्वारा करना चाहिए।

श्रेष्ठ विद्वान् और तपस्वी ब्रह्मवेत्ताओं से प्रायश्चित्त पूछना चाहिए और तदनुसार व्यवस्था करनी चाहिए।

आसम्बत्सरं प्रायश्चित्ताकरणे पापद्वैगुण्यम्।
(प्रायश्चित्तेन्दु० शे०)

इनके अनुसार एक वर्ष तक पाप का प्रायश्चित्त न किया जाय तो पाप दुगुना हो जाता है। अतः पाप का प्रायश्चित्त यथा समय करना चाहिए।

तपसा कर्मणा चैव प्रदानेन भारत।
पुनाति पापं पुरुषं पुनश्चेन्न प्रवर्तते॥
—महाभारत शान्ति पर्व

भरतनन्दन! मनुष्य तप से यज्ञ आदि सत्कर्मों से तथा दान के द्वारा पाप को धो-बहाकर अपने आपको पवित्र कर लेता है।

धनंजय कृतं पापं कल्याणे नोपहन्यते।
ख्यापनेनानुतापेन दानेनतपसापि वा॥
—महा० शान्ति पर्व

धनंजय किया हुआ पाप कहने से, दान करने से और तपस्या से नष्ट हो जाता है।

श्रम के द्वारा प्रायश्चित्त करना हर किसी के लिए सम्भव है। सत्प्रवृत्ति सम्वर्धन में लगाया हुआ समय इस आवश्यकता की पूर्ति करता है। साथ ही धन के रूप में भी जो लौटाया जा सकना सम्भव है उसके लिए पूरी ईमानदारी से प्रयत्न करना चाहिए।

इस दृष्टि से धर्म-प्रचार के लिए की गई पदयात्रा, तीर्थयात्रा सर्वश्रेष्ठ है। जन-मानस में सत्प्रवृत्तियों की प्रेरणा भरना ही प्राचीन काल में तीर्थयात्रा का उद्देश्य रहा है। उसे महत्व भी इसीलिए मिला और माहात्म्य भी इसी आधार पर बताया गया। आज की स्थिति में सर्वत्र सद्भावनाओं का ही दुर्भिक्ष पड़ा हुआ है। उसी अभाव के कारण सम्पदा और शिक्षा, कुशलता एवं अन्यान्य क्षमताएँ भी सुख-शान्ति बढ़ाने के स्थान पर विपत्ति बढ़ा रही हैं। सद्भाव विस्तार के लिए जन-मानस का परिष्कार आवश्यक है। यह कार्य धर्म-प्रचार के लिए नियोजित की जाने वाली तीर्थयात्रा, पदयात्रा के लिए निकलने वाली टोलियाँ, मण्डलियाँ जितनी अच्छी तरह कर सकती हैं उतना और किसी प्रकार सम्भव नहीं। प्रायश्चित्त के ऋण विमोचन चरण को पूरा करने के लिए अन्यान्य सत्प्रवृत्ति सम्वर्धन प्रयत्नों के साथ-साथ तीर्थयात्रा पर निकलने की बात भी ध्यान में रखी जानी चाहिए।



यथाहिकानकंखण्डमपद्रव्यवदग्निना। दग्धदोषंद्वितीयेनखण्डेननैक्यं व्रजेन्नृप॥
नविशेषमवाप्नोतितद्वद्योगाग्निनायतिः। निर्दग्धदोषस्तेनैक्यंप्रयातिब्रह्मणासह॥
यथाग्निरग्नौसंक्षिप्तःसमानत्वमनुव्रजेत्। तदाख्यस्तन्मयोभूतोनगृह्येतविशेषतः॥
परेणब्रह्मणातद्वत्प्राप्यैक्यंदग्धकिल्विषः। योगीयातिपृथग्भावंनकदाचिन्महीपते॥
यथाजलंजलेनैक्यंनिक्षिप्तमुपगच्छति। तथात्मासाम्यमभ्येतियोगिनःपरमात्मनि॥
—मार्कण्डेय पुराण

हे राजन् जिस प्रकार सोने को अग्नि में डालने से उसमें मिले हुए मलीन तत्व जल जाते हैं, उसी प्रकार योग की अग्नि में राग-द्वेष आदि दोष नष्ट हो जाते हैं।

जैसे एक अग्नि को दूसरी अग्नि में डालने से दोनों मिलकर एक हो जाती हैं, उसी प्रकार योग साधना से जीव और ब्रह्म की एकता हो जाती है।

जिस प्रकार जल में जल डाल देने से वे परस्पर अभेद होकर मिल जाते हैं, उसी प्रकार योगाभ्यास से आत्मा भी परमात्मा बन जाती है।



तीर्थ यात्रा क्यों और कैसे ?

धार्मिक श्रेष्ठ सत्कर्मों में तीर्थ यात्रा को अग्रणी माना गया है। उसके दो प्रतिफल माने गये हैं, (१) पाप नाश (२) पुण्य फल की प्राप्ति। पाप नाश का अर्थ है दुष्कर्मों का प्रायश्चित्त। प्रायश्चित्त का अर्थ है किये हुए पापों का स्वेच्छा पूर्वक दंड भुगत लेना। मात्र किसी नदी, सरोवर में शरीर को स्नान करा लेने का इतना ही उद्देश्य है कि शरीर की तरह अन्तःकरण एवं आचरण को भी पवित्र बनाने की उमंग उठे। यह उमंग जितनी व्यवहार में उतरेगी उतनी ही पवित्रता बढ़ेगी, पुण्य सम्पादित होगा। उससे जो लोक हित होता है उसके फलस्वरूप पिछले पापों का भुगतान होता है। समाज को जो क्षति पहुँचाई थी उसकी क्षति पूर्ति किये हुए पुण्य कर्मों से होती है। इस दिशा में नदी, सरोवरों के स्नान से, देव दर्शन से, तीर्थ-यात्रा से जो प्रेरणा मिलती है उसकी प्रतिक्रिया पाप वृत्ति का परित्याग करने के रूप में होती है। पाप नाश का अर्थ यह है कि पाप प्रवृति का परित्याग किया जाय। किये हुए दुष्कर्मों की भरपाई करने के लिए उसी अनुपात से लोक हितकारी सत्कर्म करके पिछले दिनों जो हानि की है उसका सन्तुलन बनाने के लिए कष्ट सहा जाय, श्रम किया जाय और त्याग बलिदान की उदार साहसिकता का परिचय दिया जाय।

तीर्थ यात्रा की दूसरी प्रेरणा है जीवन क्षेत्र में पवित्रता का अभिवर्धन उदारता पूर्वक परमार्थ प्रयोजनों में संलग्न होने से सत्कर्मों की पूँजी बढ़ती है, पुण्य संचय होता है। तीर्थ यात्रा के साथ इस स्तर की जो उमगें उठती हैं वे यदि प्रखर हुईं तो पुण्य कर्मों में लगाकर ही छोड़ती हैं। इस तरह प्रकारान्तर से तीर्थ यात्रा का प्रतिफल पुण्य कर्मों द्वारा पुण्य फल संचित कराने में सहायक होता है। यह प्रेरणा ही तीर्थ यात्रा का पुण्य फल सम्पादन का निमित्त बनती है। इसीलिए उसका वैसा ही माहात्म्य बताया गया है।

तीर्थ यात्रा का वास्तविक स्वरूप धर्म प्रचार के निमित्त की गई पद यात्रा है। इसमें विराम स्थल प्राकृतिक एवं एतिहासिक स्थान भी रहते थे। यह मंडलियाँ सन्त सत्पुरुषों से मार्ग दर्शन भी प्राप्त करती थीं। तीर्थों में वैसी सुविधा रहती ही थी। इसलिए विराम, विश्राम निवास-सत्संग के लिए उन विशेष स्थानों में वे टोलियाँ रहती थीं। जन मानस का परिष्कार धर्म धारणाओं का विस्तार संसार का सबसे बड़ा पुण्य है। ब्रह्म-ज्ञान से, ज्ञान दान से बढ़कर और कोई परमार्थ नहीं माना गया। धर्म प्रचार के निमित्त किया गया यह श्रम, त्याग निश्चित रूप से स्व-पर कल्याण का माध्यम और पुण्य फल सचय का साधन बनता था। ऐसा सत्साहस करने वालों के पाप कर्मों का प्रायश्चित्त होता ही है। पाप नाश और पुण्य फल संचय का जो माहात्म्य तीर्थ यात्रा के साथ जुड़ा हुआ है उसका यही कारण है।

धर्मशास्त्रों में इसी कारण तीर्थ यात्रा के इन दोनों ही माहात्म्यो के प्रतिफलों का स्थान-स्थान पर वर्णन किया है। कहा गया है कि—

अनुपातकिनस्त्वेते महापातकिनो यथा।
अश्वमेधेन शुद्धयन्ति तीर्थानुसरणेन च ॥

—विष्णु स्मृति

पापी, महा पापी सभी अश्वमेध से तथा तीर्थानुसरण तीर्थ यात्रा से शुद्ध हो जाते हैं।

नृणां पापकृतां तीर्थे पापस्य शमनं भवेत्।
यथोक्त फलदं तीर्थं भवेच्छुद्धात्मनां नृणाम् ॥

पापी मनुष्यों के तीर्थ में जाने से उनके पाप की

त होती है। जिनका अन्तःकरण शुद्ध है, ऐसे मनुष्यों
ाए तीर्थ यथोक्त फल देने वाला है।

तीर्थान्यनुसरन् धीरः श्रध्यानः समाहितः ।
कृतपापो विशुद्धचेत किं पुनः शुद्ध कर्मकृत् ।।

जो तीर्थों का सेवन करने वाला, धैर्यवान, श्रद्धायुक्त एकाग्र चित्त है, वह पहले का पापाचारी हो तो भी हो जाता है, फिर जो शुद्ध कर्म करने वाला है, ी तो बात ही क्या है ?

कामंक्रोधं च लोभं च यो जित्वा तीर्थभाविशेत् ।
न तेन किंचिदप्राप्तं तीर्थाभिगमनाद् भवेत् ।।

जो काम, क्रोध और लोभ को जीतकर तीर्थ में प्रवेश ा है, उसे तीर्थ यात्रा से कोई भी वस्तु अलभ्य नहीं ो।

तीर्थानि च यथोक्तेन विधिना संचरन्ति ये ।
सर्वद्वन्दसहा धीरास्ते नराः स्वर्गगामिनः ।।

जो यथोक्त विधि से तीर्थ यात्रा करते हैं, सम्पूर्ण ं को सहन करने वाले वे धीर पुरुष स्वर्ग में हैं।

यावत स्वस्थोऽस्ति मे देहो यावन्नेन्द्रिय विक्लवः
तावत स्वश्रेयसां हेतु तीर्थयात्रां करोम्यहम् ।।

जब तक मेरा शरीर स्वस्थ है, जब तक आँख, कान इन्द्रियाँ सक्रिय हैं, तब तक श्रेय प्राप्ति के लिए यात्रा करते रहने का निश्चय करें।

तीर्थानि च यथोक्तेन विधिना संचरन्ति ये ।
सर्वद्वन्द्व सहा धीरास्ते नराः स्वर्गगामिनः ।।

—नारद पुराण

जो यथोक्त विधि से तीर्थ यात्रा करते हैं, सम्पूर्ण ों को सहन करने वाले वे धीर पुरुष स्वर्ग में जाते हैं।

विचारणीय यह है कि क्या तीर्थ यात्रा मात्र नदी, ावरों, का स्नान, देव प्रतिमाओं का दर्शन या क्षेत्र विशेष पर्यटन की प्रक्रिया भर है या उसके पीछे कोई लक्ष्य ाप भी सन्निहित है। यदि कोई पुण्य फल दायक और निवारक क्रिया कलाप सन्निहित न हों तो पर्यटन या स्पर्श मात्र के आधार पर आत्म-कल्याण जैसे ान प्रयोजन की पूर्ति कैसे हो सकती थी ? यदि परमार्थ ना ही सस्ता रहा होता तो फिर कोई तप तितीक्षा का कष्ट-साध्य मार्ग अपनाने के लिए, क्यों तैयार होता। स्पष्ट है कि तीर्थ-यात्रा के पीछे वे तत्व सन्निहित होने चाहिए जो व्यक्तिगत जीवन को परिष्कृत करने तथा लोक कल्याण की सत्प्रवृत्तियों के अभिवर्धन की भूमिका निभा सकें। यह नितान्त भ्रम ही है कि किसी स्थान विशेष में जैसे तैसे-जा पहुँचने में तीर्थ यात्रा का पुण्यफल मिल सकता है। इस भ्रम का निवारण करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

न तोय पूतदेहस्य स्नानमित्यमिधीयते ।
स स्नातो यस्य वै पुंसः सुविशुद्धं मनोमतम् ।।

—स्कन्द पुराण

जल से ऊपरी भाग को धो लेना ही स्नान नहीं है, स्नान तो उसका नाम है, जिससे बाहरी शुद्धि के साथ साथ हम अपनी अन्तःशुद्धि भी कर लें।

न जलाप्लुतदेहस्य स्नानमित्य मिधीयते ।
स स्नातो यो दमस्नातः शुचिः शुद्ध मनोमलः ।।

जल में शरीर को डुबो लेना ही स्नान नहीं कहलाता जिसने दम रूपी तीर्थ में स्नान किया है—मन इन्द्रियों को वश में कर रक्खा है, उसी ने वास्तव में स्नान किया है। जिसने मन का मल धो डाला है, वही शुद्ध है।

जायन्ते च म्रियन्ते च जलेष्वेव जलौकसः ।
न च गच्छन्ति ते स्वर्गमविशुद्ध मनोमलाः ।।

जल में निवास करने वाले जीव जल में ही जन्मते और मरते हैं, पर उनका मानसिक मल नहीं धुलता इससे वे स्वर्ग को नहीं जाते।

न शरीर मल त्यागान्नरो भवति निर्मलः ।
मानसे तु मले त्यक्ते भवत्यन्तः सुनिर्मलः ।।

—महाभारत

केवल शरीर के मैल को उतार देने से ही मनुष्य निर्मल नहीं हो जाता। मानसिक मल का परित्याग करने पर ही वह अत्यन्त निर्मल होता है।

जिसके पीछे सत्प्रवृत्ति संवर्धन जैसा कोई उद्देश्य न हो, मात्र दर्शन पर्यटन तक ही जिसे पूर्ण मान लिया गया हो, ऐसी तीर्थ यात्रा पर व्यंग करते हुए महाभारतकार उसे निरर्थक भी बताता और निषेध भी करता है।

जाजले ! तीर्थमात्मैव मास्मदेशातिथिर्भव ।
कारणंधर्ममन्विछन् स लोकानाप्नुते शुमान् ।।

—शान्तिपर्व अ० २६९

हे जाजल, सबसे बड़ा तीर्थ आत्मा ही है दूसरे तीर्थो में देश-देश में अतिथि बने क्यों भटको ? अपने भीतर ही धर्माधर्म को हेतु पूर्वक विचारो । जो मनुष्य हेतु युक्त धर्म पहिचानता और करता है वही तो शुभ लोकों को पाता है ।

तीर्थ शब्द का अर्थ समझ लेने पर उसके उद्देश्य एवं स्वरूप का अच्छी तरह स्पष्टीकरण हो जाता है । तीर्थ शब्द 'तृ प्लवन तरणयो' धातु से बना है । 'पातृतुं देवचिरिचि सिचिम्यस्थक्' इस उणादि सूत्र द्वारा 'थक्' प्रत्यय करने पर 'तीर्यते अनेक' (जिससे तरा जाता है) यह अर्थ निकलता है ।

निपानागमयोस्तीर्थमृपि जुष्ट जले गुरौ ।

—अमर कोश

अमर कोश में निपान, आगम, ऋषि, जुष्ट तथा गुरु की भी तीर्थ संज्ञा कही है ।

लोक व्यवहार में ज्ञानी, मनीषी, त्यागी, श्रेष्ठ सत्पुरुषों को भी तीर्थ उपाधि से विभूषित किया जाता है । संन्यासियों में एक सम्प्रदाय ही तीर्थ पदवी धारी होता है ।

इन प्रसंगों पर विचारकरने से वे व्यक्ति या साधन तीर्थ कहलाते हैं जो मनुष्य को भव बन्धनों से तारने उबारने में समर्थ होते हैं । आगे बढ़ाने ऊँचा उठाने में सहायता करते हैं । स्पष्ट है कि साधनों एवं स्थानों की अपेक्षा सचेतन मनुष्य ही इस उद्देश्य को अच्छी तरह पूर्ण कर सकता है । इसलिए ज्ञानवानों का सान्निध्य तीर्थ यात्रा का उद्देश्य पूरा करता है । जहाँ ज्ञानी लोग रहते— सत्प्रवृत्तियों के अभिवर्धन का प्रयत्न करते थे वहाँ इन्हीं विशेषताओं के कारण तीर्थ की मान्यता बनती थी और उन्हें तीर्थ कहा जाने लगता था । ज्ञानियों के सत्प्रयत्नों को मूर्तिमान करने वाले स्थान ही सच्चे अर्थों में तीर्थ कहलाने के अधिकारी हैं । इसमें महत्ता स्थान की नहीं ज्ञानियों की है । तीर्थों के प्राण ऐसी ही उच्चस्तरीय आत्माएँ होती हैं । कहा गया है कि—

न ह्यम्भयानि तीर्थानि न देवाः मृच्छिलामयाः,
ते पुनंति उरुकालेन दर्शनाद् एव साधवः;
तेषाम् एव निवासेन देशास्तीर्थी भवन्ति वै ।

—भागवत्

जल से तीर्थ नहीं बनते, न देवता मिट्टी और पत्थर से बनते हैं, उनकी उपासना करने से बहुत काल में मन की शुद्धि होती हैं, पर सच्चे साधुओं के तो दर्शन और सत्संग से ही चित्तः सद्यः शुद्ध हो जाता है, तीर्थ स्थानों में जो सच्चे साधु, तपस्वी, विद्वान बसते हैं वे ही तीर्थ के तीर्थङ्कर हैं ।

स्वयं हि तीर्थानि पुनन्ति सन्तः ।

—योगवाशिष्ठ

सन्त स्वयं तीर्थों को पवित्र करते हैं ।

विप्राणां चरणौ तीर्थं गवां प्रष्ठं तथा मतम् ।
एते यत्र ही तिष्ठन्ति तच्च तीर्थमुदाहृतम् ।।
वलानां च शिरस्तीर्थं स्वंतीर्थं चक्षु रुच्यते ।
तथैव दक्षिणः कर्णस्तर्थं स्वं परिगण्यते ।।
सत्यवाक्यं तु वाक्तीर्थं पुराण पठनं तथा ।
देवलिङ्गधरं चित्त तीर्थमित्युच्यते बुधैः ।।
असचिन्ता विरहितं मानसं तीर्थमुच्यते ।
दातृणां च करौ तीर्थं देवपूजाकरौ तथा ।।

ब्राह्मणों के दोनों चरण तीर्थ हैं तथा गायों की पीठ तीर्थ मानी गयी है । जहाँ ये रहते हैं उसे भी तीर्थ ही कहा गया है । बालकों का सिर तीर्थ होता है तथा अपनी आँख तीर्थ होती है । अपना दाहिना कान भी तीर्थ माना गया है । सत्य वचन वाणी का तीर्थ है, पुराणों का पठन भी तीर्थ है । देवताओं का ध्यान करने वाला चित्त भी विद्वानों द्वारा तीर्थ कहा जाता है । असत् चिन्तन से मुक्त मन ही तीर्थ है । दाताओं के दोनों हाथ तीर्थ होते हैं तथा देव पूजा करने वाले दोनों हाथ भी तीर्थ होते हैं ।

ब्राह्मणाजङ्गमं तीर्थं निर्मलं सार्वकामिकम् ।
एषां वाक्योदकेनैव शुद्धयन्ति मलिना जनाः ।।

—अगस्त्य

ब्राह्मण सर्वफल प्रद चलते-फिरते तीर्थ हैं, जिनके वाक्योदक से ही मलिन जन शुद्ध हो जाते हैं ।

समान तीर्थवासी—

—अष्टाध्यायी ४।४।१०७

जो छात्र एक गुरु से पढ़ते हैं उन्हें सत्तीर्थ कहते हैं। यथा—

समाने तीर्थ गुरों वसतीति सतीर्थ्थ:।

आचार्य गुरु ही तीर्थ है।

बृहद्धर्म पुराण के पूर्व खण्ड में तीर्थ–प्रादुर्भाव नाम के कुछ अध्याय ही हैं। उनके अन्त में यह भाव व्यक्त भी हुआ है—

वनवास गतो रामो यत्र तत्र व्यवस्थित:
तानि चोक्तानि तीर्थानि शतमष्टोत्तरं क्षितौ॥

—बृहद्धर्म० पूर्व खण्ड १४।३४

भगवान राम वनवास के समय जहाँ जहाँ रुके वे १०८ स्थान तीर्थ कहे गये।

व्रजेवाप्यथवारण्ये यत्रसन्ति वहुश्रुता:
तत्तन्नगरमित्याहु: पार्थ तीर्थं च तद्भवेत्।

—महा० वन०

नगर में अथका वन अरण्यक में जहाँ भी ज्ञानी लोग रहते हैं वही स्थान तीर्थ बन जाता है।

भवद्विधा भागवतास्तीर्थी भूता: स्वयं विभो।
तीर्था कुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तस्थेन गदा भृता:।

—भागवत १।१३

तीर्थ दो प्रकार के एक दृश्यमान दूसरे अदृश्य। तीर्थ स्वरूप अन्त:करण स्थान रूपी तीर्थों को पवित्र करते हैं।

दुर्योधन को उपदेश देते हुए उसके शुभ चिन्तक भगवान् कृष्ण को तीर्थ कहते हैं और उनके सम्पर्क से कुल की रक्षा करने का उपदेश देते हैं—

तदलं ते विरोधेन शमंगच्छ नृपात्मज।
वासुदेवेन तीर्थेन कुलं रक्षितुमर्हसि।

—महा० उद्योग०

हे राजकुमार! विरोध छोड़ शान्ति ग्रहण कर। तू कृष्ण रूपी तीर्थ की शरण में जा और अपने कुल की रक्षा कर।

उपरोक्त उद्धरणों में तीर्थ स्थानों को श्रेय देने वाले ऋषि कल्प महामनीषी ही होते हैं। स्थानों की गरिमा वहां निवास करने वाले उन्हीं महा-मानवों की लोकोपयोगी सत्प्रवृत्तियों के कारण नहीं हैं।

तीर्थ-यात्रा के समय भावनाएँ उच्चस्तरीय होनी चाहिए। उस अवधि में आत्म-निर्माण और लोक कल्याण के लिए क्या करना चाहिए? किस प्रकार करना चाहिए? यहाँ चिन्तन, मनन अन्त:क्षेत्र में चलता रहे। उस अवधि में अपने गुण कर्म स्वभाव को श्रेष्ठ बनाने का अभ्यास किया जाय। वैसी गतिविधियाँ अपनाई जायँ जिससे भविष्य में व्यवहार में उत्कृष्टता का समावेश स्थायी तथ्य बन जाय। इन यात्राओं में चिन्तन और क्रिया-कलाप उच्चस्तरीय रखने से ही तीर्थ यात्रा का फल मिलता है। वस्तुत: यह आचरण बन्धन ही पुण्यफल का प्रधान कारण है—

जो धनोपार्जन के लिए अनर्थ नहीं करता, जो मिताहारी, जितेन्द्रिय और निष्काम है उसे तीर्थ का फल मिलता है। जो क्रोध रहित है और शुद्ध बुद्धि युक्त है, सत्य बोलने वाला, धार्मिक नियमों का दृढ़ता पूर्वक पालन करने वाला तथा प्राणिमात्र के सुख-दु:ख को अपनी आत्मा के समान देखने वाला है, उसे तीर्थ का फल मिलता है।

जिसके हृदय में ईश्वर, देवता, धर्म, तीर्थ आदि पर श्रद्धा नहीं है, जो दुराचारी और नास्तिक है, जिसके हृदय में सन्देह भरे हुए हैं और जो व्यर्थ की तर्कणा करता है। ऐसे मनुष्य को तीर्थ का फल नहीं मिलता।

यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चव सुसंयतम्।
विद्यातपश्या कीर्तिश्च सतीर्थ फलमश्नुते॥
प्रतिग्रहा पुण्यावृत्त: सन्तुष्ठो एव केनचित्।
अहंकार विमुक्तिश्च सतीर्थ फलमश्नुते॥
अदाम्भिको निरारम्भो लब्धाहारो जितेन्द्रिय:।
विमुक्त: सर्व संगैर्य: सतीर्थ फल मश्नुते॥
अकोपनोऽमलमति: सत्यवादी दृढ़वृत:।
आत्मोपमञ्च भूतेषु सतीर्थ फल मश्नुते॥
अश्रद्दधान: पापात्मा नास्तिकोछिन्न संशय:।
हेतु निष्ठश्च पंचैते न तीर्थ फल भागिन:।

—महा० वन०

जिसके हाथ, पैर और मन वश में हैं, जिसमें विद्या

और तप है, एवं जिसका यश है, अर्थात् जिसने परोपकार करके यश पाया है उस पुरुष को तीर्थ का फल मिलता है।

जो दान लेने से बचा है, जिसको भाग्यानुसार मिले हुए में सन्तोष है और अभिमान नहीं है उसे तीर्थ का फल मिलता है जिसमें पाखण्ड नहीं है।

क्रिया क्रमेण महता तपसा नियमेन च।
दानेन तीर्थयात्राभिश्चिर कालं विवेकतः॥
दुष्कृतैः क्षयमापन्ने परमार्थ विचारणे।
काकतालीय योगेन बुद्धिर्जन्तोः प्रवर्तते॥

बहुत दिनों तक यज्ञ दानादि करने कराने से, कठिन तपस्या, नियम, तीर्थ यात्रा आदि द्वारा विवेक बढ़ता है और इनके द्वारा बुरे कर्मों का नाश हो जाने पर काकतालीय न्याय से मनुष्य में परमार्थ बुद्धि प्रस्फुटित हो जाती है।

जो लोग सैर सपाटे के उद्देश्य से तीर्थ यात्रा में परिभ्रमण तो करते हैं परन्तु अपने दोष दुर्गुणों को छोड़ने की आवश्यकता नहीं समझते। उनके परित्याग की प्रेरणा नहीं लेते और न आत्म सुधार का इस अवसर पर कोई विशेष साहस करते हैं उनकी यह यात्रा एक प्रकार से निरर्थक निष्फल ही चली जाती हैं। कहा भी है—

मनो वाक् काय शुद्धानां राजस्तीर्थं पदे पदे।
तथा मलिन चित्ताना गङ्गापि कीटकाधिका॥

हे राजन्! मन, वाणी और काया से शुद्ध हुये मनुष्यों के लिये पग-पग पर तीर्थ है, किन्तु मलिन चित्त वालों के लिये गंगा भी एक तलैया है।

यो लुब्धः पिशुनः क्रूरो दाम्भिको विषयात्मकः।
सर्वतीर्थेष्वपि स्नातः पापो मलिन एव सः॥

जो लोभी है, चुगलखोर है, निर्दय है, दम्भी है और विषयासक्त है, वह सब तीर्थों में स्नान करके भी पापी और मलिन ही रह जाता है।

दानमिज्या तपः शौचं तीर्थ सेवा श्रुतं तथा।
सर्वाण्येतान्यतीर्थानि यदि भावो न निर्मलः॥

भीतर का भाव शुद्ध न हो तो दान, यज्ञ, तप, शौच तीर्थ सेवन, शास्त्र श्रवण और स्वाध्याय ये सभी अतीर्थ हो जाते हैं।

चित्तमन्तर्गतं दुष्टं तीर्थ स्नानान्न शुद्धयति।
शतशोऽपि जलैर्धौतं सुराभाण्डमिवाशुचि॥

चित्त के भीतर यदि दोष भरा है तो वह तीर्थ स्नान से शुद्ध नहीं होता जैसे मदिरा से भरे हुए घड़े को ऊपर से सैकड़ों बार धोया जाय तो भी वह पवित्र नहीं होता। उसी प्रकार दूषित अन्तःकरण वाला मनुष्य भी तीर्थ स्नान से शुद्ध नहीं होता।

गङ्गादितीर्थेषु वसन्ति मत्स्या
देवालये पक्षिगणाश्च सन्ति
भावोज्झितास्ते न फलं लभन्ते
तीर्थाच्च देवायतनाच्च मुख्यात्
भावं ततो हृत्कमले निधाय
तीर्थानि सेवेत समाहितात्मा।

—नारद पुराण

गङ्गादि तीर्थों में मछलियाँ निवास करती हैं, देव मन्दिरों में पक्षीगण रहते हैं, किन्तु उनके चित्त भक्ति-भाव से रहित होने के कारण उन्हें तीर्थ सेवन और देव मन्दिर में निवास करने से कोई फल नहीं मिलता। अतः हृदय कमल में भाव का संग्रह करके एकाग्र चित्त होकर तीर्थ सेवन करना चाहिए।

अश्रद्धानः पापात्मा नास्तिकोऽछिन्न संसयः।
हेतुनिष्ठश्च पच्चैते न तीर्थफल भागिनः॥

—स्कन्द पुराण

जो अश्रद्धालु हैं, पापात्मा (पाप का पुतला पाप में गौरव बुद्धि रखने वाला) नास्तिक, संशययात्मा और केवल तर्क में ही डूबा रहता है—ये पाँच प्रकार के मनुष्य तीर्थ के फल को प्राप्त नहीं करते।

वस्तुतः सत्प्रवृत्तियाँ ही तीर्थ हैं। उन्हें उभारने की जिन स्थानों पर विशेष व्यवस्था एवं संभावना है वे स्थान तीर्थ बन जाते हैं। तीर्थ की आत्मा उत्कृष्टता की आस्था ही है। इसलिए शास्त्रकारों ने मानस तीर्थों का भी वर्णन किया है और सत्प्रवृत्तियों को तीर्थ ठहराते हुए उनका सुनिश्चित पुण्य फल भी बताया है।

सत्यं तीर्थं क्षमा तीर्थं तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः।
सर्व भूत दया तीर्थं तीर्थमार्जवमेव च॥
दानं तीर्थं क्षमा तीर्थं सन्तोषस्तीर्थमुच्यते।

ब्रह्मचर्यं परं तीर्थं तीर्थं च प्रियवादनम् ॥
ज्ञानं तीर्थं धृतिस्तीर्थं तपस्तीर्थमुदाहृतम् ।
तीर्थानामपि तत्तीर्थं विशुद्धिर्मनसः परा ॥

—स्कन्द पुराण ६-३०-३२

अर्थात् सत्य, क्षमा, इन्द्रिय निग्रह, प्राणी मात्र पर दया, ऋजुता, दान, मनोनिग्रह, सन्तोष, ब्रह्मचर्य, प्रिय भाषण, विवेक, धृत्ति और तपसा (कष्ट सहन)। इनमें सबसे बड़ी मन की परम शुद्धि ही है। बस यह तीर्थयात्रा एक प्रकार का मन बहलावा है, जिसके द्वारा यात्री को इन उत्तम गुणों को अपने मन में, अपने जीवन में सम्पादन करने का अवसर मिलता है।

आत्मा नदी संयम पुण्य तीर्था
सत्योदका शीलतटा दयोर्मिः
तत्रावगाहं कुरू पाण्डुपुत्रं
न वारिणा शुद्धयति चान्तरात्मा ॥

—महा० उद्योग पर्व०

आत्मा नदी है, जिसमें संयम का पुण्यमय घाट है, सत्य ही जल है, शील किनारा है तथा दया की लहरें उठती रहती हैं। युधिष्ठिर ! तुम उसी में गोता लगाओ, (भौतिक) जल से (शरीर तो धुल जाता है) अन्तःकरण नहीं धुलता।

निगृहीतेन्द्रियग्रामो यत्रैव च वसेन्नरः।
तत्र तस्य कुरुक्षेत्रं नैमिषं पुष्कराणि च ॥

—स्कन्द

जिसने इन्द्रिय–समूह को वश में कर लिया है, वह मनुष्य जहाँ भी निवास करता है, वहीं उसके लिए कुरूक्षेत्र, नैमिपारण्य और पुष्कर आदि तीर्थ हैं।

ब्रह्म ध्यानं परं तीर्थं तीर्थमिन्द्रिय निग्रहः।
दमस्तीर्थस्तु परमं भाव शुद्धि परं तथा ॥
ज्ञान ह्लदे ध्यान जले राग-द्वेषमलापहे।
यः स्नाति मानसे तीर्थे स याति परमां गतिम्।

—गरुड़ पुराण

ब्रह्म का ध्यान परम तीर्थ है। इन्द्रियों का निग्रह तीर्थ है, मन का निग्रह तीर्थ है, भाव की शुद्धि परम तीर्थ है। ज्ञान रूप तालाव में, ध्यान जल में जो मन के तीर्थ में स्नान करके राग-द्वेष रूप मल को दूर करता है, वह परम गति को प्राप्त होता है।

तीर्थानां हृदयं तिर्थं शुचिनां हृदयं शुचि।

—महा० शा०

समस्त तीर्थों में हृदय (अन्तरात्मा) ही परम तीर्थ है, सारी पवित्रताओं में अन्तरात्मा की पवित्रता ही मुख्य है।

मनसा च प्रदीप्तेन ब्रह्मज्ञान जलेन च।
स्नाति यो मानसे तीर्थे तत् स्नानं तत्वदर्शिनाम्।

—महाभारत अनु०

अन्तःकरण में प्रकाशित ब्रह्मज्ञान रूपी जल से मानस तीर्थ में जो स्नान होता है। तत्वदर्शियों का वही परम स्नान है।

योगिक स्नान माख्यातं योगेनहरिचिन्तनम्।
आत्मतीर्थ मिति ख्यातं सेवितं ब्रह्मवादिभिः ॥

—गरुड़ पूर्व०

ईश्वराराधन योगियों का परम स्नान है। ब्रह्मवादी आत्म-तीर्थ का सेवन करते हैं।

मनोविशुद्धं पुरुषाय तीर्थं,
वाचां तथा चेन्द्रिय निग्रहश्च।
एतानि तीर्थानि शरीरजानि;
स्वर्गस्य मार्गं प्रतिवोधयन्ति ॥
चित्तमन्तर्गतं दुष्टं तीर्थं स्नानैर्न शुध्यति।
शतशोपि जलधौतं सुरा भाण्डाभिवा शुचि।
इन्द्रियाणि वशी कृत्वा यत्र-यत्र वसेन्नरः।
तत्र तत्र कुरुक्षेत्रं प्रयागं पुष्करं तथा।

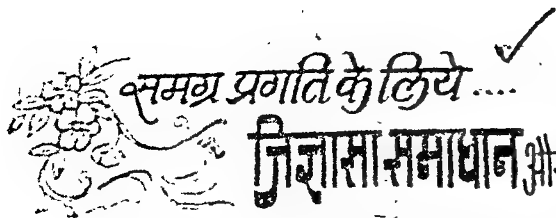
—ब्रह्म पुराण

मनुष्य का विशुद्ध मन ही महान् तीर्थ है। वाणी और इन्द्रियों का निग्रह यह सद्गुण शरीर में निवास करने वाला तीर्थ है। इसी मार्ग से स्वर्ग पहुँचा जाता है।

यदि चित्त दुष्ट है तो तीर्थ स्नान से भी शुद्धि नहीं होती। सुरा भरा पात्र वार-बार धोने पर भी शुद्ध नहीं होता।

इन्द्रियजयी मनुष्य जहाँ भी निवास करता है वहीं कुरुक्षेत्र, प्रयाग, पुष्कर आदि तीर्थ वन जाते हैं।

(शेष पृष्ठ ७२ पर)



जिज्ञासा समाधान और साधना विधान के दो चरण

गायत्री की उच्चस्तरीय साधना का क्रम ब्रह्म वर्चस् शिक्षण प्रक्रिया के अन्तर्गत आरम्भ किया गया है। अन्य महत्वपूर्ण शिक्षा विधानों की तरह इस प्रक्रिया के भी सिद्धान्त, शिक्षण एवं व्यवहार अनुभव दो पक्ष हैं। शिल्प, कला, विज्ञान, इंजीनियरिंग, मेडीकल आदि महत्वपूर्ण विषयों की शिक्षा प्राप्त करने के लिए इन दोनों ही पक्षों को महत्व देना पड़ता है। ज्ञान और अभ्यास के दोनों ही चरणों के सहारे प्रगति पथ पर चला जाता है।

ब्रह्म विद्या और ब्रह्म तेज की समन्वित साधना ब्रह्म-वर्चस् के नाम से आरम्भ की गई है। इसकी सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि से परिचित होना उन सबके लिए आवश्यक है जो इस विषय में रुचि रखते हैं। आवश्यक जानकारी के उपरान्त ही यह निर्णय ठीक तरह हो सकता है कि इस दिशा में कदम उठाने की आवश्यकता है भी या नहीं। यदि है तो उसके लिए क्या करना पड़ेगा? इसी जिज्ञासा का समाधान करने के लिए अखण्ड-ज्योति के प्रस्तुत मार्च, अप्रैल, मई के अंकों में आवश्यक जानकारी प्रस्तुत की गई है। यह जानकारी क्रमशः आगे भी चलती रहेगी। इन तीनों अंकों में तो ब्रह्म वर्चस् विज्ञान की संक्षिप्त पृष्ठभूमि प्रस्तुत की गई है। आगे इस संदर्भ के अन्यान्य ज्ञातव्य पढ़ने समझने को मिलते रहेंगे। पत्रिका में 'विज्ञान और अध्यात्म' के समन्वय वाले लेख पूर्ववत् जून अंक से फिर चलने लगेंगे।

गायत्री की सामान्य उपासना एक सर्व सुलभ एवं सर्वजनीन नित्य कर्म है। उसे सांस लेने, जल पीने, भोजन करने, टहलने आदि के समतुल्य माना जा सकता है। उसे सहज भाव बिना किसी विशेष प्रशिक्षण के भी किया जा सकता है। पर उच्चस्तरीय साधनाओं में, उतनी सरलता नहीं है। उन्हें विशेष व्यायामों एवं चिकित्सा उपचारों के समान समझना चाहिए। जिन्हें विशेष मार्ग-दर्शन एवं प्रत्यक्ष प्रशिक्षण के साथ किया जाना चाहिए। एक ही रोग की सभी रोगियों की चिकित्सा एक ही प्रकार की नहीं होती। चिकित्सक उन सबकी स्थिति का परीक्षण करते हैं और उनकी स्थिति के अनुरूप भिन्न-भिन्न औषधियों, पथ्यों एवं परिचर्याओं का निर्धारण करते हैं। गायत्री का उच्चस्तरीय साधना क्रम किसके लिए क्या उपयुक्त पड़ेगा? इसका निर्धारण साधक की शारीरिक, मानसिक, आत्मिक एवं सांसारिक परिस्थितियों का अध्ययन, विश्लेषण करके ही किया जा सकता है।

प्रस्तुत उच्चस्तरीय साधना प्रक्रिया आरम्भ करने के इच्छुकों को ब्रह्म वर्चस् में आकर अपनी स्थिति का परीक्षण कराया जाना आवश्यक है। इसी प्रकार विशेष साधनाओं में से किसका किस प्रकार का क्रम बनाया जाना है इसका निर्धारण पारस्परिक विचार विनिमय के साथ किया जाना चाहिए। जिन्हें (१) पंचकोशों का अनावरण एवं (२) कुण्डलिनी जागरण की क्रिया-प्रक्रियाओं में रुचि है, उन्हें वह शुभारम्भ हरिद्वार आकर ही निर्धारण कराना चाहिए। ब्रह्म वर्चस् आरण्यक का निर्माण इसी उद्देश्य के लिए किया गया है। दस दिवसीय सत्र अति व्यस्त व्यक्तियों के लिए और एक मासीय सत्र थोड़ी फुरसत वालों के लिए चलाये जा रहे हैं। गत अंक में सन् ७७ के सत्रों की घोषणा की जा चुकी है। आरण्यक की जितनी इमारत बन जायगी उतनी ही संख्या में जुलाई ७७ से विधिवत् उच्चस्तरीय साधना क्रम चल पड़ेगा। यों उसका सामान्य परिचय तो वर्तमान सत्रों में भी कराया जा रहा है। जुलाई और अक्टूबर में १ से १०–११ से २० और २१ से ३० तक के दस-दस दिवसीय सत्र चलेंगे और अगस्त, सितम्बर तथा नवम्बर, दिसम्बर में एक-एक महीने के सत्र हैं। इन उच्चस्तरीय साधनाओं में से किसे, क्या साधना किस प्रकार करनी है उसका प्रत्यक्ष अनुभव और भावी क्रम निर्धारण करने के लिए इन सत्रों में सम्मिलित होना आवश्यक है।

आर्ट विषयों की परीक्षाएँ प्राईवेट पढ़ कर भी दी जा सकती हैं। साइंस, मेडीकल, इंजीनियरिंग आदि की पढ़ाई में प्रेक्टिकल अनुभव प्राप्त करने के लिए कालेज में दाखिला लेना आवश्यक है। श्रीगणेश शुभारम्भ करने के लिए तो यह प्रवेश अतीव आवश्यक है। पीछे तो पूछताछ परामर्श से भी घर रह कर प्रगति क्रम जारी रखा जा सकता है।

उच्चस्तरीय साधना के सिद्धान्तों की जानकारी देने वाली पाठ्य सामग्री पिछले पृष्ठों पर तथा गत दो अंकों में प्रस्तुत की गई है। अब यह जानना समझना शेष है कि प्रस्तुत साधना क्रम में क्या करना होगा। इस दिशा में प्रथम चरण आत्म-शोधन का है? साधक को शारीरिक, मानसिक और आत्मिक क्षेत्रों का आचार परक, चिन्तन परक और भाव परक परिष्कार करने के लिए साधकोचित जीवन प्रक्रिया का निर्धारण करना चाहिए। भूमि की उर्वरता पर बीज का उगना और फलित होना निर्भर रहता है। साधना अपने आपे को साधने से—व्यवस्थित एवं परिष्कृत होने के साथ आरम्भ होती है। इसके लिए प्रस्तुत दोष दुर्गुणों का—पिछले दिनों की अभ्यस्त दुष्प्रवृत्तियों का विवरण प्रस्तुत करना और उनके निराकरण के लिए जीवन प्रक्रिया में किस प्रकार परिवर्तन किया जाय यह निर्धारण आवश्यक है। बन पड़े पापों का लेखा जोखा सामने हो तो उसके प्रायश्चित्त परिमार्जन का रास्ता निकलेगा। प्रगति के लिए किन सत्प्रवृत्तियों का गुण, कर्म, स्वभाव में समावेश किया जाना है यह जानना और उसे व्यवहार में परिणत करने के लिए भावी जीवन का सुव्यवस्थित क्रम निर्धारित किया जाना आवश्यक है। इस आधार भूमि पर ही आत्मिक प्रगति का विशाल भवन खड़ा होता है।

ब्रह्म वर्चस् साधना में योगाभ्यास एवं तपश्चर्या की क्रिया-प्रक्रिया भी सम्मिलित है। कहा जा चुका है कि ब्रह्म विद्या के तथ्यों को हृदयंगम करने के लिए पंच कोशों के अनावरण की साधना है। ब्रह्म तेज उपार्जन के लिए कुण्डलिनी जागरण के अभ्यास करने होंगे। इन्हें इस प्रकार समझा जा सकता है—

पंच कोशी साधना के अन्तर्गत (१) मूर्धा त्राटक (२) सोहंसाधना (३) खेचरी मुद्रा (४) नादानुसंधान (५) ध्यान में सविता शक्ति का संचरण।

कुण्डलिनी साधना के अन्तर्गत (१) सिद्धासन युक्त मूल बंध (२) शक्तिचालनी मुद्रा (३) सूर्य वेधन प्राणायाम (४) हृदि त्राटक (५) अग्नि मन्थन—ऊर्जा उन्नयन ध्यान।

इन पाँचों को योग परिपाटी के अनुसार वर्गीकृत किया जाय तो (१) मूर्धा एवं हृदि त्राटकों को—बिन्दु योग (२) सोहंसाधना एवं सूर्य वेधन प्राणायाम को—प्राणयोग (३) खेचरी मुद्रा एवं शक्ति चालनी मुद्रा को लययोग (४) नादानुसंधान को—नादयोग (५) सविता संचरण एवं ऊर्जा उन्नयन धारणा को ध्यानयोग कहा जा सकता है। इन्हीं पाँचों के अन्तर्गत पंचकोशी और कुण्डलिनी साधना की समस्त साधनाएँ आ जाती हैं। पंचमुखी गायत्री साधना का इन पाँचों में समावेश हो जाता है।

> शेख सादी ने कहा है—ऐ भगोड़ो, तुम्हें इस तरह कुछ न मिलेगा। रुको और सीधे पाँवों आगे चलो। चट्टान उठाने का प्रयत्न करो उसी के नीचे वे चीजें मिलेंगी जिन्हें तुम छप्पर फाड़ कर मिलने की आशा लगाते हो।

यह सभी जहाँ अति महत्वपूर्ण प्रतिफल उत्पन्न करने वाले हैं। वहाँ सर्वसाधारण के लिए सरल एवं हानि रहित भी हैं। अगले पृष्ठों पर इन्ही पाँच योगों के अन्तर्गत उन्हीं साधना विधानों को प्रस्तुत किया जा रहा है। जो विषय बच जायगा उसे पाठक अगले अंक में पढ़ सकेंगे।

सामान्य गायत्री उपासना सभी साधकों को यथावत् जारी रखनी है। स्वर्ण जयन्ती साधना वर्ष में जो ४५ मिनट का क्रम चला है वह चलते ही रहना चाहिए। गत वर्ष सूर्योदय तक उपासना पूरी कर लेने का आग्रह था वह अब नहीं रहा। सुविधानुसार उसे आगे पीछे भी किया जा सकता है। ब्रह्म वर्चस् सत्रों में भी वह प्रक्रिया जारी रहेगी। उच्चस्तरीय साधना तो विशेष व्यायाम एवं विशेष उपचार है उसके साथ आहार-विहार के सामान्य नियम पालन करते रहने की तरह जप, ध्यान आदि का क्रम तो यथावत् चलते ही रहना चाहिए। ❖



एकाग्रता अभ्यास के लिये त्राटक योग की साधना

सूक्ष्म नेत्र आज्ञाचक्र की दिव्य दृष्टि बढ़ाने वाली साधनाओं में 'त्राटक' प्रमुख है। इसे बिन्दुयोग भी कहते हैं। अस्त-व्यस्त, इधर-उधर भटकने वाली वाह्य और अन्तः दृष्टि को किसी बिन्दु विशेष पर—लक्ष्य विशेष पर एकाग्र करने को बिन्दु साधना कह सकते हैं। त्राटक का उद्देश्य यही है। त्राटक में वाह्य नेत्रों एवं दीपक जैसे साधनों का उपभोग किया जाता है। इसलिए उसकी गणना स्थूल उपचारों में है। बिन्दुयोग में ध्यान धारणा के सहारे किसी इष्ट आकृति पर अथवा प्रकाश ज्योति पर एकाग्रता का अभ्यास किया जाता है। दोनों का उद्देश्य एक अन्तर केवल भौतिक साधनों के प्रयोग करने की आवश्यकता रहने न रहने का है। आरम्भिक अभ्यास की दृष्टि से त्राटक को आवश्यक एवं प्रमुख माना गया है। बिन्दुयोग साधना की स्थिति आ जाने पर वाह्य त्राटक की आवश्यकता नहीं रहती।

त्राटक के स्वरूप का वर्णन करते हुए हठयोग प्रदीपिका में कहा गया है—

निरीक्षे न्निश्चलदृशा सूक्ष्म लक्ष्यं समाहितः।
अश्रु संपात पर्यन्तं आचार्यैस्त्राटक स्मृतम्॥

अर्थात् एकाग्र चित्त होकर निश्चल दृष्टि द्वारा सूक्ष्म लक्ष्य को तब तक देखता रहे जब तक आँखों में से आँसू न आ जायें। इस साधना को त्राटक कहते हैं।

प्राचीन काल के योग साधकों की नेत्र स्थिति दृष्टि बहुत प्रबल होती थी इसलिए उन पर अश्रुपात पर्यन्त देखते रहने का कोई विशेष बुरा प्रभाव नहीं पड़ता था। इसलिए वैसा करने का निर्देश दिया गया था। आज की स्थिति में नेत्र शक्ति दुर्बल रहने से वैसा न करने की बात कही गई है। तो भी एकाग्र दृष्टि के उद्देश्य की पूर्ति प्राचीन और अर्वाचीन दोनों ही मान्यताओं के अनुसार आवश्यक है।

त्राटक की प्रतिक्रिया नेत्र रोगों को—आलस्य प्रमाद को—निरस्त करने के रूप में मानी गई है—

मोचनं नेत्र रोगाणां तन्द्रादीनां कपाटंकम्।
यत्नतस्त्राटके गोप्य् यथा हाटक पेटकम्।

हठयोग प्रदीपिका

नेत्र रोगों को दूर करने एवं आलस्य तन्द्रा आदि विकारों को हटाने वाला त्राटक है। उसे गुप्त रखना चाहिए।

गुप्त रखने से तात्पर्य इतना ही है कि उपयुक्त मार्गदर्शन के बिना यदि ऐसे ही लोग कहे-सुने आधारों पर योग क्रियाएँ करने लगेंगे तो पात्रता के अनुरूप साधना की परम्परा न रह सकेगी और उससे समुचित लाभ प्राप्त न हो सकेगा।

योग साधना में एकाग्रता का अत्यधिक महत्व है। मनःशक्तियों का विखराव ही उस मनोबल के उत्पन्न होने में सबसे बड़ी बाधा है जिस पर साधनाओं की सफलता निर्भर है। सभी जानते हैं कि विखरी भाप, बारूद, धूप आदि से सामान्य प्रयोजन ही सधते हैं, पर जब उनमें केन्द्रीकरण होता है तो चमत्कार देखे जा सकते हैं। लक्ष्य वेध जैसी एकाग्रता उत्पन्न की जा सके तो भौतिक एवं आत्मिक सभी प्रयोजनों में सफलता मिलती है, त्राटक से इसी उपलब्धि का अभ्यास होता है।

यथा धन्वी स्वकं लक्ष्यं वेधयत्य चलेक्षणः।
तथैव त्राटकाभ्यासं कुर्मादेकाग्रमानसः॥

—योग रसायनम्

जैसे धनुर्धर मात्र अपने लक्ष्य को ही लक्ष्यवेध के क्षण में देखता है, वैसे ही त्राटक का अभ्यास एकाग्र मन से करना चाहिए।

त्राटक के माध्यम से किया गया एकाग्रता का अभ्यास बढ़ते-बढ़ते समाधि की स्थिति तक जा पहुँचता है।

समाधि के साथ दिव्य दृष्टि का—अतीन्द्रिय चेतना का जागृत होना सर्वविदित है। त्राटक का प्रतिफल समयानुसार समाधि के रूप में सामने आता है। कहा गया है—

त्राटकाभ्यासतश्चापि कालेन क्रमयोगतः।
राजयोगसमाधिः स्यात् तत्प्रकारोऽधुनोच्यते ॥
—योग रसायनम्

त्राटक के अभ्यास से भी समयानुसार राजयोग की समाधि का लाभ सम्भव है।

त्राटक विधियाँ अनेक प्रकार की हैं। मैस्मरेजम के अभ्यासी सफेद कागज पर काला गोला बनाते हैं। उसके मध्य में श्वेत विन्दु रहने देते हैं। इस पर नेत्र दृष्टि और मानसिक एकाग्रता को केन्द्रित किया जाता है। अष्टधातु के बने तश्तरीनुमा पतरे के मध्य में ताँबे की कील लगा कर उस मध्य विन्दु को एकाग्र भाव से देखते रहने का भी वैसा ही लाभ वताया जाता है। कहते हैं कि धातु के माध्यम से वेधकदृष्टि की शक्ति और भी अधिक वढ़ती है।

भारतीय योग शास्त्र के अनुसार इसके लिए चमकते प्रकाश का उपयोग करना उपयुक्त माना गया है। सूर्य, चन्द्र, तारक आदि प्राकृत प्रकाश पिंडों को तथा दीपक जैसे मानव कृत प्रकाश साधनों को काम में लाने का विधान है।

सूर्य की ज्योति अत्यन्त तीव्र होती है। खुली आँखों से उसे देखने में हानि होती है, इसलिए सूर्य त्राटक मात्र ध्यान द्वारा ही किया जा सकता है। खुले नेत्रों से नहीं। लगभग यही वात चन्द्रमा के सम्वन्ध में भी है। उसका प्रकाश यों सूर्य के समान तीखा तो नहीं होता फिर भी नेत्र विज्ञान के अनुसार किसी भी प्रकाश को लगातार देखते रहना हानिकारक है। प्राचीन मान्यताओं और आधुनिक शोधों में यह मौलिक अन्तर सामने आया है। खुले नेत्रों से लगातार अश्रु पर्यन्त देखते रहने की वात शरीर शास्त्री स्वीकार नहीं करते और हानिकारक वताते हैं। तारागणों को प्रकाश का माध्यम वनाकर त्राटक साधना करने में भी कई कठिनाइयाँ है। तारे मात्र रात्रि को निकलते हैं। वदली, कुहरा, धुन्ध, धुँआ छा जाने पर वे रात्रि में भी नहीं दीखते। जिन्हें खुला आसमान उपलब्ध है वे ही तारों को देखने का लाभ ले सकते हैं। उन्हें लेटकर या तिरछे होकर ही देखा जा सकता है जब कि साधनाओं में मेरुदण्ड सीधा रखने का विधान है। साधक को सुविधा का समय दिन में हो तो तारे कहाँ मिलेंगे? फिर तारे कितने ही होते हैं। त्राटक के लिए एक ही प्रकाश विन्दु चाहिए कई विन्दु होने पर दृष्टि भटकती है। इन सव कारणों को देखते हुए सिद्धांततः भले ही सूर्य, चन्द्र, तारकों की वात कही जा सके व्यवहारतः वे तीनों ही अनुपयुक्त हैं। यदि इन्हीं का उपयोग करना हो तो एक सैकिण्ड तक उन्हें देखने के उपरान्त तत्काल नेत्र वन्द कर लेने और फिर ध्यान धारणा से ही प्रकाश पर एकाग्रता का अभ्यास करना चाहिए।

त्राटक के अभ्यास में दीपक का प्रयोग ही अधिक उपयुक्त है। घृत दीप का उपयोग कई दृष्टि से अधिक उपयुक्त माना गया है। पर यह होना शुद्ध ही चाहिए, मिलावटी या नकली घी की अपेक्षा शुद्ध तेल अधिक उत्तम है। मोमवत्ती का उपयोग भी किया जा सकता है। कम पावर के रङ्गीन वल्व भी इस प्रयोजन की पूर्ति कर सकते हैं।

इनमें से जो भी उपकरण काम में लाना हो, उसे छाती की सीध—चार से दस फुट तक की दूरी पर रखना चाहिए। पीछे काला, नीला या हरा पर्दा टँगा हो अथवा इन रङ्गों से दीवार रङ्गी हो। प्रकाश ज्योति के इर्द-गिर्द न्यूनतम वस्तुएँ हों अन्यथा ध्यान उनकी ओर विखरेगा।

त्राटक के लिए प्रातःकाल का समय सर्वोत्तम है। यों उसे रात्रि को भी किया जा सकता है। दिन में सूर्य का प्रकाश फैला रहने से यह साधना ठीक तरह नहीं वन पड़ती है। यदि दिन में ही करनी हो तो अँधेरे कमरे का प्रवन्ध करना होता है।

साधना के लिए कमर सीधी, हाथ गोदी में, पालथी सही—रखकर वैठना चाहिए। वातावरण में घुटन, दुर्गन्ध, मक्खी, मच्छर जैसे चित्त में विक्षोभ उत्पन्न करने वाली वाधाएँ नहीं हों। यह अभ्यास दस मिनट में आरम्भ करके उसे एक-एक मिनट वढ़ाते हुए एक दो महीने में

अधिक से अधिक आधे घण्टे तक पहुँचाया जा सकता है। इससे अधिक नहीं किया जाना चाहिए।

खुले नेत्र से प्रकाश ज्योति को दो से पाँच सैकिण्ड तक देखना चाहिए और आँखें बन्द कर लेनी चाहिए। जिस स्थान पर दीपक जल रहा है उसी स्थान पर उस ज्योति को ध्यान नेत्रों से देखने का प्रयत्न करना चाहिए। एक मिनट बाद फिर नेत्र खोल लिए जायँ और पूर्ववत् कुछ सैकिण्ड खुले नेत्रों से ज्योति का दर्शन करके फिर आँखें बन्द कर ली जाय। इस प्रकार प्रायः एक-एक मिनट के अन्तर से नेत्र खोलने और कुछ सैकिण्ड देखकर फिर आँखें बन्द करने और ध्यान द्वारा उसी स्थान पर ज्योति दर्शन की पुनरावृत्ति करते रहनी चाहिए।

मिनटों और सैकिण्डों का सही निर्धारण उस स्थिति में नहीं हो सकता। घड़ी का उपयोग कर सकने की वह स्थिति होती ही नहीं। अनुमान पर ही निर्भर रहना पड़ता है। अलग समय में अनुमान के सही होने का अभ्यास घड़ी के सहारे किया जा सकता है। मोटा आधार यह है कि जब नेत्र बन्द कर लेने पर प्रकाश ज्योति का दर्शन झीना पड़ने लगे तो स्मृति को पुनः सतेज करने के लिए आँख खोलने और ज्योति देखने का प्रयत्न किया जाय। आमतौर से नेत्र खोल कर देखने के उपरान्त जब पलक बन्द किये जाते हैं तो ध्यान में प्रकाश अधिक स्पष्ट होता है। धीरे-धीरे वह झीना धुधला होता है। उसे फिर से सतेज करने के लिए ही खुली आँख से ज्योति देखने की आवश्यकता पड़ती है। हर मनुष्य की मस्तिष्कीय संरचना अलग-अलग प्रकार की होती है। किसी को एक बार का प्रत्यक्ष दर्शन बहुत देर तक ध्यान में प्रकाश की झाँकी कराता रहता है। किसी की स्मृति जल्दी धुँधली हो जाती है। स्थिति का निरीक्षण स्वयं करना चाहिए और आवश्यकतानुसार जल्दी-जल्दी या देर-देर में आँखें खोलने, बन्द करने का क्रम निर्धारण करना चाहिए। उद्देश्य यह है कि त्राटक के साधना काल में ध्यान भूमिका को लगातार प्रकाश ज्योति की झाँकी होती रहे। धुँधलेपन को हटाने के उद्देश्य से ही नेत्रों को खोलने, बन्द करने की प्रक्रिया अपनाई जाय।

त्राटक का उद्देश्य दीपक पूजा नहीं, वरन् ध्यान भूमिका में प्रखरता उत्पन्न करना है ताकिं चिन्तन के आधार पर प्रकाश विन्दु देव प्रतिमा की स्पष्ट झाँकी कर सकना सम्भव हो सके। मंद एवं भोंथरी चिन्तन प्रक्रिया में कोई ध्यान प्रतिमा स्पष्ट रूप से नहीं उभरती। कल्पना चित्र स्पष्ट नहीं होते। तब एकाग्रता का एक महत्वपूर्ण मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। ऐसी दशा में नादयोग आदि से किया जाने वाला शब्दयोग एवं ध्यान धारणा के आधार पर किया गया विन्दुयोग में से एक भी सफल नहीं होता। तब मात्र प्रत्यक्ष प्रतिमाओं को देखकर—कीर्तन गायन तथा श्रवण सत्सङ्ग आदि स्थूल उपायों में मन की भगदड़ रोकने के मोटे प्रयोग किये जाते हैं। जप, पाठ की जिह्वा प्रक्रिया तो पूरी होती रहती है, पर ध्यान के अभाव में उनमें भी रस उत्पन्न नहीं हो पाता। त्राटक द्वारा चिन्तन तन्त्र को कल्पना संस्थान को प्रखर बनाने में जितनी सफलता मिलती है उतना ही आत्मिक प्रगति के लिए की जाने वाली साधनाएँ सरल एवं सफल होने लगती हैं। अस्तु त्राटक को—ध्यानयोग को प्रथम प्रक्रिया माना गया है।

'योग रसायन' में त्राटक के विधान एवं प्रगति क्रम पर प्रकाश डालते हुए कहा है—

दृश्यते प्रथमाभ्यासे तेजो विंदु समीपगम्।
चक्षुषो रश्मिजातानि प्रसरंति समंततः॥

त्राटक के अभ्यास से प्रथम तेजोमय विन्दु पास आया दीखेगा। फिर नेत्र से रश्मियाँ निकलती दिखेंगी।

तेजसा संवृतं लक्ष्यं क्षणं लुप्तं भवेत्ततः।
क्षणं दृष्टिगतं भूत्वा पुनर्लुप्तं भवेत्क्षणात्॥

फिर वह तेजपूर्ण विन्दु कभी लुप्त दीखेगा, कभी प्रकट हुआ दिखेगा। ऐसा ही क्रम बार-बार चलेगा।

दृष्ट्या समं मनश्चापि लक्ष्यस्थाने प्रवेशयेत्।
लक्ष्यं विहाय नैवान्यच्चिंतयेन्नावलोकयेत्॥

मन भी उसी ओर लगा रहे। लक्ष्य के अतिरिक्त और कुछ न देखे, न सोचे।

प्रकाश ज्योति को आधार मानकर मन की एकाग्रता का अभ्यास किया जाता है। अस्तु प्रत्यक्ष या सूक्ष्म प्रकाश की झाँकी करने के साथ ही इस बात का भी प्रयत्न रहना चाहिए कि मन की तन्मयता भी उसी लक्ष्य पर बनी

रहे। चंद्र-चकोर, दीप-पतङ्गा के उदाहरण की तरह त्राटक साधना की ज्योति के प्रति तन्मयता का भाव रखते हुए, उसमें एकाकार हो जाने की भाव भूमिका बनानी चाहिए।

ध्यान के दो रूप हैं—एक साकार, दूसरा निराकार। दोनों को ही प्रकारान्तर से दिव्य नेत्रों से किया जाने वाला त्राटक कहा जा सकता है। देव प्रतिमाओं की कल्पना करके उनके साथ तदाकार होने—भाव भरे मनुहार करने को साकार ध्यान कहते हैं। निराकार उपासना में मनुष्याकृति के देव छवियों को इष्टदेव मानने की आवश्यकता नहीं पड़ती। उस प्रयोजन के लिए प्रकाश ज्योति की स्थापना की जाती है। रूप की दृष्टि से छवि—श्रवण की दृष्टि से नाद और श्वशन प्रक्रिया की दृष्टि से प्राणायाम का उपाय काम में लाया जाता है। निराकार साधना के यह तीनों ही उपाय एकाग्रता और भाव कल्पना को प्रखर परिपक्व बनाने के उद्देश्य से की जाती है। साकार उपासना का भी यही उद्देश्य है।

ध्यान अभ्यास के प्रथम चरण में साकार की और द्वितीय चरण में निराकार की आवश्यक होती है। अल्हड़ मन एक बिन्दु पर टिकने को तैयार नहीं होता। उसकी घुड़दौड़ पर धीरे-धीरे नियन्त्रण पाने के लिए देव छवि का उपयोग किया जाता है। इष्टदेव के शरीर का सौन्दर्य उनके वस्त्र, आभूषण, आयुध, वाहन आदि का एक सुविस्तृत ढाँचा खड़ा किया जाता है और मन से कहा जाता है कि वह बन्दर की उछल कूद करने की अपनी आदत छोड़ नहीं सकता तो इतने सीमित क्षेत्र में ही जारी रखे। देव छवि के अङ्ग-प्रत्यङ्गों को—उपकरणों को देखने, सोचने में संलग्न रहने का क्षेत्र काफी बड़ा रहता है। उतने में वह चाहें तो चिड़ियाघर के जानवरों की तरह थोड़े क्षेत्र में गुजारा कर सकता है। इसमें आरम्भिक साधक को सरलता पड़ती है और एकाग्रता की साधना सरलतापूर्वक चलने लगती है।

निराकार में इष्टदेव को और भी अधिक सीमित—केन्द्रित करना पड़ता है। ज्योति के साथ अन्य घटक नहीं होते। उसकी एक ही सत्ता होती है। उसमें मन की एकाग्रता को लगा सकना परिपक्व मनःस्थिति में ही सम्भव होता है। ज्योति के साथ आत्म-भाव जोड़कर रस उत्पन्न करना यहाँ भी आवश्यक है। प्रकाश को ब्रह्म का प्रतीक माना गया है। ज्योति दर्शन को ब्रह्म दर्शन समझा जा सके उसके साथ एकाकार होकर स्वयं भी प्रकाश पुञ्ज प्रकाश पिण्ड बन जाने की भाव-भरी श्रद्धा उभारी जा सके तो यह बिन्दुयोग की अगली भूमिका समुचित सत्परिणाम दे पाती है। इस अभ्यास में दीप, पतङ्ग एवं चन्द्र-चकोर की सरस कल्पना उभरने से ध्यानयोग का उद्देश्य पूरा होता है। चित्त-वृत्तियों के निरोध को ही योग कहते हैं। त्राटक साधना से उसी उद्देश्य की पूर्ति होती है।

—❀—

हसन ने अपनी सिद्धि का चमत्कार दिखाते हुए बहती नदी के ऊपर मुसल्ला (नमाज पढ़ने का आसन) बिछाया और महिला सन्त राबिया से कहा—'आओ, हम दोनों यहाँ नमाज पढ़ें।'

राबिया उनका अहङ्कार ताड़ गई। उसने अपना मुसल्ला हवा में अधर फैला दिया और कहा—'नदी से यह बहतर है। क्यों न हम दोनों आसमान में नमाज पढ़ें?'

हसन का अहङ्कार गल गया। वे अपनी सिद्धि का प्रभाव राबिया को दिखाकर उसे चमत्कृत करना चाहते थे, पर बात उलटी हुई राबिया की सिद्धि उनसे भी बढ़ी-चढ़ी निकली।

सिटपिटाये हसन को सान्त्वना देते हुए राबिया ने कहा—'देखो, हसन तुमने जो किया वह तो एक मछली भी कर सकती है और मैंने जो किया वह तो एक मक्खी के लिए भी सरल है। सच तो यह है कि हम दोनों का जो असली काम है वह चमत्कार प्रदर्शन की अपेक्षा कहीं अधिक ऊँचा है।

अन्तः त्राटक — आत्म-ज्योति की साधना

बाह्य एवं प्रत्यक्ष त्राटक के लिए दीपक, मोमवत्ती, बल्ब आदि की आवश्यकता पड़ती है। पाश्चात्य वेधक दृष्टि के साधक कागज पर काला गोला बना कर उसके मध्य बिन्दु पर ध्यान करते हुए उस प्रक्रिया को पूर्ण करते हैं। अन्तःत्राटक में इन उपकरणों की आवश्यकता नहीं पड़ती। उसमें प्रकाश ज्योति का मानसिक एवं भावनात्मक ध्यान करने से ही काम चल जाता है।

प्रातःकालीन उदीयमान सूर्य जब तक स्वर्णिम रहे तब तक कुछ-कुछ सैकिंड के लिए उसका प्रत्यक्ष आँखों से दर्शन और फिर नेत्र बन्द करके उसका ध्यान करने से अन्तःत्राटक की आधार भूमिका बन जाती है। यही कार्य पूर्णिमा का पूर्णचन्द्र देखने और आँखें बन्द करने से भी हो सकता है। अन्य तारकों की ओर ध्यान न जाय और शुक्र, गुरु, जैसे किसी अधिक प्रकाशवान तारे को भी इस प्रयोजन के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। मोमवत्ती, दीपक, वल्ब आदि का प्रयोग जब तक होता रहेगा तब तक उसे बाह्य त्राटक ही कहा जाता रहेगा जब उपकरणों की आवश्यकता नहीं रहती और मात्र ध्यान से ही प्रकाश की अनुभूति होने लगती है तो उसे अन्तःत्राटक कहा जाने लगता है।

अन्तःत्राटक आरम्भ करते हुए कुछ समय प्रकाश की स्थापना वहीं रहने देनी चाहिए जहाँ उसे देखा गया था। प्रभात कालीन स्वर्णिम सूर्य सुदूर पूर्व में उगते हुए जहाँ देखा गया था आरम्भिक दिनों में उसे वहीं सूक्ष्म दृष्टि से देखना चाहिए और भावना करनी चाहिए कि उस प्रकाश पुञ्ज की ज्योति किरणें अन्तरिक्ष में होकर उतरती हैं और अपनी उत्कृष्टता को स्थूल शरीर में बल, सूक्ष्म शरीर में ज्ञान एवं कारण शरीर में भाव बन कर प्रवेश करती हैं। शरीर संयमी, सक्रिय, स्वच्छ बनता है। मन में उसी प्रकार की किरणें सन्तुलन, विवेक, शालीनता, सद्ज्ञान, बन कर बरसती हैं। कारण शरीर में, अन्तःकरण में सद्भावना, सम्वेदना, श्रद्धा भक्ति के रूप में उन प्रकाश किरणों का अवतरण होता है और समूचा व्यक्तित्व दिव्य प्रकाश, से ब्रह्म ज्योति से जगमगाने लगता है।

अन्तःत्राटक का यह प्रथम चरण है। बाहर से भीतर की ओर ज्योति का प्रवेश करने की प्रक्रिया प्रथम भूमिका कहलाती है, क्रमिक विकास में इसी की सुविधा रहती है। यह स्थिति अधिक परिपक्व परिपुष्ट हो चलने पर प्रकाश की स्थापना भीतर की जाती है और उस आत्म-ज्योति की—ब्रह्म-ज्योति की— आग भीतर से निकल कर बाहर की ओर प्रकाशवान होती है। वल्ब का फ्लामेन्ट भीतर तो ज्योतिर्मय होता ही है —अपनी आभा से सम्पर्क क्षेत्र को भी प्रकाशवान बना देता है। अन्तःज्योति के प्रकटीकरण में भी ऐसी ही स्थिति बनती है। अन्तःत्राटक का साधक आत्म-सत्ता को प्रकाश से परिपूर्ण तो देखता ही है— साथ ही अपने प्रभाव क्षेत्र में भी आलोक बखेरता है।

अन्तः त्राटक के लिए ध्यान मुद्रा में बैठना पड़ता है। अधखुले नेत्र, दोनों हाथों की उँगलियाँ मिली हुई, हथेलियाँ ऊपर की ओर करके उन्हें गोदी में रखना— यही है ध्यान मुद्रा—भगवान बुद्ध के चित्रों में प्रायः यही स्थिति चित्रित की जाती है। इस स्थिति में स्थित होकर भ्रूमध्य भाग में अवस्थित प्रकाश पुंज की धारणा और अधिक प्रगाढ़ की जाती है। बिजली के वल्ब का मध्यवर्ती तार —फ्लामेन्ट—जिस प्रकार चमकता है और उसकी रोशनी वल्ब के भीतरी भाग में भरी हुई गैस में प्रतिबिम्बित होती है। इससे वल्ब का पूरा गोला चमकने लगता है और उसका प्रकाश बाहर भी फैलता है। ठीक ऐसी ही भावना बिन्दुयोग में करनी होती है।

भ्रूमध्य भाग में आज्ञाचक्र अवस्थित है। इसी को दिव्य नेत्र या तृतीय नेत्र कहते हैं। शंकर एवं दुर्गा के चित्रों में इसी स्थान पर तीसरा नेत्र दिखाया जाता है। पुराण कथा के अनुसार इसी नेत्र को खोलकर भगवान शिव ने अग्नि तेजस् उत्पन्न किया था और उससे विघ्न-

कारी मनोविकार का देव को जलाकर भस्म किया था। यह नेत्र हर मनुष्य में मौजूद है। शरीर शास्त्र के अनुसार इसे पिट्यूटरी ग्रन्थि कहते हैं। इसमें नेत्र जैसी सूक्ष्म संरचना मौजूद है। सूक्ष्म शरीर के विश्लेषण में यह केन्द्र विशुद्ध रूप में दिव्य नेत्र है और उससे प्रकट अप्रकट—दृश्य अदृश्य—भूत भविष्य सभी कुछ देखा जाना जा सकता है। ऐक्सरेज द्वारा शरीर के भीतर की टूट-फूट अथवा किसी बन्द बक्से के भीतर रखे आभूषणों का चित्र खींचा जा सकता है। इस दिव्य नेत्र को भी एक्सरेज यन्त्र से तुलना की जा सकती है—यदि वह प्रदीप्त हो उठें तो घर बैठे महाभारत के दृश्य टेलीविजन की भाँति देखने वाले संजय जैसी दिव्य दृष्टि प्राप्त की जा सकती है और वह सब देखा जा सकता है, जिसका अस्तित्व तो है, पर चमड़े से बने नेत्र उसे देख सकने में समर्थ नहीं हैं।

इस नेत्र में, अदृश्य देखने की ही नहीं ऐसी प्रचण्ड अग्नि उत्पन्न करने की भी शक्ति है जिसके आधार पर अवांछनीयताओं को-अवरोधों को जलाकर भस्म किया जा सके। शंकर जी ने इसी नेत्र को खोला था तो प्रचण्ड शिखायें उद्‌भूत हो उठी थीं। विघ्नकारी कामदेव उसी में जल-बल कर भस्म हो गया था। बिन्दुयोग की साधना को, यदि इस तृतीय नेत्र को ठीक तरह ज्योतिर्मय किया जा सके तो उसमें उत्पन्न होने वाली अग्नि शिखा मनोविकारों को—अवरोधों को जलाकर भस्म कर सकती है। उसकी शक्ति व्याख्या है। यदि दार्शनिक व्याख्या करनी हो तो उसे विवेकशीलता एवं दूरदर्शिता का जागरण भी कह सकते हैं। जिसके आधार पर लोभ, मोह, वासना, तृष्णा अहंता जैसे मनोविकारों के कारण उत्पन्न हुए अगणित शोक, सन्तापों और निग्रह उपद्रवों को सहज ही शमन या सहन किया जा सकता है।

पौराणिक गाथा के अनुसार पुरातन काल में जब यह दुनिया जीर्ण-शीर्ण हो गई थी—उसकी उपयोगिता नष्ट हो गई थी—तब भगवान शिव ने अपना तीसरा नेत्र खोल कर प्रलय दावानल उत्पन्न किया था और ध्वंस के ताण्डव नृत्य में तन्मय होकर भविष्य में अभिनव विश्व के नवनिर्माण की भूमिका सम्पादित की थी। उस प्रलयङ्कारी ताण्डव नृत्य का वाह्य स्वरूप कितना ही रोमाञ्चकारी क्यों न रहा हो उसकी चिनगारी शिवनेत्र से ही प्रस्फुटित हुई थी। बिजली जीवन-क्रम में तथा समाज गत समिष्टि जीवन में भी ऐसी आवश्यकता पड़ सकती है कि प्रचलित ढर्रे में आमूल-चूल परिवर्तन आवश्यक न हो जाय—जो चल रहा है उसे उलटना अनिवार्य बन जाय। यह महा परिवर्तन भी तृतीय नेत्र से—दूरदर्शी विवेक सम्भव विचार क्रान्ति से ही सम्भव हो सकता है। शिवजी के द्वारा ताण्डव नृत्य के समय तृतीय नेत्र खोले जाने के पीछे महाक्रान्ति की सारभूत रूपरेखा का दिग्दर्शन है।

अतः त्राटक के अन्तर्गत भ्रूमध्य में दीप्त ज्योति का ध्यान करते हुए यह धारणा करनी पड़ती है प्रत्येक जीवाणु में—कण-कण और रोम-रोम में—प्रकाश आलोक की आभा प्रदीप्त होती है। अन्धकार किसी भी कोने में छिपा नहीं रहा उसे पूर्णतया वहिष्कृत कर दिया गया है।

प्रत्येक कोशिका एवं तन्तु को आलोकित देखा जाता है। मस्तिष्क के चार परत माने गये हैं मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार इन चारों को प्रकाश पुंज बना हुआ अनुभव किया जाता है। अपनी सत्ता के प्रत्येक पक्ष को भ्रूमध्य केन्द्र से निकलने वाले प्रकाश प्रवाह से आलोकित अनुभव करना लगभग उसी स्तर का है जैसा कि प्रभातकालीन सूर्य निकलने पर अन्धकार का हर दिशा से पलायन होने लगता है और समस्त संसार आलस्य अवसाद छोड़ कर आलोक, उल्लास, स्फूर्ति एवं सक्रिय उमंगों के साथ कार्यरत हो जाता है। बिन्दुयोग की साधना जीवन सत्ता के कण-कण में प्रकाश उद्‌भव की अनुभूति तो कराती ही है साथ ही उन अभिनव स्तर की हलचलें भी उभरती दृष्टिगोचर होती हैं।

अध्यात्म की भाषा में प्रकाश शब्द का उपयोग मात्र चमक के अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता, वरन् उसका अभिप्राय 'ज्ञान युक्त क्रिया' में सम्मिश्रित उल्लास भरी भाव तरंगों में होता है। पंचभौतिक जगत में गर्मी और रोशनी के सम्मिश्रण को प्रकाश कह सकते हैं। किन्तु अध्यात्म क्षेत्र में गर्मी का अर्थ सक्रियता और प्रकाश का अर्थ दूरदर्शी उच्चस्तरीय ज्ञान ही कहा जाता है। प्रकाश की प्राप्ति की चर्चा जहाँ कहीं भी होगी वहाँ रोशनी चमकने जैसे दृश्य खुली या बन्द आँखों से दीखना भर नहीं हो सकता

वहाँ उसका अभिप्राय गहरा ही रहता है। आत्मोत्कर्ष की भूमिका स्पष्टतः विवेक युक्त सक्रियता अपनाने पर ही निर्भर है—भौतिक गर्मी या रोशनी से वह महान प्रयोजन कैसे पूरा हो सकता है ?

अन्तःत्राटक को ही विन्दुयोग भी कहते हैं। उसमें प्रकाश दर्शन के साथ-साथ यही धारणा करनी पड़ती है कि प्रकाश रूप परमात्मा का आलोक अंग-प्रत्यंग के कण-कण में—अन्तःकरण के प्रत्येक कक्ष परत में प्रकाशवान होता है। दिव्य चेतना की किरणें काय कलेवर की प्रत्येक लहर पर प्रतिबिम्बित हो रही हैं। विवेक की आभा फूटी पड़ रही है—सतोगुण झिलमिला रहा है—नत्साहस प्रखर प्रचण्ड बन कर सक्रियता की ओर अग्रसर हो रहा है। अज्ञान के आवरण तिरोहित हो रहे हैं। भ्रमाने वाले और डराने वाले दुर्भाव, संकीर्ण विचार अपनी काली चादर समेट कर चलते बने, प्रकाश भरे श्रेय पथ पर चल पड़ने वाले का शौर्य सबल हो उठा, अशुभ चिन्तन के दुर्दिन चले गये। सर्वत्र आनन्द और उल्लास ही आलोकित हो रहा है। ईश्वरीय प्रकाश शरीर में सत्प्रवृत्ति और मन की सद्भावना बन कर ज्योतिर्मय हो चला। अन्धेरे में भटकने वाली काली निशा का अन्त हो गया, भगवान की दिव्य ज्योति ने सर्वत्र अपना आधिपत्य जमा लिया।

अन्तःत्राटक की उच्च भूमिका में सूर्य, चन्द्र, दीपक, वल्ब आदि के प्रकाश को वाहिक्षेत्र से हटाकर अन्तरंग में स्थापित किया जाता है इसके लिए भ्रूमध्य भाग का आज्ञाचक्र मुख्य माना गया है। इसके उपरान्त इसी ज्योति की स्थापना हृदयचक्र में ले जाई जाती है। आज्ञाचक्र मनोमय कोश से और हृदयचक्र विशुद्धिचक्र से सम्बन्धित है अस्तु साधना के क्रमिक मार्ग पर चलते हुए प्रथम आज्ञाचक्र के पश्चात हृदयचक्र को त्राटक साधना के अनुसार प्रकाशवान बनाया जाता है।

हृदयचक्र को अन्तरात्मा का स्थान माना गया है और वहीं ईश्वर मिलन एवं आत्म साक्षात्कार का लाभ मिलने की बात कही गई है। गीता का वचन है—"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।" यहाँ हृदय स्थान में ही ईश्वर का निवास कहा गया है। इसकी ध्यान प्रक्रिया "हृत्पुण्डरीक मध्यस्थां प्रातः सूर्य समप्रभाम्" हृदय कमल पर प्रातःकालीन सूर्य के समान परब्रह्म का दिव्य दर्शन करने के रूप में बताई गई है।

हृदयचक्र को हृत् पद्म भी कहा गया है। "हृत पद्मकोशे विलसत तडित् प्रभम्" वर्णन में उसे विद्युत प्रवाह युक्त कमल की संज्ञा दी गई है। इसाई धर्म के साधन विज्ञान में इस संस्थान को 'माइस्ट्रिक रोज'—रहस्यमय गुलाब—कहा गया है। यही चैनिक स्वर्ण कमल—आईचिन है।

मृद्येप आत्मा।

—प्र० उ० ६

यह आत्मा हृदय में अवस्थित है।

कतम आत्मेति ? योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तेर्ज्योतिः पुरुषः।

—वृहदारण्यक

आत्मा कौन है ? वह जो विज्ञान ज्योति बन कर हृदय में निवास करता है।

कुण्डलिनी योग साधना के अन्तर्गत हृदयचक्र में प्रज्वलित अग्नि ज्योति को उसी महाशक्ति का स्वरूप माना गया है। हृदयचक्र में ज्योति रूप बन कर कुण्डलिनी ही प्रतिशापित होती है।

चन्द्राग्निरविसंयुक्तो आद्या कुण्डलिनी माता।
हृत्प्रदेशे तु सा ज्ञया अंकुराकारसंस्थिता॥

—अग्नि पुराण

चन्द्र और सूर्य की शक्ति से भरी हुई प्रकाशवान कुण्डलिनी शक्ति हृदय प्रदेश में रहती है। उनकी ज्योति अंकुर के आकार की है।

योग कालेन न मरुता साग्निना वोधिता सती।
स्फुरिता हृदयाकाशे नागरूपा महोज्ज्वला॥

—त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषद्

योगाभ्यास द्वारा यह कुण्डलिनी शक्ति पवन द्वारा जागृत अग्नि के समान हृदयाकाश में नाग रूप से अत्यंत उज्ज्वल स्फुरित होती है।

—❀—

नादयोग और उसकी आर्ष परम्परा

कुण्डलिनी जागरण और नादयोग का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध बताते हुए कहा गया है—

कला कुण्डलिनी चैव नाद शक्ति समन्विता ।

—षट्चक्र निरूपण

कला कुण्डलिनी नाद शक्ति से संयुक्त है ।

कुण्डल्येव भवेच्छक्तिस्तां तु संचालयेत् बुधः ।
स्वस्थनादाभ्रुवोर्मध्यं, शक्तिचालन मुच्यते ।

—योग कुण्डलयुपनिषद्

बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिए कि वह उस सोयी हुई अपनी आत्म-शक्ति को चैतन्य करें, गतिशील करे । मूलाधार से स्फूर्ति तरङ्ग उठकर भ्रूमध्य में दिव्य नाद की अनुभूति (श्रवण) कराने लगे, तभी समझना चाहिए कि कुण्डलिनी शक्ति जागृत-संचालित हो गई है ।

कुण्डलिनी साधना में लययोग का महत्वपूर्ण स्थान है । लय का अर्थ—विलीन है । आत्मसत्ता का परमात्म सत्ता में विलीनीकरण ही परम लक्ष्य है । इसे प्राप्त करने पर आत्मा को—परमात्मा स्तर का बन सकना सम्भव हो जाता है । 'लय' के लिए नादयोग की साधना करनी पड़ती है । इसी आधार पर कुण्डलिनी जागरण का उद्‌देश्य भी पूरा होता है ।

श्री आदिनाथेन सपाद कोटिलय
प्रकाराः कथिता जयन्ति ।
नादानुसंधान कमेकमेव मन्मामहे
मुख्यतं लयानाम् ॥

—हठयोग प्रदीपिका

श्री आदिनाथ के बतलाये हुए सवा करोड 'लय' के प्रकार सर्वोत्कर्ष से विद्यमान हैं, हम उन सब लयों में से नादानुसन्धान को ही मुख्य मानते हैं ।

लय नादे यदा चित्त रमते योगिनो भृशम् ।
विस्मृत्य सकले वाह्यं नादेन सह शाम्पति ॥

—शिव सं०

अर्थ—जब योगी का चित्त उस नाद में निरन्तर रमण करेगा तब सब प्रकार के विषय से स्मरण रहित होकर चित्त समाधि में 'लय' हो जायेगा ।

एतदभ्यासयोगेन जित्वा सम्यक गुणान् बहून ।
सर्वारम्भपरित्यागी चिदाकाशे विलीयते ॥

—शिव सं०

अर्थ—इस प्रकार अभ्यास द्वारा सर्व गुणों को जीत कर और सब कार्यों के आरम्भ को त्याग कर योगी का चित्त आनन्दपूर्वक चैतन्य स्वरूप हृदयाकाश में 'लय' हो जाता है ।

इन्द्रियाणां मनोनाथो मनोनाथस्तु मारुतः ।
मारुतस्य लयो नाथः सलयो नादमाश्रितः ॥

—हठयोग प्रदीपिका

अर्थ—मन ही इन्द्रियों का स्वामी है, क्योंकि मन का संयोग न होने से कोई भी इन्द्रिय काम करने में समर्थ नहीं रहती । फिर मन, प्राण, वायु के आधीन है, अतः वायु वशीभूत होते ही मन का 'लय' हो जाता है । मन लय होकर नाद में अवस्थान करता है ।

नासनं सिद्धसदृशं न कुम्भसदृशं बलम् ।
न खेचरीसमा मुद्रा न नादसदृशो लयः ॥

—शिव संहिता ५।४५

सिद्धासन के समान कोई आसन नहीं, कुम्भक के समान कोई बल नहीं, खेचरी के समान मुद्रा नहीं और नाद के समान लय नहीं ।

भगवान् शङ्कराचार्य ने भी "योग तारावली" में नाद—तत्व की प्रशंसा, की है—

"सदा शिवोक्तानि सपादलक्ष-
लयावधामानि वसन्ति लोके ।
नादानुसन्धान समाधिमेक
मन्यामहे मान्यरमं लयानाम् ॥

नादानुसन्धान नमोऽस्तु तुभ्यं
लांमन्महे तत्वपदं लयानाम्।
भवत्प्रसादात् पवनेन सार्धं
विलीयते विष्णुपदे मनो मे॥

भगवान् शिव ने मन के लय के लिए सवा लक्ष साधनों का निर्देश किया है, परन्तु उन सब में नादानुसन्धान सुलभ और श्रेष्ठ है। हे नादानुसन्धान! आपको नमस्कार करता हूँ। आप परम पद में स्थिति लाभ कराते हैं। आपकी कृपा से मेरे प्राण और मन दोनों विष्णु के परम पद में लीन हो जायेंगे।

न नादेन विना ज्ञानं न नादेन विना शिवः।
नादरूपं परं ज्योतिर्नाद रूपी परो हरिः॥
—योग तरंगिनी

नाद के बिना ज्ञान नहीं होता—नाद के बिना शिव नहीं मिलते, नाद के बिना ज्योति का दर्शन सम्भव नहीं, नाद ही परब्रह्म है।

योग साधनों में नादयोग की गरिमा अत्यधिक है। उसकी विधि सरलता एवं श्रेष्ठ सत्परिणाम उत्पन्न करने वाली प्रतिक्रिया को देखते हुए नादयोग को जो प्रमुखता मिली है वह उचित ही है—

यत्किंचिन्नादरूपेण श्रूयते शक्तिरेव सा।
यस्तत्त्वान्तो निराकारः स एव परमेश्वरः॥
—हठयोग प्र०

जो कुछ नाद रूप से सुना जाता है वह शक्ति ही है और जिसमें तत्वों का लय होता है वह निराकार परमेश्वर है।

अशक्य तत्वबोधानां मूढ़ानामपि संमतम्।
प्रोक्तं गोरक्षनाथेन नादोपासन मुच्यते॥
—हठयोग प्र०

अर्थ—जिनको तत्वज्ञान नहीं हो सकता ऐसे मूर्ख लोगों के लिए भी उपयोगी, गोरक्षनाथ जी द्वारा वर्णित नाद की उपासना कही जा रही है। यह नादोपासना शास्त्रों के जानने वाले एवं मूढ़ दोनों लोगों के लिए उपयोगी है।

"सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा।
नाद एवानुसन्धेयो योगसाम्राज्यमिच्छता॥"
—वाराहोपनिषद

सब चिन्ताएँ छोड़कर—मन को स्थिर करना नादयोग की साधना में लगना चाहिए। यह योग साधनाओं का सम्राट् है।

हठयोग प्रदीपिका में नादयोग का महत्व एवं प्रतिफल बताते हुए उसे साधनाओं में अत्यन्त ऊँचा स्थान दिया है। निम्न श्लोक उसी के पृष्ठों से लिए गये हैं—

नादश्रवणतः क्षिप्रमन्तरङ्ग भुजङ्गमः।
विस्मृत्य सर्वमेकाग्रः कुमचिन्न हि धावति॥

यह मन रूपी सर्पनाद को श्रवण करने से शीघ्र ही सम्पूर्ण संसार को भूलकर एकाग्र होकर फिर विषयों की तरफ नहीं जाता है।

बद्धं विमुक्त चाञ्चल्यं नादगन्धक जारणात्।
मनः पारदभाप्नोति निरालम्वाख्यखेऽटनम्॥

नाद रूपी गन्धक द्वारा भस्म किये जाने से बँधा हुआ और चंचलता से विमुक्त हुआ मन रूपी पारा निराश्रय होने पर ब्रह्मरूपी आकाश में भ्रमण करता है।

सदा नादानुसन्धानात्क्षीयन्ते पापसंचयाः।
निरंजने विलीयते निश्चितं चित्तमारुतौ॥

अर्थ—सदा नाद के अनुसन्धान करने से संचित पापों के समूह भी नष्ट हो जाते हैं और उसके अनन्तर निर्गुण एवं चैतन्य ब्रह्म में मन व प्राण दोनों निश्चय ही विलीन हो जाते हैं।

नादोऽन्तरङ्गसारङ्गबन्धने वागुरायते।
अन्तरङ्गकुरङ्गस्य वधे व्याधायतेऽपि च॥

जैसे व्याध मृग बन्धन के जाल में मृग को हतता है इसी प्रकार अपने में आसक्त हुए मन को नाद भी हतता है अर्थात् मन के जो संकल्प विकल्पादिक धर्म हैं वे नष्ट हो जाते हैं।

काष्ठे प्रवर्तितो वह्निः काष्ठेन सह शाम्यति।
नादे प्रवर्तितं चित्तं नादेन सह लीयते॥

काष्ठ में प्रवेश हुई अग्नि काठ को जलाकर ही शान्त होती है। इसी प्रकार नाद में प्रवृत्त हुआ अन्तःकरण नाद में ही विलीन हो जाता है।

अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिम्।
पक्षाद्विपक्षेपमखिलं जित्वा योगी सुखी भवेत्॥

अर्थ—अभ्यास किया गया यह नाद बाहर की ध्वनि को भी ढक देता है, इस प्रकार एक पक्ष में ही योगी चित्त की समस्त चचलता को जीत कर सुखी हो जाता है।

चित्तानन्द तदा जित्वा सहजानन्द सम्भवः।
दोष दुःख जरा व्याधि क्षुधा निद्रा विवर्जितः॥

अर्थ—तब नाद के विषयीभूत अन्तःकरण की वृत्ति से प्राप्त सुख को जीतकर स्वाभाविक आत्मा के सुख का आविर्भाव होता है। वात, पित्त, कफ, रूप दोष, दुःख, वृद्धावस्था, ज्वरादिक व्याधि, भूख, प्यास, निद्रा इन सबसे रहित वह आत्म-सुखी हो जाता है।

दिव्यदेहश्च तेजस्वी दिव्यगंधस्त्व रोगवान्।
सम्पूर्णहृदयः शून्य आरम्भो योगवान्भवेत्॥

हृदयाकाश में नाद के आरम्भ होने पर प्राण वायु से पूर्ण हृदय वाला योगी रूप, लावण्य आदिकों से युक्त दिव्य देह वाला हो जाता है। वह प्रतापी हो जाता है और उसके शरीर से दिव्य गन्ध प्रकट हुआ करती है तथा वह योगी रोगों से भी रहित हो जाता है।

अन्तरङ्गस्य यमिनो वाजिनः परिधायते।
नादोपास्तिरतो नित्यमवधार्या हि योगिना॥

अर्थ—नादयोगी के मन रूपी घोड़े के लिए अश्व-शाला के दर्वाजा के अर्गला के समान हैं। इसलिए योगी को प्रतिदिन नाद की उपासना करनी चाहिए।

बुद्ध तु नादवन्धेन मनः संत्यक्त चापलम्।
प्रयाति सुतरां स्थैर्यं छिन्नपक्षः खगोयथा॥

अर्थ—नाद रूपी बन्धन से बँधा हुआ जिसने चंच-लता का त्याग कर दिया है, ऐसा मन जिस पक्षी के पंख कट गये हों उस पक्षी के समान अत्यन्त स्थिर होकर रहता है।

इन्द्रियाणां मनोनाथो मनोनाथस्तु मारुतः।
मारुतस्य लयोनाथः स लयोनादमाश्रितः॥

इन्द्रियों का स्वामी मन। मन का स्वामी प्राण। प्राण का स्वामी लय और यह लय-नाद के आश्रित है।

अथ नादानुसंधानं प्रवक्ष्यामि यथाक्रमम्।
यस्यानुष्ठानतो योगी परं ब्रह्माधिगच्छति॥

—योग रसायनम्

अब नादानुसन्धान का यथाक्रम वर्णन करते हैं, जिसके अनुष्ठान से योगी परं ब्रह्म को प्राप्त होता है।

नादश्रवणतो योऽसावानंदो योगिनो भवेत्।
शक्यते स गिरा वक्तु मया नात्र कथंचन॥

—योग रसायनम्

नाद-श्रवण से यह जो आनन्द योगी को होता है, उसका वाणी से वर्णन सम्भव नहीं।

अथवा नादयोगेन शरीरे कृशतां गते।
सर्वांगेभ्यो भवेत्तूर्णं प्राणस्याकर्षणं ध्रुवम्।
तं ध्यानेनोर्ध्वमानीय ब्रह्मरंध्रे प्रवेशयेत्।
तत्रैव स्थिरतां नीत्वा समाधिस्थो भवेन्नरः॥

—योग रसायनम्

अथवा नादयोग से शरीर कृश हो जाता है और प्राणाकर्षण सहज होता है। ध्यान से इस प्राण को ऊपर ले जाकर ब्रह्मरन्ध्र में प्रविष्ट कर वहीं स्थिर करना चाहिए। इससे व्यक्ति समाधिस्थ हो जाता है।

उक्तात्ममानतः पूर्वं पश्चात् च विविधः कपे।
अभिव्यजन्त एतस्य नादास्तत्सिद्धि सूचकाः॥
अनाहतमनुच्चार्यं शब्दब्रह्म परं शिवम्।
ब्रह्मरध्रं गतेवायौ नादश्चोत्पद्यतेऽनघ।
शङ्ख ध्वनि निभश्चादौ मध्ये मेघध्वनिर्यथा॥
पवने व्योम सम्प्राप्ते ध्वनिरुत्पद्यते महान्।
घण्टादीनां प्रवाद्यानां ततः सिद्धिरदूरतः॥

—महायोग विज्ञान

जब अन्तर में ज्योति स्वरूप आत्मा का प्रकाश जागता है तब साधक को कई प्रकार के नाद सुनाई पड़ते हैं। इसमें से एक व्यक्त होते हैं, दूसरे अव्यक्त। जिन्हें किसी बाहर के शब्द से उपमा न दी जा सके, उन्हें अव्यक्त कहते हैं यह अन्तर में सुनाई पड़ते हैं और उनकी अनुभूति मात्र होती है। जो घण्टा आदि की तरह कर्णेन्द्रियों द्वारा अनुभव में आवें उन्हें व्यक्त कहते हैं। अव्यक्त ध्वनियों को अनाहत अथवा शब्दब्रह्म भी कहा जाता है।

नादयोग के अभ्यास से मनोनिग्रह जैसा कठिन कार्य सरल हो जाता है। मन के एकाग्र होने पर योगाभ्यास की सफलता निर्भर है। चित्त की चंचलता ही साधना

की प्रगति में प्रमुख बाधा है। नादानुसन्धान से यह बाधा सरलतापूर्वक हल हो जाती है।

नाद मेवानुसन्दध्यान्नादे चित्तं विलीयते।
नादासक्तं सदा चित्तं विषयं नहि कांक्षति ॥

—नाद बिन्दोपनिषद

नादानुसन्धान से चित्त शान्त हो जाता है। उस साधना में लगा हुआ चित्त विषयों की आकांक्षा नहीं करता।

मकरन्दं पिबन्भृंगो गन्धान् नापेक्षते यथा।
नादासक्तं सदा चित्तं विषयं न हि काङ्क्षति।
बद्धः सुनादगन्धेन सद्यः संत्यक्त चापलम्।
नादग्रहणतश्चित्तमन्तरंग भुजंगम् ॥
विस्मृत्य विश्व मेकाग्रं कुत्रचिन्न हि धावति।
मनोन्मत्तगजेन्द्रस्य विषयोद्यानचारिणः ॥
नियामनसमर्थोऽयं निनादो निशिताङ्कुशः।

—नाद बिन्दोपनिषद्

भ्रमर जिस तरह फूलों का रस तो लेता है, परन्तु पुष्पों की गन्ध की अपेक्षा नहीं करता। उसी तरह नाद से रुचि लेने वाला चित्त विषय-वासना के दुर्गन्ध की इच्छा नहीं रखता। जिस तरह सर्प नाद को सुनकर मस्त हो जाता है, उसी प्रकार चित्त नाद में आसक्त हो जाने पर सभी प्रकार की चपलताएँ भूल जाता है। संसार की चपलताएँ भूलने पर उसमें एकाग्रता आने लगती है और वह इधर-उधर विषयों की ओर नहीं भागता। विषय-वासनाओं के वन में घूमने वाला मन रूपी हाथी नाद के अभ्यास रूपी तेज अंकुश से ही काबू में आ पाता है। यदि हम मन को हिरन और तरङ्ग की संज्ञा दें तो यह नाद उस हिरन को फाँसने के लिए जाल का और तरङ्ग को रोकने के लिए तट का काम देता है।

नादयोग का अभ्यास कैसे करना चाहिए? इसका उत्तर देते हुए—शिव संहिता और हठयोग प्रदीपिका में दोनों कान, दोनों नेत्र एवं दोनों नासिका छिद्र बन्द करने की विधि बताई गई है। ऐसी दशा में साँस मुख से ही लिया जा सकता है। कहा गया है—

अंगुष्ठाभ्यामुभे श्रोत्रे तर्जनीभ्यां द्विलोचने।
नासारन्ध्रे च मध्याभ्याम नामाभ्यां मुखं दृढ़म् ॥
निरुध्य मारुतं योगी यदैव कुरुते भृशम्।
तदा तत्क्षणमात्मानं ज्योति रूपं स पश्यति ॥

—शिव सं०

अर्थ—दोनों हस्त अंगूठों से दोनों कर्ण बन्द करें और दोनों तर्जनी से, दोनों नेत्रों को दोनों मध्यमा अंगुलियों से, दोनों नासारन्ध्र को बन्द करें और दोनों अनामिका अंगुली और कनिष्ठा से मुख को बन्द करें। यदि इस प्रकार योगी वायु को निरोध करके इसका बारम्बार अभ्यास करे तो आत्मा ज्योति स्वरूप का हृदयाकाश में भान होता है।

कर्णौ पिधाय हस्ताभ्यां यं शृणोति ध्वनिं मुनिः।
तत्र चित्तं स्थिरीकुर्याद्यावत्स्थिर पदं व्रजेत् ॥

—हठयोग

अर्थ—मननशील योगी दोनों हाथों से दोनों कानों को बन्द कर जिस ध्वनि को सुनता है, जब तक स्थिर पद को प्राप्त न हो जाय, तब तक उस ध्वनि में चित्त को स्थिर करे।

श्रवणपुटनयन युगुल घ्राण मुखानां निरोधनं कार्यम्।
शुद्ध सुषुम्नासरणौ स्फुटममलः श्रूयते नादः ॥

—हठयोग

अर्थ—दोनों कान, आँख, नासिका और मुख इन सबका निरोध करना चाहिए, तब शुद्ध सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग में शुद्ध नाद प्रगट रूप से सुनाई पड़ने लगता है।

'योग रसायन' में सभी छेद बन्द करने की आवश्यकता नहीं समझी गई। मात्र कान के छेद बन्द करने को ही कहा गया है। साथ ही यह भी कहा गया है कि यदि साधक चाहे तो छेदों को बीच-बीच में खोलता भी रह सकता है लगातार बन्द रखने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार एक दक्षिण कान से ही नाद श्रवण का भी परामर्श दिया गया है।

पद्मासनं समास्थाय स्वस्तिकं वा यथासुखम्।
कर्णरंध्रयुगं पश्चादंगलिभ्यां निरोधयेत् ॥

—योग रसायनम्

पद्मासन या स्वस्तिक आसन में सुखपूर्वक बैठकर दोनों कर्णरन्ध्रों को अंगुलियों से बन्द कर ले।

कर्णयोस्त्वेकतानेन रोधनं नैव कारयेत् ।
त्यक्वात्यक्त्वांगुलिसध्येनादाभ्यासं समाचरेत् ।
—योग रसायनम्

दोनों कानों को लगातार बन्द नहीं किये रहना चाहिए। अँगुली बीच-बीच में छोड़ते रहकर नाद का अभ्यास करना चाहिए।

निमील्य नयने चित्त कृत्वैकाग्रमनन्यधीः ।
शृणुभाद्दक्षिणे कर्णे नादमंतर्गत शुभम् ॥
—योग रसायनम्

नयन निमीलित कर चित्त को एकाग्र कर अनन्य बुद्धि से दाहिने कान में शुभ नाद सुनना चाहिए।

आहत ध्वनियाँ वे हैं जो किन्हीं पदार्थों या प्राणियों की हलचलों के कारण उत्पन्न होती है। अनाहत वे हैं जो प्रकृति प्रवाह एवं सूक्ष्म जगत से सम्बन्धित है। इन्हें सुनने से परा और अपरा प्रकृति के संकेत सन्देशों को सुनने, समझने की क्षमता उत्पन्न होती है। नाद को ब्रह्म-वाणी, आकाश वाणी भी कहा गया है इनको पकड़ने, पहचानने का अभ्यास होने पर दिव्य लोकों से सम्पर्क साधना एवं आदान-प्रदान करना सम्भव हो जाता है। वे ध्वनियाँ किस प्रकार की होती हैं इसका उल्लेख इस प्रकार है—

ब्रह्मरन्ध्रं चते वायौ नादश्चोत्पद्यतेऽनघ ।
शङ्खध्वनिनिभश्चादौ मध्ये मेघध्वनिर्यथा ॥
शिरोमध्यगते वायौ गिरिप्रस्रवण यथा ।
पश्चात्प्रीतो महाप्राज्ञः साक्षादात्मोन्मुखो भवेत् ॥
—जावाल दर्शनोपनिषद्

जब ब्रह्मरन्ध्र में प्राणवायु का प्रवेश हो जाता है, तब प्रथम शङ्ख ध्वनि के समान नाद सुनाई पड़ता है। फिर मेघ ध्वनि की तरह मन्द्र, गम्भीर नाद सुन पड़ता है। जब यह प्राणवायु शिर के मध्य में स्थित होती है, तब ऐसा लगता है मानो पर्वत से कोई झरना कल-कल नाद करता स्रवित हो रहा है। तदुपरान्त अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव होता है और साधक सूक्ष्म आत्म-तत्व की ओर उन्मुख हो जाता है।

शिव पुराण में ॐ कार के अतिरिक्त नौ ध्वनियाँ इस प्रकार गिनाई गई हैं।

घोषं, कास्यं तथा शृंग. घंटा, वीणा—
दिवंशजम् ।
दुन्दुभि, शङ्ख शब्दं तु नवमं मेघगर्जितम् ॥
—शिव पुराण

अर्थात्—(१) समुद्र गर्जन जैसा घोष (२) काँसे की थाली पर चोट लगाने जैसी झंझनाहट (३) शृङ्ग अर्थात् तुरही बजने जैसी आवाज (४) घन्टे बजने जैसी (५) वीणा बजने जैसी (६) वंशज वंशी जैसी (७) दुन्दुभि नगाड़े बजने के समान (८) शङ्ख ध्वनि (९) मेघ गर्जन जैसी नौ ध्वनियाँ नादयोग में सुनी जाती हैं।

कहीं-कहीं पायल बजने, बुलबुल की चह-चहाहट जैसी मधुर ध्वनियों का भी वर्णन है यह वीणावादन से मिलती-जुलती है। सिंह गर्जन का उल्लेख मेघ गर्जन जैसा है।

मत्तभृंग वेणु वीणा सदृशः प्रथमो ध्वनिः ।
एवमभ्यासतः पश्चात् संसार ध्वान्तनाशनम् ॥
घण्टा नादसमः पश्चात् ध्वनिर्मेघरवोपमः ।
ध्वनौ तस्मिन्मनो दत्त्वा यदा तिष्ठति निर्भरः ।
तदा संयाते तस्य लयस्य मम वल्लभे ॥
—शिव सं०

अर्थ—योगाभ्यास द्वारा प्रथम मत्त भ्रमर की नाईं शब्दवेणु और वाणी के समान शब्द उत्पन्न होगा। इस प्रकार योगाभ्यास संसारतम नाशक से फिर घन्टा, नाद समान शब्द होगा, फिर मेघ गर्जना के समान ध्वनि होगी। इस ध्वनि में यदि मन निश्चल स्थित हो जाय, तब मोक्ष का दाता लय उत्पन्न होगा।

घंटानादसमः पूर्वं ततः शङ्खसमो ध्वनिः ।
वीणारवसमः पश्चात् तालनादोपमस्ततः ॥
—योग रसायनम्

पहले घन्टा नाद-सी ध्वनि आती है, फिर शङ्ख के समान, फिर वीणा ध्वनि के समान और तब तालमय ध्वनि सुनाई पड़ती है।

वंशीशब्दनिभश्चाथो मृदंगसदृशो ध्वनिः ।
भेरीरवसमः पश्चान्मेघगर्जनसंनिभः ॥
—योग रसायनम्

फिर वंशी ध्वनि सी, तदुपरान्त मृदङ्ग सदृश इसके

आगे भेरी रव जैसा और तत्पश्चात् मेघ गर्जन के समान नाद सुनाई पड़ता है।

श्रूयते प्रथमाम्यासे ध्वनिर्नादस्य मिश्रितः।
ततोम्यासे स्थिरी भूते श्रूयते तु पृथक्-पृथक्।
—योग रसायनम् २५०

प्रथमतः अभ्यास के समय ध्वनि-नाद को मिश्रित रूप में ही सुनना चाहिए। जब अभ्यास दृढ़ हो जाय, तो पृथक्-पृथक् सुनना चाहिए।

नाद श्रवण की पूर्णता अनाहत ध्वनि की अनुभूति में मानी गई है। साधक अन्य दिव्य ध्वनियों को सुनते-सुनते अन्त में अनाहत लक्ष्य तक जा पहुँचता है।

प्राणे मूर्धनि संप्राप्ते नादध्वनिरनुत्तमः।
श्रूयते योगिनो वक्रे संस्त्रवेदमृतं तथा॥
—योग रसायनम्

प्राण के मस्तक में पहुँचने पर योगी को सुन्दर अनाहत नाद की ध्वनि सुनाई पड़ती है।

ध्यान बिन्दुपनिषद में नादयोग के सम्बन्ध में लिखा है—

अनाहतं तु यच्छब्दं तस्य शब्दस्य यत्परम्।
तत्परं विन्दते यस्तु स योगी छिन्नसंशयः॥

अनाहत शब्द—उससे परे और उससे परे जो है उसे प्राप्त करके योगी समस्त संशयों से मुक्त हो जाता है।

(शेष पृष्ठ ५७ का)

ध्यानपूते ज्ञानजले रागद्वेपमलापहे।
यः स्नाति मानसे तीर्थे स याति परमां गतिम्॥
—स्कन्द पुराण

ध्यान के द्वारा पवित्र तथा ज्ञान रूपी जल से भरे हुए, राग-द्वेष रूप मल को दूर करने वाले मानस-तीर्थ में जो पुरुष स्नान करता है, वह परमगति मोक्ष को प्राप्त होता है।

तीर्थयात्रा का उद्देश्य आत्म-शोधन और परमार्थ परायणता की पुण्य प्रवृत्तियों को निखारना है। धर्म-प्रचार यात्राओं से ही यह उद्देश्य पूरा होता है। मेंहदी पीसने वाले के भी हाथ लाल होते हैं। सुगन्ध निर्माताओं के वस्त्र अनायास ही मेंहकने लगते हैं। धर्म तत्व का प्रसार-विस्तार करने के उद्देश्य से निकले हुए व्यक्ति उन विचारों एवं क्रियाओं में संलग्न रहने के कारण स्वयं भी उस रङ्ग में रँगते चले जाते हैं।

ऐसी तीर्थ यात्राएँ पैदल ही होनी चाहिए। ताकि अधिक लोगों के साथ सम्पर्क साधने—विराम स्थलों पर कथा, सत्सङ्ग करने का अवसर मिलता चले। पदयात्रा एक तप भी है, जिससे शारीरिक एवं मानसिक विकृतियों का परिशोधन होता है। शास्त्रकारों ने तीर्थयात्रा में वाहन के उपयोग का निषेध किया है। पदयात्रा ही तीर्थ-यात्रा है। सामान लादने भर के लिए वाहन का भले ही प्रयोग किया जाय, पर नर्मदा परिक्रमा, ब्रजयात्रा, गोवर्धन परिक्रमा, शिव त्रियोदशी के जल काँवर की तरह उसे पैदल ही किया जाना चाहिए।

ऐश्वर्य लोभान्मोहाद् वागच्छेद यानेन यो नरः।
निष्फलं तस्य तत्तीर्थं तस्माद्यानं विवर्जयेत्॥
—मत्स्य पुरा० ब्राह्मी सं०

तीर्थयात्रा में यान वर्जित है। ऐश्वर्य के गर्व से, मोह से या लोभ से जो यानारूढ़ होकर तीर्थयात्रा करता है, उसकी तीर्थयात्रा निष्फल हो जाती है।

यानमर्धफलं हन्ति तदर्द्धं छत्र पादुके।
वाणिज्य त्रींस्तथा भागान् सर्वं हन्ति प्रतिग्रह॥
—स्कन्द पुराण

सवारी तीर्थयात्रा का आधा फल अपहरण कर लेती है। उसका आधा छत्र तथा पादुका अपहरण कर लेते हैं। व्यापार पुण्य का तीन चतुर्थांश अपहरण करता है तथा प्रतिग्रह तीर्थ के सारे पुण्य को नष्ट कर देता है।

सर्वेषामेव वर्णानां सर्वाश्रमनिवासिनाम्।
तीर्थं तु फलदं ज्ञेयं नात्र कार्या विचारणा।
तीर्थानुगमने पद्भ्यां तपःपरमिहोच्यते।
तदेव कृत्वा यानेन स्नानमात्रफलं लभेत्।

सभी वर्णों तथा सभी आश्रमों के लोगों को तीर्थ फलदायक होता है—इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं करना चाहिए। जो पैरों से पैदल चलकर तीर्थ जाते हैं, वे परम तप करते हैं। जो सवारी से यात्रा करते हैं, उन्हें स्नान मात्र का ही फल मिलता है।

नादयोग से दिव्य-क्षमताओं और दिव्य-भावनाओं का विकास

कानों से सुनी जाने वाली ध्वनियाँ इतनी उथली और हलकी होती हैं कि उनका किसी प्राणी या पदार्थ पर जानकारी देने के अतिरिक्त और कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। यों श्रवण ध्वनियों के साथ-जुड़े हुए घटना क्रम एवं घुले हुए भाव प्रवाह अपना महत्व रखते हैं और यत्किंचित प्रभाव भी डालते हैं, पर वह सब मिला कर भी श्रवणातीत ध्वनियों की क्षमता के समतुल्य नहीं हो सकता। प्रकृति का अनुग्रह ही है कि वे सूक्ष्म ध्वनियाँ हमारे कानों की जीव सत्ता को बिना प्रभावित किये ही अन्तरिक्ष में उड़ती रहती हैं। यदि वे सुनाई देने लगतीं तो कोलाहल से कान बहरे हो जाते। यदि वे प्रभावित करने लगतीं तो उनके प्रहार से शरीर सत्ता का अस्तित्व ही संदिग्ध बन जाता।

कानों की ग्रहण शक्ति बहुत ही भोंड़ी और थोड़ी है। हमारे कान मात्र एक सैकिण्ड में २० से लेकर २० हजार तक कम्पन्न उत्पन्न करने वाली ध्वनियों को ही सुन सकते हैं। इससे न्यूनाधिक कम्पनों की ध्वनियाँ पकड़ में नहीं आतीं श्रवणातीत अति स्वन ध्वनियाँ १० लाख से लेकर १००० करोड़ कम्पनों तक की तरंगे हर सैकिन्ड उत्पन्न करने वाली पाई गई हैं इनकी सामर्थ्य उनकी सूक्ष्मता के आधार पर अधिकाधिक होती चली जाती है।

श्रवणातीत ध्वनियों का उपयोग जब से वैज्ञानिकों ने जाना है तब से वे उनके अत्यन्त प्रभावशाली उपयोग करने लगे हैं। शल्य चिकित्सा, कीटाणु संहार, ऋतु परिवर्तन, मोटे धातु खण्डों को गला देना, जैसे प्रचण्ड कार्य उनसे लिये जा रहे हैं। कल कारखानों के लिए तो उन्हें बिजली एवं अणुशक्ति की तरह काम में लाया जा रहा है।

वैज्ञानिक सोचते हैं कि भविष्य में मानवी आवश्यकता की अभीष्ट ऊर्जा, श्रवणातीत ध्वनि तरंगों से उपलब्ध की जा सकेगी। तब मनुष्य को परम शक्तिशाली कहला सकने का अवसर मिल जायगा।

धरती पर हो रही हलचलों से जो ध्वनि तरंगें उत्पन्न होती हैं उनके अतिरिक्त ऐसी तरंगें भी पाई गई हैं, जिनका जागतिक हलचलों से सीधा सम्बन्ध नहीं है। उनका स्तर, स्वरूप एवं प्रभाव अलौकिक है। विज्ञानी सोचते हैं कि यह विलक्षण अन्तर्ग्रही ध्वनि प्रवाह ब्रह्माण्ड के किसी अज्ञात केन्द्र से धरती पर आता है और उसी की सामर्थ्य से अपने भूलोक के विभिन्न पदार्थों एवं क्रिया-कलापों का सूत्र संचालन होता है।

शब्द की महत्ता को अध्यात्म शास्त्र आरम्भ से ही प्रतिपादित करते रहे हैं। नादयोग का पूरा ढाँचा इसी निमित्त खड़ा किया गया है कि सूक्ष्म शरीर के संयंत्र को विकसित करके दिव्य ध्वनियों को पकड़ने, समझने में सफलता प्राप्त की जा सके। इस आधार पर प्रकृति गत उन भौतिक हलचलों को जाना जा सकता है। जो सामान्य मनुष्य के ज्ञान क्षेत्र से ऊपर की हैं। इसके अतिरिक्त परा प्रकृति से सम्बन्धित सूक्ष्म जगत की वे सचेतन हलचले हैं जो ध्वनि रूप में परिभ्रमण करती हैं और समस्त प्राणि जगत को प्रभावित करती हैं। नादयोग के अभ्यास से आत्म चेतना को परिष्कृत और सूक्ष्म शरीर की कर्णेन्द्रिय तन्मात्रा शब्द को परिष्कृत किया जाता है। इस आधार पर अदृश्य एवं अविज्ञात से सम्पर्क साधा जाता है और अतीन्द्रिय ज्ञान प्राप्त करने का लाभ उठाया जाता है।

नादयोग के द्वारा सुनी जाने वाली यह दिव्य ध्वनियाँ अनन्त अन्तरिक्ष में बिना किसी प्रकृतिगत हलचल का आश्रय लिए स्वयमेव विनिसृत होती रहती हैं। ये चेतन हैं दिव्य हैं, अलौकिक, अभौतिक और अतीन्द्रिय हैं। इसलिए उन्हें देववाणी भी कहते हैं। उन्हें ध्यान योग के

माध्यम से हमारा चेतन अन्तःकरण सुन सकता है। श्रवण का सम्बन्ध कर्णेन्द्रिय से है, अस्तु सूक्ष्म एवं चेतन श्रवण भी शब्द संस्थान के इसी प्रतिनिधि केन्द्र का सहारा लेकर सुना जाता है।

नादयोग में कान को सूक्ष्म चेतना की दिव्य ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं। कई बार ये अतिमन्द होती हैं। कई बार कुछ प्रखर। इनमें प्रायः कृष्ण की वंशी जैसी—सर्प पकड़ने में काम आने वाले बीन जैसी ध्वनियाँ रहती हैं। रास लीला में कृष्ण का वंशी वादन और गोपियों का ताल नृत्य आत्मा और परमात्मा के बीच चलने वाला वेणुनाद ही समझा जा सकता है। कुमार्गगामी—भौतिक तृष्णा और वासना का विष पिण्ड मन—एक प्रकार से विषधर सर्प है। उसे भी आनन्द उल्लास की, दिव्य प्रेरणाओं के अनुगमन के रूप में लहराने का अवसर इस बीन की ध्वनि सुनने से मिल सकता है। सँपेरा विषधर सर्पों को पकड़ने के लिए बीन बजाता है। जब वह लहराने लगता है तो उसे चुपके से पकड़कर पिटारे में बन्द कर लेता है। मन के निग्रह में—प्राणों के निरोध में—नादयोग का ध्वनि प्रवाह बहुत सफल रहता है।

वंशी और बीन के अतिरिक्त और भी कई प्रकार की ध्वनियाँ नादयोग के साधकों को सुनाई पड़ती हैं। इनकी सङ्गति इस प्रकार बिठाई जा सकती है—भगवती सरस्वती अपनी वीणा झंकृत करते हुए ऋतम्भरा प्रज्ञा और अनासक्त भूमा के मृदुल मनोरम तारों को झनझना रही है और अपनी अन्तःचेतना में वही दिव्य तत्व उभर रहे हैं। भगवान शंकर का डमरू बज रहा है। उससे प्रलय के—मरण के संकेत आ रहे हैं और सुझाया जा रहा है कि इस नश्वर काया का अन्त करने वाला ताण्डव किसी भी क्षण सम्मुख आ सकता है इसलिए प्रमाद से न उलझा जाय, लक्ष्य की प्राप्ति में आलस्य एवं उपेक्षाभाव न बरता जाय। माया मोह छोड़कर यथार्थता को समझा जाय। शंखनाद की ध्वनि को महाभारत के पाँच जन्य का महाकाल के भैरवनाद का—उद्घोष माना जाय और अनुभव किया जाय कि अब महाप्रयाण का ऐसा समय आ पहुँचा जिसमें आनाकानी या सोच-विचार करने की गुंजाइश नहीं है। युग के कर्त्तव्य की पुकार गूँज रही है और उभर रही है कि अविलम्ब जीवनोद्देश्य की दिशा में कदम बढ़ाया जाय। बिजली की कड़क—दावानल की धू-धू—बादलों का गर्जन—समुद्र का तर्जन इस संकेत को लेकर आते हैं कि अपनी गतिविधियों का कायाकल्प होना ही चाहिए। पशु स्तर को निरस्त करके दिव्य स्तर अपनाया ही हो जाना चाहिए और उस उलट-पुलट में जो उफान-तूफान प्रस्तुत होते हैं उनका सामना किया ही जाना चाहिए। कभी झिल्ली की झङ्कार कभी चिड़ियों की चहचहाहट के शब्द सुनाई पड़ते हैं इन्हें छोटे जीवों द्वारा मानवी प्रमाद को हिला देने वाला उद्बोधन समझा जाय। जब इतने छोटे जीव अपने नियत-नियमित आनन्द बिखेरने वाले क्रिया-कलाप में निरत रहते हैं तो मनुष्य के लिए यह कैसे शोभनीय होगा कि वह जीवनोद्देश्य के साथ जुड़े हुए अपने महान कर्त्तव्य का परित्याग करके मात्र, पेट और प्रजनन के लिए जीवन सम्पदा को कौड़ी मोल गँवा देने की मूर्खता अपनाये?

नादयोग में कितने प्रकार की ध्वनियाँ सुनाई पड़ सकती हैं इनकी कोई सीमा नहीं। प्रायः परिचित ध्वनियाँ ही सुनाई पड़ती हैं सो सूक्ष्मदर्शी साधक उनके पीछे उच्च संकेतों की विवेक बुद्धि के द्वारा सहज सङ्गति बिठा सकते हैं। कोयल की कूकन—मुर्गे की बाँग—मयूर की पीक, सिंह की दहाड़, हाथी की चिंघाड़, शब्द सुनाई पड़ें तो उनमें इन प्राणियों की उच्चारण समय की मनःस्थिति की कल्पना करते हुए अपने लिए प्रेरक संकेतों का तालमेल बिठाया जा सकता है। कई बार रुदन, क्रन्दन, हर्षोल्लास, अट्टहास, उच्छ्वास जैसी ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं उसे अपनी अन्तरात्मा का सन्तोष-असन्तोष समझा जा सकता है। कुमार्गगामी गतिविधियों से असन्तोष और सत्प्रवृत्तियों का सन्तोष स्पष्ट है। आत्म निरीक्षण करते हुए आत्मा को समय-समय पर अपनी भली बुरी गतिविधियों पर सन्तोष-असन्तोष प्रकट करने के अवसर आते हैं इन्हीं की प्रतिध्वनि, हर्ष क्षोभ व्यक्त करने वाले स्वरों में सुनाई पड़ती रहती है। किस ध्वनि के पीछे क्या संकेत, सन्देश, तथ्य हो सकता है उसे नादयोगी की सहज बुद्धि ही समयानुसार निर्णय करती चलती है। उसकी विस्तृत चर्चा यहाँ अभीष्ट नहीं। तथ्य इतना भर है कि इन दिव्य

ध्वनियों में किसी न किसी स्तर की उच्च प्रेरणाएँ होती हैं और उन सब का प्रयोजन एक ही रहता है कि हमें आत्मा की स्थिति से ऊपर उठकर उच्च भूमिका के लिए द्रुतगति से अग्रसर होना चाहिए—साहस पूर्ण कदम बढ़ाना चाहिए।

कानों के छिद्र बन्द करके अन्तर्जगत की दिव्य ध्वनियाँ सुनने की साधना जब परिपक्व होने लगती है तो भावोत्कर्ष क्षेत्र से आगे बढ़ कर सुविस्तृत अन्तरिक्ष में संव्याप्त हलचलों को समझने का अवसर मिलता है। इस संसार को प्रभावित करने वाली अगणित ब्रह्म प्रेरणाओं के प्रवाह बहते रहते हैं। उनके स्पन्दन हमारी कर्णेन्द्रिय से शब्दरूप में टकराते हैं। उन्हें पहचानने और पकड़ने की सफलता, साधना में परिपक्वता आने के साथ-साथ सहज ही बढ़ने लगती है और यह प्रतीत होने लगता है कि सूक्ष्म जगत में क्या हो रहा है और क्या होने जारहा है? किसी व्यक्ति विशेष क्षेत्र, देश अथवा लोक के सम्बन्ध में इस प्रकार की सही स्थिति का पूर्वाभास होने लगता है। अविज्ञात को ज्ञात स्तर पर उतारने में नादयोग की साधना बहुत ही उपयोगी एवं प्रभावशाली होती है।

नाद संकेत वे सूत्र हैं जिनके सहारे परमात्मा के विभिन्न शक्ति स्रोतों के साथ हमारे आदान-प्रदान सम्भव हो सकते हैं। टेलीग्राम, टेलीफोन, वायरलैस, टेलीविजन पद्धतियों का आश्रय लेकर हम दूरवर्ती व्यक्तियों के साथ अनुभूतियों का आदान-प्रदान करते हैं।

योगशास्त्र के साधना विधानों में एक महत्वपूर्ण धारा नादयोग की भी है। कानों को उँगलियों से, शीशी वाले कार्क से, कपड़े की गोली से इस प्रकार बन्द किया जाता है कि बाहर की वायु या स्थूल आवाजें भीतर प्रवेश न कर सकें। इस स्थिति में कानों को बाहरी ध्वनि आधार से विलग किया जाता है और ध्यान को एकाग्र करके यह प्रयत्न किया जाता है कि अतीन्द्रिय जगत से आने वाले शब्द प्रवाह को अन्तःचेतना द्वारा सुना जा सके। यों इसमें भी कर्णेन्द्रिय का—उसकी शब्द तन्मात्रा का योग-दान तो रहता है पर वह श्रवण है, वस्तुतः उच्चस्तरीय चेतन जगत की ध्वनि लहरी सुनने के लिए, कर्णेन्द्रिय और अन्तःकरण का इसे संयुक्त प्रयास भी कह सकते हैं।

सूक्ष्म और कारण शरीरों में सन्निहित श्रवण शक्ति को यदि विकसित किया जा सके तो अन्तरिक्ष में निरन्तर प्रवाहित होने वाली उन ध्वनियों को भी सुना जा सकता है जो चमड़े से बने कानों की पकड़ से बाहर हैं। सूक्ष्म जगत की हलचलों का आभास इन ध्वनियों के आधार पर हो सकता है।

कराहने की आवाज सुन कर किसी के शोकग्रस्त होने, दर्द से छटपटाने, सताये जाने आदि की, स्थिति का—दूरी का—नर नारी का—बाल वृद्ध का अनुमान लगा लिया जाता है उसी प्रकार कर्णेन्द्रिय की पकड़ से बाहर की सूक्ष्म ध्वनियों को यदि सुना जा सके तो विश्व में विभिन्न स्थानों पर विभिन्न स्तर की घटित होने वाली घटनाओं का विवरण जाना जा सकता है सम्भावनाओं का पता लगाया जा सकता है, तथा लोक लोकान्तरों में हो रही हलचलों को समझा जा सकता है। सर्वसाधारण के लिए अविज्ञात जानकारियाँ सूक्ष्म शरीर की कर्णेन्द्रिय के विकास द्वारा नितान्त सम्भव हैं।

न्यूजर्सी अमेरिका की बेल टेलेफोन प्रयोगशाला के इंजीनियरों और वैज्ञानिकों ने एक ऐसे 'भवन' का निर्माण किया जो पूरी तरह शब्द प्रूफ था अर्थात् उसके अन्दर बैठने वाले को बाहर की कैसी भी कोई भी ध्वनि सुनाई नहीं पड़ सकती थी। वैज्ञानिकों को अनुमान था कि उस समय निस्तब्ध: नीरवता का आभास होगा, पर जब एक व्यक्ति को प्रयोग के तौर पर उसके अन्दर बैठाया गया तो उसे यह सुन कर अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि विचित्र प्रकार की ध्वनियाँ उसके कानों में गूँजने लगीं। एक ध्वनि किसी के सीटी बजाने की थी, एक ध्वनि प्रेस मशीन चलने की तरह धड़-धड़ की थी, एक ध्वनि चटाचट चटखने की सी। पहले तो वह व्यक्ति डरा पर पीछे ध्यान देने पर मालूम हुआ कि सीटी की आवाज नसों में दौड़ने वाले रक्त प्रवाह की ध्वनि थी। आमाशय में पाचन रसों की चट-चट और हड्डियों की कड़कड़ाहट की ध्वनियाँ भी अलग-अलग सुनाई पड़ने लगीं मानो शरीर न हो पूरा कारखाना ही हो।

सामान्यतः यह ध्वनि हर व्यक्ति के शरीर से होती है

पर अपने कानों की वाह्यमुखी सम्वेदनशीलता और एकाग्रता की कमी के कारण कोई भी उन्हें सुने नहीं पाता। पर यदि अभ्यास किया जाये और सूक्ष्म कानों की शक्ति जगाई जा सके तो अनन्त ब्रह्माण्ड में होने वाली हलचल पृथ्वी के चलने की आवाज, सौरघोष, उल्काओं की टक्कर के भीषण निनाद मन्दाकिनियों के बहने का स्वर, जीव जन्तुओं के कलरव सब कुछ किसी भी स्थान में बैठकर उसी प्रकार सुने जा सकते हैं जिस प्रकार बेल टेलिफोन, लैबोरेटरी के प्रयोग के समय।

योगी पातञ्जलि ने लिखा है—'ततः प्रतिभ श्रावण जायन्ते' अर्थात् 'स्वार्थ संयम के अभ्यास से प्रतिभ अर्थात् भूत और भविष्य ज्ञान दिव्य और दूरस्थ शब्द सुनने की सिद्धि प्राप्त होती है।' योग विभूति में लिखा है—

'शब्दार्थ प्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरस्त-स्प्रतिभाग संयमात् सर्व भूतरुतज्ञानम्'।

अर्थात् शब्द अर्थ और ज्ञान के अभ्यास से अभेद भासता है और उसके विभाग में संयम करने से सभी प्राणियों के शब्दों में निहित भावनाओं का भी ज्ञान होता है।'—यह सूत्र सिद्धान्त सूक्ष्म कर्णेन्द्रिय की महान महत्ता का प्रतिपादन करते हैं और बताते हैं कि जब तक मनुष्य के पास ऐसा क्षमता सम्पन्न शरीर है। जिसके अन्दर विद्यमान विभूतियों का उपयोग करके वह उसे प्राप्त कर सकता है जिसके लिए उसे प्रायः तरसते ही रहना पड़ता है।

नादयोग सूक्ष्म शब्द प्रवाह को सुनने की क्षमता विकसित करने का साधना विधान है। कानों के बाहरी छेद बन्द कर देने पर उनमें स्थूल शब्दों का प्रवेश रुक जाता है। तब ईश्वर से चल रहे ध्वनि कम्पनों को उस नीरवता में सुन समझ सकना सरल हो जाता है। नाद योग के अभ्यासी आरम्भ में कई प्रकार की दिव्य ध्वनियाँ कानों के छेद बन्द करके मानसिक एकाग्रता के आधार पर सुनते हैं। शङ्ख, घड़ियाल, मृदंग, वीणा, नफ़ीरी, नूपुर जैसी आवाजें आती हैं और बादल गरजने, झरना झरने, आग जलने, झींगुर बोलने जैसी क्रमबद्ध ध्वनियाँ भी सुनाई पड़ती हैं। आरम्भ में यह शरीर के अन्तरंग में हो रही हलचलों की ही प्रतिक्रिया होती है पर पीछे दूरवर्ती घटनाक्रमों के संकेत प्रकट करने वाली अधिक सूक्ष्म आवाजें भी पकड़ में आती हैं। अनुभव के आधार पर उनका वर्गीकरण करके यह जाना जा सकता है कि इन ध्वनि संकेतों के साथ कहाँ किस प्रकार का—किस काल का घटना क्रम सम्बद्ध है। आरम्भिक अभ्यासी भी अपने शरीरगत अवयवों की हलचल, रक्त प्रवाह, हृदय की धड़कन, पाचन संस्थान आदि की जानकारी उसी भाँति प्राप्त कर सकता है जिस तरह कि डाक्टर लोग स्टेथिस्कोप आदि उपकरणों से हृदय की गति, रक्त चाप आदि का पता लगाते हैं अपने ही नहीं दूसरों के शरीर की स्थिति का विश्लेषण इस आधार पर हो सकता है और तदनुकूल सही निदान विदित होने पर सही उपचार का प्रबन्ध हो सकता है।

'सूक्ष्म शरीर' की कर्णेन्द्रिय को विकसित करके संसार में घटित होने वाले घटनाक्रम को जाना जा सकता है। कारण शरीर का सम्बन्ध चेतना जगत से है। लोगों की मनःस्थिति के कारण उत्पन्न होने वाली अदृश्य ध्वनियाँ जिसकी समझ में आने लगें वह मानव प्राणी की—पशु-पक्षियों और जीव-जन्तुओं की मनःस्थिति का परिचय प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार बिना उच्चारण के एक मन से दूसरे मन का परिचय, आदान-प्रदान होता रह सकता है। विचार सञ्चालन विद्या के ज्ञाता जानते हैं कि मनःस्थिति के अनुसार भावनाओं के उतार-चढ़ाव में एक विचित्र प्रकार की ध्वनि निसृत करते हैं और उसे सुनने की सामर्थ्य होने पर मौन रह कर ही दूसरों की बात अन्तःकरण के पर्दे पर उतरती हुई अनुभव की जा सकती है और अपनी बात दूसरों तक पहुँचाई जा सकती है।

'कारण शरीर' की कर्णेन्द्रिय साधना, दैवी संकेतों के समझने, ईश्वर के साथ वार्तालाप और भावानात्मक आदान प्रदान करने में समर्थ हो सकती है। साधनात्मक पुरुषार्थ करते हुए अपने इन दिव्य संस्थानों को विकसित करना—अपूर्णता से पूर्णता की ओर बढ़ना यही नादयोग साधना का उद्देश्य है।

—❀—

कुण्डलिनी का प्राणयोग-सूर्यवेधन प्राणायाम

प्राण तत्व एक है वही ब्रह्माण्ड में व्यापक रूप से संव्याप्त है और ब्रह्माग्नि कहा जाता है। वही पिण्ड सत्ता में समाया हुआ है और आत्माग्नि कहलाता है। इस प्रकार एक होते हुए भी विस्तार भेद से उसके दो रूप बन गये। आत्माग्नि लघु है और ब्रह्माग्नि विभु। तालाब में जब वर्षा का विपुल जल भरता है तो वह परिपूर्ण हो जाता है। यह अनुदान न मिलने पर तालाब सूखता और घटता जाता है। पानी में मलीनता भी आ जाती है। जिस प्रकार तालाब को भरा-पूरा और स्वच्छ रखने के लिए नये वर्षा जल की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार आत्माग्नि में ब्रह्माग्नि का अनुदान पहुँचाना पड़ता है। इसी का नाम प्राणायाम है।

यों गहरी साँस लेकर फेंफड़े के व्यायाम को भी आरोग्यवर्धक प्राणायाम कहते हैं। शरीर शास्त्र की दृष्टि से उसकी उपयोगिता तथा विधि-व्यवस्था बताई जाती है, साथ ही महिमा का गुण-गान भी किया जाता है। इससे अधिक आक्सिजन मिलती है और श्वास यन्त्रों का व्यायाम होता है, पर अध्यात्म शास्त्र का योग प्राणायाम उससे भिन्न है। उसमें ब्रह्माण्ड-व्यापी प्राण की अभीष्ट मात्रा आत्म प्राण तक पहुँचाई जाती है। इस प्रकार उसकी स्थिति एवं सम्पदा बढ़ती है। फलतः भौतिक सफलताओं और आत्मिक विभूतियों के समस्त अवरुद्ध मार्ग खुल जाते हैं।

ब्रह्म-प्राण को आत्म-प्राण के साथ संयुक्त करने के लिए जहाँ जीवन-क्रम में शालीनता एवं उदारता की सत्प्रवृत्तियों का अधिकाधिक समावेश करने का प्रयास करना होता है वहाँ उपासनात्मक उपक्रमों को अपनाना भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। आहार-विहार से स्वास्थ्य वृद्धि होती है साथ ही दुर्बलता और रुग्णता को निरस्त करने के लिए विशेष चिकित्सा उपचार एवं व्यायाम आदि भी अपनाने की आवश्यकता पड़ती है। प्राण शक्ति के अभिवर्धन में—कुण्डलिनी जागरण में सूर्य वेधन जैसे प्राणायामों की भी आवश्यकता होती है। योगशास्त्र में—व्यक्ति-प्राण और ब्रह्म-प्राण के सम्बन्ध और समन्वय की चर्चा इस प्रकार की है—

प्राणा वै द्विदेवत्याः एक मात्रा गृह्यते। तस्मात् प्राणा एक नामात्ता द्विमात्र हूयन्ते तस्मात्प्राण द्वन्द्वम्।

—ऐत० २।२७

प्राण एक है। पर वह दो देवताओं में—दो पात्रों में भरा हुआ है।

अगर्भश्च सगर्भश्च प्राणायामो द्विधा स्मृतः।
जपं ध्यानं विनागर्भः सगर्भस्तत्समन्वयात् ॥

—शिव पुराण

"प्राणायाम अगर्भ और सगर्भ दो प्रकार का होता है। जप और ध्यान से युक्त प्राणायाम सगर्भ होता है और इनके बिना अगर्भ कहा जाता है।"

तत्साधनं द्वयं मुख्यं सरस्वत्यास्तु चालनम्।
प्राणरोधमाधाभ्यासाहज्वी कुण्डलिनी भवेत् ॥

—योग कुण्डल्युपनिषद् १।८

उसके दो साधन मुख्य हैं—(१) सरस्वती (सुषुम्ना) का चालन (२) प्राण-रोध। अभ्यास से यह कुण्डली मारे बैठी कुण्डलिनी सीधी हो जाती है।

आध्यात्मिक प्राणायाम वे हैं जिनमें ब्रह्माण्डीय चेतना को जीव चेतना में सम्मिश्रित करके जीव सत्ता का अन्त तेजस जागृत किया जाता है। कुण्डलिनी साधना में इसी स्तर के प्राणयोग की आवश्यकता रहती है। 'सूर्य-वेधन' इसी स्तर का है। उसमें ध्यान धारणा अधिकाधिक गहरी होनी चाहिए और प्रचण्ड संकल्प शक्ति का पूरा समावेश रहना चाहिए। श्वास खींचते समय महाप्राण को—विश्व

प्राण को—पकड़ने और घसीट कर आत्मसत्ता के समीप लाने का प्रयत्न किया जाता है। श्वास के साथ प्राण तत्व की अधिकाधिक मात्रा रहने की भाव-भरी मान्यता रहनी चाहिए। साँस में आक्सिजन की जितनी अधिक मात्रा होती है उतनी ही उसे आरोग्यवर्धक माना जाता है। आक्सिजन की न्यूनाधिक मात्रा का होना क्षेत्रीय प्रकृति परिस्थितियों पर निर्भर है। किन्तु प्राण तो सर्वत्र समान रूप से संव्याप्त है। उसमें से अभीष्ट मात्रा संकल्प शक्ति के आधार पर उपलब्ध की जा सकती है। सूक्ष्म जगत में—अध्यात्म क्षेत्र में श्रद्धा को ही सबसे प्रबल और फलदायक माना गया है। साधनात्मक कर्मकाण्डों का फल परिपूर्ण मिलना - न मिलना अथवा स्वल्प मिलना कर्मकाण्डों के विधि-विधानों पर नहीं साधक की श्रद्धा पर निर्भर रहता है। श्रद्धा की न्यूनता ही साधनाओं के निष्फल जाने का प्रधान कारण होता है। जो इस सुनिश्चित तथ्य को जानते हैं वे सभी साधना उपचारों में गहनतम श्रद्धा का समावेश करने के लिए प्रचण्ड संकल्प शक्ति का उपयोग करते हैं।

साँस खींचते समय प्राण ऊर्जा का वायु के साथ प्रचुर मात्रा में समावेश होना, उसका सूक्ष्म शरीर में प्रवेश करना—सुषुम्ना (मेरुदंड) मार्ग से इड़ा धारा (वाम भाग के ऋण विद्युतीय शक्ति प्रवाह) द्वारा मूलाधार तक पहुँचना—वहाँ अवस्थित प्रसुप्त चिनगारी को झकझोरना, थप-थपाना, जागृत करना यह सूर्य-वेधन प्राणायाम का पूर्वार्ध है। उत्तरार्ध में प्राण को पिंगला मार्ग से (मेरुदंड के दक्षिण भाग के धन विद्युत प्रवाह) में होकर वापिस लाया जाता है। जाते समय का अन्तरिक्षीय प्राण शीतल होता है, ऋण धारा भी शीतल मानी जाती है इसलिए इड़ा को—पूरक को चन्द्रवत् कहा गया है। चन्द्रनाड़ी कहने से यही प्रयोजन है। लौटते समय अग्नि उद्दीपन–प्राण प्रहार की संघर्ष क्रिया से ऊष्मा बढ़ती और प्राण में सम्मिलित होती है। लौटने का पिंगला मार्ग धन विद्युत का क्षेत्र होने से उष्ण माना गया है। दोनों ही कारणों से लौटता हुआ प्राण वायु उष्ण रहता है इसलिए उसे सूर्य की उपमा दी गई है। इड़ा, चन्द्र और पिंगला सूर्य है। पूरक चंद्र और रेचक सूर्य है। ऐसा ही प्रतिपादन साधना विज्ञान के आचार्य करते रहे हैं।

● सोई हुई शक्ति को जगाना—लेटी हुई गिरी पड़ी क्षमता को सक्रिय बनाना शक्ति चालन है। यों मुद्रा प्रसङ्ग में एक शक्ति चालिनी मुद्रा भी है और उसका प्रयोग भी कुण्डलिनी जागरण उपचार में किया जाता है। साथ ही शक्ति चालन का अर्थ वह भी है जो कुण्डलिनी जागरण शब्द से प्रति ध्वनित होता है। प्रसुप्त स्थिति की मूर्च्छना जब दूर हो जाती है और प्राण शक्ति प्रखर एवं सक्रिय होती है तो सारे अवसाद अभाव दूर हो जाते हैं। अन्तःस्थिति में उभरी हुई प्रखरता का बाह्य क्षेत्र की बढ़ी हुई तेजस्विता के रूप में परिचय मिलने लगता है। शक्ति के चल पड़ने पर प्रगति के समस्त आधार अग्रगमन करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं—

आधारकमले सुप्तां चालयेत्कुण्डलीं दृढ़ाम्।
अपानवायुनारुह्य बलादाकृष्य बुद्धिमान्।
शक्तिचालनमुद्रेयं सर्वशक्तिप्रदायिनी ॥ शिव सं०

● मूलाधार चक्र में स्थित प्रसुप्त पड़ी हुई कुण्डलिनी शक्ति को प्राण वायु द्वारा चलाने और जगाने वाली शक्ति चालन क्रिया सर्व शक्ति प्रदायिनी है।

विहाय निद्रां भुजगी स्वयमूर्ध्वं भवेत्खलु।
तस्मादभ्यासनं कार्यं योगिनां सिद्धिमिच्छता ॥
यः करोति सदाभ्यासं शक्तिचालनमुत्तमम्।
येन विग्रहसिद्धिः स्याद् अणिमादिगुणप्रदा ॥
—शिव संहिता

● जो योगी सिद्धि की इच्छा से शक्ति चालन का नित्य अभ्यास करता है, उसके शरीर में सो रही सर्पिणी कुण्डलिनी जागृत होकर स्वयं ही ऊर्ध्वमुख हो जाती है। सदा अभ्यास करने पर उसे सिद्धि मिलती है तथा अणिमादि विभूतियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

कुण्डल्येव भवेच्छक्तिस्तां तु चालयेद्बुधः।
स्वस्थानादाभ्रुवोर्मध्यं शक्तिचालनमुच्यते ॥
तत्साधने द्वयं मुख्यं सरस्वत्यास्तु चालनम्।
प्राणरोधमथाभ्यासादृज्वीकुण्डलिनी भवेत्।
—योग कुण्डल्युपनिषद

● कुण्डली ही मुख्य शक्ति है, ज्ञानी साधक उसका

चालन करके दोनों भौंहों के मध्य में ले जाता है तो वही शक्तिचालन है। कुण्डलिनी को चलाने के दो मुख्य साधन हैं, सरस्वती का चालन और प्राण निरोध, अभ्यास द्वारा लिपटी हुई कुण्डलिनी सीधी हो जाती है।

तस्मात् चालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुन्धतीम्।
तस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते॥
येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम्।
किमत्र वहुनोक्तेन कालं जयति लीलया॥

—हठयोग प्रदीपिका

इसलिए सुखपूर्वक सो रही अरुन्धती (कुण्डलिनी) का नित्य सञ्चालन आवश्यक है। इस शक्तिचालन से योगी रोगों से मुक्त हो जाता है। जिसने शक्ति-सञ्चालन कर लिया, वह योगी सिद्धि-भाजन है। वह कालजित् कहा जा सकता है।

प्राण के प्रहार से अग्नि के उद्दीपन प्रज्वलन का उल्लेख साधना ग्रन्थों में जगह-जगह पर हुआ है। यह वही अग्नि है जिसे योगाग्नि, प्राण ऊर्जा, जीवनी शक्ति या कुण्डलिनी कहते हैं। आग में ऐसा ही ईंधन डाला जाता है जिसमें अग्नि तत्व की प्रधानता वाले रासायनिक पदार्थ अधिक मात्रा में होते हैं। कुण्डलिनी प्राणाग्नि है उसमें सजातीय तत्व का ईंधन डालने से उद्दीपन होता है। प्राणायाम द्वारा इड़ा-पिंगला के माध्यम से अन्तरिक्ष से खींचकर लाया गया प्राण-तत्व मूलाधार में अवस्थित चिनगारी जैसी प्रसुप्त अग्नि तक पहुँचाया जाता है तो वह भभकती है और जाज्वल्यमान लपटों के रूप में सारी जीवन सत्ता को अग्निमय बनाती है। यही कुण्डलिनी जागरण है। अग्नि का उल्लेख मूलाधार स्थित प्राण ऊर्जा के लिए ही हुआ है—

आदेहमध्यकटयन्तमग्निस्थानमुदाहृतम्।
तत्र सिन्दूरवर्णोऽग्निर्ज्वलनं दशपञ्च च॥

—त्रिशिखोपनिषद

कटि से निम्न भाग में अग्नि स्थान है। वह सिन्दूर के रङ्ग का है। उसमें पन्द्रह घड़ी प्राण को रोक कर अग्नि की साधना करनी चाहिए।

नाभेस्तिर्यगधोर्ध्वं कुण्डलिनीस्थानम्। अष्टप्रकृतिरूपाऽष्टधा कुण्डलीकृता कुण्डलिनी शक्तिर्भवति। यथावद्वायुसंचारं जलान्नादीनि परितः स्कन्धं-पार्श्वेषु निरुध्यैनं मुखेनैव समावेष्ट्य ब्रह्मरन्ध्रं योगकालेऽपानेनाग्निना च स्फुरति।

—शाण्डिल्योपनिषद

नाभि से नीचे कुण्डलिनी का निवास है। यह आठ प्रकृति वाली है। इसके आठ कुण्डल हैं। यह प्राण वायु को यथावत करती है। अन्न और जल को व्यवस्थित करती है। मुख तथा ब्रह्मरन्ध्र की अग्नि को प्रकाशित करती है।

तडिल्लेखा तन्वी तपन शशि वैश्वानर मयी।
तडिल्लता समरुचिर्विद्युल्लेखेन भास्वती॥

बिजली की बेल के समान, तपते हुए चन्द्रमा के समान, अग्निमयी वह शक्ति दृष्टिगोचर होती है।

मूलाधारादा ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्तं सुषुम्ना सूर्याभा। तन्मध्ये तडित्कोटि समा मृणाल तन्तु सूक्ष्मा कुण्डलिनी। तत्र तमोनिवृत्ति। तद्दर्शनात्सर्व पाप निवृत्तिः।

—मण्डल ब्राह्मणोपनिषद

मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक सूर्य के प्रकाश जैसी सुषुम्ना नाड़ी फैली हुई है। उसी के साथ कमल तन्तु से सूक्ष्म कुण्डलिनी शक्ति बँधी हुई है। उसी के प्रकाश से अन्धकार दूर होता है और पापों की निवृत्ति होती है।

देहमध्ये ब्रह्मनाडी सुषुम्ना सूर्य रूपिणी पूर्ण-चन्द्राभा वर्तते। सा तु मूलाधारादारभ्य ब्रह्मरन्ध्र-गामिनी भवति। तन्मध्ये तटकोटिसमानकान्त्या मृणालसूत्रवत् सूक्ष्माङ्गी कुण्डलिनीति प्रसिद्धाऽस्ति तां दृष्टा मनसैव नरः सर्वपापविनाशद्वारा मुक्तो भवति।

—अद्वय तारकोपनिषद

देह में ब्रह्मनाडी सुषुम्ना परम प्रकाशवान है। वह मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र तक जाती है। उसके साथ सूक्ष्म तन्तु में जुड़ी अति ज्वलन्त कुण्डलिनी शक्ति है। उसका भावनात्मक दर्शन करने से मनुष्य सब पापों से और बंधनों से छुटकारा प्राप्त कर लेता है।

आधार चक्रनिलयां बिसतन्तुतन्वी
विद्युत्प्रभां सकलमन्त्रमयीं पवित्राम्।
योगैकगम्यपरमामृतवर्षधारां
सारां महेशसखिकुण्डलिनीं नमामि।

मूलाधार चक्र में निवास करने वाली अग्नि रूप; बिजली के समान प्रकाशवान, तन्तु रूप, परम पवित्र, योगियों के लिए गम्य, अमृत वर्षा करने वाली; शिव सहचरी, कुण्डलिनी को नमस्कार।

मूलाधारस्य वह्न्यात्मतेजोमध्ये व्यवस्थिता।
जीवशक्तिः कुण्डलाख्या प्राणाकाश तैजसी।
—रुद्र तन्त्र

मूलाधार में निवास करने वाली आत्म तेजरूपी अग्नि, जीवशक्ति है। प्राण रूपी आकाश में प्रकाशवान कुण्डलिनी है।

जब वह दिव्य अग्नि ऊपर जाती है तो उसकी अनुभूति अन्तः उत्साह के रूप में तो होती ही है साथ-साथ शरीर में भी ऐसा लगता है कि मेरुदंड के निकटवर्ती भाग में अथवा शरीर के अन्य किसी अवयव में स्फुरण जैसी विचित्र हलचलें होती हैं—

यथा कुण्डलिनी देहेस्फुरत्यब्ज इवालिनी।
तथा संविदुदेत्यन्त र्मृदुस्पर्शवशोदया॥
—महायोग विज्ञान

जब कुण्डलिनी देह में स्फुरण करती है तो त्वचा पर भ्रमर, कमल विचरने जैसे मृदुल दिव्य स्पर्श का अनुभव होता है।

अंगे पिपीलिकारोहे यथास्पर्शः प्रतीयते।
मेरुदंडे तथा वायोः स्पर्शः स्यादूर्ध्वरोहणो॥
—योग रसायनम्

जैसे किसी अङ्ग में चींटी के चढ़ने का स्पर्श प्रतीत होता है, वैसे ही मेरुदण्ड में ऊपर चढ़ने वाले प्राण का स्पर्श प्रतीत होता है।

दिनैः कतिपयै रेवमभ्यासं कुर्वतो ध्रुवम्।
मेरुदंडे विशेत्प्राणो वंशरंध्रे यथानिलः॥
—योग रसायनम्

कुछ दिन तक इस प्रकार अभ्यास करने पर निश्चय ही प्राण मेरुदंड में उसी प्रकार प्रविष्ट होते हैं, जिस प्रकार बाँस की पोल में हवा।

प्राण का अग्नि पर प्रहार—यही है कुण्डलिनी जागरण की प्रधान प्रक्रिया। मेरुदंड के वाम भाग के विद्युत प्रवाह को इडा कहते हैं। नासिका से वायु खींचते हुए उसके साथ प्रचंड प्राण प्रचुर मात्रा में घुला होने की भावना की जाती है। खींचे एक श्वास को मेरुदंड मार्ग से मूलाधार चक्र तक पहुँचने की संकल्पपूर्वक भावना की जाती है। यह मान्यता परिपक्व की जाती है कि निश्चित रूप से इस प्रकार अन्तरिक्ष से खींचा गया और श्वास द्वारा मेरुदण्ड मार्ग से प्रेरित किया गया प्राण मूलाधार तक पहुँचता है और उस पर आघात पहुँचा कर जगाने का प्रयत्न करता है। बार-बार लगातार प्रहार करने की भावना श्वास-प्रश्वास के द्वारा की जाती है। मेरुदंड मार्ग से मूलाधार तक इडा शक्ति के पहुँचने का विश्वास दृढ़ता पूर्वक चित्त में जमाया जाता है।

प्रहार के उपरान्त प्राण को वापिस भी लाना पड़ता है। यह वापिसी दूसरी धारा पिंगला द्वारा होती है। पिंगला मेरुदंड में अवस्थित दक्षिण पक्ष की प्राण धारा को कहते हैं। इडा से गया प्राण मूलाधार की प्रसुप्त सर्पिणी महा अग्नि पर आघात करके—झकझोर कर—पिंगला मार्ग से वापिस लौटता है। यह एक प्रहार हुआ।

दूसरा इससे उलटे क्रम से होगा। दूसरी बार दाहिनी ओर से प्राण वायु का जाना और बाँई ओर से लौटना होता है। इस बार पिंगला से प्राण का प्रवेश और इडा से वापिस लौटना है। प्रहार पूर्ववत्। एकबार इडा से जाना—पिंगला से लौटना। दूसरी बार पिंगला से जाना इडा से लौटना। यही क्रम जब तक प्राणायाम प्रक्रिया चलानी हो तब तक चलना चाहिए। इसे अनुलोम-विलोम क्रम कहते हैं। यही कुण्डलिनी जागरण के लिए प्रयुक्त होने वाला सूर्यवेधन प्राणायाम है।

सूर्यवेधन' प्राणायाम का महत्व माहात्म्य बताते हुए हठयोग प्रदीपिका में कहा गया है—

कपाल शोधनं वात दोषघ्नं कृमि दोषत्हृतम्।
पुनः पुनरिदं कार्यं सूर्य वेधन मुत्तमम्।

यह कपाल शोधन, वात रोग निवारण, कृमि दोष विनाशक है। इस सूर्यवेधन प्राणायाम को बार-बार करना चाहिए।

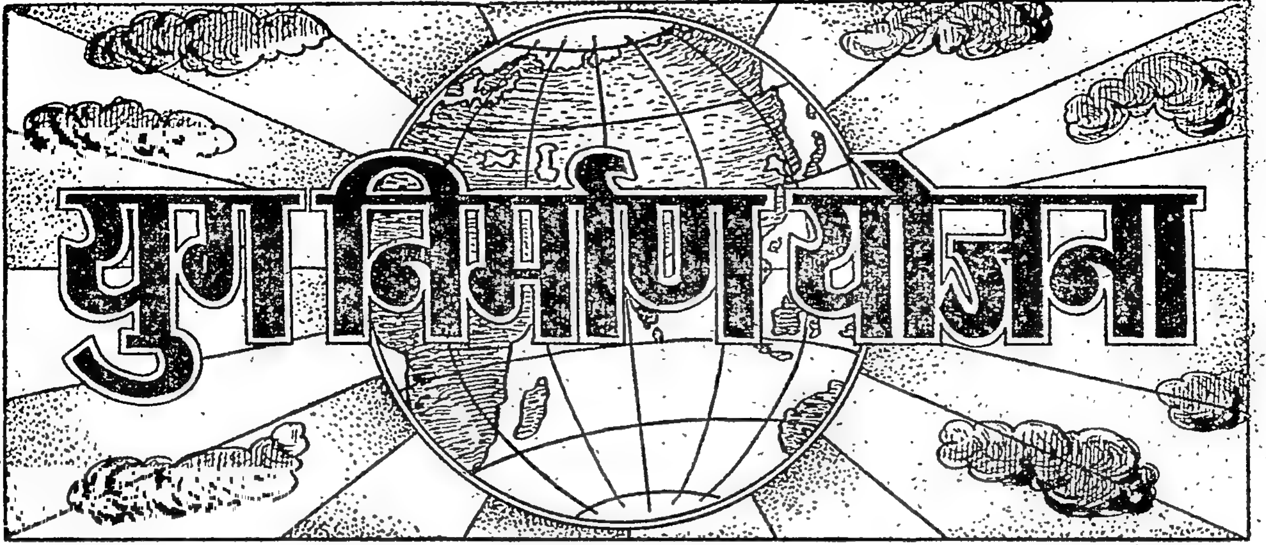
—❀—

अनुक्रमणिका

१-सुबह क्या कहेगी (कविता) १
२- सही उपचार–आत्मीय स्नेह और सच्चा प्यार २
३- अतीत का गौरव बनाम उज्वल भविष्य ३
४- शाश्वत सौरभ के महकते जीवन–पुष्प–खलील जिब्रान ६
५- सेवा करुणा के मूर्ति मान प्रतीक–ठक्कर बापा ९
६- व्यक्ति का ही नहीं समाज का निर्माण १२
७- संस्कृति और साहित्य के मर्मज्ञ हरिऔध जी १४
८- ज्ञान साधना में निरत तपस्वी–यूक्लिड १७
९- राजनीति का आधार धर्म नीति ही बने २०
१०- उच्चतम नैतिक साहस के प्रतीक–डेलगालो २३
११- राजस्थान के जन आन्दोलक–विजयसिंह पथिक २६
१२- कठिनाइयाँ भी हमें विचलित न कर सकें ३०
१३- संकल्पों का धनी–अलक्षेन्द्र सिकन्दर ३२
१४- माइकेलहोराल्ड-जिसने मित्रराष्ट्रों को बचाया ३५
१५- न्याय और सद्व्यवहार पालतू पशुओं के साथ भी बरता जाय ३८
१६- डाकू को देश भक्त बनाने वाली लक्ष्मी बाई ४१
१७-सेवा व्रती--'बा' ४२
१८- मानव सेवा की प्रतिमूर्ति भगिनी-निवेदिता ४५
१९- शरीर मन के नियन्त्रण पर चलता है ४८
२०- सफल चित्रकार असफल मनुष्य वानगॉग ५०
२१- देश प्रेम और धर्म निष्ठा के अनूठे प्रतीक– अशफाक उल्ला ५३
२२- प्राण वान कवि-महा प्राण निराला ५६
२३- नींद क्यों कैसे और कितनी ५९
२४- दीर्घ जीवी होना कठिन नहीं है ६२
२५- युग निर्माण विद्यालय का आगामी सत्र ६४

सम्पर्क सूत्रः–युग निर्माण योजना मथुरा

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो योनः प्रचोदयात् ।



नैतिक एवं सांस्कृतिक पुनरुत्थान की मासिक पत्रिका

वर्ष १५ अङ्क ११ | मई १९७७ | वार्षिक मूल्य १२) रुपये दस वर्ष का चन्दा १००)

"सुबह क्या कहेगी"

अगर हम नहीं देश के काम आये ।
धरा क्या कहेगी गगन क्या कहेगा,
किरण प्राप्त आह्वान है ठोस श्रमका,
चलो आइना तोड़ रख दें अहम का,
अगर वक्त पर हम नहीं जाग पाये,
सुबह क्या कहेगी पवन क्या कहेगा ?
मधुर गन्ध का अर्थ है खूब महके,
पड़े संकटों की भले मार चहके,
अगर हम नहीं पुष्प सा मुस्कराये
व्यथा क्या कहेगी चमन क्या कहेगा ?
वहुत हो चुका, स्वर्ग भू पर उतारें,
करें कुछ नया, स्वस्थ सोचें विचारें
अगर हम नहीं ज्योति वन झिल मिलाये,
निशा क्या कहेगी भुवन क्या कहेगा ?

मधु सूदन शर्मा "साथी"

सही उपचार—आत्मीय स्नेह और सच्चा प्यार

फ्रान्स की विश्व विख्यात नगरी में कुछ व्यक्ति एक पागल आदमी को जो शायद उनका ही रिश्तेदार था पकड़ कर अस्पताल ले जा रहे थे। जैसे ही वे सब लोग वहां पहुँचे और पागल को डाक्टर के सामने बिठाया तथा उसे पकड़ कर लाने वाले सम्बन्धी थोड़ा निश्चिन्त होकर डाक्टर से बात करने लगे वैसे ही पागल आदमी वहाँ से भाग खड़ा हुआ। बात को अधूरी ही छोड़कर उसके साथ आये लोग पागल के पीछे भागे और पागल था कि रुकने का नाम ही नहीं ले रहा था। वह अपने साथ दौड़ रहे लोगों से अधिक तेजी से दौड़ रहा था। और उसके पीछे भागने वाले लोग उसे पकड़ने के लिए हांपते हुए भाग रहे थे।

तभी अचानक एक व्यक्ति ने जोर से पुकार कर उससे कहा—रुक जाओ नहीं तो मैं तुम्हें गोली मार दूँगा।

चीखने वाले के हाथ में कोई लोहे का टुकड़ा था। भाग रहे पागल ने पीछे की ओर मुड़ कर देखा तो उसके पाँव जहाँ की तहाँ ठिठक गये और वह जोर जोर से रोने लगा—'तुम लोग जिसके पास मुझे ले जा रहे हो वह राक्षस है। वह मुझे खा जायेगा। मुझे अमुक के पास ले चलो वह मेरा मित्र है मुझे बहुत अच्छी तरह रखेगा।

परन्तु उसके सम्बन्धियों की निगाह में तो यह पागल का प्रलाप ही था निरा पागलपन का उन्माद ही था।' वे उसे पकड़कर उसी अस्पताल में ले गये। अबकी बार विशेष सावधानी बरती थी ताकि वह वहाँ से भाग न जाये और सचमुच पागल को उसकी दृष्टि में राक्षस खाने में—विक्षिप्त व्यक्तियों के यातना गृह में छोड़ दिया गया।

उस समय मानसिक चिकित्सागृहों की बड़ी दुरवस्था थी यूरोपीय देशों में। उस जमाने में पागलों के साथ अब जैसा सद्व्यवहार नहीं किया जाता था और नहीं कोई वैज्ञानिक उपचार। मानसिक चिकित्सागृह में प्रत्येक पागल को मोटी-मोटी जंजीरों में जकड़ दिया जाता और जब-तब उनका दिमाग ठीक करने के लिए हण्टरों से मारा जाता। पागलों के इलाज की यही एक आम व्यवस्था थी।

ऐसे समय में जिनके पास रहने की आकांक्षा उक्त पागल ने व्यक्त की थी वे विक्षिप्तों की यह दुरवस्था देख कर रो उठे और परमात्मा के नाम पर जनता और सरकार से पागलों से लिए दया की भीख माँगने लगे। उन्होंने लोगों तथा अधिकारियों को यह समझाना आरम्भ किया कि जिन्हें आप लोग पागल कह कर प्रताड़ित करते हैं, उनके साथ अमानुषी व्यवहार करते हैं वे भी आदमी हैं और आदमी होने के नाते उनसे घृणाकर यह अत्याचार नहीं ही किया जाना चाहिए। पागल हो गये हैं ये लोग तो इसमें इनका क्या दोष है, इनने क्या अपराध किया है जो इन्हें इस बुरी तरह मारा जाता है। जिसको अपना ही होश नहीं उसे दोषी ठहराना कहाँ की मानवता है। उनके साथ तो सहानुभूति का व्यवहार किया जाना चाहिए। मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि यदि इनके साथ प्यार स्नेह सहानुभूति का व्यवहार किया जाय तो इनमें से कई एक तो जल्द ही ठीक हो जायेंगे।

परन्तु दुराग्रही अधिकारियों को उनके कथन की सत्यता पर विश्वास ही नहीं होता था। उन्हें तो यही लगता था कि जो भी कुछ वे कर रहे हैं वही ठीक है—आपकी बात को मानकर हम पागलों से सद्व्यवहार करें उनसे प्रेम करे इसका मतलब यह कि हम भी पागल बन जायें। बहुत खूब कहते हो मित्र तुम्हारे कहने में लग कर तो बेचारे उन लोगों का सत्यानाश करने का ही पाप करना पड़ेगा। उनके उपचार का जो ढंग है उसे न अपनाया जाय तो आप क्या समझते हैं कि वे ठीक हो सकेंगे।

इस व्यक्ति की अन्तरात्मा को लोगों ने समझा तो क्या? ज्यों ज्यों उनके विषय में यह धारणा फैलती गयी लोगों का यह विश्वास पक्का होता गया कि उसका दिमाग संतुलन बिगड़ गया है और उन्हें भी उपचार की आवश्यकता है। विक्षिप्त मस्तिष्क के रोगियों की दुर्दशा देखकर उनका इतना पक्ष लेने वाले पिनेल को कुछ ही दिनों में पागल घोषित कर दिया गया और उनसे सावधान रहने की

(शेष पृष्ठ २५ पर)

अतीत का गौरव बनाम उज्वल भविष्य

यह तो सभी जानते हैं कि भारत का प्राचीन ज्ञान विज्ञान अत्यधिक गौरवपूर्ण है। देश और राष्ट्र को आगे बढ़ाने में जिस प्रतिभा की आवश्यकता रहती है उसका हमारे देश में अभाव नहीं रहा है। फिर भी हम अपनी प्रगति के लिए पश्चिमी देशों की ओर क्यों ताकते हैं। जो पूंजी हमारे पास है उसकी ओर से आँख क्यों मूंदे रहते हैं। न केवल आख मूंदे रहना वरन उपलब्ध तथ्यों को कवि कल्पना मानने एवं उन तथ्यों से हल्के स्तर की आयातित ज्ञान सम्पदा में ही अर्थवत्ता खोजने की प्रवृत्ति हमारी आत्म विस्मृति ही नही आत्म प्रवंचना का भी परिचय देती है।

उदाहरण के लिए सौ डेढ़ सौ साल पहले जब विमान का आविष्कार नहीं हुआ था तो हम अपने शास्त्रों में आये ऐसे उल्लेखों को किसी मूल्य पर स्वीकार करने के लिए राजी नहीं थे। उल्टे उनकी हंसी उड़ाया करते थे। और इस विचार की भी कि मनुष्य भी कहीं आकाश में पशु पक्षियों की भांति उड़ सकता है। लेकिन जब वायुयान का आविष्कार कर लिया गया तो हमें विश्वास हुआ कि ऐसा भी सम्भव है। और प्राचीन ग्रन्थों, इतिहासों के इन विवरणों को बड़े झिझकते झिझकते स्वीकार किया जिनमें कि हवा में उड़ने का उल्लेख आता था।

सौ डेढ़ सौ वर्ष पूर्व की बातों को जाने भी दें। सोचा जा सकता है उस समय हम शताब्दियों से चली आ रही दासता को भोग रहे थे। फलस्वरूप हमारा आत्म विश्वास कम हुआ था और हम इस संताप की अग्नि में दिनरात जलते झुलसते रहे थे कि बौद्धिक और वैज्ञानिक प्रतिभा का हमारे पास अभाव ही रहा है। लेकिन अब हमें स्वतंत्र हुए तीस वर्ष हो गये हैं। फिर भी भारतीय ज्ञान विज्ञान के प्रति हमारा उदासीनता का भाव इतना गहरा है कि अभी भी हम उसी लीक पर चल रहे हैं।

कारण चाहे जो भी रहे हों हमारी इस मानसिक संरचना के, जिसमें कि हम प्राचीन भारतीय ज्ञानविज्ञान के प्रति उदासीन रह गये। और हमने पश्चिमी सभ्यता के अन्धानुकरण को ही श्रेयस्कर समझा। पर इसके परिणाम स्वरूप ज्ञान विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में पाश्चात्य विचारों तथा सिद्धान्तों का जो आक्रमण सा हुआ उसने हमें पंगु बना दिया। तथा इसी लिए हम निर्माण से लेकर विकास तक सभी दिशाओं में पश्चिम का सहारा लेने के लिए बाध्य से हो गये।

जैसे भवन निर्माण के लिए अभी भी हम पूर्णतया पश्चिमी प्रविधियों पर आश्रित हैं। लेकिन तथ्य यह है कि हमारे देश में नगर नियोजन की कला सैकड़ों वर्ष पूर्व अपने विकास के चरम को प्राप्त कर चुकी है। प्रसिद्ध वास्तुकलाविद् ई० बी० हैवैल ने भारतीय नगर नियोजन कला के सन्दर्भ में कहा है—"यूरोप ने वास्तुकला, भवन निर्माण कला में निःसंदेह विस्मित कर देने वाली प्रगति की है पर यूरोप का विकसित विज्ञान अभी तक भी भारत की नगर निर्माण कला के सिद्धान्तों से आगे नहीं बढ़ पाया है। लगभग दो हजार वर्ष पूर्व विनिर्मित अजन्ता एलोरा कीं गुफाओं के भित्तिचित्र तथा भव्य मंदिरों और प्रासादों में दृष्टिगोचर होने वाली श्रेष्ठतम कला कारिता को देखकर इसके प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त किये जा सकते है।

भारतीय मनीषियों ने न केवल भवन निर्माण की कला में अपनी सिद्धहस्त दक्षता को प्राप्त किया, वरन् मनन चिन्तन द्वारा ऐसे सिद्धांतों का भी निर्माण किया जिनके आधार पर आज भी उसी स्तर को प्राप्त किया जा सकता है। यों भारत की ज्ञानसम्पदा को अपने गर्भ में समाहित रखने वाले असंख्यों ग्रन्थ आक्रमण कारी विदेशी शक्तियों की विनाश लीला की बलि चढ़ गये हैं। फिर भी अब तक एक सौ इकतालीस ऐसे ग्रन्थों का पता लगाया जा चुका है जिनमें वस्तुकला और शिल्पशास्त्र का विस्तृत विवेचन हुआ है। 'विश्वकर्म प्रकाश' "भानसार तथा भोज देव कृत 'समरांगण सूत्रधार आदि ग्रन्थ आज भी सुगमता से उपलब्ध हैं। शिल्प शास्त्र के विशेषज्ञ बताते हैं कि इन ग्रन्थों में शिल्प कला के ऐसे ऐसे सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है जिन्हें पढ़कर ही विस्मय विमुग्ध हो

करना पड़ता है। लेकिन न इनके अध्ययन का प्रचलन है और न अध्यापन की कोई व्यवस्था।

एक और सबल उदाहरण है भारतीय ज्ञान विज्ञान का यह है अंक शास्त्र। आधुनिक प्रौद्योगिकी मूलतः अंक गणित पर ही आधारित है उसके बिना उद्योग प्रबन्ध और व्यवसाय का जरा भी काम नहीं चलने का। और गणित के अंकों का आविष्कार सर्वप्रथम भारत में ही हुआ। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान जी० वी० हालस्टेड ने इस देन के लिए विश्व को भारत का ऋणी बताते हुए लिखा है—'हिन्दुओं के शून्य के आविष्कार ने मानव जाति की बुद्धि और शक्ति की प्रगति में अभूतपूर्व योगदान दिया है।

गणित के अंकों का सर्वप्रथम उपयोग उन लोगों के इस आक्षेप को भी 'निरस्त कर देते हैं जो भारत की दीन दुर्दशा का सबसे बड़ा कारण यहां की आध्यात्मिकता को बताते हुए नहीं अघाते। तथा यह कहते हैं कि भारत के प्राचीन ऋषि मुनियों ने यहां की जनता को ऐहिक प्रगति से विमुखकर निरी आत्मिक उन्नति के लिए ही प्रेरित किया। जबकि सचाई यह है कि एकांगी भौतिक उन्नति या एकांगी आत्मिक विकास हमारा लक्ष्य कदापि नहीं रहा है। वरन हमारे पूर्वजों ने भौतिक और आत्मिक दोनों का ही समन्वय कर अभ्युत्थान (लौकिक उन्नति) तथा निःश्रेयस् (मोक्ष) को जीवन का परम लक्ष्य निरुपित किया है। भारतीय धर्म की सनातन परिभाषा भी यही रही है

यतोऽभ्युदयः निःश्रेयस् करावु भी स धर्मः

(आचार्य शंकर')

"जो इस लोक में उन्नति (अभ्युदय) और परलोक में कल्याण (निःश्रेयस) करने वाला दोनों ही हो वह धर्म है।" यहां धर्म के अर्थ की विवेचना करना अभीष्ट नही है। कहा यही जा रहा है कि भारतीय संस्कृति ने आत्म कल्याण के साथ साथ ऐहिक प्रगति को भी अपना लक्ष्य बनाया है। और उसे साधने का प्रयत्न किया है। तभी तो आत्मिक क्षेत्र मे चमत्कारिक उपलब्धियों के साथ साथ भौतिक क्षेत्र में भी विस्मय जनक सफलतायें अर्जित की है। और वे सफलतायें इस स्तर की रही कि गहन विश्लेषण बुद्धि से देखा जाय तो आज का विज्ञान उन्हें दोहरा रहा है जैसे पश्चिमी वैज्ञानिकों से सैकड़ों वर्षों पूर्व आर्य भट्ट ने इस बात का पता लगाया था कि पृथ्वी घूमती है और सूर्य स्थिर है। तथा यह भी कि २४ घण्टे में पृथ्वी सूर्य की एक परिक्रमा लगा लेती है।

अब से दो हजार वर्ष पूर्व विक्रमादित्य के समय में अपना देश नक्षत्र विद्या में उन तथ्यों को खोज चुका था जो कि पश्चिमी वैज्ञानिकों ने सैकड़ों वर्ष बाद मालूम किये। एक इतिहासकार ने अपने एक निबन्ध में यह बात बड़े ही सुन्दर ढंग से कही है—जिस समय गैलीलियो के प्रतिपादन को न्याय की तराजू पर तोला जा रहा था, तथा परम्परागत धारणाओं को टूटने से बचाने के लिए जो कि असत्य और निराधार थी तथा टूट ही जानी थी, उसे मृत्युदण्ड सुनाया जा रहा था उस समय भारतीय वैज्ञानिक अपनी वेध शाला में बैठे हुए उस बात से सैकड़ों कदम आगे के निष्कर्ष निकाल रहे थे।"

बाग में एक फल के गिरने पर पृथ्वी की आकर्षण शक्ति का पता लगाने के लिए न्यूटन की बौद्धिक प्रतिभा के आज भी गीत गाये जाते हैं पर हम भास्कराचार्य को जो न्यूटन से भी पांच सौ वर्ष पूर्व हुये थे—क्यों भूल जाते हैं जिन्होंने अपने ग्रन्थ 'सिद्धान्त शिरोमणि' में लिख दिया था कि—'पृथ्वी का कोई आधार नहीं है। वह अपनी ही शक्ति से स्थिर है। पृथ्वी में आकर्षण शक्ति है, इसी कारण आकाश में फेंकी हुई भारी वस्तुओं को वह अपनी ओर खींचती है। सर्व प्रथम यह तथ्य उद्घाटित करने का श्रेय भी भास्कराचार्य को ही जाता है कि—पृथ्वी गोल है, समतल नहीं।"

न केवल शिल्पकला विज्ञान, अंक विद्या, ज्योतिष तथा भूगोल के क्षेत्र में वरन साहित्य, संगीत और अन्य कलाओं में भी भारतीय प्रतिभा ने निष्णात दक्षता प्राप्त की थी। भारतीय साहित्य शास्त्र विश्व का सर्वाधिकसूक्ष्म और विकसित साहित्य शास्त्र है। अन्य किसी भी भाषा का साहित्य इतना समृद्ध और लालित्य पूर्ण नहीं है जितना कि संस्कृत भाषा का। रस सम्प्रदाय, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वन्यात्मकता तथा गत्यात्मकता के सिद्धान्तों की जितनी गहन और जितनी

सूक्ष्म अभिव्यक्ति संस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषाओं में हुई है उतनी अन्य भाषाओं में अन्यत्र कहीं भी दिखाई नहीं देती। लेकिन साहित्य का आधुनिक विद्यार्थी इन सब के अध्ययन से वंचित ही रह जाता है। भारतीय भाषाओं के आधुनिक लेखक प्राचीन साहित्य-ऋषियों के इतने परिश्रम से खोजे गये मुक्ताओं से लाभ उठाने की उपेक्षा फैशन के तौर पर पश्चात्य साहित्य के मानदण्डों की वैशाखियों के सहारे चलना ही अधिक उचित समझते है। जैसे जैसे हम समय के पथ पर आगे की ओर बढ़ते जाते हैं, वैसे वैसे यह चिन्ता अपनी भीषणता के साथ उत्पन्न होकर बढ़ने लगती है कि कहीं कालान्तर में ही इन प्राचीन मूल ग्रन्थों को पढ़ने वाले भी उपलब्ध हो सकेंगे अथवा नहीं।

केवल साहित्य के विषय में ही यह चिन्ता नहीं है वरन् प्राचीन भारतीय ज्ञान की उन समस्त शाखाओं के सम्बन्ध में है जिन्हें कई कई जीवन की भेंट चढ़ा कर और असंख्य प्रतिभाओं को लगाकर विकसित किया गया है। चूंकि यह सारी ज्ञान सम्पदा देव भाषा संस्कृत में लिपिबद्ध की गयी इसलिए संस्कृत की उपेक्षा के साथ ही इस ज्ञान सम्पदा को भी उपेक्षित किया जाने लगा। उपेक्षा की यह प्रवृत्ति-संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन को निरुत्साहित करने का यह रवैया उसी समय से आरम्भ हुआ जबसे हमने अपने भाग्यविधाता बदले या कि हमने अपनी स्वतंत्रता खोई और विदेशी आक्रांताओं के समक्ष घुटनें टेके। हमारी पराधीनता के साथ ही हमारी ज्ञानविज्ञान की धारा का प्रवाह भी अवरुद्ध हुआ। हालांकि शोध और अनुसधान का कार्य तो हमारे हाथों और पैरों में दासता के वेड़ियाँ पड़ने के वावजूद भी चलता रहा। प्रतिभा और जिज्ञासा का उत्स तो तव भी नहीं रोका जा सका, लेकिन ज्ञान विज्ञान की धारा आगे वहने से ही रुक गयी तो विकास भी बन्द होना ही था हो गया।

मुगल काल से भी अधिक बुरी परिस्थितियां ब्रिटिश काल में रहीं। उस समय तो फिर भी ज्ञान सम्पदा में श्रीवृद्धि के प्रयासों को यदाकदा प्रोत्साहन मिलता रहता था। लेकिन भारत की प्राकृतिक, आर्थिक सम्पदा के दोहन के साथ साथ यहां की संस्कृति सभ्यता के हाथ पैरों को काटने का कुचक्र भी रचा जाने लगा। और हम आर्थिक दृष्टि से दीन हीन होने के साथ साथ बौद्धिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भी दिवालिये होने लगे।

हमारा उत्स ही क्लीव हो जाता ऐसी सम्भावना न आने पायी कि हमें स्वतंत्रता मिली। और हममें वे वीज अभी भी विद्यमान है जिनके बल पर कि विरासत में मिली अपनी ज्ञान संपदा को हम और बढ़ा सकते हैं। लेकिन खेद है कि हमने अभी तक इस ओर ध्यान ही नहीं दिया। ऐसी वात नहीं है कि भारत के पास प्रतिभा का अभाव हो। प्रतिभाओं के विकास की दृष्टि से भारत का स्थान विश्व मैं सर्व प्रथम है। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा हाल ही में किये गये एक सर्वेक्षण के अनुसार कुशल इंजिनियर टैकनीशीयन और डाक्टर तैयार करने में भारत अन्य सभी देशों से अग्रणी है। लेकिन कमी यही है कि हम अपनी प्रतिभा के साथ विरासत में मिली ज्ञान सम्पदा को जोड़ने में अभी तक समर्थ नहीं हो सके है। समर्थ न हो पाते तो बात अलग थी हम अभी इस ओर ध्यान नहीं दे पाये हैं। कालेजों और विश्वविद्यालयों में सस्कृत शिक्षण की परम्परा को भले ही जैसे तैसे निभाया जा रहा हो पर उसके अध्ययन व अध्यापन को अभी वह सम्मान तथा प्रोत्साहन नहीं मिल पा रहा है जो कि मिलना चाहिए था। अंग्रेजी के अध्ययन अध्यापन को जहां प्रगतिशीलता और प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखा जाता है वहीं संस्कृत के अध्ययन अध्यापन को हम पिछड़ पन तथा गड़े मुर्दे उखाड़ने से अधिक नहीं पा रहे है।

संस्कृत का अध्ययन अध्यापन केवल इसीलिए जरूरी नहीं है कि यह हमें अपनी संस्कृति और सभ्यता के स्रोत से जोड़ता है, वरन् इसलिए भी अनिवार्य है कि उसके माध्यम से हम ज्ञान सम्पदा के उस मूल्यवान कोष को अनायास ही प्राप्त कर लेंगे जिसके कुछेक कणों ने ही अन्य औरों को गर्वोन्नत होने में समर्थ वना दिया है। यदि इस दिशा में समुचित प्रयास किये गये तो कुछ वर्षों वाद न केवल हम अपनी संस्कृति के उद्गम से कट जायेंगे वरन् अपनी ही विशाल ज्ञानराशि से वंचित हो जायेंगे।



शाश्वत सौरभ के महकते जीवन-पुष्प—खलील जिब्रान

गीता में बताया गया है कि आत्मा कभी मरती नहीं। आत्मा को किसी ने देखा नहीं पर अनुभव सभी ने किया है। आत्मा नहीं मरती तो महान आत्माओं के अमर होने में संदेह करना बेईमानी होता है। 'हाँ' महान आत्माएँ कभी मरती नहीं अपने विचारों के रूप में सदा सर्वदा जीवित रहती हैं और जब उनके विचारों पर आडम्बरों और भ्रष्टाचार का कुहासा छाने लगता है तो किसी व्यक्ति के रूप में जन चेतना के रूप में प्रखर प्रभाकर बन कर उसे भेद देती हैं छिन्न-भिन्न कर देती हैं। महात्मा ईसा के विचारों को भुलाकर जब लोग केवल वाह्य रस्मों को ही सब कुछ समझने लगे तब सत्य को सामने रखने वाली एक आवाज के रूप में उनके विचार गूँज उठे। इस गूँज के निमित्त बने थे खलील जिब्रान—साहित्यकार-चित्रकार युग दृष्टा दार्शनिक।

उन्होंने लोगों को उस धर्म से परिचित कराया जिसे ईसा चाहते थे। उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ, 'दि क्रूसी फाइड' की ईस्टर पर्व के सम्बन्ध में लिखी गई निम्नलिखित पंक्तियाँ उस वेदना को स्पष्ट करती हैं जो उन्होंने लोगों को धर्म के नाम पर आडम्बर को पूजते देखकर भोगी थी—'आज ईसाई आत्माएँ स्मृतियों के परों पर सवार होकर यरुशलम पहुँचेंगी। वहाँ वे विशाल जन समूहों में खड़ी होकर अपनी छातियाँ पीटेंगी और उसकी ओर अपलक देखेंगी, काँटों का गोल ताज पहने अपनी बाहों को स्वर्ग की ओर फैलाये और मृत्यु के पर्दे के पीछे जीवन की गहराइयों में देखते हुए.........लेकिन जब दिन के मंच पर रात का पर्दा गिरेगा और यह लघु-नाटक पूरा हो जायेगा तभी ईसाई लोग समूहों में वापस चले जायेंगे, विस्मृतियों के अन्धकार में अज्ञान और आलस्य के गद्दों पर सोने के लिए।

इन रस्मी कर्मकाण्डों के साथ उस सत्य को जीवन में न उतारा जाय तो उनकी क्या सार्थकता है अतः खलील जिब्रान ने बताया—"जीसस ने कभी भय की जिन्दगी नहीं जी, न वे दुख झेलते हुए शिकायत करते हुए मरे.... वे एक नेता बनकर जिये धर्म योद्धा के रूप में सूली पर चढ़े, उन्होंने जिस मानवीय साहस और आत्मबल के साथ मृत्यु का वरण किया, उससे उनके हत्यारे और सताने वाले भी दहल गये।....वे मानव हृदय को एक मन्दिर, आत्मा को एक वेदी, और मस्तिष्क को एक पुजारी बनाने आये थे।... यदि मानवता के पास बुद्धि होती तो वह विजय और प्रसन्नता के गीत गाती।

जिस सत्य को जानने, स्वीकारने, और कहने का साहस करने के कारण ईसा को सूली पर चढ़ा दिया गया था। उसी सत्य को १६०० वर्ष बाद भी किसी व्यक्ति द्वारा कहे जाने पर उसे क्या मिला—प्रशंसा, मान, यश, नहीं "निर्वासन दण्ड"। इसे मानव समाज की कौन सी बुद्धिमत्ता कही जाय ? युवा-जिब्रान ने चर्च की औपचारिकताओं और व्यवस्थाओं से हट कर जो सच्ची बात कही थी उसके कारण उन्हें लेबनान के शासकों ने निर्वासन दण्ड दिया।

खलील जिब्रान—जिनके व्यक्तित्व में थोरो के प्रकृति प्रेम, माइकल एंजिलो की कला निष्ठा, रवीन्द्रनाथ ठाकुर का काव्य कौशल और मंसूर की सी स्पष्टवादिता का अनूठा संयोग देखने को मिलता है का जन्म १८८३ में लेबनान के प्राकृतिक सौन्दर्य से भरे पूरे आंचल के गांव बेशारे में हुआ था। सम्पन्न और सुसंस्कृत परिवार में जन्मे खलील जिब्रान को कला के प्रति प्रेम उनकी माता से विरासत में मिला था। उनके नाना का परिवार अपने गांव का सबसे अधिक सङ्गीत प्रेमी परिवार माना जाता था। परिवार के ऐसे वातावरण और प्रकृति की सुरम्य गोद में पले बालक का कला की ओर प्रेम जाग जाना स्वाभाविक ही था। बाद में वे प्रसिद्ध कवि साहित्यकार व चित्रकार के रूप में प्रसिद्ध हुए।

मेरोनाइट चर्च में उनका बपतिस्मा हुआ और प्रारम्भिक शिक्षा लेबनान में ही हुई। किशोरावस्था से ही सङ्गीत, चित्रकला और लेखन की ओर उनकी विशेष रुचि थी। अतः प्रारम्भिक शिक्षा पूरी करके वे अपनी

माता, भाई और दो बहिनों के साथ अमेरिका चले गये। १६०८ में वे पेरिस की एकेडमी आफ फाइन आर्ट्स में प्रविष्ट हुए और प्रख्यात मूर्तिकार आगस्ट रोदों से शिक्षा ग्रहण करके अमेरिका लौट गये।

चित्रकला के क्षेत्र में उनको सबसे अधिक प्रभावित किया था माइकल एँजिलो के देवत्व भरे चित्रों ने जिनमें मानवता के उच्चतम विकास की झांकी देखने को मिलती है। उन्हीं के चित्रों से प्रभावित होकर खलील जिब्रान ने भी उन्हीं की शैली में ऐसे चित्रों का निर्माण किया जिनसे मनुष्य को सद्प्रेरणाएँ मिलती हैं। उन्होंने मानवाकृतियों में शारीरिक सौन्दर्य को नहीं आत्मिक सौन्दर्य को सफल अभिव्यक्ति दी थी, अपने चित्रों के माध्यम से।

प्रकृति और प्रकृति के हर प्राणी से उन्हें बेहद लगाव था। भारतीय सूफी संत परम्पराओं की तरह ही वे सब प्राणियों में एक ही आत्मस्थ परमात्मा के दर्शन करते थे। लेबनान की सुरम्य घाटियों में इठलाती हुई बहने वाली अल्हड़ पवन से खेलते, लतागुल्मों को दुलराते, दुलार पाते, झरनों का नैसर्गिक अविकल सङ्गीत सुनते हुए उन्हें जो आनन्द मिलता था वह भला कृत्रिमता के लबादे ओढ़े तथा कथित सभ्य समाज में उन्हें देखने को नहीं मिला। भोले-भाले गड़रियों और ग्वालों में उन्हें जो मानवता दिखाई देती थी उसकी सृजनता पर वे मुग्ध थे।

इन अनुभूतियों और अनुभव का सरोवर जब उनके मानस में लबालब भर गया तो वह नित्य प्रवाही सरिता की तरह वह निकला गद्य गीतों और छोटी-छोटी शिक्षा प्रद और मानव मूल्यों को अभिव्यक्त करने वाली कथाओं के रूप में। उनमें प्रकृति की सी सादगी, सहजता सौंदर्य और मोहकता थी। पहले वे अरबी में लिखते थे फिर अंग्रेजी में लिखने लगे।

उस नैसर्गिक सहजता के सामने उन्हें जरा जीर्ण समाज में फैला हुआ पाखण्ड और आडम्बर बहुत ओछा लगा। जीसस को वे भी प्यार करते थे, पूजते थे, उसे हर दम अपने पास, अपने भीतर अपने बाहर अनुभव करते थे। उस ईसा में और तत्कालीन समय में चर्च के ठेकेदारों द्वारा पूजे जाने वाले ईसा में धरती आकाश का अन्तर था। एक जीवन्त था तो दूसरा मात्र उसके कलेवर का प्रदर्शन। उन्होंने उस आडम्बर का जम कर विरोध किया। जिस पूजा पाठ में मानवता को विकसित होने के द्वार ही बन्द कर दिये गये हों वहाँ भला ईश्वर की अनुभूति कहां सम्भव थी। उनके प्रारम्भिक साहित्य में आडम्बरों की इस कारा से धर्म को मुक्ति दिलाने के ही स्वर गूंजे थे। उन्होंने स्पष्ट किया था कि ईसा और उसके अनुयाइयों के विचारों और मान्यताओं की मठाधीशों ने किस प्रकार हत्या करके वहाँ अपने स्वार्थ को प्रतिष्ठापित कर दिया है और भोली जनता उसी को सत्य समझकर स्वीकार कर रही है।

अपने 'निम्फ्स आफ वेली' नामक संग्रह में उस सत्य को उद्घाटित किया है कि आनन्द और सुख समृद्धि मात्र भौतिक प्रगति में ही निहित नहीं है—"......पवित्रता और आध्यात्मिक स्वच्छता के उस सुन्दर और सरल जीवन के दर्शन को यदि हम मुड़ कर देखें तो उसे वसंत में मुस्कुराते हुए, गर्मी की धूप में ऊँघते हुए, हेमन्त में कटनी करते हुए और सर्दी में आराम करते हुए पायेंगे—अपनी माँ प्रकृति की तरह सभी मनःस्थितियों में हम भौतिक सम्पत्ति की दृष्टि से उन ग्राम वासियों से धनी हैं पर उनकी आत्मा हमारी आत्माओं की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है। हम बोते तो बहुत हैं पर काटते नहीं। सचमुच में अपने को सभ्य कहने वाला मनुष्य आज कितना बनावटी हो चला है। बात-बात पर अभिनय करने वाला, समय-समय पर भिन्न-भिन्न मुखौटे ओढ़ने की विडम्बना में फंसा हुआ आज का मनुष्य बोता तो बहुत है किन्तु काटता कुछ नहीं। उसके जीवन का सारा रस ही इस दोहरे पन ने चूस लिया है।

दान, दया, ममता, प्रेम, बंधुत्व, शान्ति और सहयोग की मानवीय सम्पदाओं को चांदी के टुकड़ों से अधिक महत्व देने वाले जिब्रान, जाति राष्ट्र, सम्प्रदाय आदि से उठकर वसुधैव कुटुम्बकम् की बात सोचते थे। उनके साहित्य, उनके चित्र, और उनके दर्शन में सर्वत्र यही आध्यात्मिक विभूतियाँ पाने की प्रेरणाएँ भरी पड़ी है। उनकी पुस्तक 'दि प्रोफेट' के विषय में जार्ज रसेल ने कहा था—"पूर्व से रवीन्द्र नाथ ठाकुर की गीताञ्जलि का स्वर

आनन्द मा अब वैसा ही सुन्दर सजीला स्वर जिब्रान के 'दि प्रोफेट' में सुनने को मिला है। मेरी समझ में इससे सुन्दर पुस्तक कोई देखने में नहीं आती।"

खलील जिब्रान ने धर्मावलम्बियों के इस दुराग्रह का डटकर विरोध किया कि हमारा धर्म श्रेष्ठ है वे कहते थे जो श्रेष्ठ है उसे हम मानें चाहे वह किसी भी देश में उपजा दर्शन क्यों न हो। उनका व्यक्तित्व और कर्तृत्व एक ही स्वर में यह कहता रहा विश्व के सब प्राणी एक हैं धर्म, राज्य, भाषा, समुदाय आदि को उनके बीच दीवार बनाना मनुष्यता नहीं। जो धार्मिक सिद्धान्त, कर्मकाण्ड, आचार, व्यवहार मनुष्यता से परे हैं वह धर्म नहीं पाखण्ड हैं। इसी कारण वे ईसा के भक्त होते हुए भी ईसाईयत के दुराग्रही नहीं थे। वे ईसाइ मान्यताओं के विपरीत हिन्दू दर्शन के परलोक, पुनर्जन्म में विश्वास रखते थे।

उन्होंने ईसा के उपदेशों को सही स्वरूप में मानवीय उच्चादर्शों से समन्वित करते हुए अपने सम्पूर्ण साहित्य में उन्हीं बातों को प्रभावी सरल ढङ्ग से कहा है, 'दि प्रोफेट' उनका प्रतिनिधि ग्रन्थ है। कई लोग इसकी पावन अनुभूतियों और प्रेरक विचारों के कारण उसे पश्चिम की गीता भी कहते हैं। प्रेम, विवाह, संतान, लेन-देन, खान-पान, कार्य, दुख, मकान, कपड़े, क्रय-विक्रय, अपराध-दण्ड नियम, स्वतंत्रता, तर्क और भावना, कष्ट, आत्मज्ञान, शिक्षा, मित्रता, वार्तालाप, समय, सत, असत, प्रार्थना, आनन्द, धर्म, सौंदर्य, मृत्यु, जीवन आदि विषयों पर एक युग द्रष्टा के ढङ्ग से मानवता परक विचार साहित्यिक और प्रभावशाली ढङ्ग से प्रस्तुत किये हैं। इसे लोग इस युग की समग्र आचार संहिता कहा करते हैं।

बढ़ती हुई भौतिक और वैज्ञानिक प्रगति के साथ यदि मानवता और आध्यात्मवादिता को नहीं अपनाया गया तो यह दुनियां किसी भी दिन विनष्ट हो सकती है। इस कटु सत्य को दार्शनिक खलील जिब्रान ने भली प्रकार समझा था। धर्म का जो आडम्बर युक्त स्वरूप आज चल रहा है वह उस विनाश और धरती पर निरन्तर बढ़ते नारकीय वातावरण को रोक नहीं सकता क्योंकि उसमें उस वैचारिक सम्पदा और अध्यात्म प्रसूत प्रेरणा शक्ति का अभाव होता है।

मातृभूमि से निर्वासित होकर अमेरिका में सुखी और सम्पन्न जीवन व्यतीत करते हुए भी खलील जिब्रान अपनी उस मातृभूमि को नहीं भूले जिस धरित्री ने उन्हें वे चेतन्य अनुभूतियाँ दी थी जो शरीर से परे मन और आत्म लोक की वासिनी थी। १६३१ में यह व्यक्ति, जिसका जीवन एक कविता; दर्शन और मानवता को शाश्वत सौरभ लुटाने वाले पुष्प की तरह हँसता मुस्कुराता रहा, सदा के लिए मिट्टी में मिल गया पर उसकी अमर सौरभ आज भी विश्व में फैली पड़ी है।

वह साहित्य, साहित्य नहीं मात्र मानसिक आंख मिचौनी है जो जन मानस में श्रेष्ठ, श्रेष्ठतर और महान बनने की प्रेरणा न दे सके, वह कला, कला नहीं मात्र मनोरञ्जन है जो मनुष्य की देव वृत्तियों को उभार न सके, यही सिद्धान्त उनकी साहित्य साधना और कला साधना का लक्ष्य रहा था। शुष्क दर्शन को जिस सरस साहित्यिक ढङ्ग से सुबोध शैली में उन्होंने विश्व मानव के सामने रखा उसका मूल्य समय के साथ घटने वाला नही है क्योंकि वे निसर्ग प्रसूत और चिरंतन सत्यों पर आधारित हैं।

अपनी मृत्यु के पूर्व उन्होंने अपनी लाखों रुपयों की लागत की सम्पदा की वसीयत अपने ग्रामवासियों के नाम करदी ताकि उससे उनकी जन्म भूमि में कोई सेवा-संस्थान चल सके। यह उनके उस संतस्वभाव का परिचायक है कि वे लोगों से समान भाव से प्रेम करते हैं। तिरस्कार करते हैं मात्र बुरी प्रवृत्तियों का। जिस लेवनान ने उनकी आज तक उपेक्षा की। आज उनका नाम सारे विश्व में एक युग द्रष्टा के रूप में चमक रहा है किन्तु उसकी चमक से लेवनान अछूता है। इन सब से निरपेक्ष रहते हुए वे वहाँ की भूमि से वहां के सामान्य जन से प्रेम करते रहे और उसकी साक्षी भी अपनी वसीयत के रूप में छोड़ गये हैं। मानवता ऐसे महामानव की चिर ऋणि रहेगी।



सेवा, करुणा के मूर्तिमान प्रतीक ठक्कर बापा



उन दिनों गुजरात में भयंकर अकाल पड़ा। लाखों आदमी और जानवर भूख, प्यास से तड़पते हुए मर गये। पेट की ज्वाला शांत करने के लिये पेड़ों की पत्तियां व छालें भी कम पड़ गयीं। तभी एक सेवा भावी इंजीनियर ने अधिकारियों को प्रेरित कर भादर पुल का निर्माण कार्य आरम्भ कराया। वेकारी और सार्वजनिक निर्माण के संयोग से जितने लोग अकाल की चपेट से बचे रह सकें, उतनों को इस निर्माण कार्य ने राहत दी।

उन्हीं दिनों एक दुखद घटना घटित हो गयी। यकायक एक मजदूर और उसकी पत्नी की मृत्यु हो गयी वे पीछे तीन बच्चे छोड़ गये—एक तेरह वर्ष का, एक सात वर्ष का और एक छः महीने का। जब सब ओर हाय-हाय मची हो तो इन अनाथ बच्चों की ओर कौन ध्यान देता। दो बड़े बच्चे तो भूख, प्यास सह भी सकते थे पर नन्हा सा अबोध शिशु तो अपनी माँ के लिये बुरी तरह रोता तड़पता व स्तन पीना चाहता। एक तो भूख, दूसरा अकेला पन और फिर उस छोटे से बच्चे की सम्हाल करें या काम की खोज दोनों बच्चे ही तो थे, मानसिक सन्तुलन खो बैठे और उस नन्हें शिशु को गड्ढा खोदकर जीवित ही दफना दिया।

इस भयंकर घटना का पता भादर पुल निर्माण के लिये नियुक्त इंजीनियर को लगा तो वह भागा-भागा वहाँ आया, मिट्टी हटवायी, बच्चे को निकलवाया पर व्यर्थ, वह तो मर चुका था। मानव की दयनीय दशा देख कर उसका करुणा पूरित हृदय रोपड़ा। क्या मनुष्य इतना संकुकित होगया कि उसे दूसरों की ओर देखने का अवकाश ही नहीं। मानवता जैसे मर गयी है। भाई भाई को जीवित दफना दे और आस-पास के लोग इनकी ओर ध्यान न दें।

इस घटना ने इंजीनियर ठक्कर के मन में वैराग्य भर दिया। नहीं मनुष्य की उस सोयी करुणा को जगाना होगा। और उसके लिये उसे स्वय का जीवन होमना पड़ेगा। इसी संकल्प ने इन्जीनियर अमृत लाल विट्ठल दास ठक्कर को दुखियों का सच्चा सेवक ठक्कर बापा बना दिया जिनकी सेवा की कहानियाँ सारे भारत में कहीं सुनी जाती हैं उनसे प्रेरणा ली जाती है।

ठक्कर बापा का जन्म २९ नवम्बर १८६९ में सौराष्ट्र के भावनगर में एक मध्यम वर्गीय ठक्कर परिवार में हुआ था। मैट्रिक पास करने के बाद उनके सामने प्रश्न आया कि अपनी शिक्षा को किस दिशा में बढ़ाया जाय, उन्हें न तो अफसर बन कर अपने ही देशवासियों पर रोब गालिब करने और अंग्रेजी सरकार की सेवा करने की बात पसंद आयी न आई० सी० एस० व आई० पी० एस० करने की। उन्हें निर्माण कार्य करने वाला इन्जीनियर बनना उचित लगा। वे १८९१ में इंजीनियर परीक्षा पास करके बी० जी० ज़े० पी० रेल्वे में असिस्टेन्ट इंजीनियर बन गये।

यह जीवन एक बहुमूल्य अवसर है इसका सदुपयोग किस प्रकार किया जाय ? इस विषय में उनका यह सोच विचार करके लक्ष्य निर्धारित करना हमारे युवकों के सामने एक उदाहरण प्रस्तुत करता है कि आरम्भ से ही के स्वार्थ और परमार्थ का संयोजन करके चलें। अस्त व्यस्त विचार रखते हुए जो हाथ में आया कर लेंगे की रीति-नीति अपनाने वाले युवक आगे चलकर न स्वयं संतोष पा सकते हैं न उनसे दूसरों को ही कुछ लाभ मिल पाता है।

इंजीनियर का पद पाने के बाद आज कल अधिकांश लोगों का दृष्टिकोण अपना घर भर लेने तक ही सीमित रहता है। अपने कुछ हजार के लाभ के लिये वे लोग राष्ट्र की लाखों रुपयों की हानि करने से भी नहीं चूकते पर ठक्कर बापा तो इन्जीनियर ही राष्ट्र सेवा करने के लिये बने थे।

एक बार एक नई रेल्वे लाइन निकाली जा रही थी। उसी के काम पर उन्हें भी नियुक्त किया गया था। रेल्वे लाइन के क्षेत्र में बहुत से किसानों के खेत व बाग पड़ते थे। उन्हें बचाने कि लिये उन्होंने ठक्कर बापा को रिश्वत देने की सोची। वे मिल जुलकर उनके पास पहुँचे।

उन्होंने भारी धनराशि उनके सामने रखते हुए अपनी बात रखी। ठक्कर बापा का उन्हें यही उत्तर मिला—"मैं उन इन्जीनियरों में से नहीं हूं जो रिश्वत लेकर जनहित के काम में बाधा डालते हैं। साथ ही उन्होंने किसानों को समझाया कि रेल्वे लाइन सीधी जाने से कितनी दूरी कम हो जायगी इससे यात्रियों को कितना लाभ होगा आपको इस लोक हित की ओर देखना चाहिए अपने थोड़े से नुकसान पर ध्यान नहीं देना चाहिए। बात उनके समझ में आ गयी।

ठक्कर बापा अधिक दिनों तक इन्जीनियर बने न रह सके। रेल्वे विभाग में व्याप्त भ्रष्टाचार को देखकर वे बड़े दुखी होते थे। वे रिश्वत नहीं लेते थे। इससे वे भ्रष्ट लोगों की आंखों में खटकने लगे। ठक्कर बापा उन्हें सदमार्ग पर लाने का प्रयास करते और वे उन्हें उसी दल दल में खींच लेना चाहते जिसमें वे स्वयं फसे हुए थे। पर दोनों ही पक्ष अपने प्रयास में असफल हुए। फलतः ठक्कर की बापा ने भ्रष्ट लोगों से संघर्ष करने की अपेक्षा वहां से हट जाना ही उचित समझा।

रेल्वे की नौकरी छोड़कर वढ़वाण के मुख्य इन्जीनियर बनकर चले गये। वहां भी एक ठेकेदार गुनी रिश्वत लेकर उनके पास आ पहुंचा। पहले तो उन्होंने ठेकेदार को समझाया और रिश्वत नहीं लेते हुए उसे ठीक से काम करने को कहा। पर वह उन्हें भी अन्य इंजीनियरों की तरह समझकर अपने ही ढंग से काम करता रहा तो उसका नाम ठेकेदारों की सूची से निकाल दिया। यहां भी वे भ्रष्टाचारियों की भीड़ में अकेले थे। फलतः यहाँ भी उन्हें नौकरी छोड़नी पडी।

गुजरात के अकाल ने उनको एक दम पर दुख कातर सन्त बना दिया। कोट पेंट उतार कर उन्होंने धोती कुर्ता धारण कर लिया। आवश्यकताएं कम से कम कर दीं। नौकरी से बचा समय और वेतन से बचा धन सब गरीबों दीन दुखियों की सेवा में लगाने लगे।

बचे हुए समय में वे पिछड़े वर्ग के लोगों को ऊपर उठाने के लिये हरिजन बस्तियों में जाकर वहाँ सफाई करते उनके बच्चों को पढ़ाते, पुस्तकें पढ़कर सुनाते अच्छी अच्छी जीवनोपयोगी बातें बताते। ढंग से रहने के तरीके बतलाते।

आरम्भ में अंशकालिक और बाद में पूर्णरूपेण दीन दुखियों और पीड़ितों की सेवा में निरत रहने वाले ठक्कर बापा की सेवा भावना को देखकर महात्मा गाँधी ने उनके बारे में कहा था। 'यदि मैं भी बापा जैसी सेवा और भावना पा जाता तो अपने को धन्य मानता।

देश के किसी भी कोने से पीड़ित मानवता की पुकार उठी हो बापा के मन में बसे भगवान विष्णु के लिये यह गज की पीड़ा की तरह होती और वे गरुण वाहन छोड़कर दौड़ पड़ते। जन करुणा की सरिता उनके पीछे-पीछे चल पड़ती।

गुजरात के पंच महल क्षेत्र में अकाल पड़ा तो वे अपनी सम्पूर्ण शक्ति व सामर्थ्य के साथ वहां जा पहुंचे पर यह तो सागर में बूंद की तरह समा गया। फिर भी उनकी इस भावना और त्याग ने लोगों के अन्तःकरण में सोयी करुणा जगाने में चमत्कारिक औषधि सा काम किया।

अपने पास जो कुछ था वह दे चुकने के बाद वे भूखों मरती मानवता के लिये भीख मांगने के लिये निकल पड़े। वे द्वार-द्वार जाते और झोली फैलाकर अकाल पीड़ितों के लिये सहायता की याचना करते। त्याग त्याग को जन्म देता है।

बापा कोई भिखारी तो थे नहीं जो अपने लिये भीख मांगते हैं। बापा जाते उनके पहले ही उनकी यश-कीर्ति वहाँ पहुंच जाती। ऐसे देवता पुरुष को भला कौन इनकार कर सकता है। सैकड़ों रुपये माहवार की नौकरी छोड़ कर दीन दुखियों की सेवा के लिये झोली फैलाकर भीख माँगने वाले को देने वाले भी कम नहीं मिलते। फिर उनके बांटने का क्रम चलता। अकाल के समय बापा के लिये दिन दिन, न रहा। रात, रात न रही। वे कब सोते हैं और कब जाग जाते हैं यह उनके साथ चलने वाले स्वयं सेवकों को भी पता न चलता।

ठक्कर बापा ने जन सहयोग के बल पर अकाल के विरुद्ध मोर्चा मार लिया। फिर सुकाल आया पर बापा के करने के लिये अभी बहुत काम बाकी थे। उनका ध्यान अशिक्षा गरीबी, अन्ध विश्वास और उपेक्षा ग्रस्त आदि वासी—भीलों की ओर गया। उन्होंने इस पिछड़े वर्ग को ऊपर उठाने के लिये कमर कस ली। पैदल ही सारे

प्रदेश का दौरा किया। ग्राम सभाएं आयोजित कीं। भील नव युवकों को संगठित किया। बापा के पूर्व सेवा कार्य से वे लोग प्रभावित तो थे ही। अब यह जान कर कि बापा उन्हीं के बीच रहकर उनका ही काम करेंगे तो वे सहर्ष उनका सहयोग करने को तैयार हो गये।

लोगों में से बापा ने कुछ नव युवक ऐसे चुने जो कि अपने भाइयों के लिये कुछ कर सकते थे। इन्हें बापा ने पढ़ाकर इस योग्य बना दिया कि वे स्थान स्थान पर पाठशलाएं व कर्म शालाएं चला सकें। प्रौढ़ों को साक्षर बनाने का काम बापा ने अपने हाथ में लिया। सदियों से उपेक्षित इन आदिवासियों को बापा ने जो प्यार दिया उन्हें जो प्रकाश दिया उसकी मिसाल हमारे देश में यह अकेली है।

साक्षरता के प्रसार के साथ ही वे उन्हें अपना सुधार करने की प्रेरणा भी देते। उन्हें कुरीतियाँ व अन्धविश्वास त्यागने को प्रेरित करते। महिलाओं के लिये उन्होंने ऐसी कर्मशालाएं स्थापित करवायी जिनमें ताड़ की चटाइयाँ, सैंठें व नरकुलों के खिलौने और कांस की अन्य चीजे बनायी जाती थीं। इनमें कई भील बालाएं पहले से ही प्रवीण थीं। अब वे इसे सामूहिक रूप में करने लगी तो पहले उनका जो समय व्यर्थ या लड़ने झगड़ने में जाता था वह उत्पादन में लगने लगा साथ ही उनमें सामूहिकता की भावना आने लगी।

'भील सेवा संघ' भील आश्रम आदि संगठनों संस्थानों की स्थापना और उनके द्वारा संचालित गतिविधियों का सूत्र संचालन बापा ने अपने कुशल नेतृत्व में किया। भील जाति में जागरण के स्वर गूंजने लगे। ये जागरण के स्वर समाज का हित चाहने वालों को तो बड़े भले प्रतीत हुए पर भीलों का शोषण करने वाले कुछ बड़े लोगों ने अपने स्वार्थों पर चोट पड़ती देख बापा के काम में रोड़े भी अटकाये। देवगढ़ बारिया के राजा ने उन्हें अपने राज्य से निर्वासित कर दिया। उन्हें एक रात विश्राम करने की मोहलत भी न दी गयी। वे उस राज्य के बाहर आ गये फिर भी उनके द्वारा जलायी जागरण की ज्योति तो दिन पर दिन प्रखर होती ही गयी। उनके द्वारा बनाये स्वयं सेवक उस कार्य को आगे बढ़ाते रहे।

तभी उड़ीसा में भयंकर अकाल पड़ा। वे अपने भील सुधार-जागरण के काम को अपने सुयोग्य उत्तराधिकारियों को सौंप कर वहाँ जा पहुँचे। वहाँ भी बापा को घोर कष्ट सहकर प्राणों पर खेल कर सेवा सहायता कार्य करना पड़ा। गोपाल कृष्ण गोखले ने उनकी इस सेवा भावना से प्रभावित हो उनसे 'भारत सेवक समाज के लिये सेवाएं मांगी। इतने बड़े नेता का अनुरोध आग्रह न टालते हुए उन्होंने महीने में पन्द्रह दिन भील सेवा संघ और पन्द्रह दिन भारत सेवक समाज का काम करना स्वीकार कर लिया।

८१ वर्ष की आयु तक वे अपने सेवा व्रत को निभाते रहे। शरीर भले ही जर्जर व अशक्त हो गया हो पर वे मन से बूढ़े या अकर्मण्य नहीं हुए थे। जीवन के अन्तिम दिनों में वे भावनगर में सन्यास यापन करते हुए अगले जन्म की तैयारी करते रहे थे और ईश्वर से यह प्रार्थना करते रहे थे कि उन्हें अगले जन्म में भी सेवा करने का सौभाग्य प्रदान करें स्वर्ग या मुक्ति नहीं। १९ जनवरी १९५१ को उनका देहावसान हुआ। सेवा और करुणा की भावना के रूप में वे आज भी जीवित हैं और जीवित है उनका यह प्रेरक जीवन वृत।

गाँधी जी का बचपन था। बुरी संगत में पड़ कर किसी से कर्ज ले लिया। जब कर्जदार तङ्ग करने लगा तो घर से थोड़ा सोना चुरा लिया और कर्ज चुका दिया।

कर्ज का भार तो हल्का हो गया पर गाँधीजी मन में चोरी के पश्चाताप से झुलसने लगे। सोचा पिता जी से बता दें किन्तु सीधे जाकर कहने का साहस नहीं हो सका। फिर एक पत्र लिखा, जिसमें अपना दोष स्वीकार किया और भविष्य में वैसा न करने का दृढ़ संकल्प भी व्यक्त किया। पुत्र की सच्ची आत्मा ने पिता को हर्षित कर दिया। उन्होंने सच्चे दिल से उस अपराध को क्षमा कर दिया। गाँधी जी ने शिक्षा ली—सच्चे हृदय से अपराध स्वीकार कर लेने से मन का मैल धुल जाता है।

व्यक्ति का ही नहीं समाज का निर्माण

आज हम जिधर दृष्टिपात करते हैं उधर ही भ्रष्टाचार रिश्वत, चोरी, कर्तव्य-हीनता, दुर्व्यसन, फैशन परस्ती और असंयम् का नग्न-नृत्य दृष्टिगोचर हो रहा है। मानव दानव बना हुआ है। उसके सोचने विचारने के दृष्टिकोण बदल रहे हैं। यह अनेक विकृतियों और भ्रान्तियों का शिकार हो रहा है। इसका मूल कारण सामाजिक-विकृतियाँ ही हैं। न परम्पराएँ सही हैं और न रीति-रिवाजों में ही शुद्धता और मौलिकता रही है।

यदि विचार किया जाय तो यह जानने में तनिक भी विलम्ब नहीं लगेगा कि विकृतियाँ और अनैतिकता के प्रचार-प्रसार के लिए हमारे यहाँ प्रत्यक्ष रूप से कोई पाठशाला नहीं चलती है। स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष रूप से कोई प्रमाण और साधन दृष्टिगोचर नहीं होने पर भी, एक दूसरे के क्रिया-कलापों के अनुकरणों से अनैतिक प्रशिक्षण मिल रहा है।

चोरी और अनैतिकता के अपराध में पकड़ा एक व्यक्ति जाता है और सजा का भागीदार भी वही होता है, परन्तु क्या आप इसमें उस व्यक्ति का ही एक मात्र दोष मानते हैं ? चोरी और अनैतिकता की प्रवृत्ति क्या उस व्यक्ति विशेष की है ? क्या समाज का इस में कोई अनुदान नहीं ? यह बात नहीं मानी ज़ा सकती कि यह केवल उस व्यक्ति का ही दोष है जिसने चोरी की है।

मानवीय दृष्टि से देखा जाय तो चोर में चोरी की प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव समाज से ही हुआ है। मनुष्य अनुकरण प्रिय प्राणी है। जैसा देखेगा और सुनेगा वैसा ही करने लगेगा समाज को सुधारना ही व्यक्ति को सुधारना है। बालकों की समुचित शिक्षा दीक्षा न होना, उन्हें नैतिक ढाँचे में न ढालना आदि दोष व्यक्ति मात्र के नहीं हो सकते समाज ही का तो दोष है। आज झूठ बोलकर छल एवं धोखा देकर धनपति बन जाने पर भी, उसका समाज में सम्मान होता है। वहीं दूसरी ओर सज्जन और ईमानदार व्यक्ति के पेट भरने की यथोचित व्यवस्था भी नहीं होती। इस प्रकार के अनेक कारण कम बुद्धि वाले लोगों में अनैतिकता की बातें भर देते हैं।

जिस व्यक्ति को बाल्यकाल से ही तीखे चटपटे, बासी तथा गरिष्ठ खाद्य पदार्थ खाने को मिले हैं और परिणाम स्वरूप उसका स्वास्थ्य, उसका मन विकृत हो रहा हो तो—इसमें व्यक्ति का क्या दोष ? यह सारा दोष उसके निर्माण करने वाले समाज का ही है जिसने अपनी प्रारम्भिक पाठशाला में उस बालक की शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध किया।

जिन घरों में बीड़ी और शराब पी जाती हो, तथा जिन में चोरी, जुआ, छल, फरेबी द्वारा धन का उपार्जन किया जाता हो उस घर के बालकों में उपर्युक्त दुर्व्यसन एवं अवगुण अवश्य ही आवेंगे। उन घरों के बालकों को कोई सदाचारी देखना चाहे तो कभी सम्भव नहीं हो सकता।

सुधार की प्रक्रिया जीवनारम्भ से ही लागू रही होती तो इससे कुछ लाभ भी होता पर एक व्यक्ति समाज के कुसंस्कार लेकर—कुसंस्कारी बन गया तो इसमें व्यक्ति विशेष को ही इतना दोष देना बुद्धि संगति प्रतीत नहीं होता। इन दोषों के निर्माण में समाज का हाथ था जिसने इनको व्यक्ति में परिपक्व होने का अवसर प्रदान किया।

मानव की बौद्धिक एवं भौतिक उपलब्धियों के निर्माण में जो श्रेय सम्मान सामाजिकता को दिया जा सकता है, उसकी अवनति और पतन का उत्तरदायी भी समाज ही होगा। क्या मनुष्य जन्म से खराब और कुसंस्कारी होता है ? नहीं अधिकतर संस्कार-निर्माण में उसके वातावरण का हाथ मुख्य रूप से रहता है। बाल्यकाल में उसे जो कुछ खिलाया-पिलाया जाता है, वह खाने पीने लगता है, जिन संस्कारों में उसका लालन पालन होता है उसी के अनुकूल वह जीवन पर्यन्त चलता है। यहाँ तक कि खाने पीने से लेकर वस्त्र पहनने, उठने, बैठने, आचार, व्यवहार करने का अनुसरण बड़ों की आदतों के अनुसार

ही बालक करने लगता है। गुण, कर्म और स्वभाव का विकास कुटुम्ब और समाज की पाठ शाला में ही होता है।

माता-पिता और समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों के संस्कार स्वयमेव ही बालकों में आते हैं। जो संस्कार और आदत बचपन में पड़ जाती है, उसका प्रभाव जीवन भर रहता है। जैसा समाज का ढांचा और स्तर होता है, उसके नागरिक उसी ढांचे और स्तर में विकसित होते हैं।

मनुष्य ने आज जितनी भी प्रगति की है, उसका सम्पूर्ण श्रेय समाज को है। सृष्टि के अन्य सम्पूर्ण प्राणी तो जन्म से ही स्वावलम्बी हो जाते हैं परन्तु बिचारा मनुष्य तो बहुत अधिक समय तक पराश्रयी और परावलम्बी रहता है। वह कच्चा शरीर, कच्ची बुद्धि लेकर जन्म लेता है और समाज का रस पी, पीकर बड़ा होता है। माँ उसे दूध पिलाती है। पिता कपड़े पहनाता है। घर पर भाईयों और बहिनों से वह आदतें सीखता है, अध्यापक और गुरुजन उसे शिक्षा देकर सुसंस्कार वान बनाते हैं। पुस्तकें उसकी प्रतिभा को प्रखर करती हैं।

ऐसी अनेकानेक आवश्यकताओं की पूर्ति का दायित्व जब समाज उठाता है—तभी मनुष्य कुछ स्वतंत्र चिन्तन, श्रेष्ठ कार्य अथवा आविष्कार और अन्वेशण करने में समर्थ हो पाता है। बिना समाज के एक पग भी आगे बढ़ना कठिन सा है।

इसी कारण हमारे पूर्वज ऋषि–महर्षियों ने समाज की गरिमा को गम्भीरता से अनुभव किया और मानवीय प्रगति में उसका महत्वपूर्ण योगदान माना। सामाजिकता ही मानवीय प्रगतिकी एक मात्र जननी है। इससे वे भलीभाँति परिचित थे। मानवीय मनोविज्ञान का गहन अध्ययन उनका विषय था। इसीलिए समाज-द्वारा उनपर पढ़ने वाले प्रभाव को गहनता से आंका।

मनुष्य का स्वभाव है कि वह अनुकरण से अधिक सीखता है। एक दूसरे के आचरण को धीरे-धीरे जीवन में ढालता चलता है। इसीलिए जब आज हम मनुष्य को अनैतिक अपराध करते देखते हैं तो उस पर न खीजकर सम्पूर्ण समाज को दोष देने लगते हैं। संसार के सभी महापुरुष-ईसा, बुद्ध, गाँधी, दयानन्द, मार्टिन लूथर तथा ज्ञानेश्वर ने अपना जीवन समाज-सुधार में लगाया और यह माना कि समाज-सुधार से ही मानव-सुधार सम्भव है। अकेले मनुष्य के भले बन जाने से पूरा मानव समाज नहीं बदल सकता। मनुष्य के तौर-तरीके आचार-विचार हाव-भाव और व्यवहार में परिवर्तन करने के लिए समाज को परिष्कृत करना होगा। आज की परिस्थितियों को बदलने और मनुष्यों में सद्प्रवृत्तियों के प्रादुर्भाव के लिए सामाजिक संस्कारों पर ध्यान देना होगा। जैसी सामाजिक संस्कारों की त्रिवेणी प्राचीन काल में बही थी वैसी ही सुसंस्कारों की भागीरथी वर्तमान काल में प्रवाहित करनी पड़ेगी।

यह तो निर्विाद ही है कि मुट्ठी भर आदमियों द्वारा ईश्वरोपासना करने, सत्य बोलने, सदाचारी बनने और चरित्रवान होने मात्र से यह पृथ्वी स्वर्ग नहीं बन सकती। जहाँ दुष्प्रवृत्तियों की भीषण आग जल रही हो उसमें एक लोटा जल डाल देना पर्याप्त नहीं होगा। वह उसकी भीषण गर्मी को शान्त नहीं कर सकेगा। यही कारण है कि आज समाज में सदाचारी और कर्तव्य परायण व्यक्तियों का मजाक उड़ाया जाता है। दुराचारी व्यक्ति अपने लिए ही नहीं भले और सदाचारी व्यक्तियों के लिए भी अभिशाप बनते हैं। थोड़े भले और सदाचारी व्यक्तियों की आवाज, ढेर सारे दुराचारियों की आवाज में नक्कार खाने में तूती की आवाज के समान परिलक्षित हो रही है। इसी लिए कुछ आदमियों के निर्माण की बात सोचने की अपेक्षा सम्पूर्ण समाज के निर्माण की बात सोचनी होगी।

समाज और राष्ट्र की खुशहाली और सुख-समृद्धि के लिए समाज की गर्हित अवस्था को सुधारा जाना होगा। शादी विवाह से लेकर पारिवारिक जीवन में व्याप्त विश्रृंखलताओं को दूर किये बिना भावी उन्नति की आशा करना केवल कपोल कल्पना ही होगी। समाज सुधर जायेगा तो उसमें देव पुरुषों का प्रादुर्भाव स्वत ही होने लगेगा अतः सामाजिक पुनरोत्थान नितान्त आवश्यक है।

इसके लिए हमें प्राचीन काल में अपनाई गई ऋषि महात्माओं की धार्मिक और अध्यत्मिक योजनाओं को समझना पड़ेगा।



नागरी प्रचारिणी सभा के नये कार्यालय भवन का उद्घाटन समारोह किया जा रहा था। इस समारोह में हिन्दी साहित्य का भण्डार भरने वालों से लेकर प्रचारकों और कार्यकर्ताओं तक का अच्छा खासा जमघट एकत्रित हुआ था। समारोह गोष्ठियां, सभा और अन्य कई कार्यक्रमों से आरम्भ हुआ। वक्ताओं ने नागरी प्रचारिणी सभा के कार्यों, गतिविधियों और उपलब्धियों की चर्चा प्रशंसा के पुल बांध दिये। प्रायः सभी भाषण कर्ताओं ने इस अंदाज से भाषण दिये थे कि अब हिन्दी प्रचार का काम लगभग पूरा ही हो गया है।

मञ्च पर इस बीच अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध जी भी आये। हिन्दी भाषा के प्रचार-प्रसार से लेकर उसका मौलिक स्वरूप निखारने तक में उनका बड़ा योगदान रहा था। मञ्च पर आकर हरिऔधजी जैसे ही काव्य पाठ के लिए खड़े हुए—श्रोताओं ने करतल ध्वनि और जोरों से नारे लगाकर उनका स्वागत किया। इस अवसर पर हरिऔध जी ने जो कविता पढ़ी वह सम्मेलन के लिए ही नहीं, देश के कोने कोने में फैले हुए हिन्दी प्रचारकों और साहित्य के क्षेत्र में भी अनूठी अपूर्व सिद्ध हुई।

अभी तक इस क्षेत्र में जो भी प्रगति हुई थी वह बेशक सराहनीय थी परन्तु हरिऔध जी ने मात्र इतने से ही संतोष व्यक्त करने वालों को आड़े हाथों लिया। उनकी पूरी कविता के पदों की अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार थीं—

चार डग हमने भरे तो क्या किया।
है पड़ा मैदान कोसों का अभी॥

पूरी रचना में एक आत्मीयता भरी किन्तु चुभने वाली ललकार थी। वस्तुतः उन दिनों कई कार्यकर्ताओं में बड़ी शिथिलता आयी हुई थी। हरिऔध जी ने ऐसी प्रवृत्तियों को दूर कर आगे की मंजिल—कोसों पड़े मैदान को तय करने के लिए अपनी ओजस्वी वाणी से सनक्त भावों को आन्दोलित किया था।

मूलतः हरिऔधजी को हिन्दी भाषा के उत्थान और विकास का अग्रदूत ही कहा जाता है। परन्तु उनके जीवन और साहित्य के अन्य पक्ष भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। अपनी प्रतिभा और कला के माध्यम से बहुविध दिशाओं में मार्गदर्शन करने का साहित्य-धर्म उन्होंने जिस कुशलता के साथ निवाहा उसने साहित्य और संस्कृति के इतिहास में हरिऔध जी को अमर बना दिया। उनका जन्म सन् १८६५ में निजामाबाद (उ० प्र०) के एक जमींदार परिवार में हुआ था। घर विपुल सम्पदा और सुख सुविधा की सामग्रियों से भरा पूरा था। जमींदारी और पण्डिताई उनका पैतृक धन्धा था।

थोड़ा बहुत पढ़ाने लिखाने के उद्देश्य से उन्हें स्कूल में भर्ती करवाया गया। ताकि वे पैतृक व्यवसाय को ठीक प्रकार से समझ सकें और उसे अपनी जीविका का साधन बनाये रहें। स्कूल में अध्यापकों का कठोर अनुशासन तथा अकारण पड़ने वाली डाँट फटकार उन्हें उद्विग्न भी रखने लगी और भयभीत भी। पढ़ना बहुत अच्छी बात है यह तो उनका बाल मन अच्छी तरह समझता था। गल्ती होने पर वे डाँट डपट और मार-पीट भी सहन कर लेते। हालांकि यह उन्हें सुहाता तो नहीं था। विवशता ही थी जो उनसे सब कुछ सहन करवा लेती।

स्कूलों की स्थिति उन दिनों जिस प्रकार की थी उसे देख कर कदापि नहीं कहा जा सकता कि विद्यामन्दिर में अध्यापक ज्ञानदान करने के लिए आते हैं। दिन भर बैठे बैठे ऊँघते, गपशप करते मास्टरों की ये प्रवृत्तियाँ छात्रों में आती तो अध्यापक आगबबूला होकर बुरी तरह बरस उठते। बच्चे तो यही समझते हैं कि जो बड़े करते हैं, वही हमें भी करना चाहिए। दो चार बार उन्होंने अपने माता-पिता से भी शिकायत की तो पता चला कि इस जमाने में सब कुछ चलता है।

जैसे तैसे उन्होंने १८७१ में मिडिल स्कूल की परिक्षा पास की। उनके मन में पिता का यह उत्तर निरन्तर घुमड़ता रहता कि इस जमाने में सबकुछ चलता है। इस

उत्तर का अर्थ तो उन्हें समझ में नहीं आया था फिर भी इसी विषय में सोचते रहते। कुछ दिनों बाद उन्होंने अपने जमींदार पिता से किसी किसान को पिटते देखा। उस समय तो वे कुछ नहीं बोले। समय मिलने पर पूछा—क्या पिताजी इस दुनियाँ में यह भी चलता है।

प्रश्नवाचक दृष्टि से पिता ने पुत्र की ओर देखा तो बोले—आप तो कथाओं में लोगों से कहा करते हैं कि किसी निरपराध प्राणी को कष्ट नहीं देना चाहिए।

अपने किये पर पुत्र को टीका-टिप्पणी करते देख पिता को क्रोध आया। वे बोले—"तू जानता है कि उसने कोई अपराध किया है या नहीं किया है।"

"मेरी जानकारी में तो नहीं है। क्या आप बताने का कष्ट करेंगे।'

जमींदारी सिखाने के प्रलोभन ने पिता को यह अच्छा अवसर सुझाया। कुछ शान्त होकर वे बोले—सारी फसल तो बेचकर खा गया और लगान के नाम पर वह कह रहा था कि कुछ हुआ ही नहीं।

'इस साल पानी नहीं बरसा। यह बात तो हम लोग भी जानते हैं। फसल कहाँ से पैदा हुई होगी"—अयोध्या सिंह जी बोले।

'मिडिल पास करली तो खुद को मुझसे ज्यादा समझदार मानने लगा है। मैं जो कह रहा हूँ क्या वह तेरे लिए झूठ है।"—पिता अपने बेटे की ओर लपके।

इस घटना ने उन्हें धर्मक्षेत्र में फैले हुए आडम्बर और पाखण्ड का बोध कराया। लोगों को दया, प्रेम का उपदेश देकर अपने स्वार्थ के लिए स्वयं उनके साथ मार पीट करना तो गलत है। जो हम कहते हैं वह अमल में भी होना चाहिए। हरिऔध जी कथनी और करनी की एकता का सिद्धान्त अच्छी तरह समझने लगे थे। इन्हीं अन्तर्द्वन्द्वों में जूझते हुए उन्होंने नार्मल परीक्षा पास की। इसके बाद उनके सम्मुख अपने भावी जीवन का निर्णायक प्रश्न खड़ा हुआ।

जमींदारी का धन्धा या धर्म शिक्षण ये दोनों काम नहीं बन सकते। कृषकों की विवशता को समझकर भी उसे उपेक्षित करते हुए सरकार का कर भरने के लिए अमानवीय व्यवहार उन्हें पण्डित पद के गौरवानुकूल नहीं लगा। पण्डिताई करते हुए जमींदारी मुश्किल और जमींदारी करते हुए पण्डिताई दूभर।

असमंजस की स्थिति से स्वयं को उबारने के लिए उन्होंने बीच का रास्ता अपनाया। वे स्वतंत्र रूप से अपनी जीविका चलाने लगे। जो प्रवृत्तियाँ अपने घर में पल रही हैं वे समाज में भी अवश्य बढ़ रही होंगी। यह है तो अवाञ्छनीय परन्तु समझदार व्यक्ति को इन्हें बढ़ने से रोकना चाहिए। स्वयं को उन विडम्बनाओं से बचाये रख कर हरिऔधजी ने जन जीवन का अध्ययन व परिष्कार आवश्यक समझा।

देश उस समय दासता के बन्धनों से जकड़ा हुआ था। समाज का विकृत और पतित नेतृत्व ही उसके पाँवों में गुलामी की बेड़ियाँ पहनाने का कारण बनता है, व्यापक पर्यटन और अध्ययन से वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे। यात्राओं के दौरान ही वे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी के सम्पर्क में भी आये। भारतेन्दु जी ने उन्हें सार्थक साहित्य के सृजन की प्रेरणा दी। हरिऔधजी को बचपन से ही तुकबन्दी और पद रचनाओं का अच्छा अभ्यास हो गया था। भारतेन्दु के संसर्ग सम्पर्क ने उनमें भावशक्ति भर दी। हरिऔध जी सर्वप्रथम सामाजिक चेतना की ओर उन्मुख हुए। समाज में व्याप्त कुरीतियों, मर्यादाहीन, ब्राह्मण पण्डितों, बाल विवाह, वृद्ध-विवाह जैसे विषयों पर उनकी चुनी हुई कविताओं का एक सङ्कलन १६०१ में प्रकाशित हुआ।

'काव्योपवन' नामक इस अकेले सङ्कलन ने उन्हें महाकवि के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। हरिऔध जी ने सोये हुए देश को अपनी तंद्रा तोड़कर जाग उठने के लिए आह्वान किया। कवितायें तो कई लिखी जाती हैं। समाज के, व्यक्ति के, मर्म और हृदय को जो स्पर्श करले, प्रभावित कर दे उसी रचना को युग-साहित्य की संज्ञा मिलती है। साहित्य में यह प्रभाव रचनाकार के हृदय में रहने वाली व्यथा और कसक से आता है। हरिऔध जी तो बचपन से ही इस अन्तर्व्यथा को भोगते आये थे। अपनी रचनाओं के माध्याम से उन्होंने इसी कसक को पाठकों के हृदय में उड़ेला।

जिन दिनों हरिऔध जी की कृतियाँ पाठकों के

जानने वाला आरम्भ हुई वह हिन्दी के विकास का आरम्भिक काल था। हिन्दी पाठकों की संख्या नगण्य ही थी। ऐसी स्थिति में सर्वसाधारण तक अपनी आवाज पहुँचाना कितना दुष्कर और ऊबा देने वाला काम रहा होगा ? लेकिन हरिऔधजी जी धैर्यपूर्वक साहित्य—साधना में लगे रहे। एक के बाद एक कृतियां पाठकों तक पहुँची और उन कृतियों ने प्रबुद्ध व्यक्तियों में प्राण प्रवाहित कर दिया। हिंदी भाषा के प्रचार और सामाजिक चेतना के जागरण—इन दो कार्यों को उन्होंने एक ही प्रकार के प्रधान से बड़े अद्भुत ढङ्ग से साधा।

भाषा के प्रयोग की दिशा में उन्होंने विषयानु वर्ती शैली का अवलम्बन लिया। फलस्वरूप उनकी सभी कृतियां अपने उद्देश्य में सफल रही। सन् १९१४ में उनकी सर्वोत्कृष्ट कृति प्रकाशित हुई–'प्रिय प्रवास'। हिन्दी साहित्य में इसकी प्रतिष्ठा भी भागवत के समकक्ष की गयी है। सभी समस्याओं, कष्ट कठिनाईयों का एक अचूक-निदान भगवद्प्रेम बताकर उन्होंने सर्वसाधारण के सामने एक अपूर्व सुझाव रखा।

उनका भगवत्प्रेम निराशा पलायन और अवसाद का नहीं आशा उत्साह तथा प्राण स्फूर्ति का संदेश देता है। इस ग्रन्थ के नायक श्री कृष्ण सर्वप्रथम व्रज में गायें चराते हुए आते हैं। व्रज मण्डल आनन्द निमग्न है। और इसी बीच मथुरा से कंस का बुलावा आता है और कृष्ण अक्रूर के साथ मथुरा चले जाते हैं। गोप-गोपियां का प्रेम उन्हें स्मरण तो आता है। व्रज की उन्मुक्त लीला भी उनके स्मृति पटल पर अङ्कित है परन्तु अपने जीवन—प्रवाह को उन्होंने मथुरा में कितना कर्तव्यबद्ध कर दिया है इसका सरस वर्णन बड़े प्रभावपूर्ण ढङ्ग से किया है। कर्तव्य पालन में कहीं व्यतिक्रम न आये इसलिए मथुरा तक जाने के निर्णय का संदेश भी उद्धव के हाथों भेजते हैं। वे अनुभव तो करते हैं कि सारा व्रज मण्डल उनके विछोह से पीड़ित होगा परन्तु वे चाहकर भी नहीं जाते। कारण व्रजवासियों का प्रेम उन्हें कर्तव्य से विश्रुत न कर दे—की आशङ्का।

इस प्रसंग को हरिऔध जीने स्वाभाविक ढङ्ग से कर्तव्य निष्ठा का रङ्ग देकर उल्लिखित किया है। बाद की कहानी प्रेम और भक्ति का विवेचन करती है। प्रतिपादित प्रेम पंथ को अङ्गीकार करने वाले मनुष्य की व्यथा भी कितनी विभोर और मधुर होती है हरिऔध जी ने बड़ी अच्छी तरह यह समझाया है।

काशी हिन्दू विश्व विद्यालय की स्थापना के बाद वह संस्था बड़ी आर्थिक तंगियों से गुजर रही थी। ऐसी स्थिति में प्राध्यापकों का प्रबंध भी कैसे किया जाय। हरिऔधजी ने हिन्दी विभाग के लिए स्वयं को सेवाभाव से प्रस्तुत कर अनुकरणीय उदाहरण रखा। वे सन् १९२९ से से ४१ तक विश्वविद्यालय के अवैतनिक प्राध्यापक रहे। इसी बीच सन् ३३–३४ में वे हिंदी साहित्य सम्मेलन के भी सभापति रहे। तदुपरान्त उन्हें प्रिय-प्रवास पर सम्मेलन का सर्वोच्च सम्मानित मङ्गला प्रसाद, पारितोषिक' भी दिया गया।

© सेवा के लिए पैसे की जरूरत नहीं होती, जरूरत है अपना संकुचित जीवन छोड़ने की, गरीबों से, एकरूप होने की। धन सम्पत्ति, शारीरिक सुख और मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदि को न चाहते हुए, ममता, आशक्ति और अहङ्कार से रहित होकर मन, वाणी, शरीर और धन से सुख देना सेवा ही है।—रस्किन

हिन्दी और अन्य भाषाओं के माध्यम से हिन्दू संस्कृति और धर्म के उन तथ्यों को उद्घाटित करने में उन्होंने महत्वपूर्ण योगदान दिया जो विश्वमानव के लिए कल्याणकारी सिद्ध होते हैं। हरिऔध जी बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने साहित्य की सभी विधाओं को सँवारा और सज्जित समृद्ध किया। प्रिय प्रवास के अतिरिक्त बैदे ही वनवास, चुभते, चौपदे, पुस्पोपहार, आदि प्रधान कृतियां हैं।

६ मार्च १९४७ को उनका देहान्त हो गया। उसके छह मास बाद ही देश आजाद हुआ। हरिऔध जी ने स्वतंत्र भारत को समृद्ध सम्पन्न और शक्तिशाली बनाने का पथ आलोकित कर दिया था। इस महत्साधना और सफलता के लिए भारतीय समाज सदैव उनका ऋणी रहेगा।

ज्ञान साधना में निरत तपस्वी-युक्लिड

ईसा के ३२५ वर्ष पूर्व एथेन्स (यूनान) की एक पाठ शाला में तेरह वर्ष के बालक ने अपने अध्यापक से रेखा गणित का एक प्रश्न पूछा। उन दिनों रेखा गणित का कोई स्वरूप विश्व के सम्मुख नहीं था। अध्यापक ने बालक के प्रश्न को मूर्खता पूर्ण समझा तथा उसके पिता से शिकायत की "तुम्हारा बेटा ऊल जलूल प्रश्न पूछता है। मुझे तो ऐसा लगता है कि इसका मस्तिष्क ठीक नहीं हैं।"

माता पिता बालक के व्यवहार से पहले ही चिंतित थे। वह अपने समवयस्क बालकों के साथ हँसता खेलता भी नहीं था। परिवार के सदस्यों तथा अपने भाई बहिनों से भी वह धुल मिल कर नहीं रहता था। दिन भर कुछ न कुछ सोचा करता। उसका प्रिय खेल धूल में सीधी रेखा खींचना था। वह अकेला ही इस खेल में उलझा रहता था।

वह पडौस के बालकों में 'बुद्धू' के नाम से प्रसिद्ध हो चुका था। अध्यापक की शिकायत ने उनकी धारणा की पुष्टि कर दी। पिता अपने इस गोबर गणेश बालक पर विशेष ध्यान नहीं देता था। किन्तु माता उसे स्नेह तथा यत्न पूर्वक समझाती थी। बेटा तुम बहुत अच्छे हो। इस प्रकार अकेले खेलना तथा उल्टी सीधी बातों से अपना मस्तिष्क विकृत करना छोड़ क्यों नहीं देते।"

अपनी माँ के इस कथन पर वह गम्भीर होकर कहता 'माँ मैं जो जो रेखाएँ खींचता हूँ वे निरर्थक नहीं होती उनके पीछे गणित की समस्याएं होती हैं तथा उनका हल खोजने में मुझे जो आनन्द मिलता है वह बच्चों के साथ खेलने में नहीं मिलता।

बालक की इस जिज्ञासा वृति तथा स्वयं विश्लेषण रीति से अपने ज्ञान का विकास करना परिवार तथा अध्यापक की समझ में भले ही न आया हो। वह अपने जीवन में रेखा गणित का स्वरूप विश्व के सम्मुख रखने में सफल हुआ जिससे मानव जाति की अद्भुत प्रगति में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। यह बालक था युक्लिड जिसने अपने जीवन में एक ही काम किया-वह काम था रेखा गणित का व्यवस्थित स्वरूप बनाना।

तीस वर्ष की आयु तक युक्लिड एथेंस नगर में ही रहा। वस्तुतः यह उसका साधना काल था। इस समय उसने अपनी सारी सामर्थ्य को ही एक दिशा में नियोजित किया। जब तक परिवार उसके भरण पोषण का भार उठाता रहा तब तक तो वह उन पर निर्भर रहा। तत्पश्चात वह दिन में तीन चार घण्टे अपने छोटे से खेत पर काम करके इतना उपजा लेता था जिससे उसका निर्वाह हो सके।

उसका भोजन तथा रहन सहन सामान्य स्तर का ही था। उसके लिये व्यवस्था करना उन दिनों कठिन भी नहीं था।

बचपन में वह अपनी आयु के बच्चों में मूर्ख कहलाता रहा। युवावस्था को प्राप्त होकर भी वह अन्य युवकों की तरह घुड़सवारी करने, खेलों में भाग लेने तथा युवतियों से प्रेम सम्बन्ध स्थापित करने के कार्यों से सदा विमुख ही रहा। लोगों के व्यंग्य वाण सहते हुए भी वह तनिक भी विचलित नहीं हुआ तथा रेखा गणित की नई-नई गुत्थियों को सुलझाने में दत्त चित्त रहा।

शरीर चलता रहे तथा रोगी होकर स्वास्थ्य हानि न उठानी पड़े यहीं तक उसकी आवश्यकताएं सीमित थी। वस्तुतः ये स्थूल शरीर की आवश्यकताएं थी। उसके सूक्ष्मतम अंश आत्मा की हूक थी कि वह ज्ञान का एक नया प्रदीप जलाए। अपनी उसी आत्म प्रेरणा से वह घोर साधना मय जीवन व्यतीत करने में सफल हुआ।

थोड़े से फल तथा अन्न की रोटी ही उसकी क्षुधा वृत्ति के लिये पर्याप्त थे। दाढ़ी बनाने तथा बाल बनवाने के झंझटों से मुक्ति पाने के लिये उसने केश तथा दाढ़ी बढ़ाली थी। घोर अभावों में भी उसे आत्म संतोष का अमृत पीने को मिलता था। कभी-कभी तो उसे भूखे ही सोना पड़ता था।

उसनी ज्ञान साधना पूरी कर चुकने पर बत्तीस वर्ष की आयु में वह एथेंस से सिकन्दरिया पहुँचा। सिकन्दरिया उस समय यूनान में ही नहीं यूरोप में भी ज्ञान विज्ञान तथा शिक्षा का केन्द्र था। पूर्व में भी भारत के अतिरिक्त और कोई देश इतनी प्रगति नहीं कर सका था।

सिकन्दरिया का तत्कालीन शासक टोलेमी प्रथम विद्वानों का बहुत सम्मान करता था। युक्लिड उसके दरबार में पहुँचा तथा उसे अपने महत्वपूर्ण जीवनोद्देश्य से अवगत कराया। टोलेमी इस युवक से बहुत प्रभावित हुआ तथा वहाँ के विश्वविद्यालय में गणित का प्राध्यापक नियुक्त करवा दिया। सिकन्दरिया का संग्रहालय, पुस्तकालय तथा विश्वविद्यालय अपूर्व थे। संग्रहालय तथा पुस्तकालय विश्व विद्यालय से सम्बन्धित थे। इसमें देश विदेश के कई ज्ञान पिपासु अध्ययनार्थ आते थे।

यद्यपि उस समय तक रेखागणित का कोई व्यवस्थित स्वरूप नहीं बन पाया था। किन्तु रेखागणित का विकास गणित की एक स्वतंत्र शाखा के रूप में किया जा सकता है। इस सम्भावना को सिकन्दरिया के कई गणित के विद्वान मानते थे।

यहाँ आ जाने से युक्लिड को अपना मनोरथ पूरा होता दिखाई देने लगा। यहाँ के पुस्तकालय से उसे सहायता भी मिली। वह विश्व विद्यालय में पढ़ाने के अतिरिक्त समय में रेखागणित की पाठ्य पुस्तकों के निर्माण का कार्य करता था।

जब तक टोलेमी प्रथम का शासन रहा तब तक युक्लिड विश्व विद्यालय का सम्मानित प्राध्यापक रहा। किन्तु उसकी मृत्यु हो जाने पर जो व्यक्ति नया सम्राट बना वह उसे समझ नहीं सका। विश्व विद्यालय के कुछ ईर्ष्यालु प्राध्यापक उसकी विद्वता के कारण उससे जलन रखते थे। उन्होंने सम्राट से कह कर उसे वहाँ से निकलवा दिया।

अब फिर उसके सामने वही जीवन निर्वाह की समस्या थी। यह सामान्य सी आवश्यकता उसके संकल्प में बाधक नहीं बन सकती थी। उसने अपना एक प्रथक गणित का विद्यालय स्थापित कर लिया। आरम्भ में वहाँ भी इतने विद्यार्थी नहीं आते थे कि उसके जीवन निर्वाह तथा रेखा गणित की पुस्तकों के निर्माण का खर्च चल सके फिर भी वह अपने काम में जुटा रहा। धीरे-धीरे विद्यालय चल निकला तथा उसकी कठिनाई हल हो गई।

युक्लिड के सुदर्शन व्यक्तित्व को देख कर कई सुन्दरियों ने उसके समक्ष विवाह प्रस्ताव रक्खा। युक्लिड से प्रत्येक को यही उत्तर मिला कि मेरे पास इतना काम है कि मैं विवाह करना तो दूर विवाह करने की सोच भी नहीं सकता। यह अरसिकता मनस्वियों के लिये वरदान होती है।

अभी तक रेखा गणित की समस्याओं तथा सूत्रों के रूप में जो कुछ सामग्री उसे मिली थी उसमें अधिकांश पूर्ण तथा संदिग्ध थी। युक्लिड ने उसे सही तथा पूर्ण किया तथा उसे एक व्यवस्थित स्वरूप दिया। जो व्यर्थ की सामग्री थी उसे प्रथक कर दिया।

हिप्पोक्रेटस, पाइथागोरस आदि की उपलब्धियों से उसको सहारा अवश्य मिला था। उसने उनमें जो विसंगतियां थी उन्हें दूर भी किया था उसके कार्य को मौलिक भले ही न माना जा सकता हो किन्तु रेखागणित का व्यवस्थित स्वरूप उसने अपनी पुस्तकों में प्रस्तुत किया।

उसने गणित-रेखागणित की सत्रह पुस्तकों का निर्माण किया। इनके निर्माण में उसने जो अथक श्रम किया उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। आज, विज्ञान ने दूरियों पर विजय प्राप्त कर ली है, ज्ञान तथा शिक्षा के क्षेत्र में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं। उस समय घोड़ा ही सबसे तेज सवारी था। तथा कागज का तो उन दिनों किसी ने नाम भी नहीं सुना था देश-देश में पुस्तक निर्माण के भिन्न-भिन्न तरीके थे। उन दिनों को देखते हुए युक्लिड का यह अनोखा कार्य ही था।

उसकी यह सत्रह पुस्तकें जो "स्टोचिया" जिन्हें अंग्रेजी में 'एलीमेंटस ऑफ ज्यॉमेट्री' कहा जाता है, दो हजार वर्षो तक रेखा गणित के अध्ययन का आधार बनी रही। ये पुस्तकें उस समय भेड़ की खालों पर लिखी गई थी। इनके प्रथक-प्रथक रोल बना दिये गये थे।

इन पुस्तकों को सधारण रेखा गणित से लेकर उच्च रेखा गणित तक वर्गीकृत किया गया था। उसने ये पुस्तकें

ग्रीक में लिखी थीं। उनका धीरे-धीरे अन्य भाषाओं में अनुवाद हुआ।

रेखा गणित रेखाओं का गणित है। जितने अच्छे साधन होते हैं उतने ही उसके निष्कर्ष सही निकलते हैं। उस समय की परिस्थितियों में एक व्यक्ति द्वारा रेखागणित की इतनी व्यवस्थित पुस्तकें दे देना आश्चर्य जनक कार्य ही कहा जायगा।

युक्लिड ने अपना सारा जीवन एक ही संकल्प को पूरा करने में लगा दिया। वह कठिनाइयों को हंसता हुआ झेलता रहा असफलताओं को अपनी परीक्षा मानकर चलता रहा और अन्त में अपने ध्येय को पाने में सफल हुआ। सच्चे अर्थों में वह एक ऋषि था, जो जीवन भर विज्ञान की प्रगति के लिये सीढ़ियों का निर्माण करता रहा जिनके सहारे विज्ञान ने अनुपम प्रगति की।

जीवन में सदा देने की प्रवृत्ति युक्लिड की रही। उसने अपने जीवन भर की कमाई—अपनी सत्रह ज्यामिति की पुस्तकों से संसार के ज्ञान भंडार को भरा। अपने विद्यार्थियों के लिये वह एक योग्य शिक्षक के रूप में अपने ज्ञान के कण-कण से उन्हें नहलाने में चूका नहीं।

मनुष्य की सामर्थ्य को एक ही दिशा में लगाकर कितने महत्व पूर्ण कार्य किये जा सकते हैं युक्लिड उसका अनुपम उदाहरण है।

निस्वार्थ भाव से उसने विश्वमानव को जो देन दी वह सदा आने वाली पीढ़ियों को अपने पद चिन्हों पर चलने की प्रेरणा देती रहेगी।



किसी समय चन्द्रमा बहुत सुन्दर था। हर दिन उसका चेहरा खिला ही रहता था और चाँदनी पूरी रात छिटकी रहती थी। कुछ दिन बाद चाँद पर मनहूसी सवार हुई। वह चुप रहने हँसने और मुस्कराने की आदत छोड़कर मुँह लटकाए बैठा रहता।

जैसे-जैसे चुप्पी बढ़ी वैसे वैसे चाँद की रोशनी भी घटने लगी। यहाँ तक कि पन्द्रह दिन में वह बिल्कुल कुरूप हो गया। न उसके चेहरे पर रोशनी रही न चाँदनी निकली। लोगों को भी अखरा। चाँद अपना दुखड़ा रोने विधाता के पास पहुँचा और कहा मेरी खूब सूरती कहाँ चली गई ? मैं काला कुरूप क्यों हो गया ? विधाता ने कहा—मूर्ख तू इतना भी नहीं जानता। हँसना ही खूबसूरती है, मुस्कराहट का नाम ही चाँदनी है। जा, मनहूसी छोड़—और हर दिन हर घड़ी खिलखिलाता रह, तेरी खूबसूरती फिर वापिस आ जायगी, चन्द्रमा ने विधाता की बात मानी, वह फिर हँसने की कोशिश करने लगा, जितनी सफलता मिलती गई उतनी ही उसकी खूब सूरती चमकती गई। पन्द्रह दिन में फिर पुरानी हालत पर पहुँच गया। पूर्णमासी के दिन पूरे प्रकाश के साथ चमका। पर हाय री पुरानी आदत, वह छुड़ाये न छूटी। मनहूसी फिर उस पर सवार हुई, मुरदनी का सा चेहरा लटकाने और चुप रहने का ढर्रा उसने फिर अपनाया तो वही हालत फिर हुई। अमावस्या आते-आते वह फिर काला कुरूप हो गया।

यह देखकर वह घबड़ाया और विधाता की नसीहत को ध्यान में रख फिर मुस्कराने लगा और धीरे-धीरे अपनी खोई खूबसूरती उसने फिर बढ़ाली। दूसरों की तरह चन्द्रमा भी आखिर आदत का गुलाम बन गया। पन्द्रह दिन इस पर मनहूसी सवार होती तो मुँह लटकाए रहता है, परन्तु उसकी रोशनी घटती जाती है। जब फिर होश सँभालता है तो हँसते मुसकराते अपनी खोई सुन्दरता फिर प्राप्त कर लेता है। मुद्दतों से यह क्रम चलता आ रहा है। इसे अँधेरा और उजेला पाख कहा जाता है।

राजनीति का आधार धर्मनीति ही बने

राजनीति ने आज मानव जीवन के सभी क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया है। इसलिए उसका महत्व बढ़ गया है। प्राचीन काल में न्याय और व्यवस्था तक ही शासन का हस्तक्षेप होता था, पर अब उसका क्षेत्र बहुत बढ़ गया है और जीवन के हर क्षेत्र को राजनीति प्रभावित करती है। स्वास्थ्य, संस्कृति, भाषा,साहित्य, कला विज्ञान जैसे जनरुचि के विषय भी अब राजनैतिक प्रभाव क्षेत्र में आ रहे हैं। शिक्षा, उत्पादन, श्रम, व्यवसाय, शासन, न्याय निर्माण, विज्ञान, शिल्प आदि तो पहले से ही उसके नियन्त्रण में पहुँच चुके हैं। धीरे-धीरे जन जीवन का हर क्षेत्र राजनैतिक प्रभाव के अन्तर्गत आता चल रहा है।

जहाँ अधिनायकवाद का प्राधान्य है वहाँ तो जनता को शासन तन्त्र की मशीन का एक पुर्जा मात्र बनकर रहना पड़ता है। जानने, सोचने और निष्कर्ष निकालने तक के साधन लोगों के हाथ में नहीं रहते। प्रचार का परिपूर्ण उपकरण सरकार के हाथ में रहने से जन-मानस को शासन ही जिधर चाहे मोड़ता बदलता रहता है। ऐसी दशा में यह स्वीकार कर ही लेना चाहिये कि आज राजनीति की, शासनतन्त्र की प्रबलता सर्वोपरि बनती चली जा रही है और कल वह समय आयेगा जब व्यक्ति शासन के हाथ का खिलौना मात्र बनकर रह जायगा।

जन जीवन में अपनी प्रमुखता रखने वाली राजनीति में, शासन तन्त्र में, यदि कहीं दोष रहते हैं तो उसका दुष्परिणाम सर्व साधारण को बुरी तरह भुगतना पड़ता है। वर्तमान स्थिति में जब कि जन साधारण की नैतिक स्थिति निम्न स्तर की ओर गिर रही है, शासनतन्त्र के संचालकों का उच्च चरित्र से, उच्च आदर्शों से परिपूर्ण होना आवश्यक है। 'यथा राजा तथा प्रजा' की उक्ति असत्य नहीं है। बड़ों को देखकर छोटे उनसे प्रभाव ग्रहण करते हैं। अनुकरण को अग्रसर होते हैं। प्राचीन काल में सन्तों, ऋषियों और ब्राह्मणों का राजा और प्रजा पर नियन्त्रण था, उनका व्यक्तित्व ऊंचा माना जाता था, इसलिए जनता इनकी भावनाओं और प्रेरणाओं से प्रभावित होकर अपनी दिशा निर्धारित करती थी।

अब वह स्थान शासन संचालकों को मिल रहा है। उन्हीं के वक्तव्यों भाषणों, गतिविधियों और योजनाओं से अखबार, रेडियो, पुस्तक भरे रहते हैं। सभा सम्मेलनों में उन्हीं की चर्चा प्रधान रूप से होती है। जन चर्चा का विषय वे ही हैं। किसी बिगाड़ या सुधार के लिये उन्हीं को उत्तरदायी माना जाता है। इतनी ऊँची स्थिति जिस वर्ग ने प्राप्त करली है उन शासन संचालकों का प्राचीन काल के सन्तों और ऋषियों के समान ही आदर्श होना चाहिये अन्यथा राज्य कर्मचारियों पर ही नहीं जन साधारण पर भी उसकी प्रतिक्रिया होगी। हीन, चरित्र का शासक वर्ग कभी भी जन-प्रेरणा का प्रकाश स्तम्भ नहीं बन सकता।

देशगत राजनीति पर विचार किया जाय या अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर सभी क्षेत्रों में उच्च चरित्र के मार्गदर्शकों की नितान्त आवश्यकता अनुभव की जा रही है। इसी एक कमी के कारण समस्त विश्व की जनता क्षुब्ध और निराश होती चली जा रही है। इन दिनों विश्व रूस और अमेरिका के दो गुटों में बँटा है। शक्ति के अभाव में तटस्थ देशों की अभी अपनी कोई स्थिति नहीं है। दोनों गुट अपने संकुचित दृष्टिकोण के कारण अपने प्राधान्य और वर्चस्व के लिए संघर्ष कर रहे हैं। अणु-विज्ञान की तलवार इन लोगों के हाथ लग जाने से तीसरे अणु युद्ध का खतरा दिन-दिन बढ़ता चला जा रहा है। किसी दिन भी स्थिति विस्फोटक रूप धारण कर सकती है और लाखों करोड़ों वर्षों से संचित मानव सभ्यता देखते-देखते नष्ट हो सकती है। यह धरती विषाक्त वायुमण्डल से परिपूर्ण होकर प्राणियों से रहित अथवा विकलांग, विक्षिप्त अपङ्ग और अभावग्रस्त लोगों से भरी दयनीय स्थिति में हजारों, लाखों वर्षों तक पड़ी रहने के लिये विवश हो सकती है।

अणुयुद्ध की विभीषिका से सभी लोग परिचित हैं।

साधारण शस्त्र युद्ध भी क्या कम भयङ्कर होते हैं। पिछले पचास वर्षों में दो विश्वयुद्ध हो चुके हैं, उनसे धन जन की कितनी हानि हुई है। इसका अनुमान लगा सकना भी कठिन है। आज भी युद्ध साधनों को विकसित करने के लिए कितने विशाल परिमाण में धन और जनशक्ति लगी हुई है इसे देखकर रोमांच हो उठता है। यदि विश्व के दोनों गुटों के राज्य संचालकों में इतनी दूरदर्शिता उत्पन्न हो जाय कि नाश की तैयारी छोड़कर दुर्भावना और द्वेष छोड़कर परस्पर प्रेम से मिल बैठें और मानव जीवन को अधिक सुखी, अधिक सन्तुलित एवं अधिक समुन्नत बनाने का प्रयत्न करें तो दूसरे ही दृश्य उपस्थित हो सकते हैं। करोड़ों व्यक्ति जो फौज में काम कर रहे हैं, शिक्षा, उत्पादन एवं अन्य जन कल्याण के कामों में संलग्न होकर प्रगति के लिए बहुत काम कर सकते हैं। इसी प्रकार जो धन युद्ध की तैयारी में खर्च होता है, जितने श्रमिक और कारखाने इस प्रयोजन के लिए संलग्न रहते हैं। वे यदि उपयोगी कार्यों में लग सके तो संसार में गरीबी, बीमारी, अशिक्षा आदि का पूरी तरह सफाया होने में देर न लगे। संसार के राजनीतिज्ञों के पास सारे साधन मौजूद हैं उच्च शिक्षा सुविकसित मस्तिष्क, चतुर सलाहकार, विज्ञान, जन-सहयोग सभी कुछ तो उन्हें प्राप्त है। कमी केवल उदारता और उदात्त-भावनाओं की है।

काश आज की दुनियाँ का नेतृत्व किन्हीं महापुरुषों के हाथ रहा होता, काश गांधी, ईसा, बुद्ध, सुकरात, कानफ्यूशियस, सरीखी आत्माओं के हाथों शासनाध्यक्षों का कार्य संचालित हुआ होता तो दुनियाँ आज की स्थिति में पड़ी न रहकर स्वर्ग बन गई होती। काश राजनीति ने कूट-नीति (धूर्तता) का रूप छोड़कर धर्मनीति बनना स्वीकार किया होता तो आज सर्वत्र शान्ति प्रेम और आनन्द की ही निर्झरणी बह रही होती। सम्पन्नता, शिक्षा, कला, विज्ञान एवं चतुरता बढ़ रही है, पर चरित्रबल घट रहा है। संसार में शासनतन्त्र अधिक शक्तिशाली बनते चले जा रहे हैं। पर उनकी वह विशेषता घट रही है जिसके प्रभाव से जनमानस में प्रेरणा और आशा का संचार होता है।

आज जबकि जन जीवन के सारे साधन राजनीति के प्रभावक्षेत्र में चले जा रहे हैं तो यह आवश्यक है कि उसके नेता और संचालकों का व्यक्तित्व, चरित्र एवं भावना स्तर इतना ऊँचा हो कि दण्ड भय से नहीं श्रद्धा से अवनत होकर लोग उसका अनुसरण करने लग जांय। इसी से जन-जीवन में सच्ची प्रगति का संचार हो सकता है। यदि यह क्षेत्र दुर्बल बना रहा, बिल्ली के गले में घण्टी न बध सकी तो भ्रष्टाचार की स्थिति ज्यों की त्यों बनी रहेगी। जनता सरकार को दोष देती रहेगी और सरकार जनता का कसूर बताती रहेगी। समस्या जहाँ की तहाँ उलझी पड़ी रहेगी।

अनीति को रोकना और साधनों को बढ़ाना शासन का कार्य है। सबको समान अवसर तथा समान न्याय प्राप्त हो ऐसी स्थिति उत्पन्न करना राजकीय उत्तरदायित्व माना गया है। इन उत्तरदायित्वों को पूरा करने के लिए राज्य कर्मचारियों को न्याय और कानून के प्रति नितान्त निष्ठावान, निर्लोभ, निष्पक्ष एवं कर्त्तव्य परायण होना चाहिये। कानून तो पुस्तकों में बन्द रहते हैं। उनका पालन करना और कराना राज्य कर्मचारियों का काम है। उनका चरित्रवान् एवं उच्च आदर्शवादी होना ही प्रजा की सुख शान्ति की गारण्टी हो सकती है। यदि यह शासक वर्ग अपने कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों की उपेक्षा करेगा तो प्रजा का न्याय पर से विश्वास कम होता चला जाएगा। और हर क्षेत्र में अनीति पनपेगी और अधिकारियों को अपने पक्ष में करके दुष्ट लोग जनता को संत्रस्त करेंगे। अपराधों की रोकथाम के समस्त उपाय एक ओर राज्य कर्मचारियों की कर्त्तव्य परायणता एक ओर रखकर तोला जाय, तो कार्यकर्त्ताओं की ईमानदारी ही अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध होगी। इसके अभाव में नाना प्रकार की योजनायें बनती विगड़ती रह सकती हैं पर जनहित का, समस्या का, ठीक समाधान न हो सकेगा।

बहुत समय से अनेक विचारशील विद्वान यह बताते रहे हैं कि सुरक्षा की समस्या को हल करने के लिये राष्ट्रीय चरित्र की ही सबसे अधिक आवश्यकता है। चीन के आक्रमणकारी इरादों को असफल करने के लिए जहाँ सुशिक्षित सेना और आधुनिक हथियारों की आवश्यकता

है वहाँ देशभक्ति, स्वाभिमान, दृढ़ता, त्याग भावना और उच्च चरित्र की भी नितान्त आवश्यकता है। शक्ति का वास्तविक स्रोत भावनाओं की प्रबलता, दृढ़, संकल्प आदर्श निष्ठा और उच्च चरित्र में सन्निहित रहता है। भूतकाल में इन्हीं गुणों की कमी से हमें विदेशी आक्रमणों का शिकार होना पड़ा है। यदि इन दोषों को सुधार लिया जाय तो भारत का प्रत्येक नागरिक टैंकों तोपों और जहाजों की शक्ति से भी अधिक शक्तिशाली सिद्ध हो सकता है। और उसके आगे चीन बेचारा तो क्या, संसार की समस्त युद्ध लिप्सु शक्तियाँ इकट्ठी होकर भी हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकती। सुरक्षा के लिए इसी सच्ची शक्ति का जागरण अभीष्ट है।

सरकार के सामने अनेकों रचनात्मक काम करने को पड़े हैं। उनकी सफलता असफलता इस बात पर निर्भर रहेगी की राज्य कर्मचारी कितनी ईमानदारी से उन्हें कार्यान्वित करते हैं। देशभक्ति, लोकहित, और सामूहिकता की भावना यदि जनमानस में जागृत रहेगी तो उन सरकारी योजनाओं को प्रजा का आवश्यक सहयोग एवं समर्थन मिल सकेगा। यदि लोगों के मनों में सीमित स्वार्थ ही समाया रहे तो अपने मतलब से मतलब की बात के अतिरिक्त और कुछ कोई सुनना समझना ही न चाहे तो राष्ट्र की प्रगति कैसे सम्भव होगी। नागरिक कर्तव्यों का पालन करने की इच्छा यदि लोगों में न हो तो सरकारी योजनाओं को, राष्ट्रीय सम्पत्ति को क्षति पहुँचाने वाले कार्य ही होते रहेंगे। सरकार कितने ही अच्छे कार्य करना चाहती है। उनके लिए योजनायें बनाती है और खर्च भी करती है पर जन सहयोग के अभाव में वे स्वप्न साकार नहीं हो पाते। एक हाथ से ताली नहीं बजती। केवल शासन के द्वारा ही सब कुछ नहीं हो सकता। बुराईयों को दूर करने और अच्छाइयों को बढ़ाने के लिए जन सहयोग भी चाहिये। यह सहयोग कर्त्तव्य-निष्ठ, देश-भक्त और नागरिक उत्तरदायित्वों को समझने वाले लोग ही कर सकते हैं। जिन लोगों में यह भावना विकसित नहीं हो पाई उनकी गणना नर पशुओं में ही की जा सकती है। और वे केवल सरकारी प्रयत्नों से ही प्रगति शील नहीं बन सकते। आर्थिक अनुदान या अन्य साधन सामग्री की जनकल्याण के लिए जितनी आवश्यकता है, उससे असंख्य गुनी आवश्यकता इस बात की है कि जन-मानस में कर्त्तव्य के प्रति—समाज के प्रति निष्ठा उत्पन्न हो। यदि यह भावनात्मक विकास न हो सका तो बाहरी विकास योजनाओं का भविष्य उज्वल नहीं हो सकता।

जातिवाद के नाम पर, दाव-धौंस में आकर, प्रलोभनों या खुशामदों से प्रभावित होकर जो लोग चुनाव के समय अपना "वोट" जैसी राष्ट्रीय धरोहर का ठीक उपयोग नहीं कर सकते, उन्हें अच्छे लोगों के चुने जाने से होने वाला लाभ नहीं मिल सकता। उन्हें आदर्शवादी सरकार की भी आशा नहीं करनी चाहिये। बीज से पेड़ उत्पन्न होता है। वोट देते समय हमारा मन जिस उच्च या निकृष्ट भूमि से प्रभावित होता है उसी के अनुरूप सरकार चुनकर सामने आ जाती है। प्रजातन्त्र में जनमत का बहुत महत्व प्राप्त है। इस महत्वपूर्ण शक्ति का जहाँ की प्रजा ठीक उपयोग करती है वहाँ शासन में अच्छे लोग पहुँचते हैं और उनके द्वारा आदर्श व्यवस्थायें चल पड़ती हैं।

राजनीति आज की एक प्रचण्ड शक्ति है। इस पर नीति और धर्म का नियन्त्रण रहना चाहिये। प्रजा और शासकों में चरित्र के प्रति जितनी गहरी आस्था होगी उतना ही इस शक्ति का ठीक उपयोग हो सकेगा और उसी आधार पर हमारी सुरक्षा, समृद्धि, प्रगति एवं शान्ति का मार्ग प्रशस्त होगा। कूटनीति का स्थान जब धर्मनीति को मिले, तभी मानव जीवन में सुख-शांति का आविर्भाव सम्भव होगा।



देवर्षि नारद ने ध्रुव की निष्ठा परखते हुए पूछा—वत्स ! घोर तपस्या के बाद भी यदि तुम्हें भगवान के दर्शन न हुए तब क्या करोगे ? बालक ने मुस्कराते हुए कहा—भगवन् ! तब मैं आगे भी तप करता रहूँगा और ज्ञात करूँगा कि क्या ईश्वर को पाने के लिए एक जन्म पर्याप्त नहीं।

उच्चतम नैतिक साहस के प्रतीक–डेलगालो

१९५८ से १९७५ तक पुर्तगाली जनता में दो व्यक्ति सर्वाधिक चर्चित रहे, दोनों अलग अलग ध्रुव विन्दु के प्रतीक समझे जाते। नृशंशतम अत्याचारों का प्रतीक साला जार और आनेवाली आजादी का मसीहा डेल गालो। सालाजार का नाम याद आते ही लोगों के सामने उसकी नृशस लीलाओं के दृश्य घूम जाते है। पुलिस की काल कोठरियां। भरे चौराहों पर नगें बदन पर बेतों की इतनी वेरहमी से पिटाई कि हिटलर और चंगेज खाँ की आत्मा भी इन यंत्रणाओं के दृश्य देख कर दातों तले अंगुली दबाले। कारण महज इतना कि पुलिस अधिकारियों को थोड़ा शक भर हो जाये। अमुक आदमी आजादी का नाम लेता है या पुर्तगाली प्रजातन्त्रीय आदोलन के लिए काम कर रहा है।

पाठकों को स्मरण होगा कि हमारे देश के ही एक हिस्से गोआ जो अब स्वतंत्र भारत क अधीन है कुछ वर्षो पूर्व इसी पुर्तगाल देश के कब्जे में था तथा उसके लिए स्वतंत्रता की माँग उठाने वाले क्रान्तिकारी युवक मोहन रानाडे को पुर्तगीज जेलों में कैसी अमानवीय यत्रणाए सहना पड़ी। उससे भी घृणित तरीके उन युवकों के लिए अपनाये जाते जो पुर्तगाल के लिए स्वाधीनता या लोक तंत्र की मां उठाते।

उपरोक्त प्रकार की वेहरम पिटाई के बाव जूद भी जो नहीं सुधरते उन्हें लिस्वना या अपोर्ना की पुलिस जेल में भेज दिया जाता है। वह नितांत अकेला रहता है, कोई उससे नहीं नहीं मिल पाता। यहां उन पर विशेष अदालतों में मुकदमा चलाया जाता है। अभियुक्त को इन मुकदमो में सफाई देने की रत्ती भर छूट नहीं होती है। उसके अपराध न्ययाधीश के सामने तिल के ताड़ बनाकर सुनाये जाते। अभियुक्त इस बीच कुछ बोल उठता तो चुप रखने का आदेश मिलता पुलिस की बेंत–वृष्टि के रूप में। दस वर्ष के कठोर कारावास मे कम अवधि का कोई दण्ड होता ही नहीं था और कारावास के कैदी को किसी भी हालत में रोज आठ घण्टे सड़क कूटना पड़ती। यह दण्ड तो संदेहास्पद क्रान्तिकारी के लिए ही निश्चित था। इससे आगे जिनके बारे में पता चलता कि उन्होंने पुर्तगाली प्रजातंत्रीय आंदोलन के लिए धन जमा किया अथवा चन्दा दिया है उसे सीधे मौत की सजा दी जाती। एक बारगी आ जाने वाली मौत नहीं रुला कर जीवन का अन्त करने वाली क्रूर मौत।

ऐसी परिस्थियों में साला जार का तख्ता उलट देने की साजिश करना कितना दुःसाहस पूर्ण कार्य रहा होगा। इसकी कल्पना सहज की जा सकती है। यह अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता कि स्वाधीनता की बात करने वाला पुलिस की निगाह में आते ही राजद्रोही बन जाता है। और उसका मूल्य उसे कितना महंगा चुकाना पड़ेगा यह जानते हुए भी कोई आजादी और क्रान्ति की बात करने का साहस कैसे करेगा। परन्तु जिन्हें गुलामी की जिन्दगी से आजादी का मरणोत्तर अधिक प्रिय है उनके लिए यह कोई बड़ी बात नहीं है। सालाजार के विश्वस्त जनरल तथा अति निकटवर्ती सहयोगी डेल गालो ने जब इन परिस्थितयों को समझते हुए भी स्वाधीन पुर्तगाल की माँग उठायी तो लगा मनुष्य की आत्मा को निरन्तर कुचला नहीं जा सकता।

डलेगालो चाहते तो सालाजार के सहयोगी ही बने रहकर सारा जीवन आराम से विता सकते थे। वे साला जार के विश्वास पात्र जनरल रहे थे, उसकी जी हुजरी कर आराम से दुनिया भर का सुख सहज ही भोग सकते थे। लेकिन जिनकी आत्मा जाग्रत हैं वे किसी भी भय प्रलोभन से क्रूरता, अन्याय और अत्याचार सहन नहीं कर सकते। उन्मुक्त स्वभाव का पक्षी पिजड़े में वन्द सुरक्षित और सुविधा सम्पन्न जीवन की अपेक्षा खुली हवा में मृत्यु ही पसन्द करेगा। डेलगालो ने साला जार के विरुद्ध सशस्त्र क्रान्ति की योजना बनाई। पर उन्हें अच्छे निष्ठावान सहयोगी नहीं मिले फल स्वरूप यह योजना सफल नहीं हो सकी।

जनता का मनोबल उठाने के लिए और उसे संघर्ष

में अपने साथ देने के लिए उन्होंने पुर्तगाली प्रजातंत्रीय दल की स्थापना की। जिसका उद्देश्य देश में जनतंत्र की नींव डालना था और अपना सर्वस्व इस दल को सौंप दिया।

इस जन आन्दोलन को सफल बनाने के लिए उन्हें हमेशा धन की आवश्यकता पड़ती रहती। यह धन उन्हें अपने विदेशी समर्थकों और कुछ मध्यम वर्गीय किन्तु साहसी परिवारों से मिलता रहता। ऐसी बात नहीं कि वे सालाजार की कोप दृष्टि के खतरों से अनभिज्ञ हों फिर भी इन खतरों की उपेक्षा करते हुए प्रजातन्त्रीय आन्दोलन के लिए धन देते रहते थे। सालाजार की पुलिस गार्ड रिपब्लिकाना'—पूरे देश में छाई हुई थी। डेलगालो की गतिविधियों का पता लगाना स्वाभाविक था। उन्हें भी इस बात का पता चल गया कि वे सालाजार की निगाहों में आ गये हैं और पकड़े गये तो सारा आन्दोलन और तैयारियां ठण्डी पड़ जायगी। ऐसी स्थिति में उन्होंने पुर्तगाल छोड़ देना उचित समझा और बाहर किसी देश से ही अपने देश में प्रजातन्त्र की स्थापना के प्रयत्न करने लगे।

सन् १९६१ में एक पुर्तगाली उपनिवेश अफ्रीका के एक देश अंगोला में विद्रोह हुआ। वहां स्वतंत्रता की मांग उठी और सालाजार का दमन चक्र पूरी गति से चलने लगा। डेलगालो ने पुर्तगीज सरकार की साम्राज्य वादी नीतिका विरोध किया और अनेकों वक्तव्य दिये। उन्होंने कहा—हम पुर्तगालियों ने सदैव विदेशी शासकों को अपने देश से खदेड़ा है और साम्राज्य वादियों के खिलाफ लड़े हैं। इसके लिए रोमन, स्पेन, अंग्रेज और फ्रान्सीसियों से अनेक युद्ध हुए अगर मैं अंगोला का निवासी होता तो पुर्तगाल से युद्ध करता परन्तु चूंकि मैं पुर्तगाली हूं इसलिए अपने देश से लड़ तो नहीं सकता परन्तु सत्ताधीशों की साम्राज्यवादी नीति के विरोध में आवाज उठाना अपना कर्तव्य समझता हूं।'

इन दिनों वे अज्ञात वास में रह रहे थे। सालाजार ने डेलगालो को पकड़ने के लिए सभी जगह जाल बिछा रखे थे परन्तु वह भी एक जनरल रह चुके थे इसलिए सभी षड्यंत्रों और व्यूहों को तोड़कर समय समय पर पुर्तगाल आते। अपने सहयोगियों को मार्ग दर्शन देते तथा सुरक्षा की दृष्टि से पुनः देश से बाहर चले जाते। उन्होंने अनेकों देशों से सहायता माँगी, सालाजार विरोधी संघर्ष को तीव्रतर करने के लिए विश्व के कई राजनायिज्ञों ने उन्हें सहयोग दिया भी और उनके प्रवचनों की सराहना भी की। सन १९६ में अल्जीरिया के राष्ट्रपति बेन बल्ो ने उनका हार्दिक स्वागत किया। इसी बीच अत्याधिक श्रम के कारण वे बीमार पड़े और चिकित्सा के लिए चेको स्लोवाकिया गये। वहाँ सालाजार के गुर्गों ने उन्हें पकड़ने और अपहरण करने की पूरी कोशिश की परन्तु हर बार डेलगालो उन्हें चकमा देने में सफल हो जाते।

दिसम्बर १९६३ में एक क्रान्तिकारी दल का गठन हुआ। जिसके वे अध्यक्ष चुने गये। इस दल में कम्युनिष्ट भी आ घुसे। डेलगालो चाहते थे कि सशस्त्र क्रान्ति अभी की जाय जबकि कम्युनिष्ट इस सम्बन्ध में दीर्घ कालीन नीति अपना रहे थे। एक बारगी इस प्रश्न पर मतभेद हुआ और डेलगालो ने इस संगठन की अध्यक्षता से त्यागपत्र देना चाहा। कम्युनिस्ट इस तथ्य को जानते थे कि डेलगालो के स्थान की पूर्ति करने वाला अन्य कोई दूसरा व्यक्तित्व नहीं है। लोकप्रियता के रूप में सामाजिक स्थिति तथा हृदय में देश प्रेम की भावनाएं उनके समान शायद ही किसी और में हो। निदान डेल गालो को ही उन्हें अपना नेता मानते रहना पड़ा।

वे जब अल्जीरिया में ही थे तब उन्हें छलपूर्वक एक स्थान पर बुलाया गया और सालाजार के प्रतिनिधियों ने उनका अपहरण कर लिया। पुर्तगाल की ताना शाहा सरकार ने उन्हें घोर यंत्रणाएं दी और बाद में चौराहे पर नंगा करके बेतों से पिटाई की। इस मार से वे बेहोश हो गये। कुछ देर बाद होश आया तो उसी प्रकार पिटाई इस प्रकार बेतों की मार का क्रम तब तक चलता रहा जब तक कि उनमें आखरी साँस भी बची रही। दुनिया भर के नेताओं ने इसे राजनैतिक हत्या कहा। इन यंत्रणाओं की तुलना में मौत की यंत्रणा कहीं अधिक सुखदायी है :

डेल गालो नहीं रहे परन्तु उनका व्यक्तित्व तथा

कृतित्व अमानवीय अत्याचारों के खिलाफ आवाज उठाने की प्रेरणा सदैव देता रहेगा।

—*—

(पृष्ठ दो का शेष)

चेतावनी दी जाने लगी। पिनेल को इससे कोई चिन्ता नहीं हुई और वे अपने पक्ष का मत ही प्रचारित करते रहे। यही नहीं एक दिन उन्हें भी पागल खाने पहुँचा दिया गया।

उच्च अधिकारियों ने विचार किया कि पिनेल को कुछ समय तक पागल खाने में रखा जाय ताकि उन लोगों के बीच रहने से उनका दिमाग ठीक हो सके। कैसी विडम्बना रही यह कि जो व्यक्ति मानवीय सहृदयता और करुणा का पृष्ठपोषण कर रहा था वही पागल करार दिया गया। डॉ० पिनेल को पूर्ण पागल भी नहीं माना गया था। उच्च अधिकारी तो उन्हें पागलों के बीच रख कर उनके मस्तिष्क में सुधार करवाना चाहते थे। इसलिए उन्हें एक मानषिक चिकित्सालय का प्रवन्धक वना दिया। और पागल खाने की व्यवस्था का संपूर्ण उत्तरदायित्व उन्हें सौंप दिया गया।

पागल खाने में पहुँचकर उन्होंने पागलों की हथकड़ियां वेड़ियाँ खुलवा दीं और उनके साथ मार पीट करने की सख्त मुमानियत कर दी। उन्होंने विक्षिप्तों के साथ सच्ची सहानुभूति रख कर उनके साथ करुणा और सहृदयता पूर्ण सद्व्यवहार द्वारा मानसिक उपचार शुरु किया। यद्यपि उन्हें इस कार्य में काफी कष्ट उठाने पड़े। किन्तु वे अपना उद्देश्य पूरा करने में लगे ही रहे। जिसका परिणाम यह हुआ कि पागल व्यक्ति पहले से अधिक शान्त रहने लगे और कई एक तो अच्छे भी हो गये।

इस सफलता ने बुद्धिमानों के हृदय में उनके प्रति विश्वास पैदा किया और धीरे धीरे प्रचलित ढंग का इलाज वन्द कर मानसिक उपचार पद्धति व्यवहार में लायी जाने लगी। यह प्रक्रिया शनैः शनैः विश्व के सभी देशों में आरम्भ हुई और आज इसी स्वस्थ पद्धति से प्रतिवर्ष हजारों विक्षिप्त ठीक हो रहे हैं। मानसिक उपचार के वर्तमान विकसित रूप का श्रेय डा० फिलिप पिनेल को ही जाता है जिन्होंने इस समस्या के मानवीय पक्ष के छुआ और उद्घाटित किया। स्वस्थ और जान कार विक्षिप्त तथा सभ्य नागरिक इस समस्या के उचित समाधान हेतु आज भी लोग उन्हें धन्यवाद देते है। धन्यवाद के पात्र यह सन्त और कोई नहीं फ्रान्स के डा० पिनेल थे जिनके उपकारों का आज सारा समाज ऋणी है।

—*—

चलते-चलते शाम हो गई तो गुरु नानक पास के गाँव में एक निर्धन किसान के यहाँ ठहर गये। उस गांव के सेठ ने यह सुना कि आज रात्रि को गुरु नानक यहीं विश्राम कर रहे हैं तो वह भी उनके दर्शन के लिए गया। उस समय नानक भोजन कर रहे थे।

भोजन में सूखी रोटी और दाल थी। ऐसा रूखा-सूखा भोजन करते नानक को देखा तो उस सेठ को वड़ा बुरा लगा। उसने कहा—"आप ऐसा भोजन क्यों कर रहे हैं? इस गाँव में तो जो भी कोई सन्त महात्मा आता है वह मेरे यहाँ ही ठहरता है। भगवान की कृपा से मेरे यहाँ किसी भी प्रकार की कमी नही है। मेरा आपसे निवेदन है कि आप भी मेरे यहाँ चलकर ही निवास करिये।"

नानक ने वड़ी शान्ति से उत्तर दिया—'महोदय!' मैं तो श्रम की कमाई से उत्पन्न अमृत खा रहा हूँ। निर्धन व्यक्तियों के शोषण से वने पकवान मुझे पसन्द नहीं हैं।

राजस्थान के जन आन्दोलक—विजयसिंह पथिक

"पथिक जी की आवाज पर राजस्थान के स्त्री-पुरुषों के चार-चार हाथ होते तो वे भी उठ जाते। पथिक जी के नाम का इतना जबरदस्त प्रभाव था कि हमें मिटिंग इत्यादि करने के लिए किसी भी प्रकार के प्रचार की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। केवल एक कार्यकर्ता की सूचना मात्र पर जनसमूह इस प्रकार इकट्ठा हो जाता था जिस प्रकार गुड़ को देखकर चींटियां चली आती हैं। बिजोलिया के किसानों के पथिक जी साक्षात देवता थे। छः वर्ष तक जमीन पर काश्त नहीं हुई, खेती नहीं हुई, ओसर-मोसर, शादी-विवाह, सब बंद रहे। पथिकजी की सबसे बड़ी विशेषता इस आन्दोलन के संचालन में यह रही कि आन्दोलन को चलाने के लिए एक पाई भी किसी सेठ या अन्य व्यक्ति से नहीं ली न बाहर से ही, कहीं से पैसा आया। पथिकजी स्वावलम्बन के जबरदस्त समर्थक थे। उनका हर कार्य स्वावलम्बन के दृष्टिकोण को सम्मुख रख कर चलता था।"

राजस्थान में सामन्तवाद के विरुद्ध प्रबल जन आन्दोलन खड़ा करने और उसमें सफलता पाने वाले लोक नायक विजयसिंह पथिक के आन्दोलन की कार्य पद्धति के सम्बन्ध में उनके अनन्य सहयोगी रहे कार्यकर्ता श्री राम नारायण चौधरी के ये शब्द पढ़कर हमें आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता कि कैसे शादियों से दबी पिसी अशिक्षा व शोषण के वातावरण में जी रही राजस्थानी जनता इतनी सशक्त बन गयी। कैसे विजय सिंह पथिक उनमें देवदूत की तरह पूजे गये यह बातें उस समय भी सत्य थीं और आज भी सत्य हो सकती हैं। उनका मार्ग एक ही है जो त्याग, तप, सेवा, निष्ठा और सर्वस्व समर्पण की पथरीली भूमि से होकर गया है। आज के दिन पर दिन सुविधा-वादी होते आदमी के लिये तो यह असम्भव हो सकता है पर जो उस पथ पर चलने का साहस सामर्थ्य व विवेक जुटा लेता है उसके लिए यह असम्भव नहीं रहता।

विजयसिंह पथिक स्वयं त्यागी और तपस्वी व्यक्ति थे। उन्होंने अपना सारा जीवन राष्ट्र देवता के चरणों पर समर्पित किया था। उत्तर प्रदेश के बुलन्द शहर जिले के गुढ़ावली ग्राम के ठाकुर परिवार में सन् १८८२ में जन्मे भूपसिंह के विजयसिंह पथिक बन जाने के पीछे देश प्रेम की अनूठी कहानी छिपी हुई है। भूपसिंह के दादा १८५७ की क्रान्ति में रणभूमि में ब्रिटिश सेना के छक्के छुड़ाते हुए मारे गये थे। उनके पिता हमीर सिंह जब वे गर्भ में ही थे तब ब्रिटिश शासन के निरंकुश सिपाहियों की लाठियों से घायल होकर मारे गये थे। उनकी माता वीराङ्गना कँवल कुँवर ने जब वे पेट में थे तभी अपने पति पर लाठियां बरसाते निरंकुश सिपाहियों का दमन किया था। कहना न होगा कि देश प्रेम और स्वतंत्रता उनके रक्त मांस में घुल मिल चुकी थी पारिवारिक परम्परा के रूप में।

पिता उनके जन्म लेने के पूर्व ही दिवंगत हो गये गये थे। पाँच वर्ष के थे कि माता की छत्र छाया भी सिर से उठ गयी। बहनोई ने उन्हें पाला पोसा। उन्हीं से अरबी फारसी पढ़ी फिर एक स्वामी जी से संस्कृत हिन्दी और इङ्गलिश की शिक्षा प्राप्त की। स्वाध्याय का युवक भीम सिंह को बड़ा चाव था। एक दिन बंकिम बाबू का आनन्दमठ उपन्यास पढ़ने को मिला फिर तो वे माँ भारती की लोह शृंखलाओं को तोड़ फैंकने के लिए कटिबद्ध हो गये।

१९०७ में वे प्रसिद्ध क्रान्ति कारी शचीन्द्र नाथ सान्याल के सम्पर्क में आये। रास विहारी बोस से भी मिले बंगाल जाकर अजाने ही उनका यह जीवन पुष्प मातृभूमि के चरणों पर चढ़ गया और लौकिक कामनाएँ सब मर गयीं। ३० अप्रैल १९०८ के दिन मुजफ्फर पुर में हुए बम काण्ड के पश्चात दो मई को माणिक तल्ला में जो छापा मारा गया उसी में गिरफ्तार हुए ३६ क्रान्ति-कारियों में जिनमें अलीपुर षड़यंत्र के अभियुक्त भी थे, में एक भूपसिंह भी थे, जो बाद में छोड़ दिये गये। उसके बाद भी उनकी क्रान्तिकारी गतिविधियाँ और तेजी से चल पड़ी। बंगाल में जब उनका रहना निरापद नहीं रह

गया तो वे सङ्गठन कार्य के लिए राजस्थान के उस क्षेत्र में आ गये जहाँ अभी क्रान्ति और 'स्वतन्त्रता' जैसे नामों से जनता अपरिचित ही थी।

बंगाल से खाली हाथ राजस्थान आने वाले और अजमेर के रेलवे कारखाने में छद्म नाम से क्लर्क की नौकरी करने वाले भूपसिंह ने विजय सिंह पथिक बनकर रास विहारी बोस के निर्देश में खरवा ठाकुर मोड़ सिंह व सवाई सिंह से मिलकर हजारों वीरों की एक सेना खड़ी करली यह उनकी कर्मठता और देश भक्ति का उदाहरण है।

रास विहारी बोस के साथ उनके दल के एक व्यक्ति ने विश्वघात किया इस कारण उनका यह विद्रोह सफल नहीं हो सका। विजयसिंह इसमें पकड़ गये। फिर जेल तोड़ कर भागे और बड़ी कठिनाईयों को सहते हुए वे चित्तौड़ गढ़ आये। उनके साथी कहा करते थे कि एक बार तो वे भूखे प्यासे, थके हारे, एक चट्टान पर सो रहे थे कि उन्हें एक सिंह उठा कर चल पड़ा। उन्होंने देखा कि उन्हें एक सिंह उठाकर लेजा रहा है तो भी उन्होंने धैर्य नहीं खोया और रिवाल्वर से उसका काम तमाम कर दिया।

भटकते-भटकते वे चित्तौड़गढ़ के निकट ओछड़ी ग्राम पहुँचे वहाँ उन्हें आश्रय मिला पर वे तो ऐसे स्थान पर रहना चाहते थे जहाँ अंग्रेज सरकार की नजर से बचे रहकर क्रान्ति की आग लगा सकें। बिजोलिया उन्हें उसके उपयुक्त स्थल लगा। बीहड़ वनों से घिरा यह प्रदेश जितना सुरक्षित था, वहाँ की जनता उतनी ही दुखी और सामन्ती शोषण का शिकार थी। बिजोलिया की जनता की इस दुर्दशा ने उन्हें किसानों को संगठित कर सामन्तशाही के विरुद्ध सशक्त जन आन्दोलन चलाने को प्रेरित किया।। आरम्भ में शिक्षा प्रसार, व्यायाम आन्दोलन, पुस्तकालय स्थापना आदि के माध्यम से जन-जागरण के कार्य आरम्भ किये गये। यही जन जागृति आगे चलकर एक प्रबल कृषक आन्दोलन के रूप में फूटी जिसके बारे में पहले लिखा जा चुका है।

इस आन्दोलन के लिए उन्होंने निस्वार्थी कार्यकर्त्ताओं की एक सेना गठित की—'राजस्थान सेवा संघ ऐसा ही एक सङ्गठन था जिसकी नींव विजयसिंह पथिक जैसे तपस्वी की तप साधना पर रखी गयी थी। पथिक जी के सहयोगी हिन्दुस्तान के भूतपूर्व सहायक सम्पादक श्री शोभालाल गुप्त ने इस संघ के लिए लिखा है—"कौटुम्बिक भावना इस संस्था की विशेषता थी। इसके सदस्यों और कार्यकर्ताओं ने स्वेच्छा से गरीबी वरण की थी अपने भरण-पोषण के लिए कम से कम लेना और समस्त शक्ति लोक सेवा में लगा देना, यह आदर्श था। सदस्य निजी सम्पत्ति नहीं रख सकता था और किसी के पास निजी सम्पत्ति हुई तो सदस्य बनते समय संस्था को देनी पड़ती थी। प्रत्येक व्यक्ति के लिए पन्द्रह रुपये मासिक खर्च नियत था। संस्था के अध्यक्ष व सामान्य सदस्य के लिए एक ही नियम था। खर्च की निश्चित रकम में से जो राशी बच रहती थी वह संस्था को लौटा दी जाती थी। एक बार हिसाब लगाकर देखा गया तो चार साल की अवधि में पथिक जी ने आठ रुपये मासिक से अधिक खर्च अपने ऊपर नहीं किया। रूखा-सूखा जैसा मिल गया उसी पर संतोष मानना और मस्त होकर काम में जुटे रहना—यही इस संस्था के कार्यकर्ताओं का जीवन क्रम था। मैंने इस संस्था में आठ-दस वर्ष काम किया पर जो आत्म सन्तोष यहाँ प्राप्त हुआ वह जीवन में फिर कभी नहीं मिला। जीवन की यह एक साधना थी, अहम् को भुलाकर लोक कल्याण के लिए की गयी साधना।"

पथिक जी का व्यक्तित्व जितना प्रभावशाली था उससे भी प्रभावशाली था उनका आचरण उनका कृतित्व। लम्बा चौड़ा डील डौल और उस पर दाढ़ी मूँछों से भरा चेहरा, आँखों में ऐसी अजीब सी चमक कि हर कोई अनायास उधर आकृष्ट हो उठे कि इस व्यक्ति की आँखों जलने वाली यह आग कैसी है। वाणी की मिठास और आत्मीयता ऐसी कि एक बार कोई सम्पर्क में आये तो उन्हीं का होकर रह जाय। ऐसे प्रभावशाली व्यक्तित्व के धनी पथिकजी के रूप में बिजोलिया के कृषकों को एक मसीहा मिल गया।

साँमती शोषण चक्र से वे तंग आ गये थे। एक नहीं आठ-आठ तरह के भूमिकर किसानों पर लदे हुए थे बेगार और जी हजूरी ऊपर से करनी पड़ती थी। इन्हीं किसानों को उन्होंने संघर्ष के लिए तैयार किया। माणिक्य लाल

ऐसे जो सहायक भी उन्हें मिले जिन्होंने नौकरी छोड़कर जनता की सेवा को अङ्गीकार किया। भूमि में उपज पैदा न हो लगान दें। किसानों ने वर्षों तक भूमि को परती रखा। लगान के रूप में एक पाई भी ठिकाने को नहीं दी। सरकार महाजनों का बहिष्कार किया गया। रियासती सरकार जितना दमन कर सकती थी किये पर किसान टस से मस नहीं हुए।

बिजोलिया के कृषक आन्दोलन की धूम सारे भारत वर्ष में मच गयी। पं० गणेश शङ्कर विद्यार्थी द्वारा सम्पादित 'प्रताप' उसके समाचारों से भरा रहता था। महात्मा गाँधी तक इस आन्दोलन की धूम पहुँची। उन्होंने अपने निजी सचिव महादेव भाई देसाई को स्थिति का अध्ययन करने भेजा। महादेव भाई ने गाँधीजी को वस्तुस्थिति बताई। उन्होंने उदयपुर महाराणा को इस विषय में पत्र लिखा।

देशी रजवाड़े पथिक के रक्त के प्यासे बन गये। वे पुनः क्रान्तिकारियों की तरह भूमिगत हो गये। उनको जीवित व मृत पकड़कर लाने के लिए इनाम रखे गये पर उनके प्रति जनता में जो श्रद्धा भाव था इसके कारण रियासती पुलिस उनकी छाया भी नहीं छू सकी।

पथिक के भूमिगत होने पर भी आन्दोलन ज्यों का त्यों चलता रहा, एक दो नहीं पूरे छः वर्ष तक और अन्त में सामंत शाही को झुकना पड़ा। किसानों की—जनता की विजय हुई। जनता को पता चला कि उनकी भी अपनी कोई शक्ति है, सत्ता है। बिजोलिया के आन्दोलन की सफलता ने सारे राजपूताने को प्रभावित किया। स्थान-स्थान पर जन आन्दोलन हुए और वे सफल हुए। पथिक जी द्वारा जलाई गई यह आग स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देशी राज्यों के भारत में विलीनी करण में भी सहायक हुई।

पथिकजी सफल संगठन कर्ता और देश भक्त ही नहीं पत्रकार और लेखक भी थे। उनकी राजस्थान सेवासंघ "संस्था से प्रकाशित होने वाले 'तरुण राजस्थान' व 'नवीन राजस्थान' में उनकी यह प्रतिभा परिलक्षित होती है। बेगूं के किसान आन्दोलन का नेतृत्व करने के कारण जब उन्हें बन्दी बनाकर दीर्घकालीन मुकदमा चलाया था तब उन्होंने जेल में 'प्रह्लाद विजय' नामक महाकाव्य लिखा था। ऐतिहासिक शोध में उनकी विशेष रुचि थी। उन्होंने भारत के प्राचीन गणराज्यों सम्बन्धी बहुमूल्य सामग्री एकत्रित की थी।

देशी राज्यों के अखिल भारतीय आन्दोलन में भी उनका सक्रिय सहयोग रहा था। वे देशी राज्य लोक परिषद के उपाध्यक्ष चुने गये थे। कांग्रेस के स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय वे जेल गये थे। डा० लोहिया की तरह गाँधीजी और कांग्रेस का पूरा पूरा सहयोग देते हुए भी उन्होंने कभी कांग्रेस की सदस्यता को स्वीकार नहीं किया। इसका कारण उनकी सिद्धान्तनिष्ठा थी। वे चाहते थे कि कांग्रेस जन-सामान्य की संस्था हो। किन्तु उस समय कांग्रेस बहुत कुछ धनपतियों के आर्थिक सहयोग पर चलती थी। दूरदर्शी पथिक उसमें वह छिद्र देख रहे थे कि कभी न कभी यह परम्परा जो आज देशप्रेम के रूप में भी चल रही है। स्वार्थ साधन के रूप में भी चल सकती है। तबयह लोकवासियों की जमात स्वार्थी लोगों का दल भी बन सकता है। और ऐसा हुआ भी।

"मैं पथिक के बारे में बहुत कुछ बतला सकता हूँ। पथिक एक सिपाही है, बहादुर है जोशीला है, तेज मिजाज है लेकिन जिद्दी है। जब महादेव बिजोलिया गये तब पथिक उनके निर्भ्रान्त साथी थे। महत्वपूर्ण बात तो यह है कि बिजोलिया की जनता का उन पर पूरा-पूरा विश्वास है।" महात्मा गांधी के उन शब्दों में जो श्री पथिक के लिए कहे गये हैं यह स्पष्ट झलकता है कि पथिक जी का जिद्दीपन उन्हें अच्छा नहीं लगा। सैद्धांतिक मत भेद होते हुए भी पथिक जी ने भारत छोड़ो आन्दोलन में जी जान से भाग लिया। कांग्रेसी नहीं होते हुए भी वे राजपूताना—मध्यप्रदेश—अजमेर की संयुक्त कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष बनाये गये।

पथिक क्रान्तिकारी थे और जीवन भर क्रान्तिकारी ही रहे। मुजफ्फरपुर के बम काण्ड से लेकर अपने अन्तिम समय तक वे क्रान्तिकारी ही रहे। इसमें उनकी दूरदर्शिता ही प्रदर्शित होती है। मात्र राजनैतिक स्वराज्य उनका ध्येय नहीं था वे तो उसके बाद आर्थिक नैतिक और सामाजिक स्वतन्त्रता भी लाना चाहते थे।

उनका द्वेष अंग्रेजों से नहीं अंग्रेजियत से था, उनका द्वेष सामंत शाही से था, दूसरे शब्दों में स्वार्थ से था। स्वार्थ के कारण अंग्रेजी शासन बुरा था, स्वार्थ के कारण सामंत शाही बुरी थी पर यदि प्रजातन्त्र में भी व्यक्तिगत स्वार्थ के पीछे सामान्य जन का अहित किया जाय तो वह उतना ही बुरा था। इसी बुराई को दूर करना उनका ध्येय था। उसी के लिए वे प्राणों पर खेले थे।

पथिकजी ने जिस जन जागरण का कार्य हाथ में लिया था उसकी आज भी उतनी ही आवश्यकता है। हम अंग्रेजों की दासता से छूटे तो अपनी स्वार्थ की दासता में फंस गये। बंधन मुक्त होना तो अभी शेष ही है।

पथिकजी बिजोलिया के आन्दोलन के बाद चुप नहीं बैठे। उन्होंने अपने साथियों को लेकर मेवाड़, बूंदी, पालनपुर, अलवर, सिरोही, दाँता, ईडर, जयपुर, जोधपुर, भरतपुर, बीकानेर, आदि रियासतों में आन्दोलन किये, वहाँ की सोयी हुई जनता को जगाया। बंकिम बाबू के 'आनन्द मठ' को पढ़ कर उन्होंने यह आवश्यकता अनुभव की थी कि देश में कुछ ऐसे कर्तृत्ववान देशभक्त होने चाहिए जो वेश से भले ही भगवां वस्त्र नहीं पहनें पर उनका जीवन सन्यासी का सा ही हो—विशुद्ध रूप से देश व समाज के लिए ही उन्होंने अपना जीवनदान करके इस आवश्यकता की पूर्ति ही नहीं की वरन् लोक सेवियों की एक सेना खड़ी करदी जिसने सामन्तशाही को झुका दिया।

आजादी लाने का पथिकजी का एक सपना पूरा हुआ। इसके बाद वही हुआ जिसकी उन्हें आशङ्का थी। अब तक राजनीति और देश सेवा त्याग, बलिदान का क्षेत्र था अब वह पद प्राप्ति व स्वार्थ साधन का क्षेत्र बन गया। होना तो यह चाहिए था कि उन जैसे निस्वार्थ लोक सेवियों को देश के नव निर्माण के कार्य में आगे रखा जाता पर ऐसा हो नहीं सका। आत्म विज्ञापन करके, दूसरों को धक्का देकर सत्ता पर येन केन प्रकारेण अपना दखल जमा लेने वालों के विज्ञापनों ने जनता को भरमा दिया और पथिक जैसे प्रशंसा प्रसिद्धि से दूर रहने वाले कर्तव्य पथ के पथिकों को विस्मृत के गर्त में गिरा दिया गया।

इतने पर भी वे हिम्मत नहीं हारे। उनका काम अभी समाप्त नहीं हुआ था। वे मजदूरों और किसानों में जागृति लाने के काम में जुट गये पर उसे पहले वाले आन्दोलन जैसा बनाने के पहले ही ७२ वर्ष की आयु में वे चल बसे। उनके अधूरे काम को पूरे किये बिना हमारी आजादी अधूरी ही रहेगी। हमें उसे पूरी करना है तो पथ वही है जिस पर पथिकजी चले थे।



सन् १८८५। पूना के न्यू इङ्गलिश हाई स्कूल में समारोह के समय प्रमुख द्वार पर एक स्वयं सेवक को इसलिए नियुक्त किया गया कि वह आने वाले अतिथियों के निमन्त्रण पत्र देखकर सभा-स्थल पर यथास्थान बिठाल सके। उस समारोह के मुख्य अतिथि थे चीफ जस्टिस महादेव गोविंद रानाडे। जैसे ही वह विद्यालय के फाटक पर पहुँचे वैसे ही स्वयं सेवक ने अन्दर जाने से रोक दिया और निमन्त्रण पत्र की माँग की।

बेटे ! मेरे पास तो कोई निमन्त्रण पत्र है नहीं। रानाडे ने कहा।

'तब आप अन्दर प्रवेश न कर सकेंगे। स्वयं सेवक का नम्रता पूर्ण उत्तर था।

द्वार पर रानाडे को रुका देख स्वागत समिति के कई सदस्य आ गये और उन्हें अन्दर मंच की ओर ले जाने का प्रयास करने लगे। पर स्वयं सेवक ने आगे बढ़कर कहा—'श्रीमान् ! मेरे कार्य में यदि स्वागत समिति के सदस्य ही रोड़ा अटकायेंगे तो फिर मैं अपना कर्त्तव्य कैसे निभा सकूंगा ? कोई भी अतिथि हो उसके पास निमन्त्रण पत्र होना ही चाहिए। भेद-भाव की नीति मुझ से नहीं बरती जायेगी। यह स्वयं सेवक आगे चलकर गोपाल कृष्ण गोखले के नाम से प्रसिद्ध हुआ और गोखले ने देश की बड़ी सेवा की।

कठिनाइयां भी हमें विचलित न कर सकें

सृष्टि संचालन के नियमों के अनुसार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में परिवर्तन होते रहना एक स्वाभाविक बात है। मानव जीवन सदैव एक सा नहीं रहता। आज उतार है तो कल चढ़ाव। एकांगी विचार प्रेरित मनुष्य इस नियति के विधान को नहीं समझ पाता। वह अपनी इच्छा के अनुकूल परिस्थितियों में ही सुख का अनुभव करता है तो विपरीत परिस्थितियों में दुखी हो जाता है। एकांगी दृष्टिकोण के कारण कठिनाई, मुसीबत, कष्ट आदि शब्दों की रचना हुई। मनुष्य अनुकूल परिस्थितियों की चाह के फलस्वरूप दुख और कठिनाइयों में रोता है। वह सदा ही इनसे बचने के लिये असफल प्रयत्न करता है।

कठिनाइयां जीवन की एक सहज स्वाभाविक स्थिति है जिन्हें स्वीकार करके मनुष्य अपने लिये उपयोगी बना सकता है। वस्तुतः कठिनाइयां इतनी भयंकर और कष्ट-दायक नहीं हैं जितना बहुत से लोग समझते हैं। जिन कठिनाइयों में कई व्यक्ति रोते हैं उन्ही कठिनाइयों में दूसरे व्यक्ति नवीन प्रेरणा पाकर सफलता का वरण करते हैं। मन और कठिनाइयां सापेक्ष-हैं। इस तरह कठिनाइयां अपने आप में कुछ नहीं है किन्तु मन की स्थिति से ही इनका स्वरूप बनता है। निर्बल मन तो अपनी कल्पना जन्य कठिनाइयों में ही अशांत हो जाता है सबल मन वाला व्यक्ति बड़ी कठिनाई को भी स्वीकार करके आगे बढ़ता है। संतुलित रहने वालों की जीवन यात्रा सहज-गति में चलती है।

परीक्षा की कसौटी के बिना कोई वस्तु उत्कृष्टता नहीं प्राप्त कर सकती है। सोना भीषण अग्नि में तपकर ही शुद्ध और उपयोगी होता है। आग की भयानक गोद में पिघलकर लोहा सांचे में ढलने योग्य बनता है। मनुष्य भी कठिनाइयों में तपकर उत्कृष्ट, सौन्दर्य युक्त, प्रभावशाली और महत्वपूर्ण बनता है कठिनाइयां मनुष्य के विकास में महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। कठिनाइयों में खेलने से इनकी शक्ति प्रबल होती है। कठिनाइयों में ही जीवन दर्शन की परीक्षा होती है।

कठिनाइयां दुधारी तलवार हैं। जो व्यक्ति इनसे घबड़ा कर गिर पड़ा वह हार बैठा। कठिनाइयों से समझौता करने वाला मनुष्य सफलता प्राप्त कर लेता है। दोनों ही स्थितियों का उत्तरदायी मनुष्य स्वयं ही होता है। मनुष्य चाहे तो कठिनाइयों को वरदान बना सकता हैं और अभिशाप भी। जो मनुष्य कठिनाइयों का खुले दिल से स्वागत करता है, उनके साथ खेलता है वह स्वयं उससे मिलने वाला लाभ प्राप्त करता है किन्तु दूसरों के लिये प्रेरणा और आदर्श बन जाता है।

किसी भी महापुरुष का जीवन उठाकर देख लीजिये वह कठिनाइयों का एक जीता जागता इतिहास मिलेगा। कठिनाइयों से गुजरे बिना कोई भी अपने लक्ष्य को नहीं पा सकता। कठिनाइयों से गुजरे बिना मनुष्य का व्यक्तित्व अपने पूर्ण चमत्कार में नहीं आता। कठिनाइयां एक खराद की तरह हैं जो मनुष्य के व्यक्तित्व को तराशकर चमका दिया करती हैं। कठिनाइयों का जीवन में वही महत्व है जो उद्योग में श्रमका और भोजन में रस का है।

चरित्र निर्माण के लिये भी कठिनाइयों की उपयोगिता है। उत्तराधिकार में सफलता पाये हुए व्यक्ति अधिकतर व्यसनी और विलासी हो जाते हैं। किन्तु जो कठिनाइयों से जूझ रहा हैं उसे संसार की फिजूल बातों के लिये अवकाश कहाँ। कष्ट और कठिनाइयाँ मनुष्य के अहंकार को नष्ट करके उसमें विनम्रता श्रद्धा भक्ति के भाव भर देती हैं। कठिनाइयाँ मनुष्य को स्वस्थ और सुदृढ़ बनाती है।

कठिनाइयाँ मनुष्य जीवन के लिये वरदान रूप ही होती हैं। परिश्रमी, पुरुषार्थी साहसी और उत्साही लोग अनेक विभूतियों को उपलब्ध कर लेते हैं। कठिनाइयों का मूल्य बहुत गहरा है। किन्तु जो कायर है क्लीव है, आत्म बल से हीन है वे परीक्षा बिन्दु को देख कर डर जाते हैं जिनके फलस्वरूप "हाय हाय" करते हुए जीवन के दिन पूरे करते हैं।

सुखों का वास्तविक सूर्य दुखों के घने बादलों के पीछे

ही रहता है। शीतलता का सुख लेने के लिये गरमी को सहन करना ही होगा। केवल मात्र सुख सुविधाओं से भरा जीवन अधूरा है। मनुष्य की पूर्णता के लिये दुख तकलीफों का होना आवश्यक है। दुख की तीव्रता मनुष्य में ईश्वरीय अनुभूति कराकर उसके समीप पहुँचा देती है। जहां दुख की अनुभूति नहीं वहाँ ईश्वर की अनुभूति असंभव है। बुद्धिमान कठिनाइयों को सुख मूलक मा कर इनका स्वागत करता है। उसे यह वरदायिनी होती है।

मानव जीवन संघर्ष पूर्ण है। जीवन में नित्य ही नये नये उतार चड़ावों का सामना करना पड़ता है। महर्षि व्यास ने कहा है कि "क्षुद्रमना लोग ही दुःख के वशीभूत होकर अपने तप तेज शक्ति को नष्ट कर लेते हैं। किन्तु पुरुषार्थी महामना लोग कष्टों को भी अपनी सफलता और विकास का आधार बना लेते हैं।"

छान्दोग्य उपनिषद में कहा गया है कि निश्चय ही जब तक यह शरीर बना हुआ है तब तक सुख और दुःख का निवारण नहीं हो सकता। कठिनाइयाँ जीवन का उसी तरह एक अनिवार्य अंग हैं जिस तरह रात्रि का होना, ऋतुओं का बदलते रहना। अतः आवश्यकता इस बात की है कि कठिनाइयों के रहते हुए भी आगे बढ़ा जाय। स्मरण रखिये उन्नति और सफलता का मार्ग कष्ट एवं मुसीबतों के कंकड़ पत्थरों से ही बना है।

मनुष्य के व्यस्त रहने से कठिनाइयों के प्रति शोक, चिन्ता एव उद्विग्नता में डूबने के लिये कोई समय ही नहीं मिलेगा। स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है व्यस्त मनुष्य को आँसू बहाने के लिये कोई समय नहीं रहता। कठिनाइयाँ एक ऐसी प्रक्रिया हैं जिनके अन्तर्गत व्यक्ति सुदृढ़ प्रबुद्ध एवं अनुभवी बनता है। आप कठिनाइयों से घबरायें नही, न इनसे शोकातुर ही हों। सोना तप कर निखरता है।

कठिनाइयां जीवन की कसौटी हैं। दुख और कठिनाइयाँ मनुष्य को आन्तरिक जीवन की ओर प्रेरित करती हैं। विपत्तियों में ही मनुष्य परमात्मा के बारे में सोचने को बाध्य होता है। महाभारत में वेदव्यास जी ने लिखा है "दुख में ही दुखियों के प्रति हमदर्दी पैदा होती है। और मनुष्य भगवान का चिंतन करता है। सुख में मनुष्य का हृदय संवेदना रहित कठोर बन जाता है और मनुष्य ईश्वर तक को भूल जाता हैं।" दुखों में ही विवेक पैदा होता है।

परिवर्तन संसार का स्वाभाविक गुण है। संसार की शोभा ऋतु परिवर्तन, रात दिन की तरह परिवर्तन शील है। हर परिवर्तन एक नवीन जिन्दगी लेकर आता है। ग्रीष्मके बाद बरसात एक नये सुख का संचार करती है। बचपन, जवानी, बुढ़ापे में मनुष्य का जीवन परिवर्तन शील है। परिवर्तन जीवन का चिन्ह है। एक रसता हर क्षेत्र में अरुचि उत्पन्न कर देता है। कठिनाइयों का आगमन भी इसी परिवर्तन शीलता के ही अन्तर्गत हुआ करता है। मानव जीवन संघर्ष पूर्ण प्रक्रिया है।

यदि संघर्ष न हो तो कोई शक्ति शाली विद्वान पुरुषार्थी अथवा परिश्रमी बनने का प्रयत्न न करे। प्राकृतिक कठोरताओं के संघर्ष में ही प्रेरित होकर मनुष्य ने जीवन में सुखसुविधाओं के रूप में बड़ी बड़ी सभ्यताओं एवं संस्कृतियों का निर्माण कर डाला है। परिवर्तन से डरना और संघर्ष से कतराना मनुष्य की बहुत बड़ी कायरता है। मनुष्य जब तक जीवित है उसे परिवर्तन पूर्ण उतार चढ़ाव और बनने बिगड़ने वाली परिस्थितियों का सामना करना ही होगा।

आपत्तियों का झंझावात नर सिंहों को झकझोर कर उनका प्रमाद दूर करके पुरुषार्थ के लिये खड़ाकर देता है। आपत्तियां संसार का स्वाभाविक धर्म हैं। वे आती हैं और सदा आती रहेंगी। उनसे न तो भयभीय होइए और न भागने की कोशिश करिए।

विपत्ति मनुष्य को शिक्षा देने आती है। भगवान को प्राप्त करने के लिये साहस एवं सहनशीलता की आवश्यकता होती है। दुख का प्रभाव सच्चे सुख की अनुभूति कराता है। दुःख साक्षेप है किन्तु सुख, उचित होते हुए भी साध्य नहीं है। मनुष्यों का सच्चा मनुष्यत्व दुःख सुख दोनों ही अवस्थाओं में मानसिक संतुलन बनाये रखने में है। समभावना विवेक शील प्राणी का लक्षण है।



संकल्पों का धनी—अलक्षेन्द्र सिकन्दर

"मांग लीजिए जो कुछ आप मांगना चाहते हैं मुझसे।" राजा के भीतर से राजाधिपति होने का मिथ्या दंभ बोला। उसे सुन कर संत के चेहरे पर मुस्कान फैल गयी।

"देना ही चाहते हो तो पांच मुट्ठी धूप दे दो मुझे।" संत बोले। राजा उनकी इस मांग को सुनकर लज्जित हो उठा। संत दायोजिनस और सम्राट अलक्षेन्द्र सिकन्दर मनुष्य की उसी एक भूख को स्पष्ट करते हैं। मनुष्य चाहता है कि उसका अधिकार क्षेत्र विस्तृत हो। उसकी एक मात्र सीधी सच्ची राह यही है कि मनुष्य अपने आपे को उतना विस्तृत कर दे जितनी यह धरित्री है। दूसरे रास्ते तो कई दीखते हैं पर वे मात्र मृग मरीचिका ही हैं। अलक्षेन्द्र ने भी ऐसे ही एक माया पूरित राह चुनी थी। जहां राह गलत होती है वहां जीवन के सार्थक होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता फिर भी अलक्षेन्द्र के संकल्प और व्यक्तित्व से बहुत कुछ सीखा जा सकता है जो सही मार्ग पर चलने वाले के लिए भी उपयोगी सिद्ध होगा।

मकदूनिया के महत्वाकांक्षी राजा के पुत्र अलक्षेन्द्र ने भी अपने पिता के ही मार्ग का अनुसरण किया। क्योंकि उन दिनों पश्चिम में मनुष्य के लिए यही गौरव की बात मानी जाती थी कि वह अपनी प्रभुता को सिद्ध कर दिखाये। उसका पिता फिलिप चाहता था कि जिस फारस ने यूनान पर आक्रमण करके उसे अपमानित किया है उसका वह बदला फारस को हरा कर ले। बालक सिकन्दर के मन में भी वैसे ही संस्कार पड़ने और सङ्कल्प जागने स्वाभाविक ही थे। वह सोचा करता था कि जब पिताजी ही सारे देशों को जीत लेंगे तो वह किसे जीतेगा। उसके मन में यह बात आ ही कैसे सकती थी कि प्रदेशों को जीत लेने से ही व्यक्ति महान नहीं बन जाता वह महान बनता है अपने सद्विचारों से, सत्कर्मों से, विश्व मानव की सेवा से।

भारत और पाश्चात्य देशों के निवासियों के सोचने के ढङ्ग में यही अन्तर था। वे स्थूल को महत्व देते थे, शरीर को ही सत्य मानते थे, आत्मा उनके लिए कुछ नहीं थी। यही कारण है कि भारत वासियों ने अपनी संस्कृति, अपने आध्यात्मिक दर्शन के कारण विश्व में अपनी कीर्ति पताका फहरायी। उन्होंने कभी तलवार लेकर किसी देश पर चढ़ाई नहीं की। किन्तु पश्चिमी देशों ने तलवार के बल पर राज्य विस्तार के लम्बे चौड़े सपने देखे।

अलक्षेन्द्र का सपना था विश्वविजय करने का। उस सपने को साकार करने के लिए उसने स्वयं को वैसा ही सुदृढ़ बनाना आरम्भ कर दिया। उसका सपना कितना बड़ा था। साधारण व्यक्ति या साधारण राजा ऐसा सपना नहीं देख सकता था। अलक्षेन्द्र को अपनी असाधारता पर विश्वास था। मनुष्य कितने बड़े सङ्कल्प कर कर सकता है। उन सङ्कल्पों को साकार भी कर सकता है अलक्षेन्द्र उसका अनुपम उदाहरण है। भूल उसकी यही थी कि उसने केवल अपने अहम् की तुष्टि के लिए यह सब किया। यदि वह दूसरों के हित का ध्यान रख कर कोई बहुजन हिताय बहुजन सुखाय का सपना देखता तो उसकी दिशा भी सही मानी जाती। उसका परिणाम भी शुभ होता।

एक दिन उसके पिता की सभा में एक घोड़ा लाया गया। इस शानदार और शक्तिशाली घोड़े पर उसका कोई दरबारी काबू नहीं कर पाया। बालक अलक्षेन्द्र ने इस चुनौती को स्वीकार किया क्योंकि वह भी तो असामान्य स्वप्न देख रहा था, असम्भव को सम्भव बनाने के स्वप्न संजो रहा था। वह अपने स्थान से उठा घोड़े की लगाम पकड़ी, उसका मुँह सूर्य की ओर किया और वह उछले-उछले उसके पहले ही उसकी पीठ पर जा सवार हुआ। बालक के इस दुस्साहस पर सभी चकित रह गये। "घोड़ा उसे गिराकर छोड़ेगा" वे यही सोचकर उसकी रक्षा के लिए प्रयत्न रत हो गये। किन्तु आशङ्का के विपरीत अलक्षेन्द्र ने उसे काबू में कर लिया। उसे उसने इतना दौड़ाया कि वह थक कर बेदम हो

गया। तभी से फिलिप जान गया कि उसका बेटा बहुत बड़ा राजा बनेगा।

कहते हैं अपनी माता की उपेक्षा करने के कारण अलक्षेन्द्र ने अपने पिता की हत्या कर दी और अपनी सौतेली मां और उसके पुत्रों को मन्दिर में बलि चढ़ा दिया। सत्ता के मद में चूर फिलिप के अपनी पत्नी ओलिम्पियास की उपेक्षा करना और अलक्षेन्द्र का उसे मौत के घाट उतार देने जैसे अप्रिय प्रसङ्ग प्रायः सम्पन्नता और वैभव के साथ-साथ आत्म शक्ति का सम्पादन न करने के कारण मध्य युग में भी देखने को मिल जाते थे और आज भी कुछ दूसरे ढङ्ग से हमारे समाज में ही देखने को मिल जाते हैं।

फिलिप के बाद अलक्षेन्द्र मकदूनिया का शासक बना। शासक बनते ही उसने विश्व विजय के सपनों को साकार करना आरम्भ किया। सर्वप्रथम उसने अपनी सैन्य शक्ति का विस्तार किया। सैनिकों को प्रशिक्षित करने और अनुशासित रखने के लिए उसने विशेष प्रयत्न किये।

सेना सुगठित हो जाने पर उसने एक-एक करके सारे यूनानी राज्यों को जीत लिया और उन हारे हुए राजाओं के साथ उदारता का व्यवहार करके उन्हें अपना मित्र बना लिया जो उसके अगले विश्व विजय-अभियान में उसके साथी बने। उसकी यह उदारता उसके विरोधी पैदा नहीं होने देती थी।

अलक्षेन्द्र ने अपनी शरीर साधना बखूबी की थी। वह तलवार तथा अन्य शास्त्रास्त्र चलाने में प्रवीण था। यूनानी सेना में उसके एक सेनापति आनेक्रलीज को छोड़ कर और कोई उसके मुकाबले का योद्धा नहीं था। उसका शरीर पूरा ऊँचा बलिष्ठ और त्वरामय था। उसका शरीर सौष्ठव देखते ही बनता था। उसके सारे शरीर पर मत्साकृत माँस पेशियां उभरी हुई थीं।

यूनान के पश्चात उसने अपने आस-पास के दूसरे देशों पर पर विजय प्राप्त की। फिर वह फारस की ओर उन्मुख हुआ, जो उस समय का सबसे बड़ा राज्य था, जिसका राजा दारा अपने आप को सारे संसार का स्वामी समझता था। वह भी विश्व विश्व विजय के सपने देखा करता था। इसी के लिए उसने बहुत बड़ी सेना एकत्रित कर रखी थी। वह पहले युनानियों को हरा भी चुका था। अलक्षेन्द्र की सेना में तीस हजार पैदल और पाँच हजार घुड़सवार थे। दारा की सेना उसकी सेना से तीन गुनी से भी अधिक थी। आइसस के मैदान में दोनों में टक्कर हुई। प्रशिक्षित और अनुशासित सेना के बल पर अलक्षेन्द्र ने अपने से तीन गुनी सेना रखने वाले दारा को पराजित कर दिया। वह मैदान छोड़कर भाग निकला। उसकी मां पत्नी तथा बच्चे पकड़ गये। सिकन्दर उनके पास बड़ी सभ्यता से पेश आया और उनकी सुरक्षा का प्रबंध किया। दारा की पत्नी अत्यंत रूपवती थी। अलक्षेन्द्र के स्थान पर और कोई होता तो उसे अपनी पत्नी बना लेता। पर सिकन्दर ने ऐसा नहीं किया क्योंकि वह जानता था कि चरित्र ही मनुष्य की सबसे बड़ी सम्पदा है। वह तो राज्यों को जीतना भर चाहता था, पराजित राजाओं की रानियों को अपनी अङ्कशायिनी बनाना नहीं। अलक्षेन्द्र में यह चारित्रिक बल न होता तो वह अपने काम में सफल भी नहीं होता।

पराजितों के साथ भी सम्मान जनक व्यवहार करना उसकी नीति थी। दारा ने पराजित हो कर भी आत्म समर्पण नहीं किया था। वह अपने बचे हुए सैनिकों के साथ इधर-उधर भागता फिरा। एक दिन उसके ही एक सैनिक ने उसे छुरों से घायल करके उसे मरा समझकर छोड़ दिया। अलक्षेन्द्र को वह मृतप्राय दशा में मिला। अपने मरणासन्न शत्रु को उसने अपना दुशाला उढ़ाकर सम्मान प्रकट किया। दारा ने उसे अपनी पत्नी व बच्चों के प्रति किये गये व्यवहार के लिए धन्यवाद दिया।

उसकी इस उदारता के कारण उसकी सेना के कुछ उच्चाधिकारी अप्रसन्न भी हो जाते थे। किन्तु वह उनकी अप्रसन्नता की चिंता किये बिना अपनी इस नीति पर दृढ़ रहा करता था। भारतीय राजा पुरु के साथ भी उसने ऐसी ही उदारता बरती थी। वह पुरु की वीरता से प्रभावित भी कम नहीं हुआ था।

अलक्षेन्द्र और उसकी सेना को तो पुरु की विशाल सेना और वीर सैनिकों के प्रबल आक्रमण को देखकर यह लगने लगा था कि इस बार पराजय के अतिरिक्त कुछ हाथ लगने वाला नहीं है। ऐसे कठिन समय में

अलक्षेन्द्र ने धैर्यपूर्वक सोचा तो उसे एक युक्ति समझ में आयी। उसने अपने सैनिकों को हाथियों की आँखों में बाण मारने की आज्ञा दी। उसकी यह युक्ति काम में आयी। पुरु के हाथी बिगड़ खड़े हुए और वह पकड़ा गया। उसे जब अलक्षेन्द्र के सामने लाया गया तो अलक्षेन्द्र ने उससे पूछा—"बोलो हम तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार करें।

"जैसा एक राजा दूसरे राजा के साथ करता है।" पुरु ने निर्भीकता पूर्वक उत्तर दिया। उसके इस वीरोचित उत्तर से वह बहुत प्रसन्न हुआ। उसने अपने जीते हुए प्रदेश को लौटा दिया। वस्तुतः यह बात युनानी इतिहासकारों द्वारा लिखी गयी है। इस सम्बन्ध में इतिहासकार सचाई को खोजने का प्रयास कर रहे हैं। सत्य यह लगता है कि अलक्षेन्द्र पुरु से हार गया था।

प्रत्यक्ष युद्ध में भले ही अलक्षेन्द्र हारा न हो लेकिन यहाँ आकर उसका विश्व विजय का स्वप्न चूर-चूर अवश्य हो गया। चाहे पुरु हारा भी हो तो भी यह सच्ची विजय नहीं थी। उसके सैनिकों का साहस इस युद्ध में चुक गया था। उन्हें अब तक ऐसे वीरों से मुकाबला नहीं पड़ा था। जब उन्होंने मगध के राजा नन्द की विशाल मागधी सेना और उसके पराक्रम की बात सुनी तो वे आगे बढ़ने से इन्कार कर गये।

अलक्षेन्द्र ने विपाशा के तीर पर उन्हें आगे बढ़ने का आह्वान किया तो वे तैयार न हुए। अलक्षेन्द्र को इससे बड़ी निराशा हुई। वह तीन दिन तक अपने खेमों से बाहर नहीं निकला। अन्त में उसे अपनी बात वापस लेनी पड़ी और वे लौट चले। लौटते समय वह बहुत उदास था। उसके स्वप्न ही धूल में नहीं मिल गये थे वरन् वह अपनी भूल पर पछता भी कम नहीं रहा था। स्वयं को विश्व विजेता सिद्ध करने के लिए उसने हजारों आदमियों का रक्त बहाया था, कितनी ही मांगों का सिन्दूर पोंछ दिया था, कितनी ही माताओं की गोद सूनी करदी थी और कितने ही बच्चों को अनाथकर दिया था। हाय रे दुर्बुद्धि यह कैसी विजय है। यह विजय का सेहरा नहीं यह तो कलंक का टीका है। इन विचारों से वह बड़ा त्रस्त हो गया। इन विचारों से मुक्त होने के लिए उसने शराब का सहारा लिया। भारत से लौटते समय वह बहुत पीने लगा था। लौटते हुए रास्ते में ही उसे निमोनिया हुआ और मारा गया।

अलक्षेन्द्र केवल ३३ वर्ष ही जी सका। उसने केवल १३ वर्ष ही राज्य किया। यदि स्वयं विश्व विजय करने का पागलपन मास्तष्क में बिठाये स्वय भी चैन से नहीं बैठना न अपने सैनिकों को बैठने देना और न दूसरे राजाओं को। यदि इसी का नाम राज्य करना है तो वह राजा था अन्यथा मनुष्य जीवन की उन रसानु भूतियो और आत्म-संतोष से तो वह वचित ही रहा जो सामान्य स्थिति का मनुष्य ही पा लेता है। सत दायोजिर्नस ने उसे पहले ही यह बात स्पष्ट कर दी थी। किन्तु अलक्षेन्द्र के सिर पर तो दूसरा ही भूत सवार था। किसी उर्दू कवि ने ठीक ही कहा है—"न हुई हद सिकन्दरी न कारू की चली, मौत का आ गया पैगाम एक चलते-चलते।" अलक्षेन्द्र का यह संकल्प और उसके लिए जुटाया गया सरजाम, श्रम, समय और जीवन किसी काम नहीं आया। एक कहानी भर बनकर रह गया। केवल स्वार्थ और मिथ्याभिमान से प्रेरित हो किया गया काम कितना ही बड़ा क्यों न हो न तो उस व्यक्ति को ही सुखी और सन्तुष्ट कर सकता है और न मानव समाज को ही कुछ दे सकता है। अलक्षेन्द्र का जीवन इस सत्य को सिद्ध करता है, सिखाता है बड़े आदमी बनने की अपेक्षा महान कार्य करने की कामना हजार गुना श्रेष्ठ है।

इंगलैण्ड के सम्राट एडवर्ड सप्तम की धर्मपत्नी एलेग्जेन्ड्रा बचपन से ही बड़ी परिश्रमी और दयालु थी। उनका नित्य नियम था अपने हाथों से कम से कम एक कपड़ा सीकर गरीबों को बाँटना। वे कहा करती थीं कि बड़े होने का अर्थ आलसी और विलासी बनना नहीं है वरन् छोटों की सहायता के लिए और अधिक उत्साह से काम करना है।

माइकल होराल्ड—

जिसने मित्र राष्ट्रों को बचाया

"जर्मन अपने नवीन अस्त्रों को जिस समय अपने काम में ला सके उसके छः महीने पूर्व यदि उन्हें काम में ला सके होते तो यूरोप पर मित्र राष्ट्रों का आधिपत्य रह पाना कठिन ही नहीं असंभव भी हो जाता।' यह तथ्य संयुक्त राज्य अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति डिग्विट डी आइजन हावर ने अपनी पुस्तक 'इन यूरोप' में लिखा है।

जर्मन चाहते थे कि उनके नवीनतम अस्त्र वी–१ बम का प्रयोग इङ्गलैण्ड को पूर्णतया नष्ट करने के लिए १९४३ के अन्तिम महीनों में ही हो जाय। हिटलर अकेले ने लन्दन नगर पर ५० हजार वी–१ बम गिराने का लक्ष्य रखा था। वह अपने इस अभिप्राय को पूरा नहीं कर सका। ५० हजार के बजाय जर्मन बमवर्षक केवल दो हजार बम ही गिरा सके। उनसे ही लन्दन की दुर्गत हो गई थी। जबकि ये बम १९४४ के मध्य में गिरे थे तब तक राष्ट्र पूरी तरह संभल चुके थे तथा संयुक्त राज्य अमेरिका की सहायता उन्हें मिल गई थी।

इस देरी का कारण जर्मनों का असावधान होना नहीं था। और न उन्होंने अपनी तरफ से की थी। किन्तु इन भ्रष्ट इरादों को मिट्टी में मिला देने के लिये एक व्यक्ति अपने प्राणों से खेला था तथा उनकी सूचनाओं के कारण ब्रिटिश वायु सेना उन बमवर्षक अड्डों को भूमिसात कर सकी थी जहाँ से लन्दन तथा समूचे इङ्गलैण्ड पर वी–१ नामक बमों की वर्षा की जाने वाली थी। यह साहसी व्यक्ति था फ्रांस का एक साधारण औद्योगिक डिजाइनर माइकल होराल्ड।

पेरिस के एक अनुसन्धान केन्द्र में अल्प वेतन में वह कार्यरत था। द्वितीय विश्व युद्ध के समय पेरिस पर जब जर्मन सेना का अधिकार हो गया तो उसके मालिक को भी जर्मनों के लिए काम करना पड़ा।

साधारण कर्मचारी होने पर भी माइकल में अपने देश तथा विश्व मानव के प्रति श्रद्धा भक्ति थी। वह जानता था कि हिटलर सारे विश्व का अकेला निरंकुश शासक बनना चाहता है तथा सब देशों को जर्मनी के अधिकार में ले आने का कुचक्र रच रहा है तो उसके सहयोग के लिये कार्य करना उस जैसे स्वतन्त्रता प्रिय मनुष्य के लिये सम्भव नहीं हो सका। उसने अपनी नौकरी से ही त्यागपत्र दे दिया।

नौकरी से त्यागपत्र देकर वह सन्तुष्ट होकर बैठ गया हो ऐसा नहीं वरन् वह स्वयं हिटलर तथा घृणित नाजी समर्थकों के विरुद्ध संघर्ष को उद्यत हो गया।

वह अपने मित्र राष्ट्रों विशेषकर ब्रिटेन के लिये अपनी जासूसी सेवायें देना चाहता था उसने उसी के उपयुक्त कार्य भी चुन लिया। उसने ऐसे निर्माता के यहाँ काम शुरु कर दिया—जो लकड़ी के कोयलों से चलने वाले गैस जैनरेटर का निर्माण करता था।

अपने इस सेवाकाल में उसे अनेक बार वनों में भटकना तथा उत्पादन का काम देखना पड़ता था। ये लकड़ी का कोयला बनाने वाले यंत्र फ्रांस तथा स्विट्जरलैंड की सीमा पर थे। यह उसी के उपयुक्त कर्मक्षेत्र था।

माइकल ने यह निश्चय किसी भावावेश में आकर नहीं किया था। इसके पीछे उनकी अन्तःचेतना कार्य कर रही थी। जो उसे प्रेरित कर रही थी कि विश्व शान्ति को सङ्कट उपस्थित करने वालों की घृणित कामनाओं के विरुद्ध उसे जमकर संघर्ष करना है चाहे इसमें प्राणों की आहुति ही क्यों न देनी पड़े।

मनुष्य के अन्तःकरण में ईश्वर ने सत्कार्यों के लिये कुछ कर गुजरने की अद्भुत क्षमता प्रदान की है। यह क्षमता—यह सामर्थ्य प्रत्येक दिशा में फूट पड़ती है। यही क्षमता उसे कुछ कर गुजरने के लिए विवश कर रही थी।

उसने विश्वयुद्ध के दौरान ४९ बार फ्रांस तथा स्विट्जरलैंड की सीमाओं को पार किया था। फ्रांस में

जर्मनी का अधिकार था तथा स्विट्जरलैंड तटस्थ राष्ट्र था। यहां पर अंग्रेज सरकार के गुप्तचर मिल जाते थे। जिन्हें वह जर्मन सेना की गतिविधियों तथा बमवर्षक अड्डों के पते व नक्शे दिया करता था।

माइकल होराल्ड ने पूरे अभियान का सूत्र संचालन किया था। जर्मनों की गतिविधियों का पता वह अकेला नहीं लगा सकता था। उसने अपने मित्रों तथा परिचितों द्वारा ऐसे देशभक्तों का एक संगठन बनाया जो अपने देश को जर्मनों के पंजों से मुक्त कराना चाहते थे तथा विश्व संकट को दूर करना चाहते थे।

लूट मार करने के लिये चोर-डाकुओं को भी साथी सहयोगी मिल जाते हैं तो एक महत्व पूर्ण उद्देश्य को लेकर चलने वालों को संगी साथी क्यों न मिलते ? पहले तो वह अकेला ही साहस कर जुट पड़ा किन्तु बाद में उसके सहयोगियों की संख्या बढ़ती ही गयी। तीन वर्षों में जाकर यह संख्या १२० तक पहुंच गई। इनमें से २० जर्मन सेना द्वारा पकड़ लिये गये तथा मृत्यु के घाट उतार दिये गये।

माइकल तथा उसके साथियों द्वारा सबसे बड़ा और महत्वपूर्ण कार्य जो किया गया वह वी–१ बम वर्षक अड्डों की सूचना एकत्रित करके अंग्रेज सरकार तक पहुंचाना था।

ये अस्त्र बिना चालक के वायुयानों द्वारा गिराये जाते थे। इस प्रकार के भयानक अस्त्र अन्य किसी देश के पास नहीं थे। फ्रांस में इनके अड्डे बन रहे थे।

माइकल के कान में इस प्रकार के अस्त्रों की भनक पड़ी तथा यह ज्ञात हुआ कि ये अड्डे यहाँ फ्रांस में भी बन रहे हैं तथा इनमें जो मजदूर कार्यरत है वे स्विस हैं ताकि उनका भेद कोई जान न पाये। ये बड़ी सतर्कता-पूर्वक तथा गुप्त रीति से बनाये जा रहे थे।

माइकल होराल्ड ने जब यह सुना तो वह सिहर उठा। उसने तीन वर्ष तक अपने बीबी बच्चों का मुँह भी नहीं देखा। दिन और रात ऐसे ही गुप्त अड्डों की खोज में भटकना ही उसका काम था। वह अपने मित्रों को साथ लिये साईकिलों द्वारा पूरे देश का चप्पा-चप्पा छानने लगे। उनको न खाने की चिन्ता थी न सोने की। जो मिल जाता वो उसी समय खा लेते और जहां जगह मिल जाती वहीं रात्रि बिता देते। पूरे तीन वर्ष तक उसकी यह कठोर तपस्या चलती रही।

जहां कहीं भी नई ईमारत बनती देखते वहीं मजदूर के वेश में या भिखारी के वेश में जा पहुँचते तथा जानकारी लेते कि कहीं यह कोई बम वर्षक अड्डा तो नहीं बन रहा है।

इस कार्य में उन्हें पर्याप्त सफलता मिल रही थी। तीन सप्ताह के भीतर ही उन्होंने ऐसे साठ अड्डों का गुप्त भेद पा लिया था। चौथे सप्ताह में इस प्रकार ४० अड्डों का और पता लग गया। ये सभी दो सौ मील के घेरे में बन रहे थे।

अड्डों का पता लगा लेने से ही वे चुप होकर नहीं बैठ जाते। उनकी पूर्ण स्थिति के नक्शे बनाना तथा बनाने वाले अड्डों के ट्रेस लेना और उन्हें अंग्रेज सैनिक अधिकारियों के हाथ में पहुंचाने का जोखिम भरा काम भी वे ही किया करते थे। होराल्ड कई बार इन प्रयासों में क्रूर नाजियों के चंगुल में फंसते-फंसते बचा था।

सीमा पार करना बड़ा ही साहस का काम था। फ्रांस की सीमा पर जर्मन सैनिक तथा उनके खूंख्वार कुत्ते मनुष्य की गन्ध पाते ही उस ओर लपकते थे। ऐसे कड़े पहरे को पार करके स्विट्जरलैंड की सीमा में पहुँचना तथा वहां से पुनः फ्रांस की सीमा में घुस आना पूरी तरह जान पर खेलना था।

एक बार सीमा की कंटीली बाढ़ कूदते हुए होराल्ड की पिन्डली जर्मन सैनिकों के कुत्ते ने पकड़ ली। उस समय वह एक घसियारे के वेश में था। उसके पास आलुओं की भरी एक टोकरी थी जिसमें वे गुप्त कागजात रखे हुए थे जिनमें अड्डों के नक्शे थे।

होराल्ड के पास कोई भी शस्त्र नहीं था उसने ऐसी विकट परिस्थिति में भी साहस नहीं छोड़ा। अपनी सुरक्षा के लिए उसके पास एकमात्र लकड़ी थी। उसी लकड़ी का एक भरपूर वार कुत्ते की नाक पर किया और कुत्ता चारों खाने चित्त हो गया। होराल्ड ने तुरन्त अपनी राह ली।

इन तीन वर्षों में वह थककर चूर हो गया था। दिन-

रात की दौड़-धूप तथा सिर पर हुई पकड़े जाने की आशका के बीच वह अपना काम करता रहा था। जर्मनों को आश्चर्य होता था कि उनके बनते हुए अड्डे किस प्रकार नष्ट हो जाते हैं। इङ्गलैंड में बैठे चर्चिल को इन गुप्त भेदों का पता कैसे चल जाता है।

अपने इरादों को धूल में मिलते देख वे बौखला उठते। नाजी गुप्तचर गली-गली में इस प्रकार की सूचना भेजने वालों की टोह लेने के लिये घूमते-फिरते किन्तु उनको असफलता ही हाथ लगती। इन सबके बीच माइकल होराल्ड विश्व को अपनी पराधीनता तथा दमन चक्र से बचाने के लिये प्राण-पण से जूझता रहा। वह जानता था कि इङ्गलैण्ड का पतन हो जाने पर जर्मनी की शक्ति से लोहा लेना किसी के बस की बात नहीं होगी।

वह अपने उद्देश्य की पूर्ति करने में सफल हुआ। हालांकि वह युद्ध के अन्तिम समय में जर्मन सेना द्वारा पकड़ लिया गया था तथा फ्रांस में अपनी हार होती देखकर उसे अन्य बन्दियों के साथ एक अन्धेरे जहाज में बैठाकर उस जहाज को समुद्र में उतार दिया गया था। किन्तु मारने वाले से बचाने वाला बड़ा होता है एक रेडक्रास शिप की सहायता से वे सब मनुष्य बच गये।

माइकल होराल्ड को अपने इस साहसिक तथा जोखिम भरे कृत्यों के लिये ब्रिटिश सेना का सर्वोच्च पदक प्रदान किया गया। उसको ले जाने के लिये राजकीय विमान सेना का वायुयान आया तथा उसे पूरे सम्मान से वह पदक भेंट किया गया। इस सर्वोच्च सैनिक पदक को पाने वाला वह प्रथम विदेशी नागरिक था।

माइकल होराल्ड का नाम इतिहास के पृष्ठों में जब तक अङ्कित रहेगा—विश्व मानव के लिये अपने प्राणों से खेलने वालों का प्रेरणा स्रोत बना रहेगा।

ईरानी शाहंशाह अब्बास शिकार के लिए जङ्गल में भटक रहे थे। वहाँ उनकी भेट एक चरवाहे बालक से हो गई। नाम था—मुहम्मद अलीवेग। चरवाहा होते हुए भी उसकी हाजिर जवाबी तथा व्यक्तित्व से शाह बड़े प्रभावित हुए और लौटते समय उसे भी अपने साथ ले आये।

मुहम्मद अलीवेग राज्य का कोषाध्यक्ष बना दिया गया। यद्यपि वह एक निर्धन परिवार का था फिर भी इतनी धन दौलत को देखकर उसका मन तनिक भी विचलित न हुआ। वह अपने को कोषालय के समस्त धन का रक्षक मानता था। इतने बड़े पद पर रहते हुए भी उसके जीवन में सादगी थी। शाह अब्बास के बाद उनका अल्प वयस्क पौत्र शाह सफी राज सिंहासन पर आसीन हुआ। किसी ने शाह के कान भर दिये कि मुहम्मद अली राज्य के धन कादुरुपयोग करता है। शाह नेउस प्रकरण को जाँच के लिए अपने पास रखा और एक दिन बिना सूचना के उसकी हवेली का निरीक्षण करने जा पहुँचे।

शाह ने हवेली के सब कमरों का निरीक्षण किया। थोड़ी सी वस्तुओं के अतिरिक्त वहाँ कुछ दिखाई ही न दे रहा था। शाह निराश होकर लौटने लगा तो खोजों के संकेत पर शाह की दृष्टि एक बन्द कमरे की ओर गई। उसमें तीन मजबूत ताले लटक रहे थे। अब शाह की शङ्का को कुछ आधार मिला था। उन्होंने पूछा—'इसमें क्या चीज है जिसके लिए इतने मजबूत ताले लगाये है।

'इसमें हीरे मोतियों से भी मूल्यवान वस्तुएँ हैं शाह! उनपर मेरा अधिकार है। 'पर शाशक उन वस्तुओं को देख तो सकता है' ? शाह ने कहा।

तुरन्त ताले खोल दिये गये शाह के कक्ष के मध्य मेज पर एक लाठी, शीशे की सुराही आदि वर्तन तथा पोषाक और दो मोटे कम्बल देखे। मुहम्मद ने कहा—'जब स्वर्गीय शाह मुझे यहाँ लाये थे उस समय मेरे पास यही वस्तुएँ थीं और आज भी मेरे पास अपने कहने को यही हैं।'

न्याय और सद्व्यवहार पालतू पशुओं के साथ भी बरता जाय

करुणा-मैत्री सहकारिता उदारता जैसे सद्गुण मनुष्यता के अङ्ग माने जाते हैं। इनकी चर्चा भी बहुत होती है। न्याय और सद्व्यवहार का प्रतिपादन हर मंच से होता है। पर दुर्भाग्य यह है कि यह सद्भावना मात्र अपने ही समुदाय तक सीमित रखने की बात सोची जाती है। मनुष्य-मनुष्य के साथ सद्व्यवहार करें इतना ही पर्याप्त मान लिया जाता है। यह भुला दिया जाता है कि अन्य प्राणी भी इसी संसार के निवासी हैं। उन्हें भी भगवान ने हमारी ही तरह पैदा किया है। उन्हें भी न्याय और सहयोग पाने का अधिकार है।

वैसे तो बुरे लोग भी अपने स्त्री बच्चों के साथ न्याय ही नहीं उदार व्यवहार भी करते हैं। उनके लिए कष्ट सहते और बहुत कुछ त्याग करते हैं। पर जब बाहर वालों का प्रश्न आता है तो निष्ठुरता बरतने और आक्रमण करने से नहीं चूकते। ऐसी दशा में उनका घर वालों के साथ उदारता बरतने का कोई मूल्य नहीं रह जाता जब कि वे दूसरों के साथ दुष्टता बरतते हैं।

मानवी दृष्टि कोण और अन्तःकरण की माँग है कि न्याय और औचित्य का दायरा मनुष्य समाज तक सीमित न रह कर उसका विस्तार अन्य प्राणियों तक भी होना चाहिए। अन्यथा संकीर्ण क्षेत्र तक सीमित रहने वाली उदारता मात्र पक्ष पात बन कर रह जायगी। वर्ग स्वार्थ और दलगत स्वार्थ ही आदर्शों का दायरा घेरे रहेंगे तो वे उपहासास्पद ही कहे जा सकेंगे।

देखा जाता है कि मनुष्य अपने काम आने वाले सेवा संलग्न पालतू पशुओं तक से वह न्यायोचित व्यवहार नहीं करता जो उसे करना चाहिए। यों सद्व्यवहार तो प्राणिमात्र के साथ होना चाहिए। जियो और जीने दो की नीति सर्वत्र अपनाई जानी चाहिए पर वे निरीह पशु जो अपने साथ कुटुम्बी की तरह रह रहे हैं और अपना सर्वस्व अर्पण किये हुए हैं उनके साथ तो उदार नहीं न्यायोचित व्यवहार तो होना ही चाहिये।

घरेलू जानवरों या अन्य पशु पक्षियों से उसे यह भय तो रहता नहीं कि वे उसका कोई नुक्सान कर देंगे। फिर भी इन जानवरों के साथ उसका व्यवहार तभी तक ठीक रहता है जब तक कि वह समझता है इनसे हमें काम लेना है। जैसे भारत के गाँवों में बैलों की स्थिति को ही लें। आवागमन और यातायात के मशीनी साधनों का सर्वत्र प्रचलन होने के बावजूद भी गाँवों में बैल का महत्व आज भी है। यातायात और आवागवन के साधनों का पर्याप्त प्रचलन केवल शहरों और कस्वों तक ही सीमित है। गाँवों में तो आज भी सामान ढोने से लेकर सवारी ले जाने और यात्रा करने का काम बैल गाड़ियों के जरिये होता है। गाँव के ऊबड़-खाबड़ रास्ते और टक्करों तथा गड्ढों से भरे हुए मार्ग ट्रैक्टर तथा बसों के उपयुक्त नहीं है। इन रास्तों पर तो बैलगाड़ी ही चल सकती है और चलती है।

हालाँकि सम्भव स्थानों पर ट्रैक्टर और बसें जाने लगी हैं। लेकिन बैलगाड़ी का अस्तित्व ग्रामीण सभ्यता के साथ इतना रच और पच गया है कि ब्याह बरात में ट्रैक्टर या बस ले जाने पर गाँव वालों को वह मजा नहीं आता जो बैलगाड़ी में गीत गाते और बैलों के गले में बँधी घंटियों के साथ बरातियों को आता है। क्योंकि गाँव वाले बैलगाड़ी के साथ अपनापन अनुभव करते हैं। ट्रैक्टर या बस का उपयोग उन पर बड़प्पन की छाप और सम्पन्नता का दबदबा तो जरूर छोड़ देते हैं। परन्तु गाँव वालों का अपनापन उनके साथ अभी नहीं जुड़ा है।

बैलों का खेती से लेकर हाट बाजार और सवारी यात्रा में इतना धनीभूत उपयोग ही उन्हें घरेलु चौपायों के रूप में बन जाने का कारण है। लेकिन बैलों के साथ ग्रामीणों का व्यवहार कैसा है? लगता है इन्हें पशु या प्राणी समझने के स्थान पर मशीनी पुर्जा ही समझा जा रहा हो। और इनकी सार सम्हाल तथा देख-रेख तभी तक आवश्यक समझी जाती है जब तक कि ये काम के रहते हैं। प्रायः ग्रामीण अपने बैलों और जान-

वरों को हृष्ट-पुष्ट रखने के लिए अच्छी खुराक देते हैं। उनकी देख रेख भी बड़े मनोयोग पूर्वक करते हैं। लेकिन इसका एक खेद जनक पहलु भी है—वह यह कि देखरेख और हृष्ट पुष्ट रखने का ध्यान तभी तक किया जाता है जब तक कि वे गाड़ी में जुतने लायक हों। और गाड़ी में जोतते समय भी उन पर अधिक से अधिक भार लादने की चेष्टा की जाती है। ताकि दूसरा चक्कर लगाने की झल्लत से बचा जा सके। बैल कितना हो ताकतवर हो पर उसकी ताकत असीम तो नहीं होती। यहां आकर इनके साथ मशीन से भी बुरा व्यवहार किया जाता है।

मशीनों की सामर्थ्य भी एक सीमा के अन्दर ही है। बिजली की मोटर भी घोड़े की शक्ति ने मापी जाती है। एक हॉर्स पावर (अश्वशक्ति) की मोटर दो हॉर्स पॉवर की मोटर। इस शक्ति से ज्यादा मोटर काम नहीं करतीं और जब उस पर काम का भार बढ़ता है तो वह जल जाती है। उसके साथ न मारपीट की गुंजायश है और न जोर जबर्दस्ती की। लेकिन जानवरों के साथ यह सब किया जा सकता है, किया जाता है। उनकी सामर्थ्य से अधिक भार लाद कर उनसे यह आशा की जाती है कि वे बोझा खींचें। यह तो साफ है कि जानवरों में आदमी की तरह कामचोरी या आलस्य की आदत नहीं होती। फिर भी वे अधिक भार नहीं खींच पाते तो उनपर इतनी निर्मम मार पड़ती है कि बेचारे जानवर होने के कारण विद्रोह नहीं कर पाते यही गनीमत है।

बैलों की जननी गाय भी घरेलू प्राणी है। गांव की कृषि व्यवस्था में गाय की भी अहम् भूमिका होती है। इसलिए जिनके पास खेती की जमीन है। वे गाय भी पालते हैं। लेकिन गाय को कोई प्राणी समझने के स्थान पर दुधारु मशीन भर समझा जाता है। और उसकी तभी तक कद्र की जाती है जब तक कि वह दूध देती है। कहने को तो हम गाय को माता कहते हैं। भारतीय संस्कृति की मान्यता भी गायों के प्रति पूज्यभाव रखने की है। यह उचित भी है। लेकिन इसके साथ यह आग्रह भी जुड़ा हुआ है कि उसे मात्र दुधारू जानवर ही न समझा जाय-वरन् उसके प्रति पूज्यभाव रखते हुए उससे परिवार के सदस्य के समान ही सदाशयता और सद्भावनापूर्ण व्यवहार किया जाय। लेकिन हम गाय के प्रति पारिवारिक आत्मीयता विकसित करना तो दूर रहा उसे प्राणी भी नहीं मानते। उसे दुधारू मशीन समझ कर तभी तक उसकी उपयोगिता मानते हैं जितने समय तक वह दूध देती है दूध निकालने के बाद लोग गाय को ऐसे ही छोड़ देते हैं और वह इधर उधर भटकती हुई लोगों का नुक्सान करती हैं, सड़कों और सार्वजनिक स्थानों पर गन्दगी फैलाती रहती है। हालाँकि प्राणी को मशीन तो नहीं कहा जा सकता पर एक क्षण के लिए हम उसे मशीन भी मान लें तो कोई मशीन को काम लेने के बाद ऐसे ही तो नहीं छोड़ दिया जाता। उसकी भी सफाई स्वच्छता, देख-रेख, और तेल पानी का इन्तजाम करना पड़ता है। उसकी सुरक्षा का ध्यान रखना पड़ता है। इस मायने में गाय बैल के प्रति मनुष्य का मशीनी दृष्टिकोण भी कहाँ रहा।

जानवरों पर ज्यादा बोझ लादने से लेकर उन्हें यों ही बेगौरी में छोड़ देने तक की लापरवाही को क्या कहा जाय? यह तो मनुष्यता नहीं है। इससे आगे हम अन्य प्राणियों के साथ में मनुष्य के व्यवहार को देखें परखें तो मनुष्यता से भी गिरा हुआ भी पायेंगे। सभी जानवर माँस भोजी नहीं होतें हैं और जो माँस भोजी भी होते हैं वे अपने शिकार का उपयोग पेट भरने तक ही करते हैं—इससे ज्यादा नहीं। मनुष्य तो फिर जानवरों से हजार गुना श्रेष्ठ और लाख गुना ऊँचा कहा गया है। वह है भी। इसका कारण है मनुष्य का बुद्धितत्व जिसकी उपलब्धि उसे जानवरों से ऊँचा उठा देती है। लेकिन मनुष्य ने इस तत्व का उपयोग किया किस दिशा में है।

हथियार की उपयोगिता सुरक्षा में ही है। औजार मनुष्य के काम को सुविधाजनक बनाने तथा उसके श्रम को हल्का करने के लिए ही बनाये गये हैं। चाकू काट छाँट करने और फलों तथा सब्जियों को खाने योग्य स्थिति में लाने के लिए ही निर्मित हुए हैं। अग्नि का महत्व धातुओं को गलाने से लेकर भोजन को पकाने के लिए प्रयुक्त करने में ही है। इन चीजों का उपयोग दूसरों को हानि पहुँचाने में किया जाय तो यह प्रयोक्ता का पागलपन अथवा अपराधी वृत्ति का ही परिचायक है। इन अर्थों में यदि बुद्धि की उपलब्धि को उपयोगिता की कसौटी

पर रखा जाय और देखा जाय कि उसकी बुद्धि के उपयोग की क्या दिशा है, तो इसी निष्कर्ष पर पहुंचना पड़ेगा कि बौद्धिक उपलब्धि मनुष्य के पतन में ही सहायक हुई है। उसकी सार्थकता मनुष्यता के वरण में, मानवीय आचरण में है न कि दूसरे प्राणियों को हानि पहुँचा कर अपने झूठे अहं को तृप्त करने अथवा अपने ही स्वार्थों की अन्धी पूर्ति में।

जानवरों का उपयोग उनकी जीवन चेतना को नकार करना तथा जानवर है, उनमें प्राण है इसलिए निर्जीव मशीनों से भी बुरा उपयोग करना मनुष्य के लिए जरा भी शोभा नहीं देता। यह तो निर्ममता पूर्वक दोहरा लाभ उठाने की घृणित और ओछी मनोवृत्ति हुई। इसी प्रकार यह स्थिति पाशविकता से भी निम्न स्तर की रही कि हम उनकी खाल को अपने घर में बैठने या शोभा बढ़ाने के लिए प्रयोग करें। अपनी मौत से मरे हुए जानवरों की खाल ही निकाली जाती तो भी थोड़ा था, पर चर्म प्राप्त करने के लिए पशुओं को निर्दयता पूर्वक मारा जाना कहाँ की मनुष्यता है?

अनेकों शिकारी केवल इसलिये जङ्गलों में हरिणों और अन्य दूसरे पशुओं का शिकार करते हैं कि उनका चमड़ा, मांस, हड्डियां, दाँत, और सींग मँहगे दामों पर विक जाते हैं। यदि मानवीय संवेदना को इस संदर्भ में रख कर जरा भी सोचा जाय तो यह ठीक इसी प्रकार होगा जैसे पैसे के लिए किसी की हत्या कर देना। जानवर मनुष्य से बुद्धि में ही तो पिछड़े हैं। अन्यथा उनमें भी मनुष्यों के समान जान होती है, उनका भी जीवन होता है, भूख, प्यास, नींद, और आवास उनकी भी आवश्यकतायें हैं। क्या केवल बुद्धि न होने से ही उन्हें मार दिया जाय और उनका उपयोग अपनी सुख सुविधाओं के लिए किया जाय। यदि बुद्धि हीनता ही उनके जीवन का मूल्य शून्य करने का कारण हो तो फिर उन हजारों लाखों करोड़ों मनुष्यों का क्या किया जाय जिनमें बुद्धि का विकास औसत स्तर का भी नहीं हुआ है?

नहीं—ये सभी कारण झूठे हैं जो जानवरों की हिंसा और उनके निर्मम उपयोग का समर्थन करते हैं। सही बात तो यह है कि बौद्धिक चेतना, रहन-सहन, सभ्यता, और संस्कृति का निरन्तर विकास होने के बावजूद भी मनुष्य अपनी मानवीय चेतना को इतना विकसित नहीं कर पाया है कि उसे दूसरों में भी अपने ही समान प्राणों का आभास हो। वह अभी भी उसी स्तर पर जी रहा है जिस पर कि दूसरे हिंसक पशु जीते हैं और अपनी क्षुधा तृप्ति के लिए दूसरे प्राणियों को मार डालते हैं।

बुद्धि की उपलब्धि ने तो उसे और भी पतन के गर्त में धकेल दिया है। अन्य हिंसक पशु तो केवल भूख को तृप्त करने के लिए ही हिंसा करते हैं। पर मनुष्य अपने कमरे को सजाने के लिए, व्यापार व्यवसाय को बढ़ाने के लिए जीभ का स्वाद पूरा करने के लिए और अन्य अनेक प्रयोजनों के लिए पशु हत्या और जीव हिंसा को अपनाता है। कहा जा चुका है कि कोई भी उपलब्धि मूल्यवान नहीं है—मूल्यवान है उसकी दिशा जो अधिक से अधिक लाभ उठाने की स्थिति बनाते हुए भी दूसरों का अनिष्ट न होने दे। इसी का नाम मानवता है। और भय है कि बौद्धिक अहङ्कार के वशीभूत होकर हम अपनी मानवीय संवेदना ही न खो बैठें।





समर्थ गुरु रामदास एक गांव में उपदेश दे रहे थे तभी पता चला गाँव का पटेल देवी के आगे मुर्गे की वलि देने जा रहा है। समर्थ उठे और पटेल और उसके साथी को जा पकड़ा। दोनों हाथों से उन्हें घसीटते हुए बोले—आज मुझे देवी ने स्वप्न दिया है कि मेरा पेट मुर्गे से नहीं दो मुस्टण्डों से भरेगा सो तुम्हारी वलि देंगे। पटेल घबराया क्षमा मांगी और फिर कभी वलि न देने की शपथ ली तब कहीं समर्थ ने उन्हें छोड़ा।

डॉकू को देशभक्त बनाने वाली—लक्ष्मी बाई

१८५७ में स्वतन्त्रता की घमासान लड़ाई छिड़ चुकी थी पर ज्वाला पूरे देश में न फैली थी। झाँसी में महारानी लक्ष्मी बाई के साथ भारतीय सैनिकों ने अंग्रेजों को खदेड़ दिया था। अब रानी ने उस पर पुनः कब्जा कर लिया था। तभी रानी को पता चला कि बरुआ सागर के निकट रावली गांव का निवासी डाकू सागर सिंह चारो ओर उत्पात मचा रहा है। चोरी और लूटपाट की घटनाओं से त्रस्त होकर कितने ही व्यक्ति अपने गावों को छोड़कर शहरों की ओर दौड़ कर आ रहे हैं।

रानी ने डाकू को पकड़ने के लिए अपने विश्वास पात्र सरदार खुदाबख्श को २५ सैनिकों के साथ भेजा। डाकू बहुत ही खूंख्वार और बहादुर था। उसको वन्दी बनाना लोहे के चने चबाने की तरह बहुत ही कठिन कार्य था। खुदाबख्श रानी के आदेश की उपेक्षा तो कर नहीं सकता था। उसने अपने पच्चीस सैनिक साथियों के साथ सागर सिंह का घर घेर लिया। वह अपने घर से सिंह की तरह उछला और खुदाबख्श को घायल करके उस घेरे को तोड़ता हुआ बाहर निकल गया। सैनिक उसे देखते ही रह गये।

रानी को जैसे ही दूत के द्वारा खबर मिली कि 'खुदाबख्श घायल हो गये और सागर सिंह भाग निकला' तो उसे बहुत दुःख हुआ। इस बार वह स्वयं स्त्री सेना की एक टुकड़ी लेकर डाकू को वन्दी बनाने के लिए चल पड़ी। लक्ष्मी बाई की स्त्री सेना का इतिहास भी उसकी तरह बहुत उज्ज्वल है।

बरसात के दिन थे। भीषण वर्षा हो रही थी। जब राज्य की जनता किसी डाकू के अत्याचारों से आतंकित हो उस समय कोई शासक किस तरह सुख की नींद सो सकता है। रानी के लिए तो खाना पीना हराम हो गया था। लोगों ने सलाह भी दी कि बरसात के बाद डाकू को पकड़ने का अभियान प्रारम्भ किया जाय पर जो रानी अपनी प्रजा की सुख शान्ति के लिए अपने पति के साथ भरसक प्रयत्न करती रही हो वह अब चुप कैसे बैठ सकती थी।

भयंकर वर्षा में अपने सैनिकों को लेकर चल पड़ी। बरुआ सागर के पास बहने वाली बेतवा नदी में बाढ़ आई हुई थी। नदी पर पुल तो बना न था जिस पर से उसे पार किया जा सके। नदी के इस किनारे पर रानी खड़ी होकर उस पार जाने की युक्ति सोच रही थी। संकल्पशील और पराक्रमी वीरों के सम्मुख ऐसी अनेक कठिनानाइयाँ परीक्षा के रूप में आती हैं और वे उनमें सफलता प्राप्त करके आगे बढ़ते चले जाते हैं। सरिता की अथाह जल राशि ने एक बार उनके मार्ग को रोका जरूर पर रानी पीछे लौटने वाली कब थी ? वह घोड़े सहित नदी में कूद पड़ी और पीछे छोटी सी सैन्य टुकड़ी भी पानी में उतरती हुई दिखाई दी।

थोड़ी ही देर में नदी पार कर रानी खुदाबख्श के पास जा पहुँची और उसे धैर्य बँधाया। खुदाबख्श समय पर सहायता पाकर बहुत संतुष्ट हुआ। अब रानी सागर सिंह को तलाश करने के लिए इधर उधर निकल पड़ी। आस पास के जङ्गल में उसने सैनिकों का जाल फैला दिया। रानी उसका पीछा करती जा रही थी जिधर संकेत मिलता वह उधर ही बढ़ती जा रही थी। एक स्थान पर रानी ने मुन्दर बाई की सहायता से सागर सिंह को जीवित अवस्था में ही पकड़ लिया। बन्दी बनाकर उसे डेरे पर लाया गया तो रानी ने डाकू जैसा निकृष्ट और पलायन जीवन जीने का कारण जानना चाहा।

सागर सिंह ने कहा—मैं भी एक दिन प्रतिष्ठित सैनिक था पर अंग्रेजों के अत्याचारों ने मुझे डाकू बनाने के लिए बाध्य किया।

डाकू की सत्य बात से रानी बहुत प्रभावित हुई। उसने सागर सिंह का अपराध क्षमा कर दिया। सन् १८-५७ के संग्राम में इन सब डाकूओं ने उसके साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर पूरा पूरा सहयोग दिया था सागर सिंह तो ऐसा देशभक्त बन गया था कि उसने युद्ध करते हुए झांसी में वीरगति पाई।



सेवा व्रती "बा"

बापू और कस्तूरबा दोनों एक दूसरे के पूरक थे। बा यदि शरीर थी तो बापू आत्मा। इन्होंने पारस्परिक स्नेह, सहयोग और साहचर्य से आदर्श दम्पति का अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत किया था। एक ने त्याग किया तो दूसरे ने संयम और सहिष्णुता की साधना की।

धर्म के प्रति आस्था रखने वाली बा ने यह सिद्ध कर दिया था कि पुरुष जाति पर नारी के अगणित उपकार हैं, जिन्हें पुरुष प्रयत्न करने पर भी नहीं चुका सकता। नारी आज समानता का अधिकार प्राप्त करने के लिए परेशान है पर, वह भूल जाती है कि प्राकृतिक रूप से घर से लेकर बाहर तक पुरुष से भी अधिक उसे अधिकार मिले हुए हैं।

कस्तूरबा ने बापू के अपरिग्रही साधना पथ को आत्म बलिदान और तपस्या द्वारा अधिक से अधिक प्रशस्त किया। बा कठिन से कठिन परिस्थिति में भी बापू के साथ रहीं। बापू की दृष्टि में 'पत्नी पति की गुलाम नहीं' उसकी संगिनी है। वह उसकी अर्धाङ्गिनी, सहयोगी एवं मित्र है। पति के अधिकार और कर्तव्य दोनों में उसका समान हिस्सा है एतदर्थ उनकी जिम्मेदारियाँ एक दूसरे के प्रति एवं सम्पूर्ण मानव जाति के लिए एक सी और परस्पर सहयोग से पूरी होनी चाहिएं। बापू की इस विचारधारा के साक्षात दर्शन कस्तुरबा में हो जाते है।

इसीलिए तो बापू ने कस्तूरबा को गुरु तक मान लिया था—'हम दो भिन्न व्यक्ति नहीं रह गये। मेरी वैसी कोई इच्छा नहीं थी' तो भी उन्होंने मुझमें लीन होना पसन्द किया। फलतः वह सचमुच ही मेरी अर्द्धांगिनी बनीं। वह हमेशा से बहुत दृढ़ इच्छा शक्ति के कारण अनजाने ही अहिंसक असहयोग की कला के आचरण से मेरी गुरु बन गयी।'

कस्तुरबा का जन्म काठियावाड़ पोरबन्दर नगर में सन् १८६६ में हुआ, जहाँ से थोड़ी ही दूरी पर गांधीजी ने जन्म लिया था। पिता गोकुलदास जी प्रसिद्ध व्यापारी थे। माता का नाम व्रजकुँअरि था। माता पिता दोनों ही वैष्णव विचारधारा के थे। इन विचारों का प्रभाव बा पर भी पड़ा। जो आजीवन देखने को मिलता रहा।

उन दिनों बाल विवाह की प्रथा थी। अतः १८७६ में सगाई हुई और १८८३ में विवाह भी हो गया। उस समय बा की आयु केवल १४ वर्ष की थी। उदारता तथा परिश्रमशीलता बा के अभूतपूर्व गुण थे। बापू बैरिस्टरी पास करने के बाद दक्षिण अफ्रीका गए तो साथ में अपने दो बच्चों को लेकर कस्तुरबा भी गयीं। बा बड़ी सादगी से रहती थीं। वहाँ भी साड़ी ही पहनती थीं। दक्षिण अफ्रीका में बा को एक कठिनाई अवश्य हुई। बापू भोजन के लिए छुरी काँटों का प्रयोग करते थे, पर बा को प्रयोग करने में कुछ कठिनाई होती थी, पर धीरे-धीरे इस कठिनाई पर भी विजय प्राप्त कर ली।

उन्होंने अपनी इच्छाओं पर विजय प्राप्त कर ली थी। बापू से कभी प्रतिदान की उन्होंने इच्छा व्यक्त न की। एक बार स्वयं की इच्छा भले ही किसी कार्य की न हो, पर बापू की आज्ञा का अक्षरशः पालन करना उन्होंने अपना कर्तव्य समझ लिया था।

मोहनदास करमचन्द्र गाँधी से अब वह महात्मा गाँधी हो गये थे। महान व्यक्ति की धर्मपत्नी बनना सच में बड़े सौभाग्य की बात है। पर वह फूलों की सेज नहीं है। बा ने गाँधी जी की इच्छा में अपनी इच्छा मिलाकर अपना सर्वस्व निछावर कर दिया था।

डर्बन में बापू के रहने का जो स्थान था वह पश्चिमी ढङ्ग का था। पानी बाहर निकालने के लिए उसमें मोरी न थी अतः पेशाब करने के लिए एक डिब्बा रख दिया था। बाहर से आने वाले व्यक्ति उसी डिब्बे में पेशाब कर देते थे और बापू उसे बाहर फेंककर साफ करके रख देते थे। बा भला इस कार्य को क्यों पसन्द करतीं? बापू तो यहाँ तक चाहते थे कि बा भी सफाई किया करें। बा ने विधर्मियों का मूत्र साफ करने का विरोध किया। बापू क्रोधित होकर बोले—'मेरे घर में ऐसा न चलेगा।' बा

भी झुंझला उठी—'लीजिए अपना घर, मैं तो अब चली। बापू तो नाराज थे ही उन्होंने बा का हाथ पकड़ कर दरवाजे से बाहर कर दिया और किवाड़ लगाने लगे। भारतीय महीला के लिए विवाह के बाद पति के अतिरिक्त समस्त द्वार बन्द हो जाते हैं अतः बा ने बड़ी नम्रता से कहा—'आप पुरुष हैं, अतः मुझे सब कुछ सहना पड़ेगा। आपको छोड़कर मैं और कहां जा सकती हूं। अन्दर चलिए और दरवाजा बन्द कीजिए अन्यथा कोई देखेगा तो जाने क्या-क्या कहेगा।' इतना कहकर बा ने पेशाब का डिब्बा उठा लिया और साफ करके अन्दर रख दिया इस घटना से बापू बा के प्रति जीवन भर निष्ठावान रहे।

नेटाल (दक्षिण अफ्रीका) की बात है। एक बार बापू को कस्तूरबा के लिए सुन्दर सा हार भेंट में मिला। उस हार ने बा को बहुत आकर्षित किया पर बापू उसे भारतीयों के कल्याणार्थ बने ट्रस्ट को देना चाहते थे। बा उसे अपनी पुत्रवधू के लिए सुरक्षित रखना चाहती थीं। अन्त में पति प्रेम की विजय हुई और उस हार का मोह बा को त्यागना ही पड़ा।

दक्षिण अफ्रीका में सरकार ने उन विवाहों को अवैध घोषित कर दिया जिनकी रजिस्ट्री नहीं हुई थी। इस तरह से सरकार उन लोगों की सम्पत्ति पर आसानी से अधिकार कर सकती थी। बा को सरकार की यह नीति पसन्द न आई। उन्होंने बापू के नेतृत्व में आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया और गांव-गांव घूमकर जागृति का शङ्खनाद किया, जिसके परिणाम स्वरूप कारावास का दण्ठ भी भुगतना पड़ा।

अत्यधिक रुग्णावस्था में बा को मांस रस का प्रयोग करने के लिए चिकित्सकों ने सलाह दी। पर बा ने स्पष्ट कह दिया कि प्राण देना स्वीकार है, पर मांस रस पीना स्वीकार नहीं। इस प्रकार बा अग्नि परिक्षा में खरी उतरीं।

बा जब अधिक कमजोर हो गई तो उन्हें नमक छोड़ने की सलाह दी गयी। बा बोली—'यह सब मुझसे कैसे होगा ?' बापू ने प्रतिज्ञा कर ली—'तुम छोड़ो या न छोड़ो पर मैंने आज से एक वर्ष तक नमक न खाने की प्रतिज्ञा कर ली :' अब तो बा घबड़ा उठी, उनकी समझ में न आ रहा था कि बापू ने यह कैसी बेतुकी प्रतिज्ञा करली। अन्त में साहस बटोरकर वह बोली—"क्षमा कीजिए आपकी आज्ञा न मानने का मुझे बड़ा दुःख है। आप अपनी आज्ञा वापिस लीजिए अन्यथा मुझपर बड़ा अन्याय होगा।' वास्तव में बा की सहनशीलता के कारण ही बापू पर विजय प्राप्त की जा सकी।

सन् १९०३ में बापू ने ब्रह्मचर्य व्रत लिया। तो बा ने अपनी वासनाओं को त्यागकर उनके नैतिक जीवन को उच्च करने में कोई कमी न की।

चम्पारण सत्याग्रह शुरू हुआ तो बा को गांव-गांव जाकर ग्रामीणों को धैर्य बंधाने तथा स्वच्छता का पाठ पढ़ाने का कार्य सौंपा गया। बा ने घर-घर घूमकर अशिक्षित नर नारियों को स्वच्छता का महत्व बताया और यथाशक्ति सेवा की। बारदोली सत्याग्रह में बापू के जेल चले जाने पर बा ने उसका संचालन किया और कुछ दिनों बाद इन्हें भी जेल जाना पड़ा।

कस्तूरबा प्रातः ४ बजे उठकर बापू के साथ प्रार्थना करतीं। बाद को उनके स्नान के लिए पानी तथा जल-पान की व्यवस्था करतीं। स्नान करके वह भ्रमण के लिए जाते तो बा उतनी देर गीता और रामायण का पाठ करती थीं। बापू को स्वच्छता अधिक पसन्द थी अतः बा स्वयं खाना बनाती थीं। उनके लिए खाने की वस्तुएं स्वयं ही ले जातीं और जब तक वह खा नहीं लेते हटती न थीं।

भोजन करके बापू जब विश्राम करते तो वह तलवों में घी की मालिश करतीं और घंटों उनका शरीर दबातीं। घर के सारे काम काज निबटाकर समाचार पत्र पढ़तीं और चरखा चलाती थीं। बापू जब उपवास करते तो बा अपने शरीर को चलाने के लिए केवल एक बार भोजन करतीं और शेष समय उनकी सेवा में लगतीं। इस प्रकार बा का समय बापू की सेवा में ही जाता था।

स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेकर बा ने चार बार जेल यात्रा की। यहाँ तक कि उनका जीवन ही जेल में समाप्त हुआ। बापू के साथ ही पूना के आगा खाँ

महल में वह नजर बन्द थीं। उनको इच्छा थी कि पति के चरणों में ही अपनी जीवन लीला समाप्त की जाय। यदि वह चाहतीं तो उन्हें जेल से मुक्त किया जा सकता था, पर उन्हें यह स्वीकार न था।

उनका स्वास्थ्य काफी गिर गया था। २२ फरवरी १९४४ शिवरात्रि का दिन था। शाम के ७॥ बजे थे। अन्तिम समय बापू के दर्शनों की इच्छा प्रकट की। बापू ने आकर उनका सिर अपनी गोद में रख लिया। उन्हें देखकर बा ने केवल इतना ही कहा—'अब जाती हूँ' और सदैव के लिए विदा लेली। बापू के नेत्र सजल हो गये। दाह संस्कार के बाद बापू ने कहा था—"बा मेरे जीवन का अविभाज्य अङ्ग थी। यद्यपि मैं चाहता था कि वह मेरे सामने ही चली जाये, किन्तु उसकी मृत्यु से जो मेरे जीवन में सूनापन आ गया है उसकी कभी पूर्ति नहीं हो सकती।"

सचमुच बा का जीवन विश्व की नारियों को सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता रहेगा। वह सबको अपने बच्चों के समान प्रेम करती थीं, इसीलिए विनोबा भावे ने कहा था—'बा भारत माता की प्रतिमूर्ति थीं।' –⊙–



बगदाद के सन्त हंबल बन्दी बने, खलीफा के न्यायालय में खड़े थे। उनका मन बार-बार शासन की क्रूरता के प्रति सोच रहा था। वह बड़े असमंजस में थे, तभी द्वार पर पहरा देने वाले सिपाही ने आकर उनके कान में कहा'—हजरत! आज सच्ची वीरता दिखाने का दिन है और आप असमंजस में पड़े हुए हैं। मुझे आश्चर्य है कि आप पर कुरान का अपमान करने का आरोप लगाया गया है, जबकि आपने सारा जीवन कुरान की शिक्षाओं पर चलने में लगा दिया है। ऐसे महापुरुष की तो पूजा होनी चाहिए थी, जबकि इसके विपरीत कैदी बनाकर उपस्थित किया गया है। एक बार मैंने चोरी की, तो खलीफा ने एक हजार कोड़े की सजा सुनाई थी। सचमुच मैं चोर था, मुझे अपना अपराध स्वीकार कर लेना चाहिए था, पर मैं अपनी जिद पर डटा रहा और हजार कोड़ों की मार सहकर भी उस चोरी का रहस्य न खुलने दिया। आखिरकार मुझे छोड़ दिया गया। जब मैं झूठ के लिए अपने कलेजे को इतना मजबूत कर सकता था, तो फिर आप सत्य बात के लिए इतने भयभीत क्यों होते हो?"

सन्त के मन पर छाया भय का भूत जाने कहाँ चला गया। उन्हें अन्धकार में प्रकाश की एककिरण दिखाई देने लगी। वे बोले—'सचमुच तुम ठीक ही कहते हो। तुमने समय पर मुझे जगा दिया, इसके लिए मैं सदैव तुम्हारा आभारी रहूँगा।' और दूसरे ही क्षण सन्त ने खलीफा के न्यायालय में धर्मान्धों के रोष का बहादुरी के साथ सामना करने के लिए अपने को समर्थ पाया।

दूसरे दिन खलीफा द्वारा पूछे गये सारे प्रश्नों का सन्त ने सही-सही उत्तर दे दिया। वह पहले ही सोच चुके थे कि अधिक से अधिक मृत्यु दण्ड ही तो दिया जा सकता है। खलीफा ने हजार बेंत लगाने का आदेश सुना दिया। उनका शांत चेहरा जैसा था; वैसा ही बना रहा। न्यायालय के बाहर खड़े सैकड़ों व्यक्ति तरह-तरह की बातें कर रहे थे। नौकरों द्वारा कोड़े बरसाये जाने लगे। सन्त का शरीर चोट खाकर बेहोश हो गया। वह सत्य के लिए मरते दम तक शासन की क्रूरता को सहन करते रहे, पर उस चोर सिपाही के वचन को न भूले।

मानव सेवा की प्रति मूर्ति भगिनी—निवेदिता

जीते तो पशु पक्षी और कीड़े मकोड़े भी हैं पर जीवन उसका धन्य है जो अपने आपको सत्य के लिए पूर्ण रूपेण समर्पित कर देते हैं। भगिनी निवेदिता को ऐसे ही जीवन का पर्याय कहा जा सकता है जिनके शरीर की धमनियों में सेवा रक्त की तरह प्रवाहित हो रही थी। उन्होंने अपने ऊपर कभी भी अपना अधिकार न मानकर ईश्वर इच्छा के अनुकूल चलने में ही अपना सौभाग्य माना।

भगिनी निवेदिता का बचपन का नाम मार्गरेट नोवुल था। नोवुल का जन्म २८ अक्टूबर १८६७ को एक आयरिश परिवार में हुआ था। पिता का नाम सैम्युअल रिचमण्ड तथा माता का नाम मेरी हैमिल्टन था। नोवुल को जन्म से ही धार्मिक वातावरण मिला था। उसके पिता एक ईसाई धर्म प्रचारक थे। इसी सन्दर्भ में घर पर अनेक पादरियों का आना जाना लगा रहता था। भारत में धर्म प्रचार हेतु भेजे गये एक पादरी ने नोवुल के सिर पर बड़े स्नेह से हाथ रखते हुए कहा था—'भारत को किसी दिन इस वालिका की आवश्यकता पड़ेगी।' और उस पादरी की भविष्य वाणी अक्षरशः सत्य सिद्ध हुई। रिचमण्ड की मृत्यु भी ३५ वर्ष की अल्प आयु में हो गई थी पर उनके द्वारा कहे गये अन्तिम शब्द नोवुल के लिए बड़े महत्व के थे। उन्होंने कहा था—नोवुल के जीवन में एक पुकार आयेगी। जव भगवान की ओर से उसके लिए निमन्त्रण आये तो उसे रोकना मत। उसके द्वारा मानवता की सेवा के लिए महान कार्य सम्पन्न होंगे।'

सन् १८८६ में उन्होंने ऐजाम नामक स्थान पर १६ वर्ष की आयु में अध्यापन का कार्य प्रारम्भ कर दिया था। उन्होंने १८६२ में 'रस्किन स्कूल' की स्थापना करके बच्चों को नैतिकता की ओर ले जाने के लिए भरसक प्रयत्न किया। १८ वर्ष की आयु भावी जीवन के स्वर्णिम स्वप्न देखने की होती है उस समय नोवुल का मन अशान्त रहने लगा था। वह कभी गिरजाघर में तो कभी एकान्त स्थान पर चिंतन मनन में खोई हुई मिलती थी। १८ वर्ष की इस अल्प आयु में ही ईसाई धर्म के प्रति उनके मन में अनेक शंकाएं उठने लगीं। शिकागो के धर्म सम्मेलन को हुए भी अभी अधिक समय नहीं हुआ था। स्वामी विवेकानन्द सितम्बर १८६५ में इङ्गलैण्ड पधारे। दो माह वाद ईसाबेल मारजेसन के वेस्ट एण्ड स्थित भवन पर स्वामी जी की गोष्ठी का आयोजन किया गया। नोबुल भी इस कार्यक्रम में उपस्थित थीं। वे स्वामी जी के प्रथम दर्शन से अत्यधिक प्रभावित थीं। उन्हें ऐसे चिंतनशील व्यक्ति से मिलने का इससे पूर्व कभी अवसर न मिला था। जहाँ जहाँ स्वामी जी के कार्यक्रम हुए नोवुल समय निकाल कर हर जगह जातीं और अपनी शंकाओं का समाधान करती थीं। अध्यात्म की इन चर्चाओं से अज्ञान अन्धकार छँटने लगा और ज्ञान की उज्ज्वल किरणें हृदय तथा मस्तिष्क को स्पर्श करने लगीं। बाद में तो वह अनुभव करने लगी कि यदि कहीं स्वामी जी लन्दन न पधारे होते तो मेरा यह मानव जीवन निरर्थक ही चला जाता। उन्होंने सोचने और कर्म क्षेत्र में कुछ करने की दिशा प्रदान की। दो माह वाद स्वामीजी अमेरिका चले गये पर नोवुल के मन में अध्यात्म विषयक एक सुदृढ़ पृष्ठभूमि का निर्माण हो चुका था।

१५ अप्रैल १८६६ को जब स्वामी विवेकानन्द पुनः इङ्गलैण्ड पधारे और रस्किन स्कूल गये तो वहाँ के बच्चों को देखकर उन्हें भारतीय निर्धन और अशिक्षित परिवारों के वच्चों की याद आई तो उनके नेत्रों से आँसू झर पड़े। स्वामी जी का दुःख नोवुल से न छिप सका। उन्होंने भारत के दीन दुखियों की सेवा कार्यों में तन, मन, धन, से पूरा पूरा सहयोग देने का आश्वासन दिया। स्वामी जी उनकी भारत यात्रा को हमेशा टालते रहे। वह नहीं चाहते थे कि भावुकता में उठाया गया कोई कदम हास्यास्पद वने। वह चाहते थे कि विचारों में परिपक्वता आये अन्तरङ्ग में दुखी मानवता के लिये कसक पैदा हो। वह १६ सितम्बर १८६६ को भारत

लौट आने पर उन्होंने नोबुल को भारत आने की तभी स्वीकृति दी जब उनके दृष्टिकोण में उचित परिवर्तन हुआ। स्वामी जी ने पत्र में लिखा—'भारत में कार्य की दृष्टि से तुम्हारा भविष्य उज्ज्वल है। यहाँ मनुष्य की नहीं वरन् महिला की आवश्यकता है जो सिंहिनी की तरह, यहाँ व्याप्त दासता, निर्धनता, और अन्धविश्वास जैसी कठिनाइयों को दूर कर सके। यहाँ तुम्हें ऐसे अर्द्ध नग्न स्त्री-पुरुषों के बीच रहना होगा जिनकी जातिवाद के सम्बन्ध में विचित्र धारणायें हैं। यहाँ की जलवायु भयानक रूप से गर्म है। इन परिस्थितियों के बाद भी यदि तुममें कार्य करने का साहस है तो तुम्हारा स्वागत है।'

नोबुल इसी क्षण की तो प्रतीक्षा कर रही थी उन्होंने अपनी माँ, भाई, बहिन, मित्र तथा परिचितों से कारुणिक वातावरण में विदा ली। वह मोम्वासा जहाज पर सवार हो भारत आयीं। २८ जनवरी १८९८ का वह पावन दिन नोबुल के जीवन में कितना महत्वपूर्ण होगा, जब स्वामी विवेकानन्द ने पुष्पहारों से उनका स्वागत किया। उन्होंने आते ही अध्यात्म क्षेत्र में सम्पर्क बढ़ाने के लिए बंगला भाषा सीखली। यदि व्यक्ति में सच्ची लगन हो तो एक क्या बीसियों भाषाओं का अपने जीवन में विद्वान बन सकता है।

१७ मार्च १८९८ को जब वह माँ शारदा से मिलीं, तो उन्होंने अपनी भुजाओं में समेट कर कहा—'बेटी, तुम्हें पाकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई।' एक सप्ताह बाद नीलाम्बर मुखर्जी की वाटिका में स्वामी विवेकानन्द ने नोबुल को ब्रह्मचारिणी व्रत की दीक्षा दी और नाम रखा 'निवेदिता'।

कलकत्ता में प्लेग का प्रकोप हुआ तो लोग अपनी जान बचा बचा कर शहर छोड़कर भाग रहे थे। मेहतर मिलते न थे। उस समय की विकट परिस्थितियों में अपने प्राणों का मोह छोड़कर उन्होंने अपने हाथ में फावड़ा ले लिया और बाग बाजार की गन्दी नालियों की सफाई करने लगीं। उनके इस कार्य से कितने ही युवक लज्जित हुए और राहत कार्य में अपनी सेवायें देने लगे।

भगिनी निवेदिता ने स्वामी विवेकानन्द के साथ अल्मोड़ा, काश्मीर, अमरनाथ, कलकत्ता, बड़ौदा, और मद्रास क्षेत्रों का भ्रमण भी किया। यहां की स्थिति को देखकर उनके मन में यह दृढ़ मान्यता बन गयी कि यदि किसी देश का कल्याण करना है तो महिलाओं और जन मानस की जाग्रति की ओर पहले पूरा पूरा ध्यान देना चाहिए। जहाँ की मातृ शक्ति अपमानित होती रहती हो उस देश के उत्थान की कोई आशा नहीं की जा सकती।

इस उद्देश्य से स्वामी जी के परामर्श पर निवेदिता ने १३ नवम्बर १८९८ को कलकत्ता में एक 'महिला विद्यालय' की स्थापना की। पर विदेशी महिला के सम्पर्क में कोई अपनी लड़कियों को देने को तैयार न था। हर शुभ कार्य का प्रथम चरण उपहास और विरोध से ही प्रारम्भ होता है। यहाँ भी यही स्थिति रही पर निवेदिता के सरल स्वभाव, सेवा, भावना, तथा स्नेहमयी व्यवहार से प्रभावित होकर कतिपय जगदीश चन्द्र बसु, रवीन्द्रनाथ टैगोर तथा केशव चन्द्रसेन जैसे प्रतिष्ठित व्यक्तियों ने अपनी कन्याओं को भेजना शुरू किया।

प्रमुख संस्थाओं के निमंत्रण तथा धनराशि एकत्रित करने के उद्देश्य से वे तीन वर्ष के लिए लन्दन, शिकागो, न्यूयार्क तथा पेरिस की यात्रा पर गयीं। जनवरी १९०२ में जब वे भारत आयीं तो महिला शिक्षण के अधूरे कार्य में पुनः जी जान से जुट गयीं। सन् १९०२ में लार्ड कर्जन द्वारा गठित विश्व विद्यालय आयोग की उन्होंने कटु आलोचना की।

वे युवापीढ़ी को त्याग, बलिदान और सेवा का पाठ पढ़ाना चाहती थीं इसके लिए उन्होंने विवेकानन्द समिति, क्रान्तिकारी समिति, अनुशीलन समिति तथा डान समिति का आश्रय लिया। स्वामी विवेकानन्द के इस संसार से विदा होने के बाद वे घूमघूम कर भारतीय अध्यात्म का संदेश जन जन तक पहुँचाने लगीं। उन्होंने 'युगान्तर' तथा 'वन्दे मातरम' की लोक प्रियता बढ़ाने में पूरा पूरा सहयोग दिया।

यद्यपि १३ मार्च १९०५ से उनका स्वास्थ्य खराब रहने लगा था पर इसकी तनिक भी चिंता उन्हें न थी।

वंग भङ्ग के विरोध में जब प्रथम सभा का आयोजन हुआ तो भगिनी निवेदिता ने सिंहिनी की तरह गर्जना की। किसानों और मजदूरों की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिये उन्होंने कई सहकारी समितियों की स्थापना की। वे चाहतीं थीं कि देश के सभी गर्म व नर्म दल के नेता एक जुट होकर मातृभूमि के बन्धनों को काटने का प्रयास करें। आपस की फूट का लाभ अंग्रेजों को न मिले इसलिए उन्होंने कांग्रेस के वाराणसी अधिवेशन में इस खाई को पाटने की भी पूरी पूरी कोशिश की।

भगिनी का शरीर क्षमताओं से अधिक कार्य करने के कारण दुर्बल होता जा रहा था। पीलिया ने उन्हें और कमजोर बना दिया फिर भी रोग शय्या पर लेटे-लेटे उन्होंने 'दि मास्टरएज आई सो न हिम' तथा 'क्रेडल टेल्स आफ हिन्दूइज्म' ग्रन्थों की रचना की। इसके अतिरिक्त 'फूट फाल्स आफ इण्डियन हिस्ट्री, 'स्टडीज फ्राम एन डीस्ट्रन हाउस' तथा रामकृष्ण वचनामृत' भी इनकी प्रमुख रचनायें हैं।

भगिनी निवेदिता भारत की स्वतन्त्रता के लिए जन जागरण के साथ अस्त्र शस्त्रों की शक्ति को भी आवश्यक मानती थीं। उन्होंने विभिन्न महापुरुषों के सम्पर्क में आकर अपने ज्ञान की परिधि को काफी विस्तीर्ण कर लिया था। प्रफुल्ल चन्द्र राय की प्रयोगशाला में उल्लास कर दत्त को उन्होंने ही बम बनाना सिखाया था। हेमचन्द्र को फ्रांस और इटली भेजने के पीछे भी यही उद्देश्य छिपा था।

उनमें अद्भुत शक्ति थी। वह भारत में रहकर यहां की उन्नति हेतु अपना सर्वस्व न्योछावर करना चाहती थीं। उनका जन्म भले ही विदेश में हुआ हो पर भारत के कण कण से उन्हें अनुपम प्यार था। वह किसी के कष्ट को देखकर बेचैन हो जाती थीं और किसी भी तरह उसे दूर करने का प्रयत्न करती थीं। स्वामी सदानन्द को अस्वस्थ देखा तो वे हिमालय की ओर लेकर चल पड़ीं। अब स्वयं का शरीर भी साथ नहीं दे रहा था। हड्डी हड्डी रह गयी थी। परिश्रम की कोई सीमा न थी। वे जलवायु परिवर्तन के लिए दार्जिलिंग गयीं। उनकी हालत रास्ते में और बिगड़ गयी। खून के दस्त होने लगे। डा० नील रत्न सरकार तथा विपिन बिहारी सरकार ने उनकी चिकित्सा में कोई कमी न रखी फिर भी उन्हें बचाया न जा सका। अन्तिम क्षण उनकी उंगलियाँ रुद्राक्ष की माला पर थीं।

भगिनी निवेदिता भगवत् प्राप्ति की प्यास में ही जीवन की पूर्ण सार्थकता मानती थीं। वह आजीवन संसार को सियाराम मय मानकर पूजा अर्चना करती रहीं।



अनन्त काल पूर्व-ऊपर खगोल में एक आवाज उठी-"तू कौन है ?" सारा जीव-संसार चकित होकर ऊपर देखने लगा-खगोल फिर गूँजा-"तू कौन है"-अबकी बार सारे प्राणी खगोल की ओर देखकर कुछ सोचने लगे। खगोल ने फिर प्रश्न किया-"तू कौन है ?" संसार प्रश्न को अनसुना कर अपना काम करता रहा—किन्तु मनुष्य चिन्तित हो उठा—विचार करने लगा-"मैं कौन हूँ ?" एक दूसरे की ओर देखते और प्रश्न करते "मैं कौन हूँ ?"

उस अज्ञात पूर्व काल का वह साधारण प्रश्न आज तक प्रश्न बना हुआ मनुष्य की विचार क्रिया को गतिमती बनाये हुए है ? नियति के उस एक प्रश्न ने फैलकर असंख्यों प्रश्नों का रूप धारण कर लिया है और एक उत्तर "मैं यह हूँ" ने अनेकता से प्रभावित होकर अपना मौलिक रूप खो दिया।

कितना अच्छा होता—आकाश के "तू कौन है ?" जैसे साधारण प्रश्न का साधारण उत्तर देकर मनुष्य निश्चिन्त हो जाता—"जो तू है वही मैं हूँ।"

शरीर मन के नियन्त्रण पर चलता है

मन और शरीर ऊपर से देखने में दो अलग-अलग वस्तुएँ प्रतीत होती हैं पर वस्तुतः इनमें किसी प्रकार का भेद नहीं है। केवल रूप में भिन्नता है। विशुद्ध रूप से इन दोनों का अस्तित्व एक दूसरे पर टिका हुआ है। मन शरीर के बिना कुछ कर नहीं सकता और शरीर मन के बिना किसी भी कार्य को कर सकने में असमर्थ होता है। इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि शरीर और मन का एक दूसरे से कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है।

शरीर मन की रक्षा करने वाला ऊपरी आवरण है। इस जड़ शरीर का निर्माण जड़ और चेतन तत्वों के मिश्रण से हुआ है उन्हीं तत्वों के सूक्ष्म और अदृश्य स्वरूप में हमारे सूक्ष्म शरीर की रचना हुई है। अतः शरीर और मन में मात्र इतनी ही भिन्नता है कि एक दृश्य है और दूसरा अदृश्य, एक स्थूल है दूसरा सूक्ष्म। उदाहरणार्थ–पानी का साधारण रूप जड़ है और उसका दूसरा रूप सूक्ष्म है जो दिखाई नहीं पड़ता है जिसे हम भाप कहते हैं। जिस प्रकार पानी और भाप के स्वरूप में भिन्नता भर है गुण दोनों के समान हैं उसी प्रकार सूक्ष्म और स्थूल शरीर के बारे में भी है। स्वरूप में भिन्नता है गुण दोनों के ही समान हैं। मन में विचार उत्पन्न होते हैं। शरीर उन्हें क्रिया रूप में परणित कर देता है। मनुष्य के मन में उदित होने वाले विचार शरीर को प्रभावित करते हैं। उससे प्रभावित होकर ही व्यक्ति का शरीर क्रियाशील बनता है। प्रायः लोगों को ऐसा कहते सुना जाता है कि 'मेरा मन ठीक नहीं है' इस समय हम काम नहीं कर सकते हैं। कारण कि मन दुःखी चिन्तित एवं असन्तुष्ट होता है तो उसका प्रभाव हमारे शरीर पर भी पड़ता है।

मनुष्य वर्तमान समय में जो कुछ भी है अपने मन में निहित विचारों के ही कारण है। मन में व्यक्ति जिस बात का विचार कर लेता है वैसा ही आचार व्यवहार करता है फलतः उसका जीवन उसी ढांचे में ढल जाता है जब कभी हमारे ऊपर कोई विपत्ति आ पड़ती है तो हम उसका पूरी तरह से सामना करते हैं तथा सफल हो जाते हैं। ऐसे ही क्षणों में मन की उस दिव्य एवं अमोघ शक्ति का हमें आभास होता है। यह विराट शक्ति सबके अन्दर सुप्तावस्था में विद्यमान रहती है। इसकी तुलना हम पत्थर में छुपी हुई अग्नि से कर सकते हैं। उसे हम कुछ प्रयत्न एवं पुरुषार्थ करके जला सकते हैं। मन की इसी प्रचण्ड शक्ति के सहारे मनुष्य बड़ी बड़ी कठिनाईयां को पार कर जाता है और कभी कभी तो इतने बड़े बड़े काम कर दिखाता है कि जिसकी कभी आशा भी नहीं की जा सकती थी।

कार्य के प्रति सच्चा प्रेम मन में उत्पन्न हो जाय तो व्यक्ति निठल्ले बैठे रहना पसन्द न करेगा। आलसी और दरिद्री लोग बेकार पड़े रहने में सुख अनुभव करते हैं किन्तु काम काजी वास्तविक कार्य करने में ही सुख पाते हैं। कर्तव्य निष्ठ व्यक्तियों के जीवन में ऐसे अनेक अवसर उत्पन्न होते हैं कि यदि आलसियों के जीवन में यह अवसर आ जाएँ तो वह बीमार ही पड़ जायें किन्तु कर्मठ व्यक्तियों के मन और शरीर पर उनकी कर्तव्य परायणता के कारण इन साधारण कष्टों का कुछ असर नहीं पड़ता है।

घर में आग लग जाने के कारण अपना बचाव करने के लिए कई महीनों से बीमार पड़ा हुआ व्यक्ति उठ कर भाग निकलता है। रोगी में यह विलक्षण परिवर्तन उसके अन्दर छुपी हुई शक्ति के कारण हुआ था। उसी अद्भुत शक्ति से प्रेरित होकर व्यक्ति दुरुह कार्यों को भी कर दिखाता है। जब तक कोई कठिन परिस्थिति नहीं होती है तब तक उसे अपनी सहनशीलता एवं सामर्थ्य का सही अनुमान नहीं लग पाता।

कई भयंकर रोगियों की स्थिति देखकर देखने वाला यह सोचने लगता है कि न जाने इसके प्राण कहां रुके हुए हैं। इस कठोर यातना को वह कैसे सह रहा होगा किन्तु जब ऐसी स्थिति उसकी हो जाती है तो वह जैसे

तैसे उसे सहन कर लेता है। अभिप्राय यह है कि मनुष्य सशक्त मन के द्वारा शरीर से हर कठिनाई का सामना कर लेता है। मन में जिस तरह के विचार उठते हैं शरीर पर उनका ही प्रभाव पड़ता है। मन रोगी है तो शरीर भी रोगी हो जाता है। भावी संकट की कल्पना मात्र करके मनुष्य इतना भयभीत हो जाता है कि उसकी सारी शक्तियां शिथिल पड़ जाती हैं यह सब उनकी मन की दुर्बलता का द्योतक है। मन की दुर्बलता ही व्यक्ति के शारीरिक स्वास्थ्य एवं सुख का नाश करती है। विपत्ति जितनी ज्यादा भयानक नहीं होती उससे अधिक मन की अस्त व्यस्तता हमें दुःखी एवं असन्तुष्ट बना देती है। मनुष्य जो कुछ भी अच्छा बुरा कार्य करता है वह सब सूक्ष्म शरीर की अकथनीय एवं अज्ञात शक्ति से प्रेरित होकर ही करता है।

मन में उत्पन्न हुई शक्ति से शरीर कार्य करता है। शरीर में कभी कोई कष्ट होता भी है किन्तु मन उत्साह एवं प्रसन्नता से पूरित होता है तब शारीरिक कष्ट भी थोड़ी देर के लिए विस्मृत हो जाते हैं। हम उस अमोघ शक्ति का नाश करते जा रहे हैं जो दुःखों, रोगों एवं विपत्तियों में भी धैर्य पूर्वक सामना करने की हमें प्रेरणा देती है। यह शक्ति जब मन से प्रस्फुटित होती है तभी शरीर उसके सहारे कार्य कर दिखाता है। व्यक्ति अनेक समस्याओं से उलझा हुआ मन में चिन्तित रहता है और इसका असर उसके शरीर पर पड़ता है। मन खिन्न है तो शरीर पर उसका असर अवश्य पड़ेगा। आवश्कता इस बात की है कि शरीर और मन के अविछिन्न सम्बन्ध के विषय में ध्यान रखते हुए मन को शुद्ध एवं संतुलित रखें। तभी हम स्वस्थ्य रह सकेंगे और मन की दिव्य शक्ति के सहारे प्रगतिशील बन सकेंगे।

मनुष्य ईश्वर की सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। उसकी रचना में उसने अपना सारा कौशल लगा डाला है, इतना ही नहीं सुखी एवं समृद्धि बनाने वाली शक्ति भी प्रदान की है। जिसके सहारे मनुष्य दुःख—कष्ट की ज्वाला को मन रूपी प्रचण्ड शक्ति के माध्यम से शान्त करता चलता है। जीवन को दिव्य से दिव्यतम् बना देने की शक्ति इसी के अन्दर छुपी रहती है।

मनुष्य के शरीर के अन्दर सभी सुख सुविधा एवं प्रगति के साधन छुपे हुए हैं। मनुष्य को सुख बाहरी किसी वस्तु में नहीं मिल सकता है वह तो तभी मिल सकता है जब वह अपनी आन्तरिक शक्ति से परिचित हो। उन साधनों के उपयोग से वह स्वास्थ्य सुख, एवं शान्ति प्राप्त कर सकता है। यह मार्ग प्रत्येक व्यक्ति के लिए खुला हुआ है। मनुष्य के अन्दर एक दैवी शक्ति निवास करती है। यदि यह शक्ति विकसित हो जाय तो शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के दुःख खत्म हो जाते हैं।

गीता में कहा गया है 'मन ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण है।' व्यक्ति का मन अगर भव बन्धनों अर्थात् काम-क्रोध, मद-लोभ, दम्भ-दुर्भाव, दोष आदि पर

राहगीर ने पत्थर मारा, आम के वृक्ष से कई पके आम गिरे। राहगीर ने उठाये और खाता हुआ वहां से चल दिया

यह दृश्य देख रहे आसमान ने पूछा—वृक्ष! मनुष्य प्रतिदिन आते हैं, तुम्हें पत्थर मारते हैं। फिर भी तुम इन्हें फल क्यों देते हो?

वृक्ष हँसा और बोला भाई! मनुष्य अपने लक्ष्य से भ्रष्ट हो जाय तो क्या हमें भी वैसा पागलपन करना चाहिए?

विजय प्राप्त कर लेता है तो वही मोक्ष की स्थिति होती है तभी बन्धनों से व्यक्ति छुटकारा पा जाता है। हमारा मन ही बन्धन का कारण है क्योंकि हमारे मन में दूषित विचारों का बाहुल्य हो तो शरीर भी अवांछनीय कार्यों को करेगा और फलस्वरूप दुख भोगने पड़ेंगे शरीर मन की प्रेरणा से कार्य करता है। मन में विचार उत्पन्न न होतो शरीर तो जड़ वस्तु है वह कैसे कोई कार्य कर सकता है।

शरीर और मन के अटूट सम्बन्ध पर विचार करते हुए हमें अपने अन्दर छुपी हुइ मनः शक्ति को जानना चाहिए। जो कि हमारे शरीर को नियन्त्रण में रखती है और दिव्य एवं आलौकिक बनाने में सहायक सिद्ध होती है।

सफल चित्रकार असफल मनुष्य—वान गॉग

कुछ ही वर्षों पूर्व हॉलैण्ड की राजधानी एम्सटर्डम में विख्यात चित्रकार वीसेंट वान गॉग की स्मृति को स्थायित्व प्रदान करने के लिए वान गॉग स्मृति संग्रहालय का उद्घाटन हुआ है जिसमें उनकी अमर कलाकृतियों का वृहद संग्रह जुटाया गया है। इस संग्रहालय के लिए विंसेंट वान गॉग के अनुज थियो वान गॉग के सुपुत्र डा० वी० डब्लू० वान गांग ने उनके २३० चित्र और ५०० से अधिक रेखाचित्र समर्पित किये हैं। यह सम्मान उनकी कीर्ति का समुचित मूल्यांकन माना जाएगा साथ ही उनकी अमर यादगार भी बनेगा।

आज जिस वानगांग की स्मृति को स्थाई बनाने के लिए इतने प्रयास चल रहे हैं, उसी वान गांग को अपने छोटे से जीवन काल में जितनी उपेक्षाएं, जितना तिरस्कार और जितनी अवमानना सहनी पड़ी वह एक ओर इस सत्य को अनावृत करती है कि कष्ट कठिनाइयां, अपमान तिरस्कार, उपेक्षा-अवमानना उसे मनुष्य बनाती है। दूसरी ओर इस कटु सत्य को भी उद्घाटित करता है कि मनुष्य कितना स्वार्थी और स्वकेन्द्रित होता है कि उसे किसी दूसरे व्यक्ति की ओर ध्यान देने की फुर्सत ही नहीं मिलती है। यह संसार का ढर्रा है। इसका ज्ञान हो जाना हर व्यक्ति के लिए उपयोगी है।

विंसेंट वान गॉग का जीवन अति अल्प और अति दुखद था। वह दुख कितना असह्य था यह इसी बात से प्रकट हो जाता है कि उसे सैंतीस वर्ष की अल्पायु में आत्मघात करके इस संसार से विदा लेनी पड़ी। वान गॉग को इस दुनियां से कुछ भी नहीं मिला पर वान गॉग ने अपने अमर चित्रों के रूप में मानवता को जो सभ्यता दी है उसका मूल्यांकन अब किया जा रहा है उनके जीवित रहते हुए नहीं।

हालैण्ड के जनदर्त नामक कस्बे में सन् १८५३ में जन्मे वान गांग के चित्रों को जितनी ख्याति मिली है उतनी गिने चुने दो चार चित्रकारों को ही मिली है। 'रेम्ब्रां' के पश्चात इसी महान कलाकार का नाम सामने आता है। दुखी मानवता के प्रति इतनी गहन आत्मीयता के प्रदर्शन करने वाले चित्रों के अंकन में वान गॉग अप्रतिम है। सम्भवतः इसका कारण यही रहा हो कि वान गॉग को स्वयं गहन अवसाद दुख और उपेक्षा सहनी पड़ी थी।

अपने भाई थियो वानगांग को छोड़कर अन्य किसी व्यक्ति से उन्हें प्रेम और सहयोग नहीं मिला। उनको अपनी बदसूरती के कारण किसी भी नारी का प्रेम नहीं मिला। दुनियां का तो ढर्रा ही यही है। बाहरी टिमटाम पर ही वह मरती है। भीतरी सौंदर्य को देखने का प्रयास लोग कहा करते हैं। वान गॉग ने जिस सौंदर्य की सृष्टि की उसकी ओर उसके जीते जी बहुत कम लोगों ने ध्यान दिया। मरने पर भले ही उसे कितना माना गया हो यह दूसरी बात है। वान गॉग को जो उपेक्षा मिली वह उन लोगों के लिए कम प्रेरक नहीं है जो वास्तव में प्रतिभावान हैं पर उनकी प्रतिभा समादृत नहीं हुई है। उन्हें विश्वास रखना चाहिए कि देर सवेर उनका उचित मूल्यांकन होकर रहेगा।

नारी के प्रेम से तो वान गांग वंचित ही रहा। एक प्रकार से नारी का प्रेम पाने की उसकी अभिलाषा उसके लिए अभिशाप बनकर रह गयी थी। जब वह 'क्लेपहेम' कस्बे में रहा करता था तब उसके मकान मालिक की लड़की उर्सल लुइयर से उसका प्रेम हो गया। यह प्रेम एक तरफा था। उर्सल के मन में उसके प्रति तनिक भी प्रेम नहीं था। जब उसने उर्सल पर अपने मनोभाव प्रकट किये तो उर्सल ने उसकी उपेक्षा की। यह उसके लिए बहुत बड़ी चोट थी।

मानव मन में प्रेम पाने की आकांक्षा होना स्वाभाविक है पर कोई किसी के प्रति प्रेम रखता है तो यह आवश्यक नहीं हो जाता कि वह भी उसे प्रेम करे ही करे जिसे वह चाहता है। वह इसके लिए स्वतन्त्र है। किन्तु वान गॉग इस तथ्य को अस्वीकार ही करता रहा। इसे उसकी अति भावुकता ही कहना चाहिए कि उर्सल के

प्रति उसका प्रेम पागलपन के स्तर तक पहुँच गया। वह उर्सल को देखने मात्र की कामना से प्रति शुक्रवार की रात अपने गांव से पैदल ही निकल पड़ता था ताकि रविवार को चर्च जाती हुई उर्सल को नजर भर देख सके। पर यह एक पागलपन ही कहा जाएगा।

इसके पश्चात भी उसने दो एक स्त्रियों के प्रति स्वयं को अनुरक्त पाया पर जब उसने अपने मनोभाव उन पर प्रकट किये तो दूसरा पक्ष ठण्डा ही रहा। प्रेम सम्बन्धों की इस असफलता से वह बहुत दुःखी हो गया।

उस समय वान गॉग को अपनी वह असफलता बहुत चोट पहुँचाने वाली लगी थी पर सही दृष्टि से देखा जाय तो इस असफलता ने ही वान गॉग को महान चित्रकार बनाया था। जिस प्रकार पत्नी-प्रेम-अनुरक्त गृहस्थ तुलसी दास को सन्त शिरोमणि, मानसकार, महाकवि तुलसी दास बनाने का श्रेय रत्नावली की उस प्रेमपूर्ण झिडकी को है उसी प्रकार वान गॉग को अमर चित्रकार बनाने में उसकी प्रणयविफलताओं का बड़ा हाथ रहा है। यह बात दूसरी है कि मानसकार को जितना बड़ा अवलम्ब मिल गया था वैसा उसे नहीं मिला और वह टूटकर बिखर बिखर गया। इसमें दोष उसका भी नहीं है, वहाँ का जीवन दर्शन और संस्कृति ही वैसी है।

प्रणय सम्बन्धों की असफलता तथा जीवन की अथाह कठिनाइयों और अपरिमित कष्टों ने उसे सामान्य धरातल से असामान्य ऊँचाइयों पर पहुँचा दिया और इसी कारण वह अपने चित्रों में जड़ता को चेतना देने में सफल हो सका था। उसने 'स्टिल लाइफ' में भी अपना योगदान दिया था। दृश्य चित्रों में भी उसने प्रकृति को अपनी अन्तरंग भावनाओं के माध्यम से उभारा है। जिसमें उसकी व्यथित भावना साकार होकर अवतरित हुई है। सूरजमुखी के हँसते हुए ताजे पुष्प, बड़े-बड़े वृक्षों से छन छन कर और धरती तल पर आता हुआ सूर्य का प्रकाश आदि उसके चित्रों में एक नवीन प्रतीकात्मकता की सृष्टि करता है। 'साइप्रस' के चांदनी में नहाये वृक्षों को देखकर वह उत्तेजित हो उठता है और फिर तत्काल ही चित्र समाप्त करने के उद्देश्य से बहते हुए रङ्गों को तीव्र गति में लगाना आरम्भ कर देता है।

वान गॉग की कला कृतियों की विशेषता यह थी कि उसकी कृतियों में केवल एक अपने ही ढङ्ग का यथार्थ था। उसने अपने चित्रों में एक बात का विशेष तौर पर ध्यान रखा कि चित्र विषय से यथा तथ्य अंकित न हो साथ ही साथ उसकी आन्तरिक अनुभूतियाँ एवं आकार भी नजरअन्दाज न हो। उसने अपनी कृतियों में केवल मानव आकृति को ही अपना विषय नहीं माना, वरन वातावरण की प्रत्येक बड़ी से बड़ी और छोटी से छोटी वस्तुओं तक को अंकित किया, जैसे फल-फूल, पेड़-पौधे, खेत-मैदान, मेज-कुर्सी, भवन-पथ, गली-कूचे आदि। उसकी कृतियों में उसकी आन्तरिक भावनाएं निखर कर सामने आयीं हैं।

वान गॉग के चित्रों में आत्मा की शक्ति, जिसे वह दिव्य प्रकाश के साहृय्य देखा करता था उसी भाँति परिचायित होती है जिस प्रकार 'सेजाँ' के चित्रों में शारीरिक शक्ति व प्राणवन्ता का आभास होता है। यही कारण है कि वह अपने थोड़े से चित्रों के माध्यम से ही अमर हो गया है।

उसने अपने चित्रों में पीले रङ्ग का सबसे अधिक प्रयोग किया है। यदा कदा ही उसने अन्य दूसरे हल्के रङ्गों का प्रयोग किया था। वह चेहरे मोहरे से कितना ही भोंढ़ा और बदसूरत रहा हो पर उसने अपनी भीतरी भावनाओं का जो प्रस्तुती करण अपनी चित्रकला के माध्यम से किया है वह सुन्दरम् से अनुप्राणित है। काश उसके अपने जीवन में कोई उसके इस आन्तरिक सौंदर्य को देख पाता।

कला और साहित्य की जननी पीड़ा ही रही है। पीड़ा ने ही अमर संगीतकार बीथोवियन का निर्माण किया था। वाल्मीकि ने रामायण की रचना क्रौंच की पीड़ा की अनुभूति से ही प्रेरित होकर की थी। हिन्दी के प्रतिष्ठित कवि सुमित्रानन्दन पंत ने भी इसी सत्य को पद्य रूप में निरुपित किया है—

वियोगी होगा पहला कवि,
आह से उपजा होगा गान,
निकलकर आँखों से चुपचाप,
वही होगा कविता अनजान।

पीड़ा ही कविता, साहित्य और कला का प्राण रही है। वान गॉग ने अगर अपने सम्मुख आने वाले पीड़ा प्रसङ्गों को इस सत्य के साथ देखा होता तो बहुत सम्भव था उसे अपने जीवन से बेजार होने की आवश्यकता नहीं थी किन्तु दुर्भाग्य से वह ऐसा नहीं कर सका।

वान गॉग की अति भावुकता उसकी सबसे बड़ी कमजोरी थी। उसने देखा कि समाज के सफेद पोश लोग अपनी विकृत आदतों को तृप्त करने के लिए वेश्याओं को समाज का अनिवार्य अङ्ग तो बना देते और स्वयं सम्मानित बने रहते हैं और बदनाम वे होती है जो विवशता पूर्वक नारकीय जीवन जी रही होती है। भावुक वान गॉग यह देख कर वेश्याओं के प्रति सहानुभूति से भर उठा। उसकी अपनी एक मॉडल जो स्वयं एक बदनाम वेश्या थी उसकी कृपा पात्री बन गयी। वह उसी के साथ रहने लगा। वह तब तक उसके साथ रहता रहा जब तक कि उसका भाई थियो वान गांग जो कला-चित्रों का अच्छा व्यापारी था, उसे अपने साथ रखने के लिए लेने नहीं आगया।

दलितों, शोषितों और समाज के गिरे हुए वर्ग के प्रति उसकी कितनी आत्मीयता थी उसका प्रकटीकरण अपने भाई को उस समय कहे इन शब्दों से हो जाता है जब वह उन्हें अपने साथ चलने का आग्रह करने लगा था—"मेरे भाई मैं अच्छा आदमी नहीं हूँ, परन्तु मैं हर व्यक्ति में मानवता देख सकता हूँ।"

उनके भाई थियो ने विसेंट वान गॉग की पर्याप्त सहायता की। किन्तु उसकी भी अपनी पारिवारिक परिस्थितियाँ जब विषम हो चलीं तो उधर से सहायता मिलनी भी बन्द हो गई। वान गॉग को मानसिक परेशानी तो पहले ही थी मित्रों से धोखा खाने और प्रेम में निराश होने के कारण उसका मानसिक संतुलन बिगड़ता चला गया। अन्त में उसकी स्थिति एक पागल जैसी हो गयी। यह उसके विरोधियों के लिए छकाने का अच्छा अवसर था। उन्होंने एक आवेदन पत्र तैयार करके उस पर अस्सी व्यक्तियों के हस्ताक्षर करवाये, जिस पर न्यायालय में विचार हुआ और उसे सेंट रेमी अस्पताल में रहना पड़ा। यद्यपि वह यहाँ भी चित्र बनाता था पर उसमें वह पहले वाली बात नहीं रही थी।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। इस नाते वह समाज में सम्मान भी चाहता है और कुछ लोगों से अपनत्व की अपेक्षा भी रखता है, पर जब उसे वह नहीं मिलता तो वैसी स्थिति में उसके लिये मानसिक संतुलन रख कर उस दिन की प्रतीक्षा करनी आवश्यक होती है जब वह अपने कार्यों द्वारा सम्मान व अपनत्व जीत ले। वान गॉग में वह संतुलन और धैर्य नहीं था। इसलिए उसे सैंतीस वर्ष की अल्पायु में ही आत्मघात करना पड़ा। उसका जीवन सफल और सुखी जीवन भले ही नहीं कहा जा सके पर इन सबने उसके भीतर के उस महान् चित्रकार की प्रतिभा का विकास कर दिया और वह अपने चित्रों के माध्यम से अमर हो गया एक सफल चित्रकार किन्तु असफल आदमी के रूप में। उसकी सफलताओं व असफलताओं से सीखने वालों को बहुत कुछ सीख मिलती है।



मगध के एक धनी व्यापारी ने बहुत धन कमाया। उसे अपनी सम्पन्नता पर इतना गर्व हुआ कि वह अपने घर के लोगों पर ऐंठा करता। फल यह हुआ कि उसके लड़के भी उद्दण्ड और अहंकारी हो गये। पिता पुत्रों में ही ठनने लगी। घर नरक बन गया।

उद्विग्न व्यापारी ने महात्मा बुद्ध की शरण ली और कहा—"भगवन ! मुझे इस नरक से मुक्ति दिलाइये, मैं भिक्षु होना चाहता हूँ।"

तथागत ने कुछ सोचकर उत्तर दिया—"भिक्षु बनने का अभी समय नहीं है तात ! तुम जैसा चाहते हो वैसा आचरण करके तो घर में ही स्वर्ग के दर्शन कर सकोगे।"

व्यापारी घर लौट आया और विनम्रता बरतने लगा। उससे सारे घर का हृदय परिवर्तन हो गया और सुख शान्ति के दर्शन होने लगे।

देश प्रेम और धर्म निष्ठा के अनूठे प्रतीक—अशफाक उल्ला

"तुम्हारी इस प्रकार की प्रवृत्तियों को देख कर बहुतों को संदेह होता था कि कहीं तुम इस्लाम त्याग कर शुद्धि न करा लो। पर तुम्हारा हृदय किसी प्रकार अशुद्ध नहीं था फिर तुम शुद्धि किसकी कराते? तुम्हारी इस प्रकार की प्रगति ने मेरे हृदय पर पूर्ण विजय पाली। बहुधा मित्र मण्डली में बात छिड़ती कि कहीं मुसलमान पर विश्वास करके धोखा न खा जाना।

तुम्हारी जीत हुई, मुझमें—तुममें कोई भेद नहीं रह गया। बहुधा मैंने तुमने एक थाली में भोजन किया। मेरे हृदय से यह विचार ही जाता रहा कि हिन्दू मुसलमान में कोई भेद है।......................" ये हृदयोदगार है प्रसिद्ध क्रान्तिकारी प० राम प्रसाद बिश्मिल के, जो उन्होंने गोंडा जेल के फाँसीघर में बैठ कर लिखे थे अपने निकट सहयोगी क्रान्तिवीर अशफाक उल्ला के सम्बन्ध में।

प० राम प्रसाद 'बिस्मिल' जब क्रान्तिकारी आन्दोलन को गतिशील बनाने के लिए युवकों में देश भक्ति की भावना जगाने और समझ में आ जाए तो उनसे सहयोग लेने के उद्देश्य से शाहजहाँ पुर आये तो एक मुसलमान युवक उनसे भेंट करने को बड़ा उत्सुक जान पड़ा। यह युवक और कोई नहीं अशफाक ही थे जिनके हृदय में देश प्रेम की आग पहले से ही धधक रही थी। प० राम प्रसाद 'बिस्मिल' को भी ऐसे ही युवकों की खोज थी और अशफाक उल्ला को भी ऐसे ही मार्ग दर्शक की। समय की पुकार की प्रतिध्वनियाँ एक ही व्यक्ति के हृदय में गूँजती हो सो बात नहीं है। जागृत अन्तःकरण में तो वह अपने आप ही प्रतिध्वनित होती रहती है।

प० राम प्रसाद 'बिस्मिल' ने उनकी बातों का उत्तर उपेक्षा पूर्वक दिया। इससे अशफाक उल्ला को बड़ा दुःख हुआ। प० राम प्रसाद 'बिस्मिल' कट्टर आर्यसमाजी थे। वे मुसलमानों का शुद्धिकरण किया करते थे। आर्य समाज मन्दिर उनका निवास हुआ करता था और अशफाक एक कट्टर मुस्लिम परिवार के सदस्य थे। इसी कारण उन्होंने अशफाक की उपेक्षा की थी। पर वह भी निराश होने वाले युवक नहीं थे। उन्होंने अपने आचरण और व्यवहार द्वारा यह प्रमाणित कर दिया कि मजहब आदमी आदमी के बीच दीवार नहीं बन सकता।

कट्टर आर्य समाजी और कट्टर मुसलमान युवक का यह असम्भव दिखने वाला मेल सम्भव हुआ। 'बिस्मिल' अपने छोटे भाई की तरह स्नेह रखने लगे। अशफाक बिना किसी संकोच और दुराग्रह के उनसे मिलने के लिए आर्य समाज मन्दिर जाया करते थे। घण्टों वहाँ रहा करते थे। इनके लिए हिन्दू और मुसलमान होने का अर्थ मात्र उपासनादिक विधियों में थोड़ा अन्तर मात्र था। यह व्यक्तिगत आस्था देश और समाज की एक इकाई होने के नाते पारस्परिक विभेद का कारण बनना ही नहीं चाहिए।

शाहजहाँ पुर में जब भी हिन्दू मुस्लिम दंगे हुए अशफाक ने इन दंगों को रोकने में सफलता प्राप्त की। प० राम प्रसाद 'बिस्मिल' ने हिन्दू परिवारों में से कुछ ऐसे सुलझे हुए विचारों के युवकों का दल सङ्गठित किया जिसका काम ऐसे दङ्गों को रोकना था। अशफाक ने वैसे ही कुछ मुस्लिम युवकों का दल सङ्गठित किया। इन दोनों टोलियों ने समय-समय पर उठ खड़े होने वाले दङ्गों की चिंगारी को भयङ्कर आग बनने के पहले ही बुझा दिया। हर नगर और गाँव में यदि ऐसे अशफाक पैदा हो जाय तो मजहबी झगड़े देखने को भी नहीं मिले।

अशफाक को अपनी उस मातृभूमि से बेइन्तिहां मुहब्बत थी जिसके हवा, पानी और मिट्टी से उनकी बलिष्ठ और सुदृढ़ काया और फौलादी मन का निर्माण हुआ था। वे अपनी इस स्वर्गादपि गरीयसि मातृ भूमि को पराधीन कैसे देख सकते थे। अशफाक ने बुजदिल होकर जीना नहीं सीखा था। उन्हीं के शब्दों में—

बुजदिलों ही को सदा मौत से डरते देखा,
गो कि सौ बार उन्हें रोज ही मरते देखा।
मौत से वीर को हमने नहीं डरते देखा,
मौत को एक बार जब आना है तो डरना क्या है।
हम सदा खेल ही समझा किये, मरना क्या है ?
वतन हमेशा रहे शादकाम और आजाद,
हमारा क्या है, अगर हम रहें न रहें ॥

जिन्दगी जिन्दादिली का नाम है। जो अशफाक की तरह जिन्दगी का यह अर्थ समझ लेते हैं उन्हें व्यक्तिगत शौक मौज और खाने पहिनने की छोटी-छोटी एषणाएँ बांधे नहीं रख सकती। व समय की पुकार पर तन, मन, धन न्योछावर कर देते हैं।

भारतीय क्रान्तिकारियों में अशफाक न होते तो पिछली पीढ़ियाँ एक बहुत बड़ी प्रेरणा से वंचित रह जातीं। किस प्रकार एक युवक जाति व धर्म की सङ्कीर्णताओं से ऊपर उठकर देश केलिए बलिदान हो सकता है। ऐसा एक अकेला उदाहरण है अशफाक उल्ला का भारतीय क्रान्तिकारियों में। मातृ भूमि के प्रति निष्ठा और भक्ति का जो चरमोत्कर्ष उनके व्यक्तित्व और कृतित्व में देखने को मिलता है वह स्पृहणीय अनुकरणीय ही नहीं वंदनीय भी है।

उन्ही की एक हिन्दी कविता की कुछ पंक्तियाँ हैं—

हे मातृभूमि तेरी सेवा किया करूँगा।
फांसी मिले मुझे या हो जन्म कैद मेरी ॥
बीड़ा बजा-बजा कर तेरा भजन करूँगा ॥

उत्सर्ग की इस भावना का एक कण भी आज का भारतीय नव युवक अपने हृदय में रख सके तो हमारी राष्ट्रीय समस्या, समस्याएँ न रह कर खेल बन जायें।

अशफाक उल्ला को काकोरी षड्यन्त्र के अभियुक्त के रूप में फांसी की सजा मिली थी। न्यायाधीश ने जब उन्हें फांसी की सजा सुनाई तो उनका सीना गर्व से फूल गया। उनकी वह हसरत पूरी हो गयी कि उन्हें जिन्दा दिलों की तरह शानदार मौत मिले। जो पैदा हुआ है उसका मरना तो सुनिश्चित है पर अशफाक ने जैसी मौत पायी थी वह उनके साथियों के लिए ईर्ष्या और भावी पीढ़ियों के लिये प्रेरणा का विषय थी।

१९ दिसम्बर, १९२७ को फैजाबाद जेल में कुरान शरीफ का वस्ता कंधे पर लटकाये हुए 'लवेक' कहते और कलमा पढ़ते हुए अशफाक मुस्कराते हुए फाँसी के तख्ते के पास पहुँचे। उसका चुम्बन लिया और उपस्थित जन समुदाय को सम्बोधित करते हुए बोले—"मेरे हाथ इन्सानी खून से नहीं रंगे। मेरे ऊपर जो इल्जाम लगाया गया, वह गलत है। खुदा के यहाँ मेरा इन्साफ होगा।" और वे फाँसी के फन्दे पर झूल गये। आस्तिकता और राष्ट्र प्रेम के ऐसे उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। देश भक्ति और ईश्वर विश्वास के सहारे आदमी कितना अभय प्राप्त कर सकता है यह अशफाक की शहादत में स्पष्ट देखा जा सकता है।

उनके भाई बन्धुओं के आग्रह पर उनका शव शाहजहाँपुर ले जाया गया, मार्ग में लखनऊ स्टेशन पर उनके अन्तिम दर्शन के लिए लोग उमड़ पड़े थे। जिन थोड़े से लोगों को उनके अन्तिम दर्शन मिले वे दस घण्टे बाद भी उनके पार्थिव मुख मण्डल पर विराजती शान्ति और माधुर्य को देख विस्मित रह गये जैसे खेल-खेल में ही सो गया हो कोई जीवन क्रीड़ा का खिलाड़ी।

काकोरी रेल डकैती के अवसर पर अशफाक उल्ला की भूमिका सबसे महत्वपूर्ण रही थी। यद्यपि उन्होंने सरकारी खजाने की डकैती का विरोध किया था। इसमें पकड़े जाने का भय अधिक था। क्रान्तिकारी कोई डाकू तो थे नहीं। उन्हें अपनी क्रान्तिकारी गतिविधियों के लिए धन चाहिए था जो उनके पास था नहीं और दूसरे लोग उन्हें यों ही देश के नाम पर धन देते थे नहीं। अतः विवश होकर उन्हें यह मार्ग अपनाना पड़ता था।

जब रेल खजाने की डकैती की योजना बनी तो उन्होंने विरोध किया। किन्तु जब उनका विरोध कारगर नहीं हुआ तो वे उसे सफल बनाने में जुट गये। इससे उनकी सामूहिकता की भावना का सहज ही अन्दाज लग जाता है। उन्होंने विरोध किसी भय से नहीं किया था वरन् बुद्धि से किया था। और यदि उनकी बात मान ली जाती तो दल के इस प्रकार विछिन्न हो जाने का अवसर नहीं आता।

एक्शन के समय भी सबसे महत्वपूर्ण काम उनका तब आया जब खजाने की पेटी को तोड़ना था। डकैती में मिले खजाने के सन्दूक को तोड़कर जब धन निकालने की बात आयी तो तोड़न में कोई सफल नहीं हुआ। छोटा सा सूराख अवश्य हुआ पर उससे रुपये निकालना सम्भव नहीं था, किसी भी तरह। तब अशफाक की बलिष्ठ काया ही काम आयी। वे पहरे पर खड़े थे। उन्होंने सबको असफल होते देख कर अपनी माउजर पिस्तौल अपने साथी के हाथ में थमायी और उस सन्दूक पर पिल पड़े। थोड़ी ही देर में सूराख बड़ा हो गया।

डकैती के बाद भी वे अपने साथियों में सबसे तेज निकले। उन्हें पता था कि सरकार तुरन्त ही पकड़ा-धकड़ी करेगी सो वे घर ही नहीं गये और घर से आधे मील दूर एक गन्ने के खेत में छिप गये। रात को उनका खाना भी वहीं पहुँच जाता था।

जब धड़ाधड़ गिरफ्तारियाँ हुई तो वे बिहार चले गये और वहाँ डाल्टन गंज में दस महिने तक एक सरकारी दफ्तर में काम पर लगे रहे। यह उनकी चतुराई का ही परिणाम था। पर वे वहीं रहकर कलम घिसाई करने में कुछ भी सार नहीं समझते थे और चाहते थे कि किसी छद्म नाम से उच्च शिक्षा ग्रहण करने के बहाने विदेश चले जाँय। यही सोचकर वे दिल्ली आये जहाँ उन्हीं के गांव के, जाति के और सहपाठी मित्र ने उन्हें पकड़वा दिया।

जेल में भी उन्हें सरकारी गवाह बन जाने के लिये बहुत समझाया गया। इस काम में माहिर एक मुसलमान उच्चाधिकारी को उन्हें समझाने के लिए भेजा। अंग्रेज 'फूट डालो और राज करो' की नीति पर ही तो अपना शासन जमाये हुए थे भारत वर्ष पर। उन्होंने भारत-वासियों को कभी भारतवासी की दृष्टि से नहीं सोचने दिया। वरन् वे तो उन्हें हिन्दू, मुसलमान, सिख, हरिजन आदि फिरकों में बांट कर अपना उल्लू सीधा करते रहे थे। पर भला अशफाक उल्ला जैसे देश-भक्त पर उनकी यह मोहिनी माया कैसे चल सकती थी। अतः उनके प्रयास व्यर्थ ही गये। समझाने वाले सुपरिन्टेन्डेंट पुलिस ने उन्हें बार बार कहा कि यह सब हिन्दुओं का फसाद है वे यहाँ अपना राज जमाना चाहते हैं मुसलमानों को उनके फेर में नहीं पड़ना चाहिए। इस पर अशफाक झुंझला कर बोले—हिन्दू राज किसी भी तरह ब्रिटिश राज से अच्छा ही होगा हमारे लिए।"

अशफाक उल्ला का जन्म शाहजहाँपुर के एक प्रसिद्ध पठान परिवार में हुआ था। उनके बड़े भाई भोपाल राज्य में किसी उच्च पद पर नियुक्त थे। उनके पास एक लाइसेंस शुदा बन्दूक भी थी। अशफाक ने उसी से निशाने बाजी सीखी थी जो बाद में बहुत काम आयी साथ ही उनके कन्धे पर बन्दूक रहने की आदत भी। जब कभी क्रान्तिकारी कामों के लिये छिपाकर बन्दूक ले जानी होती तो अशफाक उसे खुले रूप में कन्धे पर लेकर चल पड़ते और पीछे पीछे उनके साथी। दिखने में भी उनका गोरा चिट्ठा कद्दावर शरीर किसी कुँवर साहब या नवाब जैसा था। किसी के शक की गुंजायश ही नहीं रहती थी ऐसे वक्त पर।

हाई स्कूल तक पढ़ाई करने के बाद वे क्रान्तिकारी आन्दोलन में लगे तो फिर आगे पढ़ाई हो ही नहीं सकी। घर वालों ने—माता-पिता व भाईयों ने बहुत समझाया मना किया पर वे अपने निश्चय पर अटल रहे। इस निश्चय पर अन्त तक अटल ही रहे। किसी प्रकार का लोभ उन्हें अपने पथ से विचलित नहीं कर पाया और न फांसी का फन्दा ही।

अशफाक ने संयम सदाचार और उचित आहार विहार के द्वारा शरीर साधना भी की थी तो शुभ विचारों से अपने मन और आत्मा को भी परिपुष्ट किया था। जेल में वे बिला नागा कुरान शरीफ का पाठ करते, नमाज पढ़ते और रमजान में रोजे रखते। धर्म निष्ठा और देश प्रेम उनकी आत्म शक्ति के अजस्र स्रोत थे, जिसके बल पर वे फाँसी के फन्दे को गले में डालते हुए भी मुस्कुरा सकते थे। राष्ट्रीय एकता और बलिदान की जो अनूठी मिसाल शहीद अशफाक ने कायम की है वह आज के नव युवकों को आर्थिक, सामाजिक और नैतिक क्रान्ति के लिए बल प्रदान करती रहेगी।



प्राणवान कवि—महाप्राण निराला

शिमला में सन् ३४ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन हुआ। श्री सत्यनारायण सिन्हा स्वागताध्यक्ष थे। कुछ शब्द उन्होंने ऐसे कह दिये जिससे आगत कवि क्षुब्ध हो उठे और उन्होंने, कविता पाठ करने से इन्कार कर दिया। कुछ समय के लिए वातावरण बिगड़ गया। क्षमा याचना करने पर कवि सम्मेलन आरम्भ हुआ तो जनता बहक गई। समारोह विशृंखलित होता जा रहा था। ऐसे समय में महाकवि निराला उठे और उन्होंने अपनी कविता—'जगो फिर एक वार' पढ़ी। इस कविता में निहित भावों से जन समुदाय इतना प्रभावित हुआ कि निराला अन्त तक कवि सम्मेलन पर छाए रहे।

अपने व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों के माध्यम से पाठकों के अन्तस्तल को स्पर्श और प्रभावित कर पाने वाले गिने चुने साहित्यकारों की अग्रिम पंक्ति में पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला का नाम लिया जाता है। उनकी कविता ही नहीं स्वभाव और रहन सहन भी इतना मौलिक तथा प्रभावोत्पादक था कि उनके नये प्रयोगों की काव्यधारा से असन्तुष्ट होने वाले लोग भी नतमस्तक होते चले गये।

निराला जी रूढ़ियों के तोड़ने वाले क्रान्तिकारी कवि के रूप में उभरे। उनका क्रान्तिकारी स्वर निरन्तर तीव्र होता चला गया। जो उनके इस स्वर को सह न पाते थे वे उनके सम्पर्क में आकर समर्पित हो गये। इस प्रकार निराला ने साहित्य के माध्यम से ही नहीं अपने सम्पर्क और रहन सहन की विशिष्ट शैली के माध्यम से भी लोगों को परिष्कृत जीवन दर्शन दिया।

बचपन से ही उन्हें अनेकों कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। गरीबी, अभाव और विवशता ने उन्हें मजदूर और गरीबों की आवाज बना दिया। निराला जी का साहित्य किसी भी कोण से परखा जाय दरिद्रता और उसके कारण शोषण वृत्ति के प्रति सशक्त स्वरों में रोष ही व्यक्त होता दिखेगा।

अंग्रेजी शासन, अंग्रेजी शासन के पोषक स्वार्थी तत्वों, भारतीय लोकमानस की कूप मण्डूकता तथा अन्ध परम्पराओं, अनौचित्य, और अन्याय के प्रति उनका विद्रोह का स्वर उनकी कलम, और वाणी से मुखरित हुआ है। अपने को परिवार की परिधि में ही सीमित न रखकर निराला ने अपनी आत्मीयता और भावनाओं को विराट जगत की सीमा तक विकसित किया है और विश्वमानव की समस्याओं तथा दैन्य दुर्दशा को अमूल चूल परिवर्तित कर देने का आह्वान किया है।

निराला का साहित्यिक जीवन जितना प्रखर था व्यक्तिगत जीवन में उतनी ही कठिनाइयाँ और अड़चनें आती रहीं। अपने उदार स्वभाव के कारण निराला की आर्थिक स्थिति हमेशा गिरी हुई रही। अपनी आवश्यकताओं को लेकर जो भी निराला के पास आया, अपनी सामर्थ्य भर उन्होंने उसकी सहायता की।

एक बार निराला गया में एक कवि सम्मेलन से लौट रहे थे। संयोजक ने यथेष्ट पारिश्रमिक दिया। निराला के पास यही राशि थी। उसी समय रास्ते में कोई मिला। निराला ने पूछा—' इस समय कहाँ जा रहे हो ?"

परिचित ने उत्तर दिया—"मेरी माताजी बीमार हैं। इसी समय जाना है पैसों का प्रन्बध करने जाना है। निराला ने जेब में जितने नोट थे सब निकाल कर दे दिये। यह भी नहीं सोचा कि कल क्या होगा ? ऐसी उदारता उनमें इतनी कूट कूट कर भरी थी कि आप भूखे रहकर भी जरूरतमन्दों की सहायता करते। सही मायने में उनकी इस उदारवृत्ति ने ही उन्हें निराला व्यक्तित्व प्रदान किया।

स्वयं सामान्य स्थिति के व्यक्ति होते हुए भी निर्धनों की उन्होंने हमेशा मदद की। निर्धनता अपने आप में कोई अभिशाप नहीं। जो व्यक्ति निर्धन होते हुए भी उदारता नहीं त्यागते, वस्तुतः वे ही सम्पत्तिवान होते हैं। एक बार कोई मल्लाह उनके पास आया। उनकी दान वृत्ति से वह पहले ही अच्छी तरह परिचित था। नाव में कभी सैर कराई होगी तभी से निराला को

जानने लगा था। बस इसी परिचय के आधार पर निषाद ने अपना दुखड़ा रोया। महाकवि ने नाव खरीदवा देने का आग्रह किया। निराला के पास उस समय ज्यादा रुपये तो थे नहीं। नाव खरीदवा देने का आश्वासन दे दिया और रेल भाड़ा देकर घर वापस भेज दिया। बाद में मल्लाह ने पत्र लिखे तो इस कुछ समय के परिचित को वास्तव में नाव ही खरीदवा दी।

दूसरों की सेवा सहायता करने में निराला जितनी उदारता बरतते उतनी ही कम रुचि वे स्वयं की आवश्यकताओं की ओर देते। स्वयं अभाव ग्रस्त रह कर ही दूसरों की सेवा करने में जो सन्तोष और आनन्द मिलता है वह वैभव और सम्पन्नता से मिलने वाले आनन्द से हजार गुना श्रेष्ठ है। क्योंकि दूसरों को सुख देने से आत्मा को जो सन्तोष होता है वह सुख सामग्री भौतिक साधनों को जुटाने और एकत्रित करने में कहां? निराला आजीवन दूसरों की सहायता करते रहे। परन्तु स्वयं ने कभी किसी से सहायता की अपेक्षा नहीं की। महाकवि निराला जब अक्सर रुग्ण रहने लगे तो बहुत से लोग उनकी सहायता के उद्देश्य से लिखने लगे। वे विनम्रता से क्षमा माँग लेते और उनकी सद्भावनाओं को ही पर्याप्त समझते। कुछ लोग ऐसे भी होते जो उनकी इस सङ्कोची वृत्ति को वाह्याचार समझते और उनकी सेवा के लिए अकुलता व्यक्त करते।

ऐसे ही एक सज्जन उन्नाव (गुना म० प्र०) से उनकी सेवा के उद्देश्य से आये। निराला के सामने जब उन्होंने यह प्रस्ताव रखा तो उन्होंने मना कर दिया। पर वे भी कब मानने वाले थे। वे किसी सुविधा युक्त मकान में ले जाकर उनकी सेवा सुश्रुषा करना चाहते थे। इसलिए इलाहाबाद जैसे शहर में उन्होंने मकान ढूंढ़ा और निराला को ले जाने के उद्देश्य से उनके पास आये। किसी भी मूल्य पर औरों को कष्ट देना उनको स्वीकार तो था नहीं। इसलिए निराला उनकी बात सुनते ही गर्मा उठे—"आप क्या मेरी जमींदारी सम्हालने आये हो। मुझे किसी की सेवा सुश्रुषा नहीं चाहिए। बिस्तर उठाओ और चलदो यहां से।" निराला का व्यवहार देखकर सेवक को विवश हो जाना पड़ा। जब उन्होंने जाना स्वीकार कर लिया तो निराला का वही पूर्ववत प्रेमपूर्ण व्यवहार आरम्भ हो गया।

उक्त सज्जन को निराला का यह रवैया काफी बुरा लगा। वे तनिक भी रुकना नहीं चाहते थे। निराला ने भोजन करके जाने का आग्रह किया फिर भी उन्होंने इन्कार कर दिया। निराला फिर क्रोधित होकर बोले—"तुम क्या अपने आप को इतना बड़ा समझते हो कि निराला के घर खाना तक नहीं खाओगे।"

निराला का यह व्यवहार देखकर वे द्रवित हो गये और अन्ततः उनका कहना मान लिया।

अपनी पत्नी और सन्तानों के मरते ही उन्होंने बङ्गाल छोड़ दिया और साहित्यकारों की नगरी इलाहाबाद में ही आकर रहने लगे। वहां से मतवाला आदि पत्रों का सम्पादन किया। अपने परिवार के टूट जाने से निराला को बड़ा मानसिक आघात लगा। उनके व्यक्तित्व के विकास में उनकी धर्मपत्नी का बड़ा योगदान रहा था।

पत्नी की मृत्यु हो जाने पर निराला आजीवन एकाकी ही रहे। परिजनों की राय को अस्वीकार कर उन्होंने दूसरे विवाह का विचार भी मन में नहीं आने दिया। उनका यह एक पत्नीव्रत अनुकरणीय आदर्श है। परिजनों के आकस्मिक कालकवलित हो जाने से निराला के मन में जगत के प्रति वैराग्य भाव जन्मा। गहन चिन्तन के पश्चात् उन्होंने संन्यास और वैराग्य की अकर्मण्यता को अग्राह्य समझा तथा काव्य साधना के माध्यम से लोक मानस का मार्ग दर्शन करने लगे।

निराला विपन्न दशा में भी परिस्थितियों से जूझते रहे और झंझावातों में भी अपने को शान्त बनाये रखा। विपत्तियां वस्तुतः मनुष्य की जीवनी शक्ति को परखने के लिए परमात्मा के वरदान रूप में आती हैं। जो धैर्य पूर्वक इन्हें सहता है महानता उसी का वरण करती है।

क्रान्तिदर्शी कविता और उदारता के कारण ही निराला श्रद्धेय नहीं बने, उन्होंने अपनी अनेकों विभूतियों का समुचित विकास किया था। कभी-कभी वे स्वयं कहा करते थे—"देखते नहीं मेरे पास एक पहलवान की छाती, फिलासफर का दिमाग और कलाकार के हाथ हैं।"

निराला को मूलतः छायावादी कवि माना गया है। छायावाद को प्रेम और सौंदर्य की काव्यधारा माना गया है और निराला इस काव्यधारा के जनक थे। उनके कुछ आलोचकों ने जीवन से निराशा की अन्तर्व्यथा को कोमल कांत पदावली में विलीनीकरण की शैली कहा है। परन्तु जिन्होंने उनके साहित्य को गम्भीरता से देखा है वे जानते हैं कि प्रेम और सौंदर्य का यह उपासक युग के प्रति भी कितना सजग है। 'राम की शक्ति पूजा' और 'जागो फिर एक बार' में कवि ने अपनी भावनाओं की जो सशक्त अभिव्यक्ति दी है देश के युवकों को झकझोरने के लिए कम नहीं।

प्रेम और सौंदर्य के साथ-साथ निराला ने शक्ति को भी आराध्य माना है और उसी के बल पर शोषितों और दलितों को अपनी दैन्य स्थिति से मुक्त होने की प्रेरणा दी है। शोषण और तज्जनित दैन्यता हमारे समाज का बहुत बड़ा अभिशाप है और इससे मुक्त हुए बिना सामाजिक सुव्यवस्था निरीं कल्पना ही होगी।

सफलता शक्तिवानों का वरण करती है। निराला ने इस सिद्धान्त का ठोस प्रतिपादन किया। राम की शक्ति पूजा में जामवन्त और हनुमान के वार्तालाप प्रसङ्गों में निराला का यही विश्वास प्रधान रूप से व्यक्त हुआ है। और इसी केन्द्रीय विचार को लेकर राम की शक्ति पूजा ग्रन्थ का प्रणयन हुआ।

निराला के राम लङ्का विजय के अभियान को आरम्भ करने से पूर्व शक्ति की आराधना कोई विशेष प्रयोजन से करते हैं। उनकी मान्यता है कि शस्त्र, शस्त्रबल, सैन्य-बल, अथवा भौतिक बल ही पर्याप्त नहीं है बल्कि राम का अभिष्ट नैतिक बल है और इसी बल को चिरस्थाई बनाये रखने के लिए वे शक्ति की आराधना करते हैं।

अपनी कविता के माध्यम से निराला ने आत्मशक्ति की—नैतिक बल की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है। आसुरी तत्वों के साथ दैवीपद्धति से मोर्चा लेने की जो प्रेरणा निराला के काव्यदर्शन में मिलती है। वह अन्यत्र कम ही दीख पड़ती है।

मजदूरों और शोषितों के प्रति जो कसक पैदा करने की सामर्थ्य निराला के काव्य में है—ने उन्हें साहित्यिक ऋषि की श्रेणी में बिठाया है। उनके विचार, उनके आदर्श और उनकी मान्यताएँ महान है और उससे भी महान है उनका व्यक्तित्व।

वे निरन्तर परिस्थितियों से संघर्ष करते रहे और अन्ध परम्पराओं से टक्कर लेते रहे। इसी कारण वे महाप्राण सम्बोधित किये गये। ✳—⊙—✳



गौतम बुद्ध राजगृह के वेलु वन में ठहरे हुए थे। एक दिन एक ब्राह्मण जिसका कोई सम्बन्धी बौद्धभिक्षु संघ में शामिल हो गया था वहाँ आकर उनके प्रति कटु शब्द बोलने लगा। तथागत शांतचित्त सुनते रहे। जब गालियाँ बकते-बकते वह थक कर चुप हो गया तो बुद्ध ने पूछा—बन्धु तुम्हारे यहाँ कोई मेहमान तो आता होगा।

'हाँ आता है—ब्राह्मण ने जवाब दिया।

'तुम उसके लिए बढ़िया पकवान भी बनाते होंगे।

'हाँ हाँ क्यों नहीं।

'यदि वह पकवानों को न खाये तो ?

'तो वे हमारी ही चीजें होने के कारण हम ही उन्हें ग्रहण करते हैं।

'तो बन्धु बताओ, अभी तुमने जो गालियाँ दीं उनको मैंने ग्रहण नहीं किया क्योंकि मैं कभी किसी को कटु वचन नहीं कहता। अब तो वे गालियाँ तुम्हारी ही हुईं न।

शिष्ट किन्तु मर्मस्पर्शी उत्तर ने ब्राह्मण को लज्जित कर दिया।

नींद क्यों कैसे और कितनी ?

मनुष्य को स्वस्थ्य तथा सुखी जीवन यापन के लिए जिस प्रकार भोजन वस्त्र व अन्य आवश्यक वातों की जरूरत रहती है उसी प्रकार नींद भी आवश्यक है। मस्तिष्क और शरीर के लिए इसकी सामान रूप से आवश्यकता है अच्छे से अच्छा स्वास्थ्य ठीक से कुछ दिनों नींद न मिलने से गड़वड़ हो जाता है। नींद से शरीर को सुख और आराम मिलता है। दिन की थकान मिट कर शरीर पुनः चुस्त और तरोताजा होकर आगे श्रम करने हेतु तैयार हो जाता है।

आस पास के वातावरण के प्रति जागरूकता तथा वाह्याचार में क्रमशः तथा मन्द मन्द कमी होने की अवस्था को नींद कहते हैं। मूर्छितावस्था तथा निद्रावस्था में अन्तर है। मूर्च्छित मनुष्य कुछ समय बाद होश में आ जाता है। यदि आप उसे हिलायें डुलायें या पुकारें तो वह होश में नहीं आता न आंखें ही खोलता है। उसका श्वास चलता रहता है। परन्तु निन्द्रावस्था में पड़े मनुष्य को हिलाया, डुलाया या पुकारा जाय तो जागकर उठ बैठता है किन्तु हल्की आवाज उस पर कोई असर नहीं डालती।

किसको कितनी नींद लेना चाहिए इसका ज्ञान होना आवश्यक है। अधिक शारीरिक श्रम करने वालों को कम से कम ८ घण्टे सोना आवश्यक है उन्हें चाहिए कि अधिक से अधिक नौ बजे तक बिस्तर सम्हाल लें।

व्यापारी साहित्यिक तथा अन्य वुद्धि जीवियों को मानसिक कार्य अधिक करना पड़ता है उनके मस्तिष्क को पर्याप्त विश्राम की आवश्यकता है। उन्हें अधिक से अधिक १० बजे रात्रि तक सो जाना चाहिए।

दाँये या वाँयें करवट से सोना चाहिए। वाये करवट से सोना अधिक अच्छा है। चित्त सोना हानिकारक है।

साधारणतया नव जात शिशु २० घण्टे सोते हैं। ६ महिने के आयु हो जाने पर २ घण्टे की कमी हो जाती है अर्थात् १८ घण्टे सोकर काम चला लेते हैं १ वर्ष का वच्चा १६ घण्टे, ५ वर्ष का १४ घण्टे और १० वर्ष का १२ घण्टे सोये तो पर्याप्त है। १५ वर्ष के किशोरों को १०, घण्टे २५ वर्ष के युवक को ८ घण्टे और ३५ वर्ष से अधिक को ७ घण्टे सोना चाहिए। ५० वर्ष के बाद ६ घण्टे और ६० वर्ष के बाद ५ घण्टे सोने से काम चल जाता है।

ये सामान्य नियम वताया गया है। कई लोग अभ्यास से अपनी नींद की मात्रा को घटाकर आधी और इससे भी कम पर ले आये तथा उनके स्वास्थ्य पर भी प्रभाव नहीं पड़ा। उदाहरणार्थ स्व० प्रधान मन्त्री पण्डित नेहरू कुल ३-४ घण्टे सोते थे और जब उठते थे तब उतने ही तरोताजा रहते थे जैसे पूर्ण नींद ली हो।

ब्रिटेन के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री श्री चर्चिल, प्रसिद्ध विजेता नेपोलियन के विषय में कहा जाता है कि वह घोड़े की पीठ पर बैठे-बैठे झपकी ले लेता था और उतनी ही ताजगी का अनुभव करता था।

वास्तव में नींद से ताजगी का प्रश्न भी सबके साथ एकसा नहीं रहता कई लोग आठ घण्टा सोने के बाद भी यह कहते सुने जाते हैं कि नींद से उनको जो ताजगी या स्फूर्ति मिलना चाहिए थी वह नहीं मिली।

ऐसी नींद को हम स्वप्न वाली नींद कहते हैं उन्हें गहरी निद्रा नहीं आती स्वप्न वाली निद्रा में हमारा मन जागता रहता है। शरीर सो जाता है। मन हमें न मालूम कहाँ २ भटकाता रहता है और थका मारता है इसीलिए हम उठने पर ताजगी अनुभव नहीं करते। गहरी निद्रा वह होती है जिसमें हमें तन बदन की सुध न रहे, हो हल्ले का भी कोई असर न हो ऐसी निद्रा १-२ घण्टे ही आ जावे तो उत्तम होता है।

अधिक सोने से आलस्य आता है इसलिए सायङ्काल शीघ्र सो जाना चाहिए तथा प्रातःकाल सूर्योदय से २ घण्टा पूर्व उठ जाना चाहिए। इस क्रिया से स्वास्थ्य ठीक रहता है।

डॉक्टरी परीक्षण से ज्ञात हुआ है कि सोने से शरीर को आराम मिलता हैं साँस की गति घटकर प्रति मिनट १२-१४ हो जाती है। हृदय की गति भी प्रति मिनट

६० ६५ तक आजाती है। मस्तिष्क में रक्त की पूर्ति घट जाती है। सोते समय चेतना अवस्था की अपेक्षा पसीना अधिक निकलता है। सोने वाले की श्रवण व स्पर्श शक्ति जाती रहती है।

नींद से रक्त चाप १० से ३० एम० एम० तथा नाड़ी की गति १० के करीव कम हो जाती है। स्वाँस की गति यद्यपि धीमी होती है पर गहरी और पूरी चलती है। मूत्र त्याग क्रिया हल्की पड़ जाती है पर पसीना निकालने वाले अवयव अधिक सक्रिय रहते हैं। पाचन क्रिया की गति में कोई खास अन्तर नहीं रहता है मांश पेशियों का तनाव घट जाता है। गहरी नींद में स्वप्न नहीं आते।

आजकल अनिद्रा रोग की आम शिकायत है। हमारे देश में भी यह बीमारी बढ़ती जा रही है। अमेरिका में तो ५० प्रतिशत लोग नींद की गोली खाकर नींद बुलाते हैं। इस युग की यह कटु देन है ठीक प्रकार से या पूर्ण मात्रा में निद्रा न आने को अनिद्रा रोग कहते हैं यह तीन प्रकार के होते हैं:—(१) चारपाई पर लेटने के पश्चात भी बड़ी देर तक नींद नहीं लगती। (२) नींद का बार बार खुल जाना (३) नींद का समय के बहुत पूर्व खुलकर फिर न लगना।

अनिद्रा रोग के मूल में अनेक कारण होते हैं पर उन्हें दो भागों में विभक्त किया जा सकता है:—

(१) मानसिक कारण (२ शारीरिक कारण)

(१) आज का यह भौतिकवादी समाज धन सम्पत्ति के पीछे पागल हो रहा है उसने अनन्त इच्छाओं का जाल बुन रखा है जब इच्छा पूर्ति नहीं होती तो दिमाग पर तनाव पैदा होता है तथा चिन्ताग्रस्त भी हो जाता है। व्यापार, व्यवसाय, नौकरी आदि ने आज कल अनन्त समस्यायें उत्पन्न कर रखी हैं तीसरे मँहगाई के कारण आज जीवन यापन के साधन जुटाना कठिन हो रहा है। इसके कारण तथा सर्वमान्य सामाजिक नियमों के विरुद्ध काम करने पर आत्म प्रताड़ना के कारण निद्रा नहीं आती है।

शारीरिक कारणों में (१) शरीर में कोई बीमारी या दर्द (२) स्वाँस लेने में कठिनाई खांसी दमा हृदयरोग, बहुमूत्र रोग, खाज खुजली रक्तचाप की अधिकता तीव्र-ज्वर आदि कारणों से नींद नहीं आती।

मानसिक कारणों से नींद न आने के लिए धार्मिक शिक्षाओं पर चलना आवश्यक है। सादा जीवन और उच्च विचार होना चाहिए, त्याग और सेवा की वृत्ति को धारण करना चाहिए अनीति की कमाई से परहेज का सङ्कल्प लेना चाहिए। दूसरे दिन से ही नींद की शिकायत दूर हो जावेगी तथा नींद की गोली की आवश्यकता भी नहीं पड़ेगी। शारीरिक कारणों में जो रोग हो उसकी योग्य चिकित्सा कराना संयम खान पान आदि का ध्यान रखना आवश्यक है इसके विना पूर्ण निद्रा पा सकना कठिन है।

कुछ निम्न सावधानियाँ और गतिविधियों को अमल में लाया जाय तो भी अनिद्रा रोग से छुटकारा मिल सकता है।

(१) मध्य रात्रि के पूर्व अवश्य सो जाना चाहिए। मध्यरात्रि के पूर्व ली गई निद्रा अधिक स्फूर्ति और ताजगी प्रदान करती है।

(२) नींद के समय से दो ढाई घण्टे पूर्व भोजन से निवृत्त हो जाना चाहिए।

(३) रात्रि को भोजन में गरिष्ठ पदार्थों की अपेक्षा दूध, फल या हल्का भोजन लेना चाहिए।

(४) नींद का अधिक से अधिक लाभ मिले इसलिए तख्त पर या भूमि पर नरम बिस्तर डालकर शयन करना चाहिए।

(५) सोने का कमरा हवा दार हो जहां शुद्ध व ताजी हवा आती हो। वातावरण शान्त हो।

(६) सोने से पूर्व ठण्डे पानी से हाथ पैर व मुँह धोलें यदि परिश्रम का कोई काम किया हो तो गरम पानी से स्नान करलें।

(७) सोते समय चुस्त कपड़े न हो। ठन्ड हो तो ओढ़ने को पर्याप्त प्रवन्ध रहे।

(८) मुँह ढककर नहीं सोना चाहिए, इससे नींद में बाधा पड़ती है यह स्वास्थ्य के लिए भी हानिकारक है।

(९) ऐसी दशा में लेटें जिससे शरीर के किसी भाग विशेष पर अधिक दवाव न पड़े तथा मांश पेशियां अपना तनाव कम कर सकें।

(१०) निद्रा का एक निश्चित समय हो कभी ८ बजे, कभी १२ बजे, कभी ६ बजे यह ठीक नहीं है।

(११) सोने के पूर्व कोई उत्तेजक पदार्थ बीड़ी, सिगरेट चाय आदि का प्रयोग न करें। इनसे स्नायविक उत्तेजना उत्पन्न होकर नींद में बाधा उत्पन्न होती है।

(१२) सायंकालीन भोजन के पश्चात कुछ मन्द मन्द टहलने से भी थोड़ी थकावट आकर नींद ठीक आजाती है।

(१३) सोने के पूर्व रेडियो तथा उत्तेजक पुस्तकें नहीं पढ़ना चाहिए इससे मानसिक उत्तेजना बढ़कर नींद में विघ्न उपस्थित होता है।

(१४) बिस्तर पर जाते समय ईश्वर का स्मरण करते रहें। दिमाग से सभी चिन्ताओं को निकाल दें। यह संसार हमने नहीं बनाया जिसने बनाया है इसके चलाने का उत्तरदायित्व उसी पर छोड़ दें।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानसिक तनावों को कम करने से अधिकतर नींद की समस्या हल हो जाती है विचारों को और कार्यों को शुद्ध व सही रखें। यह मनुष्य का कर्तव्य है शरीर भगवान का मन्दिर है इसे सदा स्वस्थ रखने की हमारी जिम्मेदारी है इस कर्तव्य को पालन करने में किसी प्रकार की कोताही न करें।

यह तथ्य बहुत कम लोगों को मालूम है कि उचित मात्रा में पानी न पीना भी अनिद्रा का एक बड़ा कारण है। पाचन क्रिया और रक्त शुद्धि दोनों ही ठीक तरह चलते रहें उसके लिए पर्याप्त मात्रा में पानी पीते रहना चाहिए। पर जो उसमें कंजूसी करते हैं उनकी देह में मल विकृतियां बढ़ती और जमती जाती हैं, उसका प्रभाव मस्तिष्क की गर्मी बढ़ने के रूप में उत्पन्न होता और उससे नींद में बाधा पड़ती है।

बिस्तर पर जाते जाते सारी चिन्ता, उद्विग्नता छोड़ कर निश्चिन्तता संतुष्टि और प्रसन्नता की मनः स्थिति बना ली जाय। भगवान की गोद में शिर रख कर शांति की शरण में जाने की भावना परिपक्व करने का प्रयत्न करें तो निश्चित रूप से अच्छी मीठी और गहरी निद्रा आ सकती है।



जो हो वही दिखलायें—

प्रधान मन्त्री श्री लाल बहादुर शास्त्री की पत्नी श्रीमती शास्त्री ने अपने जीवन के रोचक प्रसङ्ग सुनाते हुए बताया—

जब मैं पहली बार अपने पति के साथ रूस यात्रा के लिए तैयार हुई तो मुझे बड़ा डर लग रहा था। मैं सोच रही थी कि मैं सीधी-साधी भारतीय गृहणी हूँ। राजनीति का मुझे ज्ञान नहीं, विदेशी तौर-तरीकों का पता नहीं। कहीं मुझसे कोई ऐसे प्रश्न न किये जायें जिसका उत्तर मैं ठीक से न दे पाऊँ और तब मेरे पति अथवा देश का गौरव कुछ घटे अथवा उनकी हँसी हो।

किन्तु फिर मैंने यह निश्चय करके अपना डर दूर कर लिया कि मैं एक महान देश के प्रधान मन्त्री की पत्नी के रूप में अपने को पोज नहीं करूँगी। मैं तो सबके सामने अपने को एक साधारण भारतीय गृहिणी के रूप में रक्खूँगी।

मैंने वहाँ जाकर अपने को एक गृहिणी के रूप में ही पेश किया। वहां के अच्छे लोगों ने मुझसे घर गृहस्थी के विषय में ही बातचीत की जिसका उत्तर देकर मैंने सबको सन्तुष्ट कर दिया। इस प्रकार मैंने एक बहुमूल्य अनुभव यह पाया कि मनुष्य वास्तव में जो कुछ है यदि उसी रूप में दूसरों के सामने पेश करे तो उसे कोई असुविधा नहीं होती और उसकी सच्ची सरलता उपहास का विषय न बनकर स्नेह एवं श्रद्धा का विषय बनती है।

दीर्घजीवी होना कठिन नहीं है

जीवन, मन और शरीर की शक्ति का समन्वित रूप है। यदि मन में विचार विकृत हुए और शरीर में विकृति उत्पन्न हो गई तो वह जीवन न होकर मृत्यु और विनाश की गति को प्राप्त होने लगेगा और धीरे धीरे मृत्यु को प्राप्त हो जावेगा। मन और शरीर एक दूसरे से प्रभावित होते हैं। स्वस्थ्य शरीर में ही स्वस्थ मन का निवास होता है। स्वस्थ मन का प्रभाव शरीर को स्वस्थ्य करने का साधन है। क्योंकि रोगों की भूमिका मानसिक क्षेत्र में विकृति होने से ही बनती है और शरीर पर रोग, तो मानसिक विकृति के घनत्व का परिणाम होता है।

जिन देशों में मनुष्यों की आयु अधिक पाई जाती है वहाँ का सर्वेक्षण करने से इस तथ्य की सिद्धि स्वतः ज्ञात हो जाती है। जरा वैज्ञानिकों ने जार्जिया क्षेत्र में जो काकेशिया क्षेत्र में है वहां का सर्वेक्षण किया उस छोटे से क्षेत्र में १००-१०० वर्ष के २१०० व्यक्ति थे। जार्जिया के अलावा काकेशिया पर्वत के आस पास के क्षेत्र में शतायु व्यक्तियों की कमी नहीं है। १०० से ऊपर १२५ और १३०, १३५, १४० और १५० वर्ष के व्यक्ति भी मिलते हैं। कोई ऐसा परिवार नहीं मिलता जिसमें १०० वर्ष की आयु से कम का व्यक्ति उस परिवार का वुजुर्ग हो। वही परिवार सम्माननीय माना जाता है जिसका वुजुर्ग लम्बी आयु का हो वह १०० और १०० वर्ष से ऊपर की आयु भोग रहा हो। उत्तर पूर्व काकेशस के एक किसान श्री मखबूद बागीर ओगलीइवानोव एक किसान थे जिनकी मृत्यु १९५६ में १५० वर्ष की आयु में हुई थी उनके २३ बेटे बेटियाँ और १५० नाती पोते थे। १७५ के लगभग परिवार में व्यक्ति थे उनकी मृत्यु के समय उनकी बड़ी लड़की १२० वर्ष की थी। इस प्रकार के कई परिवार इस क्षेत्र में छोटे-बड़े रूप में देखने को अब भी मिलते हैं। उनके मनोविचार और खाना खुराक एवं रहन सहन का सर्वेक्षण दल ने अध्ययन किया है।

अधिकांश में दीर्घायु व्यक्तियों से पूछने पर कि तुम्हारे दीर्घायु जीवन का क्या रहस्य है तो उत्तर में यही सार मिलता था कि मन में किसी प्रकार की चिन्ता न होनी चाहिए। किसी प्रकार की मन में उलझन होने से उसी पर ध्यान जाता है, उस में मन की शक्ति का व्यय होता है, शक्ति जीवन प्रवाह की ओर न लगकर उसे कुण्ठित बनाने-विकृति उत्पन्न करने में लग जाती है। क्रोध ईर्ष्या दम्भ आदि विकृतियाँ घुन की तरह लग कर मन को खोखला करती हैं। इसलिए मन में सङ्कल्प उच्च हो पवित्र हो यह न सोचो और कहो कि मैं वृद्ध हो गया हूँ। मैं ५५ वर्ष का हूँ यह कह कर अपनी शक्ति को क्षीण न करो, अपने भविष्य की सुन्दर योजनाओं की पूर्ति के व्यावहारिक चरण सक्रियता से बढ़ाओ।

शारीरिक निर्बलता या वृद्धावस्था के लक्षण मानसिक विकृति के ही परिणाम होते हैं। यह निश्चित है कि मोटर के जिस कल पुर्जे से काम न लिया जायेगा उस में जङ्ग लग जावेगी। ऐसे ही शारीरिक अङ्गों का कार्य है। यदि हाथ को अधिक आराम दिया तो वह भी धीरे धीरे निर्बल हो जायेगा। और अन्त में लकवे जैसी स्थिति हो कर शक्ति शून्य होकर रह जावेगा। यथा शक्ति शरीर से पूर्ण काम लेना चाहिए। दीर्घ जीवी व्यक्ति अधिकांश में अपने शरीर को सक्रिय रखते रहे हैं जो भी व्यक्ति शरीर श्रम के लिए समयाभाव पाते रहे हैं उन्होंने भी किसी प्रकार समय निकाल कर सक्रियता और शरीर श्रम के नियम का पालन किया है और दीर्घजीवन का लाभ उठाया है। खुले आकाश में सोना, आक्सीजन का अधिक से अधिक सेवन करना, गहरी स्वांस लेकर पूरे फेफड़ों में वायु का संचार करना ताकि शरीर से विकार निकल जावे ऐसी आदतें बनाई हैं।

मानव पर उसके आहार का विशेष प्रभाव पड़ता है। जिससे जीवन रस बनता है और वह जीव कोषों में पहुँचता है। प्रकृति के विभिन्न प्रकार के तत्वों द्वारा ही जीवन रस बनता है, वे पदार्थ जो शीघ्र पाचक पौष्टिक एवं शक्ति वर्धक होते हैं, दही, दूध, फल, शहद,

शब्जियां आदि हैं और इन पदार्थों में शरीर के उपयोग के लिए सभी तत्व मिलते हैं। अन्य पदार्थों में ये पोषक तत्व कम एवं अधिकता के हिसाब से प्राप्त होते हैं। आवश्यकतानुसार उनका सेवन करने से शक्ति धीरे धीरे प्राप्त होती है।

ब्रह्मचर्य से रहने पर शरीर निरोग, दृढ़, पुष्ट एवं ओजस्वी बनता है। इस प्रकार बिना रोग के शरीर स्वस्थ रहता है।

आधुनिक वैज्ञानिक युग में मैडीकल साइन्स पर्याप्त उन्नति पर है। उसका कहना है कि शरीर की अन्तिम इकाई जीवन कोष ही है जो सेल्स नाम से प्रसिद्ध हैं। उन में अर्द्ध-तरल पदार्थ "जीवन रस" पूर्ण रूपेण सूख जाता है तब वह मनुष्य पूर्ण मृत्यु को प्राप्त होता है। मनुष्य में केवल चेतना के न रहने पर और रक्त प्रवाह बन्द होने पर ही उसे मरा मान लेते हैं। इस प्रकार से मरने वालों की आंखें निकाल कर दूसरे को जब लगाई जाती हैं तो वह सजीवता का प्रमाण देती हैं।

मनुष्य के दिल के भागों को तथा गुर्दे एवं कलेजा आदि को निकाल कर शरीर से अलग कर लेते हैं फिर उनकी खराबीयों को दूर कर अन्य शरीरों में यथा स्थान फिट कर देते हैं मानव कठिन से कठिन रोगों से मुक्त हो जाता है कभी कभी तो हृदय की जगह नया हृदय लगाते हैं और सफलता प्राप्त करते हैं। शरीर के अन्तर्गत कोमलांगों में विकृति होने पर उसे निकाल कर उसकी जगह नये बने बनाये या पशुओं के शरीर से निकाल कर लगा देते हैं और सफल होते हैं। ऐसी सफलताओं से मनुष्य का जीवन दीर्घ हो जाता है। जीवन-रस को इन्जेक्शनों द्वारा निर्बल अङ्गों उपांगों में प्रवेश करा कर उसे सजीव करते हैं। आज के युग में जीवकोष विषयक चिकित्सा एक विशेष विषय बन गया है। कठिन से कठिन रोगों से भी निवृत्त हो जाते है। अधिक आयु प्राप्त कर जीवन यापन कर रहे हैं।

जीवन रस की वृद्धि और पुष्ट करने वाले तत्वों का सेवन कर मानव अपना काया कल्प कर पुनः यौवन प्राप्त करता है शरीर के कोमल अङ्ग जैसे फेफड़े गुर्दे आंतें आदि शिथिल और कमजोर हो जाती हैं वही नवीन शक्ति ग्रहण कर नवीन बन जाती हैं। उन्हीं में वही नवीन काया जैसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है। नवीन युवापन आ कर मस्ती से जीवन जीया जा सकता है। जीवन कोई कलेण्डर नहीं है, समय नहीं है, यह तो अवस्था है। संसार में ६०, ६०, ८०, ८०, वर्ष के व्यक्ति भी बच्चों की भांति कुलांचे भरते हुए दिखाई देते हैं।

संसार में जितने भी महान पुरुष हुए हैं उनकी उत्तम कृतियाँ लगभग ५०-६० वर्ष के ही पश्चात् संसार को उपलब्ध हुई हैं। गेटे कवि का फास्ट ८० वर्ष की आयु के लगभग लिखा गया। रविन्द्र बाबू ८० वर्ष तक लेखन कार्य करते रहे। बर्नाडशा ९४ वर्ष के लगभग तक उत्तम कृतियां विश्व को प्रदान करते रहे। चर्चिल, नेहरू आदि राजनीतिकों एडीसन क्रैरेले आदि वैज्ञानिकों ने दीर्घ जीवन प्राप्त कर अपनी योग्यता शक्ति का लाभ विश्व को दिया है। वे लोग असफलता से निराश होकर नहीं बैठ जाते थे। असफलता मिलने पर यही कहते थे कि मैंने एक और तरीका जान लिया है कि जिससे काम करना चाहिए और अपने लक्ष्य की ओर नवीन नवीन तरीकों से, सूझ बूझ से आगे बढ़ते रहते थे।

> प्रजातन्त्र का अर्थ मेरी समझ में यह है कि इसमें नीचे से नीचे और ऊँचे से ऊँचे आदमी को आगे बढ़ने का समान अवसर मिले।
>
> —महात्मा गांधी

मनोबल दीर्घ जीवन में एक आधार रूप में स्थिर है। "मन के हारे हार है और मन के जीते जीत" मन को विकृत से बचाये रखना आवश्यक है। जीवन में सक्रियता हो, स्वच्छ वायु, खुला आकाश अधिकतम प्राप्त हो, साधारण भोजन पौष्टिक एवं सुपाच्य हो। मादक वस्तुओं तथा धूम्रपान का निषेध हो। स्वस्थ मन स्वस्थ शरीर हों चाहे वे ऋषि हों या ग्राम वासी वे दीर्घ जीवन प्राप्त करते पाये गये हैं। यदि उन्हीं के चरण चिन्हों पर हम चलें तो हम भी दीर्घ जीवी हो सकते हैं।

युग निर्माण विद्यालय का आगामी सत्र

स्वस्थ शिक्षा पद्धति के विकास की आवश्यकता अनुभव करते हुए गायत्री तपोभूमि मथुरा में युग निर्माण विद्यालय आरम्भ किया था। इस विद्यालय का एक वर्षीय शिक्षण पाठ्यक्रम काफी सफल रहा है और पिछले सत्रों में सैकड़ों विद्यार्थी प्रशिक्षण प्राप्त कर निकले हैं युग निर्माण विद्यालय की शिक्षण पद्धति इस मायने में अनुपम कही जानी चाहिए कि इससे व्यक्तित्व के समग्र विकास और आजीविका की दृष्टि से छात्रों को स्वावलम्बी बनने का दोहरा प्रयोजन पूरा होता है।

विद्यालय का वर्तमान सत्र पूरा होने जा रहा है। इसके बाद १ जुलाई से नया सत्र आरम्भ होगा। पिछले वर्ष विद्यालय में अपने बच्चों को प्रवेश दिलाने के लिए परिजनों में जैसी प्रतिस्पर्धा हुई थी वैसी ही स्पर्धा अब भी चलने की सम्भावना है। अतः परिजनों को यथा सम्भव शीघ्र ही आवेदन भेज कर अपना स्थान सुरक्षित कर लेना चाहिए। साथ ही विद्यालय के पाठ्यक्रम, शिक्षण योजना और विधिनियमों की जानकारी भी प्राप्त कर लेनी चाहिए ताकि पीछे कोई परेशानी न हो।

शिक्षण प्रक्रिया

युग निर्माण विद्यालय के एक वर्षीय प्रशिक्षण में छः वर्ग हैं। तीन वर्ग व्यक्ति के विकास एवं समाज निर्माण में काम आने वाले तथा तीन वर्ग औद्योगिक हैं। यह छहों वर्ग एक वर्ष में पूरे कर लिये जाते हैं। व्यक्तित्व विकास वाले वर्ग में तीन विषय हैं धार्मिक, बौद्धिक, तथा स्वास्थ्य। उद्योग वर्ग में भी इसी प्रकार तीन विषय हैं विजली, प्रेस और कला। विजली तथा प्रेस में से कोई भी एक विषय लिया जा सकता है। विषय निश्चत हो जाने के बाद उनमें परिवर्तन सम्भव नहीं है।

विद्युत विभाग—इन दिनों विज्ञान की प्रगति जिस ढङ्ग से हो रही है उसे देखते हुए यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अगले दस वर्षों में कोई भी गाँव, घर, बाजार, ऐसा न बचेगा जहाँ विजली न पहुँचे और न कोई ऐसा व्यक्ति बचेगा जिसे कि विजली का उपयोग न करना पड़े। इसके लिए विजली का ज्ञान और प्रयोग सम्बन्धी बातें सिखाने के लिए विजली की कक्षाओं में निम्न लिखित विषय सिखाने की व्यवस्था की गयी हैं—

१—विद्युत शक्ति का ज्ञान, सिद्धान्त तथा आधार का शास्त्रीय ज्ञान।

२—ए० सी० और डी० सी० विद्युत धाराओं का अन्तर तथा उनका उपयोग विजली के खतरे तथा उनसे सुरक्षा।

३—भारतीय विद्युत सम्बन्धी कानून तथा विजली प्राप्त करने के विषय में आवेदन और लाइसेंस प्राप्त करने की जानकारी।

४—घरेलू विद्युत प्रयोग में होती रहने वाली खराबियों का तात्कालीक सुधार तथा मकानों में विजली की फिटिंग करना।

५—कारखाने डालने के लिए थ्री. फेस, सिंगल फेस मोटरों का जमाना, उनका फिटिंग तथा अर्थिंग करना आदि।

६-पंखे, हीटर, लोहा, कूलर, लेम्प आदि घरेलू विद्युत उपकरणों की मरम्मतें।

७—मोटर की खराबी और उनका सुधारना तथा जली हुई मोटरों को फिर से बाँधना।

८—विवाह शादियों और उत्सवों में जलने बुझने वाली—घूमती जैसी दिखाई पड़ने वाली और अन्य आकर्षक पद्धतियों की फिटिंग। जहाँ विजली नहीं है वहाँ जैनरेटर अथवा बैटरी से रोशनी आदि की व्यवस्था बनाना।

९—रेडियो ट्रान्जिस्टर—रेडियो ट्राजिस्टरों का शास्त्रीय ज्ञान। लोकल सेटों से लेकर कीमती सेटों तक बनाने और सुधारने की जानकारी।

१०—एम्पलीफायर, लाउड स्पीकर, ग्रामोफोन आदि

की जानकारी, उपयोग एवं सुधार, इण्टर कम्यूनिकेशन सेट तथा ट्रांजिस्टरों की जानकारी।

प्रेस व्यवसाय

प्रेस व्यवसाय भी आधुनिक समृद्ध और सम्पन्न व्यवसाय है। इसका भविष्य बहुत उज्ज्वल है। युग निर्माण विद्यालय में प्रेस व्यवसाय की साङ्गोपाँग शिक्षा प्राप्त कर छात्र अपनी अच्छी जीविका चला सकते हैं तथा नौकरी ढूँढने की अपेक्षा नौकर रखने की हैसियत प्राप्त कर सकते हैं। जो छात्र बिजली उद्योग न सीखना चाहें वे प्रेस व्यवसाय की कक्षा में प्रवेश प्राप्त कर सकते हैं। इस विषय में निम्नलिखित बातों का सैद्धान्तिक और प्रायोगिक प्रशिक्षण दिया जाता है—

१–विभिन्न प्रकार के टाइपों के फेस और बॉडी की जानकारी तथा उनके गुण दोषों का परिचय।

२– कम्पोज करने की विधि। डिस्ट्रीव्यूशन, प्रूफ-रीडिंग, कम्पोज को बाधना, मेकअप करना, केस में टाइपों के स्थान याद रखना तथा अन्य उपकरणों के प्रयोग और सावधानी की जानकारी।

३–छपने और कम्पोज होने की प्रक्रिया के अन्तर्गत प्रूफ उठाना, चेस कसना—खोलना। रूलें ढालना, मैटर धोना आदि।

४- प्रूफ पढ़ना अशुद्धियों के संशोधन की साहित्यिक और व्यवसायिक जानकारी।

५–छपाई मशीनों की जानकारी। उनके पुर्जों का तथा खराबी उत्पन्न होने एवं सुधारने का उपाय भूलें उतरे, प्राप्ति स्थान और मूल्य आदि।

६–स्याहियों के विविध स्तर और भाव, रङ्गीन स्याहियों की जानकारी।

७–चित्रों (ब्लाकों) की छपाई। लैटर पेड, कार्ड, लिफाफे, अभिनन्दनपत्र, बिलबुक, कैश मीमों आदि सब प्रकार की छपाई का अभ्यास व शिक्षण।

८–कागजों के साइज, रेट, वजन, निर्माता, उपलब्धि स्थान तथा उनके गुण दोषों व उपयोग का ज्ञान। विभिन्न ढङ्ग की छपाई के खर्च व हिसाब की जानकारी तथा व निरूपण।

९–रबड़ की मुहरें बनाने जैसे प्रेस के सहयोगी व्यवसायों की जानकारी, बाइण्डिङ्ग नम्बरिङ्ग आदि का ज्ञान।

१०–प्रेस की व्यवस्था, संचालन इस व्यवसाय के रहस्य तथा कानूनों की जानकारी।

प्रेस और बिजली के विषय एच्छिक हैं। या तो प्रेस सीखा जा सकता है अथवा बिजली। पर ऐसे लघुउद्योग दोनों ही विषयों के साथ सिखा दिये जाते हैं जिनमें सर्फ बनाना, रबड़-स्टाम्प, तस्वीरें मढ़ना, मोमबत्ती और साबुन आदि बनाना, सुगन्धित तेल, मिट्टी के खिलौने, और प्लाइवुड की तस्वीरें, बनाने जैसे अनेकों लघु उद्योग बताये जाते हैं। इसके अतिरिक्त दैनिक जीवन में काम आने वाली बहुत सी आवश्यक जानकारियाँ बता समझा दी जाती हैं।

यह तो हुए व्यक्तित्व को स्वावलम्बी बनाने वाले विषय। स्वास्थ्य वर्ग में अनेक प्रकार के खेलकूद, आसन, प्राणयाम, फौजी कवायद ड्रिल आदि का अभ्यास भी कराया जाता है। प्राथमिक चिकित्सा का भी अभ्यास तथा प्रशिक्षण दिया जाता है।

प्रवेश के लिए न्यूनतम शैक्षणिक योग्यता आठवीं कक्षा तथा आयु १५ से १८ वर्ष के बीच होनी चाहिए।

आवेदन मई मास तक भेजने से पूर्व युग निर्माण विद्यालय की नियमावलि मंगा कर स्वयं पढ़ ली जाय तथा छात्र को भी पढ़ा दी जाय और इसके बाद यह देखा जाय कि छात्र यहाँ की अनुशासित जीवन चर्या अपना सकते हैं या नहीं। यदि यहाँ के नियमों का पालन करने में सक्षम दीखें तो ही छात्रों को भेजा जाय।

इस प्रबन्ध में उचित यही है कि पत्र लिखकर युग निर्माण विद्यालय की नियमावलि मगा ली जाय। इस विद्यालय का शिक्षण प्राप्त कर निकले छात्र हर क्षेत्र में अपनी सेवाओं से लाभान्वित कर सकते हैं तथा स्वयं भी गौरवान्वित हो सकते है।



तपका तेज

चमक-दमक कुछ और बात है, तपका तेज अलग होता है।
साज और शृंगार और है, लेकिन ओज अलग होता है ॥
कैसे भी शृंगार-प्रसाधन, तनको शोभित कर सकते हैं।
केवल तन की माँसलता से, मनको मोहित कर सकते हैं।
स्वल्पाहार सजाया जाता, लेकिन भोज अलग होता है ॥
क्षण भर का प्रभाव दिखलाकर, चमक-दमक तो रह जाती है।
सज-धज क्षण भर मन उकसाकर, क्षणिक-तृप्ति भर दे जाती है ॥
पर प्रफुल्लता देने वाला, खिला—सरोज अलग होता है ॥
तप की किरणें आत्म-तेज ले, अन्तर से फूटा करती हैं ॥
और तितिक्षा-जन्य ओज ले, फुल झड़ियाँ छूटा करती हैं।
तपसी और मनस्वी जनका, विमल-मनोज अलग होता है ॥
जियें तितीक्षामय जीवन हम, अपना आत्म तेज उकसायें।
तपस्वी और मनस्वी बनकर, अपना अमल ओज-बिकसायें।
भोगी, त्यागी का जीवन-क्रम बिल्कुल अलग-अलग होता है ॥
भोगी जीता चमक-दमक में, दास वासनाओं का बनकर।
योगी जीता जन-मंगल हित, तनके स्वामी जैसा तनकर।
दोनों ही जग में जीते, पर जीवन-लक्ष्य अलग होता है ॥

—मंगल विजय

सम्पादक—भगवती देवी शर्मा सह सम्पादक—रमेश ज्योतिर्मय, प्रकाशक, मुद्रक—लीलापत शर्मा